श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

भाग १२, १३, १४, १५, १६, १७
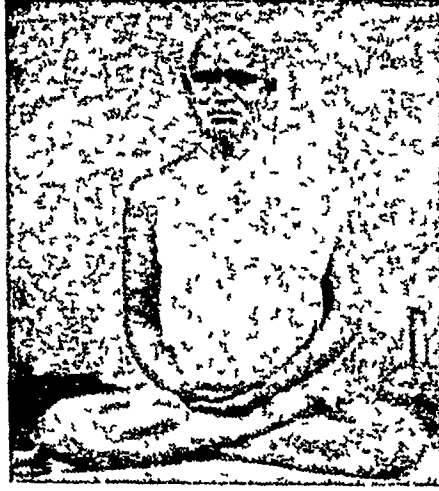
प्रवक्ता:
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें ।

संस्करण १०००] सन् १९७३ [मूल्य १२)

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ
(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान्	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२		वर्णीसघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,,	सेठ गैदामल दगडूशाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,,	मत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन रईस,	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जनसघी,	जयपुर
२२	,	मत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी जैन,	,,
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	,,

२६	श्रीमान्	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजपफरनगर
२७	,,	सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बडौत
२८	,,	गोकुलचद हरकचद जी गोधा,	लालगोला
२९	,,	दीपचद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इजीनियर,	कानपुर
३०	,,	मत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मडी,	आगरा
३१	,,	सचालिका, दि० जैन महिलामडल, नमक की मंडो,	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन, रुडकी प्रेस,	रुडकी
३३	,,	झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,,	मोल्हडमल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	बनवारीलाल निरजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,,	दिगम्बर जैनसमाज	गोटे गाँव
३९	,,	माता जी धनवती देवी जैन, राजागज,	इटावा
४०	,,	ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द"	रुडकी
४१	,,	लाला महेन्दकुमार जी जैन,	चिलकाना
४२	,,	लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन,	चिलकाना
४३	,,	हुकमचद मोतीचद जैन,	सुलतानपुर
४५	,,	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४४	,,	इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४६	श्रीमती	कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी	सुलतानपुर
४७	,,	* गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
४८	,,	* बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावडा,	झूमरीतिलैया
४९	,,	* सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन वडजात्या,	जयपुर
५०	,,	* बा० दयाराम जी जैन आर एस डी. ओ.	सदर मेरठ
५१	,,	× जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
५२	,,	× जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने है तथा जिन नामोंके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया, सभी बाकी है ।

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह है भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

[धर्मप्रेमी बंधुओ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियो में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमे श्रोताओ द्वारा सामूहिक रूपमे।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमे।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमे छात्रो द्वारा।
४—सूर्योदयसे एक घटा पूर्व परिवारमे एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषो द्वारा।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा।

ज्ञानार्णवप्रवचन १२ से १७ भाग

द्वादश भाग

(प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज)

सत्संयममहारत्नं यमप्रशमजीवितम् ।
देहिनां निर्दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥९२०॥

क्रोधाग्नि द्वारा सत्सयमोपवनका निर्दहन— आत्मध्यानमें साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र हैं इनका तो वर्णन किया जा चुका, अब आत्मध्यानके घातक क्या क्या परिणाम हैं उनका वर्णन कुछ परिच्छेदोंमे होगा। ये क्रोधादिक कषायें ध्यानके घातक हैं, उनमेसे क्रोधकषायका वर्णन किया जारहा है। क्रोधरूपी अग्नि संयमरूपी बागको भस्म कर देती है और उपवास यम नियम शान्ति आदिक कलापोंसे जिसको बढ़ाया गया था उस सयमरूपी उपवनको प्रज्ज्वलित होती हुई क्रोधरूपी अग्नि भस्म करदेती है। सयम नाम है चारित्रका। जहां क्रोधकषाय उत्पन्न हो वहां चारित्र कहाँ रहा, चारित्रका अर्थ है अपने स्वरूपमे अविचलित रहना। जब क्रोधका दाह उत्पन्न होता है तो यह जीव अपने स्वरूपमें नहीं ठहर सकता। इसकी किसी न किसी परवस्तुमें दृष्टि बनतीहै, अपना बाधक उसे मानताहै, शत्रु समझताहै, और उस क्रोधमे ऐसी वाञ्छा होतीहै कि मैं इसका समूल विनाश करदूं। बहुत बड़ा दृष्टान्त है द्वीपायनमुनिका। वह सम्यग्दृष्टि थे, तेजसऋद्धि उनके प्रकट हुई थी लेकिन कुछ उन्मत्त बालकोंके उपसर्गको न सह सके तो उसमें इतना क्रोध उनके बढ़ा कि अशुभ तेजस निकला और नगरीको भी भस्म कर दिया अपने आपको भी भस्म कर लिया और नरकगतिमे गया। जिस समय तैजसका पुतला उत्पन्न होता है उस समय सम्यक्त्वका घात होता है। तो बड़े यम नियम व्रत साधना शान्तिका अभ्यास इन सब उपायोंसे जिस संयमरूपी उपवनको बढ़ाया गया उसे क्रोध भाव क्षण भरमें भस्म कर देता है। और, यह तो उत्कृष्ट सयमका घात करनेकी बात कही, पर साधारण पुरुषोंमे भी जब क्रोधभाव उत्पन्न होता है तो अक्ल ठिकाने नहीं रहती है। इतना तो हम अनुभव करते है। जहाँ बुद्धि ही अव्यवस्थित हो जाय वहाँ व्रत नियम साधना आदि कैसे बनें? कोई कोई धर्मके सिलसिले मे भी क्रोध करते है। जैसे कर तो रहे हैं पूजन विधान भगवद्भक्ति और उन्हीं प्रसंगोंमे अपने मनके अनुकूल कोई बात न बने या हम और कुछ चाहते हों दूसरा और कुछ चाहता हो, शैलीमें भेद हो, अनेक बातें ऐसी होती हैं वहाँ भी क्रोध कषाय जग जाता है। तो जहाँ क्रोध कषाय जगा वहां संयम और चारित्र नहीं ठहरता।

दृग्बोधादिगुणानर्घ्यरत्नप्रचयसंचितम् ।
भाण्डागारं दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥९२१॥

क्रोधाग्निद्वारा सम्यक्त्वादि अमूल्य रत्नसमूहमे सचित भाण्डागारका दहन— यह क्रोधरूपी अग्नि प्रकट होनेपर सम्यग्दर्शन ज्ञान व्रत, नियम, सयम ऐसे ऐसे अमूल्य रत्नोंके भण्डारको भी यह दग्ध कर देती है। जैसे अग्नि घरमे लग जाये तो चाहे रत्नोका भी भण्डार हो उसे भी साफ कर देती है, इसीतरह ज्ञानी विरक्त पुरुषोंने अपने आत्मामें अनेक गुणोंका भण्डार बना पाया है, लेकिन कदाचित् क्रोध उत्पन्न हो जाय तो वह गुणभण्डार भी समाप्त हो जाता है। क्रोध कषाय बढे तो उसे चांडाल की उपमा दी है। जबकोई बहुत क्रोध करता है तो लोग कहते भी हैं कि इसका कुछ कसूर नहीं है, इस चाण्डाल क्रोधका कसूर है। जब क्रोध आता है चाहे बच्चेपर क्रोध आये तो क्रोध तेज आता है तो वह स्पष्ट शब्द नहीं बोल पाता, भडभड

बात करता है। यदि बच्चेको समझानेके लिए भी कोई वचन बोले तो उन वचनोंको कोई समझ ही नहीं पाता कि यह क्या कह रहा है। इतना तक भडभड हो जाता है। और, किसी समर्थपर क्रोध आये तो क्रोध कषायमें उसके ओंठ कांपते हैं, नेत्र लाल हो जाते हैं। जब बुद्धि ठिकाने नहीं रहती तो चाहे वह अपराधी भी न हो, पर क्रोध आनेपर वह अपराधी बन जाता है। किसी बातमें कोई कसूर भी न किया हो, पर क्रोध आ जाय तो ऐसा बोल निकल जाता जो लोग उस मूल अपराधको गौण कर देते, किन्तु जो एक तेज अपराध हुआ उसको महत्त्व देने लगते हैं। तो थोडा भी क्रोध कालान्तरमे महान अनर्थ उत्पन्न कर देता है। भले ही उस समय कुछ न मालूम पड़े पर धीरे-धीरे जब क्रोध करनेकी आदत बन जाती है, जब वह क्रोध एक बडी स्थितिमें पहुच जाता है तो यह क्रोधरूपी अग्नि बड़े-बड़े दर्शन ज्ञान आदिक अमूल्य रत्नोंसे सचित किए हुए गुणरूपी भण्डारको भी दग्ध कर देता है। कहावतमें कहते हैं कि पशुवोंमें चाण्डाल गधा माना गया, पक्षियोंमे चाण्डाल कौवा माना गया, साधु-सतोमे चाण्डाल क्रोध माना गया और सबमें चाण्डाल निन्दा करने वाला माना गया। क्रोध तो कभी किसी-प्रयोजनवश भी हो जाता है पर निन्दामें क्या रखा है मूलमें तो निन्दकको सबसे अधिक चाण्डाल माना गया है, और साधु-सत महात्मा जनोंमें तपस्वी जनोंमे यदि क्रोध उत्पन्न हो गया तो उनका वह क्रोध करना, इसको नीतिकारोंने चाण्डालकी उपमा दी है।

संयमोत्तमपीयूषं सर्वाभिमतसिद्धिदम्।
कषायविषसेकोऽयं निःसारीकुरुते क्षणात् ॥६२२॥

कषायविषसिञ्चनसे सर्वाभिमतसिद्धिप्रद संयमोत्तमपीयूपका नि सारीकरण— कषायरूपी विषका सिंचन संयमरूपी अमृतको भी यह क्षणमात्रमे नि सार कर देता है। जैसे अमृतका भरा हुआ घड़ा है और उसमें थोडासा विष सींच दे तो सारा अमृत खराब हो जाता है ऐसे ही बहुत तपश्चरण है संयम है, ऐसे अमृतके पुञ्ज बन रहे हैं साधु-संत जन, किन्तु कषायरूपी विषका सिंचन हो जाय अर्थात् क्रोध या अन्य कषाय प्रकट होजाय तो वह अमृत जो मनोवाञ्छित सिद्धिको देने वाला है तत्क्षण नि.सार हो जाता है। जैसे कोई चींटी भींटपर चढती है, बहुत ऊंचे तक भी चढ़ गयी और वहां से गिरजाय तो उसकी सारी चढ़ाई समाप्त हो जाती है ऐसे ही बड़े सयम शान्तिसे अपने आत्माकी उन्नति की, किन्तु कभी तीव्र क्रोध आजाय तो वह उन्नति खराब हो जाती है। भले ही फिर उस क्रोधको, उसके सस्कारको दूर करके शीघ्र ही उस परिस्थितिको प्राप्त करले, क्योंकि पहिले संयमका अच्छा अभ्यास था, ठीक ही है, मगर तत्क्षणकी बात देखिये, जब क्रोध आता हो तो यह सब सयमरूपी अमृत नि सार हो जाता है।

तपःश्रुतयमाधारं वृत्तविज्ञानवर्द्धितम्।
भस्मीभवति रोषेण पुंसां धर्मात्मकं वपुः ॥६२३॥

रोष द्वारा आत्माके धर्मात्मक शरीरका भस्मीकरण—चारित्रसे और विशिष्टज्ञानसे बढाये हुए तप स्वाध्याय और सयमका आधारभूत जो पुरुषोंका धर्मरूपी शरीर है अर्थात् धर्ममूर्ति है उस धर्मरूप शरीरको क्रोध अग्नि भस्म कर देती है। लोग उसे बडा बेवकूफ कहते हैं। कोई ज्ञानी पुरुष हो, विद्वान हो, साधु हो और क्रोध करे तीव्र; तो विवेकीजन उसे मूढ कहते हैं, और, कितना अन्तर आ जाता है जब कोई साधु और गृहस्थका प्रसग आये कि साधु तो अटपटी बात रखकर बहुत क्रोध कर रहा है और वह गृहस्थ नम्र वचनोंसे साधुको शान्त और सन्तुष्ट रखनेका यत्न करता है तो उस समय बतलाओ सत कौन है और गृहस्थ कौन है? उस समय तो वह गृहस्थ सत है। एक कथा बहुत प्रसिद्ध है कि एक मुनिराज एक जगलमे नदीके किनारे ध्यान करते थे। वहां एक बडी सुन्दर पत्थरकी चटानपर वह मुनि ध्यान करता था। एक बार जब आहार करके वह मुनि उसी चटपर ध्यान करने आया तो देखा कि एक धोबी उसपर कपड़े धोरहा है। मुनिने उस धोबीको उसपर कपड़े धोनेके लिए मना किया। धोबी बोला-महाराज ध्यान तो नीचे भी किया जा सकता है, पर कपड़े

तो इसीपर धोना ठीक है। आखिर वह मुनि उस धोबीसे झगड़ने लगा। बडा विवाद छिड़ गया, झड़प भी हो गयी। धोबी तहमद लगाये था सो वह भी छूट गया। अब दोनों ही नग्न दि० रूप हो गये। जब मुनि बड़ा हैरान हो गया तो कहता है-अरे यह कैसा निषिद्ध काल है। मुनिराजपर ऐसा उपसर्ग आया है कोई देव इस उपसर्ग को दूर करने भी नहीं आते। तो कोई देव बोला कि हमलोग मुनिका उपसर्ग दूर करनेके लिए पहिलेसे तैयार हैं पर हम लोग इस भ्रममें है कि इनमेंसे कौन तो मुनि है और कौन धोबी है? मुनिराज भी बहुत-बहुत नाराज हो रहे हैं बडा क्रोध कर रहा है तो इन दोनोंमे कोई अन्तर नहीं मालूम हो रहा इससे देव लोग मुनिका उपसर्ग दूर करनेमे असमर्थ हैं। तो यह क्रोध बडी निकृष्ट चीज है। बहुत-बहुत यत्नोंसे बढ़ाया गया चारित्र भी इस क्रोधरूपी अग्निसे शीघ्र ही भष्म हो जाता है।

अयं समुत्थितः क्रोधो धर्मसारं सुरक्षितम्।
निर्दहत्येव निःशङ्कं शुष्कारण्यमिवानलः ॥६२४॥

क्रोध द्वारा सुरक्षित धर्मसारका निर्दहन— व्यक्त हुआ यह क्रोध सूखे बनको जैसे अग्नि शीघ्र ही दग्ध कर देती है इसीप्रकार स्वजन धर्मरूपी सार जलको अथवा धर्मको नि सन्देह दग्ध कर देता है। जैसे अग्निको बुझाने वाला जल होता है, पर कभी ऐसा मौका होता है कि अग्नि जलको भी भष्म कर देती है, उडा देती है, गर्म करके भाप बनाकर उसे उडा देती है। तो जैसे अग्निमे यह सामर्थ्य है कि अपने आपको भष्म कर देने वाले जलको भी भष्म कर देती है ऐसे ही क्रोधमें भी ऐसी सामर्थ्य है कि क्रोधको शान्त कर देने वाला, बुझा देनेवाला धर्मरूपी जल है उसको कभी-कभी यह क्रोध जलाकर खतम कर देता है। अर्थात् बहुत कठिनाईसे प्राप्त किए हुए इस धर्मको भी यह क्रोध तत्क्षण ही नष्ट कर देता है। तो क्रोध कषायसे कुछ सम्हाला हुआ मोक्ष मार्ग भी नष्ट हो जाता है और लोकव्यवहारमें क्रोधी पुरुषको बहुत-बहुत आपत्तियोंका सामना करना पड़ता है।

पूर्वमात्मानमेवासौ क्रोधान्धो दहति ध्रुवम्।
पश्चादन्यन्न वा लोको विवेकविकलाशयः ॥६२५॥

क्रोधान्ध पुरुष द्वारा स्वय आत्मदहनकी निश्चितता— क्रोधमें अंधा हुआ यह अविवेकी पुरुष पहिले तो निश्चयसे अपने आपको ही जला देता है पीछे दूसरेको जलाये अथवा न जलाये, उसने अपने परिणामोंसे पहिले अपने ही परिणामोंको दग्ध कर दिया। जसे कोई दूसरेपर अंगार फेंक कर मारे तो उस मारने वालेका तो हाथ पहिले जल ही जाता है पीछे जिसके मारा है वह जले अथवा न जले। ऐसे ही जो दूसरेपर क्रोध करता है उसका तो विगाड पहिले हो ही गया और जिसपर क्रोध किया उसका विगाड़ हो अथवा न भी हो। बल्कि कभी-कभी तो उस क्रोधसे जिसपर क्रोध किया जाता है उसका लाभ भी हो जाता है। और, जिसने क्रोध किया है उसका तो नियमसे घात हो जाता है। अपना परिणाम विगाडा, संयमका घात हुआ और सम्यक्त्व तकका भी घात होजाता है। तो क्रोधी पुरुष पहिले अपने आपको भष्म कर लेता है पश्चात् दूसरा जले अथवा न जले। जगतमें सभी प्राणी हैं, सबके साथ उनके कर्म लगे हुए हैं। भाग्य सबका साथ है, कोई किसीके भाग्यको विगाड़ना चाहे तो विगाड नहीं सकता। हा खुदका ही अगर भाग्य प्रतिकूल है तो भले ही उसमें कोई निमित्त होजाय, पर कोई किसीके भाग्यको बना विगाड़ नहीं सकता। कभी क्रोध करके किसीका शिर फोड दे तो कहो उसका भला हो जाय। अरे शिरमें कोई रोग था बहुत दिनोंसे। फूट जानेपर कहो वह रोग बिल्कुल दूर हो जाय। उस क्रोध करनेवालेने यद्यपि उसका रोग दूर करनेके लिए नहीं उसका शिर फ़ोड़ा, पर उसका रोग दूर हो गया इससे उसका भला ही तो हो गया। तो सबके जुदे जुदे उदयकी बात है। और, कहो कभी स्नेह करने वाला दूसरेपर स्नेह करनेका यत्न करे और उसीके यत्नसे उस दूसरेका घात हो जाय। तो सबके साथ भाग्य है और अपने-अपने भाग्यके

अपना फल पाते हैं, पर क्रोध करनेवाला पुरुष क्रोधके वशीभूत होकर अपने आपका घात तो कर ही लेता है।

कुर्वन्ति यतयोऽप्यत्र क्रुद्धास्तत्कर्म निन्दितम् ।
हत्वा लोकद्वयं येन विशन्ति धरणीतलम् ॥९२६॥

क्रुद्ध यतियो द्वारा भी लोकद्वयविघातक निन्दित कार्यका आपादन—क्रोधित हुआ मुनि भी इस जगतमें ऐसा निन्दनीय क्रोध कर डालता है जिससे वह अपने लौकिक और पारलौकिक 'प्रगतिको' नष्ट करके नरकमें चला जाता है फिर सामान्यजनोंकी तो बात ही क्या कही जाय। अनेक संत पुरुषोंके ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि जिनकी विद्या बड़ी ऊंची थी, बड़ी-बड़ी सिद्धियां भी प्राप्त हुई थीं, पर क्रोध कषाय जग गयी तो उनका सारा संयम नष्ट हो गया। क्रोध एक ऐसा दुष्प्रभाव है कि क्रोधी पुरुषका यह क्रोध बडा अनर्थ कर डालता है। इतना तो तत्काल असर सब लोग अनुभव करेंगे कि बुद्धि व्यवस्थित नहीं रह पाती, धीरता नहीं रह पाती।

क्रोधाद्द्वीपायनेनापि कृतं कर्मातिगर्हितम् ।
दग्ध्वा द्वारावती नाम पूः स्वर्गनगरीनिभा ॥९२७

क्रोधसे द्वीपायन द्वारा द्वारावती नगरी जलाया जाकर अतिगर्हित कर्मका आपादन— वही दृष्टान्त इस श्लोकमें दिया है कि जैसे द्वीपायनमुनिने क्रोधका ऐसा यत्न किया कि द्वारिकापुरीको भष्म कर दिया था। भगवानके समवशरणमें कृष्ण नारायणको उत्तर मिला जब श्रीकृष्णने अपने नगर, वंश सबकी कुशलताका प्रश्न किया तो भगवान उत्तर नहीं देते हैं, उनकी तो दिव्यध्वनि ही खिरती है, गणधर उसे झेलते हैं, उत्तर गणधर देते हैं तो यह उत्तर आया कि इस कुलमें उत्पन्न हुए द्वीपायन मुनिके द्वारा यह द्वारिकापुरी नगरी भष्म हो जायगी और जरतकुमारके निमित्तसे नारायणका देहान्त होगा। ये दो बातें जब सुनी, तो जरतकुमारको भी खेद हुआ और द्वीपायनमुनिको भी खेद हुआ। नारायण और द्वीपायनमुनि ये दोनों नगरी छोड़कर चले गए। अब द्वीपायनमुनिके प्रसंगकी घटना तो यों हुई कि १२ वर्षके बाद द्वारिकापुरीमें प्रवेश होनेका सन्देश था। तो कभी-कभी १३ महीनेका वर्ष होता है इस कारण १२ वर्ष ठीक-ठीक गिनतीमें न आया। १२ वर्ष बीतने के जब कुछ ही दिन शेष थे तो द्वीपायनमुनि स्नेहवश द्वारिकापुरी पहुंचे। वह द्वीपायनमुनि सम्यग्दृष्टि थे, उन्हें तैजसऋद्धि प्राप्त थी, मगर द्वारिकापुरीके नौजवान लडकोंने जो कि नगरीके उपवनोंमें खेल रहे थे उन्होंने द्वीपायन मुनिपर कंकड पत्थर फेंककर मारा। उस १२ वर्षके बीचमें राजाने क्या प्रबंध करा रखा था कि सारी मदिरा बाहर फिकवा दी थी ताकि मदिरा वगैरह पीकर मदमत्त होकर कोई द्वारिकापुरीमें आग न लगादे। आखिर हुआ क्या कि वह सारी मदिरा बरषातमें बहकर एक जगह इकट्ठी हो गयी थी और वहां पानीमें मिल गयी थी। उस पानीको पीकर वहां के नौजवान लडकोंने मदमत्त होकर द्वीपायनमुनिपर कंकड-पत्थर चलाया तो उससमय द्वीपायन मुनिके बडा क्रोध जगा। उसीसमय उनके बायें कंधेसे बिलावके आकारमें तैजस निकला। श्रीकृष्णनारायणके प्रसगमें उस समय क्या घटना घटी कि श्रीकृष्ण नारायण रथपर सवार होकर जब नगरीसे बाहर जाने लगे तो नगरीका फाटक बन्द होगया रथ भी थम गया। उसी समय वहाँ एक आवाज आयी कि नारायण और बलभद्र यहां से चले जाये इस द्वारिकापुरीमें कोई अन्य न बचेगा। तो नारायण और बलभद्र नगरी छोडकर बाहर चले गए। उस जगलमें वे पहुचे जहाँ पर जरतकुमार रहता था। नारायण एक जगह पीताम्बर ओढकर सो गए, बलभद्र जल भरने चला गया, जरतकुमारने नारायणके पैरमें चमकते हुए चिन्हको देखकर सोचा कि यह तो कोई हिरण है, लो उस पैरमें बाण मार दिया। नारायणका वहीं मरण हो गया। तो इस कथानकसे शिक्षाकी बात यह लेनाहै कि कोई कितना ही बचाव करे, पर अनर्थ होनाहै तो हो ही जाता है। और, कोई कितना ही दूसरेका बिगाड़ करना चाहे यदि उदय

प्रतिकूल नहीं है तो कोई उसका बिगाड़ नहीं कर सकता लेकिन क्रोधी पुरुष क्रोध करके अपना तो सारा ही बिगाड़ कर लेता है। उसने अपना संयम खोया, श्रद्धान खोया, सब तपश्चरण व्यर्थ किया। और, इस लोकमें भी उस क्रोधी पुरुषकी लोग दुर्गति कर डालते हैं। क्रोध करनेसे इस लोकमे भी बड़ी-बड़ी आपत्तियां सहनी पड़ती है। चाहे कोई ज्ञानीपुरुष भी हो पर क्रोधके वशीभूत होकर वह अपने आपकी बुद्धिको खो देता है और अटपट व्यवहार करता है जिससे उसे इस लोकमे भी विपत्तियां मिलती हैं और ऐसा खोटा कर्मोका बन्ध कर लेता है कि जिससे परभवमें भी उसे बड़े-बड़े क्लेश भोगने पड़ते हैं। तो इस क्रोध करने वालेको आत्मध्यानमें सफलता नहीं मिल सकती। जिसे आत्मध्यान चाहिए, जिसे उत्कृष्ट सुख शान्ति चाहिए उसका कर्तव्य है कि इस क्रोध कषायको दूर करें।

लोकद्वयविनाशाय पापाय नरकाय च।
स्वपरस्यापकाराय क्रोधः शत्रुः शरीरिणाम् ॥९२८॥

क्रोधकी स्वपरापकारकता—यह क्रोधरूपी शत्रु पुरुषके इस लोकको भी नष्ट करता है। तथा नरकमे ले जाने वाला और पापों का कराने वाला, अपने और पराये सबको नरकमे ले जाने वाला है। क्रोधसे इस लोकका जीवन भी नष्ट हो जाता है। क्रोधी पुरुषको कोई महत्त्व नहीं देता है और क्रोधीके कभी अपने चित्तमे प्रसन्नता भी नहीं रहती। जिसे क्रोध आता है चाहे व्यक्त आये चाहे मन ही मन बसा रहे, उसके प्रसन्नता नहीं रहती। तो यह जीवन ही उसका नष्ट हुआ समझिये और परलोकका जीवन भी नष्ट हुआ समझिये। और, तीव्र क्रोध हो तो फिर नरक आयुका भी बंध कर लेता है और नरकोंमें जो जीव उत्पन्न होते हैं वे भी उत्पत्तिके समय क्रोध कषायको ही लिए रहते हैं और जिस नरकमे जाते हैं मरते समय भी उनके क्रोध कषाय रहती है और क्रोध कषायसे ही नरक आयुका बन्ध होता है नारकियोंके जीवनमें भी क्रोधकी मुख्यता रहती है। तो क्रोधी पुरुषका जो निवासस्थल है वह एक तरह का अलङ्काररूपमें नरकपुरी समझिये। कोई किसीको नहीं सुहाता, न सभ्यता है, वे एक दूसरेपर क्रोध बरसाते हैं तो यह लोक भी नष्ट हुआ। क्रोधसे न अपना ही भला है और न किसी दूसरे जीवका भला है।

अनादिकालसम्भूतः कषायविषमग्रहः।
स एवानन्तदुर्वारदुःखसम्पादनक्षमः ॥९२९॥

क्रोधकी अनन्तदुर्वारदुःखसम्पादनक्षमता—यह कषायरूपी विषमग्रह अनादिकालसे इन प्राणियोंके पीछे लगा है। अनादिसे ही कषाय लगी है सब जीवोंके। जैसे खानमे जो स्वर्ण है वह पहिले सही हो, पीछे अशुद्ध मिट्टीरूप बना हो ऐसा नहीं है किन्तु वह पहिलेसे ही मिट्टी ही है। और, उसे उपाय करके भट्टियां बनाकर स्वच्छ करते हैं तो स्वर्ण निकल आता है, ऐसे ही जीवोंके साथ कषाय अनादिसे लगी है, जब स्वरूपदृष्टिसे देखते हैं तो ऐसा लगता कि बेचारा जीव कसूर वाला नहीं है, हो रहा है परिणमन ऐसा, पर यह आत्मा अपराधस्वभावी नहीं है और ऐसी ही बात निरखकर यह नीति बनी है कि पापसे तो घृणा करें, पर पापीसे घृणा न करें। उसका तथ्य यह है कि जिस जीवने पाप किया है वह जीव स्वयं पापस्वभावी नहीं है। तो घृणाके योग्य पाप हुआ न कि जीवस्वरूप, तो अनादिसे ही यह जीव कषायवान है। और, ये विषय कषाय इस जीवको दुर्निवार दुःखोंकी प्राप्ति कराते रहते हैं। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्यके दोनों कंधोंपर शैतान चढ़े रहते हैं और आगे पीछे भी शैतान रहते हैं। चार शैतान बताये हैं एक आगे-आगे चलता है एक पीछे लगा रहता है और दो कंधोंपर सवार रहते हैं। तो वे शैतान और हैं क्या ? जो मनुष्यके आगे-आगे चलता है वह है इच्छा। यों सामने दिखता है, कल्पनाएं होती हैं तो इच्छारूपी शैतान तो आगे चलता है और शंकारूपी शैतान पीछेसे चलता है क्योंकि शंकाका विवरण पीठपर किया जाता है' परोक्ष

होता है भय। सो कषायोंपर जो शैतान हैं वे हैं विषय और कषाय। निरन्तर इसके अंत परिणमनमें ये विषय और कषाय बने रहते हैं। तो यह जीव अनादिकालसे ही कषाय रूपी विषमग्रहसे पीड़ित है और ये ही विषय कषाय अनन्त दुर्निवार दु खोंको प्राप्त कराते हैं जिनका निवारण करना कठिन है। जब जो कषाय जगती है उसके आवेशमें फिर वही-वही उसकी परिणति रहती है, विवेक नहीं रह पाता। मैं उस कार्यको सम्हाल लू उसका आना रोक दूं, यों नाना कारण ऐसे बन जाते हैं कि जिनसे इसकी कषाय युक्त परिणतियाँ होती हैं। हाँ तत्त्वज्ञानी पुरुषमे तो यह सामर्थ्य है कि कषाय आनेका क्षण हो तो ऐसा विचार बना लेता है कि फिर वह कषाय नहीं जगती है लेकिन सारा जगत तो प्राय कषायग्रहसे ही पीड़ित है। और, इन कषायोंसे केवल दु ख ही मिलता है। घरमे जो लोग होते हैं महिलायें या अन्य कोई भाई बन्धु परस्परमें क्रोध मचाते हैं, जरासे कामपर, जरासी चीजपर एक दूसरेके भाव देखकर क्रोध जगता है, तो उस वातावरणमे तो सभी परेशानसे रहते हैं। घर अच्छा है, आजीविका ठीक है, खाने-पीनेकी भी असुविधा नहीं है, सब कुछ ढग होकर भी यह क्रोध बना रहता है सभीमे, तो वह कुटुम्ब कितना दु खी रहता है। तो यह क्रोध अनन्त दुर्निवार दु खोंको उत्पन्न करता है।

तस्मात्प्रशममालम्ब्य क्रोधवैरी निवार्यताम्।
जिनागममहाम्भोधेरवगाहश्च सेव्यताम् ॥९३०॥

प्रशमका आलम्बन करके क्रोधवैरीके निवारणका अनुरोध— आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन्! शान्त भावका आलम्बन कर। और, क्रोधरूपी वैरीका निवारण कर और जिन आगमरूप महासमुद्रका अवगाहन कर। सबसे प्रथम कहा कि शान्तभावका आलम्बन कर। यद्यपि कहनेमे कुछ भी कहलें कि पहिले क्रोधको दूर करनेसे शान्ति प्राप्त होती है और ऐसा कहनेके पहिले कुछ शान्त परिणाम बनाये तो, क्रोध दूर होगा। यद्यपि इन दोनों बातोंमे कुछ भी पहिले कर सकते हैं मगर करनेकी चीज निवारण नहीं होता, विधिरूप होता है। क्रोध करना भी एक काम है, शान्ति करना भी एक काम है, क्रोध हटाना कोई काम नहीं है। क्रोधका अभाव मायने शान्त परिणाम रखना। जो परिणति होती है वह तो विधिरूप होती है। हटाने रूप नहीं होती। अतएव पहिले विशेषणमें यह कहा है कि शान्तभावका आलम्बन करो, और क्रोध वैरीका निवारण करो और जब शान्ति आयगी, चित्तमे क्रोध न रहेगा तब, जिन आगमरूप महासमुद्रमें इसका अवगाहन होगा। क्रोध निवारण करनेका यही एक उपाय है। जिसके अनुभवसे चित्तमे यह बात समाई हो कि यह सारा ससार मायारूप है, समस्त समागम निःसार है, इन सबसे मेरा कोई प्रयोजन सही सिद्ध नहीं होनेका, ऐसा इस ससारके प्रति जिसका यथार्थ ख्याल बने वह पुरुष क्रोधको दूर कर सकता है जिसके चित्तमे यह बात बैठी है कि विषय साधनोंसे अथवा इन कषायके व्यवहारों से या इन लौकिकयश आदिकसे हमारा हित है ऐसी प्रतीति जिनके चित्तमे बैठी हो उनसे यह नहीं बन सकता कि क्रोध करना शान्त कर सके। जब चाह बनी है किसी चीजकी तो अन्यके प्रति द्वेष होगा। ऐसा तो होता नहीं है कि जब जिस चीजकी वाञ्छा की तब वह चीज प्राप्त ही हो जाय। ऐसा पुण्य तो चक्रवर्तियों तकके भी नहीं होता। भरत चक्रवर्तीने यही तो चाहा था कि दिग्विजय करनेके बाद बाहुबली भी हमारे हुकुममें रहें, तो उसके चाहनेसे वैसा हुआ क्या? बल्कि एक बहुत बडा विसम्वाद हो बना। बड़े-बड़े पुरुषोंके भी ऐसा पुण्य नहीं होता कि जब चाहे तब तुरन्त ही वह बात बन जाय। फिर क्रोध किस बातपर करना? जान लिया यह है ससार। मन चाहा यहा हो जाय ऐसा कुछ नियम नहीं है। और, कदाचित हो भी जाय तो हो गया, हमने चाहा इसलिए हो गया सो बात नहीं है, क्रोध यहाँ किस बातपर करना। यह बात चित्तमे समाये तो क्रोध दूर होता है। फिर अनुभव जिसके विशेष बने तो वह अनुभव विषय कषायकी निवृत्तिमें बहुत साधक होती है। तो तत्त्वज्ञानका ही यह फल है कि यह क्रोधका निवारण कर सकता है और इस जैन आगमरूप महासमुद्रमें

अवगाहन कर सकता है। अर्थात् जो यथार्थ तत्त्व है आत्मस्वरूप है उसकी दृष्टिमें अपनी वर्तना बनाये रह सकता है। तो हे आत्मन् ! शान्तिका आलम्बन कर, क्रोधका निवारण कर और जैन आगमरूप महासमुद्रमें अवगाहन कर। यही निवारणका एक उपाय है।

क्रोधवह्नेः क्षमेकेयं प्रशान्तौ जलवाहिनी।
उद्दामसंयमारामवृत्तिर्वात्यन्तनिर्भरा ॥९३१॥

क्षमाकी ही क्रोधाग्निशमनमें क्षमता—क्रोधरूपी अग्निको शान्त करनेके लिए क्षमा ही एक अद्वितीय नदी है। जैसे नदीका प्रवाह जहाँसे चला जाय वहाँ फिर अग्निका क्या काम है, अग्नि बुझ जायगी इसीप्रकार यह क्षमा एक ऐसी अद्वितीय नदी है कि जहाँ क्षमा प्रणिति बनी वहाँ क्रोधरूपी अग्नि नहीं रह सकती। क्षमासे ही क्रोधकी अग्नि बुझती है और क्षमा ही उत्कृष्ट संयमरूपी उपवनकी रक्षा करनेके लिए एक अद्वितीय दृढ़ बाढ़ है। जैसे बागमें चारों तरफ खूब ऊँची भींटकी बाढ लगी हो तो वहाँ सूकर आदिक जानवर फसल नष्ट करने वाले नहीं प्रवेश कर सकते। ऐसे ही जहाँ क्षमारूपी बाढ चारों ओर लगी है वहाँ संयमका विघात नहीं हो सकता। जहाँ क्षमा है वहाँ क्रोध नहीं, जहाँ क्षमा है वहाँ संयममें बाधा नहीं। व्रत नियम बहुत करे लेकिन तीव्र क्रोध यदि जग गया तो वे सारे व्रत नियम भंग हो जाते हैं। क्रोध अग्निके कारण बहुत-बहुत कमाये हुए भी गुण हों तो भी नष्ट हो जाते हैं। जिसे मुक्ति चाहिए उसको आत्मध्यान आवश्यक है और आत्मध्यान वही कर सकता है जिसे सम्यक्त्व हो, ज्ञान सच्चा हो और संयममें चले। और इस रत्नत्रयमें, तपश्चरणमें वही पुरुष चल सकता है जो कषायोंपर विजय प्राप्त करले। जिसके क्षमाभाव है वह तो एक ऐसी ढाल है कि बंधने वाले कर्म बन्धनोंसे आने वाली विपदाको यह क्षमाढाल दूर कर देता है। क्षमावान् पुरुषका कौन बिगाड़ कर पाता है ? हो सही रूपमें क्षमावान तत्त्वज्ञानी हो क्षमावान होता है। कोई कुछ चेष्टा करता है तो वह उसकी परिणति है, उसका परिणाम है, मेरा उसने कुछ नहीं किया। मैं ही दूसरे की प्रतिकूल परिणति देखकर अपने आपमें क्षुब्ध हो जाऊं तो यह मेरा अपराध दूसरेके दुःखी करनेसे मैं दुःखी नहीं होता, खुदका ही ज्ञान इस रूप बना लेते कि दुःखी हो जाते। जो विशेष तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं वे अपने आपमें निःशंक रहते हैं। सब ज्ञानकी ही तो महिमा है। जैसे अदालतोंमें वकील लोग या और बड़े ऊँचे-ऊँचे जानकार पुरुष नेता लोग निःशंक होकर चले जाते हैं और जो काम करना होता है उसे करके आते हैं और कोई देहाती जो अल्पज्ञ है, जो नासमझ है उसके होश हवाश अदालतमें जाते ही उड़ जाते हैं। वह किसी भी जगह आने-जानेमें कांपता है। तो उसके डरनेका कारण क्या है ? उसे कायदे कानून कुछ मालूम नहीं है, नासमझ है, उसके ज्ञानकी कमी है इस कारण वह वहाँ भयभीत होता है। कहीं जजने उसपर कोई अपना प्रभाव डाल दिया हो ऐसी बात नहीं है। ऐसे ही समझ लो कोई मनुष्य हमें गाली दे, हमारे मनके प्रतिकूल चले तो उसको देखकर, सुनकर हम अपनेमें अपना अर्थ लगाते हैं और उससे हम विह्वल हो जाते हैं। जैसे किसी बच्चे ने कोई चीज चुरा लिया और उसका पता लगाना है तो एक ऐसा बानक बनाते हैं कि सभी लड़कोंको बैठाल लिया, कुछ झूठ-मूठका मंत्र पढने लगे और उनसे कह दिया कि देखो हम मंत्र पढते हैं, तुम लोग बैठे रहना, जिसने उस चीजको चुराया होगा उसकी चोटी खड़ी हो जायगी। आखिर होता क्या है कि जिस बालकने उस चीजको चुराया है वह अपने मनमें कुछ कल्पनाएं गढता है और अपनी चोटी पकड़-कर देखने लगता है कि खडी तो नहीं हुई। ऐसी ही बात हम आप सबकी है। कोई किसीको दुःखी नहीं करता, खुद ही कल्पनाएं बनाकर अपनेको दुःखी कर डालते हैं। जो लोग धर्मका आदर करते हैं जिनके प्रभुभक्ति भी समाई हुई है वे ऐसे सुन्दर विचारोंके वातावरणमें रहकर सदा प्रसन्न रहते हैं। तो जितने भी क्लेश हैं वे सब अपने विचारोंसे चलते हैं। जो पुरुष क्रोध करता है वह अपने आपमें दुःखी होता ही है। उस क्रोधको शान्त करनेके लिए एक क्षमारूपी नदी ही समर्थ है। जैसे जहाँ नदीका प्रवाह है वहां अग्नि

क्या काम ऐसे ही जहाँ क्षमाका वर्ताव है वहाँ क्रोधका क्या काम। इस क्रोधपर विजय होनेसे संयमकी रक्षा होती है। क्रोध कषायके दूर होनेसे मान, माया और लोभ आदि कषायें भी शिथिल हो जाती हैं। कोई लोग कहते हैं कि मान, माया, और लोभ आदि कषायें तो मेरे जगती हैं, पर क्रोध मुझे नहीं आता, सो ऐसा नहीं होता। हां भले ही कुछ फर्क हो जाय पर कुछ न कुछ क्रोध तो बना ही रहता है। कोई एक कषाय न रहे ओर बाकी तीन कषायें रहें ऐसी विषमता इनमे नहीं बनती। ये कषायें जब उत्पन्न होती हैं तो संयमरूपी उपवन बरबाद हो जाता है।

जयन्ति यमिनः क्रोधं लोकद्वयविरोधकम्।
तन्निमित्तेऽपि संप्राप्ते भजन्तो भावनामिमां ॥६३२॥

यमी सत्पुरुषोंके क्रोधविजयका वर्णन—इस लोक और परलोकके बिगाड़ने वाले क्रोधको मुनिजन जीतते हैं। वे क्रोधके कारण प्राप्त होनेपर इस प्रकार भावना करते हैं जिन भावनाओंको आगेके श्लोकमे कहेंगे। भावनाका अर्थ है बारबार उसकी निगरानी करना, बारबार उसका चिन्तन बनाये रहना। जैसे वैद्य लोग औषधियोंमें भावना देते हैं। आंवलाके रसमे आंवलाके चूर्णको भिगोना, फिर यों करना, यों २०-५० भावनायें देते हैं, तो जितनी भावनाएं बढती जाती हैं उतना ही ओषधिमें गुणविशेष बढ़ता जाता है। ऐसे ही विचारोंसे आत्माका क्रोध दूर हो ऐसी भावना मुनिजन भाते हैं। वे भावनाए कैसी हैं इसको इस अगले श्लोकमें कह रहे हैं।

यद्यद्य कुरुते कोऽपि मां स्वस्थं कर्मपीडितम्।
चिकित्सित्वा स्फुटं दोषं स एवाकृत्रिमः सुहृत् ॥६३३॥

विराधक पुरुषके प्रति मैत्रीभावना—वे मुनिजन विचारते हैं कि मैं कर्मोंसे पीडित हूँ, कर्मोंके उदयसे मुझमें कोई दोष उत्पन्न होता है उसको अभी कोई प्रकट करे ओर मुझे आत्माके अनुभवमे लगादे, स्वस्थ करे वह तो मेरा हितैषी मित्र है। जो पुरुष दोष कहता हो, गाली गलौज करता हो तो ऐसे पुरुषने मेरा भला किया। किस प्रकार भला हुआ ? प्रथम तो यह भला समझ लीजिए कि जो मेरे कर्म बधे थे उन कर्मोको उसने नोकर्मों के माध्यमसे मेरे दोष निकाल दिये। दोषवादीके निमित्तसे मेरे कर्म निकल जायें तो यह तो मेरे भलेकी बात है। और फिर वर्तमानमे किसी दोषमें न लग जाव इस बातके लिए वह मुझे सावधान बना रहा है। तो वह मेरा परम मित्र है जो मेरे दोष प्रकट करके मुझे सद्मार्गमे लगाये। जिन साधुवोंका बहुत बडा सघ होता है उनमें जो साधुजन रहते हैं वे अपने दोषको आचार्योंके समक्ष रखकर पूर्ण निवेदन कर लेते हैं। कोई मुनि यह सोचे कि यह तो अपने हाथकी बात है न निवेदन करे, दोष छिपाले तो उसमें उसका मोक्षमार्ग रुक जाता है। कर्मबन्ध विशेष होता है। उन्हें चूंकि मुक्तिकी वाञ्छा है, मुक्तिके लिए उनका उद्यम है, इस कारण वे पूर्ण तोरसे अपने दोषोंकी आलोचना आचार्यके समक्ष करते हैं, कुछ भी दोष आलोचना करनेसे बाकी न रह जायें ऐसी उनकी भावना रहती है। तो दोषोंको जो अहितकारी समझते हैं वे ज्ञानीपुरुष दूसरेके द्वारा दोष कहे जानेपर क्रोध नहीं करते। यह मेरे दोष कह रहा है तो मेरे भलेकी ही बात कररहा है ऐसी भावना उन सतजनोंकी होती हैं। इसी कारण दोषवादीके प्रति उनके क्रोध नहीं उत्पन्न होता। यह बहुत बडी धीरता और गम्भीरताकी बात है कि उनके क्रोध नहीं उत्पन्न होता। जिसका कोई बडा प्रोग्राम मनमे हो, जो बहुत महत्त्वशाली हो तो उसके लगावके कारण ये छोटी-छोटी बातें सब उपेक्षित हो जाती है तब उसके क्रोध नहीं जगता। साधु संतजनोंके मुक्तिका बड़ा प्रोग्राम लगा है, इस कारण उनके क्रोध उत्पन्न नहीं होता। क्षमाभाव रखकर वे अपने संयमकी रक्षा करते हैं, अपना यह लोक सुधारते हैं और परलोक भी सुधारते हैं। ये सतजन क्रोध कषायको त्यागते हैं। क्रोधको त्यागनेसे ही आत्माके गुणोंका विकास होता है।

हत्वा स्वपुण्यसंतानं मद्दोषं यो निकृन्तति ।
तस्मै यदिह रुष्यामि मदन्यः कोऽधमस्तदा ॥९३४॥

निन्दकके प्रति उपकारिताकी भावना—ज्ञानी पुरुष अपने आपमे क्रोध भाव न आने देनेके लिए कैसा विचार करते हैं उसका इस छंदमें वर्णन है। ज्ञानी पुरुष ऐसी भावना करते हैं कि यदि कोई पुरुष मेरे दोषोंको कहता है तो वह अपने पुण्यका क्षय करके ही तो मेरे दोषोंको कहता है। जो पुरुष किसी दूसरेकी निन्दा करता है वह अपने पुण्यको समाप्त कर देता है ना, क्योंकि निन्दा करनेके परिणामसे पुण्य समाप्त हो जाता है। तो यह कोई दूसरा पुरुष जो मेरे दोषोंको काढ रहा है वह अपने पुण्यका विनाश करके मेरे दोषोको निकाल रहा है। उसपर यदि मैं रोष करूं तो इस जगतमे मेरे समान नीच और कौन है। दोष कहने वाला मेरी भलाई कर रहा है और इतनी अधिक भलाई कर रहा है कि वह अपना विगाड़ करके भलाई कर रहा है क्योंकि जो दोष कहता है वह अपने पुण्यको नष्ट कर देता है। क्रोधपर विजय करनेके लिए ज्ञानी पुरुष कैसी भावना करता है उसका यह वर्णन है। ज्ञानी सोचता है कि कोई पुरुष अपना धन खर्च करके दूसरेका उपकार करता है और दोष कहने वाला पुरुष तो अपने पुण्यरूप परिणामको विगाड़कर और अपने पहिले वधे हुए पुण्यका विनाश करके मेरे दोष निकाल रहा है तो वह मेरा कितना बड़ा उपकार कर रहा है। जैसे कोई पुरुष अपना धन खर्च करके उपकार करे तो हमे तो उसका बहुमान मानना चाहिए। उससे भी बढ़कर यह दोष कहने वाला उपकारी है जो अपना सर्वस्व विगाड़ करके मुझे सावधान बना रहा है अथवा मेरे दोष निकाल रहा है। ऐसे पुरुषको यदि मैं क्रोध करूं तो मुझसे अधम और कौन होगा। वह तो मेरा उपकारी है। उससे विरोध रखनेका नाम कृतघ्नता होगा। जो किए हुए उपकारको भूल जाय उस पुरुषको कृतघ्न कहते हैं। यों दोषवादी पुरुषको अपना उपकारी मान रहा है जिससे अब उसे क्रोध नहीं आता। क्रोध तब आता जब अपने चित्तमे यह बात आये कि यह मेरा अपकारी है। जब दोष कहने वालेको अपना उपकारी मान लेगा तो उसपर क्रोध न आयगा।

आक्रुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः ।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना ॥९३५॥

निन्दकके प्रति अनपकारिताकी भावना—कोई पुरुष अपनेको दुर्वचन कह रहा है तो उस समय ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करते हैं कि इसने दुर्वचन ही तो कहा, मुझे पीटा तो नहीं। मेरा घात तो नहीं किया। और, कदाचित वह मारे भी लाठी वगैरहसे तो उसने केवल लाठी ही तो मारी, मुझे काटकर मेरे खण्ड तो नहीं किये। और, कदाचित कोई काटने ही लगे तो मुनि महाराज विचारते हैं कि यह मेरे शरीरके खण्ड ही तो कर रहा है, मेरे धर्मको तो नष्ट नहीं कर रहा। मेरा धर्म तो सदा मेरे ही साथ रहेगा। अथवा वह ऐसा विचार करता है कि यह मेरा बड़ा हितैषी है, क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा इस शरीररूपी कारागार में कैद हूँ और यह शरीरको तोड़कर मुझे कैदसे छुटा रहा है। अतः यह तो मेरा उपकारी है। देखिये यह बात केवल कहने भरकी नहीं है; किन्तु जिसे अपने आत्मस्वभावसे प्रीति जगी है और एक विशुद्ध आत्म-कल्याणकी वाञ्छा है उसका ऐसा भाव होता ही है। दोषवादीपर अथवा अपनेपर उपद्रव करने वाले पुरुष पर क्रोध न आये ऐसी महिमा ज्ञानी संतोंके होती है। और, यह विचार अपने आपको शान्तिमें ले जाने वाला है। यह तो मुनि साधुसंत हैं, इसमें तो दूसरी बात कुछ हो ही नहीं सकती कि कोई मारे, गाली दे तो उस पर आक्रमण करने लगें। मुनिके तो चारों प्रकारकी हिंसाओंका त्याग है। तो ऐसी स्थितिमें यदि वह मुनि मन ही मन जलता रहे तो अपना बिगाड़ करता है। तो ऐसा तत्त्वज्ञान जगायें कि मन-मनमें भी क्रोधभाव न जगे और इसी सिलसिलेमें यह विचार है, किसीने गाली दे दी: चोर है, बदमाश है आदिक अनेक प्रकारके

ऐब लगाये, बहुत से लोग होते हैं जो कह देते हैं कि यह तो निर्लज्ज है, ऐसे वचन भी यदि कोई मुनिको बोलदे तो वह मुनि विचारता है कि आखिर इसने वचन ही तो बोला, इसने मेरे ऊपर लाठीका प्रहार तो नहीं किया। इतनी बात तो गृहस्थ भी विचार सकते हैं। इतनी बात गृहस्थ भी कर लेते हैं। और, कोई परिस्थिति ऐसी हो कि उसका जवाब देना पड़े, किसी भी एक ढंगसे कोई परिस्थिति आ जाय तो गृहस्थ इस बन्धनमें नहीं है कि वह दुर्वचन सहता ही रहे। जहाँ तक स्थिति है सह लिया, नहीं सह सकता तो उसका मुकावला कर लिया, उसमें कोई उसके प्रतिज्ञाभंगका दोष नहीं है, पर साधु पुरुषके तो प्रतिज्ञाभंगका दोष लगेगा। गालीका जवाब गालीसे मुनि नहीं दे सकता। और, फिर वैसे ही विना किसीके सताये, बिना बोले ही अपने अहंकारसे अटपट बोलने लगे तो वहाँ मुनित्व है ही नहीं। भला सोचिये कि मुनिका दर्जा गृहस्थसे कितना ऊंचा है जिसकी उपासना करके गृहस्थ अपने धर्मका पालन करता है। और, बताया है कि उपासना न करे वह गृहस्थ क्या ? तो जो ऐसे परमेष्ठी पदको मान जाते हैं उनका व्यवहार, उनका बोलचाल, उनकी चर्या, क्रिया कितनी पवित्र और गृहस्थोंके लिए आदर्शरूप होना चाहिए। और, इतनी भी सभ्यता न हो जितनी गृहस्थ रखता हो, किसीकी गालीका जवाब गालीसे देने लगे तो वहाँ मुनित्व कहाँ रहा ? शत्रु और मित्र समान दिख जाना चाहिए, कोई इस शरीरको छेद-भेद रहा हो, छील रहा हो तिसपर भी जिन मुनिराज को उनपर द्वेष न आना चाहिए, समता परिणाम रखना चाहिए यह कितना ऊंचा तपश्चरण है। इतनी ऊंची वृत्ति जिन परमेष्ठियोंमें है समझ लेना चाहिए कि वे कितने आदर्श वाले हैं। तो मुनिराज विचार रहे हैं कि जिसने मुझे दुर्वचन कहे तो वचन ही तो कहा, उसने लाठी आदिकका प्रहार तो नहीं किया। और, कदाचित लाठीसे प्रहार भी कर दे तो क्या वह लौटकर लाठीसे जवाब देने लगेगा ! ऐसे-ऐसे महाबली सेनापति राजा महाराजा आदि जिनमें कोटि-कोटि समूहोंका बल था ऐसे बलिष्ठ वे राजा महाराजा अब साधु हुए हैं तो अब इस स्थितिमें यदि कोई पशु-पक्षी भी चोंट रहा हो शरीरको तो ऐसा बली होकर भी उस पशु-पक्षीका निवारण नहीं करते और अपने आत्मध्यानकी ओर विशेषतया लग जाते हैं। क्या उनमें इतना बल न था कि वे भगा देते ? अरे जोरसे श्वांस खींचकर बाहर निकाल देते तो इतने मात्रसे डरकर वे पशु-पक्षी वहाँ से डरकर भग जाते, लेकिन इतना भी विकल्प ध्यानाभिलाषी सतोंको नहीं रुचता है। यह कितनी ऊंची स्थिति होती होगी। आत्मध्यानके समय कदाचित् कोई लाठी आदिकका प्रहार करे तो वे मुनिराज सोचते हैं कि इसने मेरे शरीरके खण्ड-खण्ड तो नहीं किया और कदाचित शरीरके भी खण्ड-खण्ड करदे तो उससे मेरा धर्म तो कहीं-नहीं गया। मेरा धर्म मेरी दृष्टिमें है। मेरा धर्म मेरे ही स्वरूपमें है। इसे कौन मिटा सकता है ? मैं ही अपना उपयोग बिगाड़लूं और अनाप-सनाप चिन्तन करने लगूं तो अपने धर्मको मैं ही मिटा देता हूँ। इसने तो मेरा धर्म भी नहीं मिटाया और यह इस शरीर कारागारसे मुझे छुट्टी दे रहा है। ये सब बातें सुननेके साथ यह न सोचना कि ये तो केवल बातें ही कर रहे हैं किन्तु जिनके आत्महितकी तीव्र रुचि रहती है उनके ऐसे-ऐसे विचार होते ही हैं।

संभवन्ति महाविघ्ना इह निःश्रेयसार्थिताम् ।
ते चेत्किल समायाताः समत्वं संश्रयाम्यतः ॥६३६॥

ज्ञानीका समत्वसंश्रयणका यत्न—जो मोक्षाभिलाषी जीव हैं उनको इस लोकमें बड़े-बड़े विघ्न होने सम्भव हैं। यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि अच्छे कामोंमें विघ्न आया करते हैं। जो कल्याणके कार्य होते हैं वे बहुत विघ्नसम्पन्न होते हैं। मेरे इस मोक्षमार्गमें चलते हुए मार्गमें विघ्न यदि आ जाय तो इसमें आश्चर्य क्या है ? और, साथ ही यह भी विचार लेना कि हमारे कोई विघ्न आ रहे हैं तो मालूम होता है कि मैं बहुत अच्छे रास्तेपर चल रहा हूँ क्योंकि श्रेय कार्योंमे विघ्न आते हैं। और, विघ्न आ रहे हैं तो हमें यह सब भलेकी निशानी मालूम पड़ रही है। ऐसा विचार करके मुनिजन क्रोध नहीं करते वे समता भावका

आश्रय करते हैं, और उनके किसीपर भी राग और द्वेष नहीं होता।

चेन्मामुद्दिश्य भ्रश्यन्ति शीलशैलात्तपस्विनः।
अमी अतोऽत्र मज्जन्म परक्लेशाय केवलम् ॥९३७॥

क्रोधापहारके यत्नमे ज्ञानीका चिन्तन—ज्ञानी संत ऐसा भी विचार करते हैं कि यदि मैं क्रोध करूं तो मुझे निरखकर अन्य-अन्य तपस्वी मुनि भी अपने शील शान्त स्वभावसे च्युत हो जायेंगे तब फिर मेरा जन्म दूसरोंके अपकारके लिए हुआ, धर्मकी अप्रभावनाके लिए हुआ। इस कारण मुझे क्रोध करना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। जो पुरुष जैन कुलमें उत्पन्न हुए और समाजमे बड़े माने जाते हैं, समाजके लोग भी महान समझकर जिसके हुक्ममें भी रहना चाहते हैं ऐसे वे समाजके बड़े प्रमुख यदि धर्मके विरुद्ध चलते हैं या धर्मकार्यमें अपना कुछ भी सहयोग नहीं देते, उन पुरुषोंके द्वारा धर्मकी अप्रभावना है और लोगोंका अकल्याण भी हो रहा है, क्योंकि साधारणजन तो उस बड़े पुरुषकी चर्या निरखकर अनुकरण करेंगे और जिन नगरोंमें समाजके प्रमुख धनिक विद्वान धर्ममार्गमें चलते हैं वे धर्ममें अपने लिए भी प्रभावना करते हैं और लोगोंका उपकार भी करते हैं। तो यहाँ मुनिराज विचार कर रहे कि यदि मैं क्रोध करूं तो मुझे देखकर और-और तपस्वीजन अपने शुद्ध स्वभावसे भ्रष्ट हो जायेंगे, तो मैंने कितना अनर्थ किया, कितना हमने उन संतोंका अपकार किया। उसका जन्म व्यर्थ है जो दूसरोंके अपकारके लिए अथवा क्लेशके लिए बने।

प्राग्मया यत्कृतं कर्म तन्मयैवोपभुज्यते।
मन्ये निमित्तमात्रोऽन्यः सुखदुःखोद्यतो जनः ॥९३८॥

अन्य प्राणीकों सुख दुःखमे निमित्तमात्र और अपने कृत कर्मको हेय जानकर क्रोध न करनेका ज्ञानीका यत्न—फिर भी विचार करते हैं जो मुझे ये दुःख हो रहे हैं, विपत्ति क्लेश उपसर्ग आ रहे हैं तो मैंने पूर्व जन्ममें कोई पाप-कर्म किये होंगे उनका फल मुझे ही तो भोगना होगा। जैसे भी कर्म यह जीव पूर्वकालमे करता है उसका फल उसे भोगना पडता है यदि कोई कष्ट आये तो इतना तो निश्चित है ही कि कर्मोंकी निर्जरा हो रही है, उन कर्मोंकी जिन पापकर्मोंके उदयमे यह विपदा आ रही है, तो इसमें मेरा बोझ ही तो हल्का हो रहा है। और इसको उदाहरणसे समझना हो तो एक बहुत प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि नारकी जीव मरकर उस भवके बाद नरक में नहीं जाता। क्यों नहीं जाता? वहाँ इतने क्लेश भोग रहे थे कि उसमें पापकर्म निखरते जा रहे थे। संक्लेश भी कर रहा है नारकी, किन्तु कर्म अधिक निखर रहे हैं। इसके परिणाममें फिर नरक जैसी गति तुरन्त नहीं मिलती। फिर नरक जानेके लिए मनुष्य या तिर्यञ्च बनना होगा और पापकर्म करने होंगे तब नरक गतिमें जन्म होगा। तो ऐसे ही समझ लीजिए कि हमें इस जीवनमें कोई कष्ट आते हैं, उपसर्ग होते हैं, विपदायें आती हैं तो यह भी भलेके लिए हो रही है। हम वहाँ समता परिणाम बनायें कि जिससे आगामी कालके लिए फिर विपदा न आये और वर्तमानमें भी वे सब तीव्र पाप अथवा कठिन कष्ट थोड़े रूपमें रहकर खिर जायें। विचार करते हैं संतजन कि मैंने पूर्व जन्ममें भले अथवा बुरे जिस प्रकारके कर्म किये हैं उनका फल भोगना ही तो पड़ेगा। जो कोई भी हमें सुख दुःख देनेके लिए तत्पर हैं वे केवल बाह्य निमित्त मात्र हैं। बात तो सब मेरे करनेके अनुसार हुई है अतएव मैं इन दूसरे जीवोंपर क्यों क्रोध करूं। जो बुरी स्थिति भी आये तो उसमें किसी दूसरेने क्या किया? मैंने जैसे कर्म बाँधा वैसा उदयमे आ रहा है। और, यह बात सही है कि जीवोंको जितने भी सुख दुःख होते हैं वे उनके कर्मानुसार होते हैं। समयसार जैसे अध्यात्मग्रन्थमें भी स्वयं मूल रचयिता कुन्दकुन्दाचार्यने और उनके टीकाकार अमृतचन्द्रजी सूरि और जयसेनाचार्यने भी यह बात स्पष्ट कर दिया कि कोई दूसरा पुरुष मुझे सुख अथवा दुःख नहीं देता, किन्तु जैसा जो कुछ कर्म है उसके अनुसार सुख अथवा दुःख होता है। यहाँ ज्ञानी संत पुरुष ऐसा विचार रहे हैं कि पूर्व जन्ममें जैसे भी कर्म किये हैं उनका यह उदय आ रहा है। उसमें मैं दूसरे पुरुषपर क्यों क्रोध करूं। किसी दूसरेने क्या किया मेरा।

और, यह बात विल्कुल सत्य है कि मेरा उदय खोटा न हो तो मुझे क्लेश न होगा। खोटा उदय आये तो दुःखमें कोई निमित्त बन जाय। कोई भी दूसरा जीव मेरा वैरी नहीं है। दूसरा तो अपनी शान्तिके लिए अपने सुखके लिए अपनी चेष्टायें करता है, कोई मेरा कुछ नहीं करता, ऐसा चिन्तन करके ज्ञानीपुरुष किसी दूसरेपर क्रोध नहीं करता।

मदीयमपि चेच्चेतः क्रोधाद्यैर्विप्रलुप्यते।
अज्ञातज्ञाततत्त्वानां को विशेषस्तदा भवेत् ॥६३९॥

क्रोधविजयमें ही ज्ञाततत्त्वोंकी विशेषताका पोषण—ज्ञानी पुरुष विचार करते हैं कि मैं मुनि हूँ, तत्त्वज्ञानी हूँ, यदि क्रोधादिक करके मेरा भी चित्त बिगड जायगा तो फिर अज्ञानीमें और तत्त्वज्ञानीमें भेद ही क्या रहा? मैं भी अज्ञानीके समान हुआ, मैं भी मूढ बन गया। जो बुद्धिमान पुरुष होते हैं वे हठी धूर्त पुरुषोंके मुँह नहीं लगते, उनको जवाब ही दिया जाय ऐसी परिणति बुद्धिमानके नहीं होती। जान गए शठ है यह, हठी है यह, यह अपनी बुद्धि तो रखता नहीं, इसमें कुछ विवेक ही नहीं है। तो जो कह रहा है उसका क्या मुकाबला करना। यों उपेक्षा कर देता है। यदि मैं भी उनके ही समान उनको दुर्वचन बोलने लगा, क्रोध करने लगा तो मैं भी अज्ञानी ही हुआ, ऐसा विचारकर ज्ञानी संतपुरुष क्रोधादिक रूपसे नहीं परिणमते। और, फिर एक विशेष बात यह है कि यह जगत दुःखमयी है। यहाँ राग आगकी वडी दाह हो रही है, जन्म-मरण करके जीव वडी विपत्तिमें पड रहा है। ऐसी विपत्तिकी स्थितिमें तो विपदासे वच निकल जानेका उपाय करना चाहिये या अन्य-अन्य बात करना चाहिए। जो पुरुष किसी विपदामें होता है वह दूसरेका कुछ बुरा करनेकी बात तो भूल जाता है और खुदको विपदासे बचा लेनेके प्रयत्नमें लगता है। तो मैं यहाँ किसी दूसरेके प्रति क्या क्रोध करूँ, क्या परिणाम बिगाडूं। मैं स्वयं मोह राग द्वेष आदिक विकारोंसे दुःखी हूँ, जन्म मरणके चक्र लगानेसे विपन्न हूँ, उसे अपनी विपदा मिटाना है तो विपदा मिटानेका उसका परिणाम रहता है, दूसरे जीवोंको वैरी नहीं मानता, न उनपर क्रोध करता है।

न्यायमार्गे प्रपन्नेऽस्मिन् कर्मपाके पुरःस्थिते।
विवेकी कस्तदात्मानं क्रोधादीनां वशं नयेत् ॥६४०॥

क्रोध करनेकी अयुक्तताका कथन—वे ज्ञानी संतपुरुष ऐसा विचार करते हैं कि यह जो कर्मोंका उदय है सो न्यायमार्गमें प्राप्त है, अर्थात् जो किया है उसका उदय आना ही चाहिए यह न्यायकी बात है। पापकर्मके उदयमें कोई जीव सुखी हो जाय तो यह बात नीतिके विरुद्ध होगी, पर पापका उदय हो और वह दुःखी हो रहा है तो वह तो एक सही काम हो रहा है। तो ज्ञानी पुरुष विचारता है कि यह जो कर्मोंका उदय है सो बिल्कुल न्यायमार्गकी बात है। इसके निकट होनेपर, कर्मोंका उदय आनेपर फिर ऐसा कौन विवेकी है जो अपनेको क्रोधादिकके वशमें कर डाले। जो कोई अपना बिगाड करता है तो अपने पूर्व जन्मके बद्ध कर्मोंके उदयके अनुसार करता है। कर्म बधते हैं और उनका उदय आयगा यह न्यायमार्गकी बात है। इस कारण यदि ऐसा ही कर्मोदय आया है, जिसमें मुझपर विपदा और उपसर्ग आ रहे हैं, तो मुझे क्रोध करना युक्त नहीं है। क्रोध करनेसे फिर नये कर्मकी उत्पत्ति होती है और आगेकी संतति चलती रहती है। जिसने अपने आपके कल्याण मार्गका निर्णय कर लिया उसे तो संसार संकटोंसे, विकारोंसे छूटनेका ही काम पडा हुआ है। लोकमें और कोई मेरेको काम नहीं है ऐसी जिसे आत्महितकी धुन बनी है वह पुरुष विचार कर रहा है। जब कभी क्रोधादिकके कारणभूत उपसर्ग आयें, जिन उपसर्गोंसे साधारणजन व्यथित हो जाते हैं, क्रोधमग्न हो जाते हैं उनके आनेपर विचार करता है ज्ञानी कि यह न्यायकी बात हो रही है। जो पूर्वजन्मकी खोटी कमाई है, उसे क्यों न सहना चाहिए, वह तो न्यायकी बात है। किसीका कर्ज लिया हो तो वह कर्ज तो उसका चुकाना

चाहिए और उसके घर जाकर चुकाना चाहिए। और, यदि वह खुद ही आ रहा है तो यह अच्छी ही बात है। चुका दें कर्ज। ऐसे ही ये कर्म जो हमने खोटे किये उनका मुकर्रर कर्जा चढ़ा हुआ है और वे सब निखरने के लिए आ रहे हैं, मुझे ऋणमुक्त करेंगे तो यह भली बात है। ज्ञानी पुरुष कभी किसी भी उपद्रवमें दूसरे पुरुषोंपर क्रोध नहीं करते। क्या किया दूसरेंने। मेरा ही उदय खोटा था। हो गया मेरा खोटापन। पर मुझे कोई दूसरा पुरुष विगाड़ दे या दु:खी करदे यह बात सम्भव नहीं है। सब अपने-अपने परिणामोंके अनुसार दृष्टि बनाते चले जाते हैं। मैं दु:खी रहूँगा तो यह भी न्यायकी बात है। जब हम किसी दूसरे पुरुषको दु:खी देखते हैं तो यह कह बैठते हैं कि इसने बहुत बुरा कार्य किया है सो उसका फल मिला है, यों यहाँ ठीक है, कर्मका उदय आया तो विपदा आनी ही चाहिए। ऐसा जो चिन्तन करते हैं वे क्रोधभाव नहीं लाते और जो उपसर्ग आये हैं उन्हें समतासे सह लेते हैं। यों क्रोधके विजय करनेके लिए ज्ञानी सत पुरुष चिन्तन कर रहे हैं कि क्रोध दूर होगा तो विवेक हमारा सही रहेगा और हम उस सद्विवेकमें अपने कल्याणका उपाय बन सकेगा, अतएव ज्ञानी पुरुष क्रोधभाव नहीं लाते।

सहस्व प्राक्तनासातफलं स्वस्थेन चेतसा।
निष्प्रतीकारमालोक्य भविष्यद्दुःखशंकितः ॥९४१॥

समतासे दु:खसहनकी भावना—ज्ञानी पुरुष किसी विपत्तिके आनेपर उसमे धीरता नहीं नष्ट करते हैं। जब धीरता नहीं रहती है तब चित्तमें क्रोधसा बना रहता है। उनके ऐसे प्रसगमे यह विचार रहता है कि पहिले जो कर्म किया है उनका फल यह आ ही रहा है यह तो आयगा ही। दु:ख पूर्वक यदि इसे सहेंगे तो भविष्यकालमे फिर और दु:ख मिलेंगे। तो इस दु:खको समतापूर्वक सहें। मनमे क्रोधभाव न लायें। दु:ख भोगनेसे दु:खकी परम्परा मिलती है। दु:ख माननेसे आगे भी दु:ख मिलता है। मूढ पुरुष खुद दु:खी होते दूसरोंको भी दु:खी करते, खुद रोते दूसरोंको भी रुलाते। चेष्टायें करनेसे किस ही प्रकार के सूक्ष्म कार्माणस्कंध बनते हैं जिससे फिर दु:खी होगा। जैसे यहाँ भी लगता है कि किसी भी बातका यदि शोक करने लगे तो वह शोक फिर गहरा होता चला जाता है, और प्रारम्भमें ही उसकी उपेक्षा करदे, प्रसन्नता पानेका यत्न करे तो वह प्रसन्नता रूपमें बदल जाता है। तो जो क्रोध करता है उसके ऐसे ही कर्म बंधते हैं कि जिसके उदयमें फिर भविष्यकालमें भी शोक होगा। ज्ञानी पुरुष सदा प्रसन्न रहते हैं। उनकी प्रसन्नता का कारण यह है कि उनकी प्रतीति स्पष्ट है। संसार मायारूप है। यहाँ किसीसे मेरा हित नहीं हो सकता है, मेरा हित मेरे स्वरूप मे बसा हुआ है ऐसी उनके प्रतीति है इस कारण वे सदा प्रसन्न रहते हैं। रंज तो वह माने जिसके अज्ञान है। जो बाह्य पदार्थोंमे अपने हितका हिसाब लगाता है। ज्ञानी पुरुष तो ऐसा विचार करते हैं कि जो पहिले कर्म बन्ध किया उनका तो फल भोगना ही पड़ेगा। अब स्वच्छचित्त होकर दु:ख भोगें तो भविष्यमें दु:ख न मिलेगा। यहां किस बातका क्लेश करना। जगतमें कोई भी चीज जब तक अपने पास है तब तक भी वह अपनी नहीं है। यहाँ केवल ऐसा सोचा जाता है कि मेरा अमुक है, मेरा अमुक है, परंतु है किसीका कुछ नहीं। आज जो घरमें पुत्ररूपमें आया है, स्त्रीरूपमें आया है, यदि वह जीव न आता दूसरा आता तो उससे मोह करते। इस जीवको तो मोह करनेकी आदत है तो जो भी जीव अपने घरमें आ गया उसीसे मोह करने लगता है। इस जगतमे अपना कहीं कुछ नहीं है। जब यह शरीर तक भी अपना नहीं है तो फिर ये मां-बाप, स्त्रीपुत्र कहाँ अपने हो सकेंगे। जब तक इनका साथ लगा है तब तक ये क्लेशके ही कारण होते हैं। तब फिर कौन होगा जगतमें। ऐसी मूल विद्या उनके स्फुरित होती है अतएव ज्ञानी पुरुष सदैव प्रसन्न रहते हैं। यदि किसी पुरुषने खोटे वचन बोले तो उन वचनोंको सुनकर ज्ञानी पुरुष खेद नहीं मानता है। प्रथम तो यों समझता है कि अमुक मनुष्य भी सुख चाहता है और सुख इसही में मिल रहा है कि इस प्रकारकी कषाय जगायें और गाली गलौज बकें, दुर्वचन कहें तो यह इसकी खुदकी शान्तिके लिए चेष्टा है। ये दुर्वचन इसकी शान्ति करनेके लिए नहीं है, पर इसने अपनी शान्तिके लिए ये दुर्वचन कहे हैं। इसने

मुझे कुछ नहीं कहा है। खुदके मनमें कोई बाधा जगी है जिससे यह बक रहा है। अरे कुछ सम्बन्ध भी है तो उससे इतना ही सम्बन्ध है कि असाता कर्मका उदय आया है जो इस प्रकारका निमित्त जुटा है। यदि उसमें उपयोग लगाया, खेद माना तो आगमी कालमें भी दुःख ही मिलेगा इसको तो समतापूर्वक भोगनेसे ही छुटकारा है, साधु सतजन ऐसा विचार कर रहे हैं। इस विपदाका अन्य कोई इलाज नहीं है। तब चित्तको क्रोधमय बनाये रहनेसे भविष्यमें भी दुःख होगा। मनुष्यमें एक यह विशेष गुण होना चाहिए कि बाहरी बातोंको बाह्य जानकर अपने आपमें उनसे कुछ सुधार बिगाडका हिसाब न लगाया करें। और चित्तमें प्रसन्न रहा करे। छोटे-छोटे मजदूर भी इस प्रसन्नताकी प्रकृतिके कारण मस्त रहते हैं और वैभव भी हो, अनेक कलायें और ज्ञान भी हो, किन्तु एक प्रसन्नताकी प्रकृति नहीं है, बाह्य पदार्थोंका लोभ लगा है, उनमें किसी प्रकार यश आदिककी वाञ्छा है तो उससे क्षोभ होगा और दुःखी होना पड़ेगा। बस दो ही बातें जीवोंको कष्ट देने वाली हो रही हैं। एक तो धन वैभव की चाह, दूसरे मान सम्मानकी चाह। खूब जगतमें दृष्टि पसार कर देखलो। और-और बातें तो सही जा सकती हैं पर ये दो बातें नहीं सही जा पाती हैं। शारीरिक वेदना भी सही जा सकती है, पर यह जो यशकी चाह है, सम्मानकी चाह लगी है उसकी वेदना नहीं सह पाते। धन वैभवकी चाह भी यशकी चाहके लिए है। लोग समझें कि यह भी धनी पुरुष है ऐसी यशकी वाञ्छा लगी है जिसके कारण धन वैभवकी चाह लगी है। तो जिसे अपने सम्मानकी इच्छा लगी है उसके चित्तमे क्रोधादिक कषायें बसी रहा करती हैं। जैसी चाह है वैसा सम्मान न मिले तो क्रोध आना स्वाभाविक ही है। अपने चित्तको क्रोधयुक्त करनेसे कुछ लाभ भी नहीं है, बल्कि भविष्यमें दुःखकी और परम्परा बनेगी इस कारण विपत्तिको समता भावसे सहन करना उचित है।

उद्दीपयन्तो रोषाग्निं बहु विक्रम्य विद्विषः।
मन्ये विलोपयिष्यन्ति क्वचिन्मत्तः शमश्रियम् ॥६४२॥

क्रोधसे शमश्रीके अपहरणरूप हानिका कथन—ज्ञानी सत मुनिजन विचारते हैं कि पूर्वकृत कर्म मेरे वैरी हैं सो मैं ऐसा मानता हूँ कि ये सब कर्म पूर्वकालमें बधे हुए अपने उदयरूप पराक्रमसे क्रोधादिकको उत्पन्न करने वाले निमित्तको मिलाते हैं और मेरी क्रोध अग्निको जलाकर शान्तिरूपी लक्ष्मीको लौटाते हैं। उदय आया असाताका जिसमें क्लेश उत्पन्न करनेका निमित्त मिला। अब होता क्या है वहाँ कि क्रोध अग्नि तो भडक उठती है और शान्ति लक्ष्मी लुट जाती है। जिस प्रकार हठी पुरुष घरमें आग लगाकर सम्पदाको नष्ट करता है इसीप्रकार ये कर्मवैरी मेरेमे क्रोधअग्नि जलाकर मेरी समतारूप, शान्तरूप सम्पदाको लूट रहे हैं, ऐसा वे विचार करते हैं। जब क्रोध जगता है चित्तमे तब विवेक काम नहीं करता। यों तो सभी कषायें बुरी है। जब मान जगता है चित्तमें तो विवेक काम नहीं करता। मायाचार छल कपटसे अपना हित समझता है कोई तो उसके विवेक नहीं रहता। ऐसी ही लोभ कषायकी बात है। जब किसी परमें, वैभवमें धनमे लोभ कषाय जगती है तो फिर उसके विवेक नहीं जगता। मानलो पिता पुत्र हैं, उनमें परस्पर क्रोध जग जाय तो पिता पुत्रको सुखी नहीं देखना चाहता, पुत्र पिताको सुखी नहीं देखना चाहता। और, धन वैभव यह सब एक दूसरेसे छुड़ाना चाहते हैं। हालाकि पिता और करेगा क्या ? छोड़कर ही तो जायगा। क्रोध कषायके वश पुत्र भी पिताको सुखी नहीं देखना चाहता। जब क्रोध अग्नि जगती है तो विवेक नष्ट हो जाता है। सो विवेक नष्ट हुआ कि समझो शान्तरूपी सम्पदाका लोप हो गया। अतएव मैं सावधान रहूँ, कहीं कुछ भी होता रहे। कोई कैसा ही अपवाद करे, अपमान करे यह तो सब उसकी चेष्टा है, उससे मेरेको क्या है ? मेरेका तो सब कुछ मैं ही कर पाता हूँ, तो विपत्तिके समय ज्ञानी पुरुष ऐसा विचारते हैं कि यह तो मेरी परीक्षाके लिए ऐसा समय आया है जैसे कोई पुरुष किसीको गाली देवे और वह दूसरा चिढने लगे तो गाली देने वाला यदि यह कहदे कि मैं तो तुम्हारी परीक्षा ले रहा था कि तुम्हें क्रोध आता है कि नहीं आता है। ऐसे दो चार

मौके पड जायें तो फिर जब भी वह गाली देगा तो यह समझेगा कि यह तो मेरी परीक्षाके लिए गाली दे रहा है तब उस गालीका असर नहीं होता क्योंकि उसका भाव बदल गया। मुझे यह गाली दे रहा है ऐसा वह नहीं सोच रहा, किन्तु यह मेरी परीक्षा कर रहा है ऐसा सोचता है। तो ऐसा सोचनेसे उसके क्रोधमें फर्क आ जाता है। तो ऐसा ही ज्ञानी विचारता है कि यह कर्म बली मेरेमें क्रोध अग्नि जलाकर सम्पदाको लूटता है अथवा मेरी परीक्षा करता है। ऐसा जानकर यह ज्ञानी पुरुष क्रोधकी ओर नहीं जाता।

अप्यसह्ये समुत्पन्ने महाक्लेशसमुत्करे।
तुष्यत्यपि च विज्ञानी प्राक्कर्मविलयोद्यतः ॥९४३॥

ज्ञानीका क्लेशमें भी संतोष—ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि जो ज्ञानी पूर्व कमाये हुए कर्मोंको नष्ट करनेमें तत्पर होता है वह बड़े-बड़े असह्य क्लेशोंके प्राप्त होनेपर सन्तोष भी करता है। कष्ट तो एक निशानी है उन्नतिकी। जिस पुरुषको कभी जीवनमें कष्ट नहीं आता, मां बाप भी उसका बड़ा ख्याल रखते हैं और लोग भी उसका बड़ा ध्यान रखते हैं तो ऐसी स्थितिमें उसमें धीरताका गुण न जगेगा, न बुद्धिका कौशल होगा, उसमें गुणोंका विकास न होगा। दुःख आता है भलेके लिए ऐसा ज्ञानी पुरुष विचार करता है। इस मायामय संसारमें यदि बड़े आरामसे भी जी गए, एक जीवन मौजमें विषयोंमें प्रेममें खो दिया तो इससे इस जीवको लाभ क्या मिला? इतना दुर्लभ मनुष्य जन्म पानेसे इसे कोई अद्भुत लाभ लेना था, सदाके संकटोंसे छूट जाय ऐसा तत्त्वज्ञान करना था। परन्तु मौलिक उपाय न करके और मन माफिक शान्तिके लिए कुछ विषय कषायोंके उपाय बनाया तो उसमें मनुष्य होनेका लाभ कुछ नहीं लिया। वह विचारता है ज्ञानी पुरुष कि पूर्व जन्ममें जो कर्म उपार्जित किया था उनका उदय अवश्य होता है। अब उदय आकर यह खिर रहा है तो यह अच्छा ही तो है। ऐसा समझकर सन्तोष करता है। सत्यता तो यह है कि जिस आत्माको अपने आपके सहज स्वरूपकी प्रतीति है मैं तो इतना ही मात्र हूँ, जो ज्ञानानन्द स्वरूप है वही मैं आत्मतत्त्व हूँ ऐसी जिसे अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी प्रतीति जगती है उसे किसी अन्यपर क्रोध नहीं जगता। यहाँ किसपर क्रोध करना? जैसे कुछ बालक यह समझते हैं कि मेरा रक्षक पिता है सो क्लेश आनेपर पिता दिख जानेपर झट उसकी शरण गहता है क्योंकि उसकी समझमें वह पिता रक्षक बना हुआ है। तो रक्षक कोई हो लोकमें तो उसके प्रति कुछ अपनी ठिनक चलाये, कुछ रोष करे, पर जगतमें मेरा रक्षक है कौन? कोई भी जीव नहीं है। जो आज बहुत-बहुत प्रेम दिखाते हों वे भी इस आत्माके रक्षक नहीं है। मोहमें स्नेहके कारण ऐसा सोचते तो हैं कि मैं बड़ा सुखी हूँ, मैं बहुत मौजमें हूँ, मुझपर इनका बड़ा स्नेह है, पर उस स्नेहसे होता क्या है? क्या सदा संयोग रहेगा उस स्नेही मित्रसे? मेरा ही उदय खराब आ जाय, बुद्धि बिगड जाय, पागलपन आ जाय तो क्या वहाँ कोई मित्र स्नेही साथ दे सकेगा? कोई मेरा सहाय नहीं है। मेरा तो मात्र मैं हूँ। अपनेको सम्हालें तो सत्य सहारा मिल गया ऐसा ज्ञानी संत विचार कर रहे हैं इस ही कारण बड़े-बड़े क्लेश उत्पन्न होनेपर भी तुष्ट ही रहते हैं दुःखी नहीं होते।

यदि वाक्कण्टकैर्विद्धो नावलम्बे क्षमामहम्।
ममाप्याक्रोशकादस्मात्को विशेषस्तदा भवेत् ॥९४४॥

वचन कण्टकोंसे विद्ध भी ज्ञानीके क्षमाका अवलम्बन—यह क्रोध कषाय जीतनेके लिए विचार बताया जा रहा है कि मैं कैसे क्रोधरहित शान्तचित्त बनाकर रहूँ। ज्ञानी संत पुरुष चिन्तन करते हैं कि दुर्वचन कहने वाले पुरुषोंने मुझे वचनरूपी काटोंसे पीड़ित किया है। अब यदि मैं क्षमा धारण न करूंगा तो मेरेमें और दुर्वचन कहने वालेमें विशेषता क्या होगी? इसने गाली दी और हम इसे क्षमा न कर सके, हम भी गाली देने लगें तो अब दुनियामें बड़ा कौन रहा? विशेषता किसकी रही? किसी की नहीं। दोनों समान हो गए।

मैं यदि दुर्वचन कहूँगा तो मैं भी इसके ही समान हो जाऊंगा इस कारण क्षमा करना ही उचित है, ऐसा ज्ञानी संत पुरुष विचार कर रहे हैं। यदि अपना जितना जो कुछ सर्वस्व है, स्वरूप है वह अपनी निगाहमें रहता है तो कोई संकट नहीं है। जैसे कोई समर्थ पहलवान छोटे-छोटे बालकोंको कुश्ती लड़ना सिखाता है तो सिखाते हुए में कभी-कभी वह स्वयं गिर जाता है। हसी-हंसीमें ही उन बालकोंको कुश्ती सिखाता रहता है। वह समझता है कि इसमें मेरा क्या बिगड़ता है। तो क्या उसमें सामर्थ्य नहीं है? जब चाहे तब उन बालकोंको उठा उठाकर फेंक दे, ऐसी शक्ति बन गयी है अतएव वह चिन्तन करता है। ऐसे ही ज्ञानी पुरुषकी ऐसी अद्भुत शक्ति बन गयी है कि उस पर कोई सकट हामी नहीं बन सकता है। जब संकट आता है तो वह ज्ञानी पुरुष अधीर नहीं होता है। यदि किसीने दुर्वचन बोल दिया तो ज्ञानी पुरुष ऐसा विचारता है कि मैं उस दुर्वचन बोलने वालेको यदि खोटा बोल दूं तो मैं भी उसके ही समान हो गया। और फिर गाली देने वालेको कोई शान्ति प्राप्त नहीं होती। जैसे कोई बड़े गुम्मजके भीतर कुछ शब्द बोलता है तो उसकी झाईमें वही शब्द लौटकर आते हैं ऐसे ही गाली देने वाला कितनी ही गालियां मुझे दे दे और मैं उन्हें न स्वीकार करूं तो वे गालिया लौटकर उसके ही लग जाती हैं। दुर्वचन बोलने वाला मेरा कुछ नहीं बिगाड़ रहा वह तो अपना ही विनाश कर रहा है। ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष अपने सत्पथसे विचलित नहीं होते हैं।

विचित्रैर्बधबन्धादिप्रयोगैर्न चिकित्स्यति।
यद्यसौ मां तदा क्व स्यात्संचितासातनिष्क्रियः ॥९४५॥

पीडक पुरुषके प्रति चिकित्सकत्वकी भावना—जो कोई मेरे अनेक प्रकारके वध बन्धन आदिक प्रयोगोंसे इलाज नहीं करता है उसके पूर्व सचित कर्मरूपी रोगका कैसे नाश हो? ज्ञानी पुरुष विपदामें यों प्रसन्न रहा करते कि विपदा न आये तो मेरे जो पूर्व कर्म बधे हुए हैं उनका विनाश कैसे हो? पूर्व कर्मोंका विनाश तो विपदायें मिलें, कष्ट मिले उसमें होता है। और वहाँ यदि समता धारण करली तो उसे मुक्तिका मार्ग भी मिल जाता है। किसीने दुर्वचन बोल दिया तो ज्ञानी पुरुष विचार करता है कि यह तो मेरा उपकारी है क्योंकि इसके निमित्तसे मेरे पूर्वबद्ध कर्म दूर हो रहे हैं। ज्ञानी संत पुरुष वे कहलाते हैं जिनके शत्रु और मित्रमें एक समान परिणाम हो। शत्रुको अनिष्ट और मित्रको इष्ट मानले तो वहाँ साधुता नहीं रहती। साधुके लिए शत्रु और मित्र एक समान हैं। ऐसे गम्भीर धीर वीर साधु संतजन ऐसा विचार करते हैं कि कोई मुझे पीडा देरहा है तो वह मेरे कर्मरूपी रोगको नष्ट कर रहा है। उसका तो उपकार ही मानना योग्य है, उसमे क्रोध क्यों करना?

यः शमः प्राक्समभ्यस्तो विवेकज्ञानपूर्वकः।
तस्यैतेऽद्य परीक्षार्थं प्रत्यनीकाः समुत्थिताः ॥९४६॥

निन्दक व पीडकोंके प्रति परीक्षकत्वकी भावना—जो दुर्वचन कहने वालेमे और बडा आदर सम्मान करने वालेमें समताका परिणाम रखता है वह साधु है। कोई पुरुष यदि पीडा दे रहा है तो उसमें यह देखना होगा कि इस पुरुषका शान्त परिणाम है या नहीं। ऐसा विचार करना किन्तु क्रोधरूप न होना। किसीका कुछ भी आशय हो किन्तु उसके बारेमें ऐसे सच्चे ढंगसे सोचें कि जिससे अपनेको संक्लेश न आये। कोई हमे सता रहा है तो हम वहाँ ऐसा ध्यान बनायें कि यह हमारी परीक्षा कर रहा है। जिसकी जैसी दृष्टि होती है उसको उसही प्रकारका अनुभवन मिलता है। तो कहीं कुछ भी होता हो हम सर्वत्र भला ही भला देखें। तो यह ज्ञानी विचार रहा है कि इसने जो दुर्वचन कहे या कुछ पीडा दिया तो यह तो मेरी परीक्षा कर रहा है। हमें भेदविज्ञान पूर्वक समता परिणामसे शान्तभावका आलम्बन लेना चाहिए। यह इस निष्कषाय भावके

अभ्यासकी परीक्षा लेने आया है ऐसा विचार तो करते हैं साधुजन, पर क्रोधरूप नहीं होते हैं। हम जिस चाहे स्थलमें ऐसा विचार कर सकते हैं। यह मेरा बिगाड़ करने नहीं आया किन्तु मेरी परीक्षा लेने आया है कि कितनी धीरता है, गम्भीरता है। ऐसा विचार बनाकर ज्ञानी पुरुष अपने आपमें आकुलित नहीं हुआ करते हैं। आकुलता होती है परपदार्थोंके सम्बन्धसे। तो परका सम्बन्ध हम न मानें, सब बिखरे हुए हैं, न्यारे-न्यारे हैं, अपने सत्त्व-स्वरूप हैं। हाँ उन सब सत्त्वोंमें जातिकी अपेक्षा एक साधारण एकत्वका ज्ञान करना है, पर हैं ये सब जुदे ही जुदे। तो जिसकी जैसी कषाय है, जिसका जो परिणाम है वह अपनी वेदनाको शान्त करनेके लिए उस प्रकारकी चेष्टा करता है। मुझे क्रोध न करना चाहिए। ये सभी लोग मेरे क्रोधकी शान्तिकी परीक्षा करने आये हैं। मुझे शान्त ही रहना योग्य है जिससे मैं अपने आपके भविष्यकी सृष्टि उत्तम बना सकूं। शोक करनेके फलमें भविष्य भी शोक-शोकमें बीतेगा। अत रज और शोक किसी स्थलमें न करें, यथार्थ तत्त्वका ज्ञान करके मैं अपने आपमें ही सन्तुष्ट रहूँ, ऐसा जानकर ज्ञानीपुरुष दूसरोंपर क्रोध नहीं करते।

यदि प्रशममर्यादां भित्त्वा रुष्यामि शत्रवे।
उपयोगः कदास्य स्यात्तदा मे ज्ञानचक्षुषः ॥९४७॥

शत्रुके प्रति रोष न करके सज्ज्ञाननेत्रके सदुपयोगका यत्न—यदि मैं शान्तिकी मर्यादाका उल्लघन करके वध बन्धन आदिक करने वाले शत्रुसे क्रोध करूंगा तो उससे इस ज्ञानरूपी नेत्रका उपयोग फिर किस समयमें होगा? ज्ञानी पुरुष यह विचारता है। मैंने जो ज्ञानोपयोग पाया है, जो स्थिति पाया है वह अनन्त जीवोंसे भी विलक्षण है, इतना सुन्दर क्षयोपशम सद्बुद्धि, उत्तम जीवन और विचारशक्ति मिलना ये सब इतने उत्तम मिलनेपर भी यदि इनका सही उपयोग न कर सके, क्रोधमें रोषमें चलते रहे तो फिर मेरे ज्ञानका उपयोग किस समयके लिए होगा। जो कुछ मैंने ज्ञान पाया है वह तो ऐसे ही समयके लिए था। जब कि कोई सता रहा हो, क्रोध कर रहा हो वहाँ पर हम समतासे रह सकें, शान्तभाव हमारा बना रह सके इसके लिए ही तो ज्ञानाभ्यास था। यदि हम उस ज्ञानको ऐसे समयोंमें नहीं करते तो फिर ज्ञान पानेसे लाभ क्या? जैसे कोई पुरुष अपनी सेनापर बहुत बड़ा खर्च उठाये और कोई शत्रु आक्रमण करदे देशपर, तब सेनाको छुट्टी दे दे तो यह तो राजाका अविवेक है। ऐसे ही ज्ञानाभ्यास तो किया, पर भले-भले समयमें तो उस ज्ञानकी बड़ी कलाये खेली, सुखी हुए, मौज हुआ, यश हुआ, प्रशसाकी बातें भी सुननेको मिली, ऐसे समयोमें तो बड़ी शान्तिकी मुद्रा बनायी, बहुत-बहुत कलायें खेली। और, कदाचित् ऐसा समय आये कि जब विपदा आयी हो, कोई दुर्वचन बोलता हो ऐसे समयमें हम उस ज्ञान की छुट्टी करदें अथवा उस ज्ञानका उपयोग न करें तो भला बतलावो यह विवेक तो नहीं है। ज्ञानी सत इस प्रकार विचार करते हैं और इस विचारके प्रसादसे फिर भी कोई क्रोध कराये ऐसा निमित्त बने, उस प्रसगमें भी विचलित नहीं होते।

अयत्नेनापि सैवेयं संजाता कर्मनिर्जरा।
चित्रोपायैर्ममानेन यत्कृता भर्त्सयातना ॥९४८॥

विराधक द्वारा भर्त्सयातना होनेपर ज्ञानीके अयत्नसाध्य कर्मनिर्जराके लाभका चिन्तन—फिर मुनिराज ऐसा विचार करते हैं कि इस शत्रुने मेरा अनेक प्रकारके उपायसे तिरस्कार करके जो पीडा की है, इससे तो मुझे बड़ा लाभ हुआ है। बिना यत्न किए सहज ही मेरे बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा हो गयी। सधर्मीजन यदि तिरस्कार करें तो वह कर्मनिर्जराका कारण है। उस समय समताका परिणाम रख सक तो जो कर्म पूर्व जन्मसे कमाये हैं वे तो खिरते हैं और अब कोई हमारा तिरस्कार कर रहा है तो वे कर्म खिर ही तो रहे हैं। किसीने हमे गाली दी तो उसमें क्या खेद मानना? जब ज्ञान रहता है, उस समय कोई दुर्वचन बोले, कोई तिरस्कार करे तो वह सब कर्मनिर्जराके लिए होता है। ज्ञानी सत मुनिराज ऐसा विचार करते हैं कि इस प्रवृत्तिसे हम

जो मुझे अनेक प्रकारसे पीडा दी है, तिरस्कार किया है इससे मेरा लाभ ही है। यह बात केवल कहने भरकी नहीं है ऐसी प्रवृत्ति होती है उनकी जिनको यथार्थ ज्ञान है। जो कर्म कमाये हैं पूर्वमें वे उदयमें आयेंगे, खिरेंगे, उनका फल भोगना होता है। तो जब फल भोगना होगा तो उस समय तो वे कर्म खिर जायेंगे। तो कर्म खिर गये यह तो लाभकी बात है। तो जिसमें विपदा आये, कोई अपमान करे तो वह स्थिति भलेके लिए है। ऐसे हृदयसे ठीक प्रकारसे विचार करते हैं ज्ञानी पुरुष, कि यह उपकारकी ही तो बात है। इस पर क्रोध क्यों करना ? क्रोध कषायके विजयका उपाय बता जा रहा है कि हम कैसा चिन्तन करें कि क्रोध कषाय हमारा दूर हो।

ममापि चेद्द्रोहमुपैति मानसं परेषु सद्यः प्रतिकूलवर्तिषु।
अपारसंसारपरायणात्मनां किमस्ति तेषां मम वा विशेषणम् ॥९४९॥

द्रोहियोंके प्रति द्रोह न करनेकी विशेषता—जो प्रतिकूल चलने वाले व्यक्त हैं अथवा उपसर्ग करने वाले शत्रु हैं उनमें मेरा मन तत्काल जो द्रोहको प्राप्त होता है तो उन शत्रुवोंमें और मुझमें फिर भेद क्या रहा ? जो उपसर्ग कर रहे हैं उनका मन तो द्रोहमें है और मैं भी अगर उनपर रोष करने लगूं तो मुझमें और उनमें अन्तर क्या रहा। उपसर्ग करने वाले व्यक्ति कोई मुनि तो हैं नहीं वे तो सद्गृहस्थ भी नहीं हैं वे तो खोटे गृहस्थ हैं, दुष्ट पुरुष हैं। उन दुष्ट पुरुषोंकी ही तरह यदि मैं भी दुष्टता करने लगा तो उनमें और मुझमें अन्तर ही क्या रहा ? मैं तो मोक्षार्थी हूँ, मैंने तो अपना प्रोग्राम, अपना भेष, अपनी चर्या मुनिकी बनायी है, मोक्षमार्गकी बनायी है सो यदि हम शान्तिमें नहीं रहते और उपसर्ग करनेवालोंपर क्रोध करते हैं तो उनमें और मुझमें फिर अन्तर ही क्या रहा ? जैसे वे संसारमें घूमेंगे इसी प्रकार मैं भी घूमूंगा। ज्ञानी संत जो ऐसा विचार करते हैं कि इन दुष्ट पुरुषोंपर जो कि उपसर्ग कर रहे हैं मैं यदि क्रोध करने लगा तो मैं उन्हींके समान कहलाऊंगा। इसका तात्पर्य यह है कि मैं भी इस संसारमें घूमूंगा। कहीं सम्मान अपमान भरा तात्पर्य न लेना कि मैं मुनि हूँ, यह दुष्ट पुरुष है। मैं इसपर रोष करूंगा तो मैं दुष्ट कहलाऊंगा, ऐसा ध्यानमें नहीं है किन्तु यह ध्यानमें है कि मैं भी यदि क्रोध करूं तो जैसे ये ससारमें घूमेंगे वैसे ही मैं भी संसारमें घूमूंगा, अतएव मुझे क्रोध न करना चाहिए।

अपारयन् बोधयितुं पृथग्जनानसत्प्रवृत्तेष्वपि नाऽसदाचरेत्।
अशक्नुवन् पीतविषं चिकित्सितुं पिबेद्विषं कः स्वयमप्यबालिशः ॥९५०॥

पीडकोंके प्रति रोष न करनेका विवेक—खोटे कार्योंमें लगने वाले अन्य पुरुषोंको उपदेश करके रोकनेको असमर्थ हुआ तो क्या वे पंडित पुरुष भी खोटे कार्योंको करने लग जायेंगे। कोई पुरुष दूसरेको खोटे कार्योंको छोडनेका उपदेश नहीं कर सकता, अथवा खोटा काम छुड़ानेका यत्न नहीं बना पाता तो इसका क्या यह अर्थ है कि वह भी खोटे कार्य करने लगे ? यह तो अर्थ नहीं है। जैसे कोई पुरुष विष पी जाय और उस विष पीने वालेकी चिकित्सा करनेमें वैद्य असमर्थ हो जाय तो फिर वह वैद्य भी क्या ऐसा करले कि विष पी ले ? ऐसा तो न करेगा। यदि ऐसा कोई करे तो वह अज्ञानी है, मूर्ख है। इसी तरह मुनि विचार करता है कि किसी पुरुषने यदि मेरा विगाड करना चाहा और मैं उसे उपदेश न दे सका, निवारण न कर सका तो क्या उसका यह अर्थ है कि मैं भी अपने परिणाम विगाड़कर उसीके समान बन जाऊं। जैसे कभी धर्मकी तत्त्वकी चर्चा होती है तो जब मानलो उसे नहीं समझा पाते तो क्रुद्ध होकर रोष भरी बातें कहने लगते हैं। वह पीके समान तो है बात कि कोई विष पीने वाला है उसका इलाज हमसे न हो सके तो क्या हम भी विष ? इसी तरहकी बात वहाँ है। कोई पुरुष यदि मुझपर दुर्वजन कहे, तिरस्कार करे तो वह मेरा कुछ । उसने तो अपने ही परिणाम विगाड़ लिया। ज्ञानमें बड़ा बल है। वे पुरुष धीर होते हैं जिन्होंने

सबसे न्यारे ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आत्मामें प्रतीति किया है। इस बाह्य जगतमें कुछ मिले, कुछ गिरे, कुछ नष्ट हो जाय, कुछ प्राप्त हो जाय, जो उसका कुछ भी महत्त्व नहीं आंकता, आया तो आया, गया तो गया, रहा तो रहा, नष्ट हुआ तो नष्ट हुआ, उसका मुझसे क्या सम्बन्ध है ? मैं स्वतंत्र एक आत्मा हूँ, अपनेमें ही सब कुछ अपना बनाता रहता हूँ जिसको ऐसी प्रतीति है वह पुरुष दूसरोंके द्वारा उपसर्ग और दुर्वचन होने पर भी अपने परिणाम नहीं बिगाड़ता।

न चेदयं मां दुरितैः प्रकम्पयेदहं यतेयं प्रशमाय नाधिकम्।
अतोतिलाभोयमिति प्रतर्कयन् विचाररुढा हि भवन्ति निश्चलाः ॥६५१॥

पीडकोंके प्रति सावधानकारित्वकी भावना—साधु महाराज विचार करते हैं कि दूसरेको सन्तुष्ट करनेके लिए अनेक लोग तो अपना धन भी देते हैं कि वह खुश हो जाय, अपना शरीर छोड देते हैं कि वह खुश हो जाय और हमारे कुछ दिये बिना दुष्ट पुरुष गाली देकर यदि खुश हो जाते हैं तो यह तो अच्छी ही बात है। हम तो कुछ धन भी नहीं दे रहे और वे हमें गाली देकर खुश हो रहे तो यह तो हमारे लिए बडी अच्छी बात है। ऐसा ज्ञानी पुरुष विचार करता है। यदि हम दूसरोंके दुर्वचन सुनकर उसपर रोष करें तो यह हमारे लिए लज्जाकी बात है। अनेक लोग तो धन देकर भी खुश किया करते हैं। इसमे तो मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं हुआ। मेरा ज्ञान मेरे पास है, मैं अपना सही ज्ञान करके अपने आपको प्रसन्न बनाता रहूँगा। कोई यदि मुझे गाली देकर खुश हो रहा है और मैं उसपर क्रोध न करूं तो मेरी इसमें हानि क्या है, बल्कि लाभ ही है। क्योंकि क्रोध करनेसे पापका बन्ध होता है। लोग क्रोध किसलिए करते ? कुछ लाभ समझते हैं क्रोध करके तभी तो मोहीजन अज्ञानीजन क्रोध बनाये रहते हैं, पर क्रोध करनेसे लाभ क्या है ? शान्त रह जाय तो क्या बिगडता है बल्कि अनेक बातें सुधरती हैं। जीवनमे लोगोंसे अच्छा सम्बन्ध बनता है और खुद भी ऐसे अच्छे वातावरणमें हो जाते हैं कि दूसरे लोग हमारी भलाई सोचा करें। क्रोध न करनेसे लाभ अनेक हैं। क्रोध करनेसे फायदा कुछ भी नहीं है नुकशान अनेक हैं। लड़ पड़े किसीसे और वह बलवान है और इसका मुह तोड़ दे तो अव्वल तो वह अस्पतालमें ही जायगा और अगर अस्पतालसे बच जाये क्रोध करने वाला तो जेलखानेमें जायगा। दो गतियां हैं तेज क्रोध करने वालेकी क्योंकि क्रोध करके किसीका बिगाड़ कर दिया तो क्या वह चुप रहेगा ? वह भी हड्डी तोड़ देगा। फल यह होगा कि अस्पताल जाना पड़ेगा और जेल भी जानेकी नौबत आ सकती है। तो क्रोध करनेसे फायदा कुछ नहीं है। क्रोध करनेसे पापका बध होता है और फिर नरकगतिमें जाय या अन्य किसी खोटी गतिमें जाय। जैसे लोग किसी दुखी और रोगी कोढी अस्वस्थ पुरुषको देखकर कहते हैं कि लो यही तो नारकी जीवन है, और नरक कहाँ रखा है ? तो क्रोध करनेसे लाभ कुछ नहीं है, हानि ही सर्वत्र है।

परपरितोषनिमित्तं त्यजन्ति केचिद्धनं शरीरं वा।
दुर्वचनबन्धनाद्यैर्वयं रुषन्तो न लज्जामः ॥६५२॥

पीडकके प्रति परितोषकी भावना—किसी पुरुषने मुझे मारा और मैं रोष न करूं तो इससे मारने वाले को तो हानि हुई, पर मेरे आत्माकी सिद्ध हुई। मारने वालेकी हानि क्या हुई कि एक तो उसी समय उसने सक्लेश परिणाम किया और फिर हुआ पापका बध, तो उसका यह लोक भी बिगडा और परलोक भी बिगड़ा। तो उपसर्ग करने वाला यदि उपसर्ग करे और मैं उसमें रोष न करूं तो इससे तो मेरे कर्मोंकी निर्जरा हो गई। कदाचित रोष उपज जाय तो उससे तो दुगनी हानि है। एक तो मेरे पापका बंध हुआ और दूसरे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा नहीं हुई। और, भी अनेक पापोंका बन्ध कर डाला। अतएव किसी भी उपसर्ग करने वाले दुष्ट पुरुषके प्रति हमें क्रोध भाव न लाना ही श्रेयस्कर है।

हन्तुर्हानिर्ममात्मार्थसिद्धिः स्यान्नात्र संशयः।
हतो यदि न रुष्यामि रोषश्चेद् व्यत्ययः सदा ॥९५३॥

पीडक के प्रति रोश न करनेसे हुए आत्मलाभ व पीडकहानिका कथन—अपने प्राणोंका नाश होनेपर भी उपसर्ग करने वाले पर क्षमाभाव करना ही सत्पुरुषोंका काम माना है। कोई दुष्ट पुरुष गाली दे रहा हो, तो उस शत्रुका अच्छा इलाज क्या है। अच्छा इलाज है उपेक्षा करना, स्वच्छचित्त हो जाना। यह आत्मसिद्धिका कारणभूत है। जैसे किसी बडे हालमे कोई खड़े होकर गालीके शब्द बोले तो वहाँसे वे ही शब्द वापिस आ जाते हैं। जैसे कोई कहे कि तू मूर्ख है तो वहाँ वही शब्द वापिस होकर आयेंगे-तू मूर्ख है। ऐसे ही यहाँ भी जिसको जो शब्द बोलें उसकी तरफसे भी वैसा ही उत्तर मिलता है। किसीको खोटे वचन कहकर उसकी ओर से मधुर वचनोंकी आशा करना अज्ञानता है। जब अचेतन पदार्थोंमें भी जैसा बोलो वैसे ही वचन वापिस आते हैं तो ये तो चेतन हैं। इनको खोटे वचन बोलकर उनसे मधुर वचन बोलनेकी आशा करना व्यर्थ है। कोई कितना ही उपसर्ग कर रहा हो, कितना ही मेरा बिगाड कर रहा हो पर क्षमाभावसे उसे समतापूर्वक सहन करें। किसी क्रोधीके प्रति, प्रतिपक्षीके प्रति रोष करना समीचीन बात नहीं है। कोई गाली दे और अपन कुछ उत्तर न दें तो बतलावो गाली लगी कहाँ? उसने तो अपना ही भाव बिगाड़ा। और यहाँ यह है स्वस्थ चित्त, तो यों समझिये कि वह देता है गाली तो दे, हम यदि न लें तो फिर वह गाली उसीके पास ही तो चली जायगी। उसने मेरा क्या किया? सत पुरुष दुष्टपुरुषोंके दुर्व्यवहारका इलाज उपेक्षाभाव समझते हैं। सब जीवोंमें मित्रताका भाव रखना, जो गुणी जीव हैं उनमें प्रमोदका भाव रखना रत्नत्रयधारी, सत पुरुष ज्ञानी कोई मिले तो उनको देखकर हर्ष करना और ऐसा हर्ष करना कि अपने बच्चोंसे भी अधिक। और, जो विपरीत वृत्ति वाले हैं उन दुष्ट जीवोंमें समता परिणाम रखना, रागद्वेष न करना, बोलना ही नहीं, शान्त हो जाना। तो जो दुष्ट पुरुष हैं उनका इलाज उपेक्षा कर देना ही है। यदि उससे लडते हैं तो कुछ लाभ नहीं, उससे विवाद ही बढ़ेगा, और यदि राग करते हैं तो वह और शिरपर चढेगा। तब राग और द्वेष दोनोंही बातें हानिके लिए होंगी, उपेक्षा करनेमें ही लाभ है।

प्राणात्ययेऽपि सम्पन्ने प्रत्यनीकप्रतिक्रिया।
मता सद्भिः स्वसिद्ध्यर्थं क्षमैका स्वस्थचेतसाम् ॥९५४॥

शत्रुकी चिकित्सा क्षमा—यह क्षमा है सो इस समय उसकी परीक्षा करनेकी जगह है। यदि पुण्यके योगसे मुझे परीक्षा करने का अवसर प्राप्त हुआ है, मेरी परीक्षा किए जानेका मौका मिला है तो मैं देखूं या मेरी परीक्षा करके यह अवसर देख रहे हैं कि मैं शान्तभावको प्राप्त हुआ कि नहीं। देखिये कोई जाच करना होता है तो प्रयोग करके ही तो होता है। मुझमें क्रोध नहीं है। यदि अपनी जाच करना हो तो कैसे जांच करें? किसीसे कहा जाय कि मैं तुम्हें ५) दू गा, मुझपर आधा घन्टा खूब क्रोध करो तो क्या वह क्रोध कर सकता है? न वह क्रोध कर सकेगा और न आप उस समय अपने परिणाम शान्त बना सकेंगे। क्योंकि, आप समझते रहेंगे कि यह तो बनावटी क्रोध कर रहा है, यह मेरे क्रोधकी परीक्षा नहीं ले रहा है, सो आप उस समय शान्त परिणाम बना ही कैसे सकेंगे? किसीने मुझपर क्रोध किया और मैंने उसपर रोष न किया, तो समझो उसमे मेरे बहुतसे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा हो गयी। जब उपसर्ग आनेपर क्षमा करदें तो समझो कि वह क्षमाभाव है। और यदि क्षमा नहीं करते तो वह शान्तभाव नहीं है। जब कोई क्रोध करे और उसमे हम अपने परिणाम शान्त रख सकें यही अपने परिणाम शान्त रखनेका अभ्यास है। इस क्रोध कषायपर विजय पानेके लिए ज्ञानी पुरुष इस प्रकारका चिन्तन करते हैं कि मेरा क्रोध कषाय शान्त हो। यों क्रोध कषायको शान्त करने का अपना सही ज्ञान बनानेका यत्न करते हैं।

स एव प्रशमः श्लाघ्यः स च श्रेयोनिबन्धनम् ।
अदयैर्हन्तुकामैर्यो न पुंसः कश्मलीकृतः ॥६५६॥

प्रशमभावकी श्लाघ्यता—वही प्रशमभाव प्रशंसनीय है और वही कल्याणका कारण है जीसे हननकी इच्छा करनेवाले निर्दय पुरुषने मलिन नहीं किया, अर्थात् बड़े-बड़े उपसर्ग आयें तिसपर भी कोध रूप मलसे मलिनता न आये वह शान्तभाव सराहने योग्य है। उत्तम क्षमा तो उन संत पुरुषोंके होती है जिन्होंने अपने आत्माका अन्तस्तत्त्व पहिचाना है और आत्मा सहज ज्ञायकस्वरूप सबसे न्यारा है ऐसी जिनकी प्रतीति हुई है उनके क्षमा सहज बनती है। बाह्यमें कोई कुछ करता हो, किसीकी कोई परिणति हो वह उनकी उनमें है। उससे मेरा क्या बिगाड़ है। मैं अपने आपमें अपनी कल्पनाओंसे अपनी परिणतिसे परिणमता रहता हूँ ऐसा जिनके निर्णय है उन पुरुषोंके क्रोधभाव उत्पन्न नहीं होता और वे ही प्रशसाके योग्य हैं।

चिराभ्यस्तेन किं तेन शमेनास्त्रेण वा फलम् ।
व्यर्थीभवति यत्कार्ये समुत्पन्ने शरीरिणाम् ॥६५७॥

शमभाव व शस्त्रविद्याके अभ्यासका फल अवसरपर विफल न होना—जैसे कोई पुरुष शस्त्र चलानेका अभ्यास करता है और कर चुका है, बड़ा निपुण है और मौका आनेपर उसकी शस्त्रकला व्यर्थ हो जाय तो उस अभ्याससे फायादा क्या मिला? इसीतरह चिरकालसे तत्त्वज्ञान करके सत्संग बनाकर स्वाध्याय प्रभुभक्ति आदिक करके समताका शान्तिका अभ्यास बनाया था कुछ काम पड़नेपर, उपसर्ग होनेपर वह शान्तिका अभ्यास व्यर्थ हो जाय तो उस शान्तिके अभ्याससे लाभ क्या हुआ? उपसर्ग आनेपर यदि क्षमा न की और शत्रुके सम्मुख आनेपर शस्त्रविद्याका प्रयोग न किया तो उनका अभ्यास करना व्यर्थ ही होगा। जितने भी धर्मपालन हैं वे इसीलिए हैं कि यह आत्मा विषय कषायोंसे दूर हो, और अपने सहज स्वरूपकी दृष्टि बनाये जिससे अशान्ति समाप्त हो और शान्तिका उदय हो। धर्म पालन करता जाय और मौका आये तो क्रोध कर बैठे तो उस अभ्याससे लाभ क्या हुआ? जैसे मंदिरमें जाकर बहुत-बहुत पूजन करते हैं स्तवन करते हैं-हे प्रभो! आत्मके अहित विषय और कषाय हैं, क्रोध, मान, माया, लोभके परिणाम आत्माका अहित करने वाले हैं, इनमें मेरी परिणति न जाय, ऐसा मंदिरसे स्तवन करते हैं और मदिरसे बाहर निकले अथवा मदिरके ही भीतर, झगड़ने लगते, क्रोध करने लगते। अरे यह क्या होगया? अभी तो क्या कह रहे थे और अब क्या कर रहे हैं? तो मदिरमे स्तवनमे जो कुछ कह रहे थे वह विवेकपूर्वक सच्चे दिलसे नहीं कह रहे थे। अभी तो उत्कृष्ट विचार कर रहे थे कि यह सारा जगत तो असार है, परिग्रह बन्धनका कारण है, परिजन व्यवहार दुर्गतिका कारण है, अब थोड़ी ही देर बादमें राग, द्वेष, मोहके सारे अवगुण आगए। तो क्या इतनी जल्दी असर मिट जाता है, लो लोहा भी अग्निमें गर्म किया जाता है तो अग्निसे बाहर निकलनेके बाद बड़ी देर तक गर्म रहता है, पर वह तो मंदिरमें उत्कृष्ट विचार करनेके बाद एक सेकेण्ड भी शान्त न रह सका। मदिरमें उत्कृष्ट विचार भी करते जा रहे हैं और लड़ते भी जा रहे हैं। तो इतना जल्दी वह प्रभाव कैसे समाप्त हो गया? अरे जब उत्कृष्ट विचार कर रहे थे उस समय भी विषय कषायों की वासना लगी हुई थी। अभ्यास वास्तवमें कोइ करे उसके लिए बात कही जा रही है कि सत्संगसे, गुरूपासनासे, भगवद्भक्तिसे, तत्त्वज्ञानसे जो समतापरिणाम रखनेका, शान्तिभाव लानेका अभ्यास किया था, खूब अभ्यास कर चुके, अब जब उपसर्ग आया तो उस मौकेपर वे सर्व अभ्यास बिगड गए। क्रोध आगया तो ऐसे अभ्याससे लाभ क्या? व्यर्थ ही हुआ! और व्यर्थ भी नहीं हुआ, अभ्यास करना तो भला ही है। अभ्यास करनेपर मानलो एक समय व्यर्थ होगया फिर सम्हल जावें, उसका पश्चात्ताप भी करें। तो अभ्यास करना तो योग्य ही है, पर क्रोध न आने दे के लिए एक ताड़ना की है कि समयपर यदि क्रोध आ गया तो वह अभ्यास व्यर्थ ही रहा।

प्रत्यनीके समुत्पन्ने यद्धैर्यं तद्धि शस्यते।
स्यात्सर्वोऽपि जनः स्वस्थः सत्यशौचक्षमास्पदः ॥६५८॥

विघ्न होनेपर भी होनेवाले धैर्यकी प्रशंसनीयता—जिनका चित्त अपने आत्मामें रहता है और जो उपसर्ग आनेपर धैर्य धारण करते हैं वे प्रशंसाके योग्य हैं। आपत्तिमें धैर्य आये तो वह धैर्य प्रशंसा करनेके योग्य है। जैसे कोई पुरुष मांगे तो छांछ, और मिल जाय दूध, तो वह तो बडा शान्त ही रहेगा और मनके अनुकूल चीज न मिले और फिर शान्त रहे तो उसे कहा जायगा कि हाँ इसका अभ्यास सही है। एक बार गुरुजी सुनाते थे जब कि बाईजीके यहाँ पले-पुसे और शास्त्राभ्यास किया था तो बाईजीने एक बार उनकी परीक्षा करना चाही कि कैसे शान्त हैं, क्यों कि वे यह कहते रहते थे कि बाईजी हम बड़े शान्त हैं। तो बाईजीने एक दिन क्या किया कि दूधकी खीर पकायी और छांछकी महेरी पकायी। देखनेमें दोनों एक तरहके लगते हैं। रंग उनका एक सा ही होता है। कोई देखकर बता नहीं सकता कि यह खीर है या महेरी है। खैर खीर तो बनाकर रखली जो ठंडी हो गयी और महेरी पका रही थी। जब गुरुजी चौकेमे पहुचे तो बाईजीसे कहने लगे कि बडी भूख लगी है कुछ खानेको दो। तो बाईजी बोली कि थोडा बैठो अभी खीर देती हूँ। अब थोडीसी महेरी गरम-गरम परोस दिया। गुरुजीने उसे ठंढा किया और खाने लगे तो उनसे खाई न गयी। झट थाली उठाकर फेंक दी। तो बाईजी बोली कि तुम तो कहा करते थे कि हम बड़े शान्त हैं और अब क्यों गुस्सेमें आकर थाली फेंक दी? तो कोई छाछ चाहे और दूध मिले तो शान्ति तो बनेगी ही। और, मनचाही बात न मिले फिर शान्ति आये तो उसे शान्ति कहते हैं। यों तो थोडी-थोड़ी प्रशंसा किसीसे मिलती रहे तब तो वह बडा राजी रहता है, बडी सुख शान्तिसे वह अपना समय व्यतीत करता है, पर प्रतिकूल समय मिले, दुर्वचन मिले, गाली मिले, कैसा भी खोटा समय आये तो उसमें जो धैर्य धारण करे उसका धैर्य प्रशंसाके योग्य है।

वासीचन्दनतुल्यान्तर्वृत्तिमालम्ब्य केवलम्।
आरब्धं सिद्धिमानीतं प्राचीनैर्मुनिसत्तमैः ॥६५९॥

ज्ञानीकी वासीचन्दनतुल्यान्तर्वृत्ति—प्राचीन बड़े-बड़े मुनिराजोंने प्रारम्भमें किए हुए मोक्षकार्यकी साधना किया है सो चन्दनकी तरह अपना अन्तश्चित् बना करके ही किया है। जैसे कुल्हाड़ेसे चन्दनको काटा जाय तो वह चन्दनका वृक्ष कुठारकी धारको भी सुगंधित बना देता है और काटने वालेको भी सुगंधी देकर प्रसन्न कर देता है। इसीतरह मुनिराजपर कोई उपसर्ग करता हो तो वह मुनि महाराज उसका हित ही चाहते हैं, वे किसीका अहित नहीं चाहते। तो चन्दनवृक्षकी तरह उपकार करने वाले मुनिराजकी वह वृत्ति प्रशंसाके योग्य है और मुक्तिकी सिद्धि देने वाली है, इस बातका अभ्यास सभीको ही करना चाहिए। क्रोधमें भी जो जितना सहनशील होगा, गम खाने वाला होगा, अपने व्यवहारसे किसी दूसरेका चित्त न दुखाये ऐसा महापुरुष होगा, वह प्रसन्न रहेगा, सुखी रहेगा, उसे कोई शल्य भी न होगी। और, जो पुरुष दूसरोंको सताते हैं, सतानेके दुर्वचन कहते हैं उन पुरुषोंको शल्य रहता है, तत्काल दुखी भी होते हैं और कहो उनकी मरम्मत भी हो जाय, तो यह महापुरुषोंका लक्षण नहीं है कि वे जरा-जरासी बातपर घबडा जायें और अपनी धीरता खो दें। मुनिजनोंकी अन्तर्वृत्ति चन्दनकी तरह है। जैसे चन्दन वृक्ष कुल्हाड़ेकी धारको भी सुगंधित बना देता है, पेड काटने वालेको भी सुगंधित वातावरण देकर प्रसन्न बनाता है ऐसे ही मुनिराज भी उपसर्ग करने वालेका भी हित ही चाहते हैं। ऐसा जानकर हमें यह शिक्षा लेना चाहिए कि क्रोधमें हो कोई, तब भी अधिकाधिक यही यत्न करें कि मेरा अपकार करने वालेके प्रति भी मुझसे दुर्वचन न निकलें।

कृतैर्वान्यैः स्वयं जातैरुपसर्गैः कलङ्कितम् ।
येषां चेतः कदाचित्तैर्न प्राप्ताः स्वेष्टसंपदः ॥९६०॥

उपसर्गोंके द्वारा कलङ्कित हुए चित्तको स्वेष्टसंपदाका अलाभ—जिनका चित्त अन्यके लिए किए गए उपसर्गोंसे अथवा अचेतन पदार्थोंसे, परीषहसे दूषित हुआ वे अपने इष्ट सम्पदाकी प्राप्ति नहीं कर सकते । अनेक चरित्र देख लीजिए । उपसर्ग आनेपर वे मुनिराज अपने मोक्षमार्गसे च्युत हो गए तो उनके कोई भी सिद्धि नहीं हुई है, आगे सम्हलेंगे तो उनकी सिद्धि होगी । युगके आदिमें ऋषभदेव महाराज जब संसारसे विरक्त हुए, मुनिव्रत धारण किया तो उस समय चार हजार राजावोंने भी दिगम्बर दीक्षा ली । उन्होंने यह समझकर कि जब इतने बड़े महाराजा दिगम्बर दीक्षा ले रहे हैं तो तप सुखका मार्ग होगा, ऐसा विश्वास करके उन सबने साधु व्रत ले लिया था । तो ऋषभदेव तो मौन हो गए, उनका तपश्चरण चलता रहा । ६ माह तकका तो अनशनका व्रत लिया ही था । उस ही बीच दो चार दिनके बाद ही वे हजारों राजा जो मुनि हो गए थे वे अनशनव्रत न साध सकनेसे तिलमिला उठे, भूख प्यासकी बाधासे विचलित होने लगे । उनमेसे कोई किसी प्रकार बनफल खाने लगे कोई किसी प्रकार तालाबोंमें पानी पीने लगे । उस समय आवाज आयी देवतावोंकी ओरसे कि अरे भ्रष्ट मत बनो यदि मुनिधर्म नहीं निभता तो इसे छोड दो, पर मुनिधर्ममें रहकर ऐसे भ्रष्ट कार्य करना उचित नहीं है । तो जो परीसह उपसर्ग आनेपर अपने व्रत नियमको छोड़ देते हैं उनको इष्टसिद्धि नहीं होती । द्वीपायनमुनिका तो बडा प्रसिद्ध चरित्र है । उपसर्ग आनेपर इतना क्रोध उनके आया कि उनके क्रोधके कारण उत्पन्न हुए तैजस शरीरसे द्वारिकापुरी भष्म हो गयी और खुद भी भस्म हो गए । करीब-करीब जितने भी लोग तीव्र रागी द्वेषी आज देवताके रूपमें प्रसिद्ध हैं प्राय उनका जीवन पहिले साधु-संन्यास व्रतका रहा और वे उस व्रतमें सफल नहीं हो सके, तो वे आखिर दुर्गतिमें ही गए । तो जिनका चित्त दूषित है वे इष्ट सम्पदाकी प्राप्ति नहीं कर पाते ।

प्राक्कृताय न रुष्यन्ति कर्मणे निर्विवेकिनः ।
तस्मिन्नपि च क्रुध्यन्ति यस्तदेव चिकित्सति ॥९६१॥

ज्ञानीजनोंका प्राक्कृत कर्मपर रोष व पीडकोंके प्रति कृतज्ञत्व— जो विवेकी पुरुष हैं, ज्ञानी पुरुष हैं वे पूर्व जन्ममे किए हुए कर्मोंके लिए नहीं रोष करते हैं, और, जो पुरुष क्रोधके निमित्त मिलाकर उन पाप कर्मोंकी निर्जरा कराता है, उसपर क्रोध करना तो युक्त है ही नहीं । जैसे किसी बालकके कानमे पीडा हो, दांतमे पीड़ा हो या अन्य कोई फोडा फुंसी हो, डाक्टर आये, इलाज करे तो वह बालक उसे दुश्मनसा समझने लगता है । डाक्टरकी सकल देखते ही वह लड़का छिपने लगता है । जैसे स्कूलोंमे चेचक आदिका टीका लगानेके लिए डाक्टर जाता है तो वह यद्यपि उन बच्चोंके उपकारके लिए बच्चोंकी भलाईके लिए टीका लगाने जाता है, पर बहुतसे बच्चे उसपर क्रोध करते हैं । यह क्रोध करना उन बच्चोंकी नादानी है, इसीतरह कोई पुरुष क्रोधका निमित्त मिलाकर मुझे सता रहा है, मान लो, तो वह वास्तवमें मुझे सता नहीं रहा है, वह तो मेरे पूर्वबद्ध पापकर्मोंकी निर्जरा करा रहा है । तत्त्वज्ञान जगनेपर यह बात स्पष्ट समझमे आने लगती है । जो पुरुष मेरे ऊपर क्रोध कर रहा है, मुझे दुर्वचन बोल रहा है, गाली दे रहा है तो वह वास्तवमे मेरे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जराका कारण बन रहा है, उसपर रोष करना व्यर्थ है । जैसे कोई लोभी पुरुष जिसकी अपनी बड़ी आमदनी हो रही हो तो वह दुर्वचन बोलकर, दूसरोंका अपकार करके जैसे भी बने उसके पीछे अपनी धुन बनाये रहता है ऐसे ही आत्माकी शुद्ध समृद्धिका लोभी अर्थात् ज्ञानी सतपुरुष जिसने केवल अपने आत्माके ज्ञानकी समृद्धि चाही वह पुरुष बाहरमें कोई दुर्वचन भी बोलता हो तो उसे भी सहन करता जाता है क्यों कि उसके अन्तरगमें पहिलेसे आत्मीय कार्यकी धुन लगी है और सफलता भी नजर आ रही है, वह अपने

अन्तरकी धुनको नहीं छोड़ता। बाहरमें कोई उपसर्ग करे तो करे। जैसे एक सुकुमालका दृष्टान्त है जो अपने घरमें बड़े लाड प्यारसे पला था, सूर्यकी अथवा अग्निकी रोशनी देख लेता था तो उसकी आखोंमे सहन न होता था, रत्नोंकी ज्योतिमें जो बना रहता था, जिसका चावलका भोजन था और उस चावलका भोजन जो कमलके फूलमे एक-एक कण बसे रहा करते थे, ऐसा था उनका भोजन, जिनको गद्दे बिनोले भी गड़ते थे ऐसे सुकुमाल जब विरक्त हुए, जब दिगम्बर दीक्षा ले ली तो जगलमे स्यालिनीने अपने बच्चों सहित पैरोंसे कमर तक उनके मांसका भक्षण किया, लेकिन सुकुमालको अपने आत्मामें एक ज्ञान ज्योति जग रही थी और उसमे बडी प्रसन्नता मालूम होती थी। शरीरसे विविक्त अपने ज्ञानस्वरूप की ही भावनामें लगे हुए थे, इतना बड़ा ऊच्च पद उन्हें मिल रहा था, उत्कृष्ट आनन्द मिल रहा था तो उस आनन्दकी धुनमें वे बाहरके उपसर्ग को भी कुछ न समझते थे। जिस ज्ञानी पुरुषको अपने आत्मामें कोई बड़ी समृद्धि मिल रही हो, जो सहज है, स्वाधीन है, किसी पर पदार्थके कारण नहीं मिला करती ऐसे उस सहज समताकी धुनमें वह बड़े-बड़े परीषह और उपसर्ग भी सहन कर जाता है। वह पुरुष उन उपद्रवी पुरुषोंको वैद्यकी तरह देखता है। जैसे कोई वैद्य नस्तर लगावे, फोड़ा फुंसी फोड़े तो वह चिकित्सा कर रहा है, हित कर रहा है ऐसे ही ज्ञानी जानता है कि दुर्वचन बोलने वाला, उपसर्ग करने वाला मेरा हित ही कर रहा है। यों ज्ञानी संत पुरुष किसी भी उपद्रवीपर क्रोध भाव नहीं लाते।

यः श्वभ्रान्मां समाकृष्य क्षिप्यत्मानमस्तधीः
बधबन्धनिमित्तेऽपि कस्तस्मै विप्रियं चरेत् ॥९६२॥

उपसर्ग करनेवालोंके उपकारका चिन्तन—कोई मूर्ख बध बंध आदिकका उपसर्ग देकर, क्रोधका निमित्त मिलाकर मुझे तो नरक जानेसे बचाता है और पूर्वकृत कर्मोकी निर्जराका कारण बनता है, और, अपनेको नरकमें ढकेलता है, बतावो उसके समान उपकारी कौन होगा? कोई पुरुष अपनी हानि सहकर क्या परका उपकार करता है? वह तो उससे भी अधिक उपकारी हुआ जो अपनेको नरक आदिक गतियोंमे ढकेलकर दूसरोंको नरक आदिक गतियोंसे बचाता है। जैसे उपकार करने वाला पुरुष प्रशसनीय है ऐसे ही निन्दा करने वाला, दुर्वचन बोलने वाला भी मेरे लिए प्रशंसनीय है, क्योंकि वह अपना सारा बिगाड करके भी मुझे सावधान बना रहा है। उसके निन्दा करनेसे, दुर्वचन बोलनेसे तो मेरे पूर्वकृत कर्मोकी निर्जरा हो रही है। मैं मोक्षमार्गमे अपनेको प्रगतिसे लगा रहा हूँ। जो पुरुष अपनी हानि करके मुझे उत्तम पदमें पहुचा दे उसका ही हमें उपकार मानना चाहिए। उसके दुर्वचन बोलनेसे मेरा बिगाड कुछ नहीं है, मेरा कल्याण ही हो रहा है, मेरा मोक्षमार्ग ही चल रहा है। यों भले-भले वातावरणमें रहकर मुझे क्रोध न आये, शान्ति बनी रहे तो उससे नियमित लाभ नहीं होता, किन्तु वह मौज है, शान्ति नहीं है, अच्छे सुखके साधन मिलनेपर जो शान्ति सी प्राप्त होती है उसे शान्ति न कहना चाहिए, वह तो मौज है, इन्द्रियसुख है, हाँ प्रतिकूल वातवरण मिले, उपसर्ग परीसह आयें तिसपर भी मेरेमे शान्ति रहे तो समझना चाहिए कि हमने अपने आपको कुछ बनाया है, कुछ कमाई की है। अब लो प्रतिकूल कारणोंके मिलनेपर भी मेरी शान्तिका विघात नहीं होता है जब ऐसा उपसर्ग आता है कि जहाँ क्रोध बनना प्राकृतिक बन जायगा उस समय तो एक तत्त्वज्ञान तो जगता है ज्ञानी पुरुषके, उसके क्रोध नहीं आता और शान्तिभाव बना रहता है। उसके सिल्सिलेमें एक यह भी झलक दे दी गई है कि उपकार करने वालेका तो उपकार मानना चाहिए। जो अपना सारा बिगाड करके हमे सावधान बना रहा है उसका तो बहुत बड़ा उपकार मानना चाहिए। ऐसी भावनासे ज्ञानी सत पुरुष क्रोध भावपर विजय प्राप्त करते हैं और अपनेको प्रशमभावमे बढाकर मुक्तिके निकट अपनेको बना लेते हैं। ऐसे पुरुषोंको निकटकालमें ही मोक्ष प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है।

यस्यैव कर्मणो नाशाज्जन्मदाहः प्रशाम्यति ।
तच्चेत्स्वयं समायातं सिद्धं तर्हि यद्वांछितम् ॥९६३॥

किसीके द्वारा उपसर्ग होनेपर कर्मनिर्जरणका अवसर जानकर वाञ्छितसिद्धिका चिन्तन—क्रोध कषायके विजय के प्रकरणमें यह भली भाँति बताया जा चुका कि अपने अविकार ज्ञानस्वभावका स्मरण करके मुझमें क्रोध स्वभाव ही नहीं है, ऐसा केवल ज्ञातृत्व मात्र ध्यानमें लाकर क्रोधके प्रसंगोंमें भी क्रोधपर विजय करना चाहिए। और, बाहरमें कुछ विकल्प हो तो ऐसा विकल्प हो कि जिससे क्रोधके विजयके लिए उत्साह हो। जैसे किसीने निन्दा की तो क्या किया ? अपना ही तो भाव बनाया, अपना ही तो परिणमन किया। कोई पीटे तो क्या किया ? उसने शरीरपर ही तो कुछ आक्रमण किया। मेरे आत्मापर तो कुछ नहीं किया। कोई प्राण ले ले तब भी मेरे आत्माका तो कुछ नहीं किया। ऐसा ठीक-ठीक भाव बनाकर क्रोधपर विजय करना चाहिए। और फिर देखिये हे मुमुक्षु जो पहिले कर्म कमा आये हैं जिससे बन्धन हुआ है, जो सत्तामें मौजूद हैं वे उदयमें आकर दुःख देनेके हेतु बनेंगे। तो जो दुःख देनेके हेतुभूत कर्म हैं, यदि किसी उपायसे बहुत ही जल्दी वे कर्म आगे आयें और हम समता परिणाम रखकर उनको निकाल दें तो, यह तो हमारे लाभकी ही बात होगी। जिस कर्मके नष्ट होनेसे संसारमें आताप नष्ट हो जाता है उस कर्मका उदय अगर अभी भोगनेमें आ गया तो भोगनेका अर्थ है कर्मका विनाश होना। तो यह तो मेरा वाञ्छित कार्य हुआ। मेरे लिए इष्ट कार्य हुआ, भली बात हुई। देखिये उदयका अर्थ है निकलना, जैसे कोई कहता है कि पुण्यके उदयसे ऐसा वैभव मिला है तो उसका अर्थ यह होगा कि पुण्यके नाशसे ऐसा वैभव मिला है इसे। पर इस नाशमें यह फर्क है कि होकर नाश हो रहा। उदय होनेके मायने निर्जरा है। जहाँ कर्मके १० करणोंका वर्णन आया है वहाँ उदय नाम नहीं लिया। वह तो निर्जरामें गर्भित है। पुण्य का उदय आया मायने, पुण्य अब यहाँसे निकल रहा। तो जो पुण्य बसा हुआ है वह जब यहाँसे निकलता है तब पुण्य वैभव मिला। पुण्य कर्मकी सत्ताके रहते हुए पुण्य वैभव नहीं मिला करता, किन्तु पुण्य वैभवके निकालनेसे, दूर होनेसे यह वैभव मिलता है। इसी तरह पापकर्मका बन्ध हुआ, सत्तामे पड़े हैं तो पापकर्म जब इसकी सत्तामें हैं तो सत्ता मात्रसे इसको क्लेश नहीं होता। किन्तु वह कर्म जब निकलता है तो इसे क्लेश होता है। कोई क्लेशके दुःखके कारण उपस्थित होते हैं तो जब उदीरणा हुई, कर्म खिरने लगे तो भला हुआ। जो कर्म मेरे साथ रहते, जिनसे कि मैं आगे तक परतंत्र रहता वे अभी ही निकल रहे हैं, यह मुझे इष्ट ही है। ऐसा यह ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है। उसको यह विचार है कि कर्मोका नाश तो करना ही था, तपश्चरण करके मैं जल्दी ही उन कर्मोको टालता, खिराता और वे ही कर्म किसी भी घटनामें से पहिले आ गए हैं, ये टल रहे हैं, दूर हो रहे हैं यह तो मेरे लिए इष्टकी सिद्धि कहलायी। किसी दूसरे प्राणीके प्रति विरोधभाव न हो, ईर्ष्याभाव न जगे, दूसरोंको बरबाद करनेका भाव न आये, ऐसी सम्हाल यह अपनी सम्हाल कहलायी। उसी सम्बन्धमें यह सब चिन्तन चल रहा है।

अनन्तक्लेशसप्तार्चिः प्रदीप्तेयं भवाटवी।
तत्रोत्पन्नैर्न किं सह्यस्तदुत्थो व्यसनोत्करः ॥९६४॥

भवाटवीमे समतासे कष्टसहनमे बुद्धिमानी—यह संसार तो एक जंगल है और इस जंगलमें इस संसारमें अनन्त प्रकारकी क्लेशरूप अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं, और इन क्लेशज्वालाओंमें ये संसारमें उत्पन्न हुए जीव दुःखोंको सह रहे हैं। क्या उन्हें सहना न होगा ? जैसे वनमें आग लगी हो और वहाँ जो कोई पशु पक्षी-कीड़ा-मकोड़ा आदि जीव रह रहे हैं वे क्या अग्निमें जल न जायेंगे ? जल ही जायेंगे, जलेंगे और कष्ट सहेंगे ही, इसी प्रकार इस संसारमें जो जीव उत्पन्न हो रहे हैं, वे क्या क्लेश न सहेंगे ? सहना ही है,

तो यह तो संसार है, क्लेशमय है। इसमें जब हम उत्पन्न हुए हैं तो यहाँ क्लेश तो उठाना ही पड़ेगा। यहाँ कौनसा मनुष्य ऐसा है जो क्लेशोंका सामना न करता हो, क्लेश इसके सामने न आते हों। कोई कितना ही धनिक हो, राजा महाराजा हो। किसी भी मनुष्यको ले लो, सबको क्लेश भोगना पड़ता है। क्लेशोंकी जातियाँ कुछ जुदी जुदी सी हो रही हैं और जुदी जुदी भी नहीं, मूल जाति तो एक है। राग हो रहा है, अज्ञान छाया है और इस कारणसे सब दुःखी हो रहे हैं। जब संसारमें हम उत्पन्न हुए हैं तो इसको क्लेश भोगना ही पड़ेगा। अब उपसर्गजनित अगर एक कुछ अल्प दुःख आया है तो उसके सहनेसे मैं क्यों मुख मोड़ूं। यदि मैं समतापूर्वक इस उपसर्गके समय दुःखोंको सहलूं तो फिर संसारके अनन्त दुःख न होंगे। ऐसा ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है।

ज्ञानबलसे कष्टसहनमें समताका अभ्युदय — भैया! कष्टसहिष्णु बनिये जिस किसी भी प्रकारके कष्ट आयें हों उनको सहनेकी शक्ति आना कोई कठिन चीज नहीं है। वह शक्ति आती है ज्ञानबलसे। यदि बाहरी धन सम्पदाके विनाशका कष्ट आया तो उसे भी यह ज्ञानी ज्ञानसे सह लेगा, उपेक्षा कर देगा। क्या बिगाड़? धन हो तो, न हो तो। लोगोंका संकोच क्या? लोग तो स्वयं दुःखी हैं, कर्मके प्रेरे हैं, जन्म मरणके दुःखिया हैं। वे स्वयं अपनी बात तो सम्हालते नहीं हैं। उनका क्या संकोच कि ये लोग मुझे क्या कहेंगे? अरे मुझे तो अपना संकोच करना चाहिए, या अपने प्रभुका संकोच करना चाहिए। भगवानके ज्ञानमें मेरी अशुद्धता न जंचे याने उनके ज्ञानमें न आये। यहाँके लोगोंका क्या संकोच करना जिसके कारणसे इसे तृष्णामें झुलसना पड़े। तो धन वैभव रहा तो, न रहा तो, कम रहा तो, अधिक रहा तो, उसमें क्लेशोंकी बात क्या? यदि इष्ट कुटुम्बका वियोग हो गया तो उसमें भी मेरे आत्माको क्लेश क्या? मैं आत्मा सबसे निराला अपने स्वरूपमात्र हूँ। मेरेमें मैं ही हूँ। किसी दूसरेका प्रवेश नहीं है। फिर क्या कष्ट है? यदि मरण हो रहा, देह छूट रहा तो उसमें भी क्या कष्ट है? कष्ट तो मरने वाला तब मानता है जब कि वह बाहरी चीजोंसे अपना कुछ परिचय बनाये रहता है। यह मेरा है। सब कुछ मेरा ही है, इनसे ही मेरा जीवन है। जब ऐसा परसे लगाव बना हुआ है तब मरण समयमें कष्ट होता है। केवल एक ही अपना आत्माराम दिखे, यह हूँ मैं, तो उसका मरण क्या? यह मैं हूँ। अपने स्वरूपमें हूँ, रह रहा हूँ, अपनेमें ही रह रहा हूँ। उसका विकल्प क्या है? एक अपने आपमें ही रहते हुए क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर हो रहा, यदि एक अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि हो तो वहाँ मरण का क्या भय? और जब स्वरूपदृष्टि नहीं है, ज्ञानका सम्पर्क नहीं है, तो अनेक क्लेश संसारमें होते ही हैं। तो यहाँ जो कुछ अल्प दुःख आया है, किसीने गाली दी लाठी मारा, या शरीरको कीला, या कोई बड़ासे बड़ा उपसर्ग किया, जो कुछ भी हो रहा हो उस समय जो कुछ दुःख है वह तो अल्प दुःख है मेरे लिए। अरे संसारमें बड़े कठिनसे कठिन दुःख पड़े हुए हुए हैं। यदि मैं इस अल्प दुःखको समतासे सहलूं तो फिर अनन्त दुःख दूर हो जायेंगे। संसारका जन्ममरण रूप अनन्त संकट छूट जायगा। इससे बढ़कर और भलाई क्या होगी?

सम्यग्ज्ञानविवेकशून्यमनसः सिद्धान्तसूत्रद्विषो,
निस्त्रिंशाः परलोकनष्टमतयो मोहानलोद्दीपिताः।
दौर्जन्यादिकलङ्किता यदि नरा न स्युर्जगत्यां तदा,
कस्मात्तीव्रतपोभिरुद्यतधियः कांक्षन्तिमोक्षश्रियम् ॥६६५॥

इस जगतमें मोह कलंकसे कलंकित और क्लिष्ट रहने वाले जीवोंकी बहुलता है और बहुलता क्या, इने गिने विरलोंको ही छोड़कर सारे संसारके सर्व जीव मोह कलंकसे कलंकित हैं। तो इस जगतमें सम्यग्ज्ञान

और विवेकसे शून्य मन वाले अधिक जीव पाये जा रहे हैं, और मनुष्योंमें देखो तो सिद्धान्तशास्त्रके द्वेषी कितने मनुष्य पड़े हुए हैं। जिनको सिद्धान्त शास्त्रोंसे प्रीति नहीं है, वे ही तो द्वेषी कहलाते हैं। जिन्हें ज्ञान प्रिय नहीं है वे अपने आपमें सम्यग्ज्ञान और विवेकसे रहित पुरुष निर्दय हैं। अपने आप पर ही दया नहीं कर रहे हैं। वे स्वयं क्लेशमें झुलसे जा रहे हैं, अज्ञानमें बेहोश पड़े हुए हैं। अपने आपको प्रसन्न नहीं कर सकते। निर्मल नहीं बना सकते, सुख दुःखके क्षोभसे व्याकुल बने हुए हैं, वे पुरुष तो निर्दय कहे जायेंगे। जो ज्ञान विवेकसे शून्य पुरुष हैं वे परलोकको नहीं मानते, उन्हें कहते हैं नास्तिक। नास्तिकका अर्थ क्या है? कि जो पदार्थ जैसा है उस पदार्थको वैसा न मानना। उसके विरुद्ध कल्पना करना, इसका नाम है नास्तिक। नास्तिकका यह अर्थ नहीं कि जो जिस मतका मानने वाला है वह यह समझे कि जो मेरे मतको नहीं मानता सो नास्तिक। नास्तिक शब्दमें यह अर्थ नहीं पड़ा है किन्तु न और अस्ति ये दो शब्द पड़े हैं, क प्रत्यय लग गया है। इसका अर्थ है कि पदार्थ जैसा है वैसा न माने उसे कहते हैं नास्तिक। जीव शाश्वत है और शाश्वत है तो इस देहके छूटनेके बाद जीवको दूसरा देह धारण करना होगा, उसीका नाम है परलोक। तो जो परलोकको नहीं मानता उसे कहते हैं नास्तिक। तो जो ज्ञान विवेकसे शून्य मन वाले हैं वे परलोकको नहीं मानते हैं अतएव नास्तिक हैं और मोहरूपी भट्ठीमें जलने वाले हैं। इसके विरुद्ध ज्ञानकी रंच भी बात प्रवेश नहीं कर पाती। और, एक दो बार मानना तो पड़ती है ज्ञानकी बात, लेकिन वह मानना इस तरह होती है कि जैसे कहावत है कि पञ्चोंकी आज्ञा सिर माथे, सगर पनाला यहींसे निकलेगा। जो मोहसे कलंकित हृदय वाले हैं वे कुछ सम्यग्ज्ञानकी बात स्वीकार भी कर लेंगे तो भी अन्दरसे स्वीकार नहीं कर सकते, अपना न सकेंगे उस बातको। ऐसे दुर्जन पुरुष कर्म कलंकसे कलंकित हैं। जो मुनिजन दीर्घकाल तक तपश्चरण करते हैं उनमें ही इन संसारके सर्व दुःखोंसे मुक्ति प्राप्त करनेकी बात आ पायगी। यह सारा संसार दुःखसे भरा हुआ है इसी कारण इस संसारसे हटनेकी बात उन बुद्धिमान पुरुषोंके चित्तमें आयी और ऐसी विधि बनी कि जिससे वे संसारसे पार हो गए।

वस्तुस्वरूप जानकर उपसर्गमें भी शान्तिका अनुभव करनेकी शिक्षा—इस श्लोकमें यह बात बतायी है कि दुष्ट पुरुष अनेक होते ही हैं और प्रायः करके उनसे कुछ न कुछ बाधायें आती हैं। वे उपसर्ग करें तो करें। उनका काम उनके हाथ है। हमारी बात हमारे आधीन है। देखिये हम जो कुछ विह्वल हो जाते हैं, कष्ट नहीं सह सकते, उपसर्ग नहीं जीत सकते, तो समझिये कि हमें भेदविज्ञानकी दृढ़ता नहीं है। आत्मस्वरूपका परिचय नहीं है। भेदविज्ञान दृढ़ हो तो अनेक कष्ट सहज ही जीते जा सकते हैं। जब आपके शरीरमें कोई फोड़ा होता है और वह कुछ पक सा गया है, उसे कोई फोड़ रहा है तो फोड़ेको फोड़नेपर कुछ क्लेश होता कि नहीं? उस समय यदि यह अपना चित्त भेदविज्ञानकी ओर रखे कि यह तो शरीर है। होने दो, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानमें रहूँगा, ऐसा करके देखो तो कष्ट कम हो जायगा। अथवा जैसे लोकमें कहते हैं कि अरे कड़ा जी करलो, फिर तकलीफ न होगी। तो कड़ा जी करनेके मायने क्या है? जो बात मोहियोंको कठिन लगती है ऐसे ज्ञान स्वभावमें आनेकी बात। कड़ा जी करने वाला भी कुछ न कुछ सोचता ही है कि करने दो इसे जो करता हो, फोड़ेको फोड़ता है तो फोड़ने दो। कुछ भीतर ही भीतर संकुचित होकर रुक सा जाना, उसे कहते हैं कड़ा जी करना। उसमें भेदविज्ञानकी जैसी ही बात आ रही है। भेदविज्ञान हमारा दृढ़ बने फिर हमारे लिए कोई कष्ट नहीं। जितने भी कष्ट भोगने पड़ रहे हैं वे भेदविज्ञानके अभावमें भोगने पड़ रहे हैं। तो दुष्ट पुरुष अनेक हैं। वे उपसर्ग करते हैं तो करें। हम समतासे उपसर्गको जीतेंगे और तब ही हमें आत्मशान्ति होगी। ऐसा चिन्तन करके मुनिजन मोक्षके अर्थ ऐसा आनन्दभरा तीव्र तपश्चरण करते हैं।

वयमिह परमात्मध्यानदत्तावधानाः, परिकलितपदार्थास्त्यक्तसंसारमार्गाः।
यदि निकषपरीक्षा सूक्ष्मा नो तदानीं, भजति विफलभावं सर्वथैव प्रयासः ॥९९॥

उपसर्गकालमें उपशमभाव रखकर परीक्षामें सफल होनेकी भावना—यह प्रकरण चल रहा है क्रोध कषायके विजयका और क्रोध कषायके विजयके पूर्ण अधिकारी मुनिजन होते हैं अतएव उनकी ही भाषामें यह वर्णन चल रहा है। देखो हम लोग परमात्माके ध्यानमें चित्त देकर सावधान हो गए। हम लोगोंका प्रोग्राम क्या है? परमात्मस्वरूपका ध्यान करना। जैसे किसी साधारण रागी गृहस्थका प्रोग्राम क्या है? धन बढ़ाना, विषयसाधन बढ़ाना और विषयोंका भोगना। एक ही उनकी धुन है। तो यहाँ इन ज्ञानी जनोंकी क्या धुन है? परमात्मस्वरूपमें चित्तको लगाना, ऐसा ही सकल्प करके इस पदमें आये हैं और हमारी स्थिति क्या है कि पदार्थके स्वरूपको जानें और संसारमार्गको त्यागें। तत्त्वस्वरूप जानना, ससारके मार्गरूप रागद्वेष मोहके कष्टको अलग कर देना और परमात्मस्वरूपमें ध्यान बनाये रहना यह हमारा काम है। और इस कामके लिए किसी साधनकी जरूरत बाहरमें नहीं है। यह तो अपने ज्ञान द्वारा साध्य बात है। इसी कारण कोई भी वस्तु, कोई भी परिग्रह मुनिजन नहीं रखते। क्योंकि जिस कामको करनेके लिए हम चले हैं वह काम तो मेरे भीतर आत्माके ज्ञानके आधीन है। अब जरूरत किस बातकी रही? तो हम रागद्वेषके ध्यानमें चित्त लगाने वाले हैं, तत्त्वके स्वरूपको यथार्थ जाननेवाले हैं, ससारमार्गको त्यागने वाले हैं, तो ऐसी हमने अपनी स्थिति बनाया, संकल्प किया और चल भी रहे हैं। यदि ऐसा होकर भी हम परीषहोंकी कसौटीकी परीक्षा में फैल हो जायें, असमर्थ हो जायें, हम वहाँ उपशम भाव न कर सकें तो मुनि धर्मके पालन करनेका सब प्रयास व्यर्थ हो जायगा। इतना एक प्रोग्राम दृढ़तासे प्रतीतिपूर्वक बना लें, फिर उस प्रोग्राममें चलते रहनेके लिए उसके विरुद्ध कोई बात नहीं आती। आती है तो उसको सह लेना बिल्कुल आसान हो जाता है।

एक लक्ष्य होनेकी धुनमे उपसर्गसहनकी सुगमता—भला यही बताओ मुनियोंके लिए २२ परीषह बताये हैं, लेकिन गृहस्थ लोग कितने परिषह सहते हैं? उनके परीषहोंकी तो गिनती ही क्या की जाय? दुःख कल्पनायें करके बना लिए जायें यह बात अलग है, दुःख अज्ञानसे आते यह बात अलग है। हम ऊपरी कष्टके हिसाबसे बात कर रहे हैं। गृहस्थ लोगोंको कितने कष्ट सहने पड़ते हैं और वे कष्टोंको कितना आनन्दसे सह लेते हैं। यह भी देख लीजिए क्रोध, मान, माया, लोभके वश होकर, किसी चीजकी तृष्णामें आकर उसकी प्राप्तिकी धुनमे अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। कोई पीटता भी है, कोई गाली देता है, कहीं समुद्रकी सैर करना होता है, जहाजसे जा रहे हैं, भाग रहे हैं, कोई गाली देता है। कितने तरह के कष्ट हैं। कोई लड़का प्रतिकूल हो गया, स्त्री आज्ञा नहीं मानती है, निरन्तर घरमें क्लेश बना रहता है। कितनी तरहके कष्ट हैं। पर यह बतलायें कि इतनी तरहके कष्ट सहते हुए भी घरमें क्यों रह रहे हैं? मगर मोह ऐसा है घरमें रुचि ऐसी है, एक प्रोग्राम अपना ऐसा बनाये रखते हैं कि वे हजारों कष्ट सह लेते हैं, पर घर नहीं छोड़ते। भीतरी बातोंको नहीं छोड़ते। यहा हम बतला रहे हैं धुनवाले मनुष्योंकी प्रकृतिकी बात। गृहस्थों की धुन है एक विषय साधनकी अथवा धनी होनेकी। तो एक इस धुनके पीछे हजारों कष्ट सहने पड़ते हैं और उन हजारों कष्टोंको ये सह लेते हैं। जैसे एक छोटासा दृष्टान्त है कि कोई एक बूढ़ा व्यक्ति अपने दरवाजेपर बैठा हुआ था। उसके नाती पोते उसे हैरान कर रहे थे। कोई बालक उसके सिरपर बैठता, कोई हाथ झकझोरता, कोई पीठपर चढ़ता, कोई मूछ पटाता। वह बूढ़ा दुःखी हो रहा था, रो रहा था। उधरसे एक संन्यासी निकला। संन्यासीने पूछा अरे बूढ़े बाबा तुम क्यों रो रहे हो? तो उस बूढ़ेने बताया कि हमारे ये नाती पोते हमें बहुत तंग करते हैं इसलिए हम रो रहे हैं। तो संन्यासी बोला-कहो हम तुम्हारे सारे

संकट मेट दें। हाँ महाराज मेट दीजिए, आपकी बड़ी कृपा होगी। वह बूढ़ा जानता था कि संन्यासी जी कोई ऐसा मंत्र पढ़ देंगे जिससे ये नाती-पोते हमारे सामने हाथ जोड़ते फिरेंगे। पर संन्यासीने कहा चलो तुम घर द्वार छोड़कर हमारे साथ चलो, तुम्हारे सारे संकट मिट जायेंगे। तो वह बूढ़ा बोला-अरे ये नाती पोते हमें चाहे जो कुछ करें, पर ये हमारे नाती-पोते ही रहेंगे, ये तो न मिट जायेंगे। तुम बीचमें कौन बहकाने वाले आ गए ? तो देखिये कष्ट है घरमें, पर घर नहीं छोड़ सकते। अरे जब यह बात समझमें आ गई कि घरमें भारी दुःख है तब फिर उस घरके त्यागनेमे क्या दिक्कत है ? लेकिन जो एक मोहभरी धुन बनी हुई है उस धुनमें ये घरके हजारों कष्ट सह लिए जाते हैं। तो भला गृहस्थ तो इतने कष्ट सहलें और मुनिजन, साधु उन्होंने भी एक धुन बनाया है। आत्माका शुद्ध स्वरूप जाननेकी धुन बनाया है। तो इस धुनमें २२ परीषह आ जायें तो उन्हें सह लेना क्या कठिन बात है ? परीषह सहनेकी बात तब कठिन लगती है जब भीतरकी धुनका पक्का न हो, यहाँ साधुजन चिन्तन करते हैं कि यदि कोई परीक्षाका अवसर आये और उसमें हम सफल न हो सकें, अपना समतापरिणाम न रख सकें तब तो हमारा मुनिधर्मको धारण करनेका प्रयास ही व्यर्थ रहेगा। जब उपसर्ग आया और समभाव रहे तब ही तो उपशमभावकी प्रशंसा है। तो ये सब भी चाहिए अपनी-अपनी शक्तिके माफिक। अपना ज्ञानबल बढ़ायें।

तत्त्वज्ञान, कष्टसहिष्णुता व विशुद्ध-परोपकार से प्रसन्नताका अभ्युदय—जो मनुष्य कष्टसहिष्णु होगा। दूसरे की सेवा करनेमें प्रमाद न करता होगा, परोपकारी होगा वह मनुष्य सांसारिक जीवनमे आनन्दमें रहता है। और, जो कष्टोंसे डरते हैं, कष्ट आयें तब भी दुःखी, न कष्ट आयें तब भी दुःखी। जो लोग परसेवासे कनराते हैं वे प्रमादी बनकर भीतर ही भीतर कल्पनायें बनाते हैं और दूसरोंके अनादरके पात्र होते हैं। जो लोग ज्ञानकी और दृष्टि नहीं रखते वे अज्ञानमें व्याकुल होते रहते हैं। हमारा कर्तव्य है तत्त्वज्ञानी बनना। कष्ट सहिष्णु बनें, परोपकारी बनें। अरे कोई सोचे कि हम परोपकारी तो हैं ही, भला बताओ कि हमको कुछ मिलता जुलता नहीं किसी दूसरे जीवसे, फिर भी स्त्रीपुत्रादिक की जो सेवा की जा रही है वह परोपकार ही तो है। रात-दिन बहुत-बहुत श्रम कर रहे हैं, बड़े-बड़े कष्ट उठा रहे हैं। कष्ट सहते हुए भी उनको कष्ट नहीं गिन रहे हैं, आप रात-दिन उन कुटुम्बी जनोंकी सेवाकी धुनमें बने रहते हैं। और दूसरोंके प्रति तो ऐसा है कि यदि कोई किसी नाली वगैरहमें गिर गया हो तो उसे उठाने तकके लिए भी समय नहीं है। वहाँ यह सोचते हैं कि कहीं छींटे न लग जावें। देखलो इनका कितना बढ़िया परोपकार है। बस घरके इन दो चार जीवोंके लिए ही मेरा तन-मन-धन आदि है। चाहे कर्ज लेकर भी उनको खुश करना पड़े फिर भी उनको खुश रखना चाहते। तो परका ही तो उपकार कर रहे, लेकिन वह उपकार नहीं, वह तो एक अज्ञानता है, कोरा मोह है, अपने आपकी हिंसा है, बरबादी है।

निरालम्बना कृपाकी महिमा—बौद्ध ग्रन्थोंमें ३ प्रकारकी कृपायें बतायी गई हैं। एक तो जिन जीवोंसे अपना कुछ सम्बंध है, कुछ अनुराग है उन जीवोंकी दया करना, दूसरा बताया गया है कि जो अपने धर्मके साथी हैं, धर्मात्माजन हैं उनपर कृपा करना, और तीसरी कृपा बतायी गई है कि न तो धर्मात्मापनका नाता हो और न घरके मोह रागका नाता हो, किन्तु एक जीवत्वके नातेसे ही कृपा करना उसे कहते हैं निरालम्बना कृपा। जैसे कोई मेंढक पत्थरके नीचे दबा है और उसका पत्थर हटा देना। उसका दुःख दूर कर देना, देखो इसमें न कुछ मोह वाली बात है और न धर्मात्मा सम्बंधी बात है तो फिर क्यों कृपा की ? केवल एक जीवके नाते से ! तो यों ही समझिये कि कृपा उसकी बड़ी कहलाती है जो सब जीवोंमें समता भाव रखता है। हम आप लोग परमात्माको दयालु कहते हैं-हे भगवान जिनेन्द्र देव, हे परमात्मदेव आप दयालु हो, पर प्रभुमें तो ज़रा भी दयाकी बात नहीं दिखती। अभी आप मन्दिरमे भगवानके दर्शन करने

आयें और सिरमे कोई भींट वगैरह लग जाय, कोई चोट आ जाय तो वहाँ भगवान कहाँ दया करते हैं ?
वे तो पास आकर देखते भी नहीं। मानलो साक्षात् अरहन्तदेव ही विराजमान हों तो वह भी तो कुछ दया
नहीं करते। फिर भी उनकी परम कृपा मानी जाती है क्योंकि सर्व जीवोंमें उनकी समान दृष्टि है। सब
जीवोंपर कृपादृष्टि किया है। तो यह कितनी कृपा है। स्त्री पुत्रादिककी बड़ी खबर रखना, उनको बहुत-बहुत
शृङ्गारसे सुखसे भरपूर बनाना, आदिक यह तो एक अज्ञान अंधकारकी गति है। यह कोई कृपा नहीं कहलाती।
जीवपनेके नातेसे होने वाली जो कृपा है, वह परम कृपा है। तो यहाँ हम ऐसा परोपकारी जीवन बनायें,
वहाँ ऐसी पात्रता होगी कि हम प्रसन्न होंगे, निर्मल बनेंगे और भीतर ही अपने ज्ञानस्वभावको अपने ज्ञानमें
लेंगे, निर्विकल्प ध्यान बना सकेंगे। स्वानुभूति जगेगी और हम वास्तविक अपनी कृपा करेंगे।

अहो कैश्चित्कर्मानुदयगतमानीय रभसा—
दशेषं निर्द्धूतं प्रबलतपसा जन्मचकितैः,
स्वयं यद्यायांतं तदिह मुदमालम्ब्य मनसा।
न किं सह्यं धीरैरतुलसुखसिद्धै व्यवसितैः ॥६८७॥

उपसर्गके समय धीर मुनिजनों द्वारा इष्टसिद्धि जानकर समताग्रहण—लोकमें यह प्रसिद्धि है कि जो कर्म
किए जाते हैं उनका फल अवश्य भोगना पडता है। यह बात प्रायः ठीक है, क्योंकि जो कर्म बाँधे गए हैं
अर्थात् शुभ अशुभ परिणामका निमित्त पाकर पौद्‌गलिक कार्माण वर्गणाओंमें जो कर्मत्व आया है और इस
जीवके साथ निमित्त नैमित्तिक भावके नातेसे रह रहे हैं, उनका जब उदयकाल आता है तब वे खिरते हैं।
तो खिरनेकी बाततो उस ही तरह है। कोई कारण पाये तो उदीरणा हो जाय, यों खिर जाय, तो उदीरणा
होने पर जीवको उसका फल भोगना पडता है किन्तु यदि खासियत और होती है कि जीवका अति विशुद्ध
परिणाम हो, ज्ञानस्वभावमें रमण हो, अथवा प्रबल समता हो तो या तो वह कर्म बहुत ही पहिले क्षीण
अनुभाग होकर खिर जाते हैं। अथवा उनके पहिलेसे ही एक अविपाक निर्जराके रूपमें होनेके लिये बदलते
हुए जाते हैं तो यों कर्म कुछ भी फल नहीं दे पाते। यहाँ यह बतला रहे हैं कि मुनिगणोंने संसारसे
भयभीत होकर अर्थात् सांसारिक इन सब तत्त्वोंसे उपेक्षा करके बड़े तीव्र तपश्चरण द्वारा उन कर्मोंको उदयमें
ला दिया। यद्यपि जीव कर्मकी दशा नहीं करते। कर्म जीवकी दशा नहीं करते। पर निमित्त नैमित्तिक भाव
ऐसा है परस्पर कि जीवके परिणामका निमित्त पाकर जीवमें भावदशा बनती। तो जब आत्माने एक प्रबल
ज्ञानसाधना की, अन्तरङ्ग तपश्चरण किया तो कर्म जो बहुत काल बाद उदयमें आते और उसे उतना बन्धनमें
रहना पड़ता वह पहिले ही उदयमें आता है। तो लो इसका अर्थ यह ही तो हुआ कि उन्होंने कर्मोंको शीघ्र
ही नष्ट कर दिया। वे कर्म यदि उपसर्ग-आदिक के कारणसे अपनी स्थिति समाप्त कर स्वयं उदयमें आये हैं
तो धीर वीर पुरुष तो उसमे अपनी मनोवाञ्छित सिद्धि समझ रहा है।

ज्ञानदृष्टिबलसे कषायविजयकी सुगमता—देखिये सब ज्ञानदृष्टिकी बात है। अनेक दुःखोंसे अभी मुक्त
हो सकते हैं। यह सोचें, ज्ञानमें बात लायें, जैसी दृष्टि लगायें उसके अनुसार यहाँ बात बीतती है। जब हम
आत्मा ज्ञानस्वरूप हैं, भावमात्रके करने वाले हैं तो क्यों न हमें ऐसा सावधान होना चाहिए कि हम खोटे
भावोंसे बचें और उत्तम भावोंमें आयें ? इसके लिए चाहिये तत्त्वज्ञान, सत्सग, स्वाध्यायकी निरन्तरता। इस
उपायसे यदि हम अपने आपको इस ज्ञानकिलेमें बैठाल सकें और अपनेको सुरक्षित कर सकें तो समझिये कि
वह हमारा विवेक है और अपनेसे हट हटकर पदार्थोंमें फसते रहें तो वह हमारा अविवेक है। यहाँ
कल्याणार्थी भव्य जीव ऐसा ध्यान करता है कि यदि मुझपर किसीके द्वारा कुछ उपद्रव हुआ, लाठीसे

निन्दाओंसे जिस किसी भी तरहसे मुझपर अगर कुछ उपसर्ग हो रहा है तो हमें बड़ी रुचिपूर्वक अभिलाषा सहित उन उपसर्गोंको शान्तिसे सहन कर लेना चाहिए। वह हमारे वैभववाली बातें बनेगी। यों जानकर साधुसंत किसीके द्वारा किए गए उपसर्गोंको धीरतासे वीरतासे, प्रसन्नतासे, समतासे सह लिया करते हैं। यह क्रोधकषायविजयके परिच्छेदमें अन्तिम छन्द है। इसमें उपसहार करते हुए एक प्रेरणा दी गई है कि हम एक ही अपना प्रोग्राम रखें कि हमें शान्तिसमतासे ज्ञानदृष्टिसे रहकर अपना जीवन बिताना है। इस लक्ष्यमें रहकर हम किसी भी प्रसंगमें क्रोधपर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

कुलजातीश्वरत्वादिमदविध्वस्तबुद्धिभिः।
सद्यः संचीयते कर्म नीचैर्गतिनिबन्धनम् ॥९६८॥

मदसे नीचगतिके कारणभूत कर्मोंका बन्ध—अब यहाँ मान कषायका वर्णन कर रहे हैं। कुछ जीवोंसे अपने आपको बडा समझना और अपनेसे अन्य जीवोंको छोटा नीचा समझना इस प्रकारकी बुद्धि होनेका नाम है मान। जिन पुरुषोंकी बुद्धि नष्ट हो गई है अर्थात् विपरीत हो गई है, मदोंके द्वारा ऐसे पुरुष ऐसे विकट कर्मोंका बन्धन करते हैं जो नीच गतिके कारण बनते हैं। दूसरोंसे अपनेको ऊंचा और दूसरोंको अपनेसे नीचा, तुच्छ घृणास्पद माननेका फल क्या है कि खुदको नीचा बनना पड़ेगा। कुछ तो यहाँ ही देखा जाता है कि जो मानके शिखरपर चढ़ता है, जो लोगोंके बीच रहकर अपनी शेखी बगारता है, मान प्रकट करता है वह यहाँ ही लोगोंकी दृष्टिमें नीच समझा जाता है। तुच्छ है, घमंडी है। उसकी प्रतिष्ठा नहीं रहती। तो मान करनेका फल यह जीव इसी भवमें पा लेता है और फिर मान कषाय करके जो कर्मबन्ध हुए हैं उनकी तो स्थिति पडी है ना? जितनी अधिक स्थिति पडी है अबाधा उसके अनुरूप होती है। तो आगे समयमें उन कर्मोंके उदयमें इसे और फल भोगना होगा। सारांश यह है कि लोगोंसे अपना बड़प्पन अधिक समझना और अन्य जीवोंको नीचा समझना यह नीच गतिका कारण बनता है।

मानकषायसे बचनेके लिये स्वभावदृष्टिके आलम्बनकी प्रमुखता—थोड़ा यहाँ यह सोचा जा सकता है कि ऊंच और नीचके व्यवहारसे यहाँ बचा जाय किस तरह? जब यहाँ ही बहुत बातें देखी जा रही हैं, कोई मनुष्य खोटा कर्म करता है, कोई अच्छे कर्म करता है। कोई मोहमें एकदम लीन है, और जो कुछ धर्म कर रहा हो, कुछ पूजा आदिक करता हो, स्वाध्याय सत्संगमें रहता हो, ऐसी स्थितिमें इतनी बात तो जाननेमें आ ही जाती है कि ये लोग तुच्छ हैं, हम जो कर रहे हैं वह अच्छा काम कर रहे हैं। तो कैसे बचाया जाय कि हम अन्य जीवोंसे अपनेको बडा न समझें? इसके समाधानमें यह समझिये कि हम मूलमें जीवोंके स्वरूप और स्वभावपर दृष्टि दें, यहाँ तो यह पर्यायकृत अन्तर है। पर्यायकृत अन्तरको पर्यायदृष्टिसे समझें तो भीतरमें मान कषायका बीज न पड़ेगा। हम सब जीवोंका स्वरूप और स्वभाव दृष्टिसे निरखें तो कौन जीव मुझसे छोटा और कौन जीव मुझसे बडा? सब जीव एक समान अविकार शुद्ध चैतन्य स्वभाव वाले हैं। पर्यायदृष्टिसे इतना बड़ा अन्तर होकर भी स्वभावदृष्टिसे निरखा जाय तो सबकी समानता है और केवल इन ही जीवोंके साथ क्या सिद्ध प्रभु हो, समस्त संसारी हो, सबका स्वरूप समान है। इस दृष्टिसे अपनेको प्रबल बनाना ताकि किसीको तुच्छ निरखनेकी मेरे हृदयमें आदत न बन सके। रही पर्यायकृत बात, तो पर्यायमें इतना अन्तर है मगर उस अन्तरसे पर्यायमात्रका अन्तर निरखिये जिससे भीतरमें चित्तको मानना घर न बना सकें। जितने मानी लोग हैं उनकी दृष्टि पर्यायपर रहती है और पर्यायको ही स्व माननेकी रहती है। इसलिए मानकी प्रबलता बन जाती है।

मदविवरण व मदविजय प्रेरणा—यह मान कषाय ८ मदोंसे प्रकट होता है— १. कुलमद, २. जातिमद,

३. ऐश्वर्यमद, ४. रूपमद, ५. तपोमद, ६. वलमद, ७. विद्यामद, ८. धनमद। इन ८ मदोंके कारण जिनकी बुद्धि बिगड़ गई है याने जो मान कषायमें आ गए हैं वे उस ही समय नीचगतिके कारणभूत कर्मका बन्ध करते हैं और वे उसी समय लोगोंकी दृष्टिमें भी नीच सिद्ध हो जाते हैं। मानी पुरुष तो अपने मनमें ऐसा सोचता है कि मैं ऐसा मान करूंगा, ऐसी बात कहूँगा, ऐसा बड़प्पन दिखाऊंगा तो लोग मुझे ऊंचा कहेंगे। लेकिन समझदार तो केवल वही जीव तो नहीं है। सब जीव समझदार हैं। सबकी बात समझ सकते हैं। तो मानकषाय करने वालेकी जो प्रवृत्ति होती है वह तो स्पष्ट ऐसी परिणति होती है कि जिससे मंसा साफ जाहिर हो जाता है तो उसके सुनने देखने वाले लोग उस मानीको तुच्छ समझने लगते हैं। तो मान कषाय करने वाला पुरुष उस ही भवमें लोगोंकी दृष्टिमें नीच सिद्ध होता है और वह ऐसा कर्मबन्ध करता है कि उसे परलोकमें नीचगति प्राप्त होती है। कुछ तो यहाँ ही देख लिया जाता कि मान करने वाले पुरुष इस भव में भी तुच्छ, दरिद्र, नीच, निन्द्य बन गए और आज मनुष्य हैं और मनुष्यभवसे च्युत होकर यदि कीड़ा मकोड़ा हो गए, नारकी हो गए, एकेन्द्रिय हो गए तो अब अपना मान कहाँ रखोगे? तो ऐसा संसारका स्वरूप जानकर चित्तमें यह बात आनी चाहिए कि मेरे किसी भी प्रकारसे मान कषाय न प्रकट हो। तो ज्ञानी जीव ज्ञानबलसे मान कषायपर विजय करता है।

मानग्रन्थिर्मनस्युच्चैर्यावदास्ते दृढस्तदा।
तावद्विवेकमाणिक्यं प्राप्तमप्यपसर्पति ॥६६९॥

मदाधारभूत कुल जाति आदिसे रहित आत्मस्वभावके आलम्बनसे मान कषायका प्रक्षय—जब तक मनमें मानकी गंध दृढ़तासे लगी रहती है तब तक विवेक रूपी रत्न प्राप्त हुआ भी नष्ट हो जाता है। कितने ही गुण हों उन गुणोंके होनेपर भी यदि कोई मान कषायकी प्रवृत्ति करता है। मान बढ़ाई जैसी बात करता है तो लोगोंकी दृष्टिमे उसके गुण गौण हो जाते हैं और उसके दोष सामने खड़े हो जाते हैं। और तो सब कुछ है लेकिन इसमें यह बड़े दोषकी बात है कि अपने ही मुखसे अपनी बढ़ाई करता है, ऐसी मान प्रवृत्ति करता है, दूसरोंको तुच्छ समझा करता है। तो जब तक यह मान कषाय है भीतर तब तक वह यदि विवेक भी थोड़ा करता हो, लोकनीतिके आधारपर और दुनियाको यह बतानेकी चेष्टा करता हो कि मैं बहुत नम्र हूँ मान मुझमें बिल्कुल नहीं है। लेकिन मानकी बात तो आ गयी। बड़े नम्र शब्द बोलकर भी मान करते हैं तो जाहिर हो जाता है क्योंकि वह मानकी गाँठ भीतर पड़ी है तो कोई जान बूझकर व्यवहार में सम्हल कर भी रहे तो कितना सम्हलकर रहेगा? कोई इस तरहकी पद्धति आ ही जायगी जिससे लोग समझते हों कि यह तो मानी है। तो जब तक हृदयमें मानकी गंध रहती है, तब तक भीतरका विवेक तो रहता ही नहीं है। मान कब होता? जब पर्यायपर दृष्टि रहती है, और पर्याय अपनानेका भाव रहता है मानकषाय तब ही होता है। अनुभव करके निरख लेना—यदि मैं अपने उस सहज अनादि सिद्ध शुद्ध अन्तः प्रकाशमान ज्ञानस्वभावमात्र हूँ, ऐसी दृष्टि करने वालेको मान कषाय क्या जगेगी? मान कषायके आधार तो ये कुल जाति आदिक हैं। तो ये क्या स्वभावमें पड़े हुए हैं? आत्माके स्वरूपमें कुल, जाति, धन, बल, ऐश्वर्य आदिक जिन-जिनके कारण मद होता है, क्या ये कुछ पड़े हुए हैं? इनका सम्बंध पर्यायसे है और इनके मदोंके आधारसे मान बना है तो निर्णय करना चाहिए कि जिस जीवका मान कषाय प्रबल होता है उसको पर्यायमें आत्मबुद्धि है, पर्याय दृष्टि है।

पर्यायदृष्टि व मानकषायकी विपदा व विडम्बना—जीवको पर्यायदृष्टि ही एक बड़ी विपत्ति है। देहमें आत्मबुद्धि करना, धन वैभवमे ममकार बनाना, उन सबको अपनाना यह तो बड़ी भारी विपत्ति है। लोग सोचते हैं कि हम बड़ी समतामे हैं। हम बड़े सुखमे हैं, इतना धन जोड़ लिया है। इसको नष्ट न होने

देंगे, हम बड़े आराममें हैं। अरे वह तो साक्षात् बड़ी विपत्तिमें पड़ा हुआ है। विपत्ति है यहाँ विभावोंकी। भीतर तो देखो यह बेहोश है। उसकी कोई भी सावधानी नहीं है, यह अपने आपमें इस तरह बेसुध पड़ा हुआ है। कर्मबन्ध होते, दुर्गतियोंमें जन्म लेता, इस विपदाको तो देखते नहीं, बाहरी बातोंमें विपदाका हिसाब लगाकर विरोध बढ़ाया जा रहा है। मानकषाय यह भी एक विपदा है। मानग्रन्थि दूर करनेसे ही आत्मशान्तिका मार्ग मिल सकेगा। जब-जब मानका अभाव होगा, तब-तब हेय और उपादेयकी दृष्टि न रहेगी। बड़े-बड़े मिनिष्टर लोग या बड़े ऊंचे अधिकारी जन अपना मान रखनेके लिए दूसरोंपर कितना बड़ा अन्याय कर लेते हैं कि चाहे दूसरोंकी जान भी चली जाय। जैसे आजकल भी पाकिस्तानके युद्धमें लाखों बंगालियोंका संहार हो रहा। तो वह किसी एक व्यक्तिके मान कषायका ही तो फल चल रहा है। मानके साथ क्रोध जुड़ा हुआ है। ये दोनों लगोटिया यार हैं। मान और क्रोधमें जहाँ मान है वहाँ क्रोध आना प्राकृतिक बात है। मानकी पुष्टि न हुई तो क्रोध आया। तो बड़े से बड़े अन्याय कर दिये जाते हैं। दूसरे जीवोंको कुछ नहीं सोचते। ऐसा मान कषायमें भयकर अन्याय हो जाता है। तो हेय और उपादेयका विवेक कहाँ रहा ?

प्रोत्तुङ्गमानशैलाग्रवर्तिभिर्लुप्तबुद्धिभिः ।
क्रियते मार्गमुल्लंघ्य पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥९७०॥

मानशिखरस्थ दुर्बुद्धिजनो द्वारा समीचीनमार्गोल्लङ्घन व पूज्यपुरुषोंका अनादर—जो लोग बड़े ऊंचे मान पर्वतके सिखर पर चढ़ रहे हैं उनकी बुद्धि लुप्त हो गई है। मानी लोग सच्चे मार्गका उल्लंघन करते हैं और पूज्य पुरुषोंकी प्रतिष्ठा भी मिटा देते हैं। जब मान कषाय आती है तो इतना अहंकार हो जाता। इतना वह पर्यायबुद्धिके विषमें घिर जाता है कि पूज्य पुरुषोंका भी अनादर कर डालता है। इससे आप देखिये कितना तेज मान करना पड़ता है तब पूज्य पुरुषोंका अनादर किया जा सकता। तो जो मानके पर्वत शिखर पर चढ़े हुए हैं ऐसे पुरुष समझते हैं अपनेको बहुत बड़ा, लेकिन वे बहुत तुच्छ भावमें नजर आ रहे हैं। एक कथानक है ना कि जब रावण जा रहा था विमानमें बैठा हुआ और बलि मुनि जिस पर्वतपर तपश्चरण कर रहे थे, ऊपरसे विमान जा रहा था, विमान अटक गया। जब जाना कि यह विमान इसलिए अटका कि यहाँ पर बालिमुनि तपश्चरण कर रहे हैं, तब उसको इतना प्रबल मान कषाय जगा कि उसने निर्णय कर लिया कि मैं इस पर्वतको ही उखाड़ कर फेंक दूंगा। उससे यह बालिमुनि अपने आप नष्ट हो जायगा। कितना तीव्र मान कषाय था जिसके आधारपर क्रोध इतना तीव्र जगा। तो अब देख लीजिए कि पूज्य पुरुषोंकी प्रतिष्ठाका लोप कर देना कितना तेज मान कषाय क्रोध करनेके परिणाममें हो सकता है। तो जो मान शिखर पर चढा हुआ हो वह पूज्य पुरुषोंकी प्रतिष्ठा भी नष्ट कर देता है और समीचीन मार्गका उल्लंघन भी कर देता है। यद्यपि रावण जैन धर्मसे प्रीति रखने वाला, साधुसंतोंकी भक्ति रखने वाला था, लेकिन मान कषायका कितना उदय हुआ कि उसने समीचीन मार्गका भी उल्लंघन कर दिया।

लुप्यते मानतः पुंसां विवेकामललोचनम् ।
प्रच्यवन्ते ततः शीघ्रं शीलशैलाग्रसंक्रमात् ॥९७१॥

मानकषायसे विवेकचक्षुका नाश तथा शीलशैलसे प्रच्यवन—मान कषायके कारण प्राणियोंका भेदविज्ञान रूपी निर्मल नेत्र अंधा हो जाता है। मान कषाय वालेको भेद विज्ञानकी दृष्टि नहीं रहती, जिस कारणसे वह शीघ्र ही शीलरूपी पर्वतके शिखरसे गिर जाता है याने शीलसे भी च्युत हो जाता है। जब विवेक न रहा, तो शील कहाँ रहा ? जब मान कषाय बन गया तो विवेक कहाँ रहा ? और, लोक व्यवहार भी भला व—

सके, ऐसा विवेक नहीं रहता मानीके, भीतर अपने अस्तित्वका स्वाद ले सकें ऐसा भी ज्ञान नहीं रहता। यदि अंतस्तत्त्वके स्वाद ले सकनेकी पात्रता व्यक्त होती तो यह इतना तीव्र मानमें क्यों आया? एक गुरु शिष्य थे। गुरुने शिष्यको शस्त्र विद्या खूब भली प्रकार सिखादी अब उस शिष्यको मान हो गया कि मैं तो इतना अभ्यस्त हो गया कि मैं तो अपने गुरुको भी हरा सकता हूँ। एक दिन कहा गुरुजी हम तो आपसे लडाई करेंगे। इतनी बात सुनकर गुरु अवाक रह गया। गुरुने समझ लिया कि इस शिष्यको अभिमान हो गया है। गुरु बोला—अच्छा तुम किस चीजसे लडाई लडोगे?... जिस तरहसे चाहो। ...अच्छा हम लाठीसे लडाई लडेंगे।...ठीक। अब गुरुने क्या सोचा कि यह शिष्य तो मान कषायमें ग्रस्त है, इसकी बुद्धि तो बिगड गई है। ऐसा करें कि अपने घरके आगे एक ७-८ हाथका लट्ठ रखलें, शिष्य देखेगा गुरुजीको कि लडाईके लिए क्या तैयारी कर रहे हैं। सो गुरुने अपने द्वार पर एक ७-८ हाथका लट्ठ खडा कर दिया। उस शिष्यने देखा उस लट्ठको तो सोचा कि हम तो गुरुसे भी अधिक बढी-चढी तैयारी करेंगे जिससे कि लडाईमें हमारी ही विजय हो सके। अब क्या था, शिष्यने अपने द्वार पर कोई २०-२५ हाथका लम्बा बाँस खडा कर लिया। अब युद्धका समय आया तो गुरु तो अपने छोटे लट्ठसे लडने लगा और शिष्य उस बाँससे लडने लगा। पर उतना लम्बा और वजन बाँस उस शिष्यसे चलाया ही कैसे जा सकता था? इससे वह शिष्य हार गया। तो देखिये शिष्यने मानकषायके वश होकर यह चाहा कि मैं लोगोंकी दृष्टिमें गुरुजीको हरा दूं तो मेरी बडाई उस गुरुसे बढकर हो जायगी। तो यह क्या है? इस मानकषायमें जीवको विवेक नहीं रहता, और जहाँ विवेक नहीं है वहाँ शील कहाँ है? शीलके मायने सभी शील हैं स्वभाव ठीक रहना, नम्र रहना, सदाचारमें रहना आदिक ये सब शील समाप्त हो जाते हैं।

ज्ञानरत्नमपाकृत्य गृह्णात्यज्ञानपन्नगम्।
गुरूनपि जनो मानी विमानयति गर्वतः ॥९७२॥

मानकषायवशीभूत पुरुष द्वारा गुरुजनोंका अपमान—मानी पुरुष ज्ञानरूपी रत्नको दूर करके अज्ञानरूपी सर्पका ग्रहण करता है। दृष्टान्त दिया है एक ऐसी प्रसिद्धि है कि किसी-किसी सर्पके मस्तकमें रत्न होता है। मानो इसने अपने आप निकाल दिया, पास रख दिया, लेकिन रत्नको तो फेंक दे कोई व सर्पसे प्यार करने लगे। ऐसे ही समझिये कि मानी पुरुष जब गर्वमें आता है तो वह अपने गुरुको भी अपमानित कर देता है और कितने ही मानी तो गुरुका नाम तक कहनेमें लजाते हैं। जैसे किसीने हारमोनियम सीख लिया और उससे कोई कहे कि भाई तुम तो बडी अच्छी हारमोनियम बजा लेते हो, तुमने किससे सीखा? तो वह कह देता है अरे हमने तो यों ही अपने आप सीख लिया। तो देखिये उसने अपने गुरुका नाम छिपा लिया, इसलिए कि लोग समझें कि यह भाई तो बड़े बुद्धिमान हैं, स्वय बुद्ध हैं। देखो इनमें इतनी बुद्धिमानी है कि बिना किसीके सिखाये ही स्वय सीख लिया है। इस प्रकारकी मानकषायकी पुष्टि उसके उन वचनोंसे होती है। और, फिर कभी समय पड़े तो वह अपने गुरुको अपमानित भी कर देता है। यह मानकषाय बहुत खोटा परिणाम है। उसकी बुद्धिमें यह बात जहाँ समायी कि मैं कोई ऐसा प्रयत्न करूं जिससे मैं अपने गुरुसे भी ऊंचा जचूं, तो उसका प्रयत्न ऐसा ही होता है कि जिसमें गुरु अपमानित हो। तो ये सब पर्यायबुद्धिके परिणाम हैं। स्वभावदृष्टि अगर की हो तो ऐसी मान कषाय क्यों उत्पन्न हो? अपनेको चाहिए कि हम स्वभावदृष्टिकी उपासनामें बहुत बढ़ें ताकि ये मान कषाय, ये ऐब सब, स्वतः ही दूर हो जायें। एक ही अपना प्रोग्राम है। दृष्टिको निर्मल बनायें। दृष्टिमें प्रभुके स्वरूपको रखना या आत्मस्वरूपकी सुध लेना, इन दो कार्योंमें अधिक समय व्यतीत हो तो इसमें हम आप सबकी भलाई है।

करोत्युद्धतधीर्मानाद्विनयाचारलंघनम् ।
विराध्याराध्यसन्तानं स्वेच्छाचारेण वर्तते ॥६७३॥

मानके कारण दुर्बुद्धि जनोंद्वारा विनयाचारका उल्लंघन व स्वच्छन्द प्रवर्तन— जिसकी बुद्धि मानसे मलीमस हो गई है ऐसा पुरुष बड़े पुरुषोंके विनयाचारका उल्लंघन करता है। बड़े पुरुषोंका विनय न करनेका कारण क्या है ? मान कषाय। जब मानकषाय उत्पन्न होती है तब प्रथम तो यही देखो कि सबसे बड़े भगवत सहज ज्ञायकस्वरूप आत्मदेवका विनयाचार रहा ही नहीं। विनय कहते हैं विशेषतया ले जाने को। और नम्रता कहते हैं झुक जानेको। अपने उपयोगको अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर ले जाना सो विनय है और अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर उपयोगका झुकना सो नम्रता है ऐसी नम्रता और ऐसा विनय मानकषायमें रहने वाले पुरुषमें कहाँसे प्राप्त हो सकता ? विनयका सम्बंध है भावसे। तब यह शंका न रखना चाहिए कि पुराणोंमें बताते हैं कि तीर्थंकर मुनिजनोंको नमस्कार नहीं कर पाते हैं और वे जब दीक्षा ग्रहण करते हैं तो णमो सिद्धाणं बोलकर करते हैं। इससे कहीं यह न जानना कि इसमें तो उनका अरहंतदेवके प्रति साधुजनके प्रति अविनयभाव है। अरे प्रशंसा करना भी विनय कहलाता है मनमें अच्छा समझना भी विनय कहलाता है, लेकिन जो मान कषायके वशीभूत हैं वे बड़े पुरुषको अच्छा भी नहीं समझ सकते और उसके प्रति नम्रता भी नहीं रख सकते। और, प्रथम बात तो यही देखो कि निज भगवान आत्माकी ओर तो उनकी दृष्टि ही नहीं पहुँचती। जैसे ५ पाप बताये गए हैं उनमे चौथा पाप बताया है कुशील और उसके त्यागको बतलाते हैं ब्रह्मचर्य किन्तु वास्तविक अर्थ है सभी पापोंका त्याग करना और ज्ञान स्वरूप ब्रह्ममे रमण करना लेकिन ब्रह्मचर्य शब्दसे चौथे पाप (कुशील) के त्यागको ही कहा गया है, अन्य चारों पापोंके त्यागको भी तो ब्रह्मचर्य कहना था। जैसे वहाँ यह अनुमान किया जाता कि कुशील एक ऐसा पाप है कि जिसके भावमें रहने पर आत्माकी सुध भी नहीं रह सकती, ऐसी कुछ प्रमुखतासे अगर देखें तो इन कषायोंमें एक मान कषाय भी ऐसी कषाय है कि मान कषायके रखते हुएमें अपने आत्माकी सुध नहीं रह सकती। मद होता है, पर्यायबुद्धि की बात निरखकर। जिसको मानकषायकी परतन्त्रता है ऐसा पुरुष विनयाचारका उल्लघन करता है, और जो आराध्य पुरुष हैं, आराध्य गुरु हैं उनकी सतानकी, उनकी पद्धतिकी विराधना करके स्वेच्छाचारमें प्रवृत्ति करता है।

विनय व नम्रतामें आत्मरक्षा— उस पुरुषकी बडी रक्षा है जो किसी बड़ेकी विनयमे, आज्ञामे अपने आपको इस प्रकार कृतसंकल्प होकर रखता है कि आदेश हुआ कि इस कष्टको भी सहो, तो वह उसकी मनाही नहीं कर सकता। इस प्रकार जो कृतसंकल्प होकर किसीकी नम्रतामें विनयमें रहता है। रक्षा उसकी है, जैसे घरमें देखा होगा-घरमें रहने वाला बड़ा पुरुष (मालिक) सुरक्षित है या घरके वे बाल-बच्चे स्त्री पुत्रादिक सुरक्षित हैं ? अधिक आनन्दमें, निर्भयतामे कौन रह रहे है ? तो वे स्त्री-पुत्रादिक ही आनन्दमे रह रहे हैं। वह मालिक तो अनेक लोगोंकी बातें सुनता है, अनेक उपद्रव सहता है, उसके सामने बड़ी-बड़ी समस्यायें, बड़े-बड़े झंझट रहते हैं। वह तो शोकविह्वल रहा करता है, मगर जो आज्ञामें रहते हैं ऐसे स्त्री पुत्रादिक वे तो सदा सुरक्षित रहते हैं। एक यह मोटी दृष्टिसे बात कही जा रही है। उससे हमें यह शिक्षा लेना है कि हम मदके वशीभूत न हों, मानी न बनें, किन्तु बड़ोंकी आज्ञामे, विनयमे रहनेकी अपनी वृत्ति बनायें, उससे हम सुरक्षित हैं। इस मानकषायके वशीभूत होनेसे इस आत्माको कुछ भी लाभ नहीं है।

मानमालम्ब्य मूढात्मा विधत्ते कर्म निन्दितम् ।
कलङ्कयति चाशेषचरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥६७४॥

मूढात्माओं द्वारा मानका आलम्बन कर निन्दित कर्मका विधान— मान कषायका आलम्बन लेकर यह

प्राणी निन्दित कर्मको कर डालता है। इसके लिए दृष्टान्त क्या देखना। प्राय हर एकके जीवनमें यही बात है कि मानके वशीभूत होकर जो न करना चाहिए वह भी कार्य कर बैठता है जैसे दूसरेकी तुच्छता प्रकट करना, दूसरेको विपत्तिमें डाल देना, और तो क्या ? मानी-बड़े-बड़े नरसंहार तक कर देता है। और उसमें सारा जहान चाहे निन्दा करता हो पर खुदमें उसकी दृष्टि तक नहीं। ऐसी बड़ी-बड़ी विडम्बनायें इस मान कषायके कारण हो जाती हैं। तो मानकषायके वशीभूत हुआ यह प्राणी बड़ेसे बड़े निन्दित कार्य भी कर डालता है और समस्त चरित्र जो चन्द्रकी तरह निर्मल हो उसको भी कलंकित कर देता है। खुद आचरण कर रहा है, अच्छा आचरण कर रहा है और एक मानकषाय आ गई तो सबपर कलंक आ गया। मुनिजनोंकी प्रवृत्ति बताई गई है कि वे अपनेको मुनि अनुभव नहीं करते, किन्तु चैतन्यस्वभावमात्र अपनेको प्रतीतिमें रखते हैं। यह तो एक गुजरनेकी स्थिति है। यह मानकी स्थिति नहीं है। किन्तु यह स्थिति गुजर रही है। कोई गृहस्थ धर्मसे गुजरता है, कोई मुनिधर्मसे गुजरता है। धर्मका आचरण करनेकी ये विशेष पदवियाँ हैं, किन्तु जो अपनेको ऐसा अनुभव करता है कि मैं मुनि हूँ, त्यागी हूँ, तपस्वी हूँ...तो वह है क्या ? मान कषाय की विशेषता वहाँ आ गई और पर्यायबुद्धिका महादोष आ गया। प्रतीतिमें तो एक शुद्ध चित्स्वरूप ही रहना चाहिए। मैं तो यह हूँ, श्रद्धान मुनिका हो, गृहस्थका हो, एक ही पद्धतिका होता है। गृहस्थ भी यह अपनेको न मानें कि मैं गृहस्थ हूँ, अमुक पदाधिकारी हूँ। इस तरह पर्यायमें, भेषमें अपने स्वरूपकी प्रतीती न करें। वह तो पर्याय बुद्धिकी बात है। गृहस्थ भी अपने आपको चित्स्वभावमात्र प्रतीतिमें रखता है। मैं यह चित्स्वभाव हूँ, व्रत आदि जो करता यह पड़ रहा है वह अच्छे स्थानमें पहुँचनेके लिए यह करना पड़ रहा है।

मानकषायका मूल आधार पर्यायबुद्धि—मान कषायका सम्बंध पर्यायबुद्धिसे है, उसका मूल पर्यायबुद्धि है, यह जिसके हट गया और ज्योतिर्मय अनादि अनन्त निज सहज स्वभावको जिसने आत्मा स्वीकार किया उसके मानकषाय कहाँ रहेगी ? जो मानके वशीभूत है वह चारित्रको भी कलंकित करता है। किसीकी बड़ी सेवा की हो, मानलो खूब अच्छा भोजन कराया हो, मिष्ठान्न, व्यञ्जन अच्छे-अच्छे परोसा हो, खूब खिलाया हो, और खिलानेके बाद वह यह कह दे कि कहो भाई भोजन ठीक रहा ना ? ...हाँ ठीक था। ...अच्छा था ना ? ...हाँ अच्छा था। ...ऐसा भोजन तो तुम्हारे बाप-दादाने भी न किया होगा ? ...लो उसकी सारी इज्जत चली गई। और उसको यह पड गई कि किसी तरह यह कय हो जाय तो अच्छा है। पद-पदमें यही बात है, किसीकी कोई सेवा करके, किसीका उपकार करके उसपर एहसान धरना, अपना मान बगराना ये सब कुबुद्धि की बातें हैं। जो सत है, जो सुलझा हुआ पुरुष है उसको तो स्पष्ट है सबका प्रकाश। इसमें उसने अपनी ही रक्षा की, परोपकार किया, लगे रहे शुभोपयोगमें। उसने अपना ही काम किया, अपनी ही रक्षा की, किया क्या ? तो परोपकारी पुरुषको तो इस तरह रहना चाहिए और जिसका उपकार हो उसे भलाई चाहिए, आत्महित चाहिए तो उसे उसका कृतज्ञ रहना चाहिए। जैसे कृतघ्नता उपकृत पुरुषके लिए महादोष है ऐसे ही एहसान या उसके प्रतिकूल होनेपर क्रोधादिक बातें आना यह परोपकारीके लिए भी दोष है। तो जो मानका आलम्बन करता है ऐसा मूढ पुरुष निन्दित कर्म करता है और उज्जवल चारित्रको कलंकित कर डालता है।

गुणैरिक्तेन किं तेन मानेनार्थः प्रसिद्ध्यति।
तन्मन्ये मानिना मानं यल्लोकद्वयशुद्धिदम् ॥९७५॥

गुणरिक्त मानसे अर्थसिद्धिका अभाव—गुणरहित भावसे कौनसे अर्थकी सिद्धि होती है ? जिस पुरुषमें गुण नहीं है वह किसी कामका ही नहीं है। अपने मनसे कोई भी शेखचिल्ली बन जाता है। मैं ऐसा हो गया, मैं ऐसा हो गया ऐसा कुछ विचारकर सोचा जाय या लोग दूसरा निर्णय करें उसके अनुसार बात ध्यानमें

आयगी कि गुणरिक्त है यह। जिसमें गुण तो न हों और मान करे तो भला बताओ वह हास्यास्पद न होगा? उसे कहते हैं लम्पा जैसा ऐंठना। लम्पा क्या है? गाय बैलों द्वारा खाई जानेवाली सूखी एक लम्पोरा घासमें बहुत पतला नुकीला अंकुर सा होता है उसे लम्पा बोलते हैं। जो गाय, भैंस आदिको घास चराया जाता है उसमें यह लम्पा होता है, तो सूखा लम्पा हो वह तो ठीक रहता है और उसपर यदि जरासा पानी गिर जाय तो बहुत देर तक ऐंठता रहता है। तो गुणरिक्त पुरुष इसी प्रकार ऐंठते हैं-गुण तो कुछ नहीं है, मान करते हैं बहुत। कहते हैं कि उस मानसे लाभ क्या है? मान भी करे कोई तो ऐसा करे कि जिसमें अपना इह लोक और परलोक दोनोंमें निर्मलता बढे। यह एक अलंकार भाषामें समझ लीजिए। वह मान तो नहीं रहता अथवा उसे प्रशस्त मान कह लीजिए, स्वाभिमान कह लीजिए अपने आपकी गुणगरिमाका अनुभव करके अपने लोकद्वयको सिद्ध करना इसे किन्हीं शब्दोंमें कह लीजिए। यदि करें तो ऐसा करें, पर गुणरिक्त मानसे लाभ क्या है? मान कषाय दुर्गतिका कारण है, फिर भी थोडा बहुत अन्तर डालें एक शब्दसाम्यसे, तो जो एक खोटा मान है, जिस मानके वशीभूत होकर नीच कार्य किए जाते हैं वह तो दुर्गतिका कारण है, लेकिन जो स्वाभिमान है वह सद्‌गतिका कारण है। आज चतुर्गतियोंमें भटकते-भटकते मनुष्यकी पर्यायमें आया हूँ। मेरा कार्य तो सत्कार्यमें लगना है, मेरेको निन्दित कार्य नहीं करना चाहिए। इस तरहसे कोई स्वका अभिमान रखे तो उसे मान कषायमें भले ही थोडा बहुत कहलो, लेकिन वह मान कषायसे अलग चीज है। करे कोई तो ऐसा स्वाभिमान करे कि जिससे यह लोक भी पवित्र बने और परलोक भी पवित्र बने।

अपमानकरं कर्म येन दूरान्निषिध्यते।
स उच्चैश्चेतसां मानः परः स्वपरघातकः॥९७६॥

अपमानकरकर्मनिषेधक वृत्तिमें सत्य मानका दर्शन—जो उदार चित्त है, उच्चभाव वाला पुरुष है वह पुरुष अपमानजनक कार्योंको दूरसे ही छोड़ देता है। यही प्रशस्त मान है कि जहाँ अपमान करने वाले कार्योंका परित्याग हो जाय। अपना अपमान न हो ऐसा कार्य करके चलना चाहिए। अपना अपमान किसमें होता है? जहाँ विषय कषायोंसे दबे रहते हैं, कायर बन जाते हैं। वास्तविक शूरता ज्ञानबलसे प्रकट होती है, जिन भावोंमें परम प्रसन्नता नहीं उत्पन्न हो सकती, ऐसा जो कुछ विषय कषायका आक्रमण है, अशुद्ध भावोंमें जो हमारे चित्तका लगना है, यह है निज भगवानका अपमान। और इन कषायोंके वश होकर ऐसी चेष्टा बन जाती है कि जिसमें हो जाता है दूसरोंका अपमान। अथवा लोकमें मेरा अपमान हो ऐसे कार्य या पापके कार्य हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पापके कार्य अपकारक कार्य कहलाते हैं। ऐसे कार्य जहाँ निषिद्ध हो जाते हैं वही उच्च चित्त वालेका वास्तविक मान है। इसके अतिरिक्त अन्य जितने भी मान हैं वे स्वकी बरबादी करने वाले हैं और परका भी विनाश करने वाले हैं। जितनी भी खोटी प्रवृत्तियाँ होती हैं वे सब प्रवृत्तियाँ इन्द्रियजज्ञान द्वारा होती हैं। एकतरफसे व्याप्ति लगाना, तो प्रयत्न यह बताया गया है कि इन इन्द्रियज विषयोंको जीतो। कषायोंपर भी विजय होगी, अन्त आत्मदर्शन भी होगा। एतदर्थ करना क्या है? प्रथम इन इन्द्रिय विषयोंको दूर करना है। और, देखिये-जितनी विडम्बना की बातें बनती हैं उन विडम्बनाके कार्योंमें प्रबलता और प्राथमिकता हमारे मुख और आँख की है। आँखों से देखते हैं तो कितने ही अनर्थ कार्य बन जाते हैं। जब बाहरमें किसीको इष्ट अनिष्ट, अनुकूल प्रतिकूल देखा और मुखसे कुछ अटपट बोल दिया तो वह बोल झगड़ेकी जड़ बन जाता है। तो ज्यादह करके यह उपदेश होता है कि भाई मौनसे रहो। बाहर कुछ मत देखो अन्तरङ्गमें देखो तो ऐसा करना कोई कठिन न होगा। कर सकते हैं, इसके लिए हम आपको सहूलियत मिली हुई है कि मुखमें ओठोंका ढक्कन है।

नेत्रोंमें दोनों पलकोंका ढक्कन है। ओठोंको बन्द कर लिया तो बोलना बन्द, आँखोंके पलक बन्द कर लिए तो देखना बन्द, तो मौनसे रहो और नेत्र बन्द करलो। बाह्य वस्तुका अवलोकन छोड़कर विश्रामसे बैठ जावो, बाहरी ख्याल बन्द कर दीजिए, कुछ प्रक्रिया करके कुछ सहज रूपसे। उनके जाननेसे मुझे क्या फायदा? ये बाहरी बातें हैं, इनसे लाभ क्या है? भिन्न चीज हैं, साथ रहनेकी हैं नहीं, मिट जानेकी हैं, और लाभ भी क्या है? मुझे कुछ नहीं सोचना है। तो बाहरी ख्याल जहाँ बन्द होगा तो ज्ञान ठाली तो रहेगा नहीं। ज्ञान एक ऐसा गुण है कि वह ठाली नहीं रह सकता। यदि कोई गुण परिणमन न करे ठाली रह जाय तो वस्तु मिट जायगी। परका हम लगाव छोड़ें तो वहाँ होगा क्या? इस ज्ञान द्वारा सच्चे ज्ञानस्वभावमें प्रवेश होने लगेगा। निरन्तर चित्तमें जो बाह्य पदार्थोंको बसाये रहते हैं इससे हमारी बरबादी हो रही है। तो इस ज्ञानधाराको क्लियर (साफ) बनायें। चित्तकी सफाई यही है कि उसमें बाह्य पदार्थ न बसे हों। जैसे दर्पणमें दर्पणसे ही स्वच्छता आयी तो क्या वह कोई लदनेकी बात हुई? यदि दर्पणमें बाहरी पदार्थोंका प्रतिबिम्ब हो रहा तो वह लदा कहलाया। दर्पणमें निजी स्वच्छताका लदान क्या? ऐसे ही ज्ञानमें और अपने उपयोगमें इस समय इस छद्मस्थ दशामें जो बाह्य पदार्थोंको जानता है, सोचता है, ख्यालमें लेता है तो वह तो लद गया। तो अपने आपको भाररहित होकर ज्ञानमात्र अनुभवनेकी हमारी कोशिश होना चाहिए। ऐसे भावोंमें जो पुरुष आता है उसके मान कषायका क्या प्रसग? जिसमें अपना उत्कर्ष हो सो करें और जिसमें अपना अपमान हो ऐसा कर्म न करें, यह शिक्षा इस छन्दमें दी गई है।

क्व मानो नाम संसारे जन्तुव्रजविडम्बके।
यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्ठामध्ये कृमिर्भवेत् ॥६७७॥

विडम्बित ससारमें मानका क्या अवकाश—ससारके प्राणियोंको विडम्बनामें डालने वाली है यह मान कषाय। वह ससार है विडम्बनामय इस संसारमें मान नामकी चीज कहाँ? और उससे लाभ क्या? भला बतलावो इस प्राणीका मान है ही क्या? जो प्राणी राजा होकर विष्ठाका कीड़ा बन जाय ऐसी तो होरही है यह संसारकी दशा और यहाँ कर रहा हो कोई मान, तो उसके समान मूर्ख किसे कहा जाय? इस विडम्बनामय ससारमें जहाँ अद्भुत विडम्बनायें चलती हैं, जैसे अभी तो राजा है और मरकर बनगए विष्ठाके बीच कीडा तो जरा तुलना करो कि जब राजा थे तब क्या ठाठ था? निवासमें ठाठ, हुकूमत, तैल, सुगध, स्तुतियाँ आदि कितने-कितने ठाठ थे। कहाँ तो इन ठाठोंके बीच थे और कहाँ वही जीव अब विष्ठाके बीचमें कीडा बना हुआ है, तो जहाँ नृप भी कीडा बन सकता वहाँ ससारमें मानके लिए क्या अवकाश। किस बात पर मान किया जाय? कोई पुरुष बडा सेठ हो, धनिक हो और वह अगर किसी कलाकारसे कोई कला सीखना चाहता है मानो घडी बनानेकी कला सीखना चाहता है। और वह सिखाने वाला कोई गरीब, छोटा आदमी हो तो बिना उस कलाकारके साथ विनयका बर्ताव किए घड़ी बनानेकी कलाको वह सेठ सीख सकेगा क्या? अरे उस धनिक सेठको उस कारीगरके सामने नम्र होना ही पड़ेगा तभी वह उस विद्याको सीख सकेगा। तो हममें गुणग्राहिता आयगी नम्रताके कारण। नीति शास्त्रोंमें स्पष्ट कहते हैं कि विनयसे पात्रता और विनयसे ज्ञान और विनयसे अपने आपकी भावना बनती हैं। और, विनयोंमें मुख्य विनय है अविकार ज्ञानस्वभाव भगवन्त आत्मदेवकी सुध रखनेकी। तब जो विडम्बित पुरुष हैं, मिथ्यात्वग्रस्त हैं उनको यह बुद्धि नहीं उत्पन्न होती। वह तो पर्यायमें आत्मबुद्धि करके मान कषाय भी रखता है। इस छन्दमें बताया जा रहा कि भाई, यहाँ मान करनेका कोई ठिकाना नहीं। अभी तो मनुष्य है, यही जीव है और मरकर बन गए सब्जी भाजी तो क्या हाल होगा? जैसे पहिले समयमें जब सब सामान सस्ता बिकता था उस समयमें अगर कोई साग भाजी खरीदता था तो एक धेलामें ढेरों (बहुत) साग भाजी मिल जाती थी। एक धेलामें बहुत सी साग

भाजी खरीद लेनेके बाद खरीदने वाला कहता था कि इसके साथ अभी रूगन और दो। तो रूगनमें एक मुट्ठी भाजी और डाल दी जाती थी। तो रूगनमें क्या आया ? अगर वह भाजी अनन्तकाय हुई तो उसमें अनन्त जीव आ गए। तो दमरी रूगन भाव बिकाया। ऐसा दमरियोंके भावसे खरीदा हुआ भी यह जीव बना। यहाँ मान किस बातका ? आँखोंसे जो कुछ दिखाता है वह सारा मिथ्या जाल है इसमें तत्त्व कुछ नहीं, सार कुछ नहीं। वास्तविकता कुछ भी नहीं, परमार्थता कुछ भी नहीं है। पर्याय है, विनाशीक है, नष्ट होने वाली है, मानका यहाँ क्या अवकाश ?

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः ॥६७८॥

मायाकषायकी अविद्याजन्मभूमिता अकीर्तिवासमन्दिरता व पापपङ्कमहागर्तरूपता—जैसे मानकषाय विडम्बना वाली बात है वैसे ही माया कषाय भी बडी विडम्बनाकी चीज है। दृष्टियोंसे देखें तो हर एक कषाय हर एक से वडा विकट कठिन जचा करता है, जैसे कहा कि इससे बडा यह, इससे बडा यह। दो पुरुष एकसे हैं तो उनका परिचय कैसे दिया जायगा ? इससे यह बड़ा है, इससे यह बड़ा। तो बडा कौन निकला ? सभी बडे बन गए। ये चारों ही कषायें बडी विकट है और इस जीवको बरबाद करने वाली हैं। अब माया कषायका बर्णन चल रहा है ना, तो अब मायाकी बात देखो-इसमें बड़ी विडम्बना है। मायाचारी पुरुषके हृदयमें धर्म का सूत जरा भी नहीं जा सकता। जैसे मालाके मोतीमें सूत पिरोया जाने वाला छिद्र टेढ़ा हो गया है तो उसमे सूत नहीं पिरोया जा सकता। उस मोतीके दानेको हटाना ही पड़ेगा, वह मालाके काम नहीं आ सकता। ऐसे ही जिसका हृदय मायासे कुटिल हो गया उस हृदयमें धर्मकी बात नहीं समा सकती यह माया तो अविद्याकी भूमि है। जैसे भूमिमें अंकुर उत्पन्न होते हैं ऐसे ही मायामें अविद्या, अज्ञान, कुबुद्धियाँ जगती रहती है। मनमें और, वचनमें और, करे कुछ और। इसे कपटबुद्धि बताया है। कपटकी पहिचान यह है कि उसे छुपानेकी पडती है। चीज छिपावे, बात छिपाये, तो यहाँ मायाचार करके कोई किसीको क्या ठग पायगा, अरे वह तो खुदको ही ठगा जा रहा है। तो यह माया अविद्याकी जन्मभूमि है और अकीर्तिनिवास मन्दिर है। वहाँ कीर्ति क्या है ? अपमानका घर है, और पापरूप कीचडका भारी गड्ढा है। जैसे कीचडका गड्ढा ऊपरसे पत्तियोंसे गर्दा मिट्टीसे ऊपरसे ढक जाय और उसपर कोई पैर रख देगा तो वह पैर तो उस कीचड़में घुस ही जायगा, ठीक ऐसे ही मायाचारी की गई बातें ऊपरसे देखनेमें बडी सुहावनी लग रही हैं लेकिन उस मायाचारीके भीतर तो पापरूपी कीचड भरा हुआ है। उसके फंदेमें जो पड़ जायगा वह भी उसके पाप कीचडसे पापिष्ठ, मलिन, गंदा बन जायगा। विद्वान पुरुषोंने इस मायाको इतना निकृष्ट बताया है। इस माया कषायसे तो इस जीवका पतन ही है। यहाँ मायाचारी किस लिए की जाये ? अरे यहाँकी ये दिखने वाली चीजें सब विनाशीक हैं। मायारहित होकर साफ चित्त होकर, बडी सरलतासे इस मायाकषायको दूर करनेका प्रयत्न हमें करना चाहिए। यहाँ तो सब दिखने वाली चीजें मायामय हैं, यह सब पुण्य पापका खेला है, ये यदि आते हों तो आयें और जाते हों तो जायें। इनके पीछे क्या मायाचार करना ? इस माया कषाय को छोड़ने में ही अपनी भलाई है।

ऊर्गलेवापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः ।
शीलशालवने वह्निर्मायेयमवगम्यताम् ॥६७९॥

अपवर्गार्गला, श्वभ्रवेश्मपदवी व शीलशालवनाग्नि मायाकषाय—माया कषाय मोक्षको रोकनेके लिए अर्गला की तरह है। जैसे दरवाजेके किवाड बन्द करके उसके पीछे अर्गला कर दी जाती है। याने पीछे एक लट्ठ लगा दी जाती है जिससे किवाड खुल न सकें। इसी प्रकार यह मायाचार मोक्षरूपी द्वारको बन्द करने

अर्गलाकी तरह काम करता है। माया हो तो मोक्षमार्गमें प्रवेश नहीं हो सकता। मोक्षमार्ग क्या है? उपयोग विशुद्ध होना, जहाँ रागद्वेष न रहे और एक ज्ञानज्योतिका अनुभव रहे ऐसी स्थिति है। वह है कर्मोंसे छूटने का उपाय, लेकिन जिस पुरुषके माया कषाय जग रही है उस पुरुषके उपयोगमें विशुद्धि कैसे आ सकती है? तो यह मायाचार मोक्षद्वारको रोकनेके लिए अर्गलाकी तरह है। यह माया नरकके महलका द्वार है। जैसे किसी महलमें द्वारसे प्रवेश किया जाता है इसीप्रकार मायाकषायमें रम करके माया कषायके द्वारसे नरकमें प्रवेश होता है। याने नरक जाता हो तो उसके द्वारसे होकर चले जाइये। कौनसा है द्वार नरकका? यह माया कषाय जो छल कपट रखता है वह नरकगतिका पात्र होता है, यह इसका भाव है। यह माया कषाय शीलरूपी वृक्षके लिए अग्निकी तरह है। जैसे आग उत्तम वृक्ष वाले वनको भस्म कर देती है इसी प्रकार यह मायाकषाय इस शीलको भस्म कर देती है। इस माया कषायको अनर्थ जानकर उसका परित्याग करना चाहिए। जो अज्ञानमें अधा है उसी पर ही मायाका आक्रमण होता है। जिसके भीतर ज्ञानज्योति जागृत है, जिसके यह निर्णय बन चुका है कि जगतके किसी पदार्थसे, किसी विषयसे, किसी साधनसे मेरे आत्माका क्या हित है? बाह्य समागमोंसे मेरे आत्माका भला नहीं होता-इसलिए बाह्य पदार्थकी तृष्णा करना व्यर्थ है। ऐसा जिसके निर्णय है वह माया कषायपर विजय आसानीसे कर सकता है। और, जिसे सांसारिक मायामय पदार्थोंमें इच्छा लगी हो, प्रतीति बनी हो-इससे ही मेरा कल्याण है, इससे ही मुझे सुख है, वह उनके प्रति नाना प्रकार की माया करेगा ही। मायाका कारण बाह्य पदार्थोंका लोभ मात्र ही नहीं है, किन्तु अपने आपकी पर्यायबुद्धि भी मायाका कारण बनती है। यह मैं हूँ, पर्यायको निरखकर देख रहा कि यह मैं हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं बहुत कुशल हूँ, मैं बड़ा पुजारी हूँ, धर्मात्मा हूँ, बस ऐसी जो एक पर्यायमें आत्मतत्त्वकी प्रतीति की, यह मैं हूँ, उसके मायाचार बन जाता है। जैसे अभी जल्दी-जल्दी पूजन कर रहे थे, दो चार आदमी देखने लगे तो बडी विधि और संगीतसे खूब गान-तान करने लगे। अथवा पहिले तो जैसा चाहे बैठे सामायिक कर रहे थे। कोई एक दो आदमी सामने खड़े हो गए तो झट सावधान (Attention) हो गए। इस तरह मायाचार केवल एक बाह्य पदार्थके लोभमें नहीं किन्तु जब आपकी किसी भी पर्यायमें आत्मबुद्धि हुई तो वह भी माया का रूप बन जाता है। तो यह माया जाल अनेक अनर्थोंका मूल है अतः इसका परित्याग करना चाहिए।

कूटद्रव्यमिवासारं स्वप्नराज्यमिवाफलम्।
अनुष्ठानं मनुष्याणां मन्ये मायावलम्बिनाम् ॥९८०॥

मायावलम्बी मनुष्योंके अनुष्ठानकी निःसारता—मायाका आलम्बन करने वाले पुरुषोंका अनुष्ठान ऐसा है जैसे कि कूटद्रव्य असार है। इसके अर्थमें हिन्दीकारने लिखा है निर्माल्यद्रव्य। निर्माल्य द्रव्यके समान असार समझिये मायाचारी व्यक्तिके अनुष्ठान कर्तव्योंको। निर्माल्य द्रव्य कैसे असार है? जैसे निर्माल्य द्रव्य अपने किसी कामका नहीं है। वह तो है, पड़ा है, उसे अपना न सके, उसे खा न सके, उसे अपने उपयोगमें न ले सके। निर्माल्य द्रव्य किस कामका? जैसे वह अपने काम न आयगा अतएव असार है इसीप्रकार मायाचारी पुरुषोंका धार्मिक अनुष्ठान भी असार है। असार किसे कहते हैं? जो अपने काम न आये वह ही असार है। जैसे ससार असार है, यह आत्माके काम नहीं आता। तो धार्मिक मन्दिरोंका सस्थाओंका द्रव्य भी असार है क्योंकि वह अपने काम नहीं आनेका। इसी प्रकार निर्माल्य द्रव्य भी असार है। जो मन्दिरमे द्रव्य वगैरह चढ़ा दिए गए उन्हें फिर कौन अपने काममें लेता? जो द्रव्य मन्दिरोंमें चढाया जाता है तो उसको लेनेवाला माली है। उसको देनेके बदलेमें मन्दिरकी झाड़ू बोहारी सफाई आदिका काम कराते हो तब वहाँ समझना कि हमने इस चढ़ाये हुए द्रव्यको स्वीकार किया। ऐसे उस द्रव्यको कोई नहीं स्वीकार करता। तो जैसे यह निर्माल्यद्रव्य असार है, इसी प्रकार मायाचारीका अनुष्ठान भी असार है। अथवा जैसे

स्वप्नमें पाया हुआ राज्य फलहीन है उसीप्रकार मायाचारी पुरुषके द्वारा किया गया धर्मकार्य भी फलहीन है। देखो-स्वप्न तो प्राय सभीने देखे होंगे, जरा स्वप्नकी घटनाका अंदाज करिये जिसने स्वप्नमें राज्यसुख पाया, बड़ाधन वैभव आदिकका ठाठ पाया तो क्या वह उसे मिल गया ? अरे वह तो स्वप्नका राज्य है। वह तो निष्फल है, इसीप्रकार मायाचारी पुरुषका भी धर्म निष्फल है। बल्कि स्वप्नमें राज्यसुख भोगने वाला तो जितने समयतक स्वप्नदशामें है उतने समय तक तो वह कुछ मौज मानता ही है; कुछ तो वह प्रसन्नतामें रहता ही है; पर मायाचारी पुरुष तो उन धार्मिक अनुष्ठानोंमें भी हर समय अप्रसन्न रहता है। उसके अन्दर निर्मलता नहीं आती, उसमे भय बना हुआ रहता है, तो धार्मिक अनुष्ठान मायाचारी पुरुष करे तो वे निष्फल हैं। तो फिर ऐसी मायाचारी क्यों करना ? यहाँ एक बात और विशेष समझना कि धार्मिक कर्तव्योंके प्रसंगमे क्रोध जगे, मान जगे, माया जगे, लोभ जगे तो ये तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाते हैं। घर गृहस्थीमें रहकर, दूकान व्यापारमें रहकर-मायाचार होता रहता है वह भी बुरा है। पूजापाठमें, ध्यान स्वाध्यायमें, व्रत तप सयममें या अन्य बातोंमें कोई मायाचार करे तो यह मायाचार तो उन व्यापार आदिकके सिलेसिले में होने वाले मायाचारोंसे तीव्र है या नहीं ? तो जो मायाचारका आलम्बन लेकर धार्मिक अनुष्ठान करता है उसका सब अनुष्ठान नि सार है।

लोकद्वयहितं केचित्तपोभिः कर्तु मुद्यताः ।
निकृत्या वर्तमानास्ते हन्त हीना न लज्जिताः ॥६८१॥

तपश्चरणोद्यत बनकर भी मायाचारी होजानेपर उनकी हीनताका कथन—कोई पुरुष तपश्चरणका संकल्प करके, महाव्रतको धारण करके हितकी साधनाके लिए उद्यमी तो हुए पर खेद इस बातका है कि वे मायाचार सहित रहतेहैं तो वे हीन हैं, नीच हैं और निर्लज्ज हैं। निर्लज्ज याने मायाचारसहित प्रवृत्ति होरही है सो हीन तो हो ही गया और साथ ही साथ लज्जाविहीन भी हो गया। यह लाज भी न रही कि मैंने क्या व्रत धारण किया, मैंने क्या तपश्चरणका संकल्प किया। और, मैं अब किस आचरणसे चल रहा हूँ। तो मायाचारसहित पुरुषोंको ये व्रत संयम, तपश्चरण आदिक सब निष्फल हैं, इतना ही नहीं, किन्तु खोटा फल देनेवाले हैं। याने तपस्वी होकर यदि हम मायाचार रखेंगे तो हमें लोग क्या कहेंगे। इतनी भी लाज जहाँ नहीं रहती है ऐसे विशेष मायावी पुरुषोंका तपश्चरण धार्मिक अनुष्ठान निष्फल ही गया, सो तो गया, साथ ही खोटा फल प्रदान करनेवाला है। जब ज्ञानमें कोई शुरू-शुरूमें प्रवेश करता है तब इतना विशुद्ध भाव रहता है कि मैं इस ज्ञानका सम्पादन करूं, पर जब ज्ञानमे वह कुछ बढ़ जाता है तो फिर उसको ज्ञानकी रुचि नहीं रहती है। पा लिया ज्ञान, पर ज्ञानका उपयोग, ज्ञानका सदुपयोग करनेकी रुचि नहीं जगती है। तो देखो ज्ञान रुचि प्रवेशके समय तो थी, पर जब कुछ आगे बढने लगे तो फिर ज्ञानकी रुचि नहीं रहती। प्रायः ऐसा ही देखा जाता है। अभी आप छोटे-छोटे बच्चोंको ही देख लीजिए-प्रारम्भमे वे कितना ज्ञान सीखनेके इच्छुक रहते हैं, पर जब वे कुछ बडी कक्षाओंमें पहुच जाते हैं तो उनको ज्ञान बढ़ानेकी रुचि नहीं रहती। बस किसी तरहसे पास हो जावें, यही उनके मनमें रहता है। व्रतोंके प्रसगमें भी यही बात समझिये। पहिले शुरू-शुरूमे तो व्रतोंके पालनमें खूब रुचि रही, खूब निरतिचार पालन करते रहे, पर कुछ समय बाद व्रती होने पर फिर उसकी ओरसे प्रमाद हो जाता है। और इसके लिए अधिक क्या कहें, इसकी गवाही तो करणानुयोग तक भी दे रहा है। जब किसी व्रतका प्रारम्भ होता हो वहाँ तो बता दिया असख्यातगुणी निर्जरा और जब व्रत धारण कर लिया उसके बाद फिर जो शेष जीवन चलता है सयममें वहाँ निर्जरा कुछ तो है, किन्तु गुनी निर्जरा नहीं है जो सच्चाईके साथ प्रवेश करते हैं उनको हानि नहीं होती है, कैसा भी कुछ हो। लेकिन, जहाँ मायाचार साथमें आजाता है तो मायाचारी पुरुषका तो एकदम ही पतन हो जाता है।

अल्प भी मायाचारकी प्रकृति न बनानेकी शिक्षा—मायाचार हम घरमें भी न करें, व्यापारमें भी न करें।

कहीं थोड़ा भी मायाचार न करें, क्योंकि कहीं थोडा मायाचार किया तो उसकी आदत वन जाती है और आदत बननेसे फिर धार्मिक कार्योंके प्रसंगमें भी मायाचार चलने लगता है। इससे हमें इतना सावधान रहना चाहिए कि हम घरमें बच्चोंके साथ भी मायाचार न करें। क्या जरूरत है मायाचारकी ? इसीलिए तो मायाचार किया जाता है कि घरमें अगर इसे बता देंगे कि इतना धन है और अमुक जगह धन है तो ये घरके लोग छुडा लेंगे, या ये लोग हैरान करेंगे। यों मायाचार करके कोई लोग धन छिपाते हैं, रक्षासे छिपानेकी बात और है। मायाचार किसे कहते हैं ? यह तो दिल गवाही देदेता है। डाकू, चोर आदिकसे रक्षाके लिए धनको छिपाकर रखना यह तो मायाचारी नहीं है। दिल सब गवाही दे देता है कि यह मायाचार है अथवा नहीं। यहाँ घर गृहस्थी व्यापार काम काज आदिके प्रसंगोंमे किसी भी काममें मायाचार न करें, क्योंकि वह मायाचार बढ-बढ़कर जीवन भरके लिए कटक वन जायगा।

मुक्तेरविप्लुतैश्चोक्ता गतिरृज्वी जिनेश्वरैः।
तत्र मायाविनां स्यातु न स्वप्नेऽप्यस्ति योग्यता ॥६८२॥

मुक्तिके सरल मार्गमे भी स्थित हो सकनेकी मायावियोमें योग्यताका अभाव—मुक्तिकी प्राप्ति तो सरल है ऐसा जिनेश्वर देवने कहा है मुक्तिकी गति, मुक्तिका मार्ग पानेका रास्ता तो सीधा सादा है। उसको पानेकी योग्यता, उसमें स्थिर रहनेकी योग्यता मायाचारी पुरुषोंमें स्वप्नमें भी नहीं हो सकती। यहाँ यह बात वतलाया है कि मुक्ति पानेकी विधि सीधी सादी है और ससारमें रुलनेकी विधि तो टेढी-टाढी है। सीधी तो सरल होती है। टेढी कठिन होती है, संसारमें रुलनेका मार्ग कठिन है। कैसे कठिन और कैसे सरल ? मोक्षमार्ग सरल यों है कि वहाँ बात एक है, आत्मा है, वह जैसा अपने आप है, जैसा उसका अपने आपका स्वरूप है वैसा रहना, वैसा समझना, वैसी दृष्टि होना, वह स्वाधीन है, सरल है, निजी चीज है, अपने आपका स्वरस है इसलिए सरल है और संसार कठिन है, इसके लिए उल्टा भाव बनाना पड़ता, कषायें बनानी पड़ती। सहजसिद्ध अन्तस्तत्त्वमे जो नहीं है, जो मेरे स्वरूपमें नहीं है उस रूप प्रवृत्ति करें तो यह मामला टेढ़ा हो गया, लेकिन खेद है कि टेढ़ा तो वन रहा सरल और सरल वन रहा कठिन। अब देखो इस दृष्टिसे तो कोई सिद्धको भी चेलेञ्ज दे सकता है कि हे सिद्ध भगवान ! तुम क्या कर रहे ? सीधा सादा काम कर रहे। उसमें क्या चतुराई ? देखो हम कितना कठिन टेढ़ा काम कर रहे, कभी मनुष्य बनते, कभी पशु पक्षी कीट पतिंगा आदि बनते, कभी नरक निगोदकी योनियोंमें जाते, देखिये कितने ही नाटक करके हम लोग दिखा देते हैं। अभी तो मनुष्य हैं, कहो यहाँ से मरकर कीडा वन जायें कहो अन्य कोई पर्याय वाला बन जायें तो देखिये भगवान ! हम ससारी जीव तो अपनी कलायें दिखानेमें कितने कुशल हैं, तो टेढ़ मेढ़ा काम तो हम ससारीजनोंका है और आपका काम तो बिल्कुल सीधा-सादा है।

परमात्मत्वप्राप्तिका सीधा सरल काम—प्रभु परमात्मा बन गए, जो थे सो ही बन गए। उसमें किसी चीजको लगाने लिपटानेकी जरूरत है क्या ? परमात्मा होनेका क्या विधान है ? क्या वन गया परमात्मा, जैसे यहाँ कोई दुर्गा, काली वगरहकी मूर्ति बनाता है, बंगालमें इसका रिवाज ज्यादह है, तो बहुत घास-फूससे ढाँचा बनाया जाता है और उसके ऊपर मिट्टीका लेप किया जाता है और ऐसी सुन्दर मूर्ति वे बना लेते हैं कि दूरसे देखने वाले लोग तो यही समझेंगे कि यह सचमुच ही देवी हैं। तो उस मूर्तिमें कितना लाग लपेट किया जाता है ? घास, मिट्टी, रंग और जो-जो कुछ भी लगता हो तो यह वतलाओ कि परमात्मा बननेके लिए क्या किया जायगा ? क्या कोई लाग लपेट किया जायगा ? अरे वहाँ लाग लपेटका तो नाम ही नहीं है, वरिक वहाँ तो हटाने का नाम है। लगानेका कोई नाम नहीं है। परमात्मा बने गए तो कोई नई चीज बन गई क्या ? जो आत्मा था स्वयं सहज स्वरूप, उस स्वभावमें वह ज्योंका त्यों प्रकट हो गया। यही तो परमात्मपदकी बात है। तो उसमें कुछ दूसरी चीजको लगानेकी बात है क्या ? जो था स्वभाव, वह है। वह

प्रकट हो गया। और फिर तपश्चरण करनेवालेने, साधना करनेवालेने क्या किया ? किया यह कि जो परभाव हैं, पर चीज हैं, पर संग है उनको हटाया। विषय कषाय, रागद्वेष आदिक जो भाव हैं ये परभाव हैं, पर प्रसंगसे हुए हैं इनको हटायें। हटानेका काम तो हुआ और लगानेका काम कुछ नहीं हुआ। लो परमात्मपद ऐसा सीधा-सादा सरल है। पर मोक्षमार्गमें मायावी पुरुषोंकी स्वप्नमें भी योग्यता नहीं हो सकती।

व्रती निःशल्य एव स्यात्सशल्यो व्रतघातकः।
मायाशल्यं मतं साक्षात्सूरिभिर्भूरिभीतिदम् ॥६८३॥

मायाकी शल्यरूपता—व्रती पुरुष निःशल्य ही होते हैं। शल्य बतायें हैं तीन-माया, मिथ्या और निदान। कषायोंमें कौन सी कषाय शल्य है ? माया कषाय। देखो क्रोध, मान और लोभ कषायें भी जबरदस्त हैं फिर भी शल्य मायाकषायको ही कहा है। छल-कपट एक बहुत बुरी शल्य है। और, लोग ऐसी कोशिश भी करते हैं कि मेरी यह शल्य प्रकट न हो जाय, मेरी यह माया प्रकट न हो जाय तो लो शल्य ही तो है। उससे दुःखी भी हो रहे हैं और उस शल्यको प्रकट न करनेके लिए एक शल्य और लगी भई है। शल्योंमें शल्य, इसकी परम्परा चलती रहती है, यह विकट शल्य है। दसलक्षणके दिनोंमें लोग हरी नहीं खाते और बुन्देलखण्ड वगैरहमें ऐसा कुछ रिवाजसा है कि उन दिनों बच्चे लोग भी हरी नहीं खाते। मानलो किसी बच्चेने ककड़ी खा ली हो तो जब सब बच्चे बैठे हों और कोई बच्चा सरे बच्चेसे झूठ-मूठ ही कह देता है कि देखो तुम्हारे मुखमें तो ककडीका बीज लगा है। तुमने जरूर कहीं न कहीं हरी (ककडी वगैरह) खाली है, तो जिस बच्चेने ककडी छिपकर खा लिया हो वह बच्चा अपना मुख पोछने लगता है। लो उस बच्चेकी वह माया प्रकट हो जाती है। यह तो एक छोटी सी बात कही पर इससे समझो कि मायाचार करनेवाले की यह माया कभी न कभी प्रकट ही हो जाती है। यह माया कषाय इतनी बड़ी शल्य बन जाती कि इस जीवके काँटेकी तरह चुभती रहती है। तो ऐसी शल्योंसे जो सहित है वह व्रती कैसा ? एक कथानक है कि एक मुनि महाराजने १ माह तक उपवास किया और पारणाके दिन वह किसी दूसरी जगह प्रस्थान कर गए। इस बातकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई। वहीं किसी पासके गाँवमें एक कोई दूसरे मुनि महाराज आये तो लोगोंने यह समझकर कि वही मुनिमहाराज हैं जिन्होंने एक माहका उपवास किया था, उनकी प्रशंसा कर दी कि धन्य है इन मुनि महाराजको, इन्होंने एक माहका उपवास किया। सभीके मुखसे उन मुनिराजके प्रति प्रशंसात्मक बातोंको सुनकर वे मुनिराज बहुत हर्ष मान रहे थे। उनमे इस तरहकी मायाचारी आ गई कि अपनी वास्तविकताको वे लोगोंके सामने व्यक्त न कर सके। बस इस मायाचार के फलमे वे दुर्गतिके पात्र बने। इस माया कषायको साक्षात शल्य कहा है क्योंकि यह माया जीवको अत्यन्त भय देने वाली है। इस माया कषायका फल तिर्यञ्च गतिमें उत्पन्न होना बताते हैं। तिर्यञ्च जीव सभी मायाचारी होते हैं। कुछ तिर्यञ्च जैसे बिल्ली, छिपकली, कुत्ता, आदि तो स्पष्ट मायाचारी दिखते हैं। बिल्ली तो चूहा पकड़ते समय ऐसी छिपकर बैठ जाती है जैसी मानो गुमिका रूप रखकर बैठी हो। ये गाय, भैंस वगैरह पशु भी मायाचार से भरे हुए होते हैं, पर इनकी मायाचारी मोटे रूपसे लोगोंको समझमे नहीं आती। इस मायाकी मायाको समझना कोई सरल बात नहीं है। इन जीवोंके भी भीतरमे किस तरहकी बात चलती है, कैसा भाव होता है सो उन्हें वे ही भोगते हैं। तो इस मायाको दुर्गतिका कारणभूत, दुःखरूप व भय प्रदान करने वाला ऐसा एक खोटा संस्कार समझो।

इहाकीर्तिं समादत्ते मृतो यात्येव दुर्गतिम्।
मायाप्रपञ्चदोषेण जनोऽयं जिह्मिताशयः ॥६८४॥

मायाप्रपञ्चसे इस लोकमें अकीर्ति व परलोकमें दुर्गति—इस माया कषायके दोषसे खोटे अभि[illegible]

मनुष्य इस लोकमें तो अपयशको प्राप्त होते हैं और मृत्यु होनेपर दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। मायाचारीकी माया बहुत काल तक छिपी नहीं रहती। लोगोंको कुछ न कुछ प्रकट हो जाती है। और माया प्रकट हुई एक बार कि बस उसका सारा यश धूलमें मिल जाता है और उसका अपयश होता है। कपटी पुरुषसे तो लोग बचकर रहा करते हैं, इससे अधिक सम्बध न रखो, न जाने कब कैसी विपत्ति इससे आ जाय। तो मायावी पुरुषोंको इस लोकमें तो अपयश प्राप्त होता है और मरण करने पर उसे दुर्गति प्राप्त होती है। अपनी सृष्टि अपनी दृष्टिके आधारपर है। भीतरमें जैसा भाव चल रहा है तत्काल भी वैसी ही सृष्टि होती रहती है और जो कर्मबन्ध हो रहा है उसके अनुसार आगेकी सृष्टि भी इसकी चलेगी। तो जब हम केवल भावके अधिकारी हैं, भावना ही कर पाते हैं, और कुछ तो कर ही नहीं सकते। बाकी यह तो भ्रम है कि मैं यह भी कर देता हूँ, मैं यह भी कर देता हूँ, मैं तो अपने आपमे भावना बनाता हूँ। जब भावनापर ही मेरा अधिकार है, तो फिर ऐसा प्रयत्न करें कि अपनी शुद्ध भावनायें बनायें। ऐसा सग बनायें कि जिसमें शुद्ध भाव रहे, ऐसा अपना सहवास बनायें कि जिससे अपने खोटे भाव न बनें, अन्य समस्त बाह्य आलम्बनोंका त्याग करें। जिसमे हमारी भावना शुद्ध बने ऐसा ही करना हमे उचित है और उसमें ही हमें लाभ है। माया करके किसीको अगर ठग लिया तो उसे क्या ठगा ? खुदको ठगा। उसका तो कोई थोडा ही नुकशान होगा, पर खुदका तो ऐसा कर्मबन्ध कर लिया कि जिससे दुर्गतिके पात्र बने। तो इस मायाके फलमें इस लोकमे अपयश होता और मरनेके बाद दुर्गति प्राप्त होती।

छाद्यमानमपि प्रायः कुकर्म स्फुटति स्वयम् ।
अलं मायाप्रपञ्चेन लोकद्वयविरोधिना ॥८८५॥

छिपानेकी कोशिश करनेपर भी मायाचारकी प्रकटता—माया कषायको करने वाला पुरुष अपनी मायाको कितने ही ढंगसे ढाकनेकी कोशिश करे, लेकिन उसका मायाचार स्वयं प्रकट हो जाता है। यह मायाचार इहलोकका और परलोकका दोनोंका विरोधी है। दुनियामें अहित करनेवाला है यह मायाचार, इस मायाचार को वश करना चाहिए। जैसे कोई किसी कपटधारीसे ऊब जाय तो वह कहने लगता है कि बस करो, अब मुझे जरुरत नहीं है, ऐसा यह मायाप्रपंच जो सुहावना लग रहा है, जिसका अनुराग जग रहा है, लेकिन स्वय दु खमें पड़ा है और दूसरोंको दु खमे डालता है ऐसे मायाचारी पुरुषसे अपना कुछ प्रयोजन न रखें। मायाचार कुछ दिन तक तो छुपा रह सकता है लेकिन कोई मायाचारकी प्रकृति रखें तो वह छुप नहीं पाता और बल्कि उसीसे स्वय जाहिर हो जाता है। एक बार विद्यार्थी अवस्थामें किसीने किसीकी चीज चुराली। उसने अध्यापकसे शिकायत की कि हमारी यह चीज गुम गई तो अध्यापकने क्या किया कि एक अलग कमरेमें एक डडेमे थोडा कपड़ा बाँधकर उसमें कोई दुर्गन्धित तेल लगाकर सब लड़कोंसे कहा कि देखो तुम सभी विद्यार्थी बारी-बारीसे इस डंडेको छूते जावो। जिस लड़केने उस चीजको चुराया होगा उस लडके का हाथ इस डडेमें चिपक जायगा, याने यह डडा उस चोरी करनेवालेका हाथ पकड़ लेगा। तो सभी विद्यार्थी बारी-बारीसे आकर उस डडेको छूने लगे। अध्यापक देख रहा था तो जिस विद्यार्थीने उस चीजको चुराया था उसने उस डंडेको छुवा ही नहीं, यों ही डडेके पास हाथ ले जाकर वापिस कर लिया। बस अध्यापकने चोरी करने वालेको पकड़ लिया। और भी ऐसी अनेक घटनायें हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मायाचारी छिप नहीं सकती, कभी न कभी प्रकट हो जाती है।

मायाचारसे मूढ होकर स्वयंके द्वारा भी मायाचारकी प्रकटता—एक ऐसा ही कथानक है कि एक राजा अपने ही बागमें घूमता हुआ सेवके पेडके नीचे पहुँच गया। वहाँ गोबरसे भिडा हुआ एक बडा ही सुन्दर सेव नीचे पड़ा हुआ था, उसे राजाने उठाकर पोंछकर खा लिया, पर उसे यह शल्य लगी रही कि कहीं कोई

हमें इस तरह से खाता हुआ देख न ले। राजा लोगोंको इस तरहसे खाना शोभनीय थोड़े ही हैं, उन्हें तो सजी सजाई सुन्दर थालीमें विधिपूर्वक भोजन करना चाहिए। राजा महाराजाओंका जिस ढंगसे भोजन करना योग्य है उस ढंगसे भोजन करना चाहिए। खैर राजा अपने दरबारमें आया, उसे कई दिनों तक यह शल्य लगी रही कि कहीं किसीने हमें सेव उठाकर खाते हुए देख तो नहीं लिया। वह अपनी इस बातको छिपाये हुए था, पर एक दिन हुआ क्या कि उस दरबारमें एक नर्तकी नृत्य गायन कर रही थी। उसने बहुतसे अच्छे-अच्छे गीत गाये, पर राजाने कोई इनाम न दिया। एक बार नटनीने ऐसा गीत गाया जिसकी टेक थी "कहि देहौं ललनकी बतियां" इस टेकको सुनकर राजाने सोचा कि शायद इसने मुझे बागमें सेव उठाकर खाते हुए देख लिया है इसलिए कह रही है कि मैं ललनकी उस बातको लोगोंको बता दूंगी। सो इस बात को छिपानेके लिए उसने नर्तकीको एक गहना उतारकर दे दिया। उसका प्रयोजन व संकेत यह था कि मेरी उस बातको लोगोंके सामने कहना नहीं, नहीं तो हमारी हंसी होगी। उधर नर्तकीने सोचा कि मेरे इस गीतपर राजा प्रसन्न हुआ है इसलिए बारबार वही गीत गाये "कहि देहौं ललनकी बतियाँ" राजा बार-बार अपना कोई न कोई गहना उतारकर देता गया। सभी गहने उतर जानेके बाद भी जब उसने यही गाया तो राजा परेशान होकर झुझलाकर कह उठा अरे जा, कह देगी तो कह दे, यही तो कहेगी कि राजाने बगीचेमें गोबरसे भिडा हुआ सेव उठाकर खाया था। लो राजाकी मायाचारी प्रकट हो गई। तो मायाचारी कोई कितनी ही करे, पर प्रकट हुए बिना नहीं रह सकती। आखिर सभी लोगोंके पास ज्ञान है, समझ है, पर सज्जनता वश कुछ कहते नहीं। इससे क्या, लेकिन अपने सुधारके लिए अपने हृदयको इतना सरल सीधा बनायें कि यहाँ मायाचार मत करें। क्या जरूरत पड़ी है मायाचारकी। जब सारी सम्पदा मुझसे भिन्न है, और मेरे किसी काम आनेकी नहीं है, ये धन, सम्पदा, कुटुम्ब, परिवार ये कुछ भी मेरे काम आनेके नहीं हैं अथवा इन्द्रियके विषय साधन ये आत्माके काम तो क्या आये, उल्टा बरबादीके ही कारण बनते हैं तब फिर मुझे क्या पड़ी है किसी बातके लिए मायाचारी करनेकी ? ऐसा विवेक करके इस मायाचारको हृदयसे निकाल दें।

क्व मायाचरणं हीनं क्व सन्मार्गपरिग्रहः।
नापवर्गपथि भ्रातः संचरन्तीह वञ्चकाः ॥१८६॥

मायाचारी पुरुषोंद्वारा मोक्षमार्गमें संचरणकी असंभवता—देखो दोनों स्थितियोंमें कितना अन्तर है। एक स्थिति तो है मायाचारकी, मायारूप हीन आचरण करना, छल-कपट करना, मनमें और, वचनमें और, करे कुछ और कहां तो मायारूप तुच्छ आचरण और कहाँ महाव्रतकी स्थिति बन जाना, बड़े व्रत तप आचरणका ग्रहण करना। यह ग्रन्थ साधुजनोंकी मुख्यतासे समझानेके लिए बना है। तो सबसे बड़ी व्रतकी बात कही जायगी। कितना अन्तर है कि कहाँ तो बड़े भारी व्रतका ग्रहण करना और कहाँ मायाचाररूप आचरण करना। क्या कुछ मेल भी बैठता है ? जैसे कोई कहे कि आटेमें नमक जैसा, तो फब जायगा। जैसे कहते हैं कि आजकल सरकारी कानून अधिक खराब बने हैं तो टैक्स वगैरह बिना काम ही अफसर अधाधुंध लगा देते हैं। अगर कोई टैक्स ठीक देनेकी दृष्टिसे कुछ लेखा जोखा गलतरूपमें रखे तो कितना गलत रख सकता है ? अरे आटेमें नमक जैसा गलत तो फब सकता है। पर कोई चाहे कि बिल्कुल ही गलत दिखावे, तो वह फबेगा कैसे ? ऐसे ही यहाँ कोई महाव्रत और संयमकी स्थितिमें कुछ जरासा हीन आचरण रखेगा तब तो वह फब सकता है, पर कोई बिल्कुल ही मायाचारकी प्रवृत्ति रखे, अपने संयममें बिल्कुल ही शिथिलाचरण करे तो वह कहाँसे फब सकता है ? सो हे भाई जिन्होंने महाव्रत धारण किया है उनके तो जरा भी मायाचार न होना चाहिये। जो मायाचारी है वह मोक्षमार्गमें कभी विचरण नहीं कर सकता। मोक्षमार्ग याने शान्तिमार्ग, उन्हें शान्ति कहाँसे मिल सकती, जहाँ कुटिल भाव आ गया, यह भी भाव आ जाय कि मैं लोगों को, भक्तोंको अपनी कुछ बात दिखाऊं, सदाचरण बताऊं, तपश्चरण दिखाऊं कि मैं ढगसे हूँ, मैं इन लोग

अपनी श्रेष्ठता जताऊं, इतना भी भाव आये तो वह मायाचारकी धारा है। मुनि तो उसका नाम है जो निरन्तर आत्माके सहज चैतन्य स्वरूपका मनन करता रहे। और ऐसा ही सर्व सन्यासमें है। तो थी तो बात यह और किया गया मायारूप आचरण, तो आचार्यदेव खेदके साथ कहते हैं कि ऐसा मायाचारी पुरुष शान्ति के साथ विचरण नहीं कर सकता। सब लोगोंको खुश करना, प्रसन्न रखना, कैसे लोग समझें कि इनका बहुत अच्छा आचरण है, बहुत अच्छा स्वभाव है, सारे लोग भली भाँति जान जाय, ऐसी किसी भी प्रकारकी मनमें जो वाञ्छा रहती है वह मायाचारका एक साधन है। ऐसी इच्छा होनेपर मायाचारकी प्रवृत्ति आ सकती है लेकिन जहाँ एक समताके साथ प्राणिमात्रके प्रति हितकी भावना हो वहाँ इसका प्रसंग नहीं। जो सर्व जीवोंके प्रति लोकहितकी भावना रखता है उसकी प्रवृत्ति ऐसी नहीं हो सकती कि श्रद्धा कुछ हो और कार्य कुछ किया जाय। तो मायाचारसे जिसका हृदय कलुषित है ऐसा पुरुष आनन्दमहलमें प्रवेश नहीं कर सकता।

बकवृत्तिं समालम्ब्य वञ्चकैर्वञ्चितं जगत्।
कौटिल्यकुशलैः पापैः प्रसन्नं कश्मलाशयैः ॥६८७॥

कौटिल्यकुशल ठगोंकी वकवृत्तिपर खेदप्रकाशन—जिसका हृदय कलंकसे कलंकित है, जो मायाचारमें कुशल है, ऐसे मायाचारी पुरुषने बगलाभगत जैसी वृत्ति धारण करके सारे जगतको ठग डाला। आजके समयमें राजनीतिके युगमें बहुत बड़ा नेता जो होता है उसका नाम कूटनीतिज्ञ धरा गया है। कूटनीतिज्ञ शब्द आज-कल बड़े अच्छे रूपमें देखा जा रहा है लेकिन उस कूटनीतिज्ञ शब्दका अर्थ तो देखिये क्या है। जो मायाचार की नीतिमें कुशल हो उसे कूटनीतिज्ञ कहते हैं। मगर इस तरहके अर्थपर भी नेताओंने कंट्रोल कर लिया। इस तरहका अर्थ अब अखबारोंमें नहीं किया जाता, किन्तु जो देशके हितकी बात विचारे, अनेक मायाचारी के कार्योंको कर सकनेमें कुशल हो, कूटनीतिकी मन्त्रणाओंमें जो अत्यन्त कुशल हो वह कूटनीतिज्ञ कहलाता है। आजके समयमें ऐसे ही पुरुषको वोट देनेवाले लोग अधिक हैं। आजका समय एक मायाचारीसे भी प्रचुर बन गया है। लोक कहते हैं कि आजकल तो लोग धनके लिए होड लगा रहे हैं। धनके पीछे बेहतास भाग रहे हैं, किन्तु कुछ समय बाद ऐसा समय आयगा कि धनके लिए होड लगाना लोग कम कर देंगे। जब शहरी सम्पत्तिकी सीमा बन जायगी, जब कुछ अधिक दिया ही न जायगा तो यहाँ भी होड़ जरा कम हो सकती। अथवा जब टैक्स बढ़ गया-जैसे आजकल किसीने एक लाख कमाया तो उसमेंसे ८० हजार सरकारने ले लिए और २० हजार उस व्यापारीको मिले। तो इससे लोग सोचेंगे कि अधिक क्यों कमाना? क्यों बेकार का कष्ट करना, आखिर मिलना तो थोडा ही है। मुझे तो थोडा ही कमाना है और उसीसे काम चलाना है। यों लोगोंकी धन सम्बंधी होड खतम हो जायगी। वह तो राज्यके अधिकारकी सम्पत्ति है। आजके माया युगमें किसी तरह नेता बने, मिनिस्टर बने तो वे सब बातें कूटनीतिकी बातोंमें कुशल हुए बिना नहीं बन पाती। हाँ कभी एक युग था कि सरल महान आत्मा भी राज्याधिकारी होते थे, पर अब समय बदला है। अब तो राज्याधिकारी होनेके लिए कूटनीतिमें कुशल होना चाहिए। इसके लिए तो कोर्ष भी तैयार हो रहे हैं कूटनीतिके शास्त्र बन रहे हैं मायाचारी किस तरहकी जानी चाहिए, दूसरोंको कैसे ठगना चाहिए, आदि बातोंका अध्ययन करानेके लिए कूटनीतिशास्त्र तैयार हो रहे हैं। उनको पढ़ाकर कूटनीतिशास्त्री बनाये जा रहे हैं। कोई कपटी यह बात सोचता हो कि देखो मैंने इसको कितना ठग लिया, हमने ग्राहकोंसे मनमाने इतने दाम ले लिए, ऐसी नीति करके अगर ग्राहकोंको ठगा गया तो बताइये हानि किसकी हुई? अरे उन ग्राहकोंके तो कुछ पैसे ही गए मगर ठकने वालेने तो अपने भाव बिगाड़कर अपने आत्माको ही ठगा, अपना भविष्य खराब किया। तो उसने खुदका ही बिगाड़ किया, दूसरेका कुछ बिगाड़ नहीं किया।

नयंति विफलं जन्म प्रयासैर्मृत्युगोचरैः।
वराकाः प्राणिनोऽजस्रं लोभादप्राप्तवाञ्छिताः ॥६८८॥

लोभी प्राणियोंके जन्मकी विफलता—माया कषायका वर्णन करनेके बाद मायाकी बड़ी सखी तृष्णा (लोभ) कषायका अब वर्णन करते हैं। ये कायर प्राणी लोभकषायके वशीभूत होकर अपना बिगाड़ कर रहे हैं। जिसके हृदयमें तृष्णा है, लोभ है वह उन पर पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए मृत्युसे भी नहीं डरता। इस तरह ऐसा कठोर श्रम करके अपनी सुध भूलकर अपना जीवन व्यर्थ खो देता है। लोभ कषायकी बात पुराण पुरुषोंमें भी देखिये धन कमानेके लिए निकले थे चारुदत्त और उनके चाचा। उन्होंने सुना कि रत्नद्वीप पहुंचनेपर धनकी बहुत बड़ी कमाई होती है इसलिए वे वहाँ पहुंचनेके लिए उद्यमी हुए। बीचमें था बड़ा भारी समुद्र, उस समुद्रको पार करके वहाँ पहुँचनेके लिए चाचाने क्या उपाय सोचा कि किसी बकरेकी दो ताजी भातडी बनायी जाय, उसके बीच दोनों घुस जायें और उसे सी दें। उसको कोई पक्षी अपने मुखमें दाब लेगा, और वह पक्षी उस भातडी सहित हमें रत्नद्वीपके तटपर पटक देगा, बस पहुँच जायेंगे। आखिर उन्होंने ऐसा उपाय रच ही डाला। देखिये इस लोभ कषायके वश होकर यह प्राणी कितने कठिन श्रम कर डालता है। वह लोभकषायके वश होकर अपने प्राणोंकी बाजी तक लगा देता है इतनेपर भी उस लोभी प्राणीके मनोवाञ्छित कार्योंकी सिद्धि नहीं होती है। उन्हें सतोष तो नहीं मिल पाता। लोभी पुरुष संतोष कहाँसे पायेंगे? जो चाहा सो यदि मिल गया तो अब उससे भी अधिक मिलनेकी चाह हो जाती है। जो मिलना था सो मिला, क्योंकि वे तो परद्रव्य हैं, पर उसने अपनी कल्पना ऐसी बना डाली कि मेरे पास तो अभी कुछ भी नहीं है। लो इस तृष्णाके वश होकर वह अपनेको सदा रीताका रीता अनुभव करता है। उसे कभी सतोष नहीं प्राप्त हो पाता। जैसे तेज गर्मीके दिनोंमें रेगिस्तानमें रहने वाला हिरण जब दोपहरके समयमें प्यासा होता है तो वह अपना सिर उठाकर सामने दृष्टि डालता है तो दूरकी चमकने वाली रेत पानी जैसी प्रतीत होती है, वह अपनी प्यास बुझानेके लिए वहाँ दौड़कर जाता है, पर वहाँ पानीका नाम नहीं। वहाँ दौड़कर जानेसे उसकी प्यास और भी बढ़गई, फिर अपना मुख उठाकर दूर दृष्टि डाला तो वहाँ फिर दूरकी चमकती हुई रेत पानी जैसी प्रतीत हुई फिर दौड़ लगाकर वहाँ पहुचा, देखा तो पानी है ही नहीं। वह बेचारा हिरण यों दौड लगाकर अपने प्राण खो बैठता है, अपनी प्यास नहीं बुझा पाता, ठीक इसीप्रकार ये ससारी अज्ञानी प्राणी लोभकषाके वश होकर बाह्य पदार्थोंके पीछे दौड लगाते हैं, फल यह होता है कि उन्हें जीवन में कभी शान्ति नहीं मिल पाती और अन्तमें इस अशान्ति अनलकी ज्वालामें भस्म होकर अपने प्राण गवा देते हैं वे। अरे उदयानुसार जो कुछ मिल गया सो ही काम चलनेके लिए बहुत है, पर इस तृष्णाके वश होकर वर्तमानमें पाये हुए सुख साधनोंका लाभ भी ये नहीं लूट पाते। तो इन लोभी जनोंने सिद्धि तो कुछ न पाई, क्योंकि मिला कुछ भी नहीं, संतोष नहीं, तृप्ति नहीं उसका मिलना क्या? तो बाह्य वस्तु हैं, लेकिन तृष्णाके आधीन होकर लोभी अपने आत्माकी सुध खो बैठता है और जीवन व्यर्थ गवा डालता हैं।

शाकेनापीच्छया जातु न भर्तुमुदरं क्षमाः।
लोभात्तथापि वाञ्छन्ति नराश्चक्रेश्वरश्रियम् ॥९८६॥

लोभियोंके विकल्पोंकी हास्यास्पदता—अनेक मनुष्य ऐसे हैं कि जिनको इतने भी साधन नहीं मिले कि साग भाजी तक खानेका ही ठीक-ठीक सेजा हो इतनी भी सामर्थ्य नहीं है कि वे भरपेट भोजन ही कर सकें, पर वे लोभकषायके वश होकर चक्रवर्तीकी जैसी सम्पदा चाहते हैं। जिस वस्तुकी प्राप्तिकी स्वप्नमे भी आशा न हो उसकी भी वाञ्छा रखते हैं। लोभ कषायकी ऐसी पद्धति है कि जो चीज कहींसे मिल न सके, उसका मिलना एक असम्भव सी बात है फिर भी उसको पानेकी बात अपने चित्तमें बसाये रहते हैं। एक कथानक है कि एक बार किसी भंगीको बादशाहकी रानीको प्राप्त करनेकी वाञ्छा जग गई। भला बतलाओ कहाँ तो भंगी और कहाँ रानी, कैसे प्राप्त कर सकता था वह भंगी उस रानीको? पर उसके चित्तमें सदा वही बात समाई रहती थी, उसके पीछे वह दुःखी रहा करता था। (कामी पुरुषोंका ऐसा ही हाल होता है) एक दिन उसकी स्त्रीने उसके दुःखी रहनेका कारण पूछा तो उस भंगी ने कारण बता दिया। पहिले तो उस

कहा—अरे क्यों व्यर्थमें दुःखी होते ? कहाँ तो तुम भंगी और कहाँ वह रानी। उसको प्राप्त करना तुम्हारे लिए असंभव है, अतः उसे चित्तसे उतार दो। पर कैसे चित्तसे वह उतार सके। आखिर दोनोंमें एक सलाह हुई, क्या, कि तुम साधु बन जाओ, बड़ा चमत्कार दिखाओ, तुम्हारा चमत्कार सुनकर रानी तुम्हारे सामने हाथ जोड़ेगी बस तुम्हारा काम बन जायगा। ठीक,...आखिर वह साधु बन गया। काफी दिनों तक अपना बड़ा चमत्कार दिखाया। कहीं धन गाड़ दिया, कहीं कुछ गाड़ दिया। जब कोई पासमें आता तो उससे वह साधु पूछता कि बोलो तुम्हें क्या चाहिए ?...धन चाहिए। ...अच्छा जाओ अमुक स्थान पर खोद लो धन मिल जायगा। ...लो खोदा तो धन मिल गया। फिर कोई पासमें आया तो साधुने पूछा तुम्हें क्या चाहिए ? ...अमुक चीज चाहिए...लो वहाँ खोद लो, चीज मिल जायगी, वहाँ खोदा तो वह चीज मिल गई। अब क्या था। चारों ओर उस साधुका चमत्कार बड़ा प्रसिद्ध हो गया। अब लोगोंका आना जाना खूब जारी हो गया। बादशाहके पास तक उस साधुके चमत्कारकी खबर पहुची। उसके कोई संतान न थी तो वह बादशाह भी अपनी रानी सहित उस साधुके पास आया। रानीने हाथ जोड़कर साधु महाराजसे एक संतानका वरदान माँगा। और-और भी विनययुक्त वचनोंसे काफी बातें किया, पर उस समय वह साधु कामवासनासे दूर हो चुका था। काफी समय व्यतीत हो जानेपर उसके चित्तसे कामविकार निकल चुका था, जिससे उसने उस रानीको भी बड़े आदरकी दृष्टिसे देखा, उसके प्रति विकार-भाव न रहे। खैर बात यहाँ यह कही जा रही थी कि पर वस्तुके लोभमें आकर यह जीव असम्भव बातोंको भी पानेकी वाञ्छा करता है। उसके पानेके लिए अपने प्राणों तककी बाजी लगा देता है।

लोभ विकल्पकी व्यर्थता—भैया ! लोभमें होता क्या है कि जब चीज पासमें है तो उसकी चाह नहीं होती और जब चाह होती तो उस चीजकी प्राप्ति नहीं होती। यह बात तो बहुत अच्छी है कि चाह न रहे पर यह बात रह कहाँ पाती है ? दूसरी चीजकी चाह बन जाती है। तो इस लोभ कषायसे यह जीव पाता तो कुछ नहीं, मगर तृष्णाके वश होकर बड़ा कठिन श्रम कर डालता है। जैसे कि कोई हिरण अपनी प्यास बुझानेके लिए बड़ा श्रम कर डालता है पर प्यास नहीं बुझा पाता और दौड़-दौड़कर मरणको प्राप्त हो जाता है। इसीप्रकार इस लोभकषायके वश होकर यह संसारी प्राणी अपने जीवनको व्यर्थ ही खो देता है। जैसे स्वप्नमें दिखने वाली विभूतियां कहीं प्राप्त हो नहीं हो जाती। वे तो स्वप्नकी चीज हैं, उनका मिलना असम्भव है, पर यदि कोई उनके पानेकी वाञ्छा करे तो उसके समान मूर्ख और किसे कहा जाय ? ऐसे ही जो चीज प्राप्त होनी असम्भव हैं उनके पानेकी वाञ्छा भी यह लोभी प्राणी करता है तो फिर उसे मूर्ख नहीं तो और क्या कहा जाय ? अरे यह आत्मा तो एक अमूर्त ज्ञान मात्र है। इस देहको छोड़कर वह कहीं अकेला ही चला जायगा। उसे मिला क्या ? कोई कहे कि जब तक रहा तब तक तो मिला, पर तब तक भी न मिला क्योंकि उसे उससे सन्तोष नहीं होता। उससे आगेकी वाञ्छा बनी रहती है। जो पुरुष आत्मदृष्टि करता है और आत्मज्ञानके द्वारा अपने आपमें तृप्त रहा करता है, महत्ता तो उसकी है, सुखी तो वह है। लोभी पुरुषको तो कितनी भी सम्पदा मिल जावे, पर उससे उसे सन्तोष नहीं होता, वह कभी शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता और अपने इस पाये हुए दुर्लभ मानवजीवनको वह व्यर्थ ही खो देता है।

स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन्।
व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते ॥९९०॥

लोभपीडितोंका प्राणघातक दुःसाहस—लोभ ऐसा अनर्थ कराता है कि इस लोभ कषायसे पीड़ित होकर यह पुरुष अपने स्वामी, अपने गुरु, अपने बंधु, मित्र, स्त्री, पुत्र, भ्राता, पिता आदिको भी मारकर निःशंक होकर धनको ग्रहण करता है। यह बात सुनकर ऐसा लगता होगा कि यह तो डाकुवोंके द्वारा लूटनेकी बात कही जा रही है। हाँ डाकू भी ऐसा करते हैं किन्तु जो डाकू तो नहीं हैं पर ऐसा कर डालते हैं, तब ही तो कहते

हैं कि देखो अब तो आप बूढ़े हो गए, बूढ़े होने पर आपको दोनों तरफसे खतरा है। धन यदि नहीं है तो बुरी तरहसे मर रहे हैं और यदि धन है तो गला घोटकर मार दिये जाते हैं। देखो यह कैसा विचित्र संसार है ? यहाँ प्राय सभी लोग धन हड़पनेकी कोशिशमें रहते हैं। लोग तो सोचते हैं कि मेरा पुत्र वृद्धावस्थामें मेरा सहाय होगा, वही मेरे लिए सब कुछ है, वही मेरी मदद करेगा, पर उनका यह सोचना मिथ्या है। अरे सहायकी बात तो जाने दो, उल्टे लोभ कषायके वश होकर वे अपने पिताके भी प्राणघात करनेके कारण बन जाते हैं। पहिले यह ही सोचो कि जिन-जिनपर हम राग करते हैं वे हमारे हितमें क्या मददगार होंगे।

पुत्रपरिग्रहसे विडम्बना पानेका चित्रण—पंडित आशाधर जीने एक ऐसा चित्रण किया है कि देखो लोग सबसे अधिक अपने पुत्रपर मोह करते हैं। पर पुत्र द्वारा देखिये तो सही कि कितनी विपत्ति है। जब बच्चा गर्भमें आया तो उसने सबसे पहिले उस पुरुषकी पत्नीका (बच्चेकी माताका) सौन्दर्य नष्ट कर डाला, वह पीली हो गई, दुर्बल हो गई। जब जन्मका समय आया तो उस बच्चेने पिताका चित्त व्याकुल कर दिया। पिताके मनमें उस समय यह चिन्ता बनी रहती थी कि पता नहीं ठीक-ठीक बच्चा पैदा भी हो जायगा या नहीं। कितनी ही गड़बड़ियाँ हो जाया करती हैं। बहुत सी स्त्रियाँ तो मर तक जाती हैं। लो वहाँ भी उस बच्चेने दुःखी कर डाला। जब जन्म लेलिया कुछ बड़ा होने लगा तो माँ-बापको उसकी कितनी चिन्ता रखनी पड़ती। उस बच्चेके आरामके पीछे माँ-बाप अपना आराम खतम कर देते। वह बच्चा कुछ और बड़ा हुआ तो अच्छी चीज उस बच्चेको खिलाते, कुछ बची खुची थोडी चीज खुद खा लेते। कुछ लोग तो ऐसे भ होते कि कोई साफ़ सुन्दर कपड़ा लाये तो पहिले उस बच्चेके काममें लेते, जब वह कपडा कुछ पुरानासा हो जाता तब अपने काममें लेते। देखो पुत्रभक्तिमे दीनता। जब वह बच्चा कुछ और बडा हुआ तो उसके पढाने लिखाने आदिकी चिन्तायें माँ-बापको करनी पड़ीं। बादमें शादी व्याह भी कर दिया, तो वहाँ वह पुत्र सब जगह अपनी स्त्रीका पक्ष लेता, माँ-बापका अनादर करता, तो वहाँ भी उसी बच्चेने माँ-बापको दुःखी कर डाला, बादमे उसको धन चाहिए ना, सो वह उस माँ-बापके ही धनपर पूरा कब्जा करना सोचता है। माँ-बापको तो एक उल्लूसा बनाकर रखना चाहता है। लो एक बापको अपने बच्चेसे क्या लाभ मिला सो तो बताओ ? और फिर बच्चा अगर कुपूत निकल गया तो वहाँ भी उस बच्चेने अपने माता-पिता को दुःखी कर डाला। भला कुपूत होनेपर तो चलो एक बार ही दुःखी किया, क्योंकि बादमें लोगोंके सामने यह प्रकट कर दिया कि अब यह मेरा बच्चा नहीं रहा, इसे जो कुछ दे लें सो वह जाने, हम उसके जिम्मेदार नहीं हैं। और, अगर पुत्र सपूत हो गया तो वहाँ भी इस पिताको उससे मिला क्या ? उसके पीछे रात दिन दुःखी ही रहना पड़ा। रात दिन बड़े-बडे श्रम करके उस बच्चेको ही सुखी देखनेकी वाञ्छा करता है। इस लोभ कषायके वश हुआ यह प्राणी जिन्दगीभर इन परपदार्थोंके पीछे दौड लगाता रहता है, जिससे वह पाये हुए धनका उपयोग अच्छे कामोंके लिए भी नहीं कर सकता। बस जो कुछ है सो उस बच्चेके लिए, तो भला बतलाओ जिससे इतना तीव्र अनुराग किया जाता वह किस काम आता ? मगर लोभ कषायके वश होकर यह प्राणी कुछ नहीं सोचता। आत्महितसे दूर रहता है और निष्फल व्यर्थकी चेष्टायें करता है।

ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः।
प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम् ॥६६१॥

नरकसाधक सर्व दोषोंकी लोभप्रभवता—सिद्धान्त शास्त्रमे जितने भी दोष नरकमें साधक बताये गये हैं याने जिन दोषोंके फलमें नरकमें घूमना होता है वे सारे दोष प्राणियोंके लोभसे ही हुआ करते हैं। लोभ एक ऐसी चित्त रगीली-तीव्र कषाय है कि इस लोभमें सारे दोषोंको गर्भित कर सकते हैं। पर्यायको आत्मा समझना यह भी लोभ है। तो देखो लोभकी तीव्रता ही मिथ्यात्व जैसा रग ला रही है, और किसी भी पर वस्तुमें आत्मीयताका भाव होना यह मूलसे विद्याका विनाश कर देने वाला भाव है। जहाँ परको माना कि यह

और मेरा, वहाँ वास्तविक मैं और मेरा स्वरूप मेरे उपयोगसे गायब हो जाता है। लोभ कषायसे वे सारे दोष उत्पन्न होते हैं जिन दोषोंके कारण जीव नरकमें जाता है। काम विकार लोभ कषायकी ही तो पर्याय है। जिस कामको विकारके गिननेमें अलगसे नाम लिया जाता है काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, इस तरह लोग कामको अलग बोलते हैं। अलग बोलनेकी क्या जरूरत थी? कषायें तो चार हैं क्रोध, मान, माया, लोभ। कामको अलग क्यों गिना? यद्यपि काम क्रोधमें शामिल है, फिर भी काम इतना विकट कुभाव है कि उसको अलग गिननेका प्रयोजन आचार्यको विदित हुआ है। जितने दोष हैं ऐब, व्यभिचार अथवा उद्दण्डता, अन्याय, नरसंहार आदि, वे सब लोभसे ही उत्पन्न होते हैं। राज्यका लोभ, प्रतिष्ठाका लोभ, धन संतानका लोभ, ये सब दोषोत्पत्तिके कारण हैं। कहते ही हैं—"लोभ पापका बाप बखाना।" पापका बाप क्या? याने पापको उत्पन्न करने वाला भाव क्या? वह है लोभ। जितने भी अयोग्य कार्य हैं वे सब इस लोभसे स्वयमेव बन जाते हैं। कषायोंके जो नाम हैं उनको अगर उल्टा पढ़ो तो उसमें रक्षाकी बात जाहिर होती है। लोभ करना बुरा है और उससे उल्टा पढ़ो तो लोभका उल्टा होगा भलो। यह भलो काम क्रियाकारी है। कहाँ तो लोभ और कहाँ भलो, बिल्कुल उल्टा है। माया करना बुरा है। माया शब्दका उल्टा करो तो हुआ यामा। जो या याने यह है सो सत्य नहीं है। मान करना बुरा है। मानका उल्टा है नमा याने जो नम जाय, मानसे वह एक प्रतिपक्षी पर्याय है। रोषका उल्टा है षरो याने सही हित सारता धैर्य धारण करता विह्वल नहीं होना।

पापके बापकी गवेषणा—इन चारों कषायोंमें लोभ कषायको पापका बाप कहा है। एक कथानक प्रसिद्ध है कि एक विद्यार्थी बनारससे कई परीक्षायें पास करके घर आया, अपनी स्त्रीसे बड़ी-बड़ी शानकी बातें करता रहा। एक दिन स्त्री पूछ बैठी कि बताओ पापका बाप क्या है? तो उस विद्यार्थीने अनेक ग्रन्थोंको उलट-पलटकर देखा, पर कहीं यह लिखा हुआ न पाया कि पापका बाप क्या है? तो उसने सोचा कि मेरे गुरुजीने सब कुछ पढ़ा दिया, पर इतनी बात छिपा लिया, नहीं पढ़ाया कि पापका बाप क्या है? इसीलिए मुझे अपनी स्त्रीके सामने अपमानित होना पड़ा। वह शीघ्र ही बनारसकी ओर चल पड़ा, इस बातको पढ़नेके लिए कि पापका बाप क्या है। पैदल ही वह जा रहा था एक दिन वह रास्तेमें शाम हो जानेसे किसी नगरमें एक मकानके चबूतरेपर सो गया। जब सवेरा हुआ, वह सो ही रहा था कि इतनेमें उस मकानकी मालकिन स्त्री आयी। उसने जगाया और पूछा कि भाई आप कौन हैं और कहाँसे आये हैं? तो उसने बताया कि हम पंडितजी हैं, हमें गुरुजीने सब कुछ तो पढ़ा दिया, पर एक बात नहीं पढ़ाया कि पापका बाप क्या है? सो इस बातको पढ़नेके लिए हम अपने गुरुके पास बनारस जा रहे हैं। तो उस स्त्रीने कहा कि आप एक दिन ठहरें, यहीं आराम करें, भोजन पान करें, फिर चले जाना। तो वह पंडित पूछता है कि आप कौन हैं? तो वह स्त्री कहती है कि मैं तो वेश्या हूँ। तो पंडित बोला—अरे रे रे बड़ा गजब हो गया। मुझे तो इस चबूतरेपर लेटनेसे ही पाप लग गया। तो वह स्त्री बोली—देखो जैसे अन्य चबूतरे हैं वैसा ही यह भी है, इसमें लेटनेसे पापकी बात क्या? और अगर पाप लग गया हो तो लो ये २० मोहरें, इनसे कुछ यज्ञादिक कार्य करके प्रायश्चित कर लेना। लो, २० मोहरोंके लालचमें आकर समझ लिया कि यहाँ लेटनेमें कोई पाप नहीं। फिर स्त्रीने कहा कि आप यहीं भोजन कीजिए, देखिये जैसा सबका घर वैसा ही मेरा भी घर है। आप यह सब सामान लीजिए और अपने हाथसे भोजन बनाकर भोजन कीजिए और यदि उसमें कोई पाप लगे तो लीजिये ये २० मोहरें, इनसे यज्ञादिक विधान करके प्रायश्चित्त कर लेना। अब क्या था? २० मोहरोंके लोभमें आकर उसके घरमें भोजन बनाना भी स्वीकार कर लिया। जब भोजन बनाने लगा तो स्त्रीने कहा देखो तुम्हारे हाथोंसे हमारे हाथ ज्यादह साफ स्वच्छ हैं, आप बेकार कष्ट करते हैं, बेकार अपने हाथ जलाते हैं, आओ तो आप हमारे हाथका बना हुआ भोजन ग्रहण कीजिए। और इसमें यदि कोई पाप लगता हो तो ये लीजिए २० मोहरें और इनको धर्ममें लगाकर प्रायश्चित्त कर लेना। बस, २० मोहरोंके लोभमें आकर उस स्त्री (वेश्या) के हाथका बना हुआ भोजन करना स्वीकार कर लिया। जब पंडित जी भोजन करने बैठे तो वह वेश्या बोली—पंडितजी

लो हमारा जीवन सफल हो गया। हमने जीवनमें बड़े पाप किए, पर आपकी कृपादृष्टि हमपर इतनी हुई कि हमारे जीवनको सफल बना दिया। अब आप एक कृपा और कर दें कि हमारे हाथसे एक कौर अपने मुखमें ले लीजिए तो हमारा उद्धार हो जायगा। यदि इसमें पाप लगे तो ये लीजिए २० मोहरें, इनसे धर्म कार्य करके प्रायश्चित ले लेना, बस क्या था। २० मोहरोंके लोभमें आकर उस वेश्याके हाथसे भोजन ले लेना भी स्वीकार कर लिया। पर वेश्याने मुखमें कौर तो डाला नहीं और पंडित जी के गालोंपर दोनों और दो-दो तमाचे जड़ दिए। और कहा—अरे पापका बाप है यह लोभ। तो जगतमें जितने दोष हैं, नरकके साधन हैं वे सब लोभसे प्राणियोंके उत्पन्न हुआ करते हैं।

शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यताम्, नियम्यतां मानमुदारमार्दवैः।
इयं च मायाऽऽर्जवतः प्रतिक्षणं, निरीहतां चाश्रय लोभशान्तये॥६६२॥

उपशमजलसे क्रोधाग्निके निवारणका आदेश—कषायविजयके प्रकरणमें लोभ कषायका वर्णन करते ही चारों कषायोंका वर्णन समाप्त हुआ। अब इस छन्दमें उपसंहार रूपसे चारों कषायोंके विजय प्राप्त करनेका उपदेश बताया जा रहा है। हे आत्मन! देख, शान्तिभावरूपी जलसे तो क्रोधरूपी अग्निका निवारण करो। क्रोध अग्निका निवारण काहेसे होगा? अग्निका निवारण पानीसे होता है। तो पानीकी उपमामें यहाँ बताया जा रहा है उपशमभाव, शान्ति, क्षमाभाव ऐसे उपशमभाव द्वारा इस क्रोधकषायका निवारण करो। देखिये कषायोंके दूर करनेमें मूल सहयोग सम्यग्ज्ञानका है। और जो कुछ भी उपाय करलो जैसे कि लोग बताते हैं कि जब क्रोध आये तो मौनसे रहो। जब क्रोध आये तो मुखमें पानी भरलो, कोई पूछे कि भाई जब क्रोध आयगा तो मुखमें पानी भरनेकी सुध कहाँ रहेगी? वहाँ तो मुखमें से तीर बरसेगा। जब कोई पुरुष क्रोध करता है और जब गाली देता है तो उसके मुखकी शक्ल धनुषाकार बन जाती है। जैसे चढ़ा हुआ धनुष टेढ़ा टाढा होता है ऐसा तो बन जाता है मुख और जैसे उस चढे हुए धनुषमे से तीर निकलता है वैसे ही इस चढ़े हुए मुखसे गालियोंके अपशब्दोंके तीर निकलते हैं। और, जैसे तीर छूटनेके बाद वह शिकारी यह सोचे कि ऐ बाण मैंने बहुत बड़ी भूल की, बड़ा बुरा किया, तू वापिस आ जा, यों कितनी ही मिन्नतें करें, पर वापिस नहीं लौट सकता, वह तो जिसका लक्ष्य करके छोड़ दिया गया उसके हृदयको वेध ही देगा। ठीक इसी तरह इस खिन्ने हुए मुखसे जो अपशब्द निकाल दिए गए वे कितनी ही मिन्नतें की जानेपर वापिस नहीं हो सकते। अपने शान्त भावोंके द्वारा इस क्रोधाग्निका निवारण करें।

कोमल परिणामो द्वारा मानको नियन्त्रित करनेका आदेश—कोमल परिणामोंके द्वारा मानको नियंत्रित करें, नम्रता रखें। मानको कठिनताका रूप बताया है। यहां सिद्धान्त शास्त्रमें मानकषायके भेदपर दृष्टान्त दिया है। तो बताया गया है कि वज्रकी तरह कठोर, पत्थरकी तरह कठोर, काठकी तरह कठोर, ये वज्र पत्थर, काठ आदिक लताकी तरह नम नहीं सकते। लकड़ी अगर नमे तो वह थोड़ी बहुत नम सकती है, पर लताकी तरह नहीं नम सकती। तो इसपर अनन्तानुबंधी मान आदिकके विषयमें मानकी उपमा बताई गई है कठोरता से, जिसको मान कषाय जगी है वह दूसरेका कुछ हित नहीं समझता। वह तो अपना बड़प्पन ही चाहता है, उसमें दूसरोंका चाहे संहार हो जाय। तो कोमल परिणाम उत्पन्न करें, सम्यग्ज्ञानका बल बढ़ायें और अपने मे कोमलता लावें, मानकषायको दूर करें इसमें ही हित है।

सरलताद्वारा मानकषायको व निरीहता द्वारा लोभकषायको दूर करनेका आदेश—सरलता द्वारा मायाकषाय को दूर कीजिये, मायाका रूप बताया है टेढ़ा-टाढ़ापन। जैसे बाँसकी जड़ बहुत अधिक टेढी होती है ऐसे ही यह मायाकषाय भी बहुत टेढ़ी होती है। हिरनके सींग कितने ही टेढे होते हैं फिर भी बाँसकी जड़से कम टेढे होते हैं। और, चलता हुआ बैल अगर मूतता जाय तो वह भी कितनी टेढ़ी रेखा होती है तो ऐसी ही टेढ़ीपनकी मुद्रा इस मायाकषायकी बताई गई है। मायाकषाय रखने वालेका हृदय वक्र कहा गया है, तो इस मायाकषायको सरलताके उपायसे जीतें। देखो मायाकी बात कह रहे हैं कि कहीं कोई कठिनसे कठिन

आ जाय, जिसमें अपनी बड़ी धनहानिकी हो या अपने कुटुम्बकी हानि होती हो और कदाचित् कुछ मायाचार बर्तले तो कहा जा सकता है कि बड़ी कठिन परिस्थिति थी इसलिए मायाचार करना पड़ा, लेकिन देखो तो यह जाता है कि कुछ काम भी नहीं अटका, कुछ काम भी नहीं है और मायाचारकी प्रकृति बनी हुई है तो यह प्रकृति निरन्तर बिल्लीकी भाँति पापबंध कराती रहती है। जैसे बिल्ली मायाचारमें बड़ी कुशल होती है, इस तरहकी जो प्रकृति बना रखी है निरन्तर जरा-जरासी बातोंमें, तो यह मायाचारी इस जीवको बहुत बड़ा दुःख देने वाली है। तो भाई सरल बनो और सरलतासे इस मायाचारको दूर करो। अब देखो-धर्मके प्रसंगमें भी जो मायाचारी की जाती है उससे कठिन और क्या दृष्टान्त दिया जाय। जैसे बड़े कठिन जान मालकी हानिमें मायाचारी बन जाय तो उसे कठिन मायाचारी न कहेंगे, हो गया तो वहाँ सम्हला हुआ है। जान रहा है कि मुझे ऐसा नहीं करना है, पर करना पड़ता है, लेकिन ठलुआ बैठे ही कोई मायाचार बनाये रहे तो यह मायाचार कठिन है। और धर्मके काममें जो मायाचार बर्तता है वह मायाचार तो बहुत कठिन है। पूजा करनेमें, स्वाध्याय करनेमें, जाप देनेमे या मन्दिरकी किसी प्रकारकी सेवा करनेमें यदि मायाचार बर्ता जाय तो समझो कि धर्मके कार्योंमें भी जो मायाचार चले तो फिर इसके पाप कहाँसे दूर हों? तो सरल-परिणामोंसे मायाचारको दूर कीजिए और लोभकी शान्तिके लिए निरीहताका आश्रय कीजिए, निर्लोभताका, इन इच्छाओंके अभावका आश्रय कीजिए।

वस्तुस्वरूपका यथार्थ बोध होनेपर कषायविजयकी सुगमता देखो—वास्तविकता तो यह है कि जब वस्तु-स्वरूपका सही बोध हो और उसके स्वरूपकी स्वतंत्रताकी प्रतीति हो तब कषायोंके विजयकी कला आती है। फिर भी प्रयत्न तो यह करना ही चाहिए कि ये कषायें मन्द रहें। बुन्देल खण्डका एक राजा गुजर गया, राजमाता थी, कुछ समय तक उसने राज्य किया लेकिन जो सरकारके बड़े ओहदेदार थे, उन्होंने उस राज्यको कोर्ट कर लिया। उन्होंने कह दिया राजमातासे कि जब तुम्हारा बच्चा होशियार हो जायगा, राज्य चला सकने वाला हो जायगा तो राज्य उसे दे दिया जायगा। सो जब वह राजपुत्र १६ वर्षका हो गया तो राजमाताने सरकारको यह दरख्वास्त देदिया कि मेरा बालक अब सयाना हो चुका है उसे उसका राज्य दे दिया जाय। उस राजमाताने उस बेटेको बीसों बातें सिखा दीं कि देखो तुमसे अगर साहब यों पूछे तो यह जवाब देना, यों पूछे तो यह जवाब देना। पर वह राजपुत्र बोला-माँ यदि इन सभी बातोंमें से एक भी बात साहबने न पूछा तो? बस समझ गए बेटे! तुम जरूर जवाब दे लोगे। जब तुम इतनी तर्कणा बुद्धि रखते हो तो जरूर उत्तर सही-सही देकर आवोगे। आखिर हुआ भी ऐसा ही। साहबने उस बालककी बुद्धिकी परीक्षा करनेके लिए बुलाया। वहाँ बालक गया तो साहबने प्रश्न तो न किया, पर दोनों हाथोंको तेजीसे पकड़कर बोला—बताओ अब तुम क्या करोगे? तुम्हारे दोनों हाथ मेरे हाथोंसे बध गए हैं, अब तुम्हारी रक्षा कैसे हो सकती है? तो वह राजपुत्र बोला—देखो मैं तो अब पूर्ण रक्षित हो चुका, अब मुझे किस बातका भय? अब मुझे क्या करना?... कैसे?...देखो जब किसीका विवाह होता है तो पति अपनी पत्नीका एक हाथ पकड़ लेता है तो उस पतिको अपनी उस पत्नीकी जीवन भर रक्षा करनेके लिए वचनबद्ध होना पड़ता है, और आपने तो मेरे दोनों ही हाथ पकड़ लिए, अब मुझे किस चीजका भय? मैं तो अब पूर्ण रक्षित हो चुका। बस परीक्षामें वह राजकुमार उत्तीर्ण हो गया और राज्यका अधिकारी बना। तो जैसे जिसमें ज्ञानकला है उसके लिए सारे कार्य सुगम हो जाते हैं। इसीतरह जिसमें भेदविज्ञान जगा, जिसको आत्मस्वरूपकी दृष्टि हुई, जिसे आत्मीय आनन्दका अनुभव हुआ उसके लिए कषायोंपर विजय करना बड़ा सुगम हो जाता है।

यत्र यत्र प्रसूयन्ते तव क्रोधादयो द्विषः।
तत्तत्प्रागेव मोक्तव्यं वस्तु तत्सूतिशान्तये ॥६६३॥

कषायोंके आश्रयभूत पदार्थों के त्यागका आदेश—हे आत्मन्! जिस-जिस पदार्थका आश्रय लेकर तेरेमें

क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें जगती हों वे वे वस्तुवें तुझे अपने क्रोधकी शान्तिके लिए पहिलेसे ही त्याग देना चाहिए। चरणानुयोगका आधार क्या है? विषय कषायोंके आश्रयभूत पदार्थोंका त्याग करना। कर्मोदय आता है, वह है निमित्त आत्मामे विषय कषायभाव जगनेके लिए याने जब आत्मा अपना उपयोग विषय कषायके साधनभूत बाह्य पदार्थोंमें लगाता है तो जिन बाह्य पदार्थोंमें हमने उपयोग लगाया, वह कहलाया आश्रयभूत, तो चरणानुयोगका यह उपदेश है कि निमित्तके त्यागकी तो बात हम क्या कहें, उसका तो पूर्ण त्याग करें क्या? वह तो अपने समयपर अपनी विधिमें अपने आप दूर होगा, लेकिन थोडी बुद्धि इस पर चल सकती है कि सभी आश्रयभूत बाह्य पदार्थोंको त्याग दें। ऐसा हुआ करता है कि कर्मोदय आया और उसका नोकर्म किसी भी प्रकारसे मिल न सके तो नोकर्मके मिले बिना कर्म अपना फल नहीं दे पाते। तो तुझे एक अवसर मिलेगा, तू ममताके साधनभूत घर आदिकका दिलसे त्याग कर। ऐसा नहीं कि बाहरसे छोड़ दे और अन्दरमें उसका विकल्प रखे, तू उसकी सुध छोड़ दे, उसका विकल्प ही मत रख। ऐसे आश्रयभूत पदार्थों का तू त्याग कर, यहाँ यह उपदेश दिया जा रहा कि जिन-जिन बाह्य पदार्थोंका आश्रय करके क्रोधादिक उत्पन्न होते हों उन बाह्य पदार्थोंका तू त्याग कर कषायोंकी निवृत्तिके लिए।

येन येन निवार्यन्ते क्रोधाद्याः परिपन्थिनः।
स्वीकार्यमप्रमत्तेन तत्तत्कर्म मनीषिणा ॥६६४॥

कषायनिवारक कर्तव्योंके स्वीकार करनेका आदेश—बुद्धिमान पुरुषोंको वे वे कार्य स्वीकार कर लेना चाहिये प्रसन्न होकर प्रमादरहित होकर जिन-जिन कार्योंके द्वारा क्रोधादिक शत्रु दूर किए जा सकते हैं। जैसे मानकषाय बढ गया, दूसरोंको तुच्छ गिनने लगे, तो तू दूसरोंका नम्र बन, उनका आदर कर, उनके नीचे रह। जिससे कि तेरा मानकषाय नष्ट हो जाये। इसीप्रकार जिन-जिन कार्योंके करनेसे ये क्रोधादिक कषायें दूर हो सकती हों उन-उन कार्योंको अप्रमत्त होकर, प्रसन्न होकर हर्षके साथ स्वीकार कर लेना चाहिए। कहीं अपमान होनेका अवसर हो तो स्वीकार करो। यहाँ बडी अच्छी बात बन रही है। क्या? तेरा अपमान हो रहा मायने अपगत हो रहा है मानकषाय जिससे, ऐसी बात बन रही है। मानकषाय मिट जाय ऐसी स्थिति बने तो वह बहुत ऊंची चीज है। घबडाता क्यों है, ऐसे-ऐसे कार्योंको तू प्रसन्न होकर स्वीकार करले, देख, तेरे अन्दरमे जो सफलता बनेगी, वैभव बनेगा, निर्मलता बनेगी वह बडी चीज है और वह बाहरके किन्हीं भी कार्योंमें जैसे— मूढजन मोहीजन कुछ अपना अपमान भरा कार्य समझते हों लेकिन तू तो प्रमादरहित होकर उसे स्वीकार कर जिससे कि तेरी सारी सम्पत्ति तुझे प्राप्त हो। किसीसे विरोध हो गया तो जिससे विरोध हो गया उसके पास तू खुद ही खुशीसे जाकर प्रेमयुक्त वचन कह कर तू अपने क्रोधको भीतरसे मूलसे निकाल, वह भी सुखी हो जायगा, तू भी सुखी हो जायगा। तो जो कार्य ऐसा हो कि जिसके किए जानेसे क्रोधादिक शत्रु दूर हो सकते हों उन कार्योंके करनेमें तू प्रमाद मत कर।

गुणाधिकतया मन्ये स योगी गुणिनां गुरुः।
तन्निमित्तेऽपि नाक्षिप्तं क्रोधाद्यैर्यस्य मानसं ॥६६५॥

दोषोंका निमित्त मिलनेपर भी क्रोधादिक न होनेमे ही गुणाधिकता व गुरुता— जगतमे बडा कौन है? वास्तविक योगी कौन है? जिस योगीको क्रोधादिक कषायोंका निमित्त मिलनेपर भी क्रोधादिककी विधिनि नहीं होती अर्थात् क्रोधके कारण मिलनेपर भी क्रोध न जगे, मानका कारण मिलनेपर भी मान न बने, माया, लोभके वातावरण होनेपर भी ये कषायें न जगें ऐसा योगी गुणाधिक है अथवा गुरु है। गुरु कहते हैं वजनदारको, जिसका वजन अधिक हो उसे कहते हैं गुरु और जिसका वजन कम हो उसे कहते हैं लघु। तो वजन कैसे बढे आत्मामें? गुण अधिक प्रकट हो जायें तो वजन होगा अर्थात् जिसमें गुण अधिक हो उसे गुरु कहते हैं। ये ही तो गुण है कि क्रोध कषायका निमित्त मिले फिर भी क्रोध न जगे। देखो विज्ञ

को, सम्यग्ज्ञानी पुरुषको ये सब बातें लीलामात्र लग रही हैं, कोई कठिनाई नहीं जचती। मानों कोई गाली बक रहा है तो यह ज्ञाता द्रष्टा बना रहता है। हो रहा है ऐसा, मेरेमें क्या किया ? यह बेचारा अपना परिणमन कर रहा है। यह तो बल्कि और दयालु बन रहा है, उसके प्रति सद्भावना बना रहा है। हाय कितना दुःखी है यह जीव। इसको अपने स्वरूपका पता नहीं है तो यह कुछसे कुछ चेष्टायें कर रहा है। तो क्रोध जगनेकी बात दूर रहो, वह तो उसपर और कृपालु बन रहा है, यह ही तो गुणाधिक कहलाता है। तो जहाँ कषायोंके निमित्त मिले और फिर भी कषायोंसे विक्षिप्त न बने उसे कहते हैं वास्तवमें योगी। गुरुजी एक बात सुनाते थे वह बात उनकी गृहवासके समयकी है। एक बार बाईजीसे गुरुजी ने कहा कि हम तो बड़े शान्त हैं तो बाई जी बोली हाँ शान्त तो हो मगर कोई मनके विरुद्ध बात हो जाय, उस समय भी शान्त हो तब हम समझें कि तुम वास्तवमें शान्त हो। कुछ दिन बाद एक बार गुरुजीने बाईजीसे कहा कि आज तो खीर बनाना ...... अच्छी बात। अब बाईजीने खीर तो बनाई, पर साथ ही दूसरे बर्तनमें छाँछमें चावल डालकर महेरी बनाकर भी रख दिया। जब वह खाने आये तो कहा जल्दी खीर खिलाइये। ... अभी लो, पर कुछ गरम है। ... होगी गरम हमें तो जल्दी खीर खिलाओ। तो बाईजीने क्या किया कि जो पहिलेसे महेरी पकाकर उसे सिरवाकर रखदी थी वही परोस दिया। पर उसमें कहाँ खीरका जैसा स्वाद ? वह तो दूधकी जगह छाँछ डालकर बनाई गई थी तो गुरुजीने क्या किया कि नाराज होकर थाली उठाकर फेंक दिया। तो बाईजीने कहा— वाह तुम खूब शान्त हो, तुम तो कहते थे कि हम शान्त हैं। पर तुम्हारी वह शान्ति कहाँ गई ? तो गुरुजी निरुत्तर रह गए। तो भाई कहनेका प्रयोजन यह है कि जब कोई प्रतिकूल बात आये उस समय भी शान्त रहें तब तो समझा जाय कि वास्तवमें शान्ति है, पर जब खूब मौजके साधनोंके बीच रह रहे हैं, कोई प्रतिकूल घटना नहीं घटती है तो उस समयकी शान्ति क्या शान्ति ? एक बारकी घटना है कि पं० बनारसीदासजीने शीतलसागर महाराजसे पूछा कि आपका नाम क्या है ? तो कहा—शीतल सागर। दुबारा फिर पूछा कि आपका नाम क्या है ? शीतल सागर यों ही आठों बार पूछा तो एक बार झुझलाकर बोले अरे बता तो दिया कि मेरा नाम है शीतल सागर, शीतल सागर। तो बनारसी दास जी बोले बस अब समझगए कि आपका नाम है ज्वालासागर। तो योगी पुरुष वह है जो कषायोंके प्रसग आ जानेपर भी, विपरीत प्रतिकूल घटना घटनेपर भी कषाय न करे। इससे शिक्षा यह मिलती कि जब ऐसा निमित्त मिले तब कोशिश करें कि हम इन कषायोंमें रंच न आयें। यही सोचलें कि कहीं यह आदमी मेरी परीक्षा तो नहीं कर रहा। चलो इतना भी भाव मिले तब भी शान्तिकी बात आ जायगी, जिस किसी भी प्रकार हो अपनेमें कषायें न उत्पन्न होने दें। इसमें अपनी रक्षा है और कषायोंमें अपनी बरबादी है।

यदि क्रोधादयः क्षीणास्तदा किं खिद्यते वृथा।
तपोभिरथ तिष्ठन्ति तपस्तत्राप्यपार्थकम् ॥६६६॥

क्रोधादिकी अनर्थकारिताका एक चित्रण— यदि क्रोधादिक कषायें क्षीण हो गई हैं तो तपश्चरण करके यह खेद क्यों करते हो ? जो वास्तविक सिद्धि है वह तो प्राप्त की ही जा चुकी। अब तपश्चरणका खेद क्यों किया जाता है ? दूसरी भी बात देखिये कि अगर क्रोधादिक तेरे चित्तमें बस रहे हैं तो भी तपश्चरण करना निरर्थक है। इस विषयको इस अलकारिक विषयमें समझाया है कि हे मुने ! कषायक्षय हो गया हो तो तपश्चरण करना व्यर्थ है कषाय यदि जम रही है तो तपश्चरण करना निरर्थक है। क्योंकि दो ही तो स्थितियाँ हैं कषायें रहना और कषायें न रहना। कषायें न रहीं तो तपश्चरण करना व्यर्थ है, क्यों खेद करते हो ? और कषायें मौजूद हैं तो तपश्चरण करना व्यर्थ है तपस्यासे लाभ क्या है ? यद्यपि तपश्चरण करना ठीक है, कषायें मौजूद हैं तो भी तपश्चरण करना एक साधन है कि हम कषायोंको दूर कर सकें, क्योंकि तपश्चरण होता है अन्तरङ्ग तपश्चरणके साथ, फिर भी यहाँ उसको कषायोंकी दुष्टता समझाने के लिए इस भाषामें

कहा है कि कषायें यदि हैं तो तपश्चरण करना निरर्थक है और कषायें यदि क्षीण हो गई हैं तो तपश्चरण करना व्यर्थ है। इस युक्तिमें सिद्ध यह किया गया है कि कषायें ही जीवका अनर्थ करने वाली हैं। उन कषायोंपर विजय प्राप्त करनेका हमें उद्देश्य रखना चाहिए।

स्वसंवित्ति समायाति यमिनां तत्त्वमुत्तमम्।
आसमन्ताच्छमं नीते कषायविषमज्वरे ॥६६७॥

कषायविषमज्वरके शान्त होनेपर स्वसवेदनरूप सत्य विश्रामकी उपलब्धि—संयमी योगी पुरुषके जब कषायरूप विषमज्वर उपशमताको प्राप्त हो जाता है तब परमात्मस्वरूप स्वसम्वेदनको प्राप्त होता है। जैसे कोई विषम ज्वरसे पीडित पुरुष हो तो उसको समता, शान्ति, धैर्य, विश्राम समाधान नहीं रहता है। जब विषम ज्वर शान्त होता है तो वहां चित्त प्रसन्न रहता है, उपशम वहां उत्पन्न होता है और अपने आपमें अपने विश्रामका अनुभव रहता है। इसी प्रकार यह कषाय विषम ज्वरकी तरह है। जब तक आत्मामें कषाय विषम ज्वर चल रहा है तब तक विह्वल है, दुःखी है, आकुलित है, इसे चैन नहीं मिलती और जब यह कषाय विषम ज्वर दूर हो जाता है, उपशामको प्राप्त हो जाता है तो अपने आपमें विश्राम मिलता है, प्रसन्नता होती है और जो उत्तमतत्त्व है, परमात्मस्वरूप है उसका स्वसम्वेदन हो जाता है। साराश यह है कि सर्वोत्कृष्ट वैभव हम आपके लिए है तो स्वानुभव है और स्वानुभवका लाभ कषायोंके मिटनेसे ही होता है। इस कारण हर परिस्थितिमे विवेक रखकर कि कषायें तो हर हालतमें नुकसान ही देने वाली हैं। कषायोंपर विजय प्राप्त करो। क्रोधका निमित्त उपस्थित हो वहां भी विवेक रखें, क्रोधपर विजय करें, क्रोध न होने दें, इससे बडा लाभ मिलेगा। मान कषायके निमित्त उपस्थित हों तो वहां भी स्वरूपदृष्टि करके यह भाव लायें, अभिमानकी बात चित्तमें मत आने दें अन्यथा परमात्मतत्त्व हमारी दृष्टिसे ओझल हो जायगा। माया कषायके साधन मिलें अर्थात् जहां बाह्य पदार्थोंके समागमकी आशा होती हो, वही मायाका साधन है। उस स्थितिमें भी अपना विवेक ऐसा जागृत रखना कि मायाचार मेरेमें मत आये। कपट बुद्धि मेरेमें मत जगे। लाभ होता हो तो हो, न होता हो तो न हो। सबसे बडा लाभ यह है कि मेरा चित्त कलुषित न हो तो मेरे लिए लाभ ही लाभ है। उसके फलमें इस लोकमें भी लाभ है और परलौकिक भी लाभ है। लोभके प्रसग आयें तो उस समय भी अपना विवेक ऐसा जागृत रखना, अपनेको समझाना कि लोभ कषायमें मत बह जावो, प्राप्त होता हो वैभव तो हो, न प्राप्त होता हो तो मत हो, उससे मेरी कुछ लाभ हानि नहीं। लाभ मेरा यह है कि निर्लोभ और निर्दोष वृत्तिको धारण कर अपने आपमें समाधानरूप रहूं तो उसमें लाभ ही लाभ है। तो यों कषाय विषम ज्वरको हटायें तो उससे अवश्य ही अपने आपमें परमात्मस्वरूपका सम्वेदनरूप परमविश्राम मिलेगा।

अजिताक्षः कषायाग्निं विनेतुं न प्रभुर्भवेत्।
अतः क्रोधादिकं जेतुमक्षरोधः प्रशस्यते ॥६६८॥

इन्द्रियविषयविजयके विना कषायाग्निका शमन करनेकी अशक्यता—अभी कषाय विजयका प्रकरण पूरा हुआ है। इस कषाय विजयकी बात सुनकर एक यह जिज्ञासा बनती है कि बात तो बडी अच्छी कही गई है। कषायें अनर्थके कारण हैं, इन कषायोंको जीतना ही चाहिए, मगर कषायोंको जीतें कैसे? उसके लिए हमें क्या कर्तव्य करना है? इस ही जिज्ञासाकी पूर्ति करने वाला अब यह इन्द्रियविषयविजयका प्रकरण आ रहा है। जिस पुरुषने इन्द्रियोंको नहीं जीता वह कषायरूपी अग्निको शान्त करनेमे समर्थ नहीं हो सकता। पांचों इन्द्रियके विषयोंकी बात सोचकर इसका समाधान कर लीजिए। जिस पुरुषको स्पर्शनइन्द्रियका विषय लग रहा है और उसमें प्रधान है कामविकार। जो पुरुष कामविकारसे पीड़ित है वह अपने चित्तमे सदा झल्लाया सा रहता है। अनाकुल सिद्ध नहीं होता। उसमें प्रतिकूल बाधायें आयें, ऐसी स्थितिमे वह क०

भरा हुआ ही तो है। प्रथम तो विषयोंका अनुराग ही कषाय है और वह है लोभकषाय और उस इन्द्रिय-विषयके लोभमें इसे अन्य-अन्य विविध कषायें भी जगती हैं। कषायें तब ही जीती जा सकेंगी जब विषय-विजय प्राप्त हो। रसनाइन्द्रियका विषय देखिये जिसके चित्तमें यह बात समाई है कि मुझे खूब अच्छा भोजन मिले, रसीला भोजन मिले, ऐसे पुरुषके चित्तमे तो मलीमसता निरन्तर बसी हुई है। और, उस व्यर्थकी तृष्णामे इसे अन्य-अन्य कषायें भी जगती हैं, न मिला अच्छा भोजन तो झट गुस्सा आ गई। मनमे गुस्सा है, कह कुछ सकते नहीं, अथवा जो कह सकते हैं तो वहा तांडव मचा देते हैं। तो रसना इन्द्रियका विजय प्राप्त किए बिना कषायोंको जीत नहीं सकते। घ्राणेन्द्रियका विषय गन्ध है। जहां दुर्गन्धका वातावरण हो अथवा सुगंधका वातावरण न हो और चाहते हों यह कि यहां सुगंधका वातावरण रहे, तो उसके लिए अनेक प्रयत्न करते हैं और उन प्रयत्नोंमें ही झल्ला उठते हैं।

विषयासक्तिमे निरन्तर विषयसस्कार रहनेकी विडम्बना—जो विषयोंमें आसक्त पुरुष हैं उनके झल्लानेकी प्रकृति होती है। जैसे जिस महिलाके चित्तमें अप्रसन्नता है चाहे वह पतिके व्यवहारसे अप्रसन्न है, उसे अन्दरमें रोष रहा करता है तो उसके रोष निरन्तर है। वह चाहे पतिको सबक न सिखा सके लेकिन उसका रोष कहीं बच्चे पर आ जाय, कहीं उसका रोष किसी बर्तनपर आ जाय, जिस चाहेपर अपने रोषकी झुंझलाहट निकाल दे, तो इसी तरह जिनको विषयोंसे प्रीति है, निजस्वरूपसे अप्रीति है, उनके स्वभावतः भीतरमें झुंझलाहट बनी रहती है और फिर जिस किसी भी घटनामें जिस किसी भी पुरुषपर अपनी झुंझलाहट बनती है। विषयोंपर विजय प्राप्त किए बिना कषायोंपर विजय प्राप्त करना कठिन है। इसी तरह चक्षुइन्द्रियके विषयकी बात भी समझ लीजिए। इष्ट रूप देखना। प्रथम तो देखिये कि सुन्दर रूप देखनेसे इसको लाभ क्या मिल जाता है? रूप तो रूपकी जगह है, वह छूनेकी चीज नहीं, खानेकी चीज नहीं, किसी काममें आनेकी चीज नहीं। केवल इतना है कि दूरसे आंखें खोला, देख लिया, तो उससे मिलता क्या है इस जीवको? पर जो इन विषयोंमें आशक्त हैं वह अनेक अनर्थ कर डालता है और कषायें उसकी प्रबल हो जाती हैं। इसी तरह कर्णेन्द्रियका विषय है—सुन्दर बात सुननेका अनुराग रहना, राग भरी बात, सुरीले शब्द सुननेका प्रेम रहना, यह भी अनेक कषायोंकी जड है। और, मनका विषय—वह तो एक बहुत ही अनर्थकी जड है। तो विषयोंपर विजय प्राप्त किए बिना कषायोंको शान्त करनेके लिए सामर्थ्य नहीं हो सकती, इस कारण क्रोधादिक कषायोंको जीतनेके लिए इन्द्रियविषयोंका निरोध करनेकी बात प्रशंसनीय मानी गई है। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि रसका क्या त्याग करना? खूब बढिया-बढिया भोजन करलें, जो मिले खूब ढगसे खा लिया करें केवल आध घन्टेका ही तो भोजन है खूब रुचिसे, अनुरागसे भोजन कर लिया करें, उसमें क्या बिगाड होता है? अरे आध घटेके बाद फिर खूब धर्मध्यानमें रहेंगे, खूब वैराग्य साधेंगे। अभी तो खूब अपना राग मानलें। लेकिन कहनेको तो आधा घटा है, पर वह आधा घटेकी बात व्यक्त दशा वाली है। उसका संस्कार जो बसा हुआ रहता है, जिससे निरन्तर इसकी हानि होती है उसको नहीं देखता। सभी विषयोंकी ऐसी ही बात है। विषयोंकी प्रीतिमें सस्कार रात-दिन रखना पडता है और उस सस्कारसे सदा उसका अनर्थ होता रहता है।

विषयाशाभिभूतस्य विक्रियन्तेऽक्षदन्तिनः।
पुनस्त एव दृश्यन्ते क्रोधादिगहनं श्रिताः ॥६६६॥

इन्द्रियविषयाभिभूत पुरुषके अक्षदन्तियोकी मदोन्मत्तताके कारण क्रोधादिकी गहनता—जो पुरुष इन्द्रियके विषयोंकी आशासे पीडित हैं उनका इन्द्रियरूपी हस्ती मदोन्मत्त दशाको प्राप्त हो जाता है। पहिली पीडा तो यही है कि विषयोंकी आशा इसके भावमें जगी। बाहरकी पीडा तो कुछ पीडा नहीं है। जो लोगोंको दिखती हैं वे कोई खास पीडायें नहीं हैं। पीडा तो भीतर बना रखी है। विषयोंकी आशाका जो परिणाम है वही एक पीडा है। जो विषयोंकी आशासे पीडित हैं उनकी इन्द्रिया विकृत बन ही जायेंगी, मदोन्मत्त हो ही जायेंगी।

और, जब इन्द्रियाँ उन्मत्त हो गईं तो उनके वश होकर वह पुरुष कठोर क्रोधादिक कषायोंको अपनाये हुए हैं फिर भी वह कषायोंके आधीन हो जाता है। आज मनुष्य लोग परेशान हैं, परेशान तो सभी प्राणी हैं पर मनुष्योंकी बात देख लीजिए एक छोरसे दूसरे छोर तक जो मनुष्य दिखते हैं प्राय. सभी परेशान नजर आते हैं, परेशानी ही परेशानी है। परेशानीका क्या अर्थ है ? जरा संस्कृत शब्दकी पद्धतिसे देखो परेशानी के शब्दमें दो शब्द हैं पर और ईशानी। ईशानका अर्थ है स्वामी। पर मायने दूसरा और ईशानी मायने मालकियत स्वामीपना, याने जो किसी दूसरेको अपना स्वामी मानता हो, जिसमें किसी दूसरेकी पराधीनता स्वीकार की हो वह है परेशानी। तो मूलमें ये विषयभाव पर है और इनकी आधीनता स्वीकार कर ली है, विषयोंकी आधीनता है इसलिए यह परेशानी है। आत्मा तो एक अकेला है, अकेला ही था और अकेला ही रहेगा। ज्ञानमात्र है, अमूर्त है, इसमें किसी दूसरी चीजका लाग लपेट नहीं है। आजकी स्थितिमें कुछ इन्द्रिय सम्पर्क होनेके कारण कोई ऐसी विकट दशा बन रही है कि उपयोग इन्द्रियद्वारा होता है, और इससे ऐसा लगता है कि मेरे साथ विषयोंका सम्बन्ध हुआ है। किन्तु हो रहा है केवल विषयसम्बंधीज्ञान, उसके साथ लगा है राग। तो परिचय और राग इन दोनोंका मिश्रण होनेसे इस जीवको परेशानी आ गई, तो वस्तुत. मेरी आत्मामें किसी दूसरी चीजका लाग लपेट नहीं होता। जब कोई चीज मिले तो इसमें बढ़ोतरी क्या और कोई चीज न रहे तो इसमें घाटा क्या ? अपने आपको अकेला ही निरखो, सन्तोष ही सन्तोष मिलेगा। लोग जो कषायोकी आशासे दब गए हैं उनका यह इन्द्रियहस्ती विकारको प्राप्त होता है और फिर वह ह पुरुष बड़े कठिन क्रोधादिक भावोंमें आ जाता है। और जो कषायोंमे हैं उनके पीड़ा प्रकट है। जो क्रोध कर रहा हो उसके दु ख देख लो कितना दुःखी है। खुद आपेमे नही है, वचन भी अटपट निकलते हैं, शरीर भी कम्पित हो जाता है, ओंठ कॉप जाते हैं, दाँत कॉप जाते हैं, उसकी स्थिति तो बड़ी दु खमय है, साफ दिखता है। इसी प्रकार मान, माया, लोभ आदिक कषायोंसे पीड़ित पुरुषोंकी, जो दु खमयी स्थिति है वह स्पष्ट नजर आती है। तो भाई ऐसी कषायोके दुःख अगर सहन नहीं करना है तो इन्द्रियविषयोंका निरोध करना होगा।

इदमक्षकुलं धत्ते मदोद्रेकं यथा यथा।
कषायदहनः पुंसां विसर्पति तथा तथा ॥१०००॥

इन्द्रियोंके मदोद्रेकके अनुसार कषायदहनका प्रसर्पण—यह इन्द्रियोंका समूह जैसे-जैसे अपना मद बढाता रहता है वैसे ही वैसे कषाय रूपी अग्नि भी बढती रहती है। स्तुतिमे कहा है ना कि "आतमके अहित विषय कषाय" हमारा अहित करने वाले ये विषय कषायके भाव है। मनुष्यजन्म पाया है, तत्त्वज्ञान, योग्यता पाया है, तब ठीक-ठीक निर्णय करके अपने भीतरका मार्ग सही बनायें तो यह जीवन पाना सफल है। और यदि विषय कषायोंमे रहकर जीवन गुजारा तो भले ही कुछ धर्मकी बाते कर रहे हैं, मगर वह तो देखा-देखी कुल परम्परासे अथवा लोगोंके बीच रहनेमे कुछ बडप्पनसा जाहिर होता है, ऐसे कुछ आशयोंसे वे धर्मपालन मे लगे हैं। अरे यदि अपना सही निर्णय करके आत्मदया करते हुए भीतरमे धर्मपालनकी दिशामे बढे तो जन्म सफल होगा। तो इन इन्द्रियविषयोंपर विजय प्राप्त करनेकी बात सर्वप्रथम है। जो त्यागीजनोंमें यह रुढि है कि रसका त्याग करना, मीठा न खाना, इष्ट न खाना, गरिष्ट न खाना, सादा भोजन करना, यह सब हितकी दिशाका सूचक है। भला, बताओ कि सरस भोजन खाया तो इसके पास पूंजी क्या रही ? खाया, बीमार भी रहे, वादी भी बढ़ी, बाहर किया, पेट ज्योंका त्यों रीता रहा, इसे फायदा क्या पहुचा ? बगाड़ देखो तो स्वास्थ्य बिगडा, विशेष धनकी भी जरूरत रही, उसके लिए अधिक कमाना भी पडा और निरन्तर का जो संस्कार बना रहता है चौबीसों घटे, व्यक्त तो होता है वह भोजन करनेके समय एक घटेमे, लेकिन स्वच्छन्द होकर जो खब खानेकी मनमें वासना वहाँ काम कर रही है तो यह वासना साबित करती है कि, इसके चौबीसों घटे इसका संस्कार बना हुआ है। उससे कितना अनर्थ होता है, इन्द्रिय कषायोंसे

क्या है ? हर एक विषयकी बात सोच लो जो पुरुष काम वासनासे पीड़ित है, मैथुन प्रसंग करता है, भला बताओ कि विषय भोग कर उनके हाथ रह क्या जाता है ? कौन सा वैभव उनके पास रहता है ? बल्कि उसके बाद अपनेको रीता असहाय सा अनुभव करता है। किस विषयको भोगनेसे जीवको लाभ मिलता है ? खूब सोच लो चाहे नाकका विषय हो, चाहे आँखका विषय हो, चाहे कर्णका विषय हो उन विषयोंको भोगने के पश्चात् इस जीवको लाभकी बात क्या रहती है ? कुछ भी नहीं। तो ऐसे अनर्थ व्यर्थ इन्द्रिय विषयोंको जीतनेका मनमें भाव भी न बनायें तो यह जीवन किस कामका ? ये इन्द्रिय विषय जैसे-जैसे मदके उद्वेग में आते हैं वैसे ही वैसे कषायरूपी अग्नि विस्तृत होती जाती है। और अग्नि बढती है तो उसमें कितनी व्याकुलता होती है सो बात स्पष्ट ही सब जान जाने हैं।

कषायवैरिव्रजनिर्जयं यमी करोतु पूर्वं यदि संवृतेन्द्रियः।
किलानयोर्निग्रहलक्षणो विधिर्न हि क्रमेणात्र बुधैर्विधीयते ॥१००१॥

संवृतेन्द्रिय पुरुषके कषायवैरिविजयका विधान—यदि कोई योगी पुरुष इन्द्रिय विषयोंको नियन्त्रित कर सका है, इन्द्रियसम्वरण कर पाया है तो वह कषायवैरियोंके समूहपर विजय प्राप्त करे। क्यों जी, किस कषायपर पहिले विजय प्राप्त करना चाहिए ? वैसे कषायके विजय करनेका बहुत बडा काम हम आपको करनेको पडा है ना ? तो सिलसिलेसे करनेकी बात होना चाहिए। यदि सभी कषायोंपर इकट्ठे ही विजय प्राप्त करें तो वह तो बहुत बडा काम हो जायगा। तो पहिले कौनसी कषायोंपर विजय करना चाहिए ? यदि कहो कि क्रोधपर विजय करें तो अभी मान, माया, लोभ आदिको सहूलियत मिली है क्या ? अरे यदि लोभ कषायपर विजय नहीं किया तो फिर क्रोध तो आयगा ही। पहिले किस कषायपर विजय प्राप्त करें ? इसका कोई सही-सही उत्तर नहीं है। क्योंकि इसमें यह निर्णय ही नहीं है कि पहिले इस कषायको तो दूर करलें, बाकी कषायें फिर दूर करेंगे। अरे चाहे जैसे बने, चारों कषायोंपर एक साथ विजय प्राप्त करना चाहिये। अपने चित्तमें एक यह निर्णय रखें कि ये चारों ही कषायें मेरे लिए बैरी हैं, इनपर मुझे विजय करना है। एक बात दूसरी यह है कि इस जीवका अहित करने वाले भाव हैं विषय और कषाय। इनका हम किस प्रकार विजय प्राप्त करें ? कोई उत्तर देगा कि पहिले विषयोंपर विजय करें। इस प्रकरणमें भी यह ही बात कही जा रही है कि इन्द्रियविषयको जीते बिना कषायोंका उपशम नहीं किया जा सकता। तो लो पहिला काम इन्द्रियविषयके विजयका है, अच्छा तो कषायोंकी ओरसे उपेक्षा कर दो, कषायविजय पीछे कर लेंगे। मगर देखो कषायोंपर विजय कुछ भी न हो तो क्या इन्द्रियविषयोंपर विजय की जा सकती है ? जब लोभ ही कम नहीं कर सकते तो विषय विजय कैसे हो सकता है ? अच्छा चलो पहिले कषायोंपर विजय करलें, हम जरा कषायोंको नियन्त्रित करलें, जरा उनपर काबू पा लें, फिर हम इन्द्रियविषयोंपर विजय करेंगे। तो लो अगर इन्द्रिय विषयोंके विजयकी उपेक्षा की तो कोई विषय संस्कार तो हमारे कषाय संस्कारका कारण बन रहा, तो क्या करना ? निर्णय यह रखें कि विषय और कषाय दोनों ही भाव मेरे वैरी हैं। हमें तो दोनोंपर एक साथ विजय करना है। तो इस निर्णयके बाद जैसी घटना आ जाय, जैसी परिस्थिति आये, उनमें जो प्रमुख विजयकी बात बना करे, बने, लेकिन चित्तमें यह बात बनायें कि समस्त विषय और समस्त कषायें इन पर मुझे विजय करना है और इसीका मुझे पौरुष करना है।

यदक्षविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम्।
अनन्तजन्मसन्तानक्लेशसंपादकं यतः ॥१००२॥

वास्तविक आनन्दका स्वरूप समझ लेनेपर धर्मपालनकी पात्रता—अपने आपपर कृपा करके पहिले यह निर्णय तो बनालें कि सुख अथवा आनन्द किसका नाम है ? यदि यह चित्तमें समा जायगा कि ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप आये, ज्ञानस्वरूपका ज्ञान बना रहे, ऐसी एक सामान्य स्थितिसे उत्पन्न हुआ जो आल्हाद है, आनन्द इस ही का नाम है। तो हमें आनन्दके मार्गकी दिशा मिल जायगी। और, जब कोई यह ही समझ रहा है कि

पञ्चेन्द्रियके विषयोंके भोगनेमें जो सुख होता है वह ही सुख है और हमें सुखी रहना चाहिए, तो उसे कभी शान्तिका मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता। ये इन्द्रियसुख, इन्द्रियके विषयसेवनसे जो सुख होता है वह सुख, दुःख ही है। सुख नाम नहीं है उसका। आनन्द नहीं कहते उसे। क्योंकि इन्द्रियजनित सुख अनन्त संसारकी संततिको, क्लेशोंको प्राप्त करनेका एक कारण है। इन्द्रिय सुखके अनुरागसे ही तो यह जन्म-मरण, शरीर मिलता और अनेक प्रकारके इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदिक क्लेश हो रहे हैं। ये सुख सुख नहीं हैं, यह निर्णय करना बहुत बड़ा काम है। धर्मके क्रियाकाण्डोंमें जो चल रहे हैं और इस ओरसे अपरिचित हैं वे जरा विश्राम लें, उस क्रियाकाण्डके श्रमको जरा छोडकर थोडा इस ओर चिन्तन करें कि हम धर्मके पात्र कब बन सकते हैं? जिसको यह निर्णय हुआ कि ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानको प्रतिभासित कर देनेमें ही वास्तविक आनन्द है। और, अन्य वृत्तियोंमें आनन्द नहीं है, ऐसा निर्णय जिसको हो वही धर्ममार्गमें अपनी कदम सही ढंगसे रख सकता है।

इन्द्रियसुखोकी क्लेशरूपताका चित्रण—ये इन्द्रियके विषय इनमें उत्पन्न हुआ जो सुख है वह सुख कितने क्लेशोसे भरा है सो देखिये—प्रथम तो यह सुख पराधीन है। किस किसके आधीन है? मूलमें तो यह पुण्य कर्मके आधीन है। कर्मका उस तरहका उदय हो तो यह इन्द्रियसुखकी बात प्राप्त हो। कर्म भिन्न चीज है वह जैसा होना है होता है, उसपर इस आत्माका मूलत अधिकार नही है, इसलिए पराधीन होनेके कारण यह सुख सुख नहीं है। नीतिकार कहते हैं कि पराधीन सुखसे तो स्वाधीन दुःख भला है और यह बात अध्यात्ममें भी घटित करलो। स्वाधीन होकर तपश्चरण करने हुए अगर कोई क्लेश आ रहे हैं, तो उनमें आनन्द पाया जा रहा है और जो पराधीन विषयसुख हैं, उनकी इच्छा की, बस वहींसे दुःख प्रारम्भ हो गया। फिर प्रवृत्ति करेंगे तो वहां भी दुःख होगा ही। तो ये इन्द्रियसुख पराधीन हैं, इतनेपर भी कोई कहे कि रहो पराधीन, हमे सुख तो मिलेगा। अरे पराधीन है इतना ही ऐब नहीं, किन्तु ये विनाशीक भी हैं। इन्द्रियसुख नष्ट हो जाते हैं, सब लोग समझते हैं। कोई यह कहे कि हो जाने दो नष्ट। जितनी देरको मिलेगा, उतनी देर तो मौज मान लेंगे। सो सुनो। उस सुखमे निरन्तर सुख नहीं बसा हुआ है। बीचमें दुःख पड़े हुए हैं। दुःख अधिक पड़े हुए हैं। कोई सा भी सुख देखलो, उन सुखोंकी प्रक्रियामें बीच-बीच कितने दुःख उठाने पड़ते हैं। क्षोभ और आकुलताका दुःख तो निरन्तर बसा हुआ है। कोई कहे कि बसा रहने दो दुःख, हमारी तो उसपर दृष्टि ही नहीं है, हमें तो सुख अच्छा लग रहा है। तो सुनो—इतने ही ऐब नहीं, किन्तु यह इन्द्रियज सुख पापका बीज है। आगे बहुत काल तक दुःख भोगना पड़ेगा। आज लग रहा है भला इन्द्रियसुख, लेकिन नरक आदिकके दुःख जब भोगना पडेगा तो कितना दुःखी होना पड़ेगा। तो इस इन्द्रियसुखमे इतने ऐब बसे हुए हैं। उसमें क्या प्रीति करना? यह तो अनन्त संसार संततिके क्लेश बढाये इस तरहका कारण है। इन्द्रियसुख दुःख ही है. इस कारण उस इन्द्रियसुखमे लालसा न रखना और इन्द्रियविषयोंपर विजय प्राप्त करना यह पौरुष कषायोंको समूल नष्ट करनेका साधन बन जाता है।

दुर्दमेन्द्रियमातङ्गान्शीलशाले नियन्त्रय।
धीर विज्ञानपाशेन विकुर्वन्तो यदृच्छया ॥१००३॥

दुर्दम इन्द्रियगजोको विज्ञानपाश द्वारा शीलशालमे नियन्त्रित करनेका आदेश—हे कल्याणार्थी भव्य पुरुष, यदि अपने आपका सत्य विश्राम चाहिये हो तो यह कर्तव्य होगा कि दुर्दम इन्द्रियरूपी हस्तियोंका नियन्त्रण करें। इन्द्रियका नियन्त्रण किए बिना आत्माकी रक्षा न होगी। प्रकट क्लेश दिखता है इन्द्रिय विषयोंके भोगके प्रसंगमें। किसी भी इन्द्रियके विषयका भोगोपभोग हो उस समय स्थिति क्या बनती है जीवकी? उपयोग अपनेसे चलित है। बाहरी पदार्थों पर दृष्टि है और उस विषयके कारण विषयके भी आधीन हुए और विषयके आश्रयभूत बाह्य पदार्थके भी आधीन हुए। मिला क्या? इसका पता पडता है विषयके भोगोपभोगके प-

जैसे कोई रातभर खूब सनीमा, थियेटर, रूपकी चीज कुछ भी देखे, रातभर जगता रहा, अब जब खतम हो गया, उसके बाद जो और तकलीफ होती है, प्रमाद आया, आंखें खराब हुई, जो कुछ भी बात होती है वह जानता है कि मिला तो कुछ नहीं और पीडा हो गई, इसी तरह सभी इन्द्रियोंके विषयोंकी बात है। विषयोंके भोगनेके समय भले ही वह चीज सस्ती मालूम होती है क्योंकि पुण्यका उदय है, समागम मिला है; वह उसे सस्ता मालूम होता है, लेकिन कितना महगा पडता है यह विषयसम्बन्ध? देखिये विषयसंबंधसे जन्म-मरणकी परम्परा रहे, उस कालमें भी आकुलता रहे, आगे पीछे बडा भय रहे, शंकामें रहे, कितने अनर्थकी चीज है। जो पुरुष इन विषय साधनोंसे दूर है और आत्मज्ञानमें रम रहा करता है, रक्षित तो वह पुरुष है। हे भव्य, यदि अपने आपकी रक्षा चाहिये तो स्वतंत्रतासे विकार करने वाला जो यह इन्द्रियरूपी हस्ती है उसको शीलरूप सालके वृक्षसे विज्ञानरूपी रस्सोंसे बांध। नियंत्रण करनेके यहां दो आधार बताये गए हैं शील और विज्ञान। जैसे हाथीको नियन्त्रित करना है तो उसके दो आधार हैं पेड और सांकल ऐसे ही इन दुर्धर इन्द्रियोंको वशमें करनेके उपाय दो तत्त्व है-शील और ब्रह्मचर्य। मात्र ब्रह्मचर्य है-वह भी एक धुन है फिर भी अलग-अलग ब्रह्मचर्य और तत्त्वज्ञान हो, इन दोनोंमें भी लाभ है, और जहां ब्रह्मचर्य और तत्त्वज्ञानका सुयोग है, मिलाप है उस जीवकी तो रक्षा है ही। तत्त्वज्ञानी पुरुषको बाह्य पदार्थ या जीवोंके संकोच दृष्टि नहीं होती। लोग मुझे क्या कहेंगे, इस प्रकारकी चित्तमें वासना नहीं रहती, किन्तु मैं ठीक रहूँ, मेरी रक्षा रहे, मैं शुद्ध मौजमें रहूं, बस यही धुन रहती है। यद्यपि कुछ दृष्टियों तक लोकलाज, लोकसंकोच भली बात है, उससे अनेक पाप दूर हो जाते हैं, लेकिन लोकलाज और लोकसंकोचके ही कारण जो पापसे दूर रहनेकी वृत्ति है, वह एक अपनेको कसने जैसी बात है, वहां प्रसन्नतासे, निर्मलतासे एक परमविश्राममें विहार करने वाली बात नहीं होती। यह परम विश्रामकी बात मिलती है तत्त्वज्ञान से। इन इन्द्रियोंको शीलके वृक्षसे और विज्ञानकी सांकलसे बाँध दे तब तेरी रक्षा है।

हृषीकभीमभोगीन्द्रक्रुद्धदर्पोपशान्तये।
स्मरन्ति वीरनिर्दिष्टं योगिनः परमाक्षरम्॥१००४॥

इन्द्रियसर्पके क्रुद्ध दर्पकी उपशान्तिके लिये योगियो द्वारा महामन्त्रका स्मरण— इन्द्रियरूपी जो भयंकर सर्प है इसके आयगा क्रोध। जैसे सर्प क्रुद्ध हो जाय तो अनर्थ हो जाता उसी तरह ये इन्द्रियां क्रुद्ध हो जायँ तो अनर्थ हो जाता। इन्द्रियके क्रुद्ध होनेका अर्थ है विषयोंके लिए आकुलित हो जाना। यह ही उनका क्रोध है। कहते भी हैं कि यह बडा शान्त रहता है, इसकी इन्द्रियां शान्त हैं और जब इन्द्रियमें प्रवृत्ति करे कोई विषय भोग उपभोगमें स्वच्छन्दतासे विचरण करे कोई तो यह ही है इन्द्रियका क्रोध। वह क्रोध आत्माके गुणोंको फूंक देता है, तो इन इन्द्रियरूपी सर्पोंके क्रोधकी शान्तिके लिए प्रभुने योगियोंके लिए परम अक्षरका निर्देश किया है और उसे योगीजन स्मरण करते हैं। जब कोई विकार चित्तमें उठे तो उसे विपदा मानें और उस विपदासे दूर होनेके ध्येयसे पहिले नमस्कार मंत्रका ध्यान कीजिये। करते तो हैं बहुतसे लोग मगर विपदा और कष्ट समझकर उस विपदाके नाश करनेके लिए स्मरण करते हैं। जैसे किसीने धावा बोल दिया, कोई आक्रमणकर रहा या कोई बड़े धनकी हानिके समाचार सुन लिया या कोई इष्टवियोग हो रहा, मुकदमा चल रहा तो मेरी जीत हो जाय यों आशासे अनेक बातोंको उपद्रव मानकर णमोकार मंत्रका स्मरण तो करते हैं, पर हे भव्य पुरुष देख तो सही, तेरेपर विपत्ति है विषय कषायोंके आक्रमणकी। वही महान विपदा है, बाकी और क्या विपदा? मान लो बाहरी बात १०,२० हजार निकल गए। तो निकल जाने दो, आपके थे ही कहां? कुछ धन आ गया तो क्या आ गयो? आपके आत्मामें कौनसी वृद्धि हो गई? जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग तो नियमसे होगा। उन पदार्थोंके वियोगसे विपदा क्यों मानते हो? वह तो बाहरी बात है। आये तो आये जाये तो जायें। विपदा तो इस जीवपर है विषय कषायोंकी, विकल्पोंकी। जहां विकल्प हुए वहीं यह बरबाद हुआ और व्यर्थ झंझटोंमें फस जाता है। तो ये इन्द्रिय जब क्रुद्ध हो रही हों, तो उनकी शान्ति

के लिए तू नमस्कार मंत्रका स्मरण कर। सीधी बात क्या हुई ? इन्द्रियविषयोके क्रोधकी शान्तिके लिए तू देव और गुरुका ध्यान कर, क्योकि गुरु इन्द्रियपर विजय किए हुए हैं, और वे इन्द्रियविषय व कषाय विकल्पसे परे हो गए। तो ऐसे शुद्ध आत्माओंका स्मरण कर। तो उससे यह इन्द्रियविषयोंका क्रोध शान्त हो जाता है।

निरुध्य बोधपाशेन क्षिप्ता वैराग्यपञ्जरे ।
हृषीकहरयो येन स मुनीनां महेश्वरः ॥१००५॥

मुनीशोद्वारा ज्ञानपाशसे बांधकर वैराग्य पञ्जरमें इन्द्रियवानरोका निरोधन—जिस मुनिने इन्द्रियरूपी बन्दरोंको ज्ञानरूपी पाशसे बांधकर वैराग्य पींजरेमें बन्द कर दिया ऐसा योगी पुरुष ही मुनियोंमें महेश्वर कहा गया है। बन्दर ऊधम करता है तो लोग क्या करते है कि उसे पकड़कर रस्सेसे या सांकलसे बांधकर उसे पिटारेमें बन्द कर देते हैं। लो बन्दर असहाय हो गया, अब वह बाहर निकल नहीं सकता। इसी तरह ये इन्द्रियरूपी बन्दर अत्यन्त चंचल हैं। क्षण-क्षणमें कुछसे कुछ, विषय उपभोग इनमें रत रहा करती हैं ये इन्द्रियां। तो इन इन्द्रियरूपी बन्दरोंको ज्ञानकी फांससे बांधें याने ऐसा ज्ञान प्रकट करें कि इस ज्ञानबलसे ये इन्द्रियां नियंत्रित हो जायें। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानके सिवाय और मेरा कोई कार्य नहीं, मेरा कार्य तो वह है जो मैं अपने आप सहज परकी अपेक्षाके बिना करता रहता हू। ज्ञाताद्रष्टा रहना मेरा कार्य है। सहज ज्ञानस्वरूप मेरा स्वभाव है। मेरेको और कुछ पडा क्या ? करनेको कुछ है ही नहीं। ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानरूप परिणमता है। हाँ गल्ती यह है कि मोह है, अज्ञान है, उस ज्ञानकी जरा दुर्दशा कर रखी है। विकल्परूपमें उसका नाच हो रहा है। तो कर्तव्य अब यह है कि ज्ञानको ज्ञानस्वरूपमें मग्न करें। ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही विषय रहा करे। इतना ही तो कार्य है मेरे लिए। अन्य कुछ काम तो पडा ही नहीं है; ऐसा ज्ञानबल बनायें और इन्द्रिय विषयोंको इस ज्ञानपाशसे नियंत्रित करें और वैराग्य पिंजड़ेमे बांध दें। विरक्त पुरुषोंकी ऐसी दृष्टि होती है कि जिस किसी भी पदार्थमें मन अधिक चलता हो उस पदार्थका त्याग कर देवें। जिस रसपर, जिस वस्तुपर, भोजनपर, किसीपर चित्त ज्यादह रहता हो, मनमें वासना रहती हो, उस चीजका परित्याग करदें। उसे तो वैराग्य और ज्ञानसे प्रीति है, और बाहरी पदार्थो में प्रीति नहीं है। तो यों ज्ञानपाशसे इन्द्रियको बांधकर उन्हें वैराग्यके पींजड़में डाल दें, यों ही खुला छोड़नेमें लाभ न मिलेगा। तत्काल तो लाभ मिला, लेकिन वह फिर उद्दण्ड हो जायगा, ऐसा मौका आ सकता है। इसलिए वैराग्यके पींजड़ेमे इसे बन्द करें। अवकाश ही न रहे। जो पुरुष रात्रिमें पानी नहीं पीते, रात्रिजलका त्याग कर देते हैं उनको प्यास नहीं लगती, इच्छा भी नहीं होती। थोड़ी बहुत प्यास लगी, तो न लगेकी तरह रहती है। रात्रिका समय बिना बाधाके व्यतीत हो जाता, क्योंकि त्याग कर दिया। वैराग्यके पींजरेमे बांध दिया। अब उनको आकुलता नहीं होती। जब तक विषयकी आशा लगी है तब तक आकुलता है। तो इन इन्द्रियरूपी बन्दरोंको ज्ञानकी फांससे बाधो और वैराग्य पींजड़ेमे बन्द करो। यदि कोई ऐसा कर सके तो वही वास्तवमें मुनियोमे महेश्वर है।

हृदि स्फुरति तस्योच्चैर्बोधिरत्नं सुनिर्मलम् ।
शीलशालो न यस्याक्षदन्तिभिः प्रविदारितः ॥१००६॥

अक्षदन्तियोसे अविदारित शील वाले योगीके निर्मल बोधिरत्नका चित्तमे स्फुरण—उसी योगी पुरुषके चित्तमें बोधिरूपी रत्न निर्मलतासे स्फुरित होता है जिसके साथ शील हो। जिसका शीलरूपी शाल हस्तियोंसे भंग न हो वह पुरुष बोधिरत्नको प्राप्त करता है। और, निर्मल हो जाता है। बोधिरत्न अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र याने आत्माकी सूझ, आत्माकी बूझ और आत्माकी रीझ। सूझ होना सम्यग्दर्शन, बूझ होना सम्यग्ज्ञान है और रीझ होना सम्यक्चारित्र है। वही करते रहते हैं योगीजन जिसके कारण एकान्त वनमें रहकर भी उन्हें ऊब नहीं आनी। वे अपने ही ज्ञानमे रत और तृप्त रहकर अपना सारा समय बड़ी शान्तिसे व्यतीत करते हैं। ऐसी वृत्ति उनके ही तो बन सकेगी जिनकी इन्द्रिया क्रोध नहीं करतीं। जिनकेअब विषय-

भावना नहीं रही ऐसे ही पुरुष इस सत्य विश्रामको प्राप्त करते हैं। जब थक जाते हैं तो आराम करनेकी बात मनमें आती है। शरीरसे थक गए तो आराम चाहिए, मगर जरा अन्तर्दृष्टिसे देखो तो सही कि यह आत्मा विकल्पोंसे कितना थक गया है। अनादिसे लेकर अब तक विकल्प ही विकल्प मचाये। विकल्पोंके क्षोभसे यह जीव मथा गया, थक गया, परेशान हो गया, हैरान हो गया। भीतरी थकान तो देखो—इस भीतरी थकानको मेटनेका उपाय क्या ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यही है उपाय। आत्माका सत्य श्रद्धान होना, आत्माका सत्य ज्ञान होना और आत्मामें रम जाना बस यही है सच्चा उपाय। पहिले यह श्रद्धा करना कि हम विकल्पोंसे थक गए हैं, विकल्पोंसे परेशान हो गए हैं। अब मुझे न चाहिए विकल्प। इतनी तो रुचि पहिले जगावो, फिर बननेको जब जो बने, बन जाय, लेकिन इतना तो ध्यानमें आये कि हम विकल्पोंसे परेशान हो गए, थक गए, और व्यर्थके विकल्प, जिन विकल्पोंसे इस आत्माका लाभ कुछ नहीं है। मोहियोंको रागमें लगता है ऐसा कि यह तो विकल्प करना ही चाहिए। स्त्री पुत्रोंकी जिम्मेदारी तो हमपर ही है। हमें ही तो उन्हें ठीक करना है, विकल्प ऐसे करना उचित है, करना ही चाहिए। यह भ्रम है। अरे ये विकल्प करना इस आत्माके अनुचित कार्य हैं। आत्मामें विकल्पका कोई स्वरूप नहीं है, अधिकार नहीं है। इस विकल्पसे मुझे थकान होता है, ये ही विकल्प मेरे लिए विपदा हैं, ऐसी सत्य प्रतीति तो हो, तब इस विकल्प विपदासे दूर होनेका अवसर भी मिल सकेगा। उसी मनुष्यके हृदयमें रत्नत्रयरूपी परम विश्राम प्राप्त होता है जिसके स्वभावको, शीलको इन इन्द्रिय हस्तियोंने विदीर्ण नहीं किया।

दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम्।
मूर्खास्तत्रैव रज्यन्ते न विद्मः केन हेतुना ॥१००७॥

अविद्याव्याललालित इन्द्रियजसुखरूपी दुःखमें मूर्खोंकी रजायमानता—इस लोकमें इन्द्रिय सुख ही दुःख है। जिसे लोग सुख कहते हैं वह तो भारी विपदा है, क्योंकि यह सुख अविद्यारूपी सर्पसे लालित है। कुछ सुख ऐसे होते हैं कि जो बड़ी विडम्बनाके प्रसंगमें पाये जाते हैं, और उन सुखोंके प्रसंगमें निरन्तर शल्य, आशंका रहती है। वह सुख है क्या ? वह तो दुःख ही है। सारे इन्द्रिय सुखोंमें सुख भोगनेकी जो भीतर इच्छा जगती है क्या वह ज्ञानमय भाव है, और अज्ञानमय भाव जिसे हो उसे कहते हैं अज्ञानी। इच्छा सारी अज्ञान है, उस अज्ञानसे लालित है यह सब इन्द्रिय सुख। सो यह सुख क्या सुख है, वह तो दुःखरूप है। इस सम्बंधमें कल बताया गया था कि यह इन्द्रियसुख पराधीन है, दुःखसे भरा हुआ है, पापका कारणभूत है, भविष्यमें दुःखका उत्पादक है। ऐसा यह सुख वास्तवमें दुःख है, लेकिन जो मूढ़ जन हैं वे इस सुखमें ही खुश रहा करते हैं, रजायमान रहा करते हैं, सो हम नहीं जानते कि इसमें क्या कारण है ? उन मोहियोंने क्या लाभ समझा है। देखिये इन्द्रियविषयसुखमें क्या लाभ समझा है मोहियोंने इसका वे भी बयान नहीं कर सकते, और न कोई बता सकता, क्योंकि लाभ ही नहीं है। क्या लाभ है ? वे उत्तर देंगे तो यही देंगे कि इससे सुख मिलेगा। अरे उसी सुखकी बात पूछी जा रही है कि जो दुःखरूप सुख है उसमें क्यों रजायमान हो ? उसमें इसको लाभ क्या मिलता ? कोई भी लाभ नहीं, फिर भी मोह ऐसा विकट अज्ञान है कि जो व्यर्थकी बात है, हानिकी बात है। सारे संकटोंको आमंत्रण देनेकी बात है उस ही में यह मस्त रहा करता है। थोड़ा इस ज्ञान सरोवरके निकट आओ और इस ज्ञानसरोवरमें थोड़ा इस ज्ञानस्वरूपमें अवगाहन करें उससे जो शान्ति प्राप्त होगी ऐसा शान्त पुरुष यह निर्णय बता सकेगा, यह निर्णय कर सकेगा कि इन्द्रिय सुख टोटली दुःखरूप है। थोड़ा यहीं देखलो आप बैठे हैं, सुन रहे हैं, चिन्तन कर रहे, मनन कर रहे हैं, न कुछ खा रहे हैं, न किसी इन्द्रियका विषय भोग रहे हैं, केवल बातें सुन रहे हैं, यहाँ इन्द्रियविषय भोगना तो नहीं बन रहा है, कुछ विरक्ति जैसी बातें लानेके ध्यानसे सुन रहे हैं इस समय कितना आनन्द मिल रहा है, उस जातिका आनन्द शान्त बैठे हुएमें आ रहा है, बतलाओ वह आनन्द क्या किसी इन्द्रियविषयको भोगनेसे प्राप्त हो सकता ? वह दूसरी जातिका आनन्द है। वह कहनेका सुख

है, मगर भीतरमें क्षुब्ध होता हुआ सुख है। जैसे कि हांडीमें खिचड़ी पकाई जा रही तो भीतरमें खलबली मच रही है इसी तरह इन्द्रिय सुखोंमें भी भीतर खलबली मच रही है। चाहे स्पर्शन इन्द्रियका भोग हो, काम विषय हो, चाहे खाने पीनेका भोग हो, रसनाका भोग हो, चाहे सूंघनेका भोग हो, सबको परखलो भीतर खलबली मच रही कि नहीं, और उसी खलबलीके कारण विषयोंमे प्रवृत्ति हो रही थी। बतलाओ जहाँ मूलमे खलबली है, जिसके कारण विषयोंमे प्रवृत्ति हो रही है। प्रवृत्ति पाकर क्या खलबली न पायगा, इन्द्रिय सुख प्रकट टोटली दुःखरूप है, ऐसा अपने मनमें पूर्ण निश्चय करना, मुझे किसी इन्द्रियका सुख न चाहिए, पर स्थितिवश खाना पड़ता है, देखना पड़ता है, बोलना पड़ता है। जो करना पड़ रहा ठीक है मगर मुझे तो इन्द्रियके द्वारा होने वाले ज्ञानकी भी आवश्यकता नहीं है, यह भी मुझे न चाहिए। इन्द्रिय सुख भी न चाहिए, इन्द्रियज्ञान भी न चाहिए। अरे इन्द्रिय ज्ञान भी आये तो उसे करें क्या ? जो मेरे सहज स्वभावसे मेरेमे वर्ते वह ही मुझे मजूर है। पर, दूसरेको उपेक्षासे ज्ञान मिलना भी मजूर नहीं, इतना दृढ़ निर्णय हो। परिस्थितिमे कुछ भी करना पडता हो, फिर भी इस निर्णयसे चूकना न चाहिए।

यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यान्ति देहिनाम् ।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हृदि विज्ञानभास्करः ॥१००८॥

इन्द्रियवशताके अनुसार विज्ञानभास्करका उत्कृष्ट स्फुरण—प्राणियोंकी इन्द्रियाँ जैसे-जैसे शिथिल होती जाती हैं वैसे ही वसे हृदयमें यह ज्ञान-सूर्य स्फुरायमान होता जाता है। बात थोड़ा-थोड़ा दोनो ओरसे है। जैसे-जैसे यह ज्ञान विकसित होता है वैसे ही वैसे ये इन्द्रियाँ वश होती जाती हैं। इनका विजय होता जाता है, विषयोंका रमण दूर होता है और जैसे-जैसे इन्द्रियाँ वश होती जाती हैं वैसे ही वैसे यह ज्ञानसूर्य स्फुरित होता है। यहाँ कोई यह सोचें कि तब मुझे क्या करना चाहिए ? ज्ञान पहिले करें या इन्द्रिय विषयोंके विजय की बात पहिले करें ? इस सोचमें क्यों पड़ गए ? क्या इन दोनोंमे एक हल्की बात है और एक बड़ी बात है ? जब दोनोंमे शान्ति है, विश्राम है, पवित्रता है तो मनमे यों सोचें कि दोनोको एक साथ करें या पूर्वापर करें ? करनेमें तो आयगा पूर्वापर, किन्तु जो जहाँसे प्रारम्भ होगा, जहाँसे आपकी बात बन सके, कर लीजिए। विषयविजयसे प्रारम्भ करें, तत्त्वज्ञानसे प्रारम्भ करें, करने दोनो ही है। यहाँ अन्तिम बात है ज्ञानसूर्य का अभ्युदय। सकल ज्ञानका उत्पन्न होना, परम तत्व प्रकट होना, सदाके लिए संकट दूर होना, मेरा विकास कैसे हो उस दृष्टिसे यह कहा जा रहा कि जैसे-जैसे इन्द्रियाँ स्ववश होती जाती हैं वैसे ही वैसे हृदय मे यह ज्ञानसूर्य बड़े उच्च रूपसे प्रकाशमान होता है।

विषयेषु यथा चित्तं जन्तोर्मग्नमनाकुलम् ।
तथा यद्यात्मनस्तत्त्वे सद्यः को न शिवीभवेत् ॥१००९॥

अन्तस्तत्त्वमे मग्नता होनेपर शिवस्वरूप होनेकी निःसन्देहताका प्रतिपादन—जिस प्रकार प्राणीका चित्त विषयोमे मग्न होता है, अनाकुल होकर मग्न होता है, अनाकुल तो होता नहीं अर्थात् वहाँ यह जानना कि न तो कल्याणकी आकुलता है उसे, न आत्मोद्धारकी आकुलता है, विषयोंमे मग्न होनेवाला पुरुष ऐसा अनाकुल है। याने उसे अपनी फिकर नहीं कि मेरी बरबादी होगी, जन्म मरण होंगे, ससारमें दुःखी बनना पड़ेगा। कोई आकुलता नहीं कर रहा है, अलकारसे कहा है, जैसे यह प्राणी व्याकुल रहकर याने विषयोंकी प्रवृत्तिके अतिरिक्त और कोई बात ध्यानमे न लाकर जैसे यहाँ मग्न रहा करते हैं, इस तरह यदि आत्मतत्त्व में मग्न हो जाँय वे तो फिर क्यों न शीघ्र ही मोक्षतत्त्वको प्राप्त कर लें। विषयोंका अनुभवन प्राणी कितनी लीनताके साथ करता है। जैसे जिसे खानेका लोभ है वह उसको ऐसी लीनतासे खायगा कि वह आगेकी बात न विचारेगा कि इससे मुझे कष्ट होगा और न दूसरेकी बात विचारेगा कि इसमे दूसरोंको कष्ट होगा। कुछ भी ख्याल नहीं करता, अपने उस रसास्वादमें ऐसा मस्त हो रहा कि कुछ सुध-बुध नहीं रहती। स्पर्शनइन्द्रियका जो विषय है जिसे कहेंगे काम वह तो इतना गंदा विषय है और इतनी तीव्रताको लाने व

है कि उसमें कुछ सुध रख ही नहीं पाता है, ऐसा नियम होता है। आगे पीछेकी खबर नहीं रहती। जैसे बिल्ली चूहेको पा ले, और उस बिल्लीपर कोई डंडा भी मारे कि छोड दे तो वह बिल्ली डंडे सह लेगी पर उस चूहेको नहीं छोडती ठीक ऐसी ही ही प्रवृत्ति विषयासक्त पुरुषोंकी होती है। बात यह बताई जा रही लीनताकी कि किस लीनतासे विषय भोग रहा, ऐसी लीनतासे यदि आत्माके स्वरूपमें कोई प्रवेश करे, लीन हो जाय तो वहमोक्ष स्वरूप अवश्य बन जायगा। इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, जैसे लडकोंको लाठी दे दें तो वे लडके क्या करते कि उसको दोनों पैरोंके बीच करके घोडा घोडा खेलते हैं। तो उस घोड़ेसे क्या काम बनेगा ? और जो वास्तविक घोडा है चाहे वह उद्दण्ड है, कुपथमें ले जाने वाला है, लेकिन उसे वश कर लिया जाय लगामसे किसी प्रकारसे तो उसे सुपथमें भी लाया जा सकता है, गमन करनेका माद्दा तो है। अभी कुपथगमन कर रहा है, उसे वश करलें तो सुपथमे लें जायगा। तो इतनी लीनताका माद्दा तो है जीवमें, आज कुपथमें है, तत्त्वज्ञान जगे तो विषयोंमें हटकर सुपथमें भी लीन हो सकते। उस ही लीनताकी तुलना यहाँ की है, ऐसी लीनता बड़े कामकी है, मगर विषयोंमें लीनता तो संसार संकटोंमें फसाने वाली है और आत्म स्वरूपमें इस ढगकी लीनता हो जाय कि किसी अन्यका ख्याल न लायें, ऐसी अगर लीनता होती है तो वह नियमसे शिव स्वरूप हो जायगा।

अतृप्तिजनकं मोहदाववह्नेर्महेन्धनम्।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥१०१०॥

इन्द्रियसुखकी अतृप्तिजनकता—जिनेश्वर देवने इन इन्द्रियजनित सुखोंको अतृप्तिजनक कहा है याने ये सुखतृप्ति उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। यह बात सभी अपने अनुभवसे समझ सकते हैं कि, इन्द्रियका विषय भोगकर कोई भी आज तक तृप्त नहीं रहा। तृप्त होनेकी बात तो दूर रहो, ज्यों ज्यों भोगसाधन मिले, त्यों त्यों असतोष, अतृप्ति, तृष्णा बढ़ती गई। जैसे एक खानेका ही इन्द्रियविषय देखिये रोज़ वैसा ही खाना खाते हैं, पर खा कर कोई तृप्त हुआ क्या ? क्या कोई इस तरह खाता है कि हमने कल तो इसका स्वाद समझ लिया था, अब हमें स्वाद लेनेसे मतलब नहीं रहा, हमे तो सिर्फ पेट भरना है। वह तो खाता है और उसमें मौज मानता है और उससे भी अधिक तृष्णा रहती है कि और कुछ अधिक रसीला भोजन हो, एक विषय की बात क्या, सभी विषयोंकी यही बात है। विषयोंके भोगते भोगते भी देखो अज्ञानी प्राणियोंका मन नहीं भरता कि अब नहीं भोगना। खूब बढ़िया राग भरे शब्द सुन लिया, अब हमें जीवनमें जरूरत न पडेगी, ऐसा कोई मनुष्य कर पाता है क्या ? जो करता है वह विरला ही है। इसीप्रकार देख लो खूब रूप डटकर देख लो बराबर एक टक लगाकर और देखकर इतना तृप्त हो जावो कि यह मन कह बैठे कि अब जिन्दगीमें रूप देखनेका काम तो नहीं रहा। सभी इन्द्रियकी ऐसी ही बात है कि ये इन्द्रियजनित सुख जीव को तृप्ति उत्पन्न नहीं करते, किन्तु इनसे तृष्णा और अतृप्ति ही बढाते हैं, और इसीलिए इसके त्यागको धर्म कहते हैं, धर्म वह है कि जिससे हमे सत्य सुख मिल जाय। यदि ये विषय साधन कभी हटते नहीं, सदा एक्सम रहते, मनमाने पास रहते तो यह भी कह सकते थे कि चलो विषयभोग ही धर्म है। आत्माको तो हित चाहिए। अगर यों ही मिल जाता होता तो उसको मना करनेकी कोई जरूरत न थी, लेकिन ऐसा है कहाँ ? पराधीन हैं, विनाशीक हैं, क्षोभसे भरे हुए हैं, भविष्यमें भी दुःखके कारण हैं, पापरूप हैं, पापका कारण है, सारे अनर्थ हैं इसकारण ये इन्द्रियजनित सुख हेय हैं। एक ही निर्णय बनायें कि किसी भी स्थितिमें इन्द्रियजन्य सुख उपादेय नहीं हो सकता। किसी भी स्थितिकी बात यों कही कि जब इस जीवका राग बढ जाता है, न हो राग पहिले बहुत विरक्ति हो और इसमें किसी समय राग बढ जाता है, किसी उत्तम वस्तुमें जो लोकमें ठीक माना जाता हो सुन्दर तो उसको एक ख्याल आ जाता कि जहाँ स्पष्ट घृणा होती है वहाँ तो इसका निर्णय बडा ठीक ताजा रहता है कि ये सुख पापके काम हैं, मगर जब रागकी तीव्रता होती है तो लोकमें मानी हुई कोई सुन्दर वस्तु सामने हो तो जीव अपना परिणाम ढीला कर देता है। किसी भी स्थितिमें

हों, इन्द्रियसुख दुःखका ही काम है और हेय है।

इन्द्रियज सुखकी मोहदावानलके लिये महेन्धनरूपता—जिनेश्वर देवने बताया है कि ये सुख मोहरूपी दावानलके लिए महान ईंधन हैं, जैसे जंगलमें आग लग जाय तो वहाँ ईंधनकी क्या कमी? आग वहाँ बढ़ती है। आग बढ़नेके लिए जैसे ईंधन होता है ऐसे ही मोह बढ़नेके लिए ये इन्द्रियविषयभोग हैं। उनमें यह ढंग नहीं रह सकता कि चलो एक बार अमुक विषय भोग लो फिर निपट गए, फिर भोगनेका काम न रहेगा। चलो हमें कल दीक्षा लेना है, कल अमुक संन्यास लेना है तो आज खूब डटकर खा लिया फिर खानेका काम न रहेगा ऐसा ढंग यहाँ नहीं है, क्योंकि यह इन्द्रियसुख भोग तो मोहरूपी दावाग्निके लिए ईंधन है। ऐसा नहीं हो सकता कि चलो कल हमें दीक्षा लेना है, मुनि होना है तो आज खूब पाप करलें, ताकि आगे जीवनमें उन पापोंका विचार न आये। यह कोई ढंग नहीं है, यह कोई वशकी बात नहीं है। उससे परिणामोंमें निर्मलता न आ सकेगी कि आज विषय इन्द्रियसुख भोगा तो आगे फिर निपट जायगा। यह तो मोहरूपी दावाग्निके लिए महान ईंधनकी तरह है। जैसे जिसमें तृष्णा है तो परिग्रहका कितने ही बार वह परिमाण करता है किन्तु जैसे ही उस परिमाण तक आ जाता है वैभव तो, आगे बढ़ने लगता है। किया हुआ परिमाण भी छूट जाता है। उस समय तो लोग अधिक नहीं रखते मगर जब हो जाता है तो वह बात भूल जाते हैं, क्योंकि भीतरमें तृष्णा है। तो विषय भोगोंका मूल तो तृष्णा है और वहाँ कोई ऐसा ढंग सोचे कि यह हमारा अन्तिम इन्द्रियका उपभोग है, इसके बाद तो हमें त्याग करना है तो ऐसा जानकर स्वच्छन्द होकर जो इन्द्रियविषयोंमें लगता वह अपना उद्देश्य भी पूरा नहीं करता। यह विषय तो मोह दावाग्निके लिए ईंधन जैसा काम करता है।

इन्द्रियसुखकी असातसन्ततिबीजरूपता—जिनेश्वरदेवने बताया है कि यह इन्द्रिय असाताकी संततिका बीज है, याने दुःख मिलता रहे, दुःखोंकी परिपाटीका एक बीज है, सो आप देखलो, सभीमें यही बात है। स्पर्शनइन्द्रियके विषयके भोगमें दुःखोंकी परम्परा बढेगी, इस लोकमें भी बढेगी और परलोकमें भी। इतना तो मोटे रूपसे यहाँ ही दिखता है कि जो लोग आज परेशान हैं, अनेक लड़कियाँ हो गई उनकी चिन्ता है, अनेक लडके हो गए, वे आपसमें लड़ते हैं, उनका साधन बना रहे हैं, समझा रहे हैं, कितनी ही अड़चन हो जाती हैं तो लोग यह कह बैठते हैं कि अगर शादी न कराते तो इतना दुःखी न होना पड़ता। तो इससे यह बात सिद्ध है कि वर्तमानमें जो दुःखोंकी परिपाटी लग गई उसका मूल कारण है इन्द्रियविषयोंका भोग। रसना इन्द्रियकी बात देखिये-रसकी आशक्ति, रसका भोग, यह भी दुःखकी परिपाटीका कारण है, फिर भी लोग उसके लिए अनेक साधन जुटाते हैं, उसका क्लेश है, बीमार हो जायें, स्वास्थ्य बिगड जाय, ये भी दुःख आते हैं और पापबंध होता है जिसके उदयकालमें आगे दुःख भोगना पड़ेगा। यह भी बात बनती है, तो यह इन्द्रियसुख असाताकी संततिका बीज है, ऐसा जिनेश्वरदेवने कहा है। तब क्या करना? ऐसा तत्त्वज्ञान बनायें, ऐसे अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान आनन्दस्वरूप इस ज्ञानतत्त्वकी दृष्टि बनाव कि यहाँ तृप्ति मिल सके, और ये विषयसुख सुगमतासे छूट जायें ऐसा उपाय करना है।

नरकस्यैव सोपानं पाथेयं वा तदध्वनि।
अपवर्गपुरद्वारकपाटयुगलं दृढम् ॥१०११॥

इन्द्रियजसुखकी नरकसोपानरूपता व नरकमार्गपाथेयरूपता—यह इन्द्रियजन्य सुख नरकका सोपान है, सोपान कहते हैं सीढ़ीको। यह न सोचें कि सीढी सिर्फ चढ़नेके ही काम आते हैं, अरे सीढ़ी उतरनेके काममें भी तो आती है। यहाँ तो जिस किसी बूढे व्यक्तिके नाती, पोते, पड़पोते सन्ते पन्ते आदि हो गए हों तो उसे बड़ा भाग्यशाली कहते हैं। वह जब मरता है तो उसके साथ कोई एक आधा या पाव तोलेकी सोनेकी सीढ़ी उसकी अर्थीके साथमें भेजते हैं इसलिए कि हमारे ये बाबाजी इस सीढीसे बडी आसानीसे स्वर्गमें पहुच जायें। पर जरा सोचो तो सही कि जिस बूढेने नाती पोता, पनाती, आदिसे खूब मोह किया हो

मरकर स्वर्ग जायगा या नरक ? तो बताओ वह सीढ़ी उसके स्वर्गमें चढ़नेके काम आयगी या नरकमें उतरनेके काममें आयगी ? अरे वह तो उसके नरकमें उतरनेके ही काम आयगी। अब आगे कहते हैं कि यह इन्द्रिय सुख नरकोंमें जानेके लिए कलेवाका काम करता है, जैसे यहाँ किसीको कहीं दूरकी मुसाफिरी करना हो तो उसके लिए टिफिन बॉक्समें नास्ता (कलेवा) रख दिया जाता है, इसलिए कि रास्तेमें कोई बाधा न हो। ऐसे ही ये इन्द्रियसुख इस जीवको नरक पहुँचनेमें कलेवाका काम करते हैं। तुम बड़ी जल्दी नरकमें पहुंच जावो। तुम्हें वहाँ तक पहुंचनेमें कोई बाधा न आये, इसलिए ये इन्द्रिय सुख मिले हैं।

इन्द्रियज सुखकी मोक्षद्वारदृढकपाटरूपता—यह इन्द्रियसुख मोक्षनगरके द्वारका दृढ़ कपाटयुगल है। जैसे किसी महलमें जानेके लिए कोई प्रयत्न करे और उसके दरवाजेमें बड़े मजबूत किवाड़ लगे हों तो वह उस महलमें प्रवेश नहीं कर सकता, इसी तरह मोक्षनगरमें जानेके लिए ये इन्द्रियसुख द्वारके किवाड़ हैं। यदि इन इन्द्रियसुखोंमें लीन होंगे, आशक्ति होगी, राग होगा तो मोक्षमहलके अन्दर प्रवेश नहीं हो सकता। एकीभावस्तोत्रमें यह बताया है कि प्रभु भक्ति क्या है? ये मोक्षके जो किवाड़ लगे हैं मोहमयी, उन किवाड़ोंको खोलनेकी कुञ्जी है यह प्रभुभक्ति। इस प्रभुभक्तिका बड़ा महत्त्व है। जो लोग तत्त्वज्ञानमें रुचि रखते हैं, तत्त्वज्ञानमें अधिक समय लगाते हैं, उनका अगर प्रभुभक्तिसे शून्य जीवन बन गया तो उनका वह तत्त्वज्ञान सूखा रहेगा, उससे लाभ न मिलेगा। और प्रभुभक्तिमें जब प्रभुका स्वरूप विचारा जाता है और अपना भी स्वरूप विचारा जाता और प्रभुकी वर्तमान पर्याय विचारी जाती और अपनी वर्तमान पर्याय विचारी जाती तो ये सारे ध्यान जिस भक्तिमें चल रहे हों वहाँ तो आनन्द और विषादका मिश्रण बनता है। और भीतर भीतर तो आल्हाद है प्रभुस्वरूप और अंतस्तत्त्वकी तुलनामें। और विषाद क्यों है, उस वक्त गद्गद् वाणीका स्तवन होता है, तो कभी आनन्दाश्रु निकलते हैं कभी अपनी पर्याय और हीनतापर विषादाश्रु निकलते हैं, पश्चात्ताप भी होता है, इसीप्रकार पछतावामें भी बड़ा गुण है, पछतावामें बड़ी निर्मलता जगती है। और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें तो कई कथानक ऐसे भी बताये कि पश्चात्तापसे केवलज्ञान हो गया और मुक्ति हो गई। यद्यपि पश्चात्ताप केवल ज्ञानका कारण नहीं है लेकिन निर्मलताका कारण अवश्य है, परिणामोंमें विशुद्धि आयगी और उस विशुद्धिके कारण जो कुछ चाहिए केवलज्ञानके लिए, वह सब परिणामसे मिल जायगा। तो जहाँ पश्चात्ताप, भक्ति आदिक परिणाम बन जाते हैं वहाँ मोक्षके द्वारमें लगे हुए कपाट खुल जाते हैं। किवाड़ोंके खुलनेकी कुञ्जी है तो वहाँ यह भी खोजना कि इन्द्रियसुख मोक्ष द्वारका प्रतिबंध करने वाले दृढ़ कपाटयुगल हैं।

विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम्।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ॥१०१२॥

इन्द्रियजसुखकी विघ्नबीजता, विपन्मूलता व भयास्पदता—जो इन्द्रिय विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख है वह विघ्नोंका बीज है। इन्द्रिय सुख चाहने वाले भोगने वाले पुरुषोंके जीवनमें कितने विघ्न आते हैं। स्वयंकी आसक्तिसे स्वयं विघ्न रूप बनाते हैं और चूंकि परिणाम उसका इस दुर्वासनाका है तो बाह्य पदार्थोंके संयोग वियोग इसको विघ्नरूप मालूम होते हैं और परकृत उपद्रव भी होते हैं। इस तरह इन्द्रियसुखके प्रसंगमें अनेक अनेक बाधायें खड़ी हो जाती हैं। पुराणोंमें अनेक कथायें ऐसी मिलती हैं कि इन इन्द्रियसुखोंके पीछे स्त्रीने पतिको मरवा दिया। बेटेने बापको मरवा दिया, भाईने भाईको मरवा दिया। इन इन्द्रियसुखोंके पीछे कितनी कितनी विडम्बनाभरी घटनायें बन जाती हैं, वे सब इन्द्रियसुखके लोभमें उत्पन्न होता है। वे सब इन्द्रियसुख के लोभमें उत्पन्न होती हैं। यह इन्द्रियसुख विपत्तियोंका मूल कारण है, विपत्तिका मूल यह यों है कि इन्द्रिय सुख तो स्वयं विपत्ति है और उस विपत्तिके अंधकारमय भावमें जो इसकी प्रवृत्ति बनेगी वह भी विपत्तियोंका मूल है। गुरुजी एक घटना सुनाया करते थे कि कोई एक सिपाही किसी वेश्याका प्रेमी था। उस वेश्याके प्रेममें आकर उसने अपना सारा धन खो दिया, लोगोंमें अपनी इज्जत खो दिया, सब कुछ खो। धनके बाद

अब वह वेश्या उससे क्यों प्रेम करेगी ? तो वह वेश्या अब उसे अपने घरमें न आने दे। तो वह सिपाही उस वेश्याके घरके सामने जो मैदान था वहाँ खडा रहे, उसकी ड्यूटी तो खतम हो गई होगी। अब उससे लोग पूछें—क्यों भाई तुम यहाँ क्यों खड़े रहा करते हो ? तो उसने बताया कि देखो, मुझे इस सामनेके मकानमें रहने वाली वेश्यासे प्रीति है। उसके पीछे मैंने अपना सब कुछ उड़ा दिया, अब यह मुझे अपने घर नहीं आने देती, तो मैं यहाँ इसलिए खड़ा रहा करता हूँ कि वह कहींछतपर खडी हुई अथवा दरवाजेसे आते जाते दिख जाय। तो देखिये इन इन्द्रियसुखोंके पीछे कितनी-कितनी विडम्बनायें बन जाती हैं। और, भी देखिये यह इन्द्रियसुख पराधीन है और भयका स्थान है। इन्द्रियसुख कर्मोंके आधीन है, जिनसे प्रीति है उन जीवोंके आधीन है और अपने शरीर बल आदिकके आधीन है, कितना पराधीन हैं ? इसमें कितनी ही बातें जुड जायें तब उसे इन्द्रियसुखका लाभ मिलता है। और इतनेपर भी निरन्तर उसमें भय बना हुआ है। और, भय तो एक ही है मान लो जीवनमें अधिकार है सरकारकी ओरसे भी, लोगोंकी ओरसे भी अधिकार दिया हुआ है। हमारा घर है, हमारी स्त्री है, हमारा पुत्र है, खूब रमो, खूब भोगो, फिर भी एक भय तो यह उसमे लगा है कि न जाने कब वियोग हो जाय। इस भयको कौन मिटाये ? और, फिर अन्यकृत भी अनेक भय हैं तो यह इन्द्रियजन्यसुख तो भयोंका स्थान है।

इन्द्रियजसुखकी करणाधीनता व करणग्राह्यता होनेसे अतिविषमरूपता—यह इन्द्रियजन्य सुख इन्द्रियाधीन है, इन्द्रियके द्वारा ग्रहणमें आता है। ये द्रव्येन्द्रिय बिगड़ जायें तो यह सुख न मिल पायगा, भोग नहीं सकते। और, मनमें इच्छा है भोगनेकी, तो उसका कितना दु ख मान रहे हैं, जैसे खानेका लोभी पुरुष किसी चीज को खा नहीं सकता बीमार होनेसे या किसी कारणसे और तृष्णा है तो वह तो ऐसा दु खी होता जैसे कि नपुंसक वेदकी कषाय बताया है कि वह भोग नहीं सकता मगर अन्दरमे वह बडा दु खी रहता है। ऐसे ही वृद्ध हो गए, शरीर क्षीण हो गया, इन्द्रियाँ विषय भोग नहीं सकती, लेकिन उसके क्लेश इतना अधिक लगा है कि वह तृष्णा करके रात-दिन दुःखी रहता है। यदि इन्द्रियाँ बिगड जायें तो वे विषय भोगनेमे नहीं आते, कैसी पराधीनता है, और नहीं भोगनेमें आता, तृष्णा बनी हुई है तो अन्दरमे दाह उत्पन्न रहती है। मूल निर्णय यह बनाये कि न मुझे इन्द्रिजन्य ज्ञान चाहिए न इन्द्रियजन्य सुख चाहिए। इन्द्रियजन्य ज्ञाका भी अगर लगाव रखा विश्वासमें, प्रतीतिमे कि यह ठीक है, तो हम हम स्वच्छन्द हो जायेंगे सो वह इन्द्रिय सुख के लिए भी लालायित कर देगा। न हमें इन्द्रियज ज्ञान चाहिए न इन्द्रिय सुख; हाँ थोडसा कुछ अन्तर यह हो सकता है कि इन्द्रियजन्य सुख तो हमें चाहिए नहीं; पर इन्द्रियजन्य ज्ञान चूँकि हम फसे हुए हैं अनेक बन्धनोंमें, इनसे निवृत्त होना है; जल्दी कैसे निवृत्त हों तो हमें प्रभु दर्शन करना चाहिए, स्वाध्याय करना चाहिए, किसीके वचन भी सुनना है, तो यह इन्द्रियज्ञान उपयोगी है। मगर जिसकी स्वभावकी प्रतीति है और आत्मनिधिका जिसे विश्वास है वह तो इस इन्द्रियजन्य ज्ञानको भी नहीं चाहता। यह भी न रहे तो अतुल ज्ञान प्रकट होगा। घाटेमें न रहेंगे, मगर जब अनेक बाधायें आ रही हैं विषय सम्बंधी, तब तक हम इन्द्रियज्ञानका इस तरहका उपयोग बनायें कि हम उस गलत मार्गसे मुड़ सकें और अच्छे मार्गमे आ सकें।

जगद्वञ्चनचातुर्यं विषयाणां न केवलम्।
नराज्ञरकपाताले नेतुमप्यतिकौशलम् ॥१०१३॥

इन्द्रियजसुखका जगद्वञ्चनचातुर्य व नरकपातालनयनकौशल—इन इन्द्रियविषयोंमें सारे जगतको ठगानेकी चतुराई है। याने जो विषयसेवन हो रहा है उस विषयकी बात कह रहे हैं कि इस विषयमें इस जीवको ठगनेकी चतुराई है, याने जो विषय सेवता है वह ठगा जाता है, वह घाटेमें रहता है, बरबाद होता है, उससे हानि होती है, तो यह विषय ठग है, कहा ही है कि यह विषय ठग है, विषय चोर है, इसने समस्त जगतको ठग लिया है। यहाँ यह नहीं कह रहे कि एक पुरुषके विषयने दूसरे पुरुषको ठग लिया, इस विषयने सारे जगतको ठग लिया। सारा जगत विषयोंको प्रिय मानता है तो विषयोंने उन सभीको ठग डाला, मिला क्या ? जैसे आज ही बताओ बचपनसे लेकर अब तक कितने ही सुख भोगे। काम सेवन किया, रसीले भोजन

किया, खूब सुगंधित वातावरणमें रहे, खूब राग भरी बातें देखी, खूब सनीमे देखे—उन सारे सुखोंको जोड़ लो। जोडनेपर नीचे क्या आयगा सो तो बताओ। देखो कैसा यह विचित्र जोड़ है कि और सख्याओंको जोडो तो कई गुनी सख्यायें नीचे आ जायेंगी। जैसे २०+१०=३०, मगर जितने इन्द्रियविषयसुख भोगे उन सब इन्द्रियविषय सुखोंको लिखो और जोड़ लगाओ तो उसका जोड क्या आयगा? जीरो (०)। कैसा यह गजबका जोड है। तो बताइये इन विषयसुखोंके द्वारा यह जीव ठगा गया कि नहीं? तो इन विषयोंमें सारे जगतको ठगनेकी चतुराई बसी है। इतनी ही बात नहीं किन्तु मनुष्योंको नरक पाताल ले जानेकी भी चतुराई इसमें है। जैसे आजकल डाँकू लोग क्या करते हैं कि धन और माल भी लूटते हैं साथ ही साथ जान भी ले लेते हैं। वे डाँकू ऐसा नहीं करते कि चलो धन लूट लिया तो बस काफी है, धनसे अपना मतलब, पर वे धनके साथ-साथ जान भी ले लेना ठीक समझते हैं, ठीक ऐसे ही ये इन्द्रियसुख इतने चतुर हैं कि ये इस संसारके समस्त प्राणियोंको ठगते हैं और साथ ही नरक पाताल ले जानेकी भी इनमें चतुराई है।

निसर्गचपलैश्चित्रैर्विषयैर्वञ्चितं जगत्।
प्रत्याशा निर्दयेष्वेषु कीदृशी पुण्यकर्मणाम् ॥१०१४॥

निसर्गचपल चित्र विषयोंके द्वारा सर्व प्राणियोंकी ठगाई ये नाना प्रकारके सुख स्वभावसे ही चंचल हैं। इन्होंने जगतको ठगा, यह समझ लो कि ये बड़े ठग हैं, निर्दय हैं, आत्माको बरबाद करने वाले हैं, धूलमें मिला देने वाले, तुच्छ कर देने वाले हैं। ये पांचों इन्द्रियके विषय और मनका विषय ये इस जीवको बरबाद करने वाले हैं, ऐसी बात जिसने समझ लिया है वह भला पुरुष इन विषयोंके पीछे नहीं लगता। याने पुण्योदयसे जो वैभव प्राप्त है उसकी भी वाञ्छा वह विवेकी पुरुष नहीं करता। उसकी यह चाह नहीं रहती कि ऐसा ही वैभव मुझे परलोकमें भी प्राप्त हो। ये इन्द्रियसुख भोगनेका उनका परिणाम नहीं रहता। कोई एक सेठानी थी। इन्दौरकी बात है। वह सेठानी बहुत उपवास किया करती थी। एक दिन मैंने (प्रवक्ताने) पूछा कि तुम इतने अधिक उपवास क्यों करती हो? इससे तो तुम्हारे शरीरमें कमजोरी आती, धर्मध्यानमें भी बाधा आती···, तो उसने कहा कि मैं छोटी उम्रमें ही विधवा हो गई थी। सो मैं अपना जीवन अच्छे आचारसे बिता लूं, इसलिए उपवास करके शरीरको क्षीण करना ठीक समझा और दूसरा कारण यह है कि हमें सब प्रकारके सुख मिले हुए हैं, मिलनेपर अगर हम छोड़ें तब तो हमारा त्याग है और जो चीज है ही नहीं उसका हमने त्याग कर दिया तो वह कैसा त्याग? तो पुण्योदयसे प्राप्त हुई चीजको त्यागें, उसकी इच्छा न करें, ऐसी वृत्ति होती है भले पुरुषोंकी।

विषम विषयविषमें लोकोंकी प्रीति होनेका विस्मय—एक कथानक आया है कि कोई एक भंगिन मलका टोकना लिए हुए जा रही थी। किसी भले पुरुषने देखा तो सोचा कि इससे तो हमारे जैसे बहुतसे लोगोंको कष्ट होगा, इससे एक बहुत ही साफ सुन्दर स्वच्छ तौलिया भगिनको दिया और मलके टोकनेको ढांककर ले जानेके लिए कहा। वह भंगिन मलका टोकना लिए जा रही थी। रास्तेमें उसके पीछे तीन आदमी लग गए। आगे जाकर भंगिनने पूछा कि भाई तुम लोग पीछे क्यों लगे हो? तो वे तीनों बोले कि हम लोग देखना चाहते हैं कि तुम इस टोकनेमें क्या लिए जा रही हो। तो वह भगिन बोली—इस टोकनेमें मल है। इतनी बातको सुनकर उनमेंसे एक व्यक्ति वापिस लौट गया। दो व्यक्ति अभी भी पीछे लगे रहे। फिर भंगिनने पूछा—भाई तुम लोग क्यों पीछे लगे हो? हम तो देखना चाहते हैं कि तुम्हारे टोकनेमें क्या है?··· अरे कह तो दिया कि इसमें मल है। हम यों न मानेंगे, हमें तो खोलकर दिखा दो। खोलकर दिखाया तो उनमेंसे एक व्यक्ति और लौट गया। एक व्यक्ति अभी भी पीछे लगा रहा। भंगिनने कहा—भाई तुम क्यों पीछे लगे हो? तो उस व्यक्तिने कहा कि हम यों न मानेंगे, हमें तो खूब अच्छी तरहसे सुंघसांघकर परीक्षा कर लेने दो, परीक्षा ही करके हम वापिस लौटेंगे। जब भंगिनने तौलिया उघाड़ा, खूब सूंघसांघकर अच्छी

तरहसे परीक्षा कर लिया तब वह वापिस लौटा। तो ठीक ऐसे ही इन इन्द्रियसुखोंकी बात है। ये वैषयिक सुख बड़े रम्य प्रतीत होते हैं, पर ये इस जीवकी बरबादीके कारण हैं, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष इन्हें छोड़ देते हैं। एक तो ऐसे ज्ञानी विवेकी पुरुष होते हैं जो कि आचार्यजनोंके उपदेशको पाकर बिना उनमें पड़े ही छोड़ देते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि जो उनमें थोड़ा पड़कर, उन्हें दुःखदायी समझकर छोड़ देते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो इन विषयोंमें ही रमकर, उनमें ही रच पचकर, उनसे खूब परेशान होकर छोड़ते हैं। यह छोड़ना भी क्या छोड़ना, वे तो छूट ही जाते हैं। छोड़ना तो पड़ेगा ही। ये इन्द्रियसुख ठग हैं, निर्दय हैं, ऐसा जानकर भले पुरुष इनकी वाञ्छा नहीं करते। मूल बात एक और है कि यह सुख जहाँसे उत्पन्न होता उसका अगर ज्ञान न हो तो ये विषयसुख छोड़ना मुश्किल होता है। तो अपना एक यह ही प्रयत्न करें कि इन इन्द्रिय सुखोंसे (वैषयिक सुखोंसे) बढकर जो अपना स्वाधीन आत्मीय सुख है उसका अनुभवन करें। उसका अनुभवन करनेके लिए भेदविज्ञान बढावे, तत्त्वज्ञानको अपने चित्तमें अधिक बसावें, तो इससे उत्पन्न वास्तविक आनन्दकी अनुभूतिमें ये वैषयिक सुख अपने आप आसानीसे टल जायेंगे।

बर्द्धते गृद्धिरश्रान्तं सन्तोषश्चापसर्पति।
विवेको विलयं याति विषयैर्वञ्चितात्मनाम् ॥१०१५॥

विषयोंसे लुटे हुए पुरुषोंके गृद्धिवर्धन, सतोषापसरण व विवेकविलयकी विडम्बना—जिनका आत्मा विषयोंसे थक गया है याने विषयोंमे मग्न हो गया है उनके विशेष इच्छा बढ़ती है यह तो बात है ही और सन्तोष नष्ट होता है यह भी बात है, लेकिन साथ ही विवेक भी नष्ट हो जाता है। विवेकके नष्ट होनेकी कितनी बड़ी विपत्ति है, इसका अन्दाज कर लो उन लोगोंको देखकर जिनका दिमाग चलित है, जिनका दिमाग काम नहीं करता। हल्के दिमाग वाला कहो, कुछ लोग ऐसे भी पाये जाते कि जिनके पास लाखोंकी सम्पदा है मगर दिमाग उनका नष्ट है, काम नहीं करता, तो प्रबंध तो इस तरहका किया जाता कि कोई चाहे उस सारी सम्पत्तिका सम्हालने वाला मुनीम हो, या ट्रस्ट हो या सरकार हो, बस उस व्यक्तिको सिर्फ खाने रहने भरकी सुविधा दे दी गई। तो जिनका दिमाग विवेकहीन है उनके दुःखकी कौन कहे? वे विवेकहीन व्यक्ति कैसी विपत्तिमें पड़े हुए हैं, और कोई विषयेच्छा बढती है, तृष्णामें उपयोग फसा है तो उस समय वह विवेकहीन हो जाता है। वह दयाका पात्र है। तो इन विषयोंने इस जीवको ठग लिया है। और, देखो तो यह अन्तः प्रकाशमान परमात्मा प्रभु है, एक पवित्र ज्ञानस्वभावरूप है, लेकिन हो क्या रहा है अनादिसे अब तक? यही हो रहा, विषयोंकी आशा। चार प्रकारकी संज्ञायें हैं, उनके ज्वरोंसे पीड़ित होता हुआ यह जीव अनादिसे अब तक भटक रहा है। चित्तमें इन विषयोंके प्रति ऐसी दृष्टि होनी चाहिए कि ये महा ठग हैं, मेरेको बरबाद करने वाले हैं। जैसे कोई मीठा ठग होता है तो उसकी बातोंमे आकर लोग ठग जाते हैं बुरी तरहसे, ऐसे ही ये मीठे ठग हैं। इनकी बातोंमे न आयें, याने विषयोंकी ओर हमारे मनकी प्रवृत्ति न जाय, इसके लिए करना यह आवश्यक है—क्या? सत्संग और स्वाध्याय। ये दो बड़े रक्षाके साधन हैं। जो लोग, सत्सग और स्वाध्यायसे उपेक्षा करते हैं उनको बहुत सक्लेश होता है। सत्सग और स्वाध्याय इनकी विशेषता रखते हुए, तत्त्वज्ञानमें रुचि रखते हुए इन विषयोंसे अधिक दूर रहें, इसमे हमारी रक्षा है।

विषस्य कालकूटस्य विषयाख्यस्य चान्तरम्।
वदन्ति ज्ञाततत्त्वार्था मेरुसर्षपयोरिव ॥१०१६॥

विषयविषकी कालकूटसे भी अगणितगुणी घातहेतुता—यहाँ विष और विषय दो चीजें सामने हैं। मोटे रूप से तो इनमें अन्तर कुछ नहीं दिखता मगर इनका विश्लेषण करके देखिये तो बड़ा अन्तर है। याने विषसे विषय अधिक भयकर है। दोनोंमे मेरु और सरसोंके दाने बराबर अन्तर बताया है। कालकूट विष तो है सरसोंके दानेके समान और विषय है मेरु पर्वत समान भयकर, इस विष (हलाहल) का कोई पान करले ि

उसका मरण एक बार ही होता है, मगर विषयविषका पान कोई कर लेवे याने विषयोंका लम्पटी कोई होवे तो उसे भव भवमें जन्म मरणके क्लेश सहने पडते हैं। तो अब यह बात ध्यानमें लाये कि यहाँसे मरण करके यदि कीडा मकोडा हो गए, पशु पक्षी कीट पतिंगा आदि हो गए तो फिर न जाने क्या हाल होगा? न जाने कितने दु ख सहने होंगे। तो यह जन्ममरणकी परम्परा इस जीवको विपत्तिमें डालनेवाली है। आज तो इस मनुष्यभवमे हैं, पुण्यके साधन मिले हुए हैं, बडा मौज माना जा रहा है, वे कुछ अपने जन्ममरणकी इस परम्पराका कुछ भय नहीं मान रहे, भयकी बात तो तब आती है जब इन योनि जन्मोंका ज्ञान हो। कैसे कैसे कष्ट, कैसे कैसे शरीर, जन्ममरणकी बात सुनकर एक बार भय तो आता है, इस जन्ममरणसे मुक्ति पाना चाहिए। पर उससे मुक्त होनेका उपाय जब कहा जाय कि यह उपाय है कि आगे जन्म न हो, मायने हमे आगे शरीर न मिले, यह ही तो चाहिए ना। तो देखो यहाँ ही समझलो कि मैं-शरीर नहीं। शरीरसे न्यारी सारी अन्य चीजें हैं। इस शरीरसे मुझे मिलता क्या? वर्तमानमे शरीरकी चाह न रहे तो यह भी हो सकता कि आगे हमे शरीर न मिलें। अब यहीं शरीरकी चाह बहुत-बहुत बना रहे हैं तो कैसे ऐसे हो कि आगे शरीर न मिले? वह तो उसकी परम्परा है। वह तो मिलेगा ही। तो जिसे शरीरकी चाह न हो उसे शरीरमें आदर न हो। जैसे कि लोग अपने शरीरको देखकर कहते कि मैं पुष्ट हूँ, तगडा हो गया हूँ। दर्पणसे देखते हैं कि मेरा चेहरा खूब साफ स्वच्छ है कि नहीं, अपने इस शरीरको ही यह मैं हूँ ऐसी धारणा बनाकर उसकी यश प्रतिष्ठाकी चाह बनाये रहते हैं। शरीरको सफेद राख (पाउडर) लिपिस्टिक आदि अनेक चीजोंसे खूब सजाते हैं तो यह सब क्या है? यह सब शरीरकी चाहकी द्योतक है। नख बढा लेना, मेहदी रचा लेना, सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनना, दिनमें कई बार मेकप करना, बार बार साडियाँ बदलना आदि ये सब क्या हैं? ये सब विपत्तिकी चाह हैं। आत्माकी सुधकी पात्रता भी नहीं है, ऐसी विपत्तिमें पडा हुआ यह जीव जन्ममरणके घोर संकट सह रहा है। जिन्हें इस शरीरसे छुटकारा पाना है उन्हें यह निर्णय रखना चाहिए कि यह शरीर अत्यन्त गंदा है, इसको सजानेसे क्या लाभ? यद्यपि स्थिति ऐसी है कि इस शरीरकी भी थोडी सेवा किए बिना काम नहीं चलता, वह तो एक स्थितिकी बात है, सेवा करनी पड़ती है, पर यह शरीर अहंकार किए जाने योग्य नहीं है। शरीर तो शरीर ही है। इस शरीरकी चाह न रहे शरीरमें पर्यायबुद्धि न रहे। इस शरीर से सम्बंधित विषयोंकी भी चाह न रखें। जो विषयोंकी चाह रख रहा उसे विषय शरीर मिलेंगे ही। आखिर यह भगवान प्रभु ही तो है। यह शरीर चाहेगा तो ये शरीर इसे खूब मिलते रहेंगे, क्योंकि आखिर यह भगवान ही तो है। यह इस समय बिगडा हुआ है, तो बिगडनेपर भी इसका ऐश्वर्य कहाँ जाय? इसका ऐश्वर्य यही है कि जो चाहे सो मिले। अब यह शरीर चाहता है तो इसको शरीर मिलेंगे। जन्म मरणकी परम्परासे निवृत्त होना हो तो पहिले यहाँ भेदविज्ञान करना होगा। भेदविज्ञानी पुरुषके विषयोंकी चाहकी वृत्ति नहीं रहती। देखो यह विषयविष इस कालकूट विषसे भी भयंकर उत्पात करने वाला है।

अनासादितनिर्वेदं विषयैर्व्याकुलीकृम्।

पतत्येव जगज्जन्मदुर्गे दुःखाग्निदीपिते ॥१०१७॥

रागी विषयविह्वल प्राणियोका ससारकारागृहमें पतन—इस जीवने, इस ससारी प्राणीने कभी वैराग्यको प्राप्त नहीं किया। और, यही कारण है कि अब तक यह व्याकुल हो रहा है। जहाँ राग है वहाँ उसी समय अनाकुलता है। जैसे यहाँ हम बाहरी चीजोंमें प्रयोग करके देख लेते हैं कि इसका क्या असर है, इस चीजको इसमें मिला देंगे तो क्या बनता है? इसमेंसे इसे हटा देंगे तो क्या बन जाता है? जैसे हम यहाँ पौद्-गलिक सयोग वियोग पर परीक्षा कुछ करते रहते हैं इस तरह जरा यहाँके भी इस सयोग वियोगकी परीक्षा तो कीजिए। रागका सयोग हुआ तो आत्मामें क्या बात गुजरती है? वही बात यहाँ कहा है कि विरागता को प्राप्त न हो कोई तो वह व्याकुल ही रहता है। और, जहाँ राग अपराध किया तो उसके फलमें दावानल से जाज्वल्यमान इस ससारकैदमें इसको कैदी बनकर रहना पडता है। अपराधका अर्थ है जहाँ आत्मा दृष्टिमें

न हो ऐसा भाव। यह बात शब्दसे निकल रही है। राध धातु संसिद्धि अर्थमें है राधृ संसिद्धौ अर्थात् अपगत हो गई है राधा जिसके, सिद्धि नहीं रही है जिसके उसे कहते हैं अपराध। फिर लोग असिद्धिमें भी अपराध का प्रयोग करने लगे। ससारकी जितनी बातें हैं, जिनका लोग अपराध निरपराधका निर्णय देते हैं वे तो सब बातें अपराध हैं। जैसे कि आवश्यकका क्या अर्थ है? तो लोग तो कह देंगे—जरुरी काम, पर आवश्यकका अर्थ जरूरी है ही नहीं। जरूरी अर्थ कहाँसे निकाल लिया? शब्दमें तो पड़ा ही नहीं है। न वशः इति अवशः अवशस्य कर्म आवश्यकम् अर्थात जो इन्द्रियके वशीभूत नहीं है ऐसे पुरुषके कामका नाम है आवश्यक। उसको जरूरी कहाँ पडी हुई है? अब जो इन्द्रियके वशीभूत नहीं हैं ऐसे पुरुषोंका काम जरूर करने लायक है इसलिए आवश्यकका अर्थ जरूर कर दिया, पर शब्दमे जरूरी अर्थ नहीं है। इसी तरह लोकमें जिन बातोंको निरपराध कहते हैं जैसे कोई घरमें रह रहा है, अपनी स्त्री पुत्रादिकसे सतुष्ट है। खूब मनमाना किराया आ रहा, बहुत बडी जायदाद है, सब प्रकारके ठाठ हैं, वह किसीको नाजायज सताता नहीं, किसीकी कोई चीज चुराता नहीं, किसीको ठगता नहीं, किसीसे उसका कुछ प्रयोजन ही क्या? क्योंकि उसको तो घर बैठे बड़ी बडी आमदनी हो रही है, और वह अपनी स्त्रीपुत्रादिकके बीच खूब मौजसे रहता है, तो बताइये ऐसे पुरुष को क्या निरपराध कहेंगे? अरे उसका अपने स्त्रीपुत्रादिकमे तेज राग लगा है उसका बड़ा भारी अपराध वह कर रहा है। उसे भेदविज्ञान नहीं जगा, वह तो अपने स्त्रीपुत्र धन वैभव वगैरहमें बड़ा राग किए हुए हैं तो वह तो बडा अपराधी है तो जो अपराध करता है। जो विरागतको प्राप्त नहीं होता अतएव विषयमे वह व्याकुल रहता है वह दु खाग्निसे ज्वलित इस ससाररूपी जेलमें पड़ा हुआ घोर दु.ख भोगता रहता है।

इन्द्रियाणि न गुप्तानि नाभ्यस्तश्चित्तनिर्जयः।
न निर्वेदः कृतो मित्र नात्मा दुःखेन भावितः ॥१०१८॥
एवमेवापवर्गाय प्रवृत्तैर्ध्यानसाधने।
स्वमेव वञ्चितं मूढैर्लोकद्वयपथच्युतैः ॥१०१९॥

इन्द्रिविजय न करनेकी मूर्खता—अनेक मूर्ख ऐसे हैं कि जिन्होने इन्द्रियोंको कभी वश नहीं किया। उन्हें मूर्ख कहा गया है जो इन्द्रियोंको वश नहीं करना चाहते। उनकी यह भावना ही नही है कि मैं इन्द्रियोंको वश करूं। अब देखो—कहनेकी बात तो एक साधारणसी है। खूब खावो पियो, खूब रुचिसे भोग भोगो, उससे क्या बिगाड है, और, और कामोंमे सुधार करलो, लेकिन इन समस्त इन्द्रियोंके शेष जो चार इन्द्रियाँ हैं उन चारो इन्द्रियोंके स्वच्छ होनेका मार्ग है यह कि मनमाने खूब रसीले आशक्तिसे भोजन न करना। यह रस इन्द्रियकी उद्दण्डता करानेका एक साधन है इसलिए रसना इन्द्रियके विजयका बहुत उपदेश है ग्रन्थोंमे। चरणानुयोगमें बताया है कि भक्ष्य पदार्थ ही खावो, अभक्ष्य पदार्थ न खावो, रसोका परित्याग करो, खाने पीनेमे हर चीजमे नियम रखो, प्रमाण रखो, और कुछ गृहस्थ तो ऐसे भी पाये जाते हैं कि अगर उनकें मनमे आया कि हमें आज अमुक चीज खानेको मिलना चाहिये तो वे उसका त्याग कर देते है। जैसे मन खीर खाने का मन किया तो कहते कि बस मेरा तो आज खीरका त्याग। रसना इन्द्रियका विजय एक बहुत बडा महत्त्व रखता है। और, इससे फिर प्रायः सभी इन्द्रियोंका विजय आसानीसे हो जाता है। कहते हैं कि वे पुरुप मूर्ख हैं जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया। उन्होंने अपनी एक शैर भी बना लिया है—"जिन आलू भटा न खाये। वे काहेको जगमें आये?" तो जो इन्द्रियविजवकी भावना नहीं रखते वे पुरुष मूर्ख हैं।

चित्तनिर्जयका अभ्यास न करनेकी मूर्खता—इस चित्तको जीतनेका कभी इस जीवने अभ्यास नहीं किया। देखो अपने घरकी बात है, मिट्टी पत्थरके घरकी बात नहीं कह रहे, अपने आपके अन्दरकी बात कह रहे, जहाँ बैठे हैं बस बैठे ही बैठे सोच लेना है, जरा भीतर ही भीतर अपने मनको नियन्त्रण करके देखना है। इसमे और कुछ नहीं करना है, केवल मनको वशमे करना है। मनको दडित करना है। जंसे मन कहता है कि अमुक चीज खानेको मिलनी चाहिए तो वहाँ मनको ऐसा दंडित करना है कि वहो यह कह उठे कि

मुझे तो उस चीजको नहीं खाना है जिसके खानेका मन किया। यों मनके उल्टा चलने लगें। यों मन जो जो भी विषयसुखकी वाञ्छा करे बस उसके विरुद्ध हो जायें कि हमें ऐसा नहीं करना है। बस उससे बड़ा सन्तोष मिलेगा। इस चित्तके अनुसार चलनेमें जो मौज माना जा रहा वह सन्तोष भला नहीं है, वह तो कल्पनाका मौज है। और उस चित्तको वशमें करलें और उससे उल्टा चलनेका हम यत्न करें तो वह उल्टा सीधा ही कहलाता है, तो उसमें सतोषमूलक आनन्द मिलता है। वे लोग मूर्ख हैं जिन्होंने अपने चित्तको वशमें नहीं किया। मनमें यह बात तो आनी चाहिए कि हमें इन्द्रियविजय करना है।

रागपरिहार न करनेकी मूर्खता—वह पुरुष मूर्ख है जो कभी वैराग्यको प्राप्त नहीं होता। और, देखो—किसी भी रूपमे वैराग्य आये विना सुख भी नहीं मिलता। यह जो ससारका इन्द्रियजन्यसुख है वह सुख भी किसी न किसी अशमे वैराग्य आये विना मिलता नहीं है। जैसे खूब मनमाना भोजन किया। रसीला भोजन करते रहे तो आखिर कहां तक भोजन करेंगे? पेट तो जितना है उतना ही उसमें भरेगा। अब मनमाना खानेके बाद जो वह मौज मानता है तो वह उस भोजनसे निकला हुआ मौज (सुख) नहीं है या उस विषय-भोगका सुख नहीं है, किन्तु खा चुकनेके बाद खानेका राग न रहा, उस स्थितिका जरा सा आनन्द आ गया। तो हमारे चौबीस घंटेके सुखमे यह ही पद्धति है कि राग नहीं रहा उसका सुख आया, मगर यह जीव ऐसा मान नहीं पाता। मानता यह है कि इस चीजसे सुख आया। चीजोंको भोगनेके समयमें भी जो थोड़ा समयको जरा मौज सा आता है वह रागके अभावका आता है। कितने ही किसी रागका अभाव हुआ हो, मगर यह ऐसा नहीं मान सकता। वह मानता है कि मौज इस ही बाह्य पदार्थसे तो हुआ है। आपको किसी मित्रसे मिलनेकी इच्छा हो रही, आप दुःखी हो रहे। आपको मित्र मिल गया तो आपको बड़ा आराम मिल गया। बताओ वह आराम मित्रके मिलनेसे मिला या मित्रसे मिलनेका काम अब नहीं रहा, उस भावसे हुई कृतार्थतासे मिला? खोज करो। वह आराम मिला इससे कि अब मित्रसे मिलनेका काम नहीं रहा। जब तक चित्तमे यह बात रहती है कि मेरेको करनेको यह काम पड़ा है तब तक उसे आराम कहा? जब चित्तमें यह बात आये कि मेरे करनेको अब कुछ काम नहीं रहा तो वहाँ उसे आराम मिलता है। मेरा जगतमें कुछ भी करनेका काम नहीं पड़ा है, मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ही करता हू। ज्ञानके सिवाय बाहरमे मुझे कुछ काम करनेको नहीं पड़ा, लो इस प्रतीतिमे उससे भी अधिक सुखमे हो गए जो काम करके यहा भाव बना पाता था कि मेरेको अब काम नहीं रहा। वह सुखी तो यों न था कि एक कामको करनेके बाद उस सम्बधी भाव तो बन पाया कि मेरेको अब यह काम न रहा, मगर दूसरा काम चित्तमें लाद लेते हैं कि मेरेको यह काम करनेको पड़ा है तो वे तकलीफ पाते हैं। मगर तत्त्वज्ञानीको तकलीफ नहीं है, क्योंकि उसने आत्मप्रदेशसे बाहर सर्व पदार्थोंके सम्बधमे ऐसा निर्णय किया है कि मेरे करनेको यहा कुछ भी नहीं पड़ा है। जिसने इस प्रकारकी भावना ही नहीं की, परिणाम ही नहीं किया वह मूर्ख है।

मूर्खोंको आत्मदुःख भी यथार्थ दुःखरूपसे अपरिचय—जिसने अपने आत्माको कभी देखा ही नहीं, समझा ही नहीं, जो विषयासक्त है, मोही है वह मूर्ख है। जिसने ससारको दुःखमयी जान लिया और सासारिक क्रियाओंमे जिसने अपनेको दुःखी समझ लिया, उसका तो दुःखोंसे छूटनेका उपाय बनेगा ही। यह सारा लोक ससारी प्राणी दुःखोंसे छूटनेका उपाय नहीं बना रहा है। इससे सिद्ध होता है कि लोगोंने अपने इस दुःखको दुःख ही नहीं समझा। दुःखी होते हुए भी दुःखी नहीं समझा। यह गुण भी है और दोष भी है। तत्त्वज्ञानीके लिए गुण है और मोहीके लिए दोष है। ऐसा पुरुष जो मूर्खता तो लादे है और मोक्षप्राप्तिके लिए ध्यान साधनामे प्रवृत्त हो रहा है, धर्मकी धुन बनाये है तो उसने अपने आपको ठगा। जो विवेकी नहीं है और धर्म मानकर सतुष्ट हो गया है कि मैंने सब कुछ कर लिया, मैंने पूजन कर लिया, विधान कर लिया, मैं तो कृतकृत्य हो गया, लो उसने क्या किया? अपने आपको ठगा। और, जिसने नहीं पाया वह यह, वह सोचता है कि मैं भी ऐसा बन जाऊं तो फिर समझूंगा कि मैंने सब कुछ कर लिया, ऐसा जिसके विकल्प हुआ उसने

भी अपने आपको ठगा। ऐसा पुरुष इहलोक और परलोकसे भ्रष्ट होता है। इसमें यह प्रेरणा दी है कि तत्त्वज्ञान करो, विषयोंसे राग हटाओ और आत्मस्वरूपमें मग्न होनेकी भावना करो। ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानको जोड़ दो, बस इससे ही सारी विपत्तियोंका विनाश है। जैसे मछली पानीके भीतर किलोल कर रही है, आनन्द मान रही है, वह पानीके बाहर हो जाय तो वह व्याकुल हो जाती है, इसी तरह जब तक इस ज्ञानस्वरूपमें कोई मग्न है तब तक तो वह सुखी रहता है, आनन्दमें रहता है और जहाँ इस ज्ञानस्वरूपसे वह बाहर हुआ कि बस विपत्तिमें आ गया। तो एक ही निर्णय हो कि मोक्षमें ही आनन्द है और मोक्ष प्राप्तिके लिए धर्मकी साधनामें आना है।

अध्यात्मजं अप्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमनश्वरम्।
आत्माधीनं निराबाधमनन्तं योगिनां मतम् ॥१०२०॥

अनश्वर स्वसंवेद्य निराबाध आत्माधीन अध्यात्मसुखकी उपादेयता—साधारणजन अपनी इस नीतिके अनुसार कि गोदको छोड़ें पेटकी आशा करें, ऐसी कहावत है ना, चाहते यह कि हम ऐसी भूल ना करें कि वर्तमानके सुखको छोड़कर आगामी मोक्ष सुखकी चाह करें। अरे जिसका कुछ रूप नहीं, रंग नहीं, पता नहीं उस मोक्ष सुखकी या आत्मीय सुखकी आशा क्यों रखें। ऐसा विचार रहता है साधारण जनोंका। और, कैसे समझें कि हाँ रहता है ऐसा विचार? तो उनकी कर तुसे समझ लो। उनके लिए प्रतिबोधन किया है, इस लोकमें कि भाई देखो थोड़ा तो तुम भी अनुभव कर लो—जब कभी बड़े आरामसे सुबह अपने घरपर आप बैठे हैं अपने चबूतरेपर, उस समय न कुछ खा पी रहे हैं, न कोई व्यापार आदिकका समय है, एक ठलुवा सा बैठे हैं, उस समय यहां वहांके अधिक विचार विकल्पका भी समय नहीं है, ऐसा ठलुवा जैसे जब बैठे हों, उस समयका आनन्द कुछ अच्छा है ना, बनिस्पत उसके कि दूकानमें बैठे हुए या भोजन करते हुए में, या कोई इन्द्रियसुख भोगते हुएमें माना जाता है। वहां तो कुछ विलक्षण और कुछ असली जैसा आनन्द है। यहां अंदाज करा रहे हैं कि इन्द्रिय सुखकी अपेक्षा इन्द्रियज सुखमें या किसी कामकाजमें या विकल्पमें न पड़े हों, बड़े आरामसे बैठे हों, उसका आनन्द कुछ अच्छा होता है। यहां ठलुवाका अर्थ कायरसे नहीं कह रहे, किन्तु विश्रामसे रहनेकी कह रहे। उस समय भोजन कर नहीं रहे, राग रागनीके वचन नहीं सुन रहे, थियेटर नहीं देख रहे, कोई विषय नहीं से रहे, वह आनन्द कुछ अपने आप हो रहा है, तो इसी प्रकार समझिये कि जहां विषयोंका परिहार हो जाय बड़े ज्ञानपूर्वक तो उस समय आत्मामें कोई सहज ही आनन्द उत्पन्न होता है उसे कहते हैं आत्मीय आनन्द। योगियोंका जो सुख है वह अध्यात्मज है, आत्मासे उत्पन्न हुआ है। यहां शंका मत करें कि गोदको छोड़कर पेटकी बात क्यों करें, वर्तमान सुखको छोड़कर आत्माधीन आनन्दकी आशा क्यों करें? अरे आत्मज आनन्द तो स्वाधीन आनन्द है, टिकाऊ है, स्वयंसे उत्पन्न हुआ है। वह इन्द्रिय द्वारा विषयोंसे उत्पन्न नहीं होता। इसकी कुछ समझनेमें तकलीफ हो रही है क्या? अगर तकलीफ हो रही तो सुनो, वह आनन्द समझनेमें यों नहीं आ रहा कि आप इन्द्रिय द्वारा समझना चाह रहे। वह आनन्द तो स्वानुभवगम्य है। इन्द्रियके व्यापारको हटावें, विश्रामसे बैठकर अपने सहज ज्ञान बलपर भरोसा रखें, स्वयं अपने आप ध्यानमें आ जायगा कि आत्माधीन सुख एक अलौकिक आनन्द है, जब कि इस इन्द्रियजन्य सुखमें अनेक विपत्तियां हैं। यह इन्द्रियसुख पराधीन है, बाधासहित है, विनाशीक है। लेकिन, आत्मजन्यसुख बाधारहित है, स्वाधीन है और अविनाशी है। इन्द्रियजन्य सुखसे मुख मोड़ें और आत्मीय आनन्दकी ओर अपनेको रखें।

अपास्य करणग्रामं यदात्मन्यात्मना स्वयम्।
सेव्यते योगिभिस्तद्धि सुखमाध्यात्मिकं मतम् ॥१०२१॥

इन्द्रियग्रामका निवारण करके आत्मामें आत्मा द्वारा सेवित अध्यात्मसुख—इन्द्रिय समूहका निवारण करके

इन्द्रियका व्यापार समाप्त करके आत्मामें आत्माके द्वारा जो सेवित किया जाता है याने आत्मासे आत्मामें ही जो पाया जाता है वह है आध्यात्मिक सुख। इन्द्रियज ज्ञान और इन्द्रियज सुख इन दोनोंसे भी वैराग्यकी आवश्यकता है। अपने विशुद्ध स्वभावको निरखकर अपनी अनन्त शक्तिका स्मरण कर अपनी इस कलाकी याद करके कि यह मैं ज्ञानस्वरूप हूं तो स्वयं ज्ञानरूप वर्तता ही रहेगा। अब और कुछ किसी साधनसे करनेकी क्या जरूरत है? ऐसी प्रतीति रखकर इन्द्रियजज्ञानसे और इन्द्रियसुखसे, दोनोंसे, विरक्तिकी आवश्यकता है। इन्द्रियजसुख तो बहुत-बहुत उलझनेमें आया ही करता है। यह पराधीन है, विनाशीक है, पर इन्द्रियज ज्ञानकी भी बात देखो तो यह भी इतना परतंत्र है कि जब इन्द्रिय हों तब हो, पर्याप्ति हो तब हो। इन्द्रिय बिगडी न हों, अपने उपयोगकी तरफ हों आदि कितनी ही इसमें जरूरत पडती है अपेक्षाकी। तो ऐसा परापेक्ष, अस्वाभाविक क्षायोपशमिक यह इन्द्रियज ज्ञान, यह भी मेरेसे निराला तत्त्व है, याने परापेक्ष है, सहजभाव नहीं है। इसमें भी क्या अनुराग करना। इन्द्रियमें प्रीति है इन्द्रियज ज्ञानके कारण और इन्द्रिय-ज्ञानके ही कारण इन्द्रियज सुखोंमें रति होनेका अवसर होता है। तो दोनोंसे विरक्त हों इसी की सूचना इस छन्दमें दी है। इन्द्रिय समूहका निराकरण इसमें जाहिर किया है कि जो योगिसेवित होता है ऐसा आध्यात्मिक सुख जिसने यह सेवित करना हो, उसे इन्द्रियसुखसे विरक्त होना चाहिए। अब बतलाओ जो कोई महात्मा संत इन्द्रियज सुखसे और इन्द्रियज्ञानसे अनुराग न रखता हो उसको जगतमें क्या संकट रह गया? संकट तो इस इन्द्रियसुखके वातावरणका है। कोई सम्बंध नहीं एक जीवका दूसरे जीवके साथ, पृथक्-पृथक सत्ता है मगर विषयलोभसे एक दूसरेमें स्नेह करते हैं, बंध जाते हैं। तो दूसरेसे क्या बंधा, अपने आपमें जो कल्पना जगी, उससे यह बंध गया। अपनेमें कल्पना उठाया और परतंत्र बना, दुःखी हो जाता। तो इस इन्द्रियसुख और इस इन्द्रियज्ञानकी भी आवश्यकता नहीं है। मुझे तो एक आत्मामें आत्माके द्वारा जो कुछ बात आयी ज्ञानकी और आनन्दकी। जो हो सो हो, पर जब जान लिया कि यह बाह्य सम्पर्क यह असार है, भिन्न है तो उसकी हमें आवश्यकता नहीं है, ऐसा दृढ़चित्त होकर जो परमविश्राम लेता है अपने आपमें उसे आध्यात्मिक सुखका अनुभव होता है।

हृषीकतस्करानीकं चित्तदुर्गान्तराश्रितम्।
पुंसां विवेकमाणिक्यं हरत्येवानिवारितम् ॥१०२३॥

चित्तदुर्गस्थ इन्द्रियसेनाद्वारा विवेकमाणिक्यका हरण—यह इन्द्रियकी सेना हमारे विवेकरूपी रत्नको हर ले जाती है याने इन्द्रिय विषयोंमें जो अभिलाषा है उसमें विवेक रहता नहीं है। तो विवेकरूपी रत्नको हरने वाली इस इन्द्रिय सेनाको चलो नष्ट करदें। हाँ चलो। लेकिन हाँ सुनो—एक बडी कठिन बात यह है कि इन्द्रियसेना इतनी सुरक्षित जगहमें रह रही है कि उसपर विजय पाना कठिन है। कहाँ रह रही है? इस चित्तरूपी किलेमें। इस चित्तको वश करना एक बडी कठिन बात है तब ही तो कहते हैं कि हम हैं उन चरणोंके दास जिन्होंने मन मार लिया। ऐसे मनके कठोर किलेमें बस रही है यह इन्द्रियकी सेना। उसे वश करना, इन्द्रिय सेनाका निवारण करना बड़ा कठिन है। अरे कठिन क्यों है? चलो इस दुर्गको ही तोडो। इस चित्तको ही वश करो। चित्तको वश किए बिना इन्द्रियपर वश नहीं हो सकता। और, इन्द्रियपर वश हुए बिना अपने विवेक रत्नकी, कभी रक्षा नहीं कर सकते। पहिला काम है मनको वश करना। मन कैसे वश हो? तत्त्वज्ञान और वैराग्यसे। इस मनरूपी हाथीको ज्ञानरूपी सांकलसे बाँधकर इसे वैराग्यके फंदमें बांध लो, वश हो जायगा। तो चित्तमें बसी हुई ये इन्द्रियाँ विषयाभिलाषायें इस विवेकरूपी रत्नको हर लेती हैं, नष्ट कर देती हैं, चुरा लेती हैं। तब कर्तव्य हमारा यह ही है कि हम तत्त्वज्ञानके वातावरणमें अपने उपयोगको अधिक बनायें तो हमारी विजय हो सकेगी। अन्यथा नहीं। तत्त्वज्ञानके बनाये रहनेके अनेक उपाय हैं। स्वाध्याय करें, चर्चा करें, ज्ञानी विरक्त संत जनोंके निकट ही बैठ जावें, अपने मनमें अनेक मंत्र-स्मरण करें, सिद्धस्वरूपका स्मरण करें, अपने स्वरूपका स्मरण करें, अनेक साधन हैं। व्यग्र होनेकी आवश्यकता

नहीं कि हम बहुत देर तक स्वाध्याय नहीं कर पाते। नेत्र थक जाते तो पड़े रहो आँखें मींचे हुए विश्रामसे, ॐ नम सिद्धेभ्य', ॐ शुद्धं चिदस्मि, अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी भावना कीजिए। मैं प्रभुकी तरह शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। कोई कहेगा कि यह काम कितनी देर किया जाय? तो भाई कितनी ही देर तक करते जावो, वह तो मनकी सावधानी और उद्देश्यको दृढ़ बनानेपर आधारित है। कोई थकान नहीं होती। घटों सोचते जावो, चिन्तन करते जावो, किसी प्रकारकी ऊब न आयगी। तत्त्वज्ञानका वातावरण अधिक समय तक रहे तो मनको वश किया जा सकता है, अन्यथा मनको वश नहीं किया जा सकता।

आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनाम्।
विषपाकानि पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा ॥१०२३॥

आपातमात्ररम्य इन्द्रियसुखोंकी विषपाकता—हे आत्मन्! देखो—यह विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख कैसा है कि यह सेवनकालमें प्रारम्भमात्रमे यह बडा रम्य भासता है। विषयसेवन शुरू शुरूमे बड़े रमणीक जचते हैं, परन्तु जब इनका विपाक समय होता है तो यह विषके समान कडवा फल देने वाला होता है। विषफल होता है कोई, वह देखनेमें तो सुन्दर होता है मगर उसके भक्षण करनेसे मुख कडवा हो जाता है। ऐसे ही ये विषय देखनेमें प्रारम्भमे बड़े रमणीक लगते हैं परन्तु उनका फल बडा कटुक भोगना पडता है। तो यह आपातमात्र रम्य है। जितनी देरको ये आ पड़े हैं, प्रारम्भमे वे बड़े रमणीक लगते हैं, लेकिन इसका फल बहुत कटुक है। जैसे जब खाज खुजाते हैं ना, तो प्रारम्भमें कितना मौज सा लगता है। खुजानेमें लग रहे, खूब आंखे मींचकर, उसके खुजानेमें लवलीन हो रहे हैं, बडा मौज मानते हैं मगर खुजा लो उसके बाद जब दुःख होता है तो ढीले-ढाले यों पड़े रहते हैं, दिल कडा करना पड़ता है, यह दशा हो जाती है। तो जैसे खाज खुजाना प्रारम्भमे बडा रमणीक, सुन्दर, सुखदायी मालूम होता है मगर फल अन्तमें दुःखदाई है। इसी तरह समस्त विषयोंका सेवन प्रारम्भमें सुखदाई मालूम होता है, पर अन्तमे दुःखदाई है। और, एक इन्द्रियकी ही बात क्या? मनका भी विषय है। मनका विषय क्या है? नामवरी होना, यशकीर्ति होना, प्रसिद्धि होना, सब लोग तारीफ करें, जान जायें, हाँ हैं ये कुछ। तो जान तो सब जाते हैं, जिनमें नामवरी चाहा वे भी जान जाते हैं कि हां है यह तुच्छ। और, भगवान भी जान जाते हैं कि यह है तुच्छ। और, हानि कितनी है कि जहाँ नामपर दृष्टि है, यश प्रतिष्ठापर दृष्टि है वहां आत्माकी सुध खो दिया। क्षणिक सिद्धान्तमें आश्रवके कारणोंमें नामको पहिले रखा है। नाम, रूप, वेदना, विज्ञान, संस्कार ये है आश्रवके कारण। तो मनका भी विषय आपातमात्र रम्य है। जितनी देरको लोग कुछ कह रहे हैं उतनी देर मन खुश हो रहा है और अपने आपको ऐसा भुलावेमें डाल दिया है कि बस मेरे समान और कौन है, लेकिन वह भीतरमें कितना विडम्बनामें पड गया कि उसका फल है जन्ममरण कर कर घोर सकट सहना। तो ये समस्त विषय वर्तमानमे तो रमणीक हैं परन्तु इनका फल अन्तमें कटुक है।

त्वामेव वञ्चितुं मन्ये प्रवृत्ता विषया इमे।
स्थिरीकुरु तथा चित्तं यथैतैर्न कलंक्यते ॥१०२४॥

वञ्चनार्थ प्रवृत्त विषयोंसे चित्तको कलङ्कित न करनेका अनुरोध- लोग सोचेंगे कि फिर ये विषय बनाये क्यों गए जब वे अच्छे नहीं हैं? ये तो भोगनेके लिए ही बनाये गए सब साधन। तो उत्तर देते हैं कि वे किस लिए बनाये गए। इन विषयोंका केवल एक ही प्रोग्राम है, अधिक नहीं। ये विषय मानो ठगनेके लिए ही बनाये गए, और इनका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं। जब जिसका प्रकरण हो तब उसकी बात कही जाती है। ये विषय जो प्रवृत्त हो रहे हैं ये तुमको ठगनेके लिए ही प्रवृत्त हो रहे हैं। अत तू अपने चित्तको स्थिर कर और ऐसा स्थिर कर कि जिस प्रकार उन विषयोंसे कलंकित न हो सके, ऐसा चित्तको बना। जैसे युद्धके खतरेमे लाइट बन्द कर दी जाती है जिसे कहते हैं ब्लेक आउट कर देना। अब सरकारने ब्लेक आउट दिया, सूचना कर दिया, अब लोग स्वय सावधान हो जावें, गुप्त हो जावें, यह उनका काम है। ऐसे ही-।

महाराजने तो सूचना दे दी कि यहाँ बडा खतरा है, ये विषय तेरेको ठगनेके लिए प्रवृत्त होते हैं, इसी हेतु ये तेरेपर आक्रमण कर रहे हैं। अब उससे हम लोग सावधान हो जावें और ऐसा सावधान हो जावें कि ये विषय हमें कलंकित न करें। जैसे एक जगह कहा है कि देखो यह जो शरीर बना है इसमें हाड, मांस, विष्टा, पसीना, रोम आदिक कितनी ही अपवित्र चीजें भरी हैं। तो ऐसा यह अपवित्र देह किस लिए बनाया गया कि उसे इस शरीरसे वैराग्य हो जाय। और एक वैराग्यके ढगसे शरीरको देखें तो हर जगह आपको वही झलक मिलेगी। पहिले तो इस नाकमें ही देख लो नाकमें दो द्वार मल बहानेके लिए हमेशा तैयार हैं। नाकमे जरा थोडा आगे ही तो मल नहीं है, भीतर तो वही भरा हुआ है। जितनी अपवित्र चीजोंकी अधिक संख्या है वह सब मुखमें है। हाथ पैरोंमें भी हड्डी, खून, मज्जा, चाम आदिक हैं, इतनी चीजें तो मुखमे हैं ही मगर थूक, कफ, नाक, कीचड, कानका कनेऊ आदि कितने ही मल और भी इस मुखमे हैं। तो यह शरीर बना है वैराग्यके लिए, मगर मोहमें अंधे पुरुष इतने अपवित्र शरीरको भी रागका आश्रय कर लेता है। इसी तरह यहा भी देखिये कि यह विषयप्रवृत्ति हो रही है आत्माको ठगनेके लिए, लेकिन ठगनेके लिए सामने उपस्थित हुए इन विषयोंमें यह मोहान्ध पुरुष प्रीति ही करता है। तो हे आत्मन्! तू ऐसा सावधान बन, चित्तको ऐसा स्थिर कर, विवेकको ऐसा युक्त बना कि ये विषय तुझे कलंकित न कर सकें।

उदधिरुदकपूरैरिन्धनैश्चित्रभानुर्यदि कथमपि दैवात्तृप्तिमासादयेताम्।
न पुनरिह शरीरी कामभोगैर्विसंख्यैश्चिरतरमपि भुक्तैस्तृप्तिमायाति कश्चित् ॥१०२५॥

कामभोगोंसे तृप्ति होनेकी असंभवता—लोग कहते हैं कि नदियोंके मिलनेसे यह समुद्र तृप्त नहीं होता याने कितनी ही नदियाँ आती जायँ, पर समुद्र यह नहीं कहता कि बस अब खूब नदिया आ गईं, अब मुझे न चाहिए। अरे चाहिये नहीं यह बात तो जाने दो, पर जितना जलप्रवाह आता जायगा, समुद्र तो उतना ही बढता जायगा। तो नदियोंसे समुद्र कभी तृप्त नहीं हो सकता, ऐसा लोग कहते हैं। यहां आचार्यदेव कहते हैं कि मानलो कदाचित् नदियोंसे समुद्र तृप्त भी हो जाय, मगर नाना प्रकारके काम भोग आदिकके भोगनेपर इस जीवको कभी तृप्ति हो ही नहीं सकती। अब तो कुछ ऐसी भी प्रथा चल उठी कि जिसे विरक्त होना है, दीक्षा लेना है तो उसकी ठाठ बनाई जाती है पहिले। उसके माता-पिता बनाये जाते हैं, जिससे वह दीक्षा लेने वाला यह अनुभव करले कि मैं बड़ा ठीक हूं। फिर बादमें यह त्याग करे। अरे सहज रीति यह है कि जहां भाव हुआ, जहां वैराग्य जगा वहां दीक्षा ले ली। खैर यहा हम इसकी समालोचना नहीं कर रहे, इसमें भी कोई गुण होगा लेकिन कोई यह सोचे कि मुझे तो यह चीज छोडनी है, चलो आज इसे खूब भोग लें क्योंकि इसे कल छोड़ना होगा तो यह त्यागकी कोई विधि नहीं है। कल जो त्याग करना है उसके त्यागका पहिलेसे अभ्यास बनावें, न कि खूब भोगनेका संकल्प करें। काम भोग आदिकसे यह जीव कभी तृप्त नहीं होता, जैसे ईंधन डालते जावो तो कहीं उससे अग्नि तृप्त तो नहीं हो सकती। वह तो और भी बढती जायगी, मगर मानलो कदाचित ईंधनसे अग्नि तृप्त भी हो जाय, मगर काम भोग आदिक भोगनेके जरियेसे यह जीव तृप्त नहीं हो सकता। तो इससे फायदा क्या रहा ? बल्कि आगमी कालमें दुःख उठाना पडता है। ऐसे कामसे लाभ क्या इस जीवको ? जैसे लोग कहने लगते ना, कि अरे जरा सी गम खावो तो सब आपत्तियोंसे बच लो और क्रोध किया तो दूसरा भी जवाब देगा, मारपीट होगी, गिरफ्तारी होगी, अस्पताल जाना होगा, अनेक विडम्बनायें होंगी। जरा सी गम खा लिया तो सब झंझट खतम। ऐसे ही यह समझलो कि जरा विषयोसे विरक्ति कर लो, अपना ही तो भाव है, अपनेको ही समझना है, अपनेमें ही आना है, यह सब हमारे ही आधीन बात है, इन विषयोंसे मुख मोडें और सारी विपत्तिया मेट लें।

यद्यपि दुर्गतिबीजं तृष्णासन्तापपापसकलितम्।
तदपि न सुखसंप्राप्यं विषयसुखं वाञ्छितं नृणाम् ॥१०२६॥

दुर्गतिबीज विषयसुखकी असुलभप्राप्यता—अभी तक बहुत सा वर्णन यह आया है कि यह विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख दुर्गतिका बीज है। याने विषयसुख भोगेंगे, इनसे प्रीति रखेंगे, आशक्ति करेंगे तो ये दुर्गतिके कारण हैं। और यह भी बताया है कि ये विषयसुख तृष्णा, संताप आदिकसे सहित हैं। जिस समय भोगा उस समय भी क्लेश है और भोगनेपर आगे भी क्लेश है। पापका बन्ध है और पराधीन हैं। इतनी बातें तो खूब कहीं मगर जरा एक बात और भी तो देखो—यह सुख बिना कष्टके व इच्छानुसार प्राप्त होता भी तो नहीं है। याने उस सुखके उपार्जनमें भी तो बड़ा कष्ट होता है और फिर भी इच्छानुसार इन्द्रियसुखका प्राप्त होना कठिन है। यह तो बात मोटे रूपसे कह रहे हैं और सूक्ष्मरूपसे अगर देखें तो इच्छाके अनुसार प्राप्ति किसी को हो ही नहीं सकती, सुख हो ही नहीं सकता। जिस समय इच्छा कर रहे हों उस समय विषयोंकी प्राप्ति हो यह किसी को भी सम्भव नहीं। आप सोचेंगे कि चक्रवर्तीको भी सम्भव नहीं है क्या? तीर्थंकर महाराज जब गृहस्थीमें रह रहे तो क्या उनको भी सम्भव नहीं कि जिस समय वह इच्छा करें उसी समय विषय की प्राप्ति हो। हाँ उनके भी सम्भव नहीं। यह सिद्धान्तकी बात कही जा रही है। परिणति एक समयमें एक होती है। इच्छाकी परिणति इच्छा कहलाती है और विषय पानेकी परिणति भोग कहलाती है। जिस काल में इच्छा है, जिस वस्तुकी इच्छा है उस वस्तुविषयक भोग कहाँ है? वह तो बादमें आयगा। और जब बाद में आयगा, उस समयमे तद्विषयक इच्छा कहाँ है? तो बतलाओ इच्छाका मौज कौन लूट सका? कोई नहीं लूट सका। इच्छाके कालमे तो क्लेश ही है। जैसी किसी पुरुषकी ऐसी जिन्दगी जो कि पहिले तो रही गरीबी, चने खानेका भी ठिकाना न था। तो उस समय उसे चने चबानेको न मिलते थे जिससे बड़ा क्लेश था, और अब वह हो गया समर्थ, सब प्रकारसे सम्पन्नता है, पर वृद्ध हो जानेसे दाँत नहीं रहे तो अब वह दाँत न होनेसे चने नहीं चबा सकता, तो उसका वह क्लेश मानता है। जब दाँत थे तब चने न मिले और जब चने मिले तब दाँत न रहे। ऐसे ही समझलो कि जब इच्छा है तब भोग साधन नहीं है, और जब भोगसाधन हुए तब उनके भोगनेकी इच्छा नहीं रही। यह इच्छा तो व्यर्थकी चीज है जो सबको सता रही है। तो यह इन्द्रिय सुख बिना कष्टके नहीं प्राप्त होता। और ऐब हैं सो है ही। तब फिर इन इन्द्रिय सुखोंके पीछे क्यों कष्ट सही?

प्रतिसंकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥१०२७॥

संकल्पित कामकी संभूतिके अनुसार तृष्णाका विश्वपर्यन्त विसर्पण—यह काम, यह भोग जिसका संकल्प किया, इच्छा की और उस इच्छाके अनुसार जैसे-जैसे भोग मिलते गए वैसे ही वैसे मनुष्योंकी तृष्णा लोक पर्यन्त फैल गई। जैसे-जैसे सुख मिलता है वैसे ही वैसे यह तृष्णाका प्रसार होता जाता है। अभी जंगलमें रहने वाले ये भील लोग जिनको गुड़ भी बड़ी मुश्किलसे खानेको मिल पाता है वे तो जब कभी राजाके विषय मे चर्चा होने लगती तो कह उठते कि राजा तो रोज-रोज गुड़ खाता होगा। देखो राजाके लिए गुड़ क्या चीज है? वह तो मामूली सी चीज है, पर उन भीलोंकी दृष्टिमें वह गुड़ भी एक बड़ी चीज है। उस राजा का फैलाव देखो कहाँ तक है? सभी इन्द्रिय विषयोंकी यही बात है और मनके विषयकी भी यही बात है। भोग मिलते हैं, बात बनती है, फैलाव होता है, इसी फैलावमें जिन्दगी खतम हो जाती है। यह मानव जीवन व्यर्थ चला जाता है। अरे ऐसे भी तो अनेक मुनि सिद्ध हुए हैं जिनको उनके वर्तमान कालमे भी कोई न जानता हो या जिनका असर न हो, जिनकी अधिक पूजा न हो। और, उन्होंने अपने ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानको बसाया हो और सिद्ध हुए हो। तो क्या उनके कोई कमी पड गई? ये पञ्चेन्द्रिय और मनके विषय जैसे-जैसे प्राप्त होते जाते हैं वैसे ही वैसे इनके तृष्णाका प्रसार होता है। उनकी तो बरबादी ही है। इससे इन विषयोंकी अभिलाषा न करे। अपने मनको वशमें करें। बस इसमे ही आत्माका सच्चा विवेक है?

अनिषिध्याक्षसंदोहं यः साक्षान्मोक्तुमिच्छति ।
विदारयति दुर्बुद्धिः शिरसा स महीधरम् ॥१०२८॥

इन्द्रियविषय-सेवनका परिहार न करके मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषका शिरसे पर्वत फोड़नेके समान दुर्बुद्धिपना — अगर कोई पुरुष किसी पर्वतसे परेकी जगहमें जाना चाहता है ! जैसे मानलो एक गाँव पर्वतके दूसरी तरफ है, पर्वत जंगल और पत्थरसे घिरा है । है तो कुछ १ मीलकी दूरीपर, परन्तु पर्वत घूमकर कई मीलका चक्कर पड़ जाता है, तो घूमकर जानेके बजाय कोई उस पर्वतकी शिलावोंमें ही अपना सिर मारकर उस पर्वतको टालने लगे तो देखने वाले लोग उसे कितना बेवकूफ कहेंगे ? इसीतरह जो इस इन्द्रियसमूहको वशमें न करके मोक्ष जाना चाहता है तो वह पुरुष भी महामूर्ख है । उसकी सारी धार्मिक क्रियायें थोती व विडम्बना-पूर्ण होंगी । उसे मोक्ष तो न मिलेगा बल्कि उल्टा कर्मबन्ध होगा और संसारमें रुलेगा, जन्म मरण करना पड़ेगा । इसी कारण तत्त्वज्ञान और वैराग्य दोनों चाहिए कल्याणके लिए । कोई पुरुष तत्त्वज्ञानकी बात सुनकर यह कहे कि अजी मोक्ष पाना क्या कठिन है ? मोक्ष कुछ दूर नहीं है, वह तो यहाँ ही निकट है, । अपने इस ज्ञानस्वरूपको देखो इस ज्ञानमार्गसे गमन करो, बस अभी मोक्ष पहुँच लोगे । लेकिन वह कर क्या रहा है ? विषयोंमें स्वच्छन्द प्रवर्तन । तो जो पुरुष इन्द्रियसमूहको वश न करके और एक अपने ज्ञानका गर्व करके, मुझे क्या बाधा ? अभी मैं पहुचता हूँ, इस इन्द्रिय समूहसे अपने ज्ञानको भिड़ाये रहे तो उसे मोक्ष प्राप्त न होगा, वह तो केवल संसारमें अपने जन्म मरणकी परिपाटी ही बढ़ायगा । इससे शिक्षा यह लेना है कि तत्त्वज्ञान और वैराग्य दोनोंको लेकर अपना जीवन चलायें तो संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय पा सकते हैं ।

इदमिह विषयोत्थं यत्सुखं तद्धि दुःखं, व्यसनविपिनबीजं तीव्रसंतापविद्धम् ।
कटुतरपरिपाकं निन्दितं ज्ञानवृद्धैः, परिहर किमिहान्यैस्तु तवात्मा प्रपञ्चैः ॥१०२९॥

निन्दित कटुपरिपाक विषयोंके परिहारका आदेश—हे आत्मन् ! जो ज्ञानमें वृद्ध हैं, तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं उन्होंने इस विषयकी तो बड़ी निन्दा की । जिस विषयमें तुम रुचि पूर्वक जाते हो, उस विषयकी यथार्थता ज्ञानवृद्ध पुरुषने बतायी है । वह क्या यथार्थता है ? देखो, जो यह विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख है वह तो दुःख ही है । जिस समय सुख भोगनेकी भावना होती उसी समयसे खलबल है । जब साधन मिले तो वहाँ भी खलबल है । प्रारम्भसे लेकर अन्त तक इन इन्द्रियविषयोंमें दुःख ही दुःख बसा है, पर मोही जीवके इसकी कहाँ सुध है ? उसे तो दुःख ही सुख लगते हैं । जैसे तेज लालमिर्च खाने वाले लोग सी सी भी करते जाते, आँखोंसे आँसू भी बहाते जाते, दुःखी भी होते जाते फिर भी कहते कि मुझे लालमिर्च और दे दो । भला बतलाओ, उस लालमिर्चके खानेमें तुरन्त भी दुःखी होते, जीभ जलती, खराब डकारें आतीं और आगे भी वह नुकसान करता है । फिर भी लोग कहते हैं कि मुझे लालमिर्च और दीजिए यह एक मोटे दृष्टान्तकी बात कही है । ऐसे ही इन्द्रियसुखमें प्रारम्भसे अन्त तक दुःख ही दुःख है, लेकिन मोहीजन कहाँ समझते ? ज्ञानवृद्ध पुरुषोंने बताया है कि जो इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ सुख है वह दुःख ही है । दूसरा ऐब देखो यह इन्द्रियसुख विपत्तिरूप जंगलका बीज है याने इससे व्यसन आते हैं, विपत्ति आती है, आदत खराब बनती है, पाप होना और व्यसन होना, इनमें यही तो अन्तर है । जैसे किसीसे हिंसा पाप हो गया और एक हिंसाका व्यसन लग गया, शिकार खेलना । एक तो झूठका पाप लग गया और एक झूठका व्यसन लग गया । एक तो चोरीका पाप लग गया और एक चोरीका व्यसन हो गया । एक तो कुशीलका पाप लग गया और एक परस्त्री वेश्या आदिकका व्यसन हो गया, आदत बन गई । तो जो विपत्तियोंका साधन बन जाय वह व्यसन है, यह विषय-सुख विपत्तियोंका बीज है । तीसरी बात कह रहे हैं कि यह विषयसुख तीव्र संतापसे बीधा हुआ है । जैसे खाज खुजानेमें संतापसे विद्ध है वह सुख इसीप्रकार यह इन्द्रियजन्य सुख सारे संतापोंसे बिधा हुआ है । चौथी बात कह रहे हैं कि इसका परिपाक कटुतर है । कटुकसे भी अधिक कटुक । इस प्रकारसे तत्त्वज्ञानी जनोंने विषयसुखोंको निन्दनीय बताया है । सो हे आत्मन् ! तू इन विषयसुखोंका परिहार कर । जो और

लोग हैं, धूर्तवचन बोलने वाले जन हैं उनके प्रपंचोंमें, माया जालमें मत फस।

तत्तत्कारकपारतन्त्र्यमचिरान्नाशः सतृष्णान्वयै—
स्तैरेभिर्निरूपाधिसंयमभृतो बाधानिदानैः परैः।
शर्मभ्यः स्पृहयन्ति हन्त विषयानाश्रित्य यद्देहिन—
स्तत्कुष्यत्फणिनायकाग्रदशनैः कण्डूविनोदः स्फुटम् ॥१०३०॥

पराधीन, विनाशीक विषयोकी प्राप्तिके लिये धनसचय करनेकी मूढताका चित्रण—किसीको खाज उठी तो खुजानेके लिए उपाय क्या करे कि साँपके मुखमें जो आगेके दाँत हैं उनसे वह अपनी खाज खुजावे। ऐसा कोई करता तो नहीं, पर यदि करे, तो लोग उसे कितना मूर्ख कहेंगे? उसे तो महामूर्ख कहेंगे, क्योंकि मूर्ख तो दुनियामें बहुत मिलते हैं पर महामूर्ख नहीं मिलते। याने जो साँपके अगले दाँतोंसे अपने शरीरकी खाज खुजाने लगे तो उन्हीं दाँतोंमें तो विष होता है। वह विष व्याप जायगा और वह मर जायगा। जैसे कोई खाज खुजानेकी इच्छासे साँपके अगले दाँतोंसे खाज खुजावे तो वह दुःखका कारण है। ठीक इसीप्रकार विषयोंका सेवन मृत्युका कारण है, दुःखका कारण है, बुरी तरहसे प्रति समय हम मर रहे हैं, आयु तो प्रति समय गल रही है, वही आवीचि मरण कहलाता है। अब वहाँ हम विषयोंकी रतिमें समय लगाते हैं तो इसके मायने हैं कि हम बुरी तरह मर रहे हैं। मरते तो सब हैं उस दृष्टिसे, पर विषयोंके सेवन करने वाले आकुलित होकर, विह्वल होकर, बेसुध होकर यथार्थ प्रभुताके आनन्दसे अत्यन्त दूर रहकर जीवन-यापन कर रहे हैं वह एक बुरी तरह मरना ही तो हुआ और विषयसेवनके फलमे अकालमृत्यु हुई तो उसे भी मृत्युका ही कारण समझो। तो ये जगतके जीव इन सुखोंको जो कि दुःखके ही हेतुभूत हैं, रुचिपूर्वक भोग रहे हैं इसका वर्णन आचार्यदेव कुछ खेदके साथ कर रहे हैं। ये सुख दुःखरूप हैं, क्योंकि इनमें पराधीनता है। जब कोई दूसरा जीव प्रसन्न हो, दूसरा जीव निकट हो तब सुखका अवकाश मिलता है। तो ये इन्द्रियसुख पराधीन हैं और तत्काल नष्ट हो जाने वाले हैं। संतापके उत्पन्न करने वाले, ऐसे हैं ये इन्द्रियसुख। फिर भी ये ससारी जीव कभी निर्ग्रन्थ अवस्था भी धारण करलें, सयम भी धारण करलें, पर तृष्णाके साथ सम्बन्ध करते हुए उस सुखके लिए अनेक उपायोंसे धनोपार्जन करते हैं, अनेक उपायोंसे विषयोंकी इच्छा करते हैं तो उनकी यह इच्छा, यह चाह याने विषयसुखके लिए धनको जोड़ना अनेक बाधाओका कारणभूत है। यह उनका प्रयत्न ऐसा है कि जैसे कोई खाज खुजानेके लिए साँपके अगले दाँतोंसे खुजाना चाहे। इसीतरह विषयसुखोंका मौज लेने के लिए जो धन आदिक सम्पदाओंका संचय करता है उसका ऐसा ही उपाय है। याने उससे दुःख होगा, उससे बरबादी होगी, उससे लाभ नहीं हो सकता। संतोष होना, धनकी ओर दृष्टि भी न होना। पुण्योदयसे जो मिल रहा है उसीमें व्यवस्था बनालें। और, अधिक सम्पदासे हमें प्रयोजन क्या है? प्रयोजन है तत्त्वज्ञान और वैराग्यसे, जिससे कि मेरा आत्मा समाधानरूप रहे, सतुष्ट रहे, अपने प्रकाशमें रहे और सत्यमार्गपर रहे। प्रयोजन हमारा इतना है। धनसंचयका हमारा प्रयोजन नहीं है। बहुतसा धन बढा लिया, लखपती, करोड़-पति हो गए तो उससे क्या लाभ पा लिया? उससे जरा प्रश्न करते जाओ-भाई अधिक धन जोड लिया, फिर क्या होगा? बूढ़े हो जायेंगे। फिर क्या होगा? फिर मर जायेंगे। फिर क्या होगा? कोई शान्ति-प्रद उत्तर वह न दे सकेगा। जो धनिक है उससे भविष्यकी बात पूछो—फिर क्या होगा? तो यह धनसचय जो दुःखका ही कारण है उसे एक विषयसुखके लिए अपना रहा है तो उसकी ऐसी ही करतूत है जैसे खाज खुजानेके लिए कोई सोचे कि मैं सर्पके अगले दाँतोंसे खाज खुजाऊं वह तो उसके लिए दुःखका ही कारण है। जैसे अग्निकी पड़ी हुई डलीको कोई अबोध बालक अपने हाथसे उठा लेता है तो वह उसके लिए दुःखका ही कारण बनती है ऐसे ही ये मूर्ख प्राणी जो विषयसुखोंको सेवनेके लिए बहुत-बहुत धनसंचय करते हैं तो उनका यह यत्न उनके दुःखका ही कारण बनता है।

निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थरचनासौन्दर्यसंदानितः,
प्रीतिप्रस्तुतलोभलंघितमनाः को नाम निर्वेद्यताम् ।
अस्माकं तु नितान्तघोरनरकज्वालाकलापः पुरः
सोढव्यः कथमित्यसौ तु महती चिन्ता मनः कृन्तति ॥१०३१॥

मुग्ध प्राणियोंके भविष्यमे होनेवाले नारकीयादि कठिन दुःख होनेकी चिन्ताका खेदपूर्वक कथन— ये जगतके जीव किस स्थितिमें हैं ? तो देखिये ये जीव मनचाहे विषयोंकी रुचिसे निरन्तर बंधे हुए हैं। घर, स्त्री, पुत्रादिकके विषय साधनोंमें खाने पीनेमें बंधे हुए हैं और उन विषयोंकी प्रीतिके चक्रमें आये हुए हैं। लोभसे इनका मन अधीर हो गया, ऐसी इन जीवोंकी स्थिति है। तो अब इन जीवोंमे कौनसा जीव ऐसा है जो विषयोंसे उदासीन होनेके लिए तत्पर हो रहा हो। आचार्य महाराज संसारके जीवोंकी स्थिति निरख रहे हैं। निरख करके दुःख मान रहे हैं। क्या दुःख ? ये संसारी जीव विषयसुखोंमें इतनी तीव्रतासे लग रहे हैं कि इनसे विरक्त नहीं होते हैं। तो इन विषयोंके अनुरागसे इन्हें नारकादिक गतियोंके दुःख भोगने पड़ेंगे तो ये दुःख कैसे भोगेंगे ? देखो इन सब अज्ञानी जीवोंने आचार्य महाराजको दुःखी कर दिया। देखिये इन ससारी जीवोंने अज्ञानतावश अपनेको भी दुःखी किया और दूसरोंको भी दुःखी किया। ऐसे निर्ग्रन्थ आचार्यदेवको भी इन अज्ञानी जीवोंने दुःखी कर डाला। अगर ये अज्ञानी जन उल्टे न चलते तो आचार्यदेव दुःख क्यों मानते ? तो खेदके साथ आचार्यदेव कह रहे हैं कि ये ससारी मोही प्राणी विषयोंमें ऐसा बेहतासा दौड रहे हैं तो इनको आगे नरकमें जाना होगा। वहाँके भयंकर दुःखोंको ये कैसे सह सकेंगे ? यहाँ तो लोग विषयोंमें सुख मान रहे हैं। यहाँ अगर विषयोंके प्रतिकूल जरा भी बात आये तो उसमें दुःख समझते हैं। और तो जाने दो, उनको अगर कोई त्याग सयमका उपदेश दे तो वहाँसे भी वे मुख मोड़ लेते हैं। अरे क्या साधुके पास जाना ? वह कहीं कोई चीज छुड़वा देंगे। तो जरा-जरासी बातोंमें यहाँ क्लेश मानते हैं, विषयसुखोंसे विरक्त नहीं हो पाते हैं, तो ये जीव आगे जब नरकोंमें जन्म लेंगे तो ये असह्य दुःख कैसे सहेंगे ? तो इससे यह शिक्षा मिल रही है कि इन विषयसुखोंका फल नरक आदिक दुःखोंको सहन करना है इसलिए इनसे विराम लें और इनमें बेहतास होकर मत बढ़ो।

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धा,
बद्धास्ते वारिबंधे ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात् ।
भृङ्गा गन्धोद्धताशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाः कुरङ्गाः
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः ॥१०३२॥

एक एक इन्द्रियके वशी जीवोंका मरण व व्यसनसपात— इस छदमें यह बतला रहे हैं कि संसारके जीव विषयोंकी आशासे बधकर मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। देखो रसना इन्द्रियके वश होकर यह मछली अपने गले को छिदाकर मृत्युको प्राप्त हो जाती है। ढीमर लोग मछली पकडनेके लिए एक लकडीमें लम्बा सूत बाँध देते हैं। उस सूतमें अन्तके छोरमें एक नुकीला टेढा तार बाँध देते हैं और उस तारमें केचुवा वगैरहका मांसपिण्ड फसा देते हैं। उस माँसपिण्डके लोभमें आकर मछली उसे निगल जाती है और उस नुकीले तिरछे तारमें उस मछलीका कठ फस जाता है। वह मछली मरणको प्राप्त हो जाती है। यह तो है रसना इन्द्रियकी बात। अब स्पर्शन इन्द्रियके वशकी बात देखिये—हाथी पकडने वाले लोग क्या करते है कि जगलमें एक बडा गड्ढा बनाते हैं उसको बाँसकी पतली पञ्चियोंसे पाटकर उसपर मिट्टी डाल देते हैं। फिर उसके ऊपर झूठी हथिनी बनाते हैं। उसको ठीक हथिनीके रंगोंसे रगकर सजाते है। और कुछ दूरीपर उस ओर दौडता हुआ एक झूठा हाथी बनाते हैं। अब होता क्या है कि जंगलका हाथी उस हथिनीके रागमें आकर उसके पास आता है और

उस दूर बने हुए उस नकली हाथीको देखकर उसे द्वेष जगता है, कि मैं इससे पहिले पहुँचू । तो वह हाथी बड़ी तेजीसे उस झूठी हथिनीके पास दौड़कर आता है । और उसी गड्ढेमें गिरकर शिकारियोंके चंगुलमें फंस जाता है । कई दिनोंके बाद जब वह हाथी भूख प्याससे शिथिल हो जाता है तो शिकारी लोग उसके मस्तक पर चढ़कर उसे त्रिशूल द्वारा वशकर लेते हैं । देखिये इस स्पर्शन इन्द्रियके दृष्टान्तमें तीन बातें आयीं । मोह, राग और द्वेष । मोहमें तो उसे उस गड्ढेका कुछ भी परिचय न रहा, राग था उस हथिनीका और द्वेष था उसे झूठे हाथीका । तो ये इन्द्रियविषय ऐसे हैं । नेत्रेन्द्रियके विषयमें लीन होकर ये पतिंगे (छोटे छोटे मच्छर) दीपकी ज्वालामें जलकर मरणको प्राप्त हो जाते हैं । पतिंगोंके आँखें होती हैं । बहुतसे मरे हुए पतिंगों को वे देखते तो होंगे और वे यह भी जानते तो होंगे कि ये हमारी बिरादरीके ही सब पड़े हैं । चाहे उसको कुछ विवेक न कर सकें मगर जानकारी उनको सब रहती है और फिर भी वे उस दीपकी ज्वालामें आकर मर जाते हैं । घ्राणेन्द्रियके विषयके वश होकर भंवरा कमलमें ही दबा-दबा मर जाता है । कमलका फूल रात्रिको बन्द हो जाता है, दिनमें प्रफुल्लित हो जाता है । सामके समय कोई भंवरा कमलकी सुगंधके लोभसे बैठ गया, सुगंध लेने लगा, इतनेमें कमल बन्द हो गया, अब भंवरा क्या करे, बन्धनमें फंस गया । कला तो है उसमें ऐसी कि काठको भी छेदकर आरपार निकल जाय, लेकिन विषयोंके लोभमें आकर उस भंवरेमें कमलके पत्तोंको छेदनेकी बुद्धि नहीं रहती, वहीं मर जाता है । कर्णेन्द्रियके विषयके वश होकर साँप पकड़े जाते हैं, मारे जाते हैं, साँपको संगीत प्रिय है, बीन बाजेका स्वर बहुत बढ़िया होता है । सपेरेने जहाँ बीन बजाया कि सर्प निकल आता और बीनके सामने आ जाता और सपेरेके वश हो जाता । तो यह संसारी जीव ऐसे इन्द्रियोंके वश होकर अपने प्राण गवां देता है, ऐसा है यह विषयसुख ।

विषय संस्कारसे बिलकुल मुक्त होनेमें धर्मलाभ—जहाँ सही श्रद्धा बनती है वहाँ एक साथ ही एक बार में समस्त अनात्मतत्त्वोंसे मोह हट जाता है । इस सम्यक्त्व रूपी धर्मका काम ऐसा नहीं है । धीरे-धीरे कोई सोचे कि हम घरमें अकेले हैं, पुरुष है स्त्री है, खूब अच्छा सब कुछ ठाठबाट है । खूब किराया आता है, खूब अच्छा अच्छा खाते पीते हैं, दूकान धंधा भी करनेकी कोई जरूरत नहीं है, किसीका विकल्प वह नहीं करता है, अनेकों विकल्प हट गए तो वह कहे कि देखो मेरेको बहुत सम्यग्दर्शन हो गया । अब रुपयेमें एक पैसा भर कमी है, क्या कि सिर्फ एक स्त्री भरका राग है, और किसीका हमें राग नहीं । भाई, बन्धु, कुटुम्ब, देश आदि किसीका मुझे राग नहीं । तो भला बताओ क्या उसके रुपयेमें ६६ पैसे बराबर सम्यक्त्व हो गया ? सिर्फ एक पैसा बराबर ही उसके राग रह गया ? अरे वह तो एक ओट है मोह की । चाहे वह पदार्थ विषयक अज्ञान हो, मोह हो वह तो सम्यक्त्वको पूरा ठगे हुए है तो ऐसे ही जब कभी धर्मके लिए अंत प्रेरणा जगे तो ऐसा चित्त बनायें कि इस मेरे ज्ञानमात्रके सिवाय मेरा कहीं कुछ नहीं है और मुझे किसी भी अन्य वस्तुसे प्रयोजन नहीं । सब भिन्न हैं, सब मेरे लिए निःसार हैं, ऐसा एक बार भी तो इस ज्ञानमात्र स्वरूपकी ओर आना चाहिए तब वहाँ कुछ धर्मकी बात बन सकेगी । जो हो रहा है ठीक है, मगर वह थोड़ा-थोड़ा । थोड़ा मन्दिरमें आ गए, दूकानमें बैठ गए, स्वाध्यायमें बैठ गए, तो ऐसे थोड़े-थोड़ेसे कुछ नहीं होता । जो वास्तविक ढग है, करना तो चाहिए सब । जो ऐसा थोड़ा-थोड़ा करेगा उसे भी कोई क्षण ऐसा प्राप्त हो सकेगा, कि जिस क्षण वह पूरा दिख रहा हो । सर्वसे उपयोग हटा और एक ज्ञानमात्र स्वरूपको ही ज्ञानमें ले रहा म होना चाहिए, तो हम लोगोंके जीवनमें कुछ उत्कर्ष आयगा ।

एकैककरणपरवशमपि मृत्युं याति जन्तुजातमिदम् ।
सकलाक्षविषयलोलः कथमिह कुशली जनोऽन्यः स्यात् ॥१०३३॥

सातो इन्द्रियोंके वशी मानवोंकी दुर्दशाका संकेत—उक्त छन्दमें यह बताया गया था कि देखो—एक-एक इन्द्रियके वश होकर ये प्राणी कैसे मर रहे हैं । उस बातको सुनकर मनुष्योंको यह बात ध्यानमें लाना चाहिए कि देखो एक-एक इन्द्रियके विषयके वश होकर ये जीव मरणको प्राप्त होते, पर जो कामीजन पञ्चेन्द्रियके

विषयोंमें आसक्त हैं उनका भला किस प्रकार हो सकता है ? अच्छा अपने इन्द्रियविषयोंमें ही परीक्षा करो। किस इन्द्रियका राग आपको अधिक बना हुआ है ? और किसका नहीं ? सभी लोग अपनी-अपनी बात विचारिये। अगर कोई कहे कि हमें और इन्द्रियोंका राग तो है मगर कर्णेन्द्रियका कुछ राग नहीं है क्योंकि मैं राग रागनीकी बातें सुनता नहीं, संगीतकी चीजें सुनता, तो उसका यह सोचना गलत है। भले ही उसे ऐसा जच रहा हो अन्य विषयोंका तीव्रराग होनेसे। जैसे कोई लोभी पुरुष धन कमानेमें अपना रात-दिन गुजारता है तो उसे फुरसत ही नहीं है कि चलो आराममें संगीत सुन लें, तो क्या उसे यह कह दिया जायगा कि उसे कर्णेन्द्रियका राग नहीं है ? खूब अच्छी दृष्टिसे विचार करो तो प्राय साधारण तथा मनुष्य पञ्चेन्द्रियके विषयों के वश हैं। तो जो एक-एक इन्द्रियके विषय वश हैं उनकी तो यह दशा है। फिर जो पञ्चेन्द्रियके विषयवश हों उनकी न जाने क्या दशा होगी ! कोई कहे कि उस दशाका तो यहाँ वर्णन ही नहीं किया ? वह तो एक एक इन्द्रियके वश हुए प्राणियोंकी दुर्गति बतायी। पञ्चेन्द्रियके विषयोंमे वश हुए प्राणीका तो वर्णन ही नहीं किया। तो अनुमान लगालो, यह तो वहाना है। एक कथानक है कि एक पुरोहित राजाको रोज शास्त्र सुनाया करता था एक दिन वह पुरोहित कहीं बाहर चला गया। अपने लड़केसे कह गया राजाको शास्त्र सुनानेके लिए। सो उस दिन लड़केने शास्त्र सुनाया। उस दिन यह प्रकरण था कि जो रत्ती भर भी मांस खाता है वह नरक जाता है। इस बातको सुनकर राजाको बड़ा बुरा लगा। दूसरे दिन जब पुरोहित आया तो राजाने बताया कि तुम्हारा लडका तो इस तरह कह रहा था कि जो रत्ती भर भी मांस खाता है वह नरकको जाता है। तो पुरोहितने कहा कि राजन् इसमें आपको खेद माननेकी आवश्यकता नहीं। अरे उसने यही तो कहा था कि जो रत्ती भर मास खाता है वह नरक जाता है। उसने यह तो नहीं कहा कि जो ढेरों (अधिक) मांस खाता है वह नरक जाता है। अब भला बतलाओ जो ढेरों (अधिक) मांस खायगा वह अधिक नरकोंमें जायगा, बारंबार नरकोंमें जायगा। जैसे ७ वें नरकमें पहुंचा हुआ जीव फिर भी नरकमें जायगा। यद्यपि वह तुरंत न जायगा. वहाँसे निकलकर तिर्यञ्च वगैरह चाहे हो जाय मगर बादमे फिर उसे नरक जरूर जाना पड़ेगा। क्यों कि उसने ऐसा ही खोटा कर्म बन्ध किया है। तो यहाँ यह बात कह रहे थे कि जो पञ्च इन्द्रियोंके वशीभूत प्राणी हैं उनकी तो दुर्गति अधिक ही होगी।

संवृणोत्यक्षसैन्यः यः कूर्मोऽङ्गानीव संयमी ।
स लोके दोषपङ्काढ्ये चरन्नपि न लिप्यते ॥१०३४॥

विषयपरिहारी योगियोंकी श्लाघनीयता . इस प्रकरणको कहकर इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि देखो जिस तरह कछुवा अपने मुखको संकोच लेता है। अपनी गर्दनको ऐसा भीतर कर लेता है कि जिससे जरा भी पता नहीं पड़ता कि इसके सिर भी है इसीप्रकार जो ज्ञानी संयमी मुनिजन हैं वे इन्द्रियकी सेनाको संकोच कर उन्हें वश कर लेते हैं। वे ही मुनि दोष कर्दमसे भरे ससारमें रहते हुए भी दोषोंसे लिप्त नहीं होते। वे जलमें भिन्न कमलकी भाँति अलिप्त रहते हैं। मुझे मोक्ष पाना है, मोक्ष नाम है कैवल्यका, मुझे खालिस रहना है जिसकी यह दृष्टि बनी है वह इन इन्द्रियविषयोंको अपने वशमें कर लेता है। जो पुरुष इन इन्द्रियोंको वशमें करता है वह पुरुष खाते पीते रहनेपर भी हर स्थितियोंमें अलिप्त रहता है।

अयत्नेनापि जायन्ते तस्यैता दिव्यसिद्धयः ।
विषयैर्न मनो यस्य मनागपि कलङ्कितम् ॥१०३५॥

विषयोंसे अकलङ्कित मन वाले योगियोंके सर्वसिद्धियाँ— जिसका मन इन्द्रियके विषयोंसे रंचमात्र भी कलंकित नहीं हुआ उनकी दिव्य सिद्धियाँ बिना यत्नके अनायास ही सिद्ध हो जाती हैं। ससारमें क्या हो रहा। जो चाहता है उसे मिलता नहीं, जिसे मिल रहा वह चाहता नहीं। मिले हुएकी चाह क्या ? यह तो सिद्धान्तकी बात है लेकिन देखो जो ऊ चे सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती तीर्थंकर आदिक महापुरुष हैं उनके चाह नहीं रही है और बहुत-बहुत सम्पत्तियाँ पड़ी हुई हैं। और जो तृष्णावी पुरुष हैं वे तृष्णा करते रहते हैं पर उन्हें

उन चाही हुई चीजोंकी प्राप्ति नहीं होती। इसकी अगर कोई व्यवस्था करने वाला होता तो उसपर इन अज्ञानियोंको बड़ा गुस्सा आता। देखो कैसा मूर्ख है। जिन्हें सम्पत्तिकी चाह नहीं उन्हें सम्पत्ति दे रहे और हम लोग जो सम्पत्तिको चाह रहे उन्हें सम्पत्ति नहीं देते। तो यह तो एक संसारकी रीति है। जो विरक्त पुरुष हैं, जो सम्पत्तिकी उपेक्षा करते है उनके पीछे सम्पत्ति उस तरहसे धा धाकर पीछे पडती है जैसे कि छाया। कोई छायाको पकडनेके लिए दौड़े तो छाया दूर भगती जाती है। और कोई छायाकी उपेक्षा करके आगे-आगे बढ़ता जाता है तो छाया उसके पीछे लगती है। तो ये इन्द्रियजन्य विषयसुख ग्रहण करनेके योग्य नहीं है। इनको तो एकदम ही मनसे निकाल दें। यदि बड़ा पवित्र मन हो जाय, तत्त्वज्ञानमे बसा हुआ अन्तःकरण रहे तो उसके जीवनकी क्या तुलना की जा सकती है? इस प्रकरणसे हमें यह शिक्षा लेना चाहिए कि इन विषयसुखोंसे प्रीति छोड़ें और ऐसा संयम नियम लें कि जिससे हम वैराग्यकी दिशामें बढ़नेके लिए उद्यत हों।

अयमात्मा स्वयं साक्षाद्गुणरत्नमहार्णवः।
सर्वज्ञः सर्वदृक् सार्वः परमेष्ठी निरञ्जनः ॥१०३६॥

विशुद्ध एकत्व शिवस्वरूपता—इस जीवका कल्याण एक मोक्ष ही है। मोक्षको छोडकर जितनी भी आवश्यकतायें हैं चाहे चक्रवर्ती इन्द्र धरणेन्द्रकी जैसी विभूतियाँ भी प्राप्त हो जायें फिर भी वहाँ न कल्याण है, न शान्ति है। वह मोक्ष मिलता कैसे है? मोक्षका अर्थ है छूट जाना। मोक्षमें किसे छुटाया गया है और किससे छुटाया गया है? अपने आपके आत्माको छुटाया है और कर्म, शरीर, विकार आदिकसे छुटाया गया है। प्रत्येक पदार्थ जब केवल अपने स्वरूप मात्र रहता है तब तो वह सुन्दर है, शिवरूप है और जब अपने एकत्वस्वरूपको छोड़कर किसी विकारमें आता है तो वह दुविधामें पड़ जाता है। यही हालत इस ससार अवस्थामें हो रही है। इस आत्माको आत्माके मात्र सत्त्वकी ओरसे देखो, केवल आत्माके ही वैभवकी ओरसे देखो तो यह आत्मा स्वयं साक्षात् गुण रत्नोंका महान् समुद्र है, लेकिन अपने आपकी यह महत्ता न जाननेके कारण बाह्य पदार्थोंसे आशा लगाकर दीन बन रहा है।

किसीका परसे सम्बन्ध कल्पनेका व्यामोह—जब कि प्रत्येक पदार्थ न्यारे हैं, स्वतत्र हैं, अपने स्वरूपमात्र हैं, किसी पदार्थका किसी अन्य पदार्थके साथ कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसी स्थितिमें इस आत्माका सम्बन्ध परसे बन कैसे सकता है? सम्बन्ध तो बनता नहीं, त्रिकाल भी बन न सकेगा, और यह सम्बन्ध माननेकी हठमें पड़ा है तो भला लोकव्यवहारमे मनुष्य जो दूसरेसे बहुत प्रेम रखता है और वह दूसरा उससे शत्रुता रखता है तो लोग उसे लोकव्यवहारमें मूढ कहेंगे। किसी कठिनाईके कारण कोई शत्रु हो तो उससे भी प्रेम करना चाहिए, वह तो एक व्यवहारमें कर्तव्य है मगर वस्तुस्वरूपके मंचपर निगाह करें तो जब कि किसी भी अन्य पदार्थसे किसीका कुछ सम्बंध बन नहीं सकता, और फिर वह सम्बंध माननेकी हठ करे तो उसे क्या कहोगे? प्रीति करनेकी बात नहीं कह रहे अथवा व्यवहार करनेकी बात नहीं कह रहे। लोकव्यवहारमे शत्रुसे भी कोई प्रेम करे तो वह बुरा नहीं माना जा सकता, लेकिन सम्बन्ध माननेकी बात कही जा रही है। कोई पुरुष अपने ही किसी निकट मित्रसे या परिजनसे सम्बध मान रहा है अन्तरङ्गमें तो वह मूढ है क्योंकि यहां ज्ञानका गला घोंट दिया गया। पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमात्र हैं, इसकी दृष्टि नहीं रही। सम्बन्ध मान लिया इस आशयको मिथ्यात्व कहते हैं। अभी रागद्वेषकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु किसी अन्य पदार्थसे सम्बन्ध माननेकी बात कह रहे हैं।

मुक्तिका मूल उपाय तत्त्वावगम—भैया! यदि यह सत्य विज्ञान हो जाय कि यह मैं आत्मा त्रिकाल भी किसी परपदार्थका अधिकारी नहीं, करने वाला नहीं, भोगने वाला नहीं, यह तो मात्र मैं ही हू। जो मुझमे गुण ज्ञान दर्शन शक्ति आनन्द आदिक है, केवल उस अपने गुणमात्र हू और प्रतिसमय अपने गुणोंका ही परिणमन करता रहता हू, ऐसा यह मैं पिण्ड हू, ऐसा ही इतना मेरा काम है और इतना ही मेरा अनुभवन है। इससे

बाहर मेरा न द्रव्य है, न प्रदेश है, न परिणमन है, न शक्ति है, ऐसा अपने आपको एकत्वमें देखो तो यह है संसारके क्लेशोंसे छूटनेका उपाय, मुक्त होनेकी तरकीब। देखिये कितनी सुगम और सस्ती तरकीब है अपने आपको सुखी बनाये रहनेकी, मगर इतनी सरल तरकीब को भी न करके कोई उद्दण्ड बना फिर तो फिर उसको सुखी करनेमें कौन निमित्त बनेगा?

गुणरत्नमहार्णव होनेपर भी जीवकी वर्तमान स्थिति—यह आत्मा साक्षात् गुणरत्नोंका महान् समुद्र है ऐसा अपने आपको अनुभवना चाहिए। घर-गृहस्थीके कामोंमें बहुत बहुत झगड़ा फिसाद, विकल्प, चिन्ताएं शोक आदिक अनेक आपत्तियोंमें विचरना होती है। यदि चंद्र आध घंटा किसी भी समय अपने आत्माके सत्यस्वरूपकी बात सुननेमें, स्वरूप तक पहुंचनेके यत्नमें लग बीतें तो समझिये कि अपना जीवन सफल है, अन्यथा संसारमें अनन्त जीव हैं, कीड़े-मकोड़े हैं, यहां पैदा हो गए फिर तो यह हालत समझिये कि जैसे किसी स्थानपर बहुतसी कीडी निकली हों। जैसे दो अंगुल लम्बे पतले जानवर होते हैं जिन्हें गिजाई कहते हैं, ये एक दूसरेके ऊपर डोलते चलते फिरते रहते हैं, उद्देश्य उनका कुछ नहीं रहता, उनके हित अहितका कोई मार्ग नहीं, किस ओर चलना है यह भी उनका लक्ष्य नहीं, बस चलना ही चलना काम है। यों ही समझिये कि ये दो पैरसे चलने वाले मनुष्यकीट बस चलना चलना ही इनका काम है। जैसे किसी चौहट्टेपर यहांसे मनुष्य निकले, वहांसे मनुष्य निकले, यद्यपि उनका आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इत्यादि संज्ञाओंके वश होकर कुछ लक्ष्य रहता है तो यों ही इन संज्ञाओंके वश होकर उन कीड़ोंका भी तो लक्ष्य रहा करता है। इसके मन है सो इन संज्ञाओंको कलात्मक ढंगसे दुरुपयोग करता है और उन कीड़ा मकोड़ोंके मन नहीं है सो वे बेचारे विना कलाके अपने आहार, भय, मैथुन आदिकी संज्ञा किया करते हैं। मनुष्यमें और उन कीड़ोंमें इतना ही अन्तर समझिये कि यह मनुष्य कलात्मक ढंगसे आहार, भय, मैथुन आदिकी पूर्ति करता है और वे कीट मकोड़े विना कलाके आहार, भय, मैथुन आदिक संज्ञाओंकी पूर्ति करते हैं। उनकी अपेक्षा और विशेष काम क्या हुआ इसमें।

शान्तिके प्रसगमें—भैया ! जरा सोचिये, शान्ति तो चाहिए ना ! यहां तो आपका वर्तमानका भी तगाजा है कि हमें शान्ति चाहिए। कुछ ऐसी धर्मकी बात नहीं कही जा रही है कि जो कुछ परोक्ष हो, कोई अन्य बात हो जिसके करनेमें कोई कष्टकी बात कही जा रही हो अथवा जिसका फल परोक्षभूत हो। यह तो अभीके तगाजेकी बात कही जा रही है कि शान्ति तो सबको चाहिए। सब अपने अपने चित्तसे पूछो। और कुछ थोड़ा मिलान करके भी देख लो कि जब हम केवल अपने आत्माके इस एकत्वस्वरूपकी ओर दृष्टि देते हैं, उस समयकी स्थितिमें हमारी क्या अवस्था होती है, शान्ति अथवा अशान्ति होती है और जब हम परपदार्थोंकी ओर आकर्षित होते हैं, दृष्टि देकर केवल परको प्रसन्न करनेमें, निग्रह करनेमें विकल्प मचाया करते हैं, आहार, भय, मैथुन परिग्रहके विकल्प मचाया करते हैं उस स्थितिमें निरख लो कि शान्ति मिलती है क्या? कोई बड़ी बात नहीं कही जा रही है। घरका काम वही, दुकान वही, उसी तरहका रहन सहन सब कुछ वही रहे जब तक कि इतनी सामर्थ्य नहीं है कि निरारम्भ निष्परिग्रह होकर केवल एक आत्माके ध्यानके लिए ही सारे क्षण लगा दिये जायें, सो जब तक चले, होने दो अन्य बातें लेकिन अपने आपपर दया करके अपनी शान्तिके अर्थ इतना तो समय निकाल लो, चाहे सब कुछ काम छोड़ने पड़ें, चाहे अधूरा ही कुछ छोड़ना पड़े, लेकिन घटा आध घंटा ध्यान स्वाध्याय आदिक विधियोंसे अपने आत्माके गुणरत्नोंकी कुछ खबर ले लिया करें, कुछ दृष्टि बना लिया करें। यह अपने आपकी शान्तिके लिए बात कही जा रही है।

आत्महित—आत्माका हित है मोक्ष, मोक्षका अर्थ है—कर्म, रागादिक विकार और शरीर इन तीनसे सम्बन्ध छूट जाना। यह आत्मा उन तीनों कर्मोंसे मुक्त होकर केवल अपने आपके स्वरूपमात्र रह जाय, यह स्थिति है पूर्ण कल्याणकी। उसी स्थितिके पानेका उपाय है आत्मध्यान। उस आत्मध्यानके ही सिलसिलेमें यह कहा जा रहा है कि जिसको ध्यान करना है, जिसका ध्यान करना है वह यह आत्मा स्वयं सात्विक, पूर्ण

रत्नोंका समुद्र है और सर्वज्ञ है। यह ऊपर निरखकर नहीं कहा जा रहा है। यह पर्याय अथवा परिणमन देखकर नहीं कहा जा रहा है। किन्तु आत्माका स्वभाव है ज्ञान और ज्ञानका काम है जानना। कितना जानना ऐसी सीमा ज्ञानने ज्ञानमें नहीं बनायी। यहाँ तो एक अपने आपके विषय कषायोंकी ओर परिणति होनेसे यह ज्ञान अधूरा रह गया है, स्वच्छ नहीं हो सका है पर ज्ञानको ज्ञानकी ओरसे--इतनी सामर्थ्य प्राप्त है कि जगतमें जो कुछ भी सत् हो वह इसके ज्ञानमें आ जाय।- हाँ जो बातें कल्पनाओंसे रची गई हैं वैसी बातें ज्ञानमें न आयेंगी, पर कल्पनाएं करने वाले पुरुषका जो कुछ भी विकार है, जो कुछ भी परिणमन है वह ज्ञानसे आ सकेगा, पर कल्पनाएं ज्ञानमें नहीं आया करती हैं। कल्पनाएं करना भी कलंक है। जैसे जीवका कलंक मोह रागद्वेष करना है इस ही प्रकार जीवका कलंक कल्पनाएं करना भी है। जैसे लोकव्यवहारसे भी कहते हैं कि एक देशका दूसरे देशके साथ सामान्य सम्बंध स्थापित हो जाना यह मित्रताकी निशानी है। वहां भी विशेष सम्बन्धको महत्त्व नहीं दिया। विशेष सम्बन्ध भावी कालमें बिगाड करने वाला हो जाता है। इसी तरह समझिये कि ज्ञानका काम सामान्यरूपसे सर्व सतका जानना याने विकल्परहित होकर सामान्य-विशेषात्मक वस्तुको जानना ठीक है, उस सामान्य स्वरूपकी ओर निरखिये; यह आत्मा सर्वज्ञ है।

पुरुषकी विश्वप्रतिभासिता—जब सबके जाननेका स्वभाव इस आत्माका है अथवा पर्यायरूपसे परमात्म-तत्त्वको सामने निरखकर सोचिये, जब सबको जानने वाला यह आत्मा है तो स्वयमें यह सर्वदर्शी बन गया बाहरमें इन पदार्थोंको देख देखकर सर्वदर्शी नहीं बना जाता। यों तो बाहरमें इन सर्व पदार्थोंको जान जानकर सर्वज्ञ भी नहीं बना जाता किन्तु कुछ कहना आवश्यक है कि जब यह आत्मा सबको जानता है तो उनका आकार ग्रहणमें आया लेकिन सर्वदर्शीपना तो सबको जानने वाले इस आत्माको लग लेने मात्रसे बना जा सकता है। यह आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है और सबके लिए हितरूप है। आत्मकी जो स्वयं स्थिति है, आत्माकी ओरसे जो स्वयं प्रवर्तन है वह किसी जीवको बाधा देने वाला नहीं होता।

कषायका अनुमापन—दूसरे प्राणी दुःखी होते हैं तो दूसरोंकी कल्पनाओं और विषयोंकी खुदगर्जी परिणामका अनुमान करके दुःखी होते हैं। आत्माकी स्वयंकी परिणति हो उससे कोई दुःख नहीं होता। एक बालकको यदि खेल खेलमें दो-चार मुक्के भी मार दो तो वह रोता नहीं है बल्कि हंसता है और कषायवश कोई एक अंगुली भी मार दे तो वह बच्चा रो उठेगा। यद्यपि घूंसेकी चोट अंगुलीकी चोटकी अपेक्षा १०० गुनी अधिक है लेकिन वह बच्चा भी कषायका अनुमान कर रहा है। जब घूंसा मारा तो उस समय बच्चेने समझा कि इसके कषाय नहीं है, इस कारण रोनेके बजाय वह हंसता है और जब अंगुली मारा तो कषायका अनुमान करके वह बच्चा रोने लगता है, तो इस जीवको दूसरेकी कषाय सुहाती नहीं है। देखिये न तो धनके कम ज्यादा होनेका यहां क्लेश है और न अपनी इज्जत होने न होनेका क्लेश है किन्तु दूसरे प्राणीकी कषाय सुहाती नहीं है केवल इस बातका क्लेश है। कोई पुरुष बड़े ऊंचे ओहदेपर पहुंच गया अथवा कोई धनिक बन गया या किसीका बड़ा यश छा गया तो दूसरा मनुष्य इस बातसे दुःखी नहीं है, किन्तु धन बढ़नेसे, इज्जत बढ़नेसे, यश छानेसे वह अपनेको बड़ा सुखी अनुभव कर रहा है, ऐसी उसकी कषाय सोच सोचकर यह जीव दुःखी होता है।

अपनी कषाय न सुहाने व न [illegible] करनेका अभिप्राय— देखो भैया ! दूसरेकी कषाय तो इसे सुहाती नहीं है और अपनी कषाय इसे सुहा रही है इसलिए अपनी कषाय इसे दिखती तक भी नहीं है। तो अब समझ लीजिए कि जो दुःख इसे दूसरेकी कषाय न सुहानेसे हो रहा है तो क्यों हो रहा है? कषाय बुरी चीज है। दूसरेकी कषाय इसे सुहाती नहीं है। सो यहां भी उलटा काम यह कर रहा है कि दूसरेकी कषाय न सुहाते इससे लाभ न था पर अपनी कषाय न सुहाये इससे लाभ था। सो जब यह आत्मा [illegible] अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर आता है अपने शुद्ध गुण रत्नोंकी सुध लेता है तो यह [illegible] दुःखका कारण नहीं बनता। जब हम कषाय करें और दूसरे लोग हमारी कषाय समझते हों तो हम उनके

क्लेशके लिए निमित्त हैं। जब हम अपने गुणरत्नोंका ध्यान कर उनकी खोजमें ही रहकर केवल अपनी साधना करते हों तो उस समय हम सर्व जीवोंके लिए हितरूप हैं, किसीके लिए हम अहितरूप नहीं हैं।

आत्माका परमेष्ठित्व—यह आत्मा परमेष्ठी है। परमात्माको निरखें तो वह तो पर्यायमें भी परमेष्ठी है, परमपदमें स्थित है। अब जैसा स्वरूप प्रभुका है वैसा ही स्वरूप अपने आत्मस्वरूपका है। इसके ही सत्त्वको देखें तो यह अपने परमज्ञायकपदमें स्थित है, अपने आपकी ओरसे जो वर्तना बनी उसकी दृष्टिसे यहाँ परमेष्ठी समझिये। यह आत्मा निरञ्जन है। जिस आत्मतत्त्वका ध्यान करके संसारके समस्त क्लेशोंसे छूट जानेकी बात उत्पन्न होगी उस आत्माकी बात कही जा रही है। यह निरञ्जन है, इसमें अञ्जन नहीं लगा है। जैसे आँखका अञ्जन आँखमें इतनी दृढ़तासे चिपका रहता है कि उसे दूर किया जाना कठिन है। फिर भी वह अंजन तो बाहरी मल है। इसीप्रकार इस आत्मामें शरीरकर्म और विकारका अञ्जन लगा है और यह अञ्जन भी इतनी दृढतासे लगा हुआ है कि इसे दूर करना सुगम नहीं बन रहा है। कोई पुरुष शरीरको छोड़कर दो हाथ दूर बैठ जाय ऐसा भी नहीं कर पाता। इसका कर्म थोडी देरके लिए अलग हो जाय ऐसा तो नहीं हो पाता। इसका विकार इसमें कितनी दृढतासे आलिंगित है ऐसे अञ्जनकी तरह लगे हुए इन मलोंसे रहित यह आत्मतत्त्व है, ऐसे आत्माका जो ध्यान करते हैं उनको शान्त मिलती है।

परोपेक्षा और आत्मोन्मुखतामे ही लाभ—भैया! बाहरमें जितने जो कुछ भी समागम हैं वे सब माया-रूप हैं, पौद्गलिक हैं, स्कध ही स्कंध हैं और जो कुछ सचेतन प्राणी नजर आते हैं वे भी परामर्थभूत नहीं हैं। जीव कर्म और शरीर इन तीनका वह पिण्ड है, और उनमें जो मनुष्य नजर आते हैं वे भी ये ही है और आश्चर्यकी बात तो यह है कि जैसे हम जन्म मरणके चक्रमें बहे जा रहे हैं, हम अपने आपको मलिन पापी जैसा पा रहे हैं इस ही प्रकार ये सभी मनुष्य जो समागममें प्राय मिले हुए हैं, पापी हैं, मलिन हैं, जन्म-मरण के चक्रमें बहे हुए जा रहे हैं, मायारूप हैं, स्वयं विपत्तिमें ग्रस्त हैं, स्वयं है, असहाय है, पराधीन है, पिण्डरूप है, ऐसे विडम्बनारूप पराधीन विपत्तियोंसे ग्रस्त मलिन पापयुक्त इन मनुष्योंमें ही नाम चाहते हैं, उनको कुछ दिखाना चाहते हैं यह कितनी बड़ी मूढताकी बात कही जाय। जरा कुछ अपने आपकी ओर निरखकर अनु-मान करके तो देखिये। इन बाह्य पदार्थोंकी उपेक्षा करके इनका विकल्प तोड़कर केवल अपने आत्माके उस स्वरूपको निहारें। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ। केवल ज्ञान और आनन्दका विकास इतना ही मात्र मैं हूँ, इतनी ही मेरी दुनिया है, इतने तक ही मेरा अधिकार है, मैं सबसे न्यारा ज्ञानमात्र हूँ, इस भावनामे वह ध्यान बनता है जिस ध्यानके प्रतापसे ससारके ये समस्त सकट टूट जाते हैं। ऐसे आत्म ध्यान के लिए हमें कुछ समय देना चाहिए अपने आत्मस्वरूपकी सुध करनेके लिए।

तत्स्वरूपमजानानो जनोऽयं विधिवञ्चितः।
विषयेषु सुखं वेत्ति यत्स्यात्पाके विषान्नवत् ॥१०३७॥

आत्मस्वरूपके अज्ञानमे विषयसुखवेदना—यह आत्मा अपने सुखके कारण अपने स्वरूपसे अपने ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र है जिसका विकास पूर्ण निराकुलता है और सर्वज्ञता है। यह अपने आपके एकत्वमें अपने ही स्वरूपमें रहता हुआ परमेष्ठी है, सबसे विविक्त है अतएव निरञ्जन है अनन्त गुण रत्नोंका समुद्र है और सक्षेपमे कह लीजिये तो यह परिपूर्ण है और अपने आप सब कुछ है, निराकुल है, किन्तु ऐसे अपने स्वरूपको न जानता हुआ यह जीव कर्मोंसे वंचित होकर अर्थात् कर्मोंद्वारा ठगाया गया होकर यह विषयोंमें सुखोंका अनुभव करता है। जब इस जीवकी दृष्टि अपने आपके स्वरूपमें नहीं होती है तो यह बाहरकी ओर चलता है, बाह्य पदार्थोंमें आशक्त होता है और विषयोंमें सुख समझता है। यद्यपि इस आदतके कारण इस प्रवृत्तिके कारण पद पदमें इसे अनेक विपदायें उपस्थित होती हैं, अनेक चिन्ताएं अनेक भय और अनेक विडम्बनाएं होती हैं जिससे यह दु खी होता रहता है, लेकिन एक मोह धूल ऐसी पड़ी है कि जिन प्रवृत्तियोंसे यह दुःखी

होता है उन ही प्रवृत्तियोंमें इसकी बराबर वृत्ति बनती चली जाती है। यद्यपि इन समस्त विषय सुखोंका परिपाक अत्यन्त कटु है जैसे विषमिश्रित अन्नका भोजन मरणका ही करने वाला है, विघात करता है इसी प्रकार इन विषयसुखोंका अनुभवन इस आत्माके चैतन्यप्राणका घात करता है जिससे यह इस कालमे भी दु:खी होता है और भावी कालमें भी दु:खकी परम्पराओंमे बढता रहेगा लेकिन यह विवश हो रहा है।

विषयसुखविरति एवं स्वरूपवासमे कल्याण — भैया ! आत्माका कल्याण इसमें है कि यह अपने स्वरूपके निकट अधिक बसा करे। पञ्चेन्द्रियके विषय सुखोंमें और मनके मानसिक काल्पनिक सुखोंमें न बहे। यह मनुष्य जब कभी इन्द्रियके विषयोंके खातिर कुछ परिणति करता है वह अपराध इससे कहीं अधिक है। इन्द्रियविषयोंका तो कुछ आवश्यकतावोंसे भी सम्बध है, उनमें विशेष परिणति और आसक्ति होना अयोग्य है। लेकिन सम्बंध कुछ ऐसा है कि जिससे कुछ परिणति करना होता है। जैसे क्षुधा तृषा लगी तो यह भोजन करता है। इसे भोजन करना एक आवश्यक सा हुआ है। अब इसमे वह आशक्ति न रखे, रसोंमें गृद्धता न रखे यह उसका काम है, पर कुछ आवश्यक पड जाता है इसीप्रकार शींतउष्णताकी बाधा मिटाना अथवा स्वच्छ स्थानमें रहना आदिक कुछ-कुछ जरुरी कामसे हो जाते हैं लेकिन मनके विषयमें जो कि एक पराई निन्दा करना, दूसरोंके अवगुणोंपर दृष्टि रखना, दूसरोंपर विपत्ति आनेपर मनमे हर्ष मानना आदिक जो मन की कल्पनाएं चलती हैं वे तो इसके लिए बड़ी भयकर हैं। आत्माका कर्तव्य तो यह है कि वह अपनी भलाई का चिन्तवन और यत्न अधिक रखे।

कल्याणके लिये समयके सदुपयोगका ध्यान इस मानवका समय बहुत तो गुजर गया, जो कुछ शेष रह गया वह इस गुजरेको देख कर ही समझलें कि यह शेष जीवन भी बहुत शीघ्र गुजर जाना है। अब इस विनश्वर जीवनमें हम अपने हितके लिए कुछ यत्न न करें, विधिपूर्वक सही ढगसे तो हमने यह अवसर व्यर्थ ही खो दिया समझिये। हम आत्महितसे अपना अधिक प्रयोजन बनायें, गुणग्राहिताकी दृष्टि बनायें क्योंकि मुझे गुण विकास चाहिए, आत्मविकास चाहिए, अन्य बातोंमे फसनेसे अथवा दोषोंका उपयोग रखने से आलोचना निन्दा आदिककी बात रखनेसे हम अपने आपको किस प्रकार कल्याणमें ले जा सकते हैं। तो ये पञ्च इन्द्रिय और मनके विषय इन विषयोंके अनुभवनमें भोगनेमें आत्माका हित नहीं है किन्तु आत्महित है अपने आपके स्वरूपका चिन्तन करके अपने निकट बने रहनेमें। इस लोकमें कोई दूसरा मेरा शरण नहीं है। हम किस किसकी ओर दृष्टि गड़ायें, किससे प्रीति बन्धन बनायें, कौन मेरा सहाय है कौन मुझे सुखी करेगा, कौन मेरा कल्याण करेगा ? वह सब तो स्वयके ही शुद्ध परिणमनसे होनेका है।

कुभावसगके परिहारमे लाभ—हाँ यहाँ एक सत्सग कुछ परिस्थितियोंमे आवश्यक है कि हम गुणी चारित्रवान सम्वेगी पुरुषोंका सत्संग करें और उनमें प्रीति बनाये रहें। वह सब केवल अपने गुणप्रेम गुण-विकास और मोक्षमार्गके लाभके लिए है लेकिन किसीसे ऐसा घुल मिलकर रहना कि जिससे लोकमे कुछ हमारी एक पार्टीसी बने कुछ एक पक्ष सा बने, हम किसी दूसरेको विपक्षी मान लें और हम मुकाबलेसे हम किसीमें अपनी प्रीति बनायें अथवा परिवारजनोंमें ये मेरे हैं इनसे अपना महत्त्व बढ रहा है, इनसे ही मेरी लोकमें श्रेष्ठता मानी जाती है इस आशयसे प्रीति बढायें, लोगोंके बीचमे बैठकर हम अपनेको इस गृहस्थीके कारण इस एक धनिकताके कारण अथवा स्त्री पुत्रादिकके भले होनेके कारण कुछ अपना महत्त्व मानें, इन दृष्टियोंसे जो प्रीति उत्पन्न की जाती है वह भी बन्धन है। लोकमें कहीं भी मेरा दूसरा कोई शरण नहीं है। मेरा शरण तो मेरा यह आत्माराम है जो कि एक द्रव्यदृष्टिसे निरखा जानेपर निर्विशेष निर्विकल्प एक ज्ञायकस्वभावमात्र विदित होता है ऐसे निजस्वरूपकी दृष्टि करनेसे अपने आपकी निकटता प्राप्त होती है और ऐसे निकट बने रहनेमे ही हमारी भलाई है किन्तु इस स्वरूपको न जानते हुए लोग इस विधि द्वारा वंचित होकर, जो हम कर्म करते हैं, जो हम विषय कषायोके परिणाम बनाते हैं उन परिणामोंसे ठगाये जाकर और इन परिणामोंके निमित्तसे जो कर्मबन्धन हुआ करता है, हुआ था उसके उदयकालमें विवशता

और परिस्थितिके बन्धनमें बंधकर ऐसा मैं ठगाया गया कि इन विषयसुखोंका ही अनुभव न करता हूँ।

त्रुटियोके कटु विपाकसे मुक्त होनेके लिये आत्मवीर्यकी उपासना—विषयसुखोंके अनुभवके परिपाक नियमसे कटु हैं। कुछ तो अपने इस थोड़ेसे जीवनमें बीती हुई घटनाओंसे समझलें कि उन सब विडम्बनाओंके और सुखानुभवके बाद आज हम कितने भरे पूरे हैं अथवा हममें कुछ विशेषता आयी है क्या? तो उत्तर इसका "न" ही होगा और बल्कि हमने उन विषयोंको भोगा नहीं, किन्तु उन प्रसंगोंसे मैं खुद भुगता चला गया। अब गल्तियोंको लम्बा करनेसे काम न चलेगा। अपने आपके स्वरूपके निकट आनेका काम करना चाहिए। यही आत्मध्यान संसारके क्लेशोंसे हमें मुक्त कर सकेगा। उस ही आत्मध्यानकी चर्चा चल रही है और इस अध्यायमें उस ध्यानका कुछ उपाय बताया जायगा। सर्वप्रथम आत्माका बल बताया जा रहा है कि आत्मा कैसा समृद्धिशाली है। ऐसी समृद्धिको न जानकर आत्मा हीन बन रहा है। जिसे चाहे परपदार्थोंकी ओर, जो कि विषयभूत हैं उनकी आशामें अपने आपको हीन बनाया जा रहा है।

यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम्।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥१०३८॥

वीतराग मुनिका सुख—अपने आपको अपने आत्मज्ञानके बलसे परपदार्थोंसे हटाकर अपने निकट ले आनेपर जो एक विराग स्थिति बनती है उस वीतराग स्थितिमे जो सुख होता है, जो आनन्द जगता है, वह आनन्द इन्द्रिय और मनके विषयोंसे होने वाले सुखोंसे विलक्षण है और बहुत अधिक बढ़कर है, और जो पर्यायसे भी वीतरागी हो चुका है, जहाँ रागद्वेषका अभाव हो चुका है ऐसे वीतराग प्रभुके जो सुख होता है अथवा वीतराग साधुके मनमें शान्तिपूर्वक जो सुख होता है उसका अनन्तवां भाग भी देवेन्द्रोंके द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। देवेन्द्रोंका सुख एक ससारी अन्य प्राणीके सुखसे ऊ चा है अर्थात् जिस सुखको ससारी प्राणी चाहते हैं उस सुखकी वहाँ हद है जिनका वैक्रियक तो शरीर है, जिसे मरनेका तो डर नहीं, ठंड गर्मीका डर नहीं, भूख प्यासकी वेदना भी हजारों वर्षोंमें होती है और वह भी एक सोच लेनेसे ही कंठमें अमृत झरता है उससे भूख प्यास शान्त हो जाती है, इतना उनके शरीरकी ओरसे सुखमय जीवन है, जिनकी देवागनाएं, इन्द्राणियां अनेक हैं और वे भी भाग्यशालिनी हैं सो उनकी भी चेष्टा बहुत ऊ ची होती है। उनका व्यवहार वार्तालाप यह सब ऐसा ऊ चा होता है कि जिसको निरखकर इन्द्र बहुत तृप्त रहा करता है। ऐसी देवागनाओंका भी बडा सुख है। ऐसे सुखोंको भोगता हुआ भी इन्द्र वीतरागी आनन्दवान पुरुषोंके मुकाबलेमे तुच्छ है।

वीतरागताके आनन्दकी सांसारिक सकल सुखोंसे विलक्षणता—अथवा यह तो एक तुलना करके गुणा भाग बताया गया है कि इससे अनन्तगुना सुख वीतराग प्रभुका है और यहाँ तक कहना पडता है वीतराग प्रभुके आनन्दको बतानेके लिए कि अतीत कालमे जितने सुखी जीव हो चुके हैं इन्द्रादिक अथवा भावी कालमें जितने चक्रवर्ती आदिक होंगे, उन सबका भी सुख जोड लिया जाय, जितने लोकमें प्राणी हैं उन सबका भी सुख जोड लिया जाय, उस सुखसे भी अनन्तगुणा सुख वीतराग प्रभुके है लेकिन इसमें भी बहुत कमी रह गई। कारण यह है कि ससारके सुखोंमे और वीतरागताके आनन्दमें मूलसे ही फर्क है। जाति ही न्यारी है। संसारका सुख झूठे प्रेमको लिए हुए रहता है। भले ही कोई ऊ चा सुख हो मगर वह सुख कल्पनाओंसे अतीत नहीं है। उन सबमें कल्पनाएं बनी रहती हैं, और कल्पनाएं करना जीवके लिए एक कलंक है। निर्विकल्प आनन्द एक विलक्षण जातिका है। जब रागद्वेष नहीं रहता है तो वहाँ निर्विकल्प आनन्द प्रकट होता है।

आकुलताका मूल साधन रागादि विकार—यद्यपि कल्पनाएं करना यह ज्ञानका एक प्रकारका परिणमन है लेकिन यह परिणमन मात्र ज्ञानका नहीं है किन्तु रागद्वेषके भावोंके कारण यह परिणमन है, अतएव उसे ज्ञानका परिणमन कहें तो यह सर्वथा युक्त बात नहीं है। जिस दृष्टिसे यह बताया गया है कि ज्ञान न मिथ्याज्ञान होता और न सम्यग्ज्ञान होता, ज्ञान तो ज्ञान है पर सम्यक्त्वके साहचर्यसे उसका सम्यग्ज्ञान नाम होता

और मिथ्यात्वके साहचर्यसे उसका मिथ्या ज्ञान नाम होता, पर ज्ञानके स्वरूपको देखकर तो यह कहा जायगा कि ज्ञान मायने जानकारी, जानन होता रहता है तो उस दृष्टिसे इस ओर भी आयें कि इसमें विकल्प कल्पनाएं क्षोभ वितर्क विचार विमर्श ये सब भी ज्ञानमें कहाँ है। यद्यपि होते हैं एक ज्ञानकी कलासे ही पर इन सबमें रागद्वेषके पुट साथ लगे हुए होते हैं।

बाह्यदृष्टिसे आनन्दका विघात— संसारके जितने सुख हैं वे सब रागद्वेषके पुट लिए हुए होते हैं। जब रागके साहचर्यमें होने वाला सुख और रागके भावसे केवल आत्माकी ही ओरसे आत्माके ही कारण होने वाला स्वाभाविक आनन्द इन दोनोंकी जातिमें ही मूलत अन्तर है, अतएव हम वीतराग प्रभुके सुखका क्या अन्दाज लगा सकते हैं? वह पूर्ण आनन्द है ऐसा आनन्द प्रकट होना इस आत्माके स्वभावमे ही है, यह कहीं बाहरसे नहीं लाना है प्रत्युत बाहरकी दृष्टि करके जो हमने विकार और दुख बना रखा है उन विकार और दुखोंको हटाना है! जो अति उत्कृष्ट बात है वह तो हमारे स्वरूपमें पड़ी हुई है कहीं भी वह किसी भी बाहरी पदार्थसे नहीं लाना है लेकिन इस आत्मापर यह बहुत आपत्ति पड़ी हुई है कि इसकी बाहरमें दृष्टि गड़ती है और उनमें राग करके उनका सम्बन्ध बनाकर यह सुख प्राप्त करना चाहता है बस यही भूल इस जीवपर बहुत बड़ी विपदाकी बात है। यह भूल मिटे, यह विपदा मिटे फिर तो यह जीव स्वयं अपने आप समृद्ध है, समग्र है। जितनी चिन्ताएं क्लेश शोक हम आपपर हावी बने हुए हैं उन सबका कारण क्या है? एक परवस्तुका मोह, पर वस्तुका राग।

धर्मके आशयमे उपयोगकी अन्तर्गति— एक धर्मके प्रकरणमें यह बात कही जा रही है। धन हानि, जन हानिका ख्याल करके जो चिन्ता बनती है अथवा देशपर किसी दूसरे देशका आक्रमण होनेपर जो एक व्यग्रता बनती है वह चाहे लोक व्यवहारमें ऐसी भी बात मानी जाय कि न करें तो लोग उसे कायर और घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, लेकिन यह तो सोचिये कि यदि केवल अपने आपके स्वरूपकी रुचि जगे, इसके निकट बसे तो चाहे लोकमें कुछसे भी कुछ प्रवेश हो जाय उससे भी इस आत्माका बिगाड़ क्या है। जैसे एक वर्तमान प्रसंग है जैसा कि गुजर चुका है, दूसरे देशका हमला हुआ और चिन्ताएं हुईं कि लोगोंका जीवन कैसे रहेगा, आजीविकाकी बात कैसे बनेगी अथवा धर्मात्मावोंका धर्मपालन कैसे होगा ये सब शंकाएं की जा सकती हैं लेकिन आत्माके शुद्ध तत्त्वका रुचिपूर्वक लगाव होता है तो यह भी क्षोभ नहीं हो सकता है। क्या है? दुनिया बहुत बड़ी है। कोई कारण ऐसा भी हो जाय कि जीवन भी न रहे तो भी यह मैं पूराका ही पूरा अपने गुणों सहित अपनी समस्त समृद्धि सहित यत्र तत्र कहीं भी रह सकूंगा, अच्छे स्थानपर रह सकूंगा। मेरा तो लोक और परलोक केवल यह चैतन्यस्वरूप है पर इतनी दृढ़ता नहीं होती है तो सारी व्यग्रताएं होती हैं।

तत्त्वज्ञानके कारण गृहस्थावस्थामे भी व्यवहार व हितका सुगम हल— भैया! एक अपने गुजारेकी व्यग्रता, दूसरी पोजीशनकी व्यग्रता ये इस मनुष्यको बहुत तेज सता रही हैं। और, गृहस्थावस्थामें इस मनुष्यका कोई वर्तमान सीधा हल भी नहीं है। इस बिना भी नहीं चलता उस बिना भी नहीं चलता और हल भी सीधा है। गृहस्थ जीवनमें धर्म अर्थ काम इन तीन वर्गोंका समान स्थान बताया है। ज्ञानी गृहस्थमें इतना बल है कि अपने कर्तव्यका निभाव करते हुए फिर चाहे कैसी ही बीते, उन घटनाओंका जाननहारमात्र रह सकता है। सब माहात्म्य विशुद्धज्ञानका है। हम अपने वस्तुस्वरूपके अनुकूल ज्ञान बनायें तो हमें कहीं अशान्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरा मेरेमें ही है। यद्यपि इस विषम परिस्थितिमें एक दूसरेका निमित्त पाकर नाना विभावरूप परिणमन होते हैं। यह जानकर भी मानकर भी उस परिस्थितिमें भी हम स्वतंत्रता निरख सकें तो यह हमारे ज्ञानकी बड़ी उच्च कला समझियेगा।

परपदार्थकी परिणमनमे निरपेक्षता— पर निमित्त होनेपर विकार परिणमन होता है। तिसपर भी विकार रूपको प्राप्त यह उपादान अपनी ही स्वतंत्रतासे परिणमा। केवल एक परिणमन मात्रकी दृष्टिसे निरखा जा

रहा है। भले ही वह निमित्त हो। जैसे रत्नकरंड श्रावकाचारमें बताया है कि भगवानकी दिव्य ध्वनि स्वाभाविक होती है और यह सिद्ध करनेके लिए दृष्टांत दिया गया है कि जैसे मृदंगमें हाथकी चपेट पड़ती है यह तो ठीक है, लेकिन मृदंग जो आवाज देता है वह हाथकी अपेक्षा नहीं करता है, वह तो ऐसा निमित्त होने पर भी याने ऐसा निमित्त मिले बिना आवाज नहीं निकलती फिर भी, उसकी जो वृत्ति होती है उसकी अन्तः दृष्टि देना है। विकार परिणमनके समय भी वह जीव अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अपनेमें विकार कर रहा है। किसी पर वस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल भावको नहीं कर रहा है ऐसी स्वतंत्रताका वहाँ भी दर्शन किया जा सकता है।

ज्ञानप्रकरणमें आत्महितकी शिक्षा — सच बात तो यह है कि जब प्रत्येक पदार्थको हम उनको उन ही के स्वरूप सीमासे निरखा करते हैं तो स्वामित्व बुद्धि नहीं रहती, कर्तृत्व बुद्धि नहीं रहती, भोक्तृत्व बुद्धि नहीं रहती जो बुद्धि हमारे क्लेशका कारण है। तो हमारा हित जिसमें हो वैसी दृष्टि बनाना है। न हमें किसीको सुनाना है, न समझाना है, किसीको सुनाने और समझानेका काम भी किया जा रहा हो तो उसमें भी भाव यह होना चाहिए कि इस बहाने मैं भी तो सुन रहा हूँ, समझ रहा हूँ, अपने आपके निकट आनेका यत्न कर रहा हूँ। तो आत्महितमें उद्यम करना यही है इस मनुष्यजीवनकी बुद्धिमानी। बाहरके किसी फसाव में न आना, किसीसे आशा न रखना, यों अपने आपके स्वरूपके निकट बसे रहनेमें ही अपना कल्याण है।

अनन्तबोधवीर्यादिनिर्मला गुणास्त्रिगुंणाः।

स्वस्मिन्नेव स्वयं मृग्या अपास्य करणान्तरम् ॥ १० ॥

आत्मवीर्यके परिचयमें गुणविकास — यह ध्यानका प्रकरण है, ध्यानमें मूल तत्त्व अथवा मूल उपाय एक आत्मध्यान है। और आत्माकी ध्यान तब बन सकता है जब पहिले अपने आत्माकी शक्तिका परिचय हो। जब प्रतीतिमें यह बात बैठ जाय कि यह मैं आत्मतत्त्व सर्व पदार्थोंमें सारभूत और अपने लिए शरण हूँ। जब आत्माकी शक्तिका परिचय हो जाता है तब ही आत्मध्यानमें रुचि जगती है। आत्मध्यानके इच्छुक पुरुषोंको आत्माके जो अनन्त ज्ञानादिक गुण हैं उन गुणोंको इन्द्रियका आलम्बन त्यागकर स्वयं अपने आपमें उन्हें निरखना चाहिए। आत्मशक्ति अथवा आत्मगुणका अनुभव करनेके लिए सर्व प्रथम तो पर्यायबुद्धिका परिहार हो। अर्थात् जो पर्यायें चल रही हैं गुणपर्याय अथवा यह असमान जातीय द्रव्यपर्याय, इज्जत, ऊँच नीच कुल आदिक जो कुछ भी चल रहा है इसमें अहं बुद्धि न हो अर्थात् जो आत्मतत्त्व नहीं है परभाव है, परपदार्थ है उसमें यह मैं हूं इस तरहका आशय न रहे तब आत्मध्यानका पात्र होगा। तो प्रथम ऐसी तैयारी करें कि देहका भान अहं रूपमें न करें। यह मैं हूँ, यहाँ बैठा हूँ ऐसी स्थितिका हूँ, धनिक हूँ, अमुक जातिका हूँ, कुल का हूँ इन सब बातोंमें अहपना न लायें तब ऐसी स्वच्छता प्रकट होगी कि जिसमें आत्मगुण निरखे जा सकें। और, फिर आत्मगुण निरखनेके लिए इन्द्रियका आलम्बन न करें अर्थात् आँखोंसे देखनेका श्रम न करें, कानोंसे सुननेका श्रम न करें कि मैं इन कानोंसे सुन लूं, आँख आदिसे विकल्प करनेका श्रम न करें कि मैं देख लूं, सूंघ लूं, स्वाद लूं यह इन्द्रियोंके द्वारा गम्य नहीं होता है। अतः इन्द्रियका परिहार करके एक स्वयं अपने आपमें अहंकार और ममकारसे दूर होकर विश्रामसे निरखें तो वह निर्मल गुण जो अनन्त बोध, अनन्त वीर्य जो कुछ भी आत्मामें अपने सत्त्वके कारण स्वरूप पाया जाता है वह खोजनेमें आ जायगा। जब अपनी महत्ताका ज्ञान हो अहो यह मैं स्वयं आनन्दमय हूँ, निराकुल हूँ, मेरेको इस लोकमें करनेको कुछ नहीं है। यह मैं परिपूर्ण हूँ, जब अपने आपके स्वरूपकी महिमा विदित होगी तब आत्मध्यान बनेगा। भैया! लोकमें कहीं कुछ शरण नहीं है। किसकी प्रीति, किसका द्वेष किसका मोह, क्या यहाँ करना? जहाँ जावो, जिसका शरण गहो, जिसका आलम्बन लो वह चूंकि पर है ना, अतएव वहाँ शरण मिलना तो दूर रहो बल्कि एक धोखा मिलता है। कुछ चाह करके किसी पदार्थके निकट पहुंचे तो वहाँ प्रतिकूल बात बन जाती है। लोकमें कोई भी पर पदार्थ मेरे लिए शरण नहीं है। यह मैं स्वयं अपने सहज इस आत्मस्वरूपका भान व ध्यान करूं,

सो इस सुस्थितिमें स्वयं ही अनुपम आनन्दका अनुभव होता है और इस ज्ञान और वैराग्य अथवा आनंदमें ही सामर्थ्य है कि हमारे भव-भवके कर्म छेदे जा सकते हैं।

अहो अनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः।
त्रैलोक्यं चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावतः ॥१०४०॥

आत्माकी अनन्तवीर्यता—अपने आपके आत्मवीर्यपर दृष्टि दें, ध्यान साधनाके लिए उद्यमी पुरुषोंके लिए यह शिक्षण चल रहा है। अहो! देखो यह आत्मा अनन्त वीर्यवान है, समस्त विश्वका प्रकाश करने वाला है। भीतर निष्पक्ष होकर अर्थात् देहादिकका पक्ष न करके निरखा जाय कि यह मैं क्या हू तो एक अनुपम ज्योतिस्वरूप मालूम पड़ेगा। यह एक जाननस्वरूप है, जिसका कार्य निरन्तर जानते रहना है, जानना स्वभाव है इसका। जाननेका स्वभाव है तो वे सब पदार्थ जाननेमें आते हैं जो कि सत् हैं। असत् क्या जाननेमें आये, असत् ही है। पर जितने भी सत् हैं ये समस्त सत् इस ज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं, अतएव यह आत्मा ऐसा अनन्त वीर्यवान है कि समस्त विश्वका प्रकाश करने वाला है। आत्मामें ध्यान शक्तिका प्रभाव ऐसा विलक्षण है कि जिस ध्यानकी शक्तिके प्रभावसे यह आत्मा तीन लोकको भी चलायमान कर देता है। इस आत्मध्यानके प्रतापसे तीर्थंकर आदिक महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त होते हैं। तो उन पदोंमे इन्द्र धरणेन्द्रादि तीन लोकके जीव उस ओर आकृष्ट होते हैं अर्थात् आते हैं, प्रभावित होते हैं। और फिर ध्यानशक्तिके प्रभावसे यहाँ भी कितना ही एक निमित्त नैमित्तिक भावमें परिणमन हो जाता है। जैसे लोकव्यवहारमे भी देखते हैं कि मंत्रके प्रतापसे किसीका विष दूर कर दिया या कोई अन्य विडम्बना सम्पदा समृद्धि उत्पन्न हुई तो ऐसे-ऐसे भी इस लोकमें प्रभाव बनते हैं। और आत्मध्यानका सत्यप्रभाव यह है कि रागद्वेष आदिक मल दूर होकर एक आत्मामें अनुपम स्वच्छता प्रकट होती जिससे इसकी सब बाधायें दूर हों वे सब एक आत्मध्यानसे होती हैं। सर्वोपरि कल्याण है मोक्ष। उस मोक्षका बीज है यह आत्मध्यान। किस पदार्थका किस तत्त्वका ध्यान किया जाय जिससे ये समस्त रागद्वेषादिक विकार दूर हो। उसका सुगम आलम्बन है यह आत्मा। मुनिराज जब ध्यान करते हैं तब तीनों लोकमें इन्द्रोंके आसन कम्पायमान होते हैं अथवा जो पूर्व भवमे ध्यान किया था, दर्शनविशुद्धि आदिक भावना भाई थी, उस अद्भुत आत्मध्यानके प्रतापसे अथवा समस्त लोकके उपकारके भावसे जो कि एक आत्मध्यानके समान ही सम्बंध रखता है, जो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हुआ अब उसके उदयमें देखिये तो जन्म समयमे अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक सब जगह खलबली मच जाती है। आत्मध्यानशक्तिके प्रभावसे यह आत्मा तीन लोकको भी चलायमान कर देता है। जो कुछ कल्याण है, पूर्णहित है वह सब अपने आत्मामें है। एक आत्मतत्त्वको छोड़कर बाहर कहीं भी दौड़ लगायें, उससे हित न होगा। किसी भी परवस्तुमें हमारा कुछ अधिकार नहीं है। हम केवल विकल्प कर करके अपने आपका गुजारा कर रहे हैं जिस तरह भी कर रहे है पर किसी परवस्तुपर अधिकार नहीं है। मैं किसी भी परका स्वामी नहीं हूं। अहंकार ममकार तजकर अपने आपमे सहज विश्राममें से निरखा जाय तो आपमे अद्भुत जो गुण हैं उन गुणोंका अनुभव होगा। उस आत्मध्यानमे ही यह सामर्थ्य है कि यह जीव निराकुल रह सकता है।

अस्य वीर्यमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम्।
यत्समाधिप्रयोगेण स्फुरत्यव्याहतं क्षणे ॥१०४१॥

आत्मवीर्यका समाधिप्रयोगसे स्फुरण—मैं इस आत्माकी शक्तिको ऐसा मानता हूं कि यह योगियोंके भी अगोचर है, अथवा योगीजन इस आत्माकी शक्तिका अनुभव तो कर लेते हैं मगर प्रतिपादन नहीं कर सकते। जैसे नदीका पानी अगल बगल होनेपर जो कुछ रत्न कंकड धूल जितना जो कुछ दिखता है सब दिख तो गया, मगर उसकी गिनती कौन कर सकता है, इसी प्रकार चाहे इस आत्मशक्तिका कोई अनुभव कर ले, पर गा

शक्तिका जैसा प्रताप है, स्वभाव है, चमत्कार है वह वचनों द्वारा नहीं कहा जा सकता। इस आत्माके वीर्यको योगियोंके भी अगोचर बताया है मगर समाधिके प्रयोगसे निराबाध अव्याहत होकर क्षणमात्रमें यह आत्मवीर्य स्फुरित हो जाता है। इस आत्मशक्तिका स्फुरण समाधिसे हो जाता है। किसी परतत्त्वके प्रति किसी भी जीवके प्रति रागद्वेषकी वासना न रहे तो वहाँ समाधि उत्पन्न होती है। जगतमें कोई भी जीव मेरा विरोधी नहीं है यह बात बिल्कुल सत्य है। न कोई प्रेमी है। कोई मेरे प्रेमको कर ही नहीं सकता, कोई विरोधको कर ही नहीं सकता, क्योंकि समस्त परजीव जो कुछ करेगा वह अपने आपमें अपनी कषायोंके विकल्प करेगा। एक यह बात, और फिर दूसरी बात यह है कि कोई भी जीव मेरा विरोध नहीं करता किन्तु जो मेरे किसी भी बर्तावके कारण वेदना उत्पन्न हुई है किसीके अथवा कोई विरोधी व्यावहारिक है तो मेरेको निमित्त करके लक्ष्य करके जो कुछ भी वेदना उसके उत्पन्न हुई है, उसका किसीमें भाव बना है तो अपनी वेदनाको शान्त करनेके लिए वह अपनी चेष्टा करता है वह मेरा विरोध नहीं करता, अनेक दृष्टियोंसे इस बातको परख लें और आप अपनेमें विश्वास बना लें कि इस लोकमें मेरा कोई विरोधी नहीं है। तब एक बड़ा दुःख उत्पन्न होता है, जब चित्तमें यह बात समा जाय कि मेरा कोई अमुक विरोधी है और ऐसी बात आ जानेपर समता परिणाम नहीं बन सकता है। अपने आपको तो इस जगतमें रहकर इस भवमें आकर एक आत्मकल्याण किए जानेका ही काम पड़ा हुआ है। मुझे तो आत्महित करना है ऐसी एक धुन होना चाहिए। बाहरमें कोई कर भी क्या सकेगा। जितना बाहरकी ओर कल्पनासे घुसेंगे उतना ही अशान्ति और कषाय बढ़ता चला जायगा। तो जो आत्महितका इच्छुक है वह पुरुष प्रतीतिमें अपने लक्ष्यमें केवल आत्महितकी ही बात रखता है। यह मैं आत्मतत्त्व अनन्तवीर्यसम्पन्न हूँ। जो है उसे ही निरखें, उसमें ही डूबें। उसका वीर्य अखण्ड है, अनन्य है। जहाँ अपने आपको छोड़कर किसी परमें लगनेके लिए चलता है तो वहाँ उसका वीर्य खण्डित होता है, बल समाप्त हो जाता है। अपने आपको अपने आपमें समा लेनेके वक्त आत्माका एक विशुद्ध बल है। और, इस बलके प्रतापसे ही आत्मा समस्त झंझटोंसे मुक्त हो जाता है। यहाँ कितने ही विकल्प कितने ही प्रोग्राम कितने ही कार्यक्रम बनाये जाते हैं पर उनकी पूर्ति नहीं हो पाती है। इच्छाकी पूर्ति तो इच्छाके अभावसे ही हुआ करती है। जब कभी कोई यह कहे कि मेरी इच्छा पूर्ण हो गयी तो उसका अर्थ यह लगा लें कि उसकी वह इच्छा समाप्त हो चुकी है, पूर्ण हो चुकी है। कहीं जैसे ट्रकमें चीजें भर-भरकर ट्रकको पूरा कर दिया जाता है इस तरहसे इच्छाएँ भर-भरकर इच्छाओंकी पूर्ति नहीं हुआ करती। इच्छाके न रहनेका ही नाम इच्छाकी पूर्ति है। जब किसी कामका हम विचार करते हैं और वह काम पूर्ण हो जाता है तो कहते हैं कि इच्छा पूर्ण हो गयी। वहाँ क्या स्थिति बनी है कि अब उस कामकी इच्छा नहीं रही, उस ही को इच्छाकी पूर्ति हुई ऐसा कहा जाता है। इच्छाका संग्रह करते रहनेसे इच्छाकी पूर्ति नहीं हुआ करती। और, जितने भी सुख होते हैं विकृत सुख सही, कहते तो हैं लोग यह कि मुझे इस कामके करनेसे सुख है पर वास्तविकता है यह कि जिस क्षण सुख हुआ उस क्षण उसके अब यह विकल्प नहीं रहा कि मेरे करनेके लिए यह काम पड़ा है। काम करनेको न रहे ऐसी परिस्थिति समझमें आये तब सुख शान्ति प्राप्त होती है। घर गृहस्थीके कार्योंमें या जितने भी चलने-फिरने आदिकके कार्य हैं, कहीं जाना है, कुछ कार्य करना है तो वहां जा करके अथवा कार्य करके एक शान्ति मानी जाती है। वह शान्ति जानेके कारण नहीं होती, कार्य करके नहीं होती, किन्तु अब मेरे करनेको यह काम नहीं रहा ऐसी बात जो दृष्टिमें आ गयी, चाहे इन शब्दोंमें वह न कहे पर वह सुख शान्ति इस ही कृतकृत्यताकी है, अर्थात् मेरे करनेको कुछ नहीं रहा, इस भावसे वहां शान्ति है। यहाँ मोहीजन कार्यके बननेपर यह भाव ला पाते हैं कि अब मेरे करनेको कुछ नहीं रहा, किन्तु ज्ञानीजन उस कार्यसे दूर रहकर पहिलेसे ही यह भाव बना लेते हैं कि मेरे करनेको कुछ नहीं रहा, ऐसा जो एक कृतकृत्यता जैसा भाव बनता है उसका वह आनन्द है।

सम्यग्ज्ञानका प्रताप—अब इस सम्यग्ज्ञानका प्रताप देखिये जहाँ वस्तुओंको उनके स्वरूपमें देखा—

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् हैं इसका अर्थ क्या है कि प्रत्येक पदार्थ अपने गुण पर्यायों के ही पिण्डरूप है। प्रत्येक पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनका उनमें ही है। वे अपने ही प्रदेशसे हैं परके प्रदेशसे नहीं है, दूसरेकी त्रोडी लेकर नहीं किन्तु स्वयसे जो कुछ है उससे ही प्रत्येक पदार्थ रचा हुआ है। तो इसमें यह भाव आ गया कि किसी भी पदार्थमे किसी दूसरेके कियेसे कुछ होता नहीं है। मेरे किये से परसे कुछ होता नहीं। यद्यपि विषम कार्योंमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है और किसी अनुकूल निमित्तको पाकर उपादान अपने आपमे ऐसा प्रभाव बना लेता है कि उन विभाव परिणमनोंको कर लेता है इतने पर भी प्रत्येक पदार्थ स्वकालसे ही हैं परकालसे नहीं हैं इसका भाव चित्तमे लायें तो वहाँ उसे स्वतन्त्रता नजर आयगी। यों ही प्रत्येक पदार्थ अपने भावसे हैं, अपनी शक्तिसे हैं, अपने गुणसे हैं, परकी शक्तिसे नहीं हैं, जहाँ इस प्रकार स्वपरका बोध हुआ वहाँ कृतकृत्यताका भाव आ जाता है। मेरे करनेको बाहरमें कुछ नहीं पड़ा है। चाहे ज्ञानी किसी गृहस्थी जैसी स्थितिमे अनेक व्यवहार करते है, पर वह यथार्थ प्रतीतिसे चलित नहीं होता। मेरे करनेको बाहरमें कुछ योनहीं पड़ा है कि मेरे द्वारा किसी अन्य पदार्थमे कुछ किया नहीं जा सकता क्योंकि वस्तुस्वरूप सबका उनका उनमे ही है। ऐसा बोध होनेसे एक कृतकृत्यताकी प्रतीति जम जाती है सम्यग्ज्ञानका ऐसा अद्भुत बल है सम्यग्दृष्टिको ज्ञानीको कि वह निराकुल रहा करता है। भले ही कुछ परिस्थितिवश सम्बधमे चूंकि गृहस्थी मे रह रहा है तो कुछ आकुलता हो जाती है, परन्तु अन्तरङ्गमें प्रतीतिमें वह आकुलता यों नहीं मूलमें रख रहा कि उसे सत्र बोध है। जैसे भावनाओंमे अनित्यभावना है, अनित्य भावनामे यह बताया गया कि प्रत्येक पदार्थ विनाशीक है। कोई इस बातको न समझे और माने कि मेरा घर मेरे परिजन मेरे मित्र, मेरा वैभव ये कहाँ विनाशीक हैं औरोंके विनाशीक होंगे, इस तरहकी उल्टी समझ रखी तो जब तक सयोग है तब तक भी उसके ख्यालसे क्लेश होता है और जब वियोग होगा तब उसे अत्यन्त अधिक क्लेश होगा। और, कोई पहिलेसे ही यह विचार ले कि ये समागम जो कुछ मुझे मिले हैं ये सब विनाशीक हैं। सबका वियोग होगा, सब माया रूप हैं। तो जब तक सयोग है तब तक भी वह विह्वल न रहेगा और जब उनका वियोग होगा तब यह तो ख्याल करेगा कि देखो जो हम जानते थे वही तो अब हो गया। उसे वहाँ विह्वलता नहीं आती। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा समझ लेनेपर अन्तरङ्गमें क्षोभ उत्पन्न नहीं होता। उसके विपरीत बुद्धि बनानेपर क्षोभ बना रहा करता है अशरण भावनामे जैसे सोचा जा रहा है ना कि मेरे लिए यहाँ अन्य कोई भी शरण नहीं है, इसके विपरीत यदि यह बुद्धि रखी जाय कि मेरे लिए मेरा पिता शरण, मा शरण, स्त्री शरण, पुत्र शरण तो जब तक इनका सयोग है तब तक ऐसी-ऐसी बीच मे घटनाएँ घटेंगी कि यह क्लेश मानेगा और जब कोई विपत्ति आती है, मरणकाल आता है तब शरण नहीं दिख पाता तो यह अत्यन्त क्लेश करता है। यदि पहिलेसे ही मानले कि मेरे लिए ये कोई शरण नहीं है तो जब तक सम्बध है, सम्पर्क है तब तक भी उसमे विह्वलता न जगेगी।

नहीं जग सकती है। तो ऐसी कृतकृत्यताका अभिप्राय देने वाला यह वस्तु विज्ञान है। इससे अपने आत्माका बल प्रभाव गुण ये सब निरखे जा रहे हैं। मैं बाहरमें कुछ खोजूं तब मेरेमें कुछ नहीं होता। यदि मेरेमें आनन्द ज्ञान कुछ नहीं है तो बाहरमें खोजनेपर भी न मिलेगा। और मेरे स्वरूपमें है तब बाहरमें खोजने की आवश्यकता क्या है? बल्कि यहाँ तो बाहरमें कुछ खोजनेका श्रम किया जाय तो अपने आपमें बसे हुए इस ज्ञान और आनन्दके विकासका लाभ नहीं रहता। तो आत्माके गुणोंको निहारकर अन्यका आलम्बन त्यागना चाहिए और अपने आत्माके गुणोंपर दृष्टि रखकर अपना आत्महित कर लेना चाहिए।

अयमात्मा स्वयं साक्षात्परमात्मेति निश्चयः।
विशुद्धध्यानानिर्धूतकर्मेन्धनसमुत्करः ॥१०४२॥

आत्माकी स्वयं साक्षात्परमात्मता— जब यह आत्मा विशुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यानके प्रतापसे समस्त कर्म इन्धनोंको दूर कर देता है उस समय यह आत्मा स्वयं साक्षात् परमात्मा है ऐसा निश्चय करना चाहिए। लोक में पदार्थ हैं सब, और वे अपने-अपने स्वरूपको लिए हुए हैं इस ही प्रकार मैं भी एक पदार्थ हूँ और अपने स्वरूपको लिए हुए हूँ। अतएव मैं स्वयं सब कुछ हूँ, परिपूर्ण हूँ, अब जो परउपाधिके सम्बंधका निमित्त पाकर विकार आये हैं वे विकार भरपूर हुए कि आत्मा तो समृद्ध और समग्र स्वयं अपने आप ही है। परमात्माका अर्थ है परमआत्मा। और परमका अर्थ है पर मायने उत्कृष्ट मायने लक्ष्मी जहाँ प्रकट हुई हो उसका नाम है परम और ऐसा परम जो आत्मा है उसका नाम है परमात्मा। जिस स्वरूपमें यह है अनादिसे है वही स्वरूप जब विशुद्ध प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके साथ जो रागादिक विकार लगे हैं वे समस्त विकार जब हट जाते हैं ऐसे निर्विकार आत्मस्वरूपको परमात्मा कहते हैं। उस परमात्माका ध्यान करके और परमात्मस्वरूपके समान निज अन्तस्तत्त्वका ध्यान करके जो एक विशुद्ध वृत्ति जगती है बस वही वास्तविक शरण है। इसके अतिरिक्त लोकमें कहीं भी कुछ भी शरण नहीं है। इस ही ध्यानके प्रतापसे यह आत्मा समस्त कर्म कलंकोंसे मुक्त हो जाता है। भैया! ध्यान अब तक अनेक किये हैं पर उनमें यह परख करलें कि किस पदार्थके ध्यानसे हमने लाभ पाया जो उस समय बीता, बीत गया। जिनका सम्पर्क मिला था, वे सब गुजर गये। हाथ अब कुछ नहीं है। बल्कि जो विषय कषायोंके परिणाम किये थे उन परिणामोंसे हम हानिमें ही रहे। हम तो वही एकके ही एक हैं। मुझमें कुछ वृद्धि नहीं हुई है बल्कि कुछ खोया ही है। लोग इन विषय साधनोंके प्रसंगमें रमकर इनमें राग स्नेह करके ऐसा समझते हैं कि हम कुछ बढ रहे हैं, हम कुछ महान बन रहे हैं, सुखी हो रहे हैं, किन्तु होता क्या कि उन सब राग साधनोंके सम्पर्कसे हम घटे ही हैं, हम कुछ हीन ही बने हममें कुछ वृद्धि नहीं हुई, और ऐसा ही ऐसा जीवन चलाते-चलाते जब अन्तिम समय आ जाता है तो वहाँ क्या रहता है? यह ऐसे ही खालीहाथ चलता है, भीतर भी खाली बनेगा, बाहर तो खाली रहता ही है। यों जन्म मरणके चक्रमें यह जीव लोक है। किसी भी क्षण ऐसा साहस यह नहीं बनाता कि सर्व विकल्पोंको त्यागकर जब कि सब कुछ छूट ही जाता है कुछ दिन बाद छूट जाना है तो उसके विकल्प ही न रखें। अबसे ही छूटा हुआ समझलें। और, जो कभी छूट नहीं सकता ऐसे अपने आत्मस्वरूपको ग्रहण किए हुए उसके निकट रहता हुआ अपनेको करलें तो यह एक महान् पुरुषार्थ होगा। यह आत्मा ही आत्माके ध्यान के प्रतापसे उत्कृष्ट पद प्राप्त करता है।

ध्यानादेव गुणग्रामस्याशेषं स्फुटीभवेत्।
क्षीयते च तथानादिसंभवा कर्मसन्ततिः ॥१०४३॥

ध्यानसे ही गुणसमूहका प्राकट्य तथा अनादिसभव कर्मसन्ततिका क्षय— आत्माके ध्यानसे ही समस्त गुण स्फुट विकसित होते हैं। है क्या? यही मात्र तो करना है कि यह आत्मा शुद्धज्ञाता द्रष्टा रहे। जो भिन्न हैं, व्यर्थ हैं, जिनका हमसे त्रिकालमें सम्बंध बन ही नहीं सकता ऐसे बाह्य पदार्थोंमें उपयोग भिडानेसे

चित्त फसानेसे इस आत्माका लाभ कुछ नहीं है। एक व्यर्थका समय गुजारना है। विवेकमें ही यह सामर्थ्य है कि आत्माको शान्ति प्राप्त हो सकती है। अविवेकसे तो आत्माका पतन है, शल्य और चिन्ताओंमे ही जीवन बिताना पडता है। यह मैं आत्मा समस्त परतत्त्वोसे न्यारा केवल अपने ज्ञानस्वरूपमात्र हूं इस प्रकार अपनेको ज्ञानरूप हूँ, ज्ञानमात्र हू ऐसी बार-बार भावना करनेसे यह उपयोग ज्ञानमात्र रह जाता है और फिर वहॉ मैं जान रहा हू, अपने स्वरूपसे जान रहा हूं इतना भी विकल्प नहीं रहता। वह परिणति एक निर्विकल्प परिणति होती है। उसमें इतना सामर्थ्य है कि समग्र विकारोंको यह दूर कर सकता है। ऐसे ही आत्मध्यानसे समस्त गुण समस्त स्फुट प्रकट विकसित हो जाते हैं और इस ही आत्मध्यानसे अनादि कालसे उत्पन्न हुई कर्मोकी संतति भी क्षीण हो जाती है। भैया! अपने आपकी सम्हालमे वे सब काम हो जाते हैं जो कुछ होना चाहिए। न भी ज्ञान किया हो शास्त्रका बहुत ऊंचा, मुझमे क्या-क्या बन रहा है और ऊंचे गुणस्थानमें चढ़कर क्या-क्या स्थिति बनती है, श्रेणियोके गुणस्थानमें और ऊंचे बढ़कर कर्म कैसे-कैसे नष्ट होते हैं, कैसे उनकी निर्जरा होती है, कैसे वे बदल जाते हैं, यह सब न भी ज्ञात हो और एक सबसे विविक्त ज्ञानानन्दमात्र अपने स्वरूपकी सम्हाल बन जाय तो ये सब काम स्वयं अपने आपमें बनते चले जाते हैं जो कल्याणके लिए करना चाहिए। जो होना चाहिए वह सब होता चला जाता है एक अपने आपके स्वरूपकी सम्हालमें, और अपने आपके स्वरूपकी सम्साल न की जाय और बाह्यमे ये सारे बड़े ज्ञान भी बना लिए जायें गुणस्थानोंकी मार्गणावोंकी उन-उन पदवियोंमे कैसी-कैसी स्थितियॉ बनती हैं, कैसा संक्रमण, कैसा अन्तःकरण, कैसा उपशम, कैसी क्षयविधि ये सब खूब भी ज्ञात कर लिये जॉय और स्वरूपकी सम्हाल न की जाय तो उससे काम नहीं बनता। अपने आत्माके स्वरूपकी सम्हाल होना एक बहुत बड़े पुरुषार्थका काम है। इस ही आत्माके ध्यानके प्रतापसे गुण तो सब प्रकट हो जाते हैं और दोष विकार उपाधियॉ ये सबके सब ध्वस्त हो जाते हैं। यह पदार्थका विशुद्ध स्वरूप है। जो पदार्थमें गुण है वह तो पूरा प्रकट हो जाय और दोष एक न रहे इस ही का नाम तो विशुद्धि हैं, स्वच्छता है।

शान्तिके उपायकी ही वक्तव्यता—हे आत्मन्! तुझे चाहिए क्या? शान्ति ना। यदि विकल्प मेटकर विकार टूटकर आत्माका आत्मामे ही उपयोग जम जाय, तू एक निश्चल स्थिर आत्मतत्त्वमे मग्न हो जाय तो इसमे सारे सकट टल गए और रंच भी आकुलता नहीं रहती। ऐसी स्थिति बन जाय तो तुझे पसंद है ना? फिर घरका विकल्प या अन्य-अन्य संकल्प करनेकी वासना तो न रखेगा, उनका कुछ ख्याल तो न करेगा। तुझे तो आनन्द चाहिए। सभी लोग अपना-अपना भाग्य लिए हुए हैं। हम किसीका विकल्प भी न करें तो भी वे अपनी भाग्यके अनुसार अपना जीवन बिता लेंगे। तू किसीका पालनहार नहीं है, तुझे शान्ति चाहिए तो ऐसा यत्न कर कि समस्त विकल्पोंको तोड़कर बड़े उत्साहसे पूर्ण प्रयत्नके साथ अपने आपके स्वरूपमे मग्न होनेका अनुभव बने फिर कहीं कुछ भी हो उसकी वासना भी मत रखें। तेरा हित तेरी ही सम्हालमे है और ऐसे ही सबका हित उनका अपनी-अपनी सम्हालमे है। सभी जीव अनन्त शक्तिमान हैं। कर्मोसे आवृत होकर भी जिनको जितना क्षयोपशम प्राप्त है, जिनको जितना पुण्योदय प्राप्त है वे वहां अपने आपके बलसे सुख प्राप्त कर लेते हैं। तू परकी चिन्ताको मूलसे छोड़ दे। इस भ्रमको समाप्त कर कि मुझपर कुछ जिम्मेदारी पड़ी हुई है बाहरकी कुछ भी जिम्मेदारी हमपर नहीं है। न किसी अचेतन पदार्थकी सम्हाल करनेकी जरूरत है और न किसी चेतन पदार्थकी सम्हाल करनेकी। सब अपना स्वरूप लिए हैं। सबमें अपना-अपना उत्पाद व्यय ध्रौव्य चल रहा हैं। किसीका कोई स्वामी नहीं है। तू अपनी सम्हाल बना ले, अपनेको निराकुल करले। अपनेको अपनेमे खपा। यह ही भलाईका मार्ग है। अन्य कुछ भलाईका मार्ग नहीं हैं।

शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः।
अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मतः ॥१०४४॥

आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः पुमान्।
परमात्मा विपः कन्तुरहो माहात्म्यमात्मनः ॥१०४५॥

आत्माकी शिवरूपता, गरुडरूपता व कामरूपता आत्मकल्याणके प्रसंगमें कुछ लोगोंने ध्यानके लिए तीन तत्त्व माने हैं शिवतत्त्व, गरुडतत्त्व और कामतत्त्व। और, वे इन तीन तत्त्वोंके ध्यानसे शिव स्वरूप कल्याणरूपकी प्राप्ति मानते हैं लेकिन अपने आपसे बाहर कहीं भी किसी स्थलपर किसी भी कल्पनासे शिवतत्त्वको अथवा गरुडतत्त्वको या कामतत्त्वको मानकर जो ध्यान किया जायगा, प्रथम तो भिन्न स्थलपर उसकी दृष्टि की गई है इस कारण वह ध्यान न बनेगा जो ध्यान निर्विकल्प स्वरूप कहलाये, और फिर दूसरे इस तत्त्वको आत्मस्वरूपसे विभिन्न रूपमे निरखा जाय तो भी अपने आपको सम्हाल और मग्नता न बन सकेगी। यदि इन तत्त्वोंके रूपसे भी ध्यान करना हो, तो इतना स्मरण रखना चाहिए कि यह तत्त्व भी आत्माके स्वरूप हैं, रूप हैं अथवा आत्माकी स्थितियां हैं, दशाएं हैं। यह आत्मा अणिमा आदिक अनेक अमूल्य गुणरत्नोंका पिटारा है। कुछ प्रकट हो गया जैसा कि इन तीन तत्त्वोंका स्वरूप कहेंगे, उनमे यह निरखते जाइये कि हो क्या गया यह? शिव तत्त्व, वह है क्या? परमात्मस्वरूप, आत्माका है रूप। गरुड मायने जो गरुडका शृंगार सर्प आदिक ये सब हैं क्या? ये आत्माकी स्थितिया हैं। काम तत्त्व मायने जो अपना एकमन्मथ विकार है, उसके स्वरूपका विश्लेषण करके उसे महत्त्व दिया जाय तो वह भी है क्या? एक आत्माकी अवस्था। तो उन सब तत्त्वोंको आत्माकी अवस्था जानें। कोई अवस्था है विशुद्ध पवित्र, कोई अवस्था है लोक जैसी और कोई अवस्था है निन्द्य हेय, उन अवस्थाओंको आत्माकी परिस्थिति समझें, ये तीन तत्त्व अन्य और कुछ नहीं हैं। जो हमपर अधिकार जमाये या हमारा जन्ममरण करे या हमें सुखी दुःखी बनाये वह सब हमारी स्थिति है, उनमेंसे यदि हम आत्माको विशुद्ध शिवतत्त्वके रूपसे ध्यायें अर्थात् यह आत्मा स्वयं सहज स्वभावसे शिवस्वरूप है, कल्याणरूप है, निराकुल है, ज्ञानका शुद्ध फैलाव हो और आकुलताका लेश भी न हो यही तो कल्याणमयी स्थिति है। ऐसी कल्याणस्वरूप मैं आत्मा हू। इस प्रकारका ध्यान करें। एक इसका ध्यान करनेपर फिर जो कुछ भी व्रत नियम आदिक आचरण करने होंगे वे सब मूल्य रखेंगे और एक आत्माका ध्यान छोडकर यदि धर्मके नामपर कितनी भी क्रियायें कर ली जायें, पर उससे धार्मिक परिणमन न हो सकेगा। धर्म करना है कहीं भी कर लो। धर्मका उपादेय यह स्वयं साक्षात् आत्मा है और जिन किन्हीं भी साधु सत पुरुषोंका ध्यान करके आत्मा कल्याण प्राप्त करेगा, जिन देवताओं परमेष्ठियोंका ध्यान करके आत्मा मोक्षमार्गी बनेगा वह सब भी मेरे आत्मामें उपस्थित है। ज्ञान करलें, जब चाहे अरहतका ध्यान करलें, किसी भी जगह हो घरमें, दूकान आदिमें, रास्तेमे कहीं बैठे हों तब ही यह आत्मा उपादान अपने आपसें परमेष्ठीका आत्मस्वरूपका ध्यान कर सकता है, जो चाहे कर सकता है। धर्मपालनके लिए कहीं भी अटक नहीं है। किसी भी परकी आधीनता नहीं है। ज्ञान विशुद्ध चाहिए, जहां चाहे धर्म कर ले।

ध्यानमें आत्माकी स्थितिया—भैया! साथ ही साथ यह समझ लीजिये कि विशुद्धात्माका जब ध्यान नहीं कर पाते हैं, कुछ परिस्थितियाँ ऐसी आड़े आती हैं, कुछ सम्पर्क ऐसा बना हुआ है जिसके कारण चित्त डवाडोल हो जाया करता है, विषय और कषायोंकी परिणति हो जाया करती है। उस समय हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम ऐसे सत्संगमें पहुचें, मदिरमे गुरुवोंके समीप प्रभुमूर्तिके समक्ष, जहां पहुचकर हम उस गंदे वातावरणको त्याग सकें, उन निमित्तोंसे हट जायें और कुछ आत्महितके चिन्तनमें लग जायें। ऐसी स्थितिमे आवश्यक हो गया है यह धर्मव्यवहार, इतनेपर भी अर्थात् मदिरमें आकर भी, गुरुवोंके संगमें स्थित होकर भी करना पड़ता है खुदमें ही परिणमन। खुदके ही पुरुषार्थसे, खुदकी ही दृष्टिसे बनती है यह बात। कहीं गुरु न कर देगा किसी भक्तका हित परिणमन। कहीं मदिर और मूर्ति न कर देंगे किसी धर्मार्थीका धर्मपरिणमन। यह तो एक प्रसग है, निमित्त है। हम इस निमित्तमें आकर सदुपयोग करना चाहें तो करलें,

करना पड़ेगा खुदको ही। प्रमादसे काम न चलेगा। यह समय बीत गया, जवानी बीत गयी, रहा सहा शेष समय भी यों फूकमें उड़ जायगा। यहाँ फिर स्थान न रहेगा, यहां कुछ देखनेको न रहेगा। इन बाहरी पदार्थोंकी ममतामें न आयें तो यह हमारे लिए कल्याणकी बात होगी। अन्यथा जैसे अनन्तकाल गुजार दिया भटक-भटक कर, उस ही सिलसिलेमें यह समय भी शामिल हो जायगा। जगतके सर्व पदार्थोंमें श्रेष्ठ निज अंतस्तत्त्वको मानें। अन्य सर्व चीजें तो बाह्य हैं। जगतके सर्व बाह्य पदार्थोंको और अपने आपको अपनी दृष्टिमें रखकर मुकाबला करके निर्णय करें कि तीन लोककी सारी सम्पदा, तीन लोकके समस्त जीव, एक अपने अंतस्तत्त्वको छोड़कर शेष समस्त सब कुछ परभाव, परद्रव्य उनके मुकाबलेमे यह मेरा अन्त स्वरूप ही श्रेष्ठ है। बजाय दूसरोंको प्रसन्न करनेके खुद इस आत्मस्वरूपको प्रसन्न करना चाहिए अर्थात् निर्मल बनाना चाहिए। सारा जगत भी मेरे पर्यायका नाम लेकर हा-हा हू-हू करदे तो उससे लाभ क्या ? मेरा आत्मा मेरी दृष्टिमे रहे, कल्याणमय शिवस्वरूप शरणभूत सारभूत यह मैं स्वय स्वतंत्र हू ऐसी दृष्टि जगती रहे तो वहां होगा कल्याण और वह ही है वास्तविक पुरुषार्थ। जैसे दूसरोंका बढ़ा हुआ धन देखकर चित्तमें लालसा नहीं रखना है, उस वैभवको मल समझना है, इसी प्रकार दूसरोंका यश मान सम्मान निरखकर उसकी लालसा नहीं रखना है किन्तु उसे एक मल समझना है, विडम्बना समझना है, उसे भी एक मायारूप समझना है। मैं एक अपने आपको प्रसन्न रख सकू तो मैंने सब कुछ किया। चाहे सारी दुनिया मुझे उल्टा कहो। और, एक मैं अंत उल्टा ही उल्टा रहा और लोगोंने भला-भला कह डाला तो भी मुझे मिलेगा कुछ नहीं। एक आत्मस्वरूपकी सम्हालमे ही हमारी वास्तविक सम्हाल है और इस आध्यात्मिक स्वभावसे उत्पन्न होने वाले अनन्त आनन्दरूप निज तत्त्वकी सम्हाल न रहे तो हमारी कोई सम्हाल नहीं हुई। जन्म-मरणके चक्र बन्द नहीं हुए ऐसा समझना चाहिए। तो जो लोग शिवतत्त्व, कामतत्त्व, गरुड तत्त्वका ध्यान करते हैं वे तत्त्व आत्माकी ही स्थितियां हैं। उनमे यह छाँट लो कि कौनसा तत्त्व पवित्र स्थितिका है उसका ध्यान करना है। इस आत्मध्यानसे ही गुण प्रकट होगा और सारी आपत्तियाँ दूर होंगी। इस ही परमात्मतत्त्वका स्वरूप, शिवतत्त्वका स्वरूप गद्य द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

यथान्तर्बहिर्भूतनिजनिजानन्दसन्दोहसंपाद्यमानद्रव्यादिचतुष्कसकलसामग्रीस्वभावप्रभावात् परिस्फुरितरत्नत्रयातिशयसमुल्लसितस्वशक्तिनिराकृतसकलतदावरणप्रादुर्भूतशुक्लध्यानानलबहुलज्वालाकलापकवलितगहनान्तरालादिसकलजीवप्रदेशघनघटितसंसारकारणज्ञानावरणादिद्रव्यभावबन्धनविश्लेषस्ततो युगपत्प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टयो घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत् स खल्वयमात्मैव परमात्मव्यपदेशभाग्भवति ॥१०४६॥

शिवतत्त्व आदिके ध्यानमे आत्माकी स्थितिया—कुछ लोगोने ध्यानके प्रसगमें तीन तत्त्वोंका ध्यान बताया है शिवतत्त्व, गरुडतत्त्व और कामतत्त्व। उसके विषयमे यहा यह बताया जा रहा है कि यह सब ध्यान आत्माकी अवस्थाओंका ही है। आत्माको छोड़कर अन्य किसी तत्त्वका ध्यान नहीं है। उनमेंसे सवप्रथम शिवतत्त्वकी बात कह रहे हैं। शिवका अर्थ है मगल, कल्याण। जो कल्याणमय पद है, उसका नाम है शिवतत्त्व। कल्याणमयपद परमात्म-पद है। वह परमात्मतत्त्व अन्य कुछ नहीं है। केवल यह आत्मा जो ससारमें विकृत बन रहा है, विकारभावको त्यागकर केवल अपने सहज स्वरूप मात्र रह जाय उस ही को परमात्मतत्त्व कहते हैं। जब यह आत्मा समस्त परपदार्थोंसे और परभावोंसे हटकर केवल निजस्वरूपमात्र रह जाता है तब इसमें क्या चमत्कार प्रकट होता है उसकी बात कही जा रही है। जैसे सूर्यके नीचे मेघपटल आ गए हों तो सूर्य आच्छादित हो जाता है सूर्यका प्रताप और प्रकाश ये दोनों दब जाते हैं और जब मेघपटल दूर हुए तो सूर्यका प्रताप और प्रकाश एकदम प्रकट हो जाते हैं इस ही प्रकार ये रागद्वेप आत्माके आड़े आ गए

जिससे इस आत्माका प्रताप और प्रकाश आच्छादित हो गया है, पूर्ण विकसित नहीं हो पा रहा है। आत्माका प्रकाश है ज्ञान और प्रताप है अनन्त आनन्द। जिस समय द्रव्यकर्म और भावकर्मका वर्धन विघटित होता है तब आत्मामें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है।

जीवविपरिणमन व कर्मदशामें निमित्तनैमित्तिकभावकी विदर्शना—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि जीवके साथ कर्मबन्धन बना हो तो यह जीव अपने प्रताप और प्रकाशसे वंचित होकर साधारण प्रताप और साधारण प्रकाशमें रह जाता है। जब यह जीव विषयोंसे सुख मानता है, अन्य-अन्य उपायोंसे अपना ज्ञान प्रकट हुआ मानता है तब इसकी दयनीय स्थिति हो जाती है। पर मोहका उदय है तो यह जीव ऐसी ही स्थितिमें राजी रहता है और इस परिस्थितिमें भी दूसरेके पास कम धन देखकर अपनेको बड़ा अनुभव करता है, यों अनेक दुर्भावनाएं इस आत्मामें प्रकट होती हैं। इन दुर्भावनाओंकी संततिसे जन्म-मरणकी परम्परा चलती है। बस यही जन्म-मरणका चक्र इस जीवके साथ लगा है। यह सब कर्मोंके निमित्तसे हो रहा है। यद्यपि होता है सब द्रव्योंका अपने आपमें ही परिणमन। पर, ऐसी निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है कि क्रोध प्रकृतिका उदय हो तो यह आत्मा अन्य पदार्थोंको विषयभूत बनाकर क्रोध करने लगता है। ऐसे ये कर्म ८ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय ये चार घातिया कर्म हैं, आत्माके गुणोंका घात करने वाले हैं। और, वेदनीय आयु नाम और गोत्र ये चार कर्म अघातिया हैं। अर्थात् घातने वाले घातिया कर्मोंके फल मिलनेमें यह मदद करता है। यह ऐसे साधनोंका कारण बनता है जिन साधनोंसे क्लेश उत्पन्न होता है। ज्ञानावरण कर्म आत्माके ज्ञान गुणका घात करता। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, स्वयं ही ज्ञानस्वभावी है। इसमें ऐसी अतुल महिमा है अपने आपकी ओरसे अपने सत्त्वके कारण कि यह सारे विश्वका ज्ञान करले, पर ज्ञानकी ऐसी शक्ति रुकी हुई है इस ज्ञानावरणनामककर्मके उदयका निमित्त पाकर। यह स्थिति यहाँ भी अन्दाजमें आ सकती है। कोई पुरुष कम ज्ञानी है कोई अधिक ज्ञानी है इस प्रकार ज्ञानके जो अनेक तारतम्य यहाँ पाये जाते हैं उनका कारण तो कुछ होना चाहिए। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है अतएव वह तो ज्ञानके विकासमें अधिकाधिक प्रकट होनेके लिए स्वभावतः ही है पर ज्ञानका जो आवरण पड़ा है उसके निमित्तसे यह जीव आत्मदर्शन नहीं कर पाता है। यह मैं आत्मा क्या हूं, अथवा वस्तुका सामान्य स्वरूप क्या है वह सब इसकी दृष्टिमें नहीं है। जैसे कोई पहरेदार किसी दर्शनार्थीको राजा या अन्य किसीका दर्शन करनेसे रोक दे इसी प्रकार यह दर्शनावरण कर्म ऐसा निमित्त है कि आत्माका दर्शन गुण नहीं होने देता। मोहनीय कर्म तो समस्त कर्मोंका राजा है, शेष ७ कर्म एक मोहनीय कर्मके प्रभावके इशारेपर नाच रहे हैं। मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—एक श्रद्धाको बिगाड़ देने वाला मोह, दूसरा चारित्रको बिगाड़ देने वाला मोह। श्रद्धाको बिगाड़ देने वाले मोहका नाम है दर्शनमोहनीय और चारित्रको बिगाड़ने वाले मोहका नाम है चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीयके उदयमें यह आत्मा पदार्थका सत्य श्रद्धान नहीं कर पाता। जगतमें किसका कौन है? कोई किसीका कुछ हो ही नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने आपका स्वामी है। कोई किसीका कुछ कर नहीं सकता। खेद और क्लेश तो यही है कि किसी भी बाह्य पदार्थसे न कुछ लेन है न देन है, प्रत्येक जीव अपने आपके ही अधिकारी हैं, अपने आपमें ही परिणमते हैं, किसीका कोई लगता ही नहीं है, प्रत्येक जीव मुझसे अत्यन्त न्यारे हैं, किसी भी जीवकी किसी भी करतूतसे शान्ति न मिलेगी अत्यन्त न्यारापन है प्रत्येक पदार्थका परस्परमें। लेकिन दर्शन मोहनीयकी भूल ऐसी पड़ी हुई है कि यह बाह्य पदार्थको अन्तरङ्ग मान रहा है। यह अज्ञान इस जीवको दुःखी करनेका कारण है। धर्मके लिए क्या करना है? मूलमें यह करना है कि यह अज्ञान मिटे। यह अज्ञान न मिट सके तो धर्मके नामपर कुछ भी किया जाय, पर उससे लाभ न होगा।

धर्मपालन व उसकी स्वाधीनता—सबसे न्यारा अपने आपको मैं मान सकूं, ऐसी दृष्टि दृढ़तासे बन जाय तो धर्मपालन है। यही संसारमें सर्वोत्कृष्ट कार्य है। यह धर्मपालन अत्यन्त स्वाधीन है। किसी दूसरेकी आधीनता नहीं है। कोई कहता हो कि मैं पिताके आधीन हूं, पतिके आधीन हूं, पत्नीके आधीन हूं ...

आधीन हूं, ये लोग जैसा चाहे नचायें, जैसा मुझसे करायें करना पडता है, बड़ी विवशता है, ये सब व्यावहारिक बातें हैं। ये व्यावहारिक व्यवस्थाएं हमने स्वयं स्नेहवश खरीदी हैं तिसपर भी धर्मपालनमें तो कोई भी जीव रुकावट नहीं डाल सकता। कोई उसका इतना भी नियंत्रण करदे कि तुम मंदिर नहीं जा सकते। नहीं जा सकते तो न सही। जो मंदिर न मानने वाले धर्म हैं वे प्राय ऐसी हठवादिता करते भी हैं, अथवा कोई मनचला भी ऐसी हठ करे तो करे - भाई मंदिर नहीं जा सकते तो न सही, पर परिणाम तो है, मंदिर जानेका नियंत्रण है व्यवहारमें; धर्मपालनपर नियंत्रण नहीं हो सकता। धर्मपालन है भेदविज्ञान। समस्त परपदार्थोंसे न्यारे अपने आत्मतत्त्वको दृष्टिमें लेते रहना, ज्ञानानन्दस्वरूप निज अतस्तत्त्वमें उपयोगी रहना, इसके निकट बसना यह तो किसीके द्वारा बिगाड़ा नहीं जा सकता। खुद ही शिथिल हो जाय, खुदका ही भाव गिर जाये और खुद धर्मपालन न कर सके तो यह खुदकी भूल है। किसी दूसरेके नियंत्रणसे हमारा धर्मपालन भंग नहीं हो सकता। इसी प्रकार शरीरकी अस्वस्थताका नियत्रण हो जाय, शरीर रोगी हो जाय, उठ बैठ चल फिर न सके, खडा न हो सके, धार्मिक आयोजनोंमें परिश्रम न कर सके, नियंत्रण बन जाय तिसपर भी धर्मपालन इस शरीरकी कमजोरीसे भी नष्ट नहीं हो सकता। शरीर-शरीरकी जगह है, आत्मा तो सदैव परिपूर्ण अपने स्वरूपको लिए हुए है। इस शरीर तक का भी कुछ भान न रहे, अपने आपके आत्माके निकट बस लें तो इसमें कोई शरीरकी ओरसे रुकावट नहीं होती है। कैसा ही शरीर हो, रुग्ण हो, वृद्ध हो, फिर भी आत्मा तो अपना बलिष्ठ है, शक्तिशाली है। आत्मा भावमात्र है। केवल ज्ञानप्रकाशका भाव बनाये रहना यही है आत्मबल। शरीर कैसी भी स्थितिमें रहे, यह मैं आत्मा अपने आपकी दृष्टिमें रह सके, केवल ज्ञानमात्र यह मैं अमूर्त निर्लेप सबसे न्यारा अपनी दृष्टिमें रह सके तो धर्मपालन बराबर हो रहा है। जैसे कभी कोई काम न हो सका तो लोग कहते हैं कि इतना समय यों ही व्यर्थ गया अमुक लौकिक काम न हो सका। तो उससे कुछ व्यर्थता नहीं है किन्तु अपने आपका यह धर्मपालन न हो सके तो समझ लीजिए कि सारी जिन्दगीका समय व्यर्थ होगया। जो समय बीता, बीता, अब रहे हुए समयको ठीक रास लीजिए। धर्मपालनके लिए उमग बनायें। जैन शासनको सुयोग पाया और वस्तुतत्त्वका मर्म समझा तो अब इसी मर्मकी प्रतीतिमें जुट जायें, जो निजस्वरूप ज्ञात हुआ है उसका दर्शन करके उसमें ही सन्तुष्ट हो जायें तो यह विनश्वर जीवन भी सफल हो जायगा।

शुद्ध ध्यानका प्रताप—यह ही आत्मा जब कर्मबन्धनसे विमुक्त हो जाता है तो यह परमात्मा हो जाता है। ये कर्म इस जीव प्रदेशमें सघन होकर पड़े हुए हैं लेकिन एक वीतरागके ध्यानका ऐसा प्रताप है कि यह जीव प्रदेशोंमें बंधे हुए सघन कर्मोंको भी क्षणमात्रमें ध्वस्त कर देता है। यह शुक्लध्यान मोहनीय कर्मका अभाव होनेसे प्रकट होता है। जब तक रागद्वेष मोहका लगार है तब तक जीव आत्मध्यानसे वञ्चित रहेगा। अपना उपयोग तो रागद्वेषमोहरहित एक इस निर्विकार ज्ञायकस्वरूपमें जमाना है, इस ही कालमें यह आत्म-समृद्धि प्रकट होने लगती है। शुक्लध्यानका घातक है मोहभाव। ये मोहभाव रत्नत्रयके अतिशयसे दूर हो जाता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके परिणामसे ये समस्त रागद्वेषमोह विघटित हो जाते हैं। अपना जो सहजस्वरूप है उसका सम्यक् प्रकारसे दर्शन हो जाना सो सम्यग्दर्शन है। इस सम्यक्त्वके प्रतापसे आत्मामें ऐसा उत्साह जगता है कि हे आत्मन्! तुम स्वयं ही आनन्दमय हो, फिर अपनेमें आनन्द प्रकट करनेके लिए किन्हीं भी बाह्य विषयोंकी प्रतीक्षा क्यों करते हो? विषयोंकी प्रतीक्षासे तेरे आनन्दका घात होगा। हे आत्मन्! तुम स्वयं ज्ञानघन हो। ज्ञानके सिवाय तुम और कुछ करते भी नहीं हो, भोगते भी नहीं हो, प्रत्येक परिस्थितियोंमें संसार अवस्थामें भी केवल अपने ज्ञानको ही किया करते हो और ज्ञानको ही भोगा करते हो। यहाँ कोई किसीका शरण नहीं है। तुम किसकी शरण गहना चाहते हो? अपना परम शरणभूत यह अंतस्तत्त्व है। वह तुम ही तो स्वयं हो, ऐसी आत्माकी दृष्टि होना, रुचि होना और ऐसा ही ज्ञान बनाये रहना जब यह आन्तरिक तपश्चरण चलता है तो इस अंतस्तपश्चरणके प्रभावसे मोह ध्वस्त है

जाता है और तब निर्दोष शुक्लध्यान प्रकट होता है। शुक्लध्यानके कारण रहे सहे दोष सब दूर हो जाते हैं। जब कर्मोंका क्षय होने लगता है और आत्माका प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाता है यही है परमात्मतत्त्व। यही है शिवतत्त्व। इसका ध्यान जीवको समस्त कर्मोंसे छुटकारा करा देता है।

सम्यक्त्ववैभवविकासका अवसर—यह सम्यक्त्व जैसा महान् वैभव इस जीवके तब प्रकट होता है जब आन्तरिक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी सुयोग्य बने हैं और बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी अनुकूल होते हैं। उस कालमें आत्मीय आनन्दके प्रवाहसे इस सम्यक्त्वकी अनुभूति बनती है। बार-बार भावना करनेका प्रभाव आत्मामें भावनाके अनुरूप होता है। जैसे कोई पुरुष अपने आपमें यह भाव बनाये, भ्रम बनाये कि मैं बीमार हूं, रोगी हूँ तो न भी कुछ बीमारी हो पर उसके बीमारी आ ही जाती है; और अगर अपने आपकी निरोगताका अनुभव करे, निरोगताकी भावना भरे तो इस तरहकी परिणति बनती है कि यदि कुछ बीमारी भी है तो वह भी खतम हो जाती है। कोई पुरुष अपने आपमें यह भावना भरे कि मैं मूर्ख हूं, दीन हूं, दूसरोंसे हीन हू तो उसकी मूर्खता, दीनता, हीनता बढ़ती चली जायगी। न आत्मविश्वास, न आत्मबल रह सकेगा। जैसी जो भावना करता है उस भावनाके अनुरूप उसकी प्रगति होती है। तब यह भावना करिये ना कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, केवल ज्योतिस्वरूप हू, अमूर्त हू, आनन्दधाम हू, सबसे न्यारा हू, परिपूर्ण हू, ऐसी आत्मस्वरूपकी बार-बार भावना बने तो निर्विकल्प अनुभूतिके प्रकट होनेकी कमाई ही वास्तविक कमाई है; सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। यों सर्व प्रयत्न करके आत्मस्वरूपकी बार-बार भावना बनाकर अपने आपमें इस ज्ञानमात्रकी अनुभूति प्राप्त कर लेना यही है धर्मपालन। इस धर्मपालनको दूसरा कोई रोक नहीं सकता। हम ही रोकें, हम ही शिथिल हों, निरुत्साही प्रमादी हम ही रहें तो हम धर्मपालनसे विमुख हो जाते हैं। हमारा कर्तव्य है कि सारभूत सर्वस्व इस अंतस्तत्त्वकी भावना बनाकर इसके ही निकट बसकर अपने धर्मका पालन करें और इस दुर्लभ जैन शासनके समागमका सदुपयोग करें।

[इसके बाद कुछ प्रवचन नोट नहीं हो सका]

तदेवं यदिह जगति शरीरविशेषसमवेतं किमपि सामर्थ्यमुपलभामहे तत्सकलमात्मन एवेति निश्चयः। आत्मप्रवृत्तिपरम्परोत्पादितत्वाद्विग्रहग्रहणस्येति ॥१०५३॥

शिवतत्त्व, गरुडतत्त्व व कामतत्त्वके चिन्तनका चित्रण—जो लौकिक कल्याणके लिए शिवतत्त्व गरुडतत्त्व और कामतत्त्वके रूपमें ध्यान करता है, शिवतत्त्व मायने एक परमात्मस्वरूप शिवरूप, गरुडतत्त्वके मायने ऐसा गरुड विचारना जिसका मुंह तो गरुडकी तरह है और शेष बदन मनुष्यकी तरह है। जिसके पंखे गोड़ों तक लटक रहे हैं। जिसके मुंहमे दो सर्प हैं, जो एक पीठपर लटक रहा एक छाती तक लटक रहा ऐसे रूपमें किसी गरुडका ध्यान करना ऐसा बताते हैं और कामतत्त्वमें कामकी बात काम विकार कामदेवका विश्लेषण करना रूपक बनाना यह सब है क्या? गरुड है सो भी जीव है, सर्प है सो भी जीव है, काम विकार है सो आत्माका विकार है। यों ये सब आत्माकी ही तो परिस्थितियाँ हैं। ध्यानके योग्य तो आत्माकी सहज चैतन्यशक्ति है उस ही में यह सामर्थ्य है, जो कुछ दुनियामें चमत्कार दिखता है और अन्य-अन्य रूपमें लोग ध्यान किया करते हैं। यह आत्मा जैसा शुभ अथवा अशुभ परिणाम करता है, अशुद्ध ध्यान बनाता है वैसे ही नाना प्रकारके यह शरीर रचता है और फिर उसकी जो चेष्टायें हैं वह सब आत्माके लिए हुए परिणामोंका फल है। अर्थात् सब कुछ दीखा ध्यानके लिए तो सब आत्माका सामर्थ्य दीखा। स्कंधोंमें जो आजकल इतना आविष्कार परिणमन चल रहे हैं, रेडियो पंखेकी बातें तो अब बिल्कुल साधारण हो गयीं, घर-घरके लोग किसी न किसी रूपमें रेडियो बना लेते हैं। १॥) रु० के तारमे केवल रेडियो बना लेते हैं चाहे कैसा ही सुनाई दे। यह तो बात पुरानी सी हो गयी। अब जैसे राकेट वेतार आदिक बड़े-बड़े जो आविष्कार हैं वे सब भी क्या हैं? यद्यपि इसमें भी स्कंधोंकी ही बात है। यह सब भी आत्माका सामर्थ्य है, किसी आविष्कारमें दिमागकी उपज है। दुनियामें जो कुछ दिखता है वह सब आत्माका सामर्थ्य है।

शिव आदिके स्वरूपकी आत्मरूपता—भैया ! सबको एक आत्माके रूपमें देखो। जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि ये सब हैं क्या ? एक आत्माकी ही तो स्थितियां हैं। इन नामोंसे प्रसिद्ध जो भी महापुरुष हुए हैं वे आत्मा ही तो थे। और सत्यार्थकी दृष्टिसे देखो तो, जिनका अर्थ है जो इन्द्रियको जीते, कर्मों को जीते, मोहादिक शत्रुवोंको जीते सो जिन है। यह आत्माकी ही तो सामर्थ्य है, शिवका अर्थ है कल्याण। शिवस्वरूप। जो रागद्वेष रहित निर्विकार अवस्था है वही शिव है, यह भी आत्माका ही तो एक चमत्कार है जब रागद्वेष विकारसे रहित होकर शुद्ध ज्ञायकस्वरूपमे ही मग्न होता है तब उसकी शिवमयी स्थिति बनती है। ईश्वर-जो अपने ऐश्वर्यसे शोभित हो, ऐश्वर्य आत्मामें वह कहलाता कि जिसके अनुभवमे किसी अन्यकी आधीनता न लेनी पड़े। ऐश्वर्य आत्मामें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त सुख ये सब आनन्द स्वभावरूप आत्मामें मौजूद हैं अतएव यह आत्मा ही तो ईश्वर है। ब्रह्मा कहते हैं जो अपनी सृष्टियों को करता रहे, उन सृष्टियोंका करने वाला यह आत्मा ही तो है। राम जिसमे योगीजन रमण किया करें, प्रसन्न रहा करें उस तत्त्वका नाम है राम। वह निज अन्तस्तत्त्व ही तो है। यह आत्मा ही राम है। विष्णु उसे कहते हैं जो व्यापक हो, ऐसा व्यापक हो जिससे व्यापक अन्य कुछ न बन सके। ऐसा व्यापक विशुद्ध ज्ञान है, यह ज्ञान अत्यन्त विशुद्ध है और जो सूक्ष्म होता है वह अत्यन्त व्यापक बन सकता है, स्थूल चीज व्यापक नहीं बनती ? उसकी हद होती है। जैसे पृथ्वी स्थूल है तो पृथ्वीसे सूक्ष्म है जल, तो आप देखलो कि पृथ्वीसे ज्यादा जल है। आजके लोग भी मानते हैं और जैन सिद्धान्त भी कहता है। स्वयंभूरमण समुद्र बराबर अन्य सब है, स्वयंभूरमण समुद्रका जितना घेर है उससे बहुत गुना कम यह सारा पृथ्वी मंडल है जल सूक्ष्म है तो वह पृथ्वीसे ज्यादा है। जलसे हवा सूक्ष्म है। तो पृथ्वी और जलका जितना घेर है उससे कई गुना घेर हवा का है जिसपर सब सधा हुआ है। हवासे सूक्ष्म है आकाश। तो जहाँ तक हवा पायी जाय वहाँ भी आकाश है। वह है लोकाकाश और, जहाँ हवा नहीं है वहाँ भी आकाश है, वह है अलोकाकाश। आकाशसे भी सूक्ष्म है ज्ञान। इस कारण यह ज्ञान इतना व्यापक है कि इस ज्ञानमें सारा पृथ्वी मण्डल समाया है, इसमे लोकाकाश और अलोकाकाश भी समाया है और, फिर भी वह आकाशमे एक नक्षत्रकी तरह एक जगह पड़ा हुआ है। ऐसे ऐसे अनन्त अलोक हों तो उन्हें भी यह ज्ञान जानता। तो ज्ञानसे अधिक व्यापक और कौन हो सकता है। ज्ञान ही विष्णु है और ज्ञान है सो आत्मा है। बुद्ध कहते हैं ज्ञानस्वरूपको। वह है आत्मा। हरि नाम है जो पापोंको हरे, विकारोंको दूर करे। वह सामर्थ्य आत्मामें ही है। जितना जो कुछ लोकमें चमत्कार है वह सब एक आत्माका है। इससे अन्य अन्य जगह उपयोग न भ्रमाकर मूलभूत सारभूत जो यह ज्ञायकस्वरूप आत्मा है उसका ध्यान करें।

स्वयकी अकिञ्चनता व हितरूपता लोकमें कहीं भी मेरा कुछ नहीं है, हित नहीं है। यह मैं ही स्वय हितस्वरूप हू। अपने आपको यह मत देखें कि मुझमें कोई क्लेश है। क्लेश कहीं नहीं है। जैसा यह आत्मा ज्ञानानन्द मात्र है उतना अपने आपको देखो, सबसे न्यारा है, सबसे छूटा हुआ है, इसमे अन्य कुछ भी नहीं है फिर दु ख काहेका ? यह आत्मा स्वय परिपूर्ण है, जो जगतमें अपना कुछ मानता है, अपना कुछ चाहता है वह दीन हीन हो बना रहता है। जरा परमात्मप्रभुकी ओर तो देखो, इसके पास क्या है वहां धन नहीं। यहाँ एक लौकिक दृष्टिसे कह रहे है बाहरी पदार्थोंके ख्यालसे कि एक छोटे गृहस्थके पास भी तो कमसे कम सारा अडगा भी सैकड़ों मनका रहता है। परमात्माके पास क्या है ? अरहंत है तो केवल शरीर है वहाँ। सिद्ध है तो वहा शरीर तक भी नहीं है। है न अकिञ्चन। जिसके पास कुछ न हो उसे अकिञ्चन कहते हैं। मगर इस अकिञ्चन होनेका कितना बड़ा प्रभाव है कि वे तीन लोकके अधिपति कहलाते हैं। बड़े बड़े इन्द्र योगीश्वर जिनके चरणोंका ध्यान करते हैं। यहाँ जो कुछ बनना चाहता है वह न कुछ है और जो कुछ भी नहीं बनना चाहता वह सब कुछ है।

यदिह जगति किञ्चिद्विस्मयोत्पत्तिबीजं, भुजगमनुजदेवेष्वस्ति सामर्थ्यमुच्चैः।
तदखिलमपि मत्वा नूनमात्मैकनिष्ठम्, भजत नियतचित्ताः शश्वदात्मानमेव ॥१०५॥

सकल चमत्कारोकी आत्मनिष्ठता—हे भव्य जीव ! इस जगतमें जो कुछ भी तीन लोकमें विस्मय आश्चर्य उत्पन्न करने वाला भी चमत्कार है भवनवासी देवोंका मध्यलोकमें मनुष्यका, अर्द्धलोकमें देवका जो कुछ भी सामर्थ्य है, चमत्कार है, समृद्धियां हैं जो कि विस्मय आश्चर्यको उत्पन्न करनेका कारण है वह सब सामर्थ्य किसकी है ? इस आत्माकी है। अपने आत्माका अचिन्त्य सामर्थ्य अनुभव नहीं करते और शरीरकी दुर्लभता देखकर अपनेमें यह कल्पनाएं करता कि हाय मुझमें बल नहीं रहा। अरे आत्मन् ! तेरेमें तो अनन्त बल है, वह कहाँ जायगा। किसी वस्तुमें यह सामर्थ्य है क्या कि किसीके बलको समाप्त करदे। शरीर शरीर है। चाहे यह इतना सिथिल हो जाय कि हाथ भी स्वय न सरका सके इतना भी सिथिल हो जाय। होने दो, जहाँ पड़ा है पड़ा रहने दो। तुम्हारा आत्मा तो अचिन्त्य सामर्थ्य वाला है। ऐसा ज्ञायकस्वरूप है कि समस्त सत् इसके ज्ञानमें आये। ऐसा यह सर्वदर्शी है कि सब कुछ जाननहार इस आत्माका यह दर्शन किया करे ? इसमें ऐसा अनन्त आनन्द है कि जिस आनन्दमे कोई बाधा डाल ही नहीं सकता जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। अपनी सामर्थ्यको देखो। यदि मोह रखेगा, किसी परमे प्रतीति रखेगा तो उसका फल तो संसारके दुःख ही है, फिर उनमे किसीपर एहसान क्यों डालना। त्रुटि जब हम खुद कर रहे हैं और अनात्मीय पदार्थ है पर वस्तु है उनमें जब प्रीति और मोह खुद उत्पन्न कर रहे हैं तब फिर कोई दुःख मिले किसीकी ओर से विपदायें आयें उसमे फिर दूसरेका अपराध क्यों निरखते ? दूसरे पर एहसान क्यों डालते। खुद त्रुटि कर रहे। इस ही समय अनुभव करलें, समस्तपरपदार्थोका विकल्प तोडकर ज्ञानानन्दस्वरूप सर्वविविक्त इस आत्मतत्त्वके निकट अपने ज्ञानको बैठाल लें और अनुभव कर लें कि संसारमे मेरे लिए कोई विपत्ति नहीं है। मैं स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। यह आत्मा अनन्त शक्तिका धारक है सो जिस प्रकार जिस रीतिसे इसके यह बल प्रकट हो उस प्रकारसे अपना यत्न करें यह आत्मबल नियमसे प्रकट होगा। सीधी सी बात है कि समस्त पर पदार्थोंको पर जानकर उनसे प्रीति मत करें, मोह मत करें। तू अब भी वैसा ही आनन्दमय है जैसा कि इसके स्वभावमें है। इस आत्माके प्रतापसे बड़े-बड़े सामर्थ्य प्रकट होते हैं।

अचिन्त्यमस्य सामर्थ्यं प्रवक्तुं कः प्रभुर्भवेत् ।
तच्च　नानाविधध्यानपदवीमधितिष्ठति ॥१०५५॥

आत्माका अचिन्त्य सामर्थ्य— इस आत्माकी शक्ति तो अचिन्त्य है, इसके कहनेके लिए कोई समर्थ नहीं हो सकता, लेकिन यह सब सामर्थ्य इस आत्माके ध्यानके प्रतापसे जिस पदमे जितने रूपमे आत्माका ध्यान किया जा रहा हो उस पदमें उतने रूपमें इसके सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। छोटेसे मिस्मरेजमसे लेकर बड़े बड़े मंत्रवादियोंके चमत्कारों तक व ऋद्धि प्राप्त होगी उन चमत्कारों तक और इतना ही नहीं, अनन्तज्ञानियोके अनन्त चमत्कारों तक भी जो कुछ सामर्थ्य है वह सब इस आत्माका है। तू अन्य वस्तुवोंका मूल्य अपने चित्तमें मत रख। यह ही आत्मा स्वय अपने आप प्रभु हैं, ऐसा अमूल्य है, ऐसा महत्त्वशाली है कि मेरे लिए इस मेरे अंतस्तत्त्वको छोडकर अन्य कुछ नहीं है, कोई शरण नहीं है। अनादिकालसे अनन्त भवोंमें खूब घूमकर भी तो देख लिया होगा, बता क्या है तेरे पास ? उन भवोंकी बात छोड़ दो, इस ही एक जीवन मे कितने-कितने काम कर डाले, कितनोंसे सम्बंध बना डाला, कितनोंसे प्रीति बनायी, उन सब बातोंके गुजर जानेके बाद आज अपने आपमें देखो क्या है ? और कुछ कसर रह गयी हो तो कुछ जीवन अभी शेष है, उनमें जो धोखे होंगे उनसे भी समझ लिया जायगा आगे। अन्तमें क्या रहेगा, इसके पास क्या मिलेगा ? उत्तर यह है केवल अपना आत्माराम। इसके सिवाय अन्य कुछ हाथ नहीं है और कुछ भी जो चमत्कार पहिले देखा, हुए या हैं दुनियामे, वे सब इस आत्मारामके हैं। इस मूल ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी ओर रुचि करें, उन चमत्कारोंमे रुचि न करें।

तदस्यकर्तुं जगदह्निलीनं तिरोहिताऽस्ते सहजैव शक्तिः ।
प्रोधितस्तां समभिव्यनक्ति प्रसह्य विज्ञानमयः प्रदीपः ।।१०५६।।

आत्माका अतुल प्रताप व उसके विकास व अविकासका हेतु— इस समस्त विश्वको अपने प्रभावमें अपने ज्ञानमे लीन कर लेनेका सामर्थ्य इस आत्मामें है परन्तु कर्मोसे अच्छादित होनेके कारण वह शक्ति तिरोहित हो गयी है। जैसे कहते है ना कि एक म्यानमें दो तलवार नहीं समा सकती है, इस ही प्रकार एक उपयोगमे विशुद्ध ज्ञानानन्द, सम्पूर्ण ज्ञानानन्द तथा जगतके ये वैषयिक सुखोंके विकार ये दोनों नहीं समा सकते। या तो छुटपुट मेरा तेरा सीमित ज्ञान करले और उस अनन्त ज्ञानसे हाथ धो बैठ या फिर इस छुटपुट मेरे तेरे वाले ज्ञानकी उपेक्षा करदे और अपनी ज्ञानसामर्थ्यको निरख, केवल आत्मतत्त्वको देख। फल यह होगा कि समस्त विश्व इसके ज्ञानमे अवश होकर प्रतिविम्बित हो जायगा। एक उपयोगमे दो बातें नहीं समा सकती कि थोडा पहिले जाने हुए पदार्थका प्यार बनाये रहें और समस्त विश्वके ज्ञाता भी बन सकें। ये दो बाते आत्मामें एक साथ न बन सकेगी। किसी एकसे रति रखें। या तो यहोंके ही छुटपुट आनन्दमे मग्न रहे, विपदायें सहें, ससारके चक्रोमे पड़े रहे या फिर अपने अनन्त सामर्थ्यका चमत्कार प्रकट करें। यों इन्द्रियजन्य विनाशीक पराधीन असार सुखाभासोंकी प्रीति भी करते रहें- और अद्भुत अनन्त परम निराकुल आत्मीय आनन्द भी पा लें, ये दो बातें एक साथ आत्मामे नहीं हो सकती। अपना ठीक निर्णय बना लें, या तो भोंदू ही बने रहने का प्रोग्राम बनाये जा अर्थात् इन्द्रियके विषयोंमें सुख माननेका, उन विषम साधनोंके सचयमे ही चित्त बनाये रहनेका अपना प्रोग्राम बनाये रह, सुख दुःख ये सब कुछ भोगता जा या फिर इन विनाशीक असार सुखाभासोंसे मुख मोडकर परमपवित्र आनन्दधाम अपने आत्माकी ओर रह और विशुद्ध आनन्दका अनुभव कर। इसीप्रकार ये दो बातें भी नहीं बन सकती कि लोकमे मेरी नामवरी हो, यश फैले, ये पड़ोसी देशवासीलोग मेरे गुण गाये, मुझे भला कहें, मेरा खूब नाम जाहिर हो, एक यह बात और दूसरी यह बात कि यह आत्मा अपने आपमे निर्विकल्प निस्तरंग होकर प्रसन्न रहा करे। ये दो बातें भी एक साथ न बन सकेंगी। देखो पडोसियोंके लोगोंके बारेमें पडते रहें कि भाई मेरा नाम ले लेना और किसीको चित्तमें बसाना और जनताको प्रसन्न किए रहनेका उद्यम करना, यह पैरोंमे पड़नेसे क्या कम है? इतना बडा विकल्प उठाना यह सबकी अपनी-अपनी तरकीब है। जब एलेक्सन होगा उस समय वोटोंकी प्रार्थनाके लिए कोई किसी पद्धतिसे कोई किसी पद्धतिसे आखिर दीन हीन बनकर लोगोंसे याचना करना वह पैरों पड़ना नहीं है तो और क्या है? या तो इस ही पार रहें या आत्मीय अनन्त आनन्दका अनुभव करें, दोनोंका अनुपात बनालें जिसमें सार दिखता हो उस कार्यको करें। बहुत समय व्यतीत हो गया, अब एक यह उपाय बनायें जिससे अपना आत्माराम अपने आपमें निर्मल बना रहे। क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, किसी भी विकारकी तरग न उठे ऐसा निर्दोष शुद्ध उपयोग बनाये। इस पुरुषार्थके प्रतापसे ही अपना कल्याण होगा। यह शिव स्वरूप है, यही समग्र कल्याण है, यही परम शरण है। एकचित्त होकर हम निज अंतस्तत्त्वका अनुभवन करें। उस ही के उपायमें आगे वर्णन किया जायगा कि व्यवहारमे हम कैसी परिणति बनायें जिससे हम यह अपना आन्तरिक सामर्थ्य प्राप्त कर सकें।

अयं त्रिजगतीभर्ता विश्वज्ञोऽनन्तशक्तिमान् ।
नात्मानमपि जानाति स्वस्वरूपात्परिच्युत ।।१०५७।।

स्वरूपपरिच्युत जीवके अनन्तशक्तिस्वभाव होनेपर भी आत्मज्ञानका अभाव— यह आत्मा तीनों लोकोंका स्वामी है, समस्त पदार्थोंका जाननहार है, अनन्त शक्ति वाला है, परन्तु अनादि कालसे ही यह जीव अपने स्वभावसे च्युत है अपने आपको जानता नहीं है। जैसे कोई धनिक पुरुष जिसका धन जमीनमें गड़ा हो, लाखों करोड़ोंकी विभूतिका पता न हो तो वह अपने महलमें होनेपर भी दीन है, दरिद्र है इसीप्रकार निज आत्म प्रदेशोंमें समस्त वैभव मौजूद है समस्त समृद्धियां होनेपर भी इसे पता नहीं है कि मैं अनन्त शक्ति-

हूं, तब यह अपनी इस अनन्त सामर्थ्यको भूलकर बाहरी विषयोंमें यह प्रतीति करता है और दुःखी होता है यह सबसे बड़ा भारी पुरुषार्थ है कि अपने आपकें अतुल ज्ञान सामर्थ्यका परिचय पा लेना। एक शान्ति ही तो चाहिए नां, यदि शान्ति अपने आपमें नियत हो जानेसे सबका सम्बंध तोड देनेसे प्राप्त होती है तो उसमें टोटा क्या है ? लाभ ही लाभ है। ऐसा ज्ञान बनायें, ऐसा उपयोग बनायें कि बाह्य पदार्थोंसे चित्त हटकर एक अपने आपके अंत स्वरूपमें रहें। यह अपनी ही बड़ी भारी भूल होगी जो ऐसा अज्ञान बना रहे कि अपने आपकी महिमाका स्वयको पता न रहे। ध्यानके प्रकरणमे इस प्रसंगमें यह उत्साह दिलाया जा रहा है कि तू बाहरमें मत झांक। बाहरमें कुछ न मिलेगा। तेरी सर्व सामर्थ्य समृद्धि तेरेमें ही है; अपने आपमें दृष्टि कर और सदाके लिए शान्त सुखी बन। कलंकोंसे छूटकर निष्कलंक पवित्र बन। यह आत्मतत्त्वका ध्यान हम आप सबको अनन्त सामर्थ्य और अनन्त आनन्द प्रदान कर सकेगा। अपनी सामर्थ्यको मत भूलें और बाहरी पदार्थोंमें मत अपना सुख ढूंढ।

अनादिकालसम्भूतैः कलङ्कैः कश्मलीकृतः।
स्वेच्छयार्थान् समादत्ते स्वतोऽत्यन्तविलक्षणान् ॥१०५८॥

मलिन जीवकी स्वेच्छाचारिता—यह जीव अनादिकालसे उत्पन्न हो रहे कलंकोंसे मलिन हो गया है। इस जीवके साथ ये रागद्वेष मोहके कलंक अनादिकालसे लगे हुए हैं। यह पहिले शुद्ध हो और पीछे मलिन बन गया हो ऐसी बात नहीं है। यह परम्परासे ही अनादिसे ही मलिन होता चला आ रहा है। यों कषायों से कलंकोंसे मलिन होता हुआ यह प्राणी अपनी इच्छावोंसे विषयोंको ग्रहण करता है। जो विषय आत्मस्वरूपसे अत्यन्त विलक्षण है वे हैं चेतन और जिन विषयोंको यह प्राणी ग्रहण करता है वे विषय हैं सब अचेतन। चेतन तो विषय इनका है ही नहीं कुछ। कदाचित यह चैतन्यस्वरूप इनका विषय बन जाय अर्थात् ज्ञानका विषय बन जाय तो इसके सारे अचेतन विषय छूट जायेंगे। फिर विषयोंका ग्रहण ही नहीं हो सकेगा। यह जीव जिन-जिन पदार्थोंमें सुख मानता है वे सब पदार्थ अचेतन हैं। पुद्गलमें यह अपना सुख ढूढ़ता है। रसनाका विषय है खट्टा मीठा आदिक, उन रसोंके स्वादमें अपना सुख मानता है। घ्राण इन्द्रियका विषय है सुगध दुर्गन्ध, उनमें यह जीव इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनाये रहता है। नेत्रइन्द्रियका विषय है रूप तो रूपके निरखनेमे यह सुख माना करता है। यों ही कर्णइन्द्रियका विषय है शब्द। रागपोषक मन प्रिय शब्दों में यह इष्ट बुद्धि करता है। तो इसने जिन विषयोंको भोगा वे सब विषय अचेतन ही है और कभी मनके विषयको भी भोगता है तो वे मनके विषय भी अचेतन हैं। मनके विषय यश नामवरी ये ही तो होते हैं। तो यश भी चीज क्या है, नामवरी भी चीज क्या है। वे सब भी एक पौद्गलिक बातें हैं। इन मायामयी पुरुषोंसे मायामयी नामको कहलवा लेना यह कितना मायारूप काम है। उससे इस आत्माको कोई लाभ नहीं है। लेकिन ऐसे भौतिक मनके विषयसे भी यह जीव कषाय कलंकोंसे मलिन होता हुआ राग कर रहा है।

प्रभुकी प्रभुता व अपना नैकट्य—देखो भैया। हममे ओर प्रभुमें बहुत भेद भी है और कुछ भेद भी नहीं है। एक अपने आपके आत्माका परिचय हो और आत्माका नियन्त्रण बन जाय, निरन्तर लगातार आत्मध्यानकी परम्परा बन जाय तो लो यह ही प्रभुता अब शीघ्र ही निकट है। अब भेद ही नहीं नजर आता। यह सब अन्तर लो शीघ्र ही मिटा दिया जाने वाला है और जब एक अपने आत्माका परिचय नहीं हो पाता तो इसके लिए बडा पहाड है। प्रभुकी प्रभुतामें और खुदकी स्थितिमें बडा अन्तर पड़ा हुआ है। यह आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, ध्यान दीजिए। बाहरमें कुछ इच्छा न कीजिए। क्योंकि ये सब मायामयी चीज हैं, विनाशीक हैं, इच्छा भी असार वस्तु है और यह सारा लोक भी विनश्वर है, स्वप्नवत् है। यहां सारका कहीं नाम भी नहीं है। लोग कहते हैं कि संसारमें सुख तो है तिल बराबर और दुःख है पहाड़ बराबर। अरे जब आनन्दधाम निज अंतरतत्त्वकी याद नहीं है तो सुख तिल भर भी नहीं है। जिसे दुःख समझ रहा है वह

सब भी दु:ख ही है, क्लेश ही है। सुख दु:ख और क्लेश इन तीन शब्दोंके अर्थ जुदे-जुदे है। दु:ख तो वह है जहां इन्द्रियको बुरा लगे और सुख वह है जहां इन्द्रियको सुहावना लगे। मगर उन सुखोंके भोगनेके काल में भी क्लेश ही चल रहा है। उन सुखोंके भोगनेके विचारमें भी क्लेश ही चल रहा है। उन सुखोंके भोगने के विचारमें भी क्लेश है, उनके प्रारम्भमे भी क्लेश है। सुख भोगनेके कालमें भी केवल क्लेश है। तो जैसे क्लेश दु:खके प्रसगमें हुआ करते वैसे ही क्लेश सुखके प्रसंगमें भी हैं, तो यह भी कहना कि सुख तिल बराबर है दु:ख पहाड़ बराबर है यह भी युक्त नहीं है किन्तु समग्र दु:ख ही दु:ख है, क्लेश ही क्लेश है, आनन्दका तो संसार भावोंमें नाम भी नहीं है, यह पुरुष अनादिकालीन परम्परासे चले आये हुए रागद्वेष मोहभाव कलंकोंसे मलिन होता हुआ अपनी इच्छासे मनचाहा जैसी चित्तमें बात आयी विषयको पदार्थों को ग्रहण करता है, ऐसा यह दीन-हीन बन रहा है परन्तु आत्माका स्वरूप देखें, सामर्थ्य देखें तो यह सर्वज्ञता और पूर्ण निराकुलताका ही स्वरूप रख रहा है।

दृग्बोधनयनः सोऽयमज्ञानतिमिराहतः।
जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ॥

दृग्बोधनयन आत्माकी अज्ञानतिमिराहत होनेसे, अज्ञता—इस आत्माके नेत्र हैं दर्शन और ज्ञान। सो इनके दर्शन ज्ञान रूपी दोनो नेत्र अज्ञान अंधकारसे आवृत हो गए हैं—अर्थात् नेत्र मुंद गए हैं। इसे अब साफ स्पष्ट सीधा यथार्थ नहीं दिखता है और न जाननेमे आता है, ऐसे अन्धकी स्थितिमें यह प्राणी कुछ जानता भी हो तो कुछ जानता नहीं है, ज्ञानोंमें ज्ञान वही ज्ञान है जो ज्ञान ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान करता रहे, विषय भी ज्ञान है अतएव उस विषयकी ओरसे भी इसका नाम ज्ञान है। जो क्रिया हो रही है वह भी मात्र जाननक्रिया हो रही है, सो उस करतबकी दृष्टिसे भी यह ज्ञान है और ज्ञान शक्तिका परिणमन है सो भी ज्ञान है। सो ज्ञानोंमे ज्ञान वही है जो ज्ञान ज्ञानका ही ज्ञान करता रहे। इसके अतिरिक्त अन्य किन्हीं पदार्थोंको जाना करे यह ज्ञानका परिणमन तो जरूर है किन्तु यह ज्ञान नहीं है, सब अज्ञान है जिस ज्ञान परिणमनमे आकुलता बनी रहे वह क्या ज्ञान है, जैसे किसी रिश्ता या सम्बन्धमे बड़े क्लेश और विपदा बनी रहे तो वह काहेका सम्बंध है। लोग कह भी बैठते हैं काहेका सम्बंध है, विपदायें ही विपदायें हैं, आराम तो होता ही नहीं, सुख तो रहा ही नहीं, ऐसे ही समझिये कि जो ज्ञान ऐसे विषयोंको करें, ऐसा अज्ञानरूप बने कि जिसमें विपदा और क्लेश ही भोगनेमें आयें तो वह ज्ञान ज्ञान नहीं है अज्ञान है। तो यों कर्मोंके उदयसे इस आत्माके दर्शन और ज्ञान नेत्र ढक गए हैं, आवृत हो गए हैं, अतएव यह आत्मा जानता हुआ भी नहीं जानता। यद्यपि जान रहा है कि यह अमुक नगर है, इसमे ऐसा प्रबध है, ऐसे नियम हैं, लोग इस नीतिपर चल रहे हैं, देश विदेशका बहुत-बहुत ज्ञान भी करे तो ज्ञान तो कर लिया पर ज्ञान करने वाला यह है कौन इसका कुछ परिचय नहीं है, तो वह ज्ञान क्या रहा वह तो एक विद्यार्थी जैसा अभ्यास है। एक स्कूलमें इन्सपेक्टरने खबर भेजी कि हम कल दोपहरके बाद दो बजे बच्चोकी परीक्षा लेने आयेंगे, सो मास्टरने बच्चोंकी बहुत बडी तैयारी करायी और जो खास खास प्रश्न थे वे बता दिये। देखो रूसमे यह नदी प्रधान है, अमेरिकामें यह, अमुक जगह यह पहाड़ प्रसिद्ध है, यों विश्वका खूब अध्ययन करा दिया, दूसरे दिन सारे बच्चे गर्वसे बैठे थे कि इन्सपेक्टर साहब जो भी पूछेंगे झट बता देंगे। जब इन्सपेक्टर आया तो पूछता है कि तुम्हारे गाँवके पास जो नाला बह रहा है वह कहाँसे आया है और कहाँ जाकर मिल गया है? वे बच्चे इस प्रश्नपर कुछ बता ही न सके, उन्होंने तो विश्वकी बातोंका अध्ययन किया था। तो इस निकटका तो ज्ञान करे नहीं और बड़ा ऊंचा ज्ञान करलें तो जैसे वह विडम्बनारूप है ऐसे ही निकटकी भी बात करें यह खुद मैं एक हूँ, जाननहार भी यह मैं खुद हूँ इसका भान भी न करें और बाहरी बाहरी बातें जानते रहें तो वह ज्ञान कुछ ज्ञान नहीं है, ऐसी स्थितिमें कितना भी जान

हो, पर वह जानता हुआ भी नहीं जानता है। कुछ भी देख रहा हो दुनियामें पर वह देखता हुआ भी नहीं देखता। अरे भाई चाहिये तो शान्ति आनन्द और शान्ति आनन्द मिले नहीं, क्षोभ ही क्षोभ मचा रहे तो बाहर कितनी भी जानकारियां बनायें, कुछ भी देख भाल लें पर खुद तो गया बीता ही है।

अविद्योद्भूतरागादिगरव्यग्रीकृताशयः।
पतत्यनन्तदुःखाग्निप्रदीप्ते जन्मदुर्गमे

अज्ञानजरागादिविषसे व्यग्रीभूत जीवका जन्मदुर्गममें पतन—मोहसे उत्पन्न हुए रागादिक रूप विषके विकार से व्यास चित्त होनेसे यह आत्मा दुःख रूपी अग्निसे जलता हुआ इस कठिन संसारमें गिरता पड़ता चला आ रहा है। यह आत्मा स्वच्छ ज्ञानस्वरूप केवल जानन करता रहे ऐसी प्रकृतिका तत्त्व है, लेकिन इसमें रागादिकका विष आ गया है, कुछ मतलब नहीं, अत्यन्त भिन्न पदार्थ है चेतन हो अथवा अचेतन। किसी का सुख दुःख पुण्य पाप आदि ज्ञान बाँटा नहीं जा सकता, किसीको दिया नहीं जा सकता। सबका आत्मा अत्यन्त जुदा जुदा है, दूसरा आत्मा भी जो कुछ भी प्यार दिखाता है वह भी अपने स्वार्थवश दिखाता है, उनको आराम, उनका विषय, उनकी सुविधा देना चाहता है, इन विकारोंसे उपकृत होकर अथवा अगामी कालमें भी ऐसी सुविधाका सम्बन्ध बना रहे इस इस ख्यालसे दूसरे जीव प्रीति दिखाते हैं। यह बात अपनी है ऐसी ही बात सबकी है, कुछ तत्त्व नहीं है लेकिन यह अज्ञानी प्राणी इन भिन्न विनश्वर पदार्थोंमे अपनी रति करता है, प्रीति जोडता है। उस प्रीतिका कुफल आकुलता है उसे भी भोगता जाता और प्रीति भी नहीं छोडता। यह कितना गहन मोह बढ़ाया जा रहा है। भैया! सुखी होनेका तो जरा सा ही उपाय है। कर विचार देखहु मनमाँही, मूदहु आख कितहु कछु नाहीं। अरे जरा इन विकल्पोंकी आँखोंको बन्द कर लो और अन्तरमे देखो ये बाहरी संकट, कुछ भी रंग ढग कुछ भी मेरे आत्मामें नहीं हैं। और है मेरे आत्मामें अनन्त प्रभुताका भण्डार। यह है स्वयं परमात्मतत्त्व। सुखी होनेका तो जरा सा ही उपाय है। जिसमें एक सेकेण्ड भी नहीं लगता मगर ऐसा अज्ञान छाया है कि जिससे ऐसा राग विष पी लिया गया है कि यह चित्त व्यग्र होजाता है, तडफता है और तत्त्व कुछ नहीं है। भिन्न सब जीव हैं, सो उन रागादिक भावोंका फल यह है कि अनन्त सुखकी ज्वालावोंमें जलना पड़ता है, अपने आराम आनन्द निराकुलताके ढग से चलना सन्मार्ग बनाना यह सब अपने आधीन है। जितना परप्रीति, पर सम्बन्ध छोड़े, अपने एकत्वस्वरूपकी ओर आयें उतना ही आनन्द है, पवित्रता है, सब झंझटोंसे मुक्ति है। किसका क्या?

रागविजयमें सकलविजय—श्री रामचन्द्रजीका सेनापति कृतान्तवक्र जब विरक्त होने लगा तो श्रीराम चन्द्रजी से कहने लगा कि अब इस ससारमें मेरा मन नहीं लगता, मैं जंगलमे जाऊंगा और आत्मसाधना की दीक्षा लूंगा। तो रामचन्द्रजी कहते हैं कि अरे तुम जंगलमें वे क्लेश कैसे सह लोगे? भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, मच्छर और जिस चाहे कुबुद्धिके द्वारा अपमानका होना और कोई सताये, कोई प्राण भी हर ले शस्त्रघात भी करदे सारे दुःख हैं जंगल मे। तुम वहाँके दुःख कैसे सह सकोगे तो कृतान्तवक्र कहता है कि हे रामचन्द्र जी सबसे कठिन बात तो थी आपका स्नेह तजना। आपके प्रति इतना स्नेह था कि उसका छोडना सबसे कठिन काम था। जब हमारा वह स्नेह छूट गया राग प्रीति अब नहीं रही अर्थात् शुद्ध हृदय बन गया, केवल ज्ञाता द्रष्टाकी स्थिति कर ली तो अब जगलके वे क्लेश जो तुमने बताये हैं उनका छोड़ना कौन सी बडी बात है? तो सत्य समझो कि सबसे कठिन बात है मोह और रागका तजना। जैसे लोग खाने पीने के सम्बंधमें भी ऐसा ख्याल बनाते हैं कि चलो अब आलू छोड दें मूली छोड़ दें, पर यह चित्तमें नहीं लाते हैं कि करोडों मन आलुवों से भी अधिक पाप जिस चीजमें है—बजारकी जलेबियां कई दिनोंकी सड़ी हुंडीमें जो बनायी जाती है, बाजारका दही, गोभी फूल, सडी भूसी चीजोंके त्यागपर दृष्टि नहीं है। यात्रा कर लें आलू छोड़ दें, यद्यपि आलू भी अनन्त काय वाला है, मगर उससे भी अधिक हिंसा त्रस जीवकी

हिंसा है, उसपर दृष्टि नहीं है, ऐसे ही धर्मसाधनाके लिए धर्म करते हैं चलो एक विधान थाप लें, निमंत्रण छाप लें, लोगोंको बुला लें, यज्ञ होगा, अभिषेक होगा इसपर तो दृष्टि जाती है, पर इसपर दृष्टि नहीं जाती कि मोह और राग हमारा कितना कम पड़ा है। धर्म करना है तो यह उत्साह बनना चाहिए कि अब यह मोह नहीं करना है, यह दुःखदायी है, अब यह राग महीं करना है, इसमे क्लेश ही क्लेश बनता है। धर्म करनेके लिए यहाँ दृष्टि नहीं चलती। दृष्टि चलेगी उन ऊपरी क्रियावोंमें जिनमे कहो वे ७ दिन जितने दिन विधानमें गुजरेंगे क्लेशमें, गुस्सामें, झंझटोंमें गुजरेंगे। क्योंकि जब आमंत्रण दे दिया है, दस पांच रिस्तेदार भी आ गए हैं, चार छः लोग विधानमे खड़े करवा दिये हैं, तो अब क्लेशके साधन पचासों आयेंगे। जिन भाइयोंको खड़ा किया है वे भाई समयपर आये न आयें अपने अहंकारसे रहें, कोई बात में कमी हो तो उसपर नाराज होते, तुम यों क्यों नहीं करते, ऐसा क्यों नहीं हुआ आदि। और जो पचासों लोग बाहर के आये हैं उनके खाने पीनेकी व्यवस्था करना, यों चित्तमें कितने क्लेश मचा करते हैं। तो इतने इतने क्लेशोंमे समय गुजार देंगे धर्मके नामपर कुछ क्रियावोंका बहाना लेकर, पर यह ध्यान न देंगे कि हमने मोह ममतामें कितनी कमी की है। देखो—किसी दूसरे जीवकी किसी क्रियाको निरखकर यदि क्रोध आता है तो वहाँ ऐसा ज्ञान बनाना चाहिए कि यह तो इस बाह्य जीवका परिणमन है, इसका परिणमन इसमें है, इस जीवने मेरेमें कुछ नहीं किया। जो उसमें कषाय जगी है सो उसने अपना ही परिणमन किया। मुझे उसपर दृष्टि रखकर क्रोध करना योग्य नहीं है। विषयोंमें मेरी प्रीति न बने, शुद्ध आत्मतत्त्वपर ठहरे रहें ऐसी तैयारी करना है। यह तो दृष्टिमें आता नहीं, किन्तु बाहरी बाहरी बातोंमें ही दृष्टि जाती है जिसके कारण बड़े बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। तत्त्वज्ञान जगे बिना आत्माका उद्धार होना असम्भव है, अतएव सब कुछ भी सर्वस्व समर्पित हो जाय, लेकिन तत्त्वज्ञान हमारा बने, दृष्टि निर्मल बनी रहे, अपने आपकी प्रभुताके दर्शन रहा करें, इससे बढ़कर उत्कृष्ट वैभव अन्य कुछ नहीं है।

लोष्ठेष्वपि यथोन्मत्तः स्वर्णबुद्ध्या प्रवर्तते।
अर्थेष्वनात्मभूतेषु स्वेच्छयायं तथाभ्रमात् ॥१०६१॥

अज्ञ प्राणीका अनात्मभूत पदार्थोंमे स्वेच्छाचार प्रवर्तन—जैसे कोई पागल पुरुष पत्थरमे स्वर्णबुद्धि करले और स्वर्णकी तरह पत्थरोंके प्रति व्यवहार करे, इसी प्रकार यह आत्मा अज्ञानसे अपने स्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थोंमें स्वेच्छचाररूप प्रवृत्ति करता है, राग द्वेष मोह करता है। इस आत्माको अपने आपकी समृद्धिका, शक्तिका परिचय नहीं है, इस कारण बाहरी पदार्थोंको महत्त्व देता है। बहुत वैभव हो गया तो उससे अपनेको बड़ा मानता है, और है बिल्कुल भिन्न वस्तु। आत्मामे वैभवका रंच स्पर्श भी नहीं है, लेकिन मोह बुद्धि ऐसी है कि अत्यन्त भिन्न असार पदार्थोंमे भी यह ममता रखता है। तो जैसे उन्मत्त पुरुष अपनी इच्छासे जिस चाहे प्रकार भ्रम करके मान्यता बनाता रहता है इसी प्रकार यह मोही जीव भी अपनी इच्छासे जैसा चाहे भ्रम करके अपनी मान्यता बनाता है। जितने भी अपने अन्दरमें विकल्प और विचार होते हैं उन विचारोंमें सार क्या है ? कुछ भी सार नहीं मालूम होता। किस तरहका विचार कर रहे, कामकाजका या धन सचयका या किसी रिश्तेदारके सम्बंधमे सोचनेका या किसी भी प्रकारका विकल्प होना ये तो जीवमे औपाधिक तरगें हैं। तरगें उठीं और विला गयीं। आत्माके पास कुछ नहीं रहता। विचार हुआ सम्बंध हो गया, पर अनर्थ और एक यह हो जाता है कि उन विचारोंके कारण उन खोटे आशयोंके कारण कर्मबन्ध हो जाता है जिसके उदयकालमे इस जीवको दुःख भोगना पड़ता है, तो इन भिन्न पदार्थोंके प्रति मोही जीवकी भावना उपासना बनी रहती है, बस यही दुःखका कारण है, इतनी सी बात न हो तो किसी प्रकारका दुःख नहीं है। चित्त निरन्तर परपदार्थोंकी ओर है, अपने आत्माकी ओर दृष्टि नहीं जाती, न उत्साह होता, न मनमे बात आती है कि मैं अपने आपके स्वरूपको भी पहिचानूं और इस आत्मदेवके निकट बसा करूं। अपने आपकी सुध भूल गयी, बाहरी पदार्थोंमे ही इसका निरन्तर चित्त बना है, तत्त्व कुछ नहीं निकलता। लगे रहे, समय

गया, अन्तमें मालूम पड़ता है कि सब धोखा ही धोखा रहा। मुझमें कोई ऐसी बात नहीं आयी जिससे अपनेको कुछ भरा पूरा पाता होऊं। जब यह जीव उन पदार्थोंसे उपेक्षा करे, अपनी शक्तिकी सम्हाल करे तो बस पा लिया मोक्षमार्ग। परमात्मा बननेका उपाय पा लिया समझिये, अन्यथा तो यह ही भटकना रहेगी।

वासनाजनितान्येव सुख-दुःखानि देहिनाम्।
अनिष्टमपि येनायमिष्टमित्यभिमन्यते ॥१०६२॥

प्राणियोंके सुख दुःखकी वासनाजनितता—जीवोंको जितने भी सुख और दुःख होते हैं ये अनादि अविद्या की वासनासे उत्पन्न होते हैं, इस कारण यह आत्मा अनित्यको भी नित्य मानता है। क्या सुख है क्या दुःख है। सबमें शल्य है, जो विषयोंके सुख हैं उनमें भी क्लेश पड़ा है और जो शारीरिक या अन्य प्रकारके कष्ट हैं, दुःख हैं उनमें भी क्लेश पड़ा हुआ है। सबके सब अनिष्ट हैं, आत्माको लाभ करने वाले ये नहीं हैं। क्या हुआ, घरमें रहे, अच्छा घर बना लिया, बाह्य साधन बना लिया, आराम भी करते हैं, समयपर सुखसे भोजन भी करते हैं, कमाई भी खूब होती है, सब कुछ है, पर बुढ़ापा तो आयगा ही, अथवा मृत्यु तो आयगी, फिर क्या साथ रहेगा ? जैसे कहते हैं चार दिनाकी चांदनी फेर अंधेरी रात। इससे आत्माका स्थायी लाभ क्या हुआ ? दिन हैं आये चले गए। न इस समय भी शान्ति है और न आगे भी शान्ति मिलेगी। इन सांसारिक सुखोंमें लीन होनेमें शान्तिका तो नाम है नहीं। सब वासनासे ही सुख और दुःख मालूम किये जाते हैं। आत्माके पास तुरन्त केवल एक शुद्ध स्वरूपका दर्शन रहे और उससे जो अपने आप आत्मीय आनन्द प्रकट होता है बस वह भर बना रहे यह तो है सारभूत बात और बाकी सब औपाधिक समागम हैं, इस जीवके अहितके लिए ही हो रहे हैं। यह जीव अनिष्टको भी इष्ट मानता है। जैसे बालक जलती हुई आगको सुहावनी समझकर पकड़ लेते हैं और जल जाते हैं ऐसे ही ये समस्त समागम सुहावने लगते हैं, इन विषयोंको यह जीव इष्ट मानकर अपनाता है, पर जैसे अग्निको हाथमें लेनेसे हाथ जल जाता है इसी प्रकार इन विषयभूत पदार्थोंको अपनानेसे इष्ट माननेसे क्लेश ही क्लेश होता है। किसी भी जीवकी कथा सुनो, कोई मनुष्य अपने दुःखकी कथा कहे तो उसमें सिवाय इस बातके और कुछ न पायेंगे कि हमने अमुक पर पदार्थोंमें मोह बसा लिया है। बस इतना ही मात्र दुःख है अन्य कुछ दुःख नहीं। यदि संसारमें सुख होता तो तीर्थंकर प्रभु क्यों समागमको त्यागते।

प्रभुभक्तिका लक्ष्य—हम प्रभुके दर्शन करें, भक्ति करें और प्रभु जिस मार्गपर चले उस मार्गकी हम उपासना न करें तो प्रभुकी भक्ति क्या हुई ? प्रभुदर्शन करते समयमें ज्ञान वैराग्य और त्याग इन तीनका महत्त्व समझें। हे प्रभो ! आपने उत्कृष्ट ज्ञान पाया, सम्यग्ज्ञान बनाया, प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने-अपने स्वरूपमें है इस प्रकारकी आपने दृढ़ दृष्टि की जिससे सम्यग्ज्ञान बना और इस तत्त्वज्ञानके कारण आपके वैराग्यभाव जगा, परपदार्थोंसे राग हटा। यह हितकी चीज है सो प्रभु आपने की है। हम भी ज्ञान और वैराग्यका आदर करें, उसके प्रति हमारे चित्तमें आस्था हो और उसपर चलनेका यथाशक्ति प्रयत्न करें तो हे प्रभो मेरा भी कल्याण इसी पथसे होगा। प्रभु आपने सम्यग्ज्ञान पाया, वैराग्य पाया और त्याग किया। जिसके इन्द्र देवेन्द्र जैसे सेवक हों, जिनको मनमाना सब कुछ भोग सामग्री प्राप्त हो, महामण्डलेश्वर राजाके पुत्र हों ऐसे उन तीर्थंकरोंने भी जब यह समझ लिया कि संसारका अणु मात्र भी आत्माको हितरूप नहीं है तो उन्होंने इन समस्त परपदार्थोंका त्याग किया। और, इतना सर्वदेश त्याग किया कि केवल शरीर-शरीर ही रह गया। वस्त्र आभूषण सेवक कुछ भी तो साथ नहीं रहे। जिनको अपने शुद्ध आत्माका ध्यान करनेकी उमंग उठी हो वे यदि किसी भी परपदार्थका परिग्रह रखें तो उस परिग्रहकी वासना ध्यानमें बाधा दिया करती है। यह तथ्य जानकर प्रभुने अणु मात्र भी परिग्रह अपने पास नहीं रखा। और शरीर तो त्यागा नहीं जा सकता था वस्तुके व धनके मानिन्द अतएव वह शरीर लगा हुआ है, लेकिन शरीर लगा हुआ होकर भी उनकी शरीरमें भी ममत्वबुद्धि नहीं है कि यह शरीर मेरा कुछ है। वे प्रभु समस्त परिग्रहोंसे विरक्त होकर अपने

स्वरूपको निहारते भये। उसके प्रतापसे वे अनन्त ज्ञान अनन्त आनन्दके ऐश्वर्यके स्वामी भी बन गए। प्रभुके दर्शन करनेमें बहुत बडा पवित्र सम्पर्क स्थापित होता है प्रभुके और भक्तके बीच।

प्रभुमार्गका अनुसरण करलेमे प्रभुभक्तिकी सम्पन्नता - प्रभुदर्शन कोई साधारण बात नहीं है। प्रभु और भक्तका सम्बध बन रहा है, जो प्रभुमें गुण हैं वैसे ही गुण चितारे जा रहे है और अपने आपमें निरखे जा रहे हैं तो वह अपने आपकी उन्नतिका ही तो कारण है। हे प्रभु! आपने सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान उत्पन्न किया, उस तत्त्वज्ञानसे समस्त विश्वका आपने राग छोडा, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किया, मोह रागद्वेषको चकनाचूर किया। समग्र बाह्य पदार्थोंका और विकारोंका त्याग किया। आप ज्ञान वैराग्य और त्यागकी साक्षात् मूर्ति हैं, यह प्रभुका स्वरूप हम आपको शान्तिके पदमें ले जानेके लिए शिक्षा दे रहा है कि हे भक्त तू क्यों परविषयोंकी आशा बनाकर अपने दिमागमें उलझन बनाये हुए है, उन समस्त पर विषयोंकी आशाको तज दे और अपने आपके विशुद्ध आनन्दका अनुभव करले, यह शिक्षा प्रभुकी मुद्रा देखनेसे हमें मिलती रहती है। प्रभु मुद्रा यह बतलाती है कि दु:खका कहां काम है? देखो यह मैं ज्ञानमूर्ति आनन्दधाम कैसा निराकुल बैठा हुआ हूं। ऐसे ही परकी प्रीति तजकर निराकुल विश्रामसे ऐसा बैठ जावो कि बाहरमें कुछ करनेका विकल्प न रहे तो तुम भी सुखी हो। भक्तके पूजनमें ये ही भाव भरे जाते हैं, प्रभुके गुणोंकी महिमा बखानी जाती है और साथ ही साथ प्रभुकी ही तरह अपनी महिमाका परिचय हो जाता है। जगतमें जितने जो कुछ चमत्कार और आविष्कार देखे जाते हैं वह सब आत्माकी ही महिमा है। जो भी वैज्ञानिक हुए उनके ज्ञानकी ही तो महिमा है। इस जीवने अपने आत्माकी शक्तिको कुछ नहीं पहिचाना इस कारण बाह्य पदार्थोंकी आशा रखकर दीन बन रहा है। प्रभु पूजामें प्रभुका ध्यान अपनी आत्मशक्तिका परिचय कराता रहता है। ये बाहरी सुख-दुःख तो केवल वासनासे उत्पन्न हैं और इसी वासनाके कारण यह प्राणी अनिष्ट पदार्थोंको भी इष्ट मानता है। जैसे बच्चा सांपको भी खिलानेके लिए पकड़ले तो वह डस लेता है ऐसे ही यह अज्ञानी इन विषयोंको आनन्द पानेके लए पकड़ता है और यह व्यामोही आत्माको पतित कर देता है। संसारमें कौन सा पदार्थ सारभूत है पवित्र है।

अविश्रान्तमसौ जीवो यथा कामार्थलालसः।
विद्यतेत्र यदि स्वार्थे तथा किं न विमुच्यते।

परमार्थस्वार्थोद्यमपरतामे मुक्तिकी सिद्धकी अवश्यभाविता - यह जीव काम और अर्थकी लालसा रखकर विषय भोगोंके और धन वैभवके सचयकी वाञ्छा रखकर जैसा अधिक परिश्रम करता है, यदि कुछ थोड़ा बहुत भी परिश्रम आत्माके हितके लिए करे तो क्या कर्मोंसे छूट नहीं सकता? पद्म पुराणमे बताया है कि राम रावणके युद्धके प्रसंगमें-जब रावण बहुरूपिणी विद्या साधनेके लिए शान्तिनाथ भगवानके मन्दिरमें ध्यान करने बैठ गया उस समय कुछ मन चले लोग रावणकी विद्या साधनामे बाधा देने लगे। रावण शान्तचित्त होकर अपनी साधनामे बना रहा। कवि उस प्रसगमें यह कहता है कि जैसे रावणने बहुरूपिणी विद्या समृद्धि चाहनेके लिए एकचित्त होकर ध्यान बनाया था ऐसा ध्यान यदि आत्महितके लिए बनता, मोक्षमार्गके लिए बनता तो उसे मोक्ष पाना अति सुगम था। और अपने सबके जीवनमे देख लो। घर गृहस्थीके कामके लिए यह जीव कितना कष्ट उठा सकता है, सारे कष्ट उठानेकी हिम्मत रखता है। रात दिन जब कुछ लाभ जचा तब ही कहीं चला जाय, बड़े-बड़े शारीरिक परिश्रम करे, बड़े-बड़े कष्ट सहे, दूसरोंकी बात भी सहे, धर्म धारण कर अनेकों कष्ट यह मनुष्य भोगता है, अपने घरके कामोके लिए अपने विषय साधनोंके लिए, लेकिन धर्म मार्गके लिए रच कष्ट नहीं सहना चाहता। कितनी ही जगह कुछ लोग ऐसे होते हैं कि मदिरमें देव दर्शन करने तकका भी कष्ट नहीं सह सकते, पढे लिखे हैं, जानाकर है, कुछ धर्म की बात भी जानते हैं, पर घरमे आदमी कितना कष्ट सह रहे हैं, कितना परिश्रम करते हैं, विपदायें

सहते हैं, वातें सहते हैं, पर वे विवश होकर सहनी पड़ती हैं, विषयोंसे प्रीति है उसके लिए सहनी पड़ती हैं। वे सह लेते हैं, पर धर्मके लिए ज्ञानार्जनके लिये कुछ कष्ट नहीं सह सकते। कष्ट क्या? केवल मनकी वात। धर्म साधना करना, सत्संगमें बैठना, इनमें क्या कष्ट है। मन नहीं लगता इसलिए कष्ट मालूम होता है। वह तो एक आनन्दकी चीज है। बड़े प्रसन्न होकर प्रभुके गीत गाये जा, संसारकी असारता जानकर और प्रभु पदको ही सर्वोत्कृष्ट मानकर इस सारमें दृष्टि लगाये जा, वहाँ आनन्द ही आनन्द बरषता है, यदि चित्त लगे तो धर्ममें बहुत आनन्द प्राप्त होता है। जब चित्त नहीं लगता तो धर्मकी वात बड़ी संकट सी लगती है। एक जगह बैठे रहना मुश्किल हो जाती है जब कि वहाँ कोई चित्त लगनेका साधन न हो। हालाकि कष्ट कुछ नहीं है मगर चित्त लगे तब ना? चित्त जहाँ लगा हुआ है उस पदार्थकी प्राप्तिके लिए सैकड़ों कष्ट सह सकते हैं। अनादिकालसे तो यह जीव खोटी खोटी योनियोंमें उत्पन्न होकर दुःख भोगता चला आया है, पशु पक्षी विकलत्रय कीड़ा मकोड़ा आदिकी पर्यायोंमें अनाप सनाप समय गंवाया। केवल थोड़ी सी गल्तीके कारण इस संसारमें अनादि कालसे रुलता चला आया। वह गल्ती एक इस भवमें न करे और अपने विशुद्ध ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वके ध्यानके लिए अपना सर्वस्व लगा दे, इतना साहस इतनी बुद्धि इसमें उत्पन्न नहीं हुई, यह सब बड़े खेदकी वात है। सबसे बड़ा कष्ट इस वातका मान लें कि मुझमें क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषायके भाव उत्पन्न होते हैं। हूँ तो मैं विशाल समुद्रकी तरह शान्त और गम्भीर, पर अशान्ति और अस्थिरता बन रही है यह सब कर्मोंका फल है, उसे मैं भोग रहा हूँ खेद इस वातका मानें, हानि इस वातकी समझें। वाहरी वैभवकी हानिको क्या हानि मानें? ये तो मुझसे पहिलेसे ही भिन्न थे, अब और जुदे हो गए।

ज्ञानमें प्रत्याख्यानकी सिद्धिका उदाहरण — समयसारमें एक दृष्टान्त दिया है कि दो पड़ोसी थे उन्होंने अपनी-अपनी चद्दर एक धोवीके यहाँ धुलनेको दी। दो दिन वाद एक पड़ोसी अपनी चद्दर लेने गया तो भूल में उस दूसरेकी चद्दर धोवीसे ले आया, और घरमें चद्दर तानकर खूब सोगया। कुछ देर वादमें दूसरा पडोसी अपनी चद्दर लेने धोवीके घर पहुचा। धोवीने चद्दर उठाकर दी। उसने उस चद्दरमें अपनी चद्दरके चिन्ह न पाये तो कहने लगा कि यह तो मेरी चद्दर नहीं है। धोवीने कहा ओह! मालूम होता है कि तुम्हारी चद्दर अमुक पडोसीके पास बदलेमें पहुंच गयी है। जब वह पड़ोसीके यहाँ अपनी चद्दर लेने पहुचा तो देखा कि वह उसी चद्दरको ताने हुए खूब सो रहा था। उसने चद्दरका अँचल पकड़कर जगाया और कहा कि भाई जी यह चद्दर वदल गई है, तुम्हारी नहीं है, यह मेरी है। जब उसने ध्यान देकर देखा तो जान गया कि वास्तवमें यह मेरी नहीं है। लो इतना जानते ही उसका उस चद्दरसे मोह हट गया। भले ही अभी देनेको इन्कार करे जब तक वह अपनी चद्दर न पा जाय, पर उसे उस चद्दरसे मोह बिल्कुल नहीं रहा। और फिर दे भी दे, चाहे थोड़ा झगड़ा भी करे पर उसका उस चद्दरसे मोह छूट गया। इसी तरह ये क्रोधादिककषायें विषयोंके भाव नानाप्रकारके विकार, इज्जतकी चाह ये सब परभाव हैं। हमारे गुरुजन वारवार समझाते हैं कि भाई मोह नींदसे उठो, ये रागादिक भाव तेरी चीज नहीं हैं, तू इन्हें क्यों अपनाकर सो रहा है? तू खूब अच्छी तरह पहिचान ले। तो वारवार समझानेपर यह ज्ञानी पुरुष अपने अन्तरङ्गमें निरखता है कि इन कषायोंमें मेरा कोई चिन्ह तो विदित होता नहीं। मैं हूँ ज्ञानस्वरूप और कषायें हैं अज्ञान। मैं हूँ आनन्द स्वरूप और कषायोंमें पड़ा हुआ है दुःख। तो मैं इन कषायोंरूप नहीं हूँ, ऐसा जब अपनेको निरखता है और उन कषायोंमें अपने आपका चिन्ह नहीं पाता है तो देख लो ऐसा निरखनेके साथ ही उन विकारोंसे इसका मोह तो मिट गया ना। भले ही इन परिस्थितियोंवश क्रोधादिक करने पड़ रहे हों, मगर उन कषायोंमें अब आत्मीयता नहीं रही, उनको अपना नहीं मानता। तो जब यह जीव अपने आपके शुद्ध चमत्कारको जब पहिचान जाता है तब इसे अपने आत्माका परिचय प्राप्त होता है, अपने आपको सामर्थ्यका अनुभव होनेसे इन विषयोंकी आशा नहीं जगती। आशाके ही वश यह जीव ठगाया गया।

आशावशतामें ज्ञाननिधिका तिरस्कार—यद्यपि यह जीव सिद्ध प्रभुके समान है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्दका स्वामी है लेकिन आशाके वश होकर इसने अपना ज्ञान खो दिया और भिखारी बना, अज्ञानी बना विषयोंकी आशामें रहकर यत्र-तत्र डोलता रहता है। अपने आपकी सामर्थ्यका परिचय होनेसे ये सब विडम्बनाएं दूर हो जाती हैं क्योंकि इस ज्ञानकी परिस्थितिसे समग्र परवस्तुवोंकी उपेक्षा हो जाती है और अपने आपके स्वरूपमें रुचि जगती है। आत्मकल्याणके लिए यह आवश्यक कर्तव्य है कि हम अपने आपके स्वरूपका सच्चा ज्ञान करें और सन्तोष करें, अपने आपमें ही बसकर इस वैभवके पीछे न पड़ें। यह पुण्य पापके अनुसार थोड़े ही परिश्रमसे बराबर हिसाबसे आता रहता है। अब जितना आये जितना मिले उतनेमे ही अपने गुजारेका साधन बनायें और बाकी समय श्रम ज्ञान चित् एक शुद्ध ज्ञानके अनुभवके लिए जगयें। मैं केवल ज्ञानमात्र हू ऐसा बार-बार अनुभव करें। शरीर जैसा है सो ठीक है, नीरोग है, रोगी है, निर्बल है, सबल है, जो हो सो ठीक है। पर यह मैं आत्मा तो सदा शाश्वत ज्ञानरूप हूं और आनन्दस्वरूप हू, ऐसा ज्ञानानन्दमात्र अपने आपका अनुभव करना यह ही अपने हितका उपाय है। यह मैं अपने आपके स्वरूपको भूलकर जब पर विषयोंमें प्रीति जगाता हू तो वहां क्लेश उत्पन्न होता है। स्वरूपसे देखो तो मैं आनन्दका पूर्ण स्थान हूं। इस प्रकार ध्यानके प्रकरणमें आत्माकी सामर्थ्यका परिचय करना बहुत आवश्यक है।

—:o:—

अथ कैश्चिद्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इत्यष्टावङ्गानि योगस्य स्थानानि ॥१०६४॥

यमनियमनामक दो योगाङ्गोका निर्देशन—ध्यानका योगसे अधिक सम्बध है। योगका अर्थ है अन्य जगह चित्त न ले जाकर जो मुख्य विषय आत्मतत्त्व है वहाँ ही उपयोगको छोड़ देना इसका नाम है योग लेकिन कुछ अन्य सिद्धान्त वाले योगके ८ अंग यों बोलते हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम नाम है यावत् जीव किसी त्यागके करनेको। यद्यपि यम भी वास्तविक अग है ध्यान सिद्धिके लिए आत्मलाभके लिए, लेकिन जब केवल यम शब्दसे बाहरी चीजोंके त्यागकी ही बात रह जाती है तो वह ध्यानका साधक नहीं है यावत् जीव भी किसी वस्तुका त्याग करदे लेकिन भीतरमें यथार्थ निर्णय न हो, आत्मध्यानका लक्ष्य न हो तो यावत् जीव बाह्य वस्तुका त्याग करनेसे भी बनता क्या है? और ज्ञान सही है, दृष्टि निर्मल है, लक्ष्यका पता पाड लिया है तो यम उसके लिए साधक है, क्योंकि बाह्य पदार्थका सम्बध रहेगा तो किसी न किसी प्रकारकी चिन्ता ममता प्रीति कुछ न कुछ होगी अन्यथा बाह्यका सम्बध ही क्यों रहता? इसलिए बाह्य वस्तुवोका यावत् जीवन त्याग करना यम है और यह आवश्यक है, पर मूलमें तत्त्वज्ञान बहुत आवश्यक है। दूसरा अंग बतलाते हैं नियम। कुछ समयकी मर्यादा लेकर बाह्य वस्तुवोंका त्याग करना नियम कहलाता है। जैसे कुछ लोग नियम ले लेते हैं कि भोजन करनेके बाद अन्न १२ घटेका त्याग है अथवा २४ घटेका त्याग है, या अन्य-अन्य प्रकारके जो मर्यादा रखकर त्याग किए जाते हैं उन्हें नियम कहते हैं। नियम भी अध्यात्मयोगमें साधक कारण है लेकिन तत्त्वज्ञान जिसके हो उसे नियम भी लाभ पहुचायेगा। और, जिसकी दृष्टि केवल ऊपरी ही है कि भोजनका त्याग कर देनेसे सुख मिलता, स्वर्ग मिलता है ऐसी बाहरी दृष्टि ही हो और अपने लक्ष्यका पता न हो कि हमें क्या करना है तो ये नियम भी मोक्षमार्गमे साधक नहीं बन पाते। साध्यका अवश्य पता होना चाहिए। मुझे क्या होना है, मैं आत्मा अपने आपके सत्त्वकी ओरसे केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हू। कर्म, शरीर, विकार, तरंग कुछ भी इसके स्वरूपमें नहीं है। उपाधि पाकर ये सब परिणमन होते हैं, मुझे अपने सही स्वरूपमें रहना है। जैसा मैं अपने सत्त्वके कारणसे होऊं वैसा ही रहता आता रहू। मुझे अन्य औपाधिक चीजोंसे विभावोंसे, परिकरोंसे कोई प्रयोजन नहीं। यों एक सहज अंतस्तत्त्वकी दृष्टि बने, मैं केवल ज्ञानमात्र ही रहना चाहता हूँ ऐसा लक्ष्य बने तो मेरे लिए यम भी साधक है और नियम भी साधक है।

आसननामक योगाङ्गका निर्देशन— तीसरा अंग है आसन।—देखा होगा किसी पुरुषको किसी वस्तुसे राग हो गया हो जिस वस्तुको पाना अपने आधीन नहीं है, विवशता है तो ऐसी वस्तुपर जिसका चित्त डिग गया तो वह अस्थिर रहता है। एक जगह बैठ नहीं सकता। स्थिर आसनसे बैठेगा क्या? एक जगह नहीं रह सकता। बल्कि बावलोंकी भांति यहाँसे वहाँ यों डोलता रहता है तो जब किसी परवस्तुमें राग विशेष हो तो वह विश्रामसे बैठ भी नहीं सकता। तो यों ही समझिये कि जब तत्त्वज्ञान न हो, यथार्थ वैराग्य न हो तो वह आसन भी स्थिरतासे लगा नहीं सकता। स्थिर आसन लगानेसे ध्यानको बड़ी मदद मिलती है और आसनमें भी देख लो कितना अद्भुत प्रभाव है कि आसनसे बैठनेपर कुछ ऐसा शरीरका नियन्त्रण रहता है कि वहाँ चित्तमें शुद्धि होनेका बड़ा अवकाश है, और और ढगसे बैठे हों ध्यानके लिए तो उसमें इतनी स्थिरताका अवकाश नहीं मिलता, प्रयोग करके देख लो। आसनसे बैठनेपर और अन्य ढगोंसे बैठनेपर बड़ा अन्तर आता है। जब पद्मासनसे बैठते हैं शान्त मुद्रामें तो उस कालमें भीतरमें कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है कि जिसके बादसे रागादिक विकारोंको मलिन भावोंको दूर करनेका अवकाश मिलता है। यों ध्यानकी साधना में आसनका भी महत्त्व है मगर जिसे तत्त्वज्ञान जगा हो, जिसने अपने लक्ष्यका पता पाड़ लिया हो मैं आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप सबसे न्यारा परिपूर्ण और दर्शन स्वभावी हूँ। मुझे केवल खालिस रहना है। मुझमें दूसरी चीजका सम्बंध न रहे यह लक्ष्य जिसका बन गया उसके लिए आत्मसाधनोंमे यह आसन भी साधक है। तत्त्वज्ञान बिना उन क्रियावोंको कर लेनेसे जिनको तत्त्वज्ञानी किया करता है तत्त्वज्ञान न होनेपर बाहरी क्रिया मात्रसे सिद्धि न हो जायगी। मूल तत्त्व क्या है उस ध्यानके प्रसगमें इसका परिचय होना ही चाहिए। जैसे जाड़ेके दिनोंमें कभी आप लोग आगसे तापकर जाडा मिटाते हैं। यहाँ वहाँसे ईंधन बटोरा उसमें आग लगाया। उसे फूंका, आग जलाली हाथ पसारकर बैठ गये और ठंड मिटा लिया। इसी बातको बंदर भी देखते रहते हैं और वे बन्दर दूसरे दिन यदि नकल करने लगें कि हमारी ही तरहके हाथ पैर तो इन मनुष्यों के भी हैं, ये तो जाडा मिटा लेते हैं हम क्यों न जाड़ा मिटा लें। सो इधर उधरसे लकड़ियाँ बीनकर ईंधन जोड सकते है, जोड लिया जिसपर वे सोचने लगे कि ईंधन तो जोड़ लिया ठंड तो मिटती नहीं। तो कोई बन्दर यह राय देता है कि ईंधन तो बटोर लिया पर इसमें मूल चीज तो डाला ही नहीं। तो उस समय बहुत सी पटबीजना उड रही थी। उनको पकडकर उस ईंधनमे झोंकने लगे। इतना कर लेनेके बाद भी ठंड न मिटी। तो कुछ बन्दरोंने राय दी कि लाल चीज भी डाल दी मगर अभी फूंका तो नहीं है। सब बंदरोंने फूंका भी लेकिन अपनी ठंड न मिटा सके। कुछ बंदरोंने फिर राय दी कि अभी हाथ पैर पसारकर बैठे तो नहीं जैसे मनुष्य बैठे थे, ठंड कैसे मिटे? सो वे हाथ पैर पसार कर बैठ गए फिर भी वे अपनी ठंड न मिटा सके। अरे परिश्रम तो सारा कर डाला पर जो मूल तत्त्व है आग उसका परिचय नहीं है तो ठंड कैसे मिटे?— इसी प्रकार धर्म धारण करनेके लिए सारी बातें प्राय लोग कर डालते हैं। दर्शन, ध्यान, जाप, स्वाध्याय, तपश्चरण, इन्द्रिय- संयम जीवदया, सब कुछ करनेके बाद भी फिर जहांके तहाँ अपनेको पाते हैं। वे ही विकल्प, वे ही क्लेश, वे ही झंझट और और बढ गए। क्या मामला हो गया? अरे मामला क्या हुआ? धर्म पालन करनेका जो मूल आधार है अपने आपके स्वरूपका परिचय वह भर नहीं है बाकी सब हो गया है। तो ये जो योगके अंग हैं ये अध्यात्म अनुभवके साधक तो हैं बाहरी मगर जिसे यथार्थ निर्णय हो उस ज्ञानी को साधक है। तब मुख्य अग क्या हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

प्राणायाम व प्रत्याहार नामके योगाङ्गोंका निर्देशन— योगके अगोंमें चौथा अग बताया है प्राणायाम। प्राणायाम एक ऐसी क्रिया है नाकसे हवाको ग्रहण करना और फिर पेटमें उसे रोकना, थोडी देर बाद नाकसे हवा फेंकना, इसका नाम है प्राणायाम। जो जितनी देर तक हवाको अपने उदरमें रोक सके वह उतना प्राणायाम का अभ्यासी समझिये। इनका नाम है पूरक, कुम्भक और रेचक। और, अनेक-अनेक विधियाँ हैं। जैसे बायें नाकसे हवा खींचना उदरमे भरना और दाहिनी नाकसे हवा निकालना, दाहिनी नाकसे हवा

खींचना, उदरमें भरना और बाईं नाकसे हवा बाहर निकालना, दोनों नाकोंसे हवा खींचना, उदरमें भरना और फिर दोनों नाकोसे हवा बाहर निकालना। इन प्राणायामोंसे चित्त स्थिर होता है। तो प्राणायाम भी आत्मसाधनामें एक बाह्य साधन है और तत्त्वज्ञान हो, हमें कहाँ जाना है, क्या करना है, कहाँ देखना है, इसका पता हो तो ये बाहरी साधन भी ठीक हैं, पर ये मुख्य अंग नहीं हैं। अध्यात्मयोगके मुख्य अंग तो हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ५ वां अंग गताया है प्रत्याहार। प्रत्याहारका अर्थ है कोई विग्रह ले लेना, परिग्रह ग्रहण करना। अमुक समय तक अमुक दिन तक हमारा इतनी बातका नियम है, यह प्रत्याहार है। जैसे कि पहिले समयमे लोग नियम ले लेते थे कि हम अमुक ग्रन्थका स्वाध्याय शुरू कर रहे हैं, जब तक हम इसको समाप्त न करलें तब तक हमारा अमुक वस्तुका त्याग है। तो ऐसे जो बाह्य विधान हैं वे मात्र एक साधारण साधन हैं। अध्यात्मयोगका मुख्य साधन तो आत्मनिर्णय है। आत्मदर्शन और आत्मामे चित्तको लीन करना ये हैं अध्यात्मयोगके मुख्य साधन। यह सब ध्यानकी बात चल रही है। जो कल्याणार्थी जन हैं वे ध्यानकी बात बहुत जानना चाहते हैं। कौनसे ऐसे उपाय हैं जिन विधियोसे अपना ध्यान ठीक बना सके? ध्यानमें तो सभी जीव रहा करते हैं। ध्यान विना कौन जीव है? पर किसीके आर्त ध्यान है, किसीके रौद्रध्यान है। धर्मध्यान बने तो उसकी तारीफ है और शुक्लध्यान तो उसका फल है। तो उन खोटे ध्यानोंसे जीवको आकुलता रहती है। तो आकुलता दूर हुए विना कोई ध्यान बने इसकी खोजमे कल्याणार्थी जन रहते हैं। इस ग्रन्थमें उस ही ध्यानकी बात बड़े विस्तारसे कही गई है और सारभूत बात इतनी बतायी है कि ध्यानकी सफलता चाहते हो तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आचरण करो और वह भी निश्चयसे निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र रूप परिणमन करे। अपने आत्माके अमूर्त शुद्ध ज्ञायक स्वरूपको जानना, उसका अनुभव करना और इस ही आत्मामे अपने चित्तको डुबोना यह करने योग्य बात है। ऐसा करनेके लिए व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका भी प्रयोग कर रहे हैं, पर मूल बात तो सब अपने आपके आत्मामे है।

धारणा, ध्यान, समाधि नामके योगाङ्गोका निर्देशन— हम आपमे कोई भी जीव दुःखी नहीं है, अपना ज्ञान ठीक बना लीजिए, उपयोग बदल लीजिए, सत्यस्वरूप समझ लीजिए। जब यह मैं शरीरसे भी न्यारा केवल अपने ज्ञानानन्द आदिक गुणोंरूप हूँ, अन्यसे इसका स्पर्श भी नहीं है, सम्बध भी नहीं है तब इस परिपूर्ण चैतन्य ब्रह्मको दुःख क्या रहा? दुःख हम बनाते हैं। अपने स्वरूपमें चित्त न जोड़कर बाहरी-बाहरी पदार्थोंमें ममता बनाते हैं और अपनेको दुःखी करते रहते हैं। योगके अगमें लोगोंने छठवा अग बताया है धारणा। किसी चीजकी धारणा करना, उस ओर दृष्टि रखना, योग जोडना सो धारणा है। ठीक है, अपने आपके मोक्षमार्गका सही लक्ष्य बनकर धारणा बनावे वह तो युक्त है, किन्तु लक्ष्यका भाव न करके केवल विधियोंकी धारणा बनानेसे तो मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं होती। ७ वां अंग है ध्यान। एक ओर चित्तको रोकना इसका नाम ध्यान है। इसके लिए लोग अनेक उपाय करते हैं। सामने कुछ दूर पर भींतपर ओम् लिख लिया या एक भींतपर कोई गोल चिन्ह बना लिया, उस ही ओर टकटकी लगाकर देखते रहना, यों देखनेका साक्षात् प्रभाव यह हो जाता है कि वहां चित्त जम जाता है, बाहरी जगहोंमे चित्त नहीं रहा, इतनी बात बन तो जाती है। उस शून्यको टकटकी लगाकर देखना चित्तको एक ओर रोकनेका साधन मात्र है, मगर ऐसा लक्ष्य ढूंढ लें जिसकी ओर चित्त लगानेसे एकाग्रता भी बने और तत्काल आत्मलाभ भी होता रहे। वह लक्ष्य है अपने आपमे यह परमज्योतिस्वरूप। ८ वा अग बताया है समाधि। समाधिका मूल मर्म तो है रागद्वेष न करके समतापरिणाम रखना। मगर रूढ अर्थ यह हो गया कि नाक मुंहको बंद करके अथवा कहीं पृथ्वीके भीतर बैठकर ऊपरसे मिट्टी वगैरह डाल दी, कहीं श्वास लेनेको जगह न रहे ऐसी स्थितिमें एक आध दिन बने रहे तो इसको लोग महत्त्व देने लगे हैं, और इसे समाधि कहने लगे हैं, पर यह समाधि तो [illegible] ही शामिल हो गयी। समाधि तो रागद्वेष न करके समतापरिणाम रखनेका नाम है, यह समाधि [illegible]

प्रकट होती है। तो इस योगके अंगमे बाह्य साधनपना तो है, पर तत्त्वज्ञान हो, लक्ष्य सही हो तो ये सब बाह्य साधन बनते हैं, इस तरह कुछ लोग योगके साधन ८ प्रकारके कहते हैं, कुछ लोग ६ प्रकारके ही साधन बताते हैं।

तथान्यैर्यमनियमावपास्यासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः इति षट् ॥१०६५॥

कुछ साधकोका योगकी षडङ्गताका अभिमत— कुछ लोग योगके अगोंको ६ बतलाते हैं कि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, इनका स्वरूप वैसा ही है। उन्होने यम और नियमको महत्त्व नहीं दिया है। कुछ लोग योगसिद्धिके उपायमें बतलाते है।

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्संतोषात्तत्त्वदर्शनात्।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥१०६६॥

योगके प्रसाधक छह उपायोकी चर्चा— यहाँ वे ६ योग बतलाते हैं जिससे अध्यात्मकी सिद्धि होती है। वे ६ क्या हैं? उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्वदर्शन और देशका त्याग। इन ६ बातोंसे अध्यात्मयोगकी सिद्धि बताते हैं। यद्यपि ये सब बाह्य साधन हैं, इनमे भी कुछ तत्त्व है पर इन सबकी प्रतिष्ठा तब है जब तत्त्वज्ञान बने। उत्साहका अर्थ सब जानते है कि इस कार्यके लिए ध्यानके लिए एक उत्साह उमग बनी रहना। जैसे कोई दूकान करता है तो दूकानके कार्योमे रुचि उत्साह रहता है। आज इतना लाभ हुआ है। तो जैसे अपने इस इष्ट कार्यमे लोग उत्साह रखते हैं इसी तरह ज्ञानी मुमुक्षुजन अपने आत्मतत्त्वके कार्योमें उत्साह रखते हैं। हमने आज अपनी इन्द्रियपर इतनी विजय किया, हमने अपने लक्ष्यपर इतनी सफलता पायी, अब इससे और अधिक होना चाहिए, इस तरह आत्मकार्योमे उत्साह रखते हैं। इस उत्साहको योगका अंग मानते हैं। दूसरा अंग है निश्चय। किसी भी बातका दृढ निश्चय हो इसे हम करेंगे, करके रहेंगे, हटेंगे नहीं, इस प्रकारका निश्चय हो तो वह भी योगका अग है। उससे भी अध्यात्मसाधना बनती है। दूसरी बात है धैर्य। सिद्धिमें विलम्ब हो रहा है, कुछ लाभ तुरन्त नहीं मालूम पड रहा है पर गुरुके नियत्रणमे रहकर उन-उन विधियोंकी साधना की जा रही है, त्याग नियम तपश्चरण किया जा रहा है पर फल कुछ नहीं मिल रहा है, उस समय धैर्य रखे, कभी भी मिले अथवा मुझे फल क्या चाहिए? जो बतला रहे हैं उस साधनाको करते हैं। वह साधना हमारे निर्दोष बने, ऐसा धैर्य रखे तो यह योगका अग है। चौथी बात है सन्तोष। सन्तोष होना चाहिए, किसी बातकी तृष्णा न जगे। किसी भी वस्तुके प्रति तृष्णा न जगे, तृष्णारहित सन्तोष वृत्तिसे रहना चाहिए। ५-वीं बात है तत्त्वदर्शन। जो वस्तुका स्वरूप हैं वह दृष्टिमे आये इसे कहते हैं तत्त्वदर्शन। जो वस्तुका स्वरूप है वह दृष्टिमें आये इसे कहते हैं तत्त्वदर्शन। जिसने जिसे तत्त्व माना है—जैन सिद्धान्तने तत्त्व माना है वस्तुके स्वभावको। प्रत्येक वस्तुमें उसमें उसके कारण जो स्वभाव पाया जाता है वह उस वस्तुका तत्त्व है। उस तत्त्वका दर्शन करना यह योग का अग है। और, छठी बात बताया है देशका त्याग। जिस गांवमे जन्मे हैं, जिस असफेरमे सम्बध है इस शरीरका अब जनपदका उस कस्बेका त्याग करना देशत्याग है। इसमें भी मर्म है, एक तो जिस गाँवमें रह रहे हैं उसमें पुराना परिचय है। लोगोंसे मित्रता थी, रागकी परम्परा चल रही थी। एक तो यह बात है कि यह वासना मिट न पायेगी, दूसरी बात यह है कि लोगोंका व्यवहार उस सन्यासीके प्रति पहिले जैसा ही रहेगा। तो उनके उस रागभरे व्यवहारसे उसके चित्तमे विशुद्धि नहीं जग सकती, उत्साह नहीं जग सकता। तो यह भी उसका अलाभ है, यों समझिये कि सभी अलाभ हैं। जिस गाँवमे जन्मे हों, रहते हों उस गाँवका त्याग करना यह योगके अगमे बताया गया है। यह सब ध्यानसाधना करनेवालोंके लिए एक आवश्यक बात है। इस प्रकार कुछ लोग इन ६ प्रकारोसे योगकी साधना बताते हैं तो कोई कहते हैं -

एतान्येवाहुः केचिच्च मनःस्थैर्याय शुद्धये।
तस्मिन् स्थिरीकृते साक्षात् स्वार्थसिद्धिध्रुवं भवेत् ॥१०६७॥

मन स्थिरताके लिये योगाङ्गोके निर्देशनका अभिमत — जो यम आदिक अभी बताये गए हैं सो मनको स्थिर करनेके लिए, मनकी शुद्धताके लिए कहे हैं। मनके स्थिर होनेसे ही साक्षात् सिद्धि होती है। इनके मतसे और जो कुछ बने बन जाय, न बने न सही, केवल अंग एक ही है। मनमें स्थिर कर लेना, इस प्रकार लोग अध्यात्मयोगकी साधनामे अनेक-अनेक उपाय बताते हैं। जैन शासनने सर्वप्रथम ही यह बता दिया कि अध्यात्मयोगकी साधना अथवा विशुद्ध ध्यान कहो उसके अंग ये तीन ही हैं — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इसका निरूपण बहुत विस्तारसे इस ग्रन्थमे पहिले किया गया है, जिसका भाव यह है कि अपने को सहज ज्ञानस्वरूप मानते रहें और ऐसी ही दृष्टि जगाना, ऐसा ही अपना उपयोग बनाना, उसमे ही चित्त को लीन करना, इसके लिए व्रततपश्चरण यम नियम एक स्थानपर रहना, आसनसे रहना जो जो भी योग हो वे सब किए जायें, पर मूल अग तो यह रत्नमय ही है। यों रत्नमयकी दृष्टि रखकर उसके लिए यत्न करते हुए जो मुमुक्षु बाहरी रागद्वेषके प्रपचोंमे नहीं पडते हैं वे अपने आपमे अपने आपकी प्रभुताके दर्शन करलें और नरजीवन पानेका एक यह ही सदुपयोग है कि हम अपने आत्माका परिचय बनायें और इतना स्पष्ट निर्णय बनायें कि हम जब चाहे अनेक बार अपने आत्मस्वरूपकी ओर आ सकें और इसके निकट बसकर प्रसन्नतासे समय बिता सकें।

यमादिषु कृताभ्यासो निःसंगो निर्ममो मुनिः।
रागादिक्लेशनिर्मुक्तं करोति स्ववशं मनः ॥१०६८॥

यमादिकमे कृताभ्यास योगियोंके मनकी स्ववशता व क्लेशनिर्मुक्तता — जिस योगीने यम, नियम आदिकमें अभ्यास किया है, परिग्रह और ममतासे जो रहित हैं ऐसे योगी ही अपने मनको रागादिकसे दूर कर अपने वशमे करते हैं। यम नियम आदिकका ऐसा साधन है कि जिससे यममे रागादिक नहीं उठते और यम स्ववश बन जाता है, क्योंकि इन नियमोंमें परवस्तुवोंका त्याग है और जहाँ परवस्तुवोंमें बाह्य वस्तुवोंका त्याग कर दिया तो विकल्प उठनेका आधार त्याग दिया। तो आधार त्याग देने पर यद्यपि यह नियम तो नहीं है कि विकल्प उठे नहीं। न भी चीज हो और विकल्प करे, तो कर भी सकता है, मगर प्रायः ऐसा सम्बन्ध है कि जब उस आधारका परित्याग कर दिया, विषयोंका त्याग कर दिया तो यह मन कब तक रागादिक करेगा? अन्त मे छोड़ेगा। जैसे घरका त्याग कर दिया। अब घरमे कैसी स्थिति है, क्या आमदनी है, क्या परिस्थिति है, लोग किस तरह रह रहे हैं ये सब विकल्प फिर भी उठ सकते हैं, लेकिन जब घर त्याग दिया तो कितने दिन चलेंगे विकल्प? जो कर्म छूट गए तो बहुत दिन चलकर वे खत्म हो जायेंगे। विकल्पोंका आश्रय जो बाहरी पदार्थ हैं वे ही नोकर्म हैं। उन नोकर्मों को त्याग दिया तो ये विकल्प कब तक रहेंगे? ये तो मिट जायेंगे। और यदि राग विकल्प न छोड़े तो इतनी वेदना होगी कि फिर उस पदवीको त्यागकर गृहस्थीमे लग जायगा, पर परित्याग कर देनेके बाद फैसला एक ही तरफ होगा। या तो वह फिर उस पदवीको छोड कर घरमे आयगा या अपनेको निर्मल बनायेगा। बीच वाली बात कब तक निभेगी? तो यह यम और नियमके अभ्याससे लाभ तो है कि मन स्थिर हो जाता है, पर इसके साथ-साथ ज्ञानसाधना और तत्वज्ञान बने तो इसको मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है।

अष्टावङ्गानि योगस्य यान्युक्तान्यार्यसूरिभिः।
चित्तप्रसत्तिमार्गेण बीजं स्युस्तानि मुक्तये ॥१०६९॥

योगाङ्गोकी उपयोगिता — योग के जो ८ अग पूर्व आचार्यों ने बताये है वे चित्त की प्रसन्नता अर्थ हैं। मन निर्मल बने, मन की एकाग्रता हो इसके लिए है वह और चूकि वे यम नियम आदिक

निर्मलताके कारण हैं और चित्तकी निर्मलता हो तो रत्नत्रयकी ओर उपयोग चले, इस कारण वे परम्परागत मुक्तिके भी कारण बन गए हैं। जैसे एक बार बालगंगाधर तिलक भाषणमें कह रहे थे कि लोग कहते हैं कि गंगाके स्नान करनेसे मुक्ति होती है, पर इसका सीधा अर्थ यह नहीं है कि कपड़े निकाला, गगामें डुबकी लगाकर स्नान किया, लो पाप धुल गए, मुक्ति मिल गयी, पर इसका अर्थ यह है कि दिन भर गंगा स्नान करने से शरीरका मल हट जाता है, शरीर कुछ हल्का हो जाता है, चित्त में कुछ प्रसन्नता हो जाती है, शरीर में स्फूर्ति आती है। ऐसे समयमें कोई ध्यान करे तो उसके ध्यान बना करता है। यों गंगास्नानसे मुक्ति मान लेने पर मुक्ति ध्यानसे है पर ध्यानके जगनेमें कारण है स्नान। इस तरह ये जो यम नियम बताये हैं ये मुक्ति के कारण हैं, यों सीधा मुक्तिका कारण तो आत्माका परमध्यान है। पर यम नियम आदिक करनेसे ऐसा वातावरण बनता है। ऐसी चित्त मे निर्मलता जगती है कि यह आत्माका परमध्यान कर सकता है। इस तरह ये कारणभूत बन गए, पर मुक्तिका साक्षात् कारण तो रत्नत्रय ही है। और इसी तरह हमारे जितने भी व्यवहारधर्म होते हैं वे व्यवहारधर्म भी सीधे मोक्ष के कारण नहीं हैं। मोक्षका सीधा कारण तो आत्मश्रद्धान् आत्मज्ञान और आत्मरमण है। पर हमारा यह व्यवहारधर्म पूजा पाठ जाप, सामायिक, स्वाध्याय, सत्सग ये हमारे चित्त की प्रसन्नता के कारण हैं और हमारे आत्मस्वरूप की याद दिलानेके कारण हैं। यहा तक तो हमारा काम बना व्यवहारधर्मसे, इसके बाद फिर हम अपने आप अकेले ही परकी अपेक्षा तजकर स्वयमें बसें तो वह समाधि या विशुद्ध ध्यान प्रकट हो, फिर इससे परन्यवहार की चीज नहीं मिलती। तो यह व्यवहारधर्म है जो परम्परा मुक्ति का कारण है। यह सब इस प्रकार है, साक्षात् नहीं है। तो यों इस अध्यात्म योगके कारणोंमें जो आठ अग बताये हैं ये चित्तकी निर्मलताके कारण हैं, चित्तके एकाग्र करनेके कारण हैं, और जब चित्त एकाग्र हो सकता है तो वहा आत्माका ज्ञान श्रद्धान् और आचरण निश्चयसे बन सकता है। यों मुक्ति के कारण होते हैं।

अङ्गान्यष्टावपि प्रायः प्रयोजनवशात् क्वचित्।
उक्तान्यत्रैव तान्युच्चैर्विदांकुर्वन्तु योगिनः ॥१०७०॥

योगाङ्गोंकी प्राय प्रयोजकता—आचार्यदेव कहते हैं कि ये ८ अग भी जैसे कि अन्य लोगोंने माने हैं वे भी कामके तो हैं और इसी कारण प्रयोजनके अनुसार इस ग्रन्थमें भी कहा गया है। पर कितना प्रयोजन है, साक्षात कार्यकारी कौन है और साक्षात कार्यकारी उपायोंके मदद देनेवाला यह है, इस प्रकारका स्वरूप जानकर उनका उपकार करना चाहिए। अब जैसे यम है, बाह्यवस्तुवोंका परिग्रहका सदाके लिए त्याग कर देना, यह अच्छी ही तो बात है, इससे लाभ ही तो है। आत्मध्यानके लिए मौका मिलेगा, यह बात नियममें है। अभी जिसके नियम है कि रातको पानी नहीं पीना है, तो कैसी ही गर्मी हो उनको रात्रिमें प्यास की बाधा नहीं होती है और जितनी थोड़ी बहुत होती है, ओंठ सूखे से रहते हैं उतनी बाधा तो रातको पानी पीनेवालोंके भी रहती है। तो बाधा करनेकी डोर भावोंसे लगी है, त्याग नहीं है, आशा है, इच्छा है तो प्यास लगती रहेगी। जिस चीजका परिहार कर दे तो उसकी आशा, वासना चित्तमें नहीं रहती और इसी कारण उनके भावोंमें निर्मलता प्रकट हो सकती है। तो ये व्रत, त्याग आदि बेकार नहीं हैं, लाभदायक हैं पर इनसे लाभ कितना है और असली लाभ किससे होता है ? इसका सही ज्ञान होना चाहिए। आत्माका वास्तविक लाभ है, तत्त्वज्ञानसे और तत्त्वज्ञानमें दृढतासे जम जानेसे और इस बातमें मदद मिलती है त्याग व्रत आदिकसे तो ये त्याग व्रत आदिक हमारे यों कल्याणके कारण बनते हैं। जो जिस प्रकारसे कल्याण में हेतुभूत हो सकता है उसको उस प्रकारसे जान लेना चाहिए, नहीं तो कोई पुरुष व्यवहारको ही निश्चय मान बैठे तो व्यवहार के काममें ही सतुष्ट हो जाय, ऊपरी देह साधना करके उपवास आदिक करके अपने आप को मान लें कि हम तो पूरे धर्मात्मा हो गए तो उससे काम तो नहीं बननेका। तत्त्वज्ञान

बिना आत्माका दर्शन नहीं हो सकता, पर देखो जितनी बड़ी बड़ी विपत्तियां हैं वे सब भावोंकी हैं, चीजकी नहीं है। कोई पुरुष १० हजार धनमें बड़ा संतुष्ट है कोई पुरुष १० लाख धनमें भी सुखी नहीं है, तृष्णा लगाये है। तो यों ही समझिये कि इस जीवको जो भी विपत्तियां होती हैं वे भावों के कारण होती हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञावोंका भाव, और ऐसे इस जीवको परेशानी क्या होती है? अन्यथा सभी मनुष्य ज्यादासे ज्यादा मान लो अपने-अपने शरीरके भीतर हैं और मेरेमें ही मेरी सारी दुनिया है। जो कुछ कर सकता है वह अपने आत्माके प्रदेशोंमें ही कर सकता है। इससे आगे और कुछ लेनदेन नहीं है। फिर बाहरी पदार्थोंसे विपत्ति क्या? वैभव रहे न रहे, उससे क्या विपत्ति है? विपत्ति सारी लगा रखी है भावोंसे। तो भावोंकी विपत्तिको मिटानेका कारण भी भाव ही बनेगा। भावसे ही विपत्ति मिली है और भावसे ही विपत्ति मिटेगी। जब यह तत्त्वज्ञान जग जाय कि यह मैं आत्मा अपने ज्ञान और आनन्द रूप हूँ, इसमें किसी परभावका, परपदार्थका प्रवेश नहीं है - यों इसका भाव बन जाय फिर इसे क्या परेशानी? कहां दुःख रहा? तो दुःख मिटता है अपने ज्ञानकी सम्हालसे। ज्ञानकी सम्हाल जिसके न रही तो उसे दुःख होना है। चाहे वह करोड़पति राजा महाराजा महामण्डलेश्वर भी क्यों न हो। तो इन भावों को फेरनेके लिए जो सहायक भाव हैं ये ८ अंग काम के हैं यम नियम आदिक।

योगाङ्गों की प्रयोजकता—यम नियम आदिक ये ढालका काम करते हैं शस्त्रका काम नहीं करते - जैसे कोई योद्धा युद्धमें ढाल रखता है वह ढाल किसीको मारनेके काम नहीं आती बल्कि दूसरों के बाण शस्त्रको रोकनेके काम आती है। दूसरेके शस्त्रसे अपनी रक्षा करनेके काम आती है। तो ढालका काम इतना है कि उस वीर पुरुषको इस योग्य बनाये रहे कि दूसरेके शस्त्रसे लड़ सके और शत्रुका घात कर सके। शत्रुको मारनेका काम ढाल नहीं करती। ऐसे ही हमारे जितने व्यवहारधर्म हैं, यम नियम आदिक हैं ये ढालका काम करते हैं और शस्त्रका काम करता है तत्त्वज्ञान, वैराग्य, रत्नत्रय। इसका अर्थ यह है कि कर्मोंको, रागादिक वैरियोंको नष्ट करना है तो रागादिक वैरियोंका घात ये यम नियम आदिक तो नहीं करते। इन कर्मकलंकोंका विनाश ये व्यवहारधर्म तो नहीं करते, उन कर्मोंका विनाश तो आत्माके शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका अनुभव करना है। आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव जगे तो उससे रागादिक विकार ज्ञानावरणादिक कर्म ये नष्ट होते हैं। तो रागादिक वैरियोंका नाश करनेके लिए शस्त्रका काम किया रत्नत्रयधर्मने। और इन व्यवहारधर्मोंका नियमोंका काम क्या है, यह कि यह मुझको इस लायक बनाये रखे कि मैं इन रागादिक वैरियोंसे आत्मानुभवके घातको नष्ट कर सकूं। तो इन व्यवहारधर्मोंके प्रतापसे हमारी वृत्ति व्यवहारधर्ममें नहीं फंस पाती, तब हम इस लायक बन जाते हैं कि हम रत्नत्रयकी निश्चय साधना कर सकें। यों ये ८ अंग भी सब प्रयोजनके अनुसार पालनेके हैं, इसका भी वर्णन इस ग्रन्थमें किया, पर उन सबको इस तरहसे जानना चाहिए कि जितना है इनका प्रताप है।

यहांसे चला जाऊंगा, दूसरी जगह आनन्द करूंगा। तो जिन्होंने मनपर नियत्रण किया है उन्होंने समस्त विश्वपर समझिये नियंत्रण कर लिया और जिन्होंने मनको वशीभूत नहीं किया वे इन्द्रिय आदिकको रोकनेमे समर्थ नहीं हो सकते अथवा वे इन्द्रिय विषयोंको रोकें भी तो उनका यह काम व्यर्थ है। मन रुक गया तो अन्य अन्य सब व्यवहारधर्म भी कार्यकारी हैं। लोग कहते हैं मुखमें राम बगल में छुरी—यह बाहरी नक्शा है जो धर्मके कार्योंमे तो बडा दिखावा रखता है और भीतरमे क्रोध, मान, माया, लोभ ये तीव्र कषायें जग रही हैं। ऐसे लोग बहुत दिनों तक धर्मसाधना दिखावेके लिए करते रहते हैं और अन्तमें उनके कोई ऐसा अनर्थ बन जाता है कि सारी जिन्दगीका किया हुआ सब खराब हो जाता है। तो जिन्होंने मन वश किया है वे ही पुरुष महान् हैं, उपासनीय हैं। उनके चरणोंमे अपना चित्त सदैव रहे, ऐसी भावना निरन्तर कल्याणार्थी जन किया करते हैं।

मनोरोधका अमोघ उपाय तत्त्वज्ञान— यह मन रुकेगा तत्त्वज्ञानसे। प्राणायाम आदिक विधियोंसे कदाचित् मनको जबरदस्ती रोक भी लिया जाय तो यह मन बडी तेजीसे फिर ऐसा अपना काम करता है कि फिर यह किसीके रोके भी नहीं रुकता। जैसे नदीके प्रवाहको जबरदस्ती मिट्टीके भींतसे रोका जाय तो कुछ समय के लिए भले ही रुक जाय। पर जितना रुका है उतनी ही तेजीके साथ पहलेसे भी और तेजप्रवाहके साथ वह फूटेगी और नदी उसमें से वह निकलेगी। तत्त्वज्ञानके बिना मनके नियत्रण करनेका ऐसा हाल होता है। उसका कारण यह है कि मनको कुछ वशमे किया, पर वासना ज्योंकी त्यों रही। वह वासना भीतर ही भीतर सचित होकर इतने वेगमे बन जाती है कि फिर किसीके रोके भी वासना रुक नहीं सकती। जब सीताका चित्र नारदने भामण्डलके सामने डाल दिया क्रुद्ध होनेके कारण तो भामण्डल उसको देखकर मूर्छित हुआ और जब नारदने यह और कह दिया कि यह तो तुम केवल चित्र देखकर आकार देखकर ही मोहित हो रहे हो, पर गुण उसमें इतने हैं कि संसारकी किसी भी कन्यामें नहीं हैं। तब भामण्डल तो विवश हो गया, खाना पीना छोड दिया, एकदम निर्लज्जताकी बातें भी करने लगा, माँ पिता सबका लिहाज टूट गया। और जब सुना कि सीताका स्वयबर तो हो चुका है और रामसे वरी गई हैं तब भामण्डल इस विचारसे सेना सजाकर चला कि कुछ भी हो सीताको छुडाकर लायेंगे। गया, पर रास्ते में एक जगल मिला जिसमें सीता और भामण्डलकी कई पूर्व घटनाएं हुई थीं, वहां यह स्मरण हो आया कि वह तो मेरी इस भवकी भी बहिन है तब उसका चित्त शान्त हो सका। तो तत्त्वज्ञानके बिना मनके रोकनेसे मन नहीं रुकता है। कितना ही उस समय लोगोंने मना किया, बहुतसे लोगोंने उसके मनको जबरदस्ती रोका भी होगा, पर वासना न रुकी थी। जब ज्ञान हुआ और भीतरमें सीताके प्रति विकारभाव दूर हुआ तब मन एकदम वशमें हो गया। तो तत्त्वज्ञान हो, सर्व पदार्थों का भिन्न-भिन्न स्वरूप समझमें आये तो ऐसे ज्ञानपूर्वक मन वशमे रहता है। मन वशमें रहनेपर हम अपनेको इस योग्य बना सकें कि अपने आत्माके स्वरूपका ज्ञान दर्शन और आचरण ठीक बनाये रहेंगे।

कलङ्कविलयः साक्षान्मनःशुद्ध्यैव देहिनाम् ।
तस्मिन्नपि समीभूते स्वार्थसिद्धिसदाहृता ॥१०७२॥

मन शुद्धिसे कलङ्कविलय—मन शुद्ध हो तो कलकोंका साक्षात् विलय हो जाता है और जीवोंका उनका स्वभाव स्वरूप होनेसे उनके प्रयोजनकी सिद्धि हो जाती है। देखिये मनको गन्दा रखनेसे किसी दूसरे मनुष्यके प्रति ईर्ष्याभाव रखनेसे, किसीसे विरोध रखनेसे, किसी पापमें अपना चित्त बसानेसे मनकी अपवित्रतासे तो कलकोंकी वृद्धि होती है और इस जीवको नफा भी कुछ नहीं होता। जितना स्वच्छ चित्त रहनेसे मायाचार न करनेसे, लोगोंके प्रति सीधा सत्यसद्व्यवहार रखने से जो इसका जीवन सुखमय व्यतीत होता है वह मायाचार आदिकसे तो नहीं हो सकता। प्रथम तो तृष्णा मायाचार आदिक पापके भावोंसे खुद ही

अप्रसन्न हो जायगा, मलिन बन जायगा, स्वय ही आत्माका अनुभव करेगा और फिर भाव जो लोकव्यवहारमें बनेगा उससे लोग खिलाफ होंगे और वे अपनी लाठी जुदी बरषायेंगे। तो मनकी अपवित्रतासे न इस लोकमे साधन ठीक बनते हैं और न परलोककी सिद्धि होती है। इस कारण यह जानकर कि संसारका समस्त समागम असार है, विनाशीक है, मेरे आत्मासे कुछ सम्बध नहीं है। आत्मा स्वयं परिपूर्ण एक पदार्थ है। मेरा कर्ता कर्म, क्रिया प्रयोजन सब कुछ अपने आपमे हैं। जब किसी भी पदार्थका मुझसे कोई सम्बंध नहीं है तो किसी भी विषय पदार्थके सचय करनेमे अपना चित्त क्यों लगाऊं, क्यों भ्रान्त करूं, इससे उपेक्षा रखकर आनन्दके भण्डार स्वयं ज्ञानस्वरूपको ही निहारूं और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वय सुखी होऊं, ऐसी भावना ज्ञानीके है। मनकी शुद्धता होनेसे साक्षात् विकारोंका, कलंकोंका, कर्मोंका विलय हो जाता है और जो शुद्ध मनसे रहता है उसके अपने प्रयोजनकी सिद्धि हो जाती है, क्योकि जब मन रागद्वेष रूप नहीं प्रवर्तता है तो यह अपने स्वरूपमें लीन हो जाता है। यह आत्मा अपने स्वरूपमें लीन हो जाय, मनका विलय हो जाय इससे बढ़कर और समृद्धि क्या है दुनियामें ? क्योंकि इस ज्ञानानुभूतिके समयमे इसे शुद्ध निराकुल आत्मीय उत्कृष्ट पदकी प्राप्ति हो जाती है, यह शान्त और आनन्दमय हो जाता है। अब तत्त्वज्ञानका उपाय बनायें और अपने आपकें लीन होने का यत्न करें।

चित्तप्रपञ्चजानेकविकारप्रतिबन्धकाः ।
प्राप्नुवन्ति नरा नूनं मुक्तिकान्ताकरग्रहम् ॥१०७३॥

विकारप्रतिबन्धक पुरुषोंके मुक्तिलाभका निश्चय—कहते हैं कि चित्तके प्रसारसे उत्पन्न हुए जो नाना प्रकारके विकार हैं उन विकारोंको जो रोक देता है ऐसा पुरुष नियमसे मुक्तिका पात्र होता है। जिसने मन मार लिया, बश कर लिया उसने मोक्षमार्गकी पात्रता प्राप्त कर ली, जिन जीवोंकी जो आखिरी चीज होती है उसका विषय उनके बहुत तीव्र होता है। दो इन्द्रिय जीवोंके जिह्वा है, आखिर उनके रसनाकी लम्पटता बहुत रहती है। तीन इन्द्रिय जीव चींटा चींटी आदि की तीसरी इन्द्रिय है नाक तो उनके नाकका विषय तीव्र रहता रहता है। वे किसी जगह मिठाई रखी हों तो ढूढकर कहीं पहुच जायेंगे। उनके आँख नहीं हैं फिर भी आँख वाला चाहे चूक जाय पर उनका निशाना नहीं चूकता। चार इन्द्रिय जीवों के आँखका विषय तेज है, उन्हें बहुत दिखता है और इतना शीघ्र वे देखकर उड जाते हैं कि आप किसी भी मक्खीको पकडनेके लिए हाथ करें तो उनके निकटसे हाथ चला जाय और वे बचकर निकल जायें, इतना उनके आँखका विषय रहता है और जिनके ५ इन्द्रियां हैं उनके कानका तीव्र विषय रहता है। पक्षी हैं और जीव हैं- उनके कानका विषय तीव्र रहता है। और जिनके मन है, और मनोंमे भी जो श्रेष्ठ मन वाले हैं वे हुए मनुष्य। इनके मनका विषय बडा तीव्र रहता है। यह मनुष्य मनके मारे दुःखी है। उतना इन्द्रिय विषयका दुःख नहीं है मनुष्यको जितना मनका दुःख है। अब मनोंमें मनोंके दो विषय हैं-एक तो दुनियामें यश नामवरी कीर्तिकी चाह और दूसरा है मनोज। सो मनके इन दो विकारों से यह मनुष्य परेशान है और यश नामवरी की तो अभिलाषा हो गयी कि सभी मनुष्य जरा जरा सी बातों मे अपना अपमान महसूस करने लगते हैं। सम्मानकी इच्छा न हो तो अपमान क्यों महसूस करें ? जो लोग ऐसा कहते हैं कि हमारे नामवरीकी चाह नहीं है, पर हमारे विरुद्ध जो कह दे वह हमे नहीं सहन होता। अरे हमारे विरुद्ध कोई कह दे तो इसे सहन नहीं होता इसीके मायने है कसिन्मानकी इच्छा है। सम्मानकी इच्छा हुए बिना अपमान अनुहावना कैसे लगेगा। तो मनका विषय इन मनुष्यों के अतिप्रबल है। देवोंके भी है, नारकियोंके भी हैं और पशुपक्षियोंके भी है पर यह मनुष्य मनके मारे बेहद दुःखी है अन्यथा बतलावो कि अब मनुष्य दुःखी है, खाने पहिनने लायक चीज मिल जाती है पर धनी, भिखारी, मूर्ख पंडित सभीके सभी मनके वश होकर दुःखी हैं। तो जिन्होंने मन मार लिया उन्होंने तो विश्वको जीत लिया है, वे मुक्तिके पात्र हो गए, और जिनका मन वश होता है वे ध्यानके पात्र होते हैं और

आत्मध्यान द्वारा ही मुक्ति प्राप्त हुआ करती है।

अतस्तदेव संरुध्य कुरु स्वाधीनमञ्जसा।
यदि छेत्तुं समुद्युक्तस्त्वं कर्मनिगडं दृढम् ॥१०७४॥

दृढ कर्मनिगडके छेदनके लिये मनसंरोधनका आदेश—हे आत्मन्! यदि तू कर्मोंकी वेडीको छेदनके लिए उद्यमी हुआ है तो तू इस मनको ही समस्त विकल्पोंसे रोककर शीघ्र ही अपने वशमें कर। मनको वशमें किए बिना कर्मोंकी वेड़ी छेदी नहीं जा सकती। पुण्य हो अथवा पाप हो, दोनों ही प्रकारके कर्म वेडीरूप हैं। जैसे किसीको जेल हो जाय। वह चाहे सोने की वेड़ी पहिन ले और चाहे लोहेकी और उसका कमर डंडा लगाकर कस देवे तो दुःख और पराधीनता दोनोंमें एक जैसी है। दोनों ही वेडी पराधीनताके उत्पादक हैं पुण्य और पाप। जिनके पापका उदय है वे दरिद्रता दीनता आदिक अनेक विकल्पोंसे दुःखी हैं, जिनके पुण्यका उदय है वे तृष्णावश दुःखी हैं। चीज मिली तो तृष्णा बढी। जिनको जितना वैभव मिला है वे उतनी ही अधिक तृष्णा कर सकते हैं। एक गरीब आदमी १०-२०-५० रुपये की तृष्णा करेगा और एक करोड़पति करोड़ोंके धनकी तृष्णा करेगा। पुण्यका उदय तो तृष्णा करानेमें सहायक होता है। कोई मनुष्य पापके उदयमें अपनेको दीन हीन विचार विचारकर दुःखी होता है तो कोई पुरुष पुण्यके उदयमें तृष्णा करके दुःखी होता है। तो उसकी आधीनता उसके बधे बधे अपनेको विचार विचारकर दुःखी होते रहते हैं। हे आत्मन्! पुण्यका उदय अथवा पापका उदय दोनों ही वेड़ियां हैं। इनको छेदना चाहते हो तो सबका उपाय एक यह मनका विजय करना है, अतः मनको रोको और कर्मोंकी बेड़ियों का छेदन करो।

सम्यगस्मिन् समं नीते दोषा जन्मभ्रमोद्भवाः।
जन्मिनां खलु शीर्यन्ते ज्ञानश्रीप्रतिबन्धकाः ॥१०७५॥

साम्यभावसे ज्ञानश्रीप्रतिबन्धक दोषोका प्रक्षय—इस मनको भली प्रकार समतामें लगानेसे जीवके ज्ञानलक्ष्मीके आवरण करनेवाले दोष नष्ट हो जाते हैं। इस आत्मामें ज्ञान अपार है ऐसा इसका स्वभाव है। पर उस ज्ञानको रोके कौन है? विषयकषाय रागद्वेष मोहके विकार। निमित्त दृष्टिसे तो यह उत्तर आयगा कि ज्ञानावरण कर्मने आत्माके ज्ञानविकास को रोक रखा है, लेकिन आत्मामें ज्ञान हो तो कर्म रुकेंगे और कर्म भिन्न वस्तु है, आत्मा भिन्न वस्तु है। भिन्न पदार्थोंका भिन्न पदार्थ में कर्तव क्या चलेगा, पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है इस कारण उपचारसे ऐसा कहा करते हैं कि कर्मोंने आत्माका ज्ञानधन लूट लिया। और उपादान दृष्टिसे यह बात कहेंगे कि हमारे ऐबोंने हमारे ज्ञानधनको बरबाद कर दिया। रागद्वेष मोह आदिक विकार ये आत्माके ज्ञानको रोक देते हैं। जिस उपयोगमें रागद्वेष मोह छाया है वहां ज्ञान नहीं आ सकता। रागद्वेष मोहसे रहित आत्मा बने तो इसके ऐसा ज्ञान प्रकट हो जो तीन लोक और अलोकका स्पष्ट ज्ञान करता है, तो ज्ञानको रोकने वाला है रागद्वेष मोह आदिक विकार। इन विकारोंका उत्पादक निमित्त है मन, सो मनको वशमें कर लेनेपर फिर रागादिक विकार भी दूर होंगे और रागादिकके नष्ट होनेसे विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होगा। जीवोंकी चाह केवल दो ही रहती हैं, हमारे खूब ज्ञान बढे और खूब आनन्द होवे। इनके अलावा और कुछ इसकी मांग नहीं है। मूलसे आनन्दका साधन जिसे मान लिया उसकी मांग करते हैं तो दो बातोंकी चाह रहती है जीवोंकी ज्ञान और आनन्द। सो ज्ञान और आनन्द इन दोनोंका बाधक है विकार, विषय। और विषय विकारका साधन है मन। तो मनको रोकनेसे ये विषय विकार रुकेंगे और विकारो के रुकनेसे ज्ञान और आनन्द दोनो असीम प्रकट हो जायेंगे। देखो जब भी कोई आत्मामें तृप्ति आती है, विश्राम जगता है तो अपनी ओर झुकी हालत बन जाती है, परपदार्थोंकी ओर दृष्टि लगाये हुए में सतोषका घूंट किसीने नहीं पिया। जिसे संतोषका घूंट आता है तो अपनी ओर झुककर ही आता है। हर बातमें देख लो परपदार्थों की ओर दृष्टि करनेसे तो तृष्णाका दाह बढ़ता है और अपने आपकी ओर झुकने से सन्तोषरूपी अमृतका घूंट आ जाता है। तो ज्ञान

और आनन्द दोनोंका विकास होनेका अमोघ सत्य उपाय है अपने आपको अकिञ्चन समझना और परपदार्थोंसे उपेक्षा कर लेना यों. परकी दृष्टिसे हटकर जो अपने आपके स्वरूपमे मग्न होता है उसे ज्ञान और आनन्द दोनों प्रकट हो जाते हैं। इसलिए ऐसा ज्ञान और आनन्द आत्मामे स्वभाव है और ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माकी दृष्टि रहे।

एक एव मनोदैत्यजयः सर्वार्थसिद्धिदः।
अन्यत्र विफलः क्लेशो यमिनां तज्जयं बिना ॥१०७६॥

मनोदैत्यजयकी सर्वार्थसिद्धिदता – संयमी मुनियोंको एकमात्र मनरूपी दैत्यका जीत लेना ही समस्त अर्थोंकी सिद्धिको प्रदान करनेवाला है। 'मनके जीते जीत है मनके हारे हार।' लोकमे इसका अर्थ यों लगाते कि सांसारिक कोई कार्य करना हो, किसी शत्रुसे, किसी विरोधीसे भिड़ना हो-तो अपने मनको बलिष्ठ बनायेंगे तो जीत जायेंगे, पहिलेसे ही मनको निर्बल बना लिया तो हार जायेंगे। जैसे लोग दिशाशूलका बडा ख्याल करते हैं, जैसे लोग कहते हैं कि मंगल और बुधको उत्तरकी ओर जानेके लिए दिशा शूल है, चूंकि ऐसा भाव पहिलेसे ही बना लिया था इस कारण पहिलेसे ही कुछ दिल कमजोरसा हो गया। अब वह जो भी काम करेगा वह उसी दुर्बल ढंगसे करेगा। फल क्या होगा कि वह काम अपने आप बिगड़ेगा और काम बिगडनेपर दिशाशूलका एहसान देंगे। अपना मन बलिष्ठ है तो हर एक विभूति पायी जा सकती है। मन बलिष्ठ नहीं है तो हर जगह विपत्ति पायी जा सकती है, कहीं भी विजय नहीं पायी जा सकती। पापका कार्य कोई करे तो उसका मन बलिष्ठ रह ही नहीं सकता। तो ऐसे दुर्बल मनसे कोई व्यवहार करेगा तो उसका लक्षण व्यवहार होगा तब वह अपने आपको हारमें ही पायेगा। जिन्हें समस्त अर्थोंकी सिद्धि करना है तो इस मनरूप दैत्यको जीत लें। मनको जीते बिना व्रत नियम तप और शास्त्र स्वाध्याय आदिकमे क्लेश करना व्यर्थ है। मन विषयोंकी ओर रहे और धर्मके नामपर अन्य कषाय ही कषाय करता रहे तो जो विषैला मन है, जो विषयोंमे आसक्ति रखता है उस मनवाले पुरुषको व्रत नियमसे कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। अत अर्थकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषोंको इस मनदैत्यका जीतना बहुत आवश्यक है। इस मनका जीतना किस प्रकार होगा? उसका उपाय है मूलमें भेदविज्ञान। किसमें मन लगाना? लोकमें हमारा नाम रहे। अच्छा किन लोगोंमे आप अपना नाम चाहते हैं? जो खुद मर मिटेंगे, जो स्वयं मलिन हैं, ससार मे भटकते हैं इन लोगोमे नाम चाह रहे। उससे क्या लाभ होगा? जब भेदविज्ञान जगता है मैं तो सर्वत्र अपना ही परिणमन किया करता हूँ, दूसरेका कुछ नहीं करता और दूसरे लोग भी सब अपना-अपना ही काय करने है, अपने ही प्रदेशोंमे परिणमते हैं, वे कोई मेरा कुछ नहीं करते। भेदविज्ञान जगे, फिर नाम यशकी चाह कौन करेगा? इसी प्रकार सब विषयोंकी बात है। अपने आपको सारशरण तो खुद आत्मा है। इस बातका जिसे परिचय हो जाय फिर वह क्यो विषयोंमे रति बनायेगा? तो विषयोकी प्रीति हटे, मनपर विजय प्राप्त हो, यह सब भेदविज्ञानसे सिद्ध होगा। भेदविज्ञान बनेगा वस्तुका स्वरूप पहिचाननेसे। और वस्तुके स्वरूपकी पहिचान होगी स्याद्वादसे। तो यह स्याद्वादका उपाय हमारे समस्त कल्याणोंमें एक प्रधान साधन है। उस स्याद्वादसे हमने वस्तुस्वरूप जाना। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है। सो सभी पदार्थ अपने आपमे ही उत्पाद करते हैं, व्यय करते हैं और ध्रुव रहते हैं। ऐसा समस्त पदार्थोका स्वरूप है कि वे अपने ही स्वरूपमे रहकर नई स्थितियाँ बनायेगा, पुरानी स्थितिया विलीन करेगा और वह सदा शाश्वत वह ही रहेगा। इस प्रकार उत्पाद व्ययध्रौव्य प्रत्येक पदार्थमे स्वय अपने आपमें है तब किसी पदार्थसे किसी दूसरे पदाथका सम्बध क्या? कोई किसीका अधिकारी नहीं, कोई किसीका स्वामी नहीं। जब यह भेदविज्ञान जागृत होता है तो वहाँ वस्तुस्वरूप समझ मे आया और मोह वहाँ मिट गया। मोह दूर हुआ कि सारे सकट दूर हो गए। जितने भी सकट है वे सब मोहके बलपर ही अपना बल बना रहे हैं। मोह मिटा कि समस्त संकट समाप्त हो गए। जिनको समस्त

संकटोंसे मुक्त होनेकी चाह है उनका प्रधान कर्तव्य है कि वे इस मनदैत्यपर विजय प्राप्त करें।

एक एव मनोरोधः सर्वाभ्युदयसाधकः।
यमेवालम्ब्य संप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम् ॥१०७७॥

मनोनिरोधकी सर्वाभ्युदयसाधकता—एक मनको रोकना ही समस्त अभ्युदयोंका साधनेवाला है। क्योंकि मनके निरोधका आलम्बन करके ही योगीश्वर तत्त्वके निश्चयको प्राप्त होते हैं। निश्चय निर्णय सम्यग्ज्ञान किसके कहलाता है। जिसने मनपर विजय प्राप्त कर लिया उसे लोग अब भी ज्ञानी पंडित कहते हैं। जिसका आचरण दूषित हो, पापोंमें लगता हो तो कहते हैं कि इसको ज्ञान हुआ कहाँ? चाहे बड़े-बड़े वाक्य छंद व्याकरण, ज्योतिष बड़ी-बड़ी विद्यावोंका जानकार बन गया हो, पर आचरण हो दूषित तो लोग कहते हैं कि इसने ज्ञान कुछ नहीं पाया। तो ज्ञान तभी कहा जाता है जब आचरण सही बनने लगता है। तो जिन मुनियोंने मनका निरोध किया है उन्हें समस्त अभ्युदय सिद्ध होते हैं और तत्त्वका निश्चय उनके ही होता है ऐसा हम निर्णय करते हैं। मनके निरोधसे ही समस्त समृद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। जब तक किसी ऋद्धिसिद्धिकी चाह बनी रहे तब तक ऋद्धियाँ उत्पन्न नहीं होतीं और जब चाह नहीं रहती तो ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं। जगतमें यही तो एक रोना है कि जब हम समृद्ध होते हैं तो चाह नहीं रहती है, जब हमारे चाह रहती है तो समृद्धि नहीं मिलती। फिर काहेका जगत में आनन्द है? मुनीश्वरोंके अनेक ऋद्धियां पैदा हो जायें उनको पता ही नहीं रहता कि हमें कुछ चमत्कार उत्पन्न हुए हैं। किसीको जानकारी हो जाय तो ऐसी सिद्धि उत्पन्न होती है कि वह धर्मरक्षा करनेमें समर्थ है। तब वह परीक्षा करता है और निश्चय करता है कि हमारे यह सिद्धि प्राप्त हुई है। तो यह चाह तो समृद्धिमें बाधा देनेवाली है। चाहसे लाभ कुछ नहीं है बल्कि नुक्सान ही नुक्सान है। तो एक मनको रोकनेसे समस्त अभ्युदयोंकी सिद्धि होती है और मनको रोकनेवाले मुनीश्वर ही वास्तवमें तत्त्वके निश्चय को प्राप्त होते हैं यह कहा जा सकता है। जैसे बड़े-बड़े सम्यग्ज्ञानियोंकी कथायें कहें तो जो उच्च विरक्त और प्रयोगरूप परिणतिवाला है वह कमसे कम छटती है बात। फिर सच बात क्या है? उससे कोई पूछे और उसे विवश कर दे कि फिर सच बतावो क्या है तो वह विरक्त होकर सबसे स्नेह तजकर जंगल को चल दे। बस अब सब लोग अपने आप समझ जायें कि सच बात क्या है? जैसे भोजन भोजन हलुवा हलुवा कहनेसे किसीका पेट तो नहीं भरता, खाते हैं तब पेट भरता है, ऐसे ही धर्मकी बात मुखसे कहते रहनेसे तो वह चमत्कार नहीं बनता वह धर्मकी बात प्रयोगरूपसे अपनेमें उतार लें तो उससे लाभ हुआ करता है। तो जब तक हम प्रयोग नहीं करते अपनी जानी हुई धर्मविधिका तो कुछ उससे लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। तो तत्त्व निश्चय हमारा तब कहा जायगा जब हम मनको वशमें कर लें।

पृथक्करोति यो धीरः स्वपरावेकतां गतौ।
स चापलं निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मनः ॥१०७८॥

स्वपरभेदविज्ञानका माहात्म्य—जो धीर वीर पुरुष एकत्वको प्राप्त हुए—आत्मा और शरीर आदिक वस्तुवोंका पृथक् पृथक् अनुभव करते हैं वे ही अन्तरात्मा हैं और वे ही मनकी चंचलताको रोकते हैं। यह देह और जीव इस समय एकत्वको प्राप्त हैं। बड़ा दृढ बन्धन है। शरीरके रग-रगमें आत्मप्रदेश हैं। आत्मप्रदेश सब शरीरोंके एक क्षेत्रावगाह हैं ऐसे एकत्वको प्राप्त हुए हैं, फिर भी जो ज्ञानी पुरुष हैं, अन्तरात्मा जन हैं वे इस मिले हुए देह और आत्माको पृथक् कर डालते हैं, स्वरूपदृष्टि द्वारा इस शरीरको और अपनेको पृथक् मान लेते हैं और परिचय भी कर लेते हैं, शरीरसे न्यारा आत्मतत्त्वका अनुभव भी कर लेते हैं। ये सब बातें तत्त्वज्ञानसे बनती हैं और उसी तत्त्व ज्ञान से ध्यानकी साधना बनती है। तो ध्यानके अंग हैं मुख्य आत्मविश्वास, आत्मविज्ञान और आत्म रमण। इससे अपना उद्यम किया जाय तो अपने इस दुर्लभ नरजीवनकी

प्राप्ति समझिये सफल हो गयी और एक अपने आपको रत्नत्रयधर्म न पाया जा सका तो जो मिला है यह सब खो दिया समझिये। जैसे कि मिला हुआ रत्न कोई समुद्रमें फेंक दिया जाय। हम ज्ञानार्जनकी ओर बढ़ें और मोहभावको दूर करें, यह कर्तव्य बने तो हम आप कल्याण पा सकते हैं।

मनःशुद्धयैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ॥१०७९॥

मनशुद्धिसे वास्तविकी शुद्धिकी सिद्धि—मनकी शुद्धिसे ही जीवोंकी शुद्धता मानी गयी है। जिनका मन तो पवित्र न हो, विषय कषायोंमें रत रहा करते हों, दूसरे जीवोंके प्रति ईर्ष्या मात्सर्य द्वेष रखते हों वे चाहे शरीरसे कितना ही सुन्दर हों और बहुत बड़े सागरोंके जलसे भी नहाया गया हो तो भी उनके पवित्रता नहीं मानी गयी है और जिनका मन शुद्ध है वे चाहे शरीरसे किसी अपवित्र स्थितिमे भी हो, बीमार हों, मलमूत्रका लपेट हो, किसी भी स्थितिमे हों तब भी वे पवित्र होते हैं। आत्माकी पवित्रता आत्माके शुद्ध आशयसे बनती है। अशुद्ध आशयसे तो आत्मा अपवित्र ही है। मनकी शुद्धि न हो तो मात्र शरीरको क्षीण करना यह तो व्यर्थ बात है। मन पवित्र है नहीं और उपवास तपश्चरण आदिकसे या अनेक कायक्लेशोंसे शरीरको सुखा रहे हैं तो वह व्यर्थ की बात है, यद्यपि वह भी व्यवहार साधन है पर किसलिए है, यह कायक्लेश किसलिए हैं ये सब बाह्य तप ? इसका मतलब तो आना चाहिए, वह सब है आत्माकी पवित्रता। सो मनकी शुद्धि ही जहां नहीं है वहाँ आत्मा पवित्र कैसे हो सकता है ? स्वयंभूरमण समुद्रमे २ प्रकार के मच्छ रहते है, एक महामत्स और एक तंदुलमत्स। महात्सके तो हजार योजनको अवगाहना है और तदुलमत्स अत्यन्त छोटा होता है जो महामत्सकी आखमें भी घुसा रहे। तदुलमत्स जब यह देख रहा है कि यह महामत्स अपना मुंह बाये है और हजारों मछलियां उसके मुखमें लोट रही है तो सोचता है यह कि इसकी जगह यदि मैं होता तो एक भी मछली बाहर न निकलने देता, सबको भख लेता। तो उसके ऐसा पापका बध होता है कि वह सप्तम नरकमे जाता है। हिंसा नहीं कर सकता मगर हिंसाका भाव हो गया तो उससे पाप बध गया। जो कर्म बधते हैं वे आत्माके परिणामका निमित पाकर बनते हैं। अब सोच लीजिए कि रातदिन परिग्रहों की तरफ चित्त जुटाये रहना, विषयसाधन पोजीशन की ओर चित्त लगा रहना यह कितना बडा भारी पाप है और हम आप यह सब अपने आत्मप्रभुपर अन्याय कर रहे हैं। अपनी दृष्टि हो, आत्महितका भाव हो तो जीवको शान्तिका रास्ता मिल जायगा, मगर दुनियामे ही अपनेको बडा बनाना या और और तरह से अपनेको नामी बनानेकी धुन हो तो वहा शान्तिका मार्ग नहीं मिल सकता।

ध्यानशुद्धि मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम्।
विच्छिनत्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम् ॥१०८०॥

मन शुद्धि होनेसे ध्यानशुद्धि व कर्मजालछेदन मनकी पवित्रता केवल ध्यानकी शुद्धताको ही नहीं करती किन्तु जीवोंके भव-भवके बाधे गये कर्मोंके समूहोंको भी नष्ट कर देता है। विचार सुन्दर हों, पवित्र हों इसीके मायने है मनकी शुद्धता। सब जीव सुखी हों प्रथम तो यह आशय बने तो मनकी पवित्रता जगेगी। ससारके किसी भी जीवको विरोधी न समझे तो मनकी पवित्रता बनेगी, विरोधी तो कोई दूसरा जीव है ही नहीं। जिन्हें हम विरोधी समझते हैं वे विरोधी नहीं हैं किन्तु उन्हें स्वय स्वाथ लगा है, स्वय कोई इच्छा है, कषाय है तो वे स्वय अपनी कषायोंकी वेदना मेटनेका यत्न कर रहे हैं। किसी भी परद्रव्यपर मेरा विरोध क्या ? जगतसे मेरा कोई विरोधी नहीं। सब जीव सुखी हो, इस प्रकारकी भावना होना, सब जीवोंके प्रति मित्रताका परिणाम रहना यही है मनकी पवित्रता। जिसका मन पवित्र होता है वह गुणग्राही होता है, दोषग्राही नहीं होता, गुणियोंको देखकर वह हर्ष मानता है। अहो जिस गुणके विकासका नाम मोक्ष है, परम पद है उस गुणके विकासके लिए उद्यमी महापुरुषोंका समागम प्राप्त हुआ है। धन्य है वे गुणीजन जिनकी उपासना के

प्रसादसे मेरे भी ऐसा ही गुणविकास हो। जिनका मन पवित्र है वे गुणियोंके गुण देखकर हर्ष मानते हैं। व पत्र मनवाले दुखियोंके दुःखको देखकर भरसक प्रयत्न करते हैं कि इनका दुःख दूर कर दें। दूसरेको दुःखी करनेका भाव नहीं बनाते हैं। जिनका मन पवित्र है वे विपरीत बुद्धिवाले पुरुषों में अर्थात् जो रोगी हैं, द्वेषी हैं, उद्दण्ड हैं, अपनेसे विपरीत भाव रखते हैं ऐसे पुरुषों को निरखकर मध्यस्थ भाव रखते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष अपने ही समान जगतके समस्त जीवोंमें शुद्ध चैतन्यस्वरूप निरखते हैं। मेरा कोई विरोधी नहीं। सभी जीव अपना अपना परिणाम लिए हैं यों पवित्र मन वाला पुरुष अन्य जीवों को भी अपने ही स्वरूपके समान विशुद्ध चैतन्यमात्र मानता है। ऐसे पवित्र आत्मावों के जो मनकी पवित्रता है उससे ध्यान भी विशुद्ध होता है, चित्त एकाग्र होता है और भव भवके बांधे हुए कर्मजालों को भी काट देता है।

पादपङ्कजसंलीनं तस्यैतद्भुवनत्रयम् ।
यस्य चित्तं स्थिरीभूय स्वस्वरूपे लयं गतम् ॥१०८१।

स्थिरचित्त पुरुषोंके चरणमे भुवनत्रयकी संलीनता—जिस मुनिका मन स्थिर होकर आत्मस्वरूपमें लीन हो गया उस मुनिके चरणकमलोंमें ये तीन लोक भली प्रकार लीन हुए समझना चाहिए। सबसे बड़ा काम है यह आत्मा आत्मामें लीन हो जाय। यह आत्मा भागा फिर रहा है बाह्य पदार्थोंमें और भागने के लिए इसके पैर हैं ज्ञान विकल्प। विकल्पो से इतना जल्दी दौड जाता है यह आत्मा कि यहांसे बम्बई करीब एक हजार मील होगा, पर बम्बई पहुंच जानेमें इस मनको पाव सेकेण्ड भी न लगेगा। मनकी गति सबसे अधिक तेज मानी है, इतनी जल्दी बिजली भी नहीं पहुंच सकती है, हवा भी नहीं पहुंच सकती है, शब्द भी नहीं पहुच सकते हैं, कुछ भी नहीं पहुंच सकता, और बम्बई, रूस, अमेरिका आदिकी बात जाने दो—सर्वार्थसिद्धिकी चर्चा जो जानते हों वे वहां भी एक चुटकीमें पहुंच जाते हैं। मनकी गति अत्यन्त तीव्र है और मनकी गति अबाध है, बीचमें कितने ही पहाड वज्रपटल आते हैं पर वे इस मनको रोक सकते हैं क्या? वह मन क्या है? एक प्रकारका ज्ञान है। विषयों को बाह्यपदार्थों को आश्रयमें लेकर उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है उसीको ही मन कहते हैं। तो मनकी गति अत्यन्त तीव्र है। इस मनको रोककर जिन्होंने अपने आत्मामें स्थिर कर लिया है उन्होंने इन तीनों जगतको अपने आप में लीन कर लिया है। सब चीजें मिल सकती हैं कि नहीं किसीको? दुनियाके जितने पदार्थ हैं वे सब मिल सकते हैं। किस उपाय से? उनकी चाह न रहे, लो सब मिल गए। अरे जब चाह रहेगी तो मिलेंगे नहीं और जब चाह ही न रही तो समझो सब कुछ मिल गया। तो जिसने अपने वशको वशमें कर लिया है, समझो उसने विश्वका सकल साम्राज्य पा लिया। क्या जरूरत है? और भक्तजन भी, कल्याणार्थी महापुरुष भी उनके चरणकमलोंका ध्यान करते हैं जिन्होंने इस मनपर विजय प्राप्त कर लिया है। प्रकृति देखलो—आपका चित्त उनकी भक्तिमें लगेगा जिन्हें आप यह समझें कि ये संसारकी आशा नहीं रखते, सब आशाओं से दूर हैं, परिग्रहों से दूर हैं, किसी भी विषयकी साधना नहीं चाहते। ऐसा आप जिनके बारेमें समझते होंगे उनके प्रति आपका गुणानुवाद नियमसे जगेगा और जिसे आप समझ लें कि यह तो क्रोधी है, अपनी वाञ्छायें रखता है, पञ्चेन्द्रिय के विषयोंकी आकांक्षायें रखता है, खान पीने का अधिक लालची है ऐसे पुरुषके प्रति आपको गुणानुवाद नहीं जगता। तो जिन्होंने मनपर विजय किया उनके प्रति तो यह एक जगत है। जो इस जगत के ही माफिक विषयों में ही लीन हों उसमें क्या भक्ति जगेगी?

मनः कृत्वाशु निःसङ्गं निःशेषविषयच्युतम् ।
मुनिभृङ्गैः समालीढं मुक्तेर्वदनपङ्कजम् ॥१०८२॥

निःसंग व विषयच्युत मनवाले मुनियोकी मुक्तिपात्रता—जिन मुनिरूपी भ्रमरों ने अपने मनको निष्परिग्रहतासे समस्त विषयों से छुडा लिया है उन्होंने ही इस मुक्तिके वदन पंकजका आ[illegible]

प्राप्त कर सकते हैं । 'दोय काज नहिं होय सयाने ।, विषयकषाय और मोक्षमे जाने ॥' मोक्ष और ससारके विषय कषाय ये दोनों बातें एक साथ नहीं बन सकतीं । मोक्ष नाम है केवल रह जानेका । आत्माके साथ अन्य कोई द्वंद-फद न रहे, शरीर कर्म विकार चिन्ता शोक आदिक जो लगे हुए हैं उन सबसे न्यारा यह आत्मा केवल रह जाय इसीके मायने हैं परमात्मपद । इसी परमात्मपदकी भावना भानी चाहिए भगवानके दर्शनके समय । अकेला आत्मा ही आत्मा रह गया, इस कारण अनन्त आनन्द भोग रहे हो, ऐसी ही सुबुद्धि मेरी जगे कि मैं भी समस्त परपदार्थोंका रागद्वेष मोह छोड दू और आपके समान मैं सबसे न्यारा अकेला आत्माराम रह जाऊं । यह भावना भायी जाय तो समझो कि हमने दर्शनका लाभ पाया । जो मुनि योगीश्वर अपने मनको निसग विषयोंसे विमुख बनाते हैं वे ही मोक्षका आनन्द प्राप्त करते हैं ।

यथा यथा मनःशुद्धिर्मुनेः साक्षात्प्रजायते ।
तथा तथा विवेकश्रीर्हृदि धत्ते स्थिरं पदम् ॥१०८३॥

मन शुद्धिकी प्रगतिके अनुसार विवेकश्रीकी प्रगति व स्थिरता—जैसे जैसे मनकी शुद्धि बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे भेदविज्ञानरूपी लक्ष्मी हृदयमे स्थिर और दृढ़ होती जाती है । मनकी शुद्धि होनेसे उत्तरोत्तर विवेक बढ़ता है । मन विषयोंमे पगा हो, इसका नाम है मनकी अशुद्धि और मन विषयोंमे न पगा रहे, विषयरहित निर्दोषपरमात्मस्वरूपमे मन लगे तो उस मनको कहते हैं पवित्र मन । मुनिके जैसे-जैसे मनकी पवित्रता बढ़ती जाती है उनमें भेदविज्ञान भी बढ़ता जाता है । भेदविज्ञान नहीं होता तब ये चेतन, अचेतन, वैभव बड़े प्रिय लगते है । जहाँ भेदविज्ञान जगता तब प्रिय नहीं लगते । देखो देखनेमे ये सब शरीर कितने सुहावने लगते हैं । जब कि एक बाह्यदृष्टि रखी जाय और जब इनके स्वरूपको देखा जाय कि है क्या यह शरीर ? ऊपरसे यह चाम मढा हुआ है और भीतर खून, पीक, नाक, थूल, मल, मूत्र, मांस, मज्जा आदि सारी अपवित्र चीजें भरी हैं । ऊपरका चाम भी अशुद्ध है । अनेक मलोंसे पूरित यह शरीर है । जब राग कम हो तो ऐसा दिखता है और जब राग अधिक है तो हड्डी रुधिर आदिपर कहाँ दृष्टि जाती है ? इसे यह सब कुछ सुन्दर दिखता है । धनवैभवसम्पदाकी बात देखो तो जब व्यवहारदृष्टिमें लगे है तो ये सब धन-धान्य चाँदी स्वर्ण रकम पैसा, जायदाद ये सब कितने सुहावने लगते हैं, जिसे देख देखकर इतराते हैं और जब भेदविज्ञानकी दृष्टि बनती है तो ये तो सारे परपदार्थ हैं, इनसे तो हमारा रंच भी सम्बंध नहीं है । मैं अपने स्वरूपकिलेमे बैठा हूँ, सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमे रहते हैं । जैसे भिखारीका जीव सब पुद्गलोंसे न्यारा है ऐसे ही यह मैं भी सब पुद्गलोंसे न्यारा हूँ । मैं केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ ऐसा जब यह भेदविज्ञानसे देखता है तो इसे वैभव आफत मालूम होने लगता है । जब कोई धनिक पुरुष मरने लगता है तब उसको ये धन वैभव आफत मालूम होने लगते हैं । कहाँ छोड़ूं कहाँ ले जाऊं, किसको दे जाऊं, ये सब वैभव बाहरी व्यवहारदृष्टिसे तो भले जचते हैं किन्तु जब भेदविज्ञान जगे तो यह वैभव सम्पदा भी इसे भार मालूम होता है । सम्यग्दृष्टि जीवको तो भार ही मालूम देता है । मैं इन सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ । मेरा करतब, मेरा कर्तृत्व, मेरा भोक्तृत्व, मेरी दुनिया सब कुछ मेरे प्रदेशोंमें ही समाया है । प्रदेशोंसे बाहर मेरा कुछ करतब नहीं, भोक्तृत्व नहीं, स्वभाव नहीं, कुछ भी नही है । मैं केवल अपने ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र हूँ, किन्तु जब अपने इस स्वरूपसे डिग जाता हूँ, अपने निज प्रदेशोंमे टिक नहीं पाता हूँ तो बाहर-बाहर ही विषयोंमे दौड लगाता हूँ और दुःखी होता रहता हूँ । ये समस्त परिग्रह भाररूप हैं । ध्यानमे बाधा देनेवाले मनकी शुद्धि बिगाड़नेके कारण हैं । तत्त्वज्ञानी पुरुषको ये समस्त परिग्रह भाररूप मालूम देते है । जब भेदविज्ञान बढ़ता है, जब बाह्य पदार्थोंसे सही मायनेमे हटते हैं और अपने स्वरूपमे मग्न होते हैं, बस वही निज पवित्रता है । वे ही पुरुष महन्त हैं, उनके गुणानुरागसे अपना उद्धार सम्भव है ।

चित्तशुद्धिमनासाद्य मोक्तुं यः सम्यगिच्छति ।
मृगतृष्णातरङ्गिण्यां स पिबत्यम्बु केवलम् ॥१०८४॥

चित्तशुद्धिके बिना मुक्तिकी असभवता—जो पुरुष मनकी शुद्धता तो पा न सके और मुक्त होनेकी चाह रखता है उसका यह करतब यों है जैसे कि कोई मृगतृष्णाकी नदी में जल पीना चाहता हो, मृगतृष्णा एक जलकी तरह चमकने वाली रेतका नाम है। रेगिस्तानमे दूरकी रेत यो चमकती है जैसे पानी भरा हो और वहाँ पानी पीनेकी चाहसे कोई हिरण दौडता है, पर ज्यों निकट पहुचा, कुछ गर्दन उठाया तो पानी उतना का ही उतना दूर मालूम होता है। आगे की रेत पानी जैसी मालूम होती है। तब यह और आगे बढता है। इस तरह पानीकी आशा मे बढता जाता है,वह पानी है आ पीना है, यों पानीकी तृष्णा रखकर बढता चला जाता है। परिणाम यह होता है कि एक तो प्यासा था ही, दूसरे प्यास मिटानेके लिए जो उसने श्रम किया उससे और अधिक थक गया, प्यास और बढ़ गई और अपने प्राण गवां देता है। ऐसी ही इस तृष्णावी मनुष्यकी हालत हो रही है, जो विषय प्राप्त किया है वे तो पा ही लिया है, उनमें वह सुख तो देख नहीं रहा। तो बड़े विषय नहीं पाये हैं, ऐसे जो बाहरके साधन हैं उनमें आशा लगाये है कि सुख इसमे होगा। पर वहा निकट पहुच जाय, वहाँ भी सुख नहीं मालूम होता। तब फिर और बाहरके विषयसाधनोंमे सुखकी आशा रखते हैं, यों आशा आशामे ही सारी जिन्दगी दौड लगा लगाकर अपनेको थकाकर शिथिल कर लेते हैं, अन्तमे मरण होता है। मरण के बाद इसके साथ अन्य कुछ नहीं जा सकता। केवल जो पाप कमाया, वासना बनाया वह साथ जाती है। इस ससारमे रहना एक बहुत टेढ़ीसी खीर है, एक बडी विकट समस्या है, क्योंकि जहाँ जाय वहाँ विश्राम नहीं, और मोह ऐसा लगा है कि बाह्य पदार्थोंमे घमड जाये विना यह चैन नहीं मालूम करता। सो जहाँ-जहाँ जाता है, जिन जिनके निकट जाकर प्रीति करता है वहीं-वहीं से इसे धोखा मिलता है। कदाचित् थोडी देर के लिए रागमें यह मान लिया जाय कि देखो मैं स्त्री पुत्रोंके निकट गया तो वहाँसे सुख तो मिला। केवल एक कल्पना बनाली कि हम बड़े चतुर हैं और बड़े भाग्यशाली हैं। जगतमे जितना भी पदार्थोंका सयोग है वह नियमसे दूर होगा और जब तक लगा भी है सयोग तब तक भी कोई पदार्थ चाहे चेतन हो या अचेतन हो, मेरे लिए कुछ नहीं करता। सभी जीव जो कुछ किया करते हैं वे सब अपने खुदके लिए करते हैं। जिसमें उन्होंने विश्राम समझा, मोह समझा उन चेष्टावोंको वे किया करते हैं। मेरे लिए कोई कुछ नहीं करता। यों जब भेदविज्ञान जगे सबका काम उनका उनमे ही, उनके द्वारा ही उनके ही लिए उनसे ही देखा करें कि समस्त पदार्थोंके स्वरूपको केवल उसमें ही निहारा करें तो इस जीवका मोह टूटेगा और मोह मिटा कि आत्माको शान्तिका रास्ता खुल गया। जब तक मोह है तब तक प्रभुके दर्शन भी नहीं हो सकते, शान्तिपर तो चलेगा ही क्या? इन सब समृद्धियोंको पानेके लिए हम आपका कर्त्तव्य है कि हम मनकी पवित्रता बनायें। मनकी पवित्रता यही है कि मनमे किसी भी जीवके प्रति विरोध और दु खकी बात न सोचें। कोई विरोधी भी हो तो मेरा भाव मेरा साथी है, उसका फल वह पायगा। मैं अपने मनमें किसी भी जीवके प्रति विरोध क्यों रखू, ऐसा निर्विरोध मन बनायें तो वह है मनकी शुद्धि। मनकी शुद्धिसे ही ध्यानकी सिद्धि होती है।

तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्ध्येयं तत्त्वमेव वा।
येनाविद्यामतिक्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरीभवेत् ॥१०८५॥

अविद्याको हटाकर तत्त्वमे मनको स्थिर करनेवाले योगियोंके ध्यान विज्ञानकी श्रेष्ठता—जिस उपायसे अविद्या दूर हो और तत्त्वमे मन लगे उस ही उपायके होनेपर समझिये ध्यान ठीक बना, विज्ञान सही हुआ और ध्येय तत्त्वकी प्राप्ति हुई। वह धर्म और कल्याणके लिए प्रयत्न है। उन सब उपायोंमे यह बात करना है कि यह मन बाहरी पदार्थोंमें न डोलकर केवल आत्माके अत तत्त्वमें स्थिर हो जाय, यह बात ध्यानसे बनेगी। तो ध्यान वही उत्तम है जिस विज्ञानसे बनेगी तो ज्ञान एक वही उत्तम है और ध्येय तत्त्व भी यही है कि विकल्प न बने और आत्मामें निर्विकल्प स्थिति जग जाय। इसके अलावा अन्य प्रकारका कुछ भी ध्यान किया जाय वह एक संसारका ही बढानेवाला है। चाहे वैभवका ध्यान हो, इज्जतका ध्यान हो, किसी भी प्रकारका

ध्यान हो वह एक संसारवर्द्धक है। मात्र एक ज्ञानरूप अनुभव जगे वह ध्यान ध्यान है। ज्ञान विज्ञान भी अनेक होते हैं। ऊंचे से ऊंचे आविष्कार बड़े-बड़े संहार आविष्कार किन्तु उन आविष्कारोंसे यह तो बतलावो कि आविष्कार करनेवालेका भला हुआ या उपयोग लेनेवालेका भला हुआ? सारा विश्व आविष्कारकी धुनमें लगा है। इसलिए आज कोई देश आविष्कारमें पिछड़ा रहे तो उसकी खैर नहीं है। इस कारण सबको करना पड़ता है पर कुछ सोचिये तो सही, न होती सारे विश्वमें यह बिजली, न होते सारे विश्वमें ये रेडियो सनीमा तो क्या बिगाड था? अब यों बिगाड है कि कुछ देशोंमें है और कुछमें न हो तो बिगाड की बात आये। जो चाहे उसे दबा लेगा। रेडियो वगैरहके साधन न होनेसे व्यवस्था ठीक न बनेगी। रखना पड रहा है, पर न होता तो शान्ति थी क्या? शान्ति ही थी। बहुत बड़े-बड़े तीव्रगामी यान निकले हैं। ये न होते आज तो क्या उससे कुछ बिगाड़ था? सुधार ही था, शान्ति थी। लेकिन जितने-जितने ये नये ज्ञान विज्ञान चले, सो विज्ञान आविष्कार निकालनेवालेने अपना जीवन खपाया और उनका प्रयोग करनेवालोंकी भी आदत बिगड़ी लाभ कहीं कुछ नहीं होता। करना पड़ता है, यह बात अलग है। लेकिन ज्ञान विज्ञान तो वही उत्तम है जो ज्ञान ज्ञानमय आत्मामें लीन हो जाय, निर्विकल्प बन जाय, जन्म मरण मिट जाय, ऐसा उपाय बनावें, कर्मकलंक दूर हो जायें, ऐसे निज तत्त्वका ज्ञान होना यह ज्ञान है और ध्येय भी यही है। लोकमें किस पदार्थका ध्यान करें तो मिलेगा क्या? कोई पदार्थ छूटे तो सही। लोककी इज्जत प्रतिष्ठा धन वैभव परिजन कुटुम्ब मित्रजन कौनसी चीज ऐसी है जिसका ध्यान किया जाय, जिसमें चित्त लगाया जाय तो आत्माका कल्याण हो? बाहरमें कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, केवल एक आत्मामें जो आत्माका सहज स्वभाव है वही सारभूत है। उसमें चित्त लगा तो सदाके लिए दुःख दूर हो जाय। ये नाना प्रकारके विज्ञान और आविष्कार करके इस भवमें मायामयी पुरुषोंके द्वारा कुछ यश लूट लिया, पर जन्म मरणकी परम्परा तो न कटेगी और जो जन्म मरणकी परम्परा काट दे ऐसा कोई ध्यान करे तो लाभमें यह जीव रहा। इस कारण यह श्रद्धानमें होना चाहिए कि ध्यान है तो आत्मध्यान ही श्रेष्ठ है, विज्ञान है तो आत्मविज्ञान ही श्रेष्ठ है और ध्येय तत्त्व है कौन? जिसमें कि हम निरन्तर चित्त बसाये रहा करें तो वह है आत्मतत्त्व। एक आत्माका ध्यान बने, मनकी शुद्धि बने, चित्तमें निरोध हो तो शान्तिका मार्ग पाया जा सकता है।

विषयग्रासलुब्धेन चित्तदैत्येन सर्वथा।
विक्रम्य स्वेच्छयाऽजस्रं जीवलोकः कदर्थितः ॥१०८६॥

विषयग्रासलुब्ध चित्तदैत्येक द्वारा जीवलोककी कदर्थितता— इस चित्तरूपी दैत्यने जो विषयोंके ग्रासका लोभी बन रहा है उसने अपनी इच्छासे बड़ा ऊधम मचाकर इस सारे जीवलोकको कतर डाला है। है क्या संसारमें दुःख? सिवाय एक चित्त स्वच्छन्द यहाँ वहाँ लगता फिरना, बस यही एक मात्र क्लेश है। जहाँ बैठा बैठा रहे, जहाँ आत्मा है बना रहे, उसमें ही इसकी लीनता रहे तो समस्त समृद्धियां हैं, लेकिन चित्त नहीं जमता और जगह-जगह डोलता है, चेतन अचेतन परिग्रहोंमें यह चित्त डोला करता है। तो इसका विलय करके इस जीव लोकको कदर्थित कर देना है। जिन्होंने अपने चित्त राक्षसको वश किया वे ही योगी जन त्रिलोक पूज्य होते हैं। कुछ पुण्यका उदय आता है तो यह चित्त-राक्षस और विशेष ऊधम मचाता है और इस ऊधमके कारण यह पुण्य भी नरक गतिका कारण बन जाता है। पुण्यका उदय हो, वैभव प्राप्त हो, चित्त स्वच्छन्द फिरे, किसी भी जीवको कुछ न गिने, अपने आपमें अहंकार और घमंडमें रहे और इस तरह अज्ञान अंधेरेसे जीवन व्यतीत किया, परिणाम यह हुआ कि उसे मरकर दुर्गतिमें जाना पडता है। यद्यपि दुर्गतिका कारण पापपरिणाम है, पुण्यका उदय नहीं है, पर पुण्यके उदयमें ऐसे साधन मिले कि जिनकी वजहसे इसने पापपरिणाम उत्पन्न किया और फल यह हुआ कि दुर्गति प्राप्त की। इससे जगतमें अगर कुछ पुण्यके ठाठ भी दिख रहे हैं अथवा पुण्यके ठाठ भी प्राप्त हुए हैं तो ये सब रमनेके योग्य नहीं हैं, यह तो सब धोखा है। एक आत्माका सत्य विज्ञान भेदविज्ञान बने, यही मात्र जीवको शरण है।

अवार्यविक्रमः सोऽयं चित्तदन्ती निवार्यताम् ।
न यावद्ध्वंसयत्येष सत्संयमनिकेतनम् ॥१०८७॥

चित्तदन्तीके शीघ्र निवारणमें हित—जीवका भला जीवन बिताने वाला है शुद्धाचरण । जो लोग सदाचारसे रहते हैं उनके दसों साथी हो जाते हैं । जो पुरुष दुराचारी हो, हिंसक हो, कुशील हो, झूठा हो, चोर हो, उसकी कौन मदद करता है ? तो दूसरे लोग भी यदि आपका साथ देते हैं तो आप कोई खास नहीं है जिस वजहसे साथ दे रहे हैं, किन्तु आप कुछ सदाचरणसे रहते हैं । सदाचारके अनुरागसे दूसरे लोग भी साथ दिया करते हैं । और कोई दुराचारमें लगे तो सब किनारा कर जाते हैं । तो दूसरे लोग भी हमारी यदि मदद करते हैं तो दूसरे नहीं करते, किन्तु हमारा सदाचार हमारा खुदका उच्च विचार, विज्ञान, ज्ञान अपनी सम्हाल ये ही मदद कर रहे हैं । सो जब तक संयम बरबाद नहीं होता, यह चित्तरूपी हस्ती इस संयमरूपी उपवनको तहस नहस न करदे तब तक इसका निवारण कर ले अन्यथा यह चित्त काबूसे दूर हो जाता है तो इसकी सम्हाल कठिन है । इस चित्तको रोकना बहुत कठिन है । एक तत्त्वज्ञानकी सम्हालसे ही इस चित्तरूपी हस्तीको बाध लिया तो यह बंध जायगा । और तत्त्वज्ञानकी श्रृंखला नहीं है तो यह चित्तदेवी सम्हल नहीं सकती । नीतिकारोंने कहा है कि ये चार बातें एक एक भी हों तो मनुष्यका अनर्थ करती हैं । कौनसी ४ बातें ? जवानी, धन सम्पदा, बला और अज्ञान । जवानी कितने ही अनर्थ विचारोंका मूल है । धनसम्पदा होनेसे मनुष्य किस प्रकारका अपना चित्त अहंकारमें, तृष्णामें, असन्तोषमें बना लेता है । सब तत्त्वकी बात भूल जाता है और अहंकार यह बनाता है कि मैंने ही कमाया है, मैं इन सबको बहुत चाहता हूँ, यह वासना बसी रहती है । यह पता नहीं कि सम्पदाको क्या कोई शिरने, हाथ पैर ने कमाया, बुद्धिने कमाया ? किसीने नहीं कमाया । हम जैसे शिर औरोंके भी हैं । आप जैसे धन दिमाग वाले अनेक लोग हैं, पर उनके कुछ नहीं है और यहाँ कुछ मिला है तो उसका कारण क्या है ? पूर्वकृत धर्म, पूर्वकृत पुण्य, अन्य कोई कारण नहीं है । उसमें अहंकार क्या करना, उसे विनश्वर जानकर उससे विरक्त रहना और समतासे तथा जितना अधिक हो सके उतना धर्मके हेतु ही उसका विनिमय करना, क्योंकि सबसे ज्यादा रुचि जिसकी धर्ममें होती है उसका सर्वस्व अधिक धर्ममें विनिमय होता है और जिसकी रुचि परिजनमें होती है कुटुम्बमें होती है उसके द्रव्यका व्यय कुटुम्बियों हेतु ही सारा हुआ करता है । यह तो अपने अनुरूप ही मोहकी रागकी बात है । तो यह सब कमाई किसीने नहीं की, अर्थात् वर्तमानके परिणामने, वर्तमानके परिश्रमने धनका अर्जन नहीं कर दिया, किन्तु पूर्व समयमें ऐसा ही पुण्य भाव हुआ था, पुण्यबंध हुआ था कि इस भवमें थोड़ेसे ही प्रयाससे अथवा यों हो यह वैभव प्राप्त हो गया है । तो यह धन सम्पदा यदि ज्ञानीके पास है तो उसे विचलित न करेगी और यदि ज्ञान नहीं है, अविवेक है तो यह धनसम्पदा तो अनर्थ ही करेगी । ऐसे ही कुछ बला हो गयी, प्रतिष्ठा बन गयी लोकमें, कुछ बात चलने लगी, कुछ प्रधान माना जाने लगा तो इसकी भी वासना ऐसा अनर्थ करनेवाली होती है, दूसरोंने अपमान कर दिया, दूसरोंने नीच समझा, अपने को सबसे भला मानो और इस भावमें बहकर कभी गरीबोंपर अन्याय भी करे, किसी दूसरेको कितना ही सता दे, जो कषायमें आये सो निर्णय करे—ये सब बातें इस प्रभुत्वमें बलामें सम्भव हैं, वे भी अनर्थके लिए हैं । और अविवेक अज्ञान ये भी अनर्थके लिए हैं । और जिस जीवमें चारों बातें एक साथ आ जायें—जवानी भी हो, धनवान भी हो, उसका बला भी चलता हो और अज्ञान भी हो तब फिर उसके अनर्थका तो कहना ही क्या है ? सो ये सब अनर्थ इस मनरूपी हस्तीसे हो रहे हैं । अतएव जब तक यह मनहस्ती इस सदाचार के उपवनको ध्वस्त न कर दे तब तक इसको रोकें, इसको वश करें तो इसमें कल्याण है अन्यथा जैसे अनेक भव बिताये वैसे ही यह भव भी बीत जायगा, लाभ कुछ नहीं उठाया ।

विभ्रमद्विषयारण्ये चलच्चेतोवलीमुखः।
येन रुद्धो ध्रुवं सिद्धं फलं तस्यैव वाञ्छितम् ॥१०८॥

चित्तनिरोधक पुरुषके ही वाञ्छित तत्त्व की सिद्धि—विचरनेवाले विषयरूपी बनमें यह चंचल बन्दर भ्रमता ही रह रहा है तो जिस पुरुषने इसे रोका, वश किया उसको वाञ्छित फलकी सिद्धि होती है। मनका कैसा वेग है, क्षण-क्षणमें कितनी छलाँग मारता है, कहाँ-कहाँ पहुंचता है और ऐसी-ऐसी कल्पनाओंमे लग जाता है जिनकी पूर्ति होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, लेकिन यह मन न जाने कितनी कल्पनाएं बनाता रहता है। कल्पनाओंसे उठता कुछ नहीं है, परेशानी ही होती है। जितनी मनमें कल्पनाएं उठाते जायें उतनी ही परेशानी बढती है, पर कषायोंका उदय ऐसा है कि कल्पनायें किए बिना इसका गुजारा ही नहीं होता। अब देख लो सभी मनुष्य हम आप सब देखनेमें बड़े अच्छे लग रहे होंगे, शान्त हैं, चुपचाप हैं, बड़ी अच्छी मुद्रा लिए हुए हैं। दूसरोंको देखनेमे ऐसा लगता है कि ये बड़े सुखी हैं, बड़े गम्भीर हैं, बड़े स्वच्छ हैं, पर सबके चित्तमें कितने विकल्पजाल उठ रहे हैं, चल रहे हैं, तो सब अपनी-अपनी जान लें। चित्त किसी एक जगह बधा भी है क्या ? किसी जगह इसने मग्न भी किया है क्या ? तो सब अपनी-अपनी जान लें। चित्त केवल एक बातमें ही बध सकता है। इसके अलावा और किसीमे नहीं बध सकता। वह एक बात क्या है ? अपना शाश्वत ज्ञानानन्दस्वरूप। इसकी ओर चित्त चले तो कहीं बने रहें ऐसी बात सम्भव है। चित्त विनष्ट तो हो जायगा, किन्तु चंचल न रहेगा, पर अन्य पदार्थोंमें चित्त चले और वहां बने रहें यह सम्भव नहीं है, क्योंकि जिस पदार्थ में चित्त लगाया वह पदार्थ विनाशीक है, उसका संयोग वियोग उस पदार्थके कारण है। यहां हम चित्त देते हैं तो जैसा चित्त चाहता है वैसा उस पदार्थका होना तो सम्भव नहीं है तब यह चित्त दुःखी होता है। इस चित्तका आधार मिट जाता फिर दूसरा आधार तकता, वह भी मिट जाता। बाह्य पदार्थोंका आधार लगा लगाकर यह चित्त कोई विश्राम नहीं पा सकता है। केवल एक ध्रुव निजसहज स्वरूपमें चित्त लगे तो इसे विश्राम मिल सकता है सिवाय इसके अन्य कुछ भी करे तो वहाँ चित्तको विश्राम नहीं मिल सकता।

चञ्चल चित्तको शुभोपयोगो मे लगाये रहने का महत्त्व—यह चित्त बदरकी तरह चंचल है। तो जब तक नहीं मिला हमें अपने सहजस्वभावका लक्ष्य, किन्तु समझा जरूर है तब तकइस मनरूपी बन्दरको चाहिए कि शुभ कार्योंमे लगा रहे। परोपकार है, देवपूजा है, गुरुसत्सग है आदिक कार्योंमे इस चित्तको लगाये रहें तो यह चित्त विषयजालोंमे पतित तो न होगा, इसे कहते हैं शुभोपयोग। इस मनको किसी न किसी प्रकार शुभोपयोगमे लगाये रहें-देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, सत्सग, सयम, तपश्चरण आदिकमें लगाये रहें ताकि यह हमारा एक मूल श्रद्धान् ज्ञान आचरणपर हमला न कर सके। एक राजाको एक देवता सिद्ध हो गया तो देव प्रत्यक्ष होकर बोलता है राजन् ! हम तुम्हें सिद्ध हो गए हैं। हम तुम्हारी सभी कामनाएं पूरी कर देंगे, काम बतावो। यदि काम नहीं बतावोगे तो हम तुम्हें खा लेंगे। ऐसा तेज देवता सिद्ध हुआ। तो राजाने कहा—अच्छा अमुक सड़क बना दो, क्षणभरमे बना दिया। ·· ··· राजन् काम बतावो। ·· अमुक जगह मकान बनादो। लो बन गया मकान। यों ही राजा जो चाहे सो तुरन्त तैयार हो जाय। अब राजा सोचता है कि यह तो हमपर आफत आ गयी। यदि काम नहीं बताते हैं तो यह हमारे प्राण हर लेगा। सो एकदम उसका होनहार अच्छा था सो कुञ्जी मिल गयी। देवने कहा काम बतावो तो राजाने कहा अच्छा ४० हाथका एक लोहेका डंडा गाड़ दो। गाड़ दिया। ·· ·· राजन ! काम बतावो। ····· एक ४५ हाथकी पतली लोहेकी जंजीर इस खम्भेके छोर पर बाँध दो। ····· राजन् काम बतावो। ·· इस जंजीरका एक छोर अपने गलेमे फासकर जब तक हम मना न करें इस खम्भेमे चढो और उतरो। जब ऊपर चढ़ गया तो अभी नीचे उतरनेका काम पड़ा है। लो इससे तो राजाका संकट मिट गया। बड़े आरामसे रहने लगा और यह इस खम्भेमें चढे उतरे। जब चढते उतरते परेशान हो गया तो राजासे हाथ जोड़कर कहता है—राजन ! क्षमा करो। जब

तुम कहोगे तब हम तुम्हारी सहायताको आ जायेंगे, हम अपनी हठ वापिस लेते हैं कि काम न बतावोगे तो हम तुम्हारे प्राण हर लेंगे। तो जैसे बन्दर बनकर बढ़ाया, उतराया, तो उस देवसे रक्षा हो गयी, ऐसे ही इस मनको शुभोपयोगमें लगाते जावें, अच्छे कामोंमें लगायें तो यह मन परेशान न करेगा। इस मन बन्दरको स्वच्छन्द विचरने से रोकें तो समस्त मनोवाञ्छित कार्य हमारे सिद्ध हो सकेंगे।

चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातन्त्र्यवर्ति यः।
ध्यानवार्तां ब्रुवन् मूढः स किं लोके न लज्जते ॥१०८१॥

चित्तविजयमें असमर्थ पुरुषों द्वारा ध्यानवार्ता किये जानेकी हास्यास्पदता— जो पुरुष स्वतंत्रतासे बर्तनेवाले इस चित्तको जीतनेमें समर्थ नहीं है वह यदि ध्यानकी बात करे मैं ध्यानी हूँ, यों ध्यानकी बात करे तो वह लज्जित नहीं होता। चित्त तो वशमें है नहीं और ध्यानकी बड़ी ऊँची बात करे तो यह शोभाकी बात नहीं है। सर्वप्रथम चित्तवशमें हो तो ध्यानका काम बन सकता है। चित्त हमारा वशमें हो, ज्योंही चित्तने कोई बात चाही त्योंही लो अब वह नहीं करना। ऐसे होते हैं गृहस्थ। मनने इच्छा की कि आज अमुक चीज खाना है तो तुरन्त उसी चीजका त्याग कर दिया। क्यों ऐसा मनने सोचा? जो मिल गया घरमें समयपर उसीमें ही पूर्ति हो जायगी, क्यों विकल्प करें? ज्यों ही चाह उठी उस चाहके विरुद्ध अपनी परिणति बनाली जिस प्रकार भी हो इस मनको वश करना चाहिए। कितने ही लोगों को देखा होगा क्रोध आया और इतना तीव्र आया कि देखने वालोंको तो ऐसा लगता कि इसका जीवनभर यह बैर चलेगा, लेकिन वह क्षणभर बादमें ही हँसने लगता, शान्ति हो जाती और उसका ही उपकार करने लगता है। और कुछ लोग ऐसे होते कि क्रोध आया तो उसको जीवनभर बनाये रहेंगे और उसका पूरा बदला लेनेकी चेष्टा करते रहेंगे। तो ऐसा बल होता है ज्ञानमें कि कभी भले ही कषाय उत्पन्न हो पर क्षणभर बाद ही उस कषायको शान्त कर लेते हैं। देखिये हम कषाय करें तो दुनिया उसे सह न सकेगी। कषाय छोड़कर समता रहे तो दुनिया भली प्रकार देख भी सकेगी यह सबकी बात है। कषाय ऐसी निपट बुरी चीज है कि दूसरे लोग इसे सह नहीं सकते और खुद भी सह नहीं सकते, मगर मोह ऐसा है कि क्रोध, मान, माया, लोभ किए बिना यह रह नहीं पाता। तो आत्माका अहित करनेवाली दो ही चीज हैं विषय और कषाय। और इन दोनों की जड़ है मोह। कुछ पता ही न रहना कि दुनिया क्या है, मैं क्या हूँ, अपने और पराये का कुछ भान ही जब नहीं है तो वहाँ जो कषाय आया है वह प्रबल होगा ही। मगर अपने आपकी खोटी भावना से अपना अनर्थ होता है, दूसरेका अनर्थ नहीं होता। केवल कल्पनाएँ ही बनाना है तो ऐसी कल्पनाएँ जगें कि प्रभुका स्मरण बना रहे, गुरुवोंके गुण ग्रहण करने योग्य बने रहें, सर्व जीवोंमें समता परिणाम रखनेका भाव बना रहे, ऐसी कल्पनाएँ बनें। और उन कल्पनाओंमें कोई तत्त्व नहीं है। जो आशापूर्ण हैं, खुद भी दुःखी हो रहे हैं और उस आशाकी पूर्ति करनेमें जो चेष्टाएँ करेंगे, उन चेष्टाओं से अन्य लोग भी दुखी होंगे। अपना श्रद्धान सही है, अपना ज्ञान सही है, अपना आचरण निर्मल है तो इसके लिए जगतमें अन्य अन्य जीव भी लोकव्यवहारमें शरण हो जायगे और खुद तो शरण होगा ही। इससे शान्ति प्राप्त करनेके लिए अपने आपके श्रद्धान ज्ञान आचरणका प्रयत्न करना चाहिए।

यदसाध्यं तपोनिष्ठैर्मुनिभिर्वीतमत्सरैः।
तत्पदं प्राप्यते धीरैश्चित्तप्रसररुन्धकैः ॥१०८२॥

चित्तप्रसरबन्धक पुरुषों द्वारा तपोनिष्ठअसाध्य पदकी भी प्राप्ति— जो योगीश्वर मनके फैलावको रोक देते हैं अर्थात् चित्तकी शुद्धि प्राप्त कर लेते हैं वे पुरुष जिस आनन्दमय उत्कृष्ट पदको प्राप्त कर लेते हैं उस पदको बड़े-बड़े तपोनिष्ठ जो कि मत्सर आदिक गुणों से भी रहित हैं, फिर भी वे मुनीश्वर उस पदको प्राप्त नहीं कर पाते तो चित्तका फैलाव वे नहीं रोक सके। आत्माकी शुद्धि है कहाँ? एकाग्रचित्त वश गया। बाह्य पदार्थोंकी आशाका परित्याग किया और वहाँ उसे निराकुलता, समृद्धि अपने आपके स्वरूपमें मग्नता ये सब बातें प्राप्त हो जाती हैं। कारण यह है कि आत्मा तो स्वभावसे आनन्दधाम है। केवल

हमारे उपयोगमें जो बाह्य विषयोंकी आशाका कलंक आया है उसके कारण यह अपने आपमें बसे हुए सरस आनन्दको प्राप्त नहीं कर पाता। तो इतनी बडी बात एक मनके फैलावको रोक देनेसे प्राप्त होती है। कोई बड़े-बड़े सांसारिक कष्ट नहीं सह सकता न सहे। बड़े-बड़े तपश्चरण नहीं कर पाता, न करे, लेकिन जो एक केवल मनके रोकनेभरकी बात है, ज्ञानको सम्हालनेभरकी बात है, अपने आपको अपने ज्ञानको लानेभरकी बात है उतनी बात यदि नहीं बन सकी तो फिर कुछ भी न बन सका। केवल एक ज्ञान द्वारा साध्य है। क्रोध, मान, माया लोभ इन वैरियोंको जीतना है। और दु ख है केवल इन कषायोंका। जीवको कषायके सिवाय और क्या दु ख है? बाह्यपदार्थोंसे दु खकी परिणति आती नहीं। प्रत्येक परिस्थितिमें जितने भी क्लेश हैं वे सब अपने कषायभावके हैं। कोई काम अति आवश्यक भी है पर उससे दु ख नहीं है। दु ख है उस काम विषयक विकल्प बनानेका। किसी वस्तुविषयक क्लेशके उठानेमें लोग कहते है कि इसमे क्लेश उठाने की विवशता है लेकिन विवशता कुछ नहीं है। लोग पराधीनता मानते हैं पर तत्त्वत तो वहाँ भी केवल अपने कषायोंकी विवशता है और उन विकल्पोंसे वे दु ख भोगते हैं। तो केवल ज्ञानसाध्य है यह बात कि क्रोध मान माया लोभ वैरी जीत लिए जायें और आत्मा शुद्ध आनन्दके पदको प्राप्त कर ले।

परमानन्दधामलाभके इच्छुक जनोको चित्तप्रसारके कर्तव्य का सदेश—परम आनन्दके लाभार्थ चित्तका प्रसार रोकनेका यत्न होना चाहिए। यह बात तब सम्भव है कि जब हमें ऐसे ज्ञान की दृष्टिका सुयोग बहुत काल मिले और जो चित्तका प्रसार रोकनेके इच्छुक हैं, रोकते हैं ऐसे प्राणियोंकी भी संगति अधिक मिले, हमारा उपयोग बदले तो चित्तका प्रसार रुक सकता है, वह ज्ञानसे बदले, निकटमें रहकर बदले, बदलेगा ज्ञानसे ही पर बाह्यसाधन और कुछ भी रह जाय वह भी एक साधन बनता है पर केवल बाह्यतपश्चरण पद प्राप्त करना सम्भव है। आध्यात्मिक तपश्चरण होना चाहिए और आध्यात्मिक तपश्चरण यह है कि मनका सयम बने, विचार आया कोई खोटा, किसी पाप सम्बधी कार्य करनेका मनमे विचार उठा तो उसे कतर देना, उसपर नियत्रण करना, उसको किसी भी प्रकार डाल देना इस तरहका जो अन्त प्रयत्न कर सकता है वह पुरुष उस आनन्दधामको प्राप्त कर सकता है। जब कषायभाव रहता है तो यह बात अति कठिन मालूम होती है। किन्तु जब विवेक रहे, कषायकी मदता रहे तो उसे स्वयं यह मार्ग मिलता है। अपने मनको वश करनेका और अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर मुड़नेका उसे मार्ग स्वय मिलता है, तब ही जानता है कि यह तो बहुत सुगम काम है। इसमें न किसी दूसरे मनुष्यकी आधीनता होती है, न किसी बाहरी पदार्थ की आधीनता है। सुगम कार्य तब जंचता है जब इस मार्गपर भी थोड़ा चलने लगते है। तो मनका प्रसार रोकनेसे उत्तम बुद्धिकी प्राप्ति होती है, इसीका नाम है मनकी शुद्धि। इन्द्रियके विषयोंमें मन न लगे, इज्जत हो, पोजीशन बढे, कीर्ति बढ़े, मेरा नाम जाहिर हो, लोग मुझे समझें कि यह भी कोई खास पुरुष है। ये मनके विषय हैं। तो इन्द्रिय और मनके विषयोमे इस मनको न जोड़े और मन चलित होता है तो इसे कुछ अच्छे कार्योंमें लगा दे। जैसे दीन दुखियोंका उपकार करना, प्रभुकी भक्ति करना, तत्त्वका विज्ञान करना, सतोकी उपासना करना आदिक जितने भी शुभोपयोगके कार्य हैं इन कार्योंमे मनको लगा दे और प्रयत्न यह करे कि यह मन पूरी तरहसे रुक जाय और मैं सहज ही अपने आपमें विश्राम पाकर अपने केवल स्वरूपकी अनुभूति करूं, ऐसा यत्न होना चाहिए। इस तरहकी चित्तशुद्धि जिसमे होती है वह इस ज्ञानानन्दके परम उत्कृष्ट धामको प्राप्त कर लेता है।

अनन्तजन्मजानेककर्मबन्धस्थितिदृढा।
भावशुद्धि प्रपन्नस्य मुनेःप्रक्षीयते क्षणात्॥१०९१॥

भावशुद्धिको प्राप्त मुनिके शीघ्र कर्मप्रक्षय—जो योगी भावशुद्धिको प्राप्त होते हैं उनके पहिले भव भवान्तरोंमे बांधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, इस ज्ञान द्वारा यह सब कुछ व्यवस्था चल रही है। जब यह ज्ञान ज्ञानवृत्तिसे न रहकर रागद्वेषमें फंसकर अज्ञान आचरण करने लगते हैं तो वे पूर्वकृत कर्म और अधिक उदृण्ड होते हैं, इसे फल पहुचाते हैं, यथाशक्ति जितना कि ज्ञान और विवेक उत्पन्न होता है, जितना बन

सके अपने विकारमें कषायमें न जुड़े अर्थात् उनसे अपनेको भिन्न मानते रहें, अपनी ओर अधिक आयें तो वे सब कषायभाव विकारभाव यथायोग्य कुछ न कुछ शिथिलताको प्राप्त होते हैं। तो जो मुनीश्वर ऐसे भावोंकी शुद्धिको प्राप्त होता है उसके भव भवके बाँधे हुए कर्म दूर हो जाते हैं। तो बताओ-जिन्हें चिरकालसे करते आये हैं—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन संज्ञाओंमें चिरकालसे बसे आये हैं, किसी भी बाह्य पदार्थको अपना वैभव मान लेना, अपने शरीरकी मौजमें अपने आपको उत्कृष्ट मानना ये सारी बातें चिरकालसे चली आयी हैं और उनमें ही अभी पगे रहे तो जैसे अनन्तकाल इतनी त्रुटियोंमें बीत गया है ऐसे ही यह रहा सहा शेष जीवन भी व्यतीत हो जायगा। फिर होगा क्या सो सभी जानते हैं। मरण सर्वथा होगा फिर जन्ममरण करते रहेंगे। यह एक बहुत उत्कृष्ट भव मिला है, अन्य गतियोंकी अपेक्षा एक विशेष ज्ञान प्राप्त है तो एक इस भवको इस चर्यामें व्यतीत करें। मुझे कोई जाने अथवा न जाने इससे भी क्या, लोग मुझे कुछ बड़ा समझें, न समझें इससे मुझे क्या? यह तो समस्त संसार मायारूप है। सभी लोग यहा-मेरी ही तरह कर्मबन्धनसे बंधे हुए। विकारों से दु:खी हुए, जन्ममरणका तांता लगाये हुए चले जा रहे हैं। कोई यहाँ मेरा प्रभु है क्या? किसकी दृष्टिमें हम बहुत अच्छा बनना चाहते हैं? जरा विवेक बनायें और यह निर्णय रखें कि मैं यदि अपने ज्ञानमें अपनी समझमें अच्छे आचार विचारसे रह सका तो उसमें तो लाभ है, शेष बाह्य अन्य जीवोंपर एक दृष्टि रखकर उनको प्रसन्न करनेके लिए हम विकल्प बनाते रहें इसमें रंच लाभ नहीं है। एक भव यदि ऐसे ही व्यतीत हो जाय तो उन अनन्त भावोंमेंसे एक भवकी ही बात कह रहे हैं, कोई नुक्सान हो जाता है क्या? यहांके सभी दृश्यमान पदार्थ विघट जायेंगे। पूर्वभवमें भी जो कुछ समागम प्राप्त था वह आज कुछ भी साथ है क्या? कुछ भी तो साथ नहीं है। यह एक आत्मध्यानके प्रसगके सम्बंधकी बात कही जा रही है। जब आत्माका ध्यान करें, उपासना करें तो वही मार्ग अपनाना होता है, वहां यह शका नहीं उठना चाहिए तो क्या हम लोकव्यवहारमें ऐसे ही मरे से बने रहें? अरे व्यवहारकी बात व्यवहारमें है और चाहने से अथवा अपने किसी यत्नसे ही कोई बात नहीं बनती है। योग्यता है उपादान है और फिर वैसा साधन है तो सुगमतासे व्यवहारमें एक उत्तम होनेकी बात बनती है। लेकिन जब आत्मशान्तिका एक प्रोग्राम बनाना है, हम एक उस अद्भुत विलक्षण तत्त्वको निरखनेके लिए जब कुछ कमर कसकर आये हैं तो अपने उसके ही अनुकूल भाव आना चाहिए, मुझे कोई माने न माने उससे क्या? यह मैं अपनी दृष्टिमें ही यदि गिरा हूँ, पाप करने में कारण हम ही रहते हैं तो मैं उठ नहीं सकता और मैं अपने आपमें अच्छा परिणाम बनानेके कारण अपने गौरवको प्राप्त हू तो हमारे लिए यह मैं शरण होऊ गा।

मनकी शुद्धिमे भावोकी विशुद्धिमें प्रकपता—मनकी शुद्धिसे भावोंकी शुद्धि प्राप्त होती है तो अनन्त जन्मों के अनेक कर्मबधोंकी दृढ स्थिति भी क्षणमात्रमें नष्ट हो जाती है। भावशुद्धिमें सर्वप्रथम तो यह बात होनी चाहिए कि इस विश्वमें मेरा कोई भी जीव विरोधी नहीं है, कोई भी मेरा शत्रु नहीं है, यही वास्तविक बात है। कोई किसीका शत्रु बन ही नहीं सकता, लेकिन लोकमें जो देखा जाता है कि किसीसे किसीकी शत्रुता तो है, जानमाल सब हड़पनेका यत्न रखते हैं, फिर भी एक अध्यात्मदृष्टिसे सोचो तो वहाँपर भी कोई किसीका शत्रु नहीं है। इसका कारण यह है कि सभी जीव अपनी-अपनी आशा लगाये हुए हैं, अपनी-अपनी इच्छा बनाये हुए हैं, अपना-अपना ही वे सुख प्राप्त करना चाहते हैं, तो सुख प्राप्त करने के लिए उनको ऐसी ही कल्पना जगी और वे अपनी ही इस वेदनाको शान्त करनेके लिए ऐसी चेष्टा किया करते हैं। वे यद्यपि मेरे पर उपद्रव करनेके लिए उपद्रव नहीं ढा रहे हैं किन्तु वे अपने आपमें सुखी होने के लिए जो कि उनकी कल्पनामें समायी हुई बात है उस चेष्टाको कर रहे हैं। जगतमें कोई भी जीव मेरा विरोधी नहीं है। ऐसी बात हृदयमें समा जाय प्रथम तो भावशुद्धि यह है। यह है केवल एक ज्ञानकी बात है, इसमें कोई अधिक श्रम नहीं करना है, कोई शारीरिक चेष्टा नहीं करना है, एक चित्तमें निर्णय कर लेने भरकी बात है। कोई जीव मेरा विरोधी नहीं हैं। देखो ऐसा भाव रखनेमें और ऐसी दृष्टि बनानेमें कितना अद्भुत आनन्द जगता है ऐसा भाव बने कि किसी भी जीवके प्रति मेरी मात्सर्य की बुद्धि न रहे, इससे चित्तमें एक निर्मलता प्रकट होती है,

उसके कारण एक अद्भुत आनन्द जगता है, और इस ही आनन्दके अनुभवके कारण पूर्व बंधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाया करते हैं। अपने पर जो बोझ लदा हुआ है कर्मोंका, सूक्ष्म अथवा स्थूल वातावरणका उन सबको हटानेका उपाय केवल भावशुद्धि है। कोई पुरुष किसीका अपराध भी करले, पीछे वह पछतावा या गलती मानले या वैसी हठ न करे तो लोग उसे भी क्षमा करते हैं, छोड़ देते है, उसपर उपद्रव नहीं ढाते। ऐसे ही यद्यपि हमने पूर्वसमयमें अपराध किया था और कर्मबन्ध किया था अब उनके उदयकालमे या उस वातावरणके कारण बहुत बड़ा उपद्रव आना था, लेकिन उससे पहिले विवेक जग जाय अपने अपराध पर पछतावा आये और ऐसी सूक्ष्मदृष्टि करे कि अपराध भी हो तो उसके द्रव्यस्वभावके कारण नहीं हुआ, वह भी परिस्थिति थी, औपाधिक भाव था। मैं तो शाश्वत चैतन्यस्वरूप हू, एक द्रव्यदृष्टिका माध्यम लेकर जरा इस ओर भी चित्त दे कि मेरे स्वरूपमे विरोध कहाँ है? हो अपराध पर मेरे स्वरूपमे न था वह मिथ्या हो अर्थात् अब कभी न था या होता है तो वह अज्ञानमे था ऐसे ही ज्ञाता रहें, मैं ज्ञानस्वरूप हू, इसतरह चैतन्य मूर्ति निज अतस्तत्त्वकी ओर दृष्टि लगे तो वहाँ है परमभावशुद्धि। ऐसी भावशुद्धिको प्राप्त जो भी सत महत योगीश्वर होग। उसके भवभवके बांधे हुए कर्म भी क्षण मात्रमे दूर हो जाते हैं।

स्वानुकम्पाका कार्य—भैया! बात करनी है अपने आपको सुखी करनेकी। लोगोंपर ऐहसान देनेकी नहीं, लोगोंमें कुछ कहलवानेकी नहीं किन्तु समस्या है अपने आपकी। हम कैसे सुखी हो सकें? उसका उपाय यही है भावशुद्धि। उससे प्राथमिकता इस बातकी सोचें कि लोकमें कोई भी जीव मेरा वैरी नहीं है, जब इस दिशामें भावशुद्धि बनने लगे तो जो जो भी गुण चाहिए, जो जो भी उपाय चाहिए वे सब उपाय सुगमतासे बनने लगेंगे। जैसे क्षमा होना भावशुद्धिमें आवश्यक है। तो जब किसी जीवको हम अपना विरोधी ही नहीं समझ रहे हैं तो उसपर क्रोध क्या आयगा? अथवा तीव्र कर्म विपाकवश क्रोध किया भी तो कुछ क्षणके बाद ही तुरन्त सम्हल जायेंगे। कोई जीव किसी दूसरेका विकल्प नहीं करता, यह सब अपने उपादानकी बात है, योग्यताकी बात है। विकल्प करेंगे तो दुःखी हो लेंगे, पर क्रोध करके हम किसी दूसरेका बिगाड़ करनेमे समर्थ नहीं हो सकते। हम वहां केवल अपना ही बिगाड कर रहे हैं। मेरा जो सत्यस्वरूप है ज्ञाताद्रष्टा रहनेका स्वरूप है वह बिगड़ गया क्रोधादिक करनेसे, तब हमने उस कषायमे अपना ही घात किया है। सो ज्ञानी पुरुषके भी कदाचित क्रोध हो जाय तो कुछ क्षणके बाद तुरन्त अपने आपको क्षमा कर देता है। अपराध किया हमने और अपराध किया अपनेपर। परमार्थसे क्रोध करके हमने अपनेपर अन्याय किया, अपने पर अपराध किया। उसके बाद यह मूल भावना बनी कि मैंने क्रोध किया था वह कोई तात्त्विक बात न थी, हो गया था। मैं उससे न्यारा हू, शुद्ध एक चैतन्यमात्र हू ऐसी दृष्टि अपने आपपर आय तो हमने अब लो क्षमा कर दिया। जितने गुण चाहिए अपने आपके कल्याणके लिए वे सब गुण एक इस भावशुद्धिके होनेपर प्रकट हो जाते हैं। जगतका कोई भी जीव विरोधी न जचे, सब एक स्वरूपमे जचने लगें, सब जीवोंका स्वरूप एक है, प्रतिभास स्वरूप ऐसा विशुद्धस्वरूप दृष्टि मे रहे तो सब गुण अपने आप आ जायेंगे और सारे अवगुण अपने आप दूर हो जायेंगे। तब एतदर्थ हमे यह यत्न करना चाहिए तत्वज्ञान बनाकर कि मुझे सब जीवोंका वह अन्तःस्वरूप जंचे जो देहमे बधा है। इस देहकुटीके भी पार इसमे भी न अटककर भीतर एक चैतन्यस्वरूपको निहारें, सबका स्वरूप यह है और सब अपने आपके स्वरूपमे रहते हैं, कभी औपाधिक परिणमन भी है तो वह सबका अपना अपना स्वरूप है, अतएव कोई जीव मेरा विरोधी नहीं है यह भाव समाये तो यही है वह भावशुद्धि जिसके प्राप्त होनेपर अनन्त जन्मोंमे उत्पन्न किये गये कर्म क्षणभरमे नष्ट हो जाते हैं। अपने आपको सुखी करनेकी बात कह रहे है कि हम किसी जीवको अपना विरोधी न मानें और सब सुखी हों ऐसी अपनी भावना बनायें।

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं प्रसन्नं ज्ञानवासितम्।
सिद्धमेव मुनेस्तस्य साध्यं किं कायदण्डनैः ॥२०९॥

स्थिरचित्तवाले मुनिके साध्यकी सिद्धिका विनिश्चय — जिस योगीका चित्त स्थिर है, प्रसन्न है, ज्ञान से वासित है, उस मुनि के साध्य साधक हो गए। अब कायको दण्ड देनेसे क्या प्रयोजन ? चित्तमें स्थिरता, प्रसन्नता और अपने ज्ञानमें ही रहना ये तीन विशेषण दिए हैं जिनमें मुख्य तो है ज्ञानमें रहना और उसके दो ये कारण हैं। जो चित्त स्थिर होगा, प्रसन्न होगा अर्थात् निर्दोष होगा सो ज्ञानमें बसेगा, सब कुछ इस मन मायाका खेल है। यह मन बाहरी विषयोंमें जब दौड़ लगाये फिर रहा है कभी किसीको, कभी किसीको ग्रहण किया, राग किया, अपराध किया, इस मनकी परिणतिसे ये सारी विडम्बनाएं बन रही हैं। मनुष्यकी बात कह रहे हैं, अन्य जीव जिनके मन नहीं होता वे भी विषयोंके नाते तो ऐसे ही काम किए जा रहे हैं। भले ही मनका सहयोग न होनेसे पशु-पक्षी कलात्मक ढगसे नहीं कर पाते, आहार सज्ञा जैसे मनुष्योंमे लगी है और उससे प्रेरित होकर उस ही विषयमें रहा करते हैं, यह बात एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक सभी जीवोंमे लगी हुई है। मनुष्यके मन है सो वह कलात्मक ढंगसे आहार संज्ञाकी पूर्ति करता है। नाना प्रकारके स्वादिष्ट रसीले भोजन बनाये जाते हैं। ये बातें असंज्ञी जीवोमें नहीं पायी जातीं। तो यह एक मनका सहयोग इसे मिला है। जो मन हित और अहितके विवेकके लिए था उस मनको मनके असली काममे न लगाकर एक असंज्ञावोंमें लगा दिया तो ये कलायें बन गयीं। अन्य जीवोंमें कलायें नहीं हैं। मनुष्यके मन है तो भयसंज्ञा भी बड़ी कलात्मक ढंगसे किया करता है। कितना भय लगा रखा है ? और तर्क वितर्क करके भय लगा रखा है। जायदादका कोई कानून बन जायगा तो क्या करेंगे ? जमींदारीका जैसे कानून बन गया ऐसे ही यह भी सम्भव है। अथवा अन्य किसी देशने इसपर आक्रमण किया तो क्या होगा अथवा अपने ही देशके लोग अधिकारीजन अप्रसन्न हो गए तो क्या होगा ? कितना भय बना रखा है ? क्या ऐसा भय इन कीड़ा-मकोड़ोंको भी रहता है ? ये तो तभी डरते हैं जब इनके समक्ष कोई उपद्रव आजाय। चींटी चल रही है आपने हाथसे छेड़ दिया तो वह भय करके लौट जायगी, पर मनुष्योंको भय कितनी कलावोंसे लगा हुआ है, पर भयसंज्ञा जैसे मनुष्योंको सताती है वैसे ही अन्य सब संसारियोंको सताती है। मैथुन संज्ञा मनुष्य कितने कलात्मक ढंगसे बडी रागभरी वाणी बोलकर पूर्ति करता है तो अन्य जीवोंमें असंज्ञी जीवोंमे यह विलक्षण नहीं है। वहाँ मन नहीं है, कलायें नहीं बनतीं, पर जैसा कुछ उनके मनमें समाया है उस प्रकार उनके भी सज्ञा लगी है। परिग्रहसंज्ञामें तो मनुष्यने बड़ी होडसी मचा ली है। बड़ी कलायें, कैसे कैसे व्यापार, कैसी अन्य कलायें इन सब कलावोंसे इस मनुष्यने परिग्रह सज्ञाका एक ढाँचा विचित्र बनाया है। नहीं बना सकते हैं असज्ञीजीव यों परिग्रहसंज्ञाका विस्तार, क्योंकि मन नहीं है लेकिन परिग्रहसज्ञा इन सभी ससारी प्राणियोंमें है और वे अपने भावोंके अनुकूल अपनी योग्यतानुसार जो शक्ति उनके प्रकट हुई है तदनुसार वे भी परिग्रह संज्ञामें लगे हैं। तो यहाँ मनुष्योंको मन मिला है, इस मनके कारण इसने अपना वैभव बढाया है। कार्य तो यह था कि इस मनके द्वारा विवेक जगता, पापोंसे दूर होते और अपने ज्ञानमे बने रहते। ज्ञानवासित मन हो जाय तो समझिये कि साध्यसिद्ध हो गया। साध्य है निराकुलता, शान्ति, परमविश्राम, वह मुझे मिल गया समझिये। जिसका चित्त ज्ञानवासित हो गया उसके लिए निर्दोषता और स्थिरताकी आवश्यकता है। जिसका मन स्थिर हो गया, प्रसन्न हो गया और ज्ञानमें वासित हो गया उस मुनिका साध्य सिद्ध हो गया। अब कायके दण्डनसे लाभ क्या है ?

तपः श्रुतमयज्ञानतनुकलेशादिसंश्रयम्।
अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुषकण्डनम् ॥१०९३॥

अनियन्त्रित चित्तवाले मुनिके तप आदिकी व्यर्थता — जिस मुनिका चित्त अनियंत्रित है, यों समझिये कि जैसे मदोन्मत्त हस्ती किसी खूंटेसे न बधा हो तो वह अनियत्रित रहता है और लोकमें क्षोभ मचाता है ऐसे ही यह मनरूपी हाथी जब ज्ञानके खूंटेसे बंधा हुआ नहीं रहता है तो यह अनियत्रित हो जाता है और लोकमें क्षोभ मचाता है। हैं कौनसा ऐसा विषयभूत अर्थ जिस जगह इस चित्तको लगा दें तो यह

स्थिर और नियन्त्रित हो जाय, सोच लीजिए। इन्द्रियके विषयोंमें और मनके विषयोंमे तो कुछ ऐसा मिलेगा नहीं। इन्द्रिय और मनके विषयभूत पदार्थ तत्त्व विभिन्न हैं और विनाशीक है तथा पर हैं। इन तीन बातोंके कारण यह चित्त स्थिरतासे उनमेसे किसीमे टिक नहीं पाता। मनका ही विषय ले लो तो प्रथम ही प्रथम तो इसको थोड़ी यशकी चाह रहती है। पहिले कोई ऐसी इच्छा जगी कि मैं इस कस्बेका एक सदस्य बन जाऊं, फिर उससे भी तृप्ति नहीं होती। फिर यह तहसीलका, फिर जिलेका, फिर देशका, फिर विदेशका कुछ न कुछ पद प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। धीरे-धीरे सारे विश्वका कुछ बननेकी इच्छा करता है। चित्त टिक नहीं सकता क्योंकि मनके ये सब विषय विभिन्न हैं, पर हैं और विनाशीक हैं। कोई ऐसा तत्त्व मिले जो विभिन्न न हो, विनाशीक न हो और पर न हो, वहाँ चित्त जमाया जाय तो सफलता मिलेगी। ऐसा कौनसा तत्त्व है जो विभिन्न नहीं है ? वह है अपना ज्ञानस्वरूप। यह विभिन्न नहीं है, सदा एकरूप है। ज्ञानस्वभावकी बात कह रहे हैं, परिणमनकी बात नहीं कह रहे हैं। संसार अवस्थामें ज्ञानका परिणमन विभिन्न चल रहा है वह भिन्न है और विनाशीक है, औपाधिक होनेके कारण पर भी है उसकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु एक अपना शाश्वत स्वभाव ज्ञानमात्र ज्ञायकस्वरूप वह विभिन्न नहीं है, पर भी नहीं है, स्वय स्वतन्त्र है और विनाशीक भी नहीं है। उसमें चित्त लगायें। जैसे कि हम पदार्थोंको जानते रहते हैं, जाननेका यत्न करते हैं यों ही इस ज्ञायकस्वरूपको जाननेमें लगें, इसका ही यत्न करें तो हम इस ओर भी चित्तको लगा सकते हैं, ज्ञानवासित बना सकते हैं। तो यों ज्ञानवासित चित्त हो जाय अर्थात् नियन्त्रित हो जाय, निज एकरूप शाश्वत ज्ञानस्वरूप मे नियन्त्रित हो जाय तब तक उस योगीका साध्य सिद्ध है। यदि ऐसा नियंत्रण न बन सका और विषयोंमे भटक रहा है मन तो ऐसे मनवाले योगीके ये सारी बातें तपश्चरण करें, शास्त्राभ्यास करें, यम नियम आदिक करें, जितने भी ये सब एक साधनभूत कार्य हैं वे तुस खण्डनकी तरह हैं। जैसे चावल निकल गए धानसे तो अब उस भुसके खण्डनसे क्या सार मिलेगा ? कुछ भी नहीं। ऐसे ही सार बात तो ज्ञानवासित मनको बनाना था, अपने आपमें उसे नियन्त्रित करना था। वह जब नहीं किया जा सका तब चाहे कितना ही तपश्चरण हो, ज्ञानार्जन हो, बडा त्याग हो, वह सब भी तुसखण्डनकी तरह है।

एकैव हि मनःशुद्धिर्लोकाग्रपथदीपिका।
स्खलितं बहुभिस्तस्य तामनासाद्य निर्मलाम् ॥१०९४॥

लोकाग्रपथदीपिका मन शुद्धिके बिना मोक्षमार्गसे स्खलन — मनकी शुद्धि ही मोक्षमार्गमे प्रकाश करने वाली एक दीपिका है उसको निर्मल न पानेसे अनेक मोक्षमार्गी पुरुष अपने पथसे च्युत होते हैं। मन शुद्ध होता है इन्द्रिय और मनके विषयमे न जुडनेसे। मनकी शुद्धि और किसी भांति नही है कि कोई ऐसा पौद्गलिक तत्त्व नहीं है कि जिसे साबुनसे पानीसे रगडा जाय तो शुद्ध हो जाय। मनकी पवित्रता है विषय और कषायोंको ग्रहण न करनेसे। पूजामें भी बोलते कि जो मन परमात्मतत्त्वका ध्यान करता है वह पवित्र है। चाहे शरीर अपवित्र हो, पवित्र हो, किसी अवस्थामे हो, किसी तरह बैठा हो, यदि प्रभुताके स्मरणमे है तो वह मन पवित्र है। मनकी पवित्रता है विषयोंमें प्रवृत्ति न होनेसे, परिग्रहमें चित्त आसक्त न होनेसे। यों समझ लीजिए कि चार प्रकारके आर्तध्यान और ४ प्रकारके रौद्रध्यान जिस चित्तपर हावी नहीं हैं वह चित्त पवित्र है। तो सब कुछ बात हमारे मनकी पवित्रतापर निर्भर है। हम धर्मधारणके लिए बहुत श्रम करते हैं, नहाना, मंदिर जाना, पूजन करना, बहुत समय जाप सामायिकमे लगाना यह सब करते हैं, पर यह भी तो सोचना चाहिए कि हमने अपने मनको कितना पवित्र बनाया है क्योंकि पवित्रतापर ही धर्मका विधान होता है अन्यथा वे सब सब शरीरके क्लेश हैं और मनकी पवित्रता जाननेके लिए यह हमे अपना हिसाब देखना चाहिए कि हमने कामविषयक विकल्प कितने बनाया और कितनी प्रवृत्ति की और कामवासना-रहित एक विशुद्धतामें अपने मनको कितना रखा, हम खाने-पीनेके चक्रमें चिन्तामे, वासनामे कितना रहते

हैं और उसके विकल्पसे दूर कितने समय रहते हैं ? लोग जरा-जरा सी बातको सोचते नहीं हैं चलते-चलते खाना, दुकानपर खड़े-खड़े खाना, जब चाहे खा लेना यह सब क्या है ? यह ध्यानकी अपात्रता बनाने वाला काम है। बारबारका खाना, जहाँ चाहे खड़े होकर खा लेना और भक्ष्य अभक्ष्यका ध्यान न रखकर खा लेना ये सब ध्यानकी अपात्रता बढ़ाते हैं।

विषयविरक्त व ज्ञानोपयुक्ततामे मगलरूपताका लाभ — जिसका चित्त विशुद्ध है, पवित्र है, ज्ञानकी ओर लगता है उसके चित्तको इतनी फुरसत कहा मिल पाती है जिससे चित्त विषयोमे फंसे। छोटी छोटीसी बातें भी हमें कल्याणसे बहुत दूर रखती हैं ? हम यह भी हिसाब देखें कि हमने खानपानकी आसक्तिमे कितना मनको लगाया है, कितना हमने भोजनपान आहारकी धुन बनाया, इसी प्रकार घ्राणेन्द्रियके विषयमे भी बात देखें। किन्हीं किन्हीं का ऐसा मिजाज होता कि खूब सामने गुलदस्ते धरे हों तो मन ठिकाने रहता है। बहुतसे फूल पासमे पड़े हों, इत्रदान रखा हो, कोटके कालरमें अथवा नेकटाई में इत्र लगा हो, खूब सुगध मिल रही हो तो उसमे चैन मानते हैं। कोई कह सकता है कि इसमे क्या बिगाड हो गया ? तो भाई बाहरमे तो कुछ बिगाड नहीं दिख रहा पर जब चित्त घ्राणइन्द्रियके विषयोंमें जम रहा है, उनकी ओर लग रहा है तो हम इस आत्मप्रभुसे तो बडी दूर हो रहे हैं। यह तो महान बिगाड है। अब इन्द्रियके विषयोंकी बात निरखें। हम जिस रूपको जिस रगको सुहावना समझते हैं वह सुहावना एक कल्पनासे हुआ करता है। उसके देखनेके लिए हमने अपने नियन्त्रणको कितना तोड दिया, लाज को हमने कितना दूर किया, बड़ोंकी आनको हमने कितना मिटाया ? इन बातोंका भी हिसाब लगायें, ऐसी ही कानोंकी बात है। रागभरे शब्दोंके सुननेमें कितना हम मौज लेते हैं और रागको बढ़ाने वाली कथावोंमें हम कितना चित्त देते हैं उसका भी हिसाब लगायें, और मनकी उड़ान तो बहुत-बहुत है, उसे सक्षेपमें कहा जाय तो यों सोचिये कि मेरा मन मेरे इस विशुद्ध स्वरूपमें कितना लगता है और इसके अतिरिक्त अन्य-अन्य बाह्यपदार्थों में कितना जाता है, उसका हिसाब देखें, उसका खेद तो करें और जितना बन सकता हो उतना यत्न करें कि उससे हटकर हम अपने आपके इस ज्ञानमें चित्तको बसायें। गल्तीको गल्ती भी समझलें, त्रुटि मानते रहें तो उसका कुछ न कुछ आचरण माना जायगा। त्रुटिको त्रुटि मानना भी एक सत् आचरण है। हमने कितना अपना अपराध समझा है उसका कुछ हिसाब तो देखें। धनवैभव परिग्रहके जोडनेमे अथवा तृष्णा बढ़ानेमें, बाह्यवैभवमें ही चित्त देते रहनेमें हम कितना योगदान करते हैं और अपने आपको अकिञ्चन निष्परिग्रह अनुभव करनेमें कितना प्रयत्न करते हैं, उसका भी हिसाब लगायें। यद्यपि गृहस्थावस्थामें परिग्रहका काम करना ही पडता है। जिसके पास नहीं है पैसा वह गृहस्थी नहीं निभा सकता लेकिन पैसा हमारे विकल्पोंसे अथवा हाथ पैरके परिश्रमसे नहीं आता। ये भी कुछ थोड़े साधन बन जाते हैं पर उदय अनुकूल है, हमारा पूर्वकालमें धर्माचरण बना हो तो ये सब बातें सुगमतासे प्राप्त हो जाती हैं, इसमें आसक्ति रखना, तृष्णा रखना, इसकी ओर ही अपनी बुद्धि बनाये रहना यह योग्य नहीं है, ये सब मायारूप हैं। किसी दिन ये सब छूट जायेंगे।

नि सगतामे ही आत्मोद्धार — हम परिग्रहोंमें अपने चित्तको कितना भ्रमाये रहते हैं और अपने को निष्परिग्रह अकिञ्चनरूपमें कितना अनुभव करते हैं ? मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, अमूर्त हूँ, अकिञ्चन हूँ, परमें मेरा कुछ नहीं लगा ऐसा हम अपने आपको कितने क्षण अनुभव करते हैं—कुछ निरखना चाहिए। इसीलिए तीन बार सामायिक बताया है। यह मनुष्य रात को ६ घटा तो सोता ही होगा। तो उस सोये हुए टाइमको निकाल दो, फिर हिसाब लगालो कि ६-६ घटे के बादमें सामायिकका टाइम आता है। सुबह सामायिक, फिर ६ घटेके बादमे दोपहर में सामायिक, फिर ६ घटे बाद शामको सामायिक, फिर ६ घंटे सोने के बादमें सुबहकी सामायिक। यह ६-६ घटे बाद सामायिकके लिए क्यों बताया है ? इसलिए बताया है कि उतने समयमें मनमे जो अपवित्रता आयी है उसे दूर कर मनको पवित्र बनाल। तो

सबसे बडा कार्य है अपने मनको शुद्ध और पवित्र बनाये रहनेका। यह बात बनेगी तत्त्वज्ञानसे। विषयोंमें चित्त न रमे और अपने यशकी वाञ्छा न बढ़ायें और दूसरे जीवोंको किसी प्रकार दुःख पहुचानेका भाव न रखें— ये तीन बाते बनती हैं तो अपने मनकी पवित्रता समझिये। और नहीं तो चित्त गंदा है। जब कोई महापुरुष या नेता या राजा या आफिसर घरमे आता है तो कितना अपने घरको स्वच्छ बनाते हैं तो हम मनको जहाँ कि प्रभु आ सकते हैं, जिस हृदयमंदिरमें प्रभुका आगमन हो सकता है वह हृदय यदि अपवित्र रहे तो वहाँ प्रभु कैसे आ सकते हैं? एक धार्मिक पद्धतिका देश होनेसे सबके चित्तमें यह उमग रहती है कि हमें प्रभुके दर्शन हो जायें पर प्रभुके दर्शन तब मिलते हैं कि प्रभु पूर्ण निर्मल हैं तो हम भी यथाशक्ति अपनी निर्मलता बढायें तो इस मार्गसे चलनेपर हमे प्रभुदर्शन हो होगा और जब दर्शन होता है तब यह अपने आपमे निर्विकल्प एक सहज विलक्षण आनन्दका अनुभव करता है और उस स्थितिमें यह खूब प्रभुतासे मिल लेता है जिसमे आनन्दसे छकित हो जाता है। और जब यह आनन्द देर तक नहीं टिक पाता तो एक अफसोस होता है कि मैं इतने सुन्दर मिलनसे बिछुड गया। तो प्रभुका मिलन उस चित्तमे होता है जो चित्त पवित्र है, विषय कषायोंमें मुग्ध नहीं होता है। तो हर सम्भव प्रयत्नोंसे हमें अपने आपके मनमें ये तीन बातें लाना चाहिए—मेरा विषयोंमें चित्त आसक्त न हो, यश नामवरी के लिए न लगे और जगतके सब जीवोंको ये सुखी हों, मेरा कोई विरोधी नहीं, ऐसे एक स्वरसस्वरूपसे उन सबमें एकमेक मिलन बने, ये तीन बातें बने तो मन पवित्र हो तो धर्म मिल सकेगा।

असन्तोऽपि गुणाः सन्ति यस्यां सत्यां शरीरिणाम्।
सन्तोऽपि यां विना यान्ति सा मनःशुद्धिः शस्यते ॥१०६५॥

मन शुद्धि होनेपर ही गुणोका अस्तित्व—जिस मनकी शुद्धताके होनेपर न होते गुण भी होते से बन जाते हैं और जिस शुद्धिके न होने पर होते गुण भी न होते हो जाते हैं वह मनकी शुद्धि प्रशसाके योग्य है। लोग कहते हैं कि व्यापार कुटिलता और कपटके बिना नहीं चलता और आपको ऐसे दो एक उदाहरण मिलेंगे आसपास कि जो बहुत सरल व्यक्ति थे, जो कभी किसीका बुरा न विचारते थे, जिनके चित्तमें बुरा ध्यान ही नहीं होता और देखो तो ग्राहक उनके यहां ज्यादा आते हैं। तो लोगोंपर यह विश्वास बन जाय कि यह दुकानदार सरल है और सच बोलने वाला है तो लोगज्यादा आयेंगे। जो लोग झूठ बोलकर भी व्यापार चलाते हैं वे झूठके बलपर नहीं चला पाते, ऐसा अगर ग्राहकोंको मालूम पड जाय कि यह झूठ बोलने वाला है तो एक भी ग्राहक न आयगा। तो व्यापार भी सच्चाईके साथ चलता है। मनकी शुद्धि जिसके हो गई है तो गुण न हों तो भी गुणी हो जाता है। होने से लगते है यह भी बात नहीं, किन्तु प्रकट हो जाते हैं, पर गुण विकासका कारण तो मनकी शुद्धि है, आशयकी शुद्धि है। आत्माका अभिप्राय शुद्ध बने तो सब गुण अपने आप प्रकट हो जाते हैं। सो कोई गुणके वाक्यकी बात नहीं किन्तु जब आनन्द होता है जीवको तब गुण विकासपूर्वक ही हुआ करता है, अतएव गुण विकासको महिमा दी है। महिमा तो सब शान्ति की है। अपने आपमें आनन्द प्रकट हो जिस उपायये वह उपाय करना है। कदाचित् ऐसा होता कि गुण एक भी प्रकट नहीं होता और आनन्द पूर्ण मिल जाय तो फिर गुणोंसे क्या हमारा लेनदेन? हो तो हो, न हो तो न हो, हमें तो आनन्द चाहिये पर आनन्दकी विधि ही ऐसी है कि गुणविकास होगा तो होगा। आनन्दका अर्थ ही यह है कि जो चारों ओर से आत्माको समृद्ध बना दे। सुखका नाम, निराकुलताका नाम, शान्तिका नाम आनन्द नहीं, किन्तु आत्माकी समृद्धिका नाम आनन्द है और उस आत्मसमृद्धिमें यह खूबी है कि वहा पूर्ण निराकुलता रहती है। आनन्दका तो वास्तविक अर्थ यही है कि वह आत्माको पूर्ण समृद्ध बना दे। यह समृद्धि आत्मशुद्धि होनेपर होती है। विषयोकी वासना न रहे, किसी के प्रति द्वेष की बात न उमड़े और अपने आपके सहज स्वरूप की ओर दृष्टि जाय, यही है मनकी शुद्धि।

मनः शुद्धिके उपाय—मनकी शुद्धि जिन उपायों से बने उन उपायों के सम्बन्ध में पूजक रोज कह लेते हैं पूजा में—

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः सङ्गतिः सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम् ।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे,
संपद्यन्ताम् मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ॥

हे प्रभो ! ये ७ चीजें मुझे भव-भव में प्रकट हों जब तक कि मेरा मोक्ष न हो । वे ७ बातें क्या हैं ? शास्त्राभ्यास—इससे मन की शुद्धि बनती है । उपन्यास पढने वालोंका चित्त कैसा भयभीत, चिन्तातुर, कामातुरसा बना रहता है और इन साधु सत पुरुषों की वाणी सुने, उसका स्वाध्याय करे तो आत्मबल बढाने का एक उत्साह जगेगा । तो मनकी शुद्धिके लिये शास्त्राभ्यास एक मुख्य उपाय है । ये सब आत्मशुद्धिके उपाय हैं । आत्मा और मनमें इस समय भेद यों नहीं डाल रहे हैं कि हमें इस समय जो करना है उस कर्तव्यका रिश्ता जितना मनके साथ है उतना ही आत्माके साथ है । यहा मनसे मतलब पौद्गलिक मनसे नहीं पर भाव मनसे है । प्रथम उपाय है शास्त्रका अध्ययन करना । दूसरा उपाय है—जिनेन्द्र भगवानके चरणोंमें नमस्कार विनय ध्यान बना रहना । इससे मन शुद्ध रहता है । तीसरा उपाय है सत्संगति । श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ अपना संग बनाये रहना इससे भी तत्काल प्रभाव पड़ता है । इसका उपाय है सत्चरित्रके गुणोंकी कथा करना । देखिये—जो महान होते हैं, बुद्धिमान होते हैं, विद्यावान होते हैं, पंडित होते हैं अर्थात् विवेकको जिनकी बुद्धि प्राप्त हुई है ऐसे जन होते हैं उनकी चर्या भी अलग होती है । दुनिया में ऐसे मनुष्यों की सख्या ज्यादा मिलेगी जो एक दूसरे की निन्दा आलोचना में लगे रहते हैं । विद्वान होंगे तो आलोचना भी उस कलाके ढंग से करेंगे और ऐसे ही हुये तो वे अपने पड़ौसियोंके प्रति अन्य के प्रति भी निन्दा आलोचनाकी बात करेंगे । ऐसे बुद्धिमान विवेकी विरले ही होंगे जिनके मुखसे सत्चरित्रके गुणोंकी कथा तो मुंहपर आये और दूसरेके दोषों के कहनेमे मौज न रहे । और, मनकी शुद्धि इन्हीं उपायोंसे है । जिस समय हमने दूसरोंके अवगुणोंपर दृष्टि दी या अवगुण परखनेके लिये यत्न किया तो अवगुणोंपर ज्ञानदृष्टि डाले बिना तो बखान नहीं सकते और उसपर दृष्टि डालनेका अर्थ यह है कि हम अपने उपयोगमें उन अवगुणोंको पहिले आत्मसात कर लें, ज्ञेयाकार बना लें, उन्हें रुचिसे ग्रहण कर लें तो रुचिसे बखान सकेंगे । तो हमने अपनेको बहुत मलिन कर लिया और उस मलिनताका फल भोगना किसी दूसरेको न पड़ेगा । तो मनशुद्धिके उपायमें ये दो भी उपाय अच्छे हैं कि गुणियोंके गुणोंकी कथा करना और दूसरोंके दोष कहनेमे मौन ग्रहण करना । यह सब मनशुद्धिके उपायोंमें लगा लेना चाहिये । छठी बात है— सब जीवोंपर प्रिय हित वचन व्यवहार करना । कुछ लोगोंकी आदत जैसे मनुष्योंको गाली देनेकी होती है इसी तरह वे पशुओंको भी गाली देते हैं । वही गाली, उनकी दृष्टिमें पशु भी वैसे ही, मनुष्य भी वैसे ही, मनुष्य और पशु इन दोनोंको एक तुल्य मान लेते हैं । जैसी गाली मनुष्यको मनुष्य के प्रतिकूल होनेपर दिया करते हैं वैसी ही गाली बैल, घोडा, भैंस इनके प्रतिकूल होनेपर या अनुकूल न चलनेपर दिया करते हैं । तो अप्रिय और अहित वचन बोलनेका प्रभाव स्वयपर पडा । और दूसरा भी अपनेमें प्रभाव बना लेगा तब तो लडाई ठन जायगी । तो सब जीवोंपर प्रिय हित वचन व्यवहार करना यह आत्मशुद्धिका, मनशुद्धि का उपाय है और आत्मतत्त्वमें भावना करना मैं सिद्ध समान शुद्ध चैतन्यस्वभाव वाला हू, अन्तर है पर रुचिका ऐसा चमत्कार है, उसकी ऐसी प्रकृति है कि जिनमे रुचि नहीं है उनको तोड़ फोडकर, उनको न छूकर रुचिके विषयभूत पदार्थोंमे यह दृष्टि गड जाती है ।

अन्तस्तत्वके रुचिया सन्तोकी अबाध सद्दृष्टि—जिसकी आत्मस्वभावपर रुचि है वह पुरुष अर्थोंको

भी भेदकर जो गुजर रही है उसमें भी न अटककर ज्ञानस्वभावपर पहुच जाता है । किसीकी रुचि किसी अन्य जगह रहने वाले किसी जीवपर है तो घरमें रह रहे हैं सभी माता पिता आदिक इनको हित जान लिया । इनकी दृष्टि उनमें नहीं अटकती है, जिसपर दृष्टि है वहीं पहुचती है । तो रुचि आत्मतत्त्वकी बने तो वह पुरुष आज यद्यपि किसी विषय पर्यायसे परिणत है, वह मनुष्यभवमें है, अनेक बन्धन हैं लेकिन इसकी दृष्टिमे न भव है, न बन्धन है, न परिणति है, होते हुए भी इसकी दृष्टिमे नहीं है जबकि इस ज्ञानीकी भावना आत्मतत्त्वमें पहुँचती है । उस समय यह अपनेको एक स्वरूपमात्र निरखता है । उसका यदि विश्लेषण करें तो फिर निषेधरूपमे कह लो । उस समय यह अपनेको भवरहित, परिणतिरहित, बन्धनरहित निरखता है यों नहीं निरखता पर उसकी तारीफ बतायी जा रही है । यह तो किसी विध्यात्मक रूपको निरखता है, प्रतिषेधरूपसे नहीं । अनुभवके कालमें निषेधका ध्यान नहीं है । जो है उसका सद्भावात्मक परिणमन है । मनकी शुद्धि होनेपर आत्मशुद्धि होनेपर फिर यह आत्मतत्त्वकी भावना ऐसी दृढ़ हो जाती है कि इसे अपवर्ग प्राप्त होता है । अपवर्ग मायने हैं मोक्ष, पर एक तारीफकी भांति है । अपवर्ग का अर्थ है वर्गरहित । जैसे पच्चीसे अपवर्ग दूर हो गये हैं । वर्ग हैं तीन—धर्म, अर्थ, काम, ये तीन वर्ग जिस भाव मे नहीं हैं उस भावका नाम है अपवर्ग । और मोक्ष का अर्थ है छुटकारा । जो कर्म शरीर आदिक बन्धन हैं उनसे छुटकारा हो गया इसका नाम है मोक्ष । निर्वाण नाम है शान्ति होने का, निष्तरग हो जानेका । जो ऊधम उठ रहा था, जो विकल्पजाल बन रहे थे वे सब शान्त हो गए उसका नाम है निर्वाण । तो ये सब बातें मनशुद्धिपर निर्भर हैं । हम आपको इन्हीं सब उपायोंको करके मन शुद्ध कर लेना चाहिये । निर्विषय, निर्विरोध मन बननेका नाम है मनकी शुद्धि ।

अपि लोकत्रयैश्वर्यं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ।
भजत्यचिन्त्यवीर्योऽयं चित्तदैत्यो निरङ्कुशः ॥१०६६॥

चित्त दैत्यका पराक्रम—यह चित्तरूपी दैत्य जिसका पराक्रम भी अचिन्त्य है उस मनको कोई गिरफ्तार भी कर सकता है क्या ? कोई बन्धन बांध सकता है क्या ? जेलखाना में डाल सकता है क्या ? इस शरीरको तो बांध ले, जेलमे डाल दे पर मन किसीके बंधे नहीं बंधता । कभी ऐसा भी लगे कि हम तो न बधते थे, पर दूसरे ने हमसे प्रीति करके बांध ही दिया तो यह बात सत्य नहीं है । वह तो स्वय अपनेमे स्नेह जगाकर बन्धनमे बधता है । किसी दूसरेमे यह सामर्थ्य नहीं है कि किसीके मनको बांध ले । ऐसा यह अचिन्त्यशक्ति वाला है । सो यह निरकुश होकर तीन लोकके ऐशवर्यका विगाड़ कर रहा है, लेकिन जब कोई समर्थ योगी इस चेत दैत्यको निरंकुश कर डाले, इसको निर्मूल वशमे कर ले तो वह लोकके ऐश्वर्य को भोग लेता है । लोग भी कहते हैं—मनके हारे हार है मनके जीते जीत ।

शमश्रुतयमोपेता जिताक्षाः शंसितव्रताः ।
विदन्त्यनिर्जितस्वान्ताः स्वस्वरूपं न योगिनः ॥१०६७॥

शमश्रुतव्रतोपेत जितेन्द्रिय योगियो द्वारा ही स्वस्वरूपका वेदन—जो योगी शमभाव शास्त्राध्ययन और यम नियम आदिकसे युक्त है और जितेन्द्रिय है, जिसका व्रत प्रशसा के योग्य है वह यदि मनको न जीते हुए हो तो अपने स्वरूपको नहीं जान सकता । स्वरूपके विज्ञानमें आड तो विषय उपयोग के हैं । साक्षात् आवरणनिमित्त की बात नहीं कह रहे । निमित्त कर्मोदय चलता है पर इस उपादानमे ही इसके ही घरमें आत्मविज्ञानकी ओट करने वाले कौन हैं ? ये विकार भाव । तो जिसका मन शुद्ध नहीं हुआ है वह पुरुष बड़े बड़े यम नियम शीलव्रत तपश्चरण आदिक भी करे तो भी आत्मानुभव नहीं कर सकता । अब सोच लीजिये कि सरलताकी कितनी कीमत है ? लोग किसीको धोखे मे डालकर अपनेको चतुर समझते हैं—हमने देखो

आज अमुकको कैसा धोखे में डाल दिया और खासकर जो रेलगाड़ी में जो बिना टिकट चलने वाले लोग हैं वे टिकटचेकर से लुक छिपकर बच आते हैं, बाद में वे बड़ा अहंकार करते हैं और यह भी कहते हैं कि देखो हमने कैसा टिकटचेकर को आज धोखा दिया है, पर भाई धोखा कोई किसी को नहीं देता है, जो सरलताके विरुद्ध भाव रखता है वह ही धोखा खाता है। स्वयंको उसने खोटे कर्मों से लिप्त कर लिया। प्रथम तो यह विश्वास होना चाहिये कि हम जो कर्तव्य करते हैं उन कर्तव्योंका फल भोगना पड़ेगा। कदाचित् इन कर्तव्यों में जितना श्रम किया है उससे कोई कोई श्रम, कोई कोई प्रताप यदि कुछ निर्मलताका बन जाय, तो भले ही वह फल भोगनेमें न आये, अन्यरूप बन जाय, पर उसमें यों ही निर्णय रखिये कि किए हुए कर्म भोगने ही पडते हैं। यदि तुरन्त भोग लिये जाते तो जगतमें धर्मकी व्यवस्था अच्छी बनती, पर पाप आज करते हैं, उसका हजारों वर्ष बाद फल मिल पाता है तो पहिले किये हुये पुण्यके उदयमें आज किए हुए खोटे भावों का फल जो नहीं मिल पाता, इससे लोक में धर्मवृत्तिकी अव्यवस्था बनी हुई है। किएका फल तुरन्त मिलता तो धर्मकी व्यवस्था बहुत अच्छी बनती। और एक बात बिगड़ीसी रही कि जो ज्ञानी हैं, धर्मात्मा हैं उनको तो कुछ गल्ती होनेपर तुरन्त सा फल मिल जाता है और जो अज्ञानी हैं, मोही हैं, पापी हैं उनको पापका फल बहुत देरमें मिल पाता है। इससे भी बड़ी अव्यवस्था बनती है, मगर इसमें एक तंत है। ज्ञानी पुरुष सम्यग्दृष्टि जन चरित्रवान पुरुष यदि कोई पाप कर्म करें तो उनके कर्मों की स्थिति कम बनती है और उसका फल जल्दी मिलता है, और जो मोही हैं, पापी हैं उनको फल देर में मिलता है, मगर कर्मों की स्थिति बहुत अधिक बधती है। तो मोही पापियोंको कर्मोदयकी स्थिति बहुत देरमें उदयमें आती है और चरित्रवान पुरुषोंके कर्मोदयकी स्थिति जल्दी उदयमें आती है, इस कारण भी धर्मकी एक अच्छी व्यवस्था नहीं बन पाती। तथ्य यह है कि जो जैसे भाव करता है उसको उस प्रकारका फल भोगना पड़ेगा। अपनेको सावधान बनाना चाहिये ना, जरासे लोभमें जरासी रतिमें हम अन्याय करें, अपने मनको अपवित्र बनायें तो उसका फल भी तो भोगना पड़ेगा। क्यों ऐसा अवसर दें कि हम आगामी कालमें क्लेशमें पड़ जायें ?

विलीनविषयं शान्तं निःसङ्गं त्यक्तविक्रियम् ।
स्वस्थं कृत्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम्॥१०९८॥

स्वस्थ मन करके ही योगियोंको अव्यय पदके लाभकी सभवता—मुनिजनों ने अपने मनको ऐसा स्वच्छ बना लिया जिससे अविनाशी पदकी प्राप्ति उन्होंने की। कैसा मन बनाया कि जहां विषय विलीन हो गये हैं देखिये कोई भी पदार्थ हो उसमें प्रतिसमय नवीन नवीन पर्याय बनती है। तब पुरानी पर्यायका क्या होता है ? उससे निकल जाती है क्या ? उसे किसी ने देखा है क्या निकलते हुये ? क्या होता है उस पुरानी पर्याय का ? पुरानी पर्याय न तो उस पदार्थमें बनी रहती और न निकलकर बाहर जाती। जैसे कोई पुरुष कभी क्रोध कर रहा था। अब उसके शान्ति जग गयी तो शान्तिकी पर्याय बननेपर यह तो बताओ कि क्रोधका अब क्या हुआ ? जो क्रोध पहिले इतना उमड रहा था उसका क्या हुआ ? क्या उस आत्मामें कुछ भी दबाव पड़ा है अथवा वह क्रोध उस आत्मासे निकलकर बाहर आ गया क्या ? न उस पदार्थ में है, न वह बाहर निकला है और है उसका सत्त्व। इसी को कहते हैं विलीन। समुद्रमें जैसे बहुतसी तरगें उठ रही थीं अब हवा न रहनेसे निस्तरंग हो गया समुद्र। यह तो बताओ कि समुद्रकी वे तरगें कहां गयीं ? समुद्रमें पड़ी हुई हैं या समुद्र से निकलकर कहीं पहुंची हैं ? समुद्रकी एक अवस्था थी, उसके विपक्षभूत दूसरी अवस्था आ गई तो इसीको कहते हैं विलीन होना। तो जहां विषय विलीन हो गए, पहिले विषयरूप परिणाम रहा, यह मन निर्विषय हो गया, शान्त हो गया तो वहां विषय विलीन हो गया। वह मन अब शान्त हो गया वह मन अब नि सग हो गया। उसके साथ अब न कोई मिथ्या भूत पर है और न भाव भूत पर है, न विकार है न उपाधि है। जिसने अपनी विक्रिया छोड दी, निर्विकार बन गया ऐसे स्वच्छ मनको करके मुनीश्वरोंने

नाशी परमपद को प्राप्त किया। तो जो उत्कृष्ट पद है, परम निराकुलता का स्थान है, उसकी प्राप्तिका उपाय मूलमें मन को शुद्ध बना लेना है, और मनकी शुद्धस्थिति वह है जहां सब जीवोंके प्रति सुखी होने की भावना या सबमें समानरूपसे रहने की भावना बन जाय, सबसे विलक्षण यों कहो कि अहकारमे वासित अपने आपको यह न माने और सर्वके समान अपनेको समझ ले तो समझो कि यह मनकी शुद्धि प्रकट हुई है।

दिक्चक्रं दैत्यधिष्ठयं त्रिदशपतिपुराण्यम्बुवाहान्तरालं।
द्वीपाम्भोधिप्रकाण्डं खचरनरसुराहीन्द्रवासं समग्रम्॥
एतत्त्रैलोक्यनीडं पवनचयचितं चापलेन क्षणार्द्धे—
नाश्रान्तं चित्तदैत्यो भ्रमति तनुमतां दुर्विचिन्त्यप्रभावः॥१०९९॥

चित्तदैत्यप्रभावकी दुर्विचिन्त्यता—कहते हैं कि इस चैत्यरूपी दैत्यका बड़ा दुर्निवार प्रभाव है, यह समस्त दिशाओंमें फैल जाता है। मनकी गति उतनी तीव्र होती है जितनी तीव्र और किसीकी नहीं बतायी जा सकती है। शब्दोंको भी देर लगती है कहीं से कहीं पहुचने मे। वायु को भी समय लगता है, तार बेतार वगैरहको भी समय लगता है। किन्तु इस मनके लिये कोई समय नहीं लगता। विचार करें और अलोकाकाशमें पहुच जावें। लोककी बात तो दूर है। विचार ही की तो बात है। तो समस्त दिशाओंमे इस दैत्यका गमन है। स्वर्गोंमें, मेघोंमे, द्वीपोंमें, समुद्रोंमें सर्वत्र यह मनरूपी दैत्य क्षणभरमे पहुंच जाता है। दोनों लोकमें सर्वस्थानों में चाहे वह वातवलयका स्थान हो, क्षणभरमे यह दैत्य घूम आता है, इसका दुर्निवार प्रभाव है। कभी-कभी अपने देहमें ऐसा लगता है कि कोई दो शक्तिया परस्परमे एक दूसरेको जवाब दिया करती हैं। मन विषयों में प्रवृत्तिका प्रस्ताव रखता है तो ज्ञान विवेक उससे रोकनेका यत्न रखता है ओर इस स्थितिमे मन अपनी बात रखता है, ज्ञान अपनी बात रखता है। जिसका मन प्रबल हो उसका मन जीत जाता है, ज्ञान हार जाता है और जिसका ज्ञान प्रबल हो तो मन हार जाता है और ज्ञान जीत जाता है। ऐसी कुछ दो चीजें हैं नहीं आत्मामें कि मन अलग हो, ज्ञान अलग हो। एक ही चीज है, ज्ञान मन भाव विचार। उन विचारोंमें उथल पुथल मचती रहती है। जब कोई मझोली पर्याय होती है जीवकी तो दुर्विचार और सद्विचार एकके बाद एक परिणमन करते हैं और अन्त मे यदि विचार खोटा है तो दुर्विचार हामी हो जाता है और यदि उसका मूलमे तथ्य है, प्रतिबोध है तो ये सद्विचार अपना अधिकार जमा लेते हैं। इस मनदैत्यको वश कर लेना आवश्यक है ओर देखिये मनके बहावमे यह जीव क्षणमात्रमें बह जाता है, परन्तु उसका फल चिरकालमे भोगना पडता है। तो मनका एक दुर्विचिन्त्य प्रभाव है, फिर भी जो धर्मीजन हैं वे मनको हटाने का ही यत्न किया करते हैं। चींटी कभी भींतपर चढ़ती है तो वह कई बार गिरती भी है, पर यत्न करते करते अन्त मे चढ ही जाती है, ऐसे ही यह मन इस ससारी प्राणीको हैरान कर रहा है, फिर भी यह विवेकी पुरुष हिम्मत नहीं हारता। कितने ही बार यह गिरता है, फिर भी यह जानता है कि आखिर हमारा ज्ञान ही शरण है। ज्ञानसे ही हमारा उद्धार होगा तो मनसे हार हारकर भी विवेकको ही आगे रखता है और विवेकसे अपने आपको बनानेका ही यत्न किया करता है। यह ध्यानके प्रकरणमे चित्तशुद्धिकी बात इसलिये बहुत जोर देकर कही जा रही है कि चित्तशुद्धि के बिना मनुष्य आत्मध्यानका पात्र नहीं हो सकता। और आत्मध्यानके बिना शान्ति अथवा मुक्तिका मार्ग नहीं मिलता। इस कारण चित्तमे उद्दण्डतायें बताकर चित्तसे विमुख होनेके लिये प्रेरणा दी गई है।

प्रशमयमसमाधिध्यानविज्ञानहेतो, विनयनयविवेकोदारचारित्रशुद्ध्यै।
य इह जयति चेतः पन्नगदुर्निवारं, स खलु जगति योगि ज्ञातवन्द्यो मुनीन्द्रः॥११००॥

चित्तजयी मुनीन्द्रकी वन्दनीयता—इस चित्तरूपी सर्पको जो योगीश्वर जीत लेते हैं वे बड़े-बड़े योगियों द्वारा भी वन्दनीय हैं। इस चित्तपन्नगको किस लिये जीता जाता है कि जो नियम लिया है आजीवन उस यमकी सिद्धिके लिये जो प्रसमकी भावना बनाया है, मैं कषायोंको उपशान्त करके प्रसमभावमें रहूगा, क्षमा आदिक रूप रहूगा, ऐसी जो भावना बनाया है उस भावनाकी सिद्धिके लिये इस चित्तपन्नगको जीता जाता है। जो समाधि समतामें कल्पनायें की हैं, भावना आई है कि मैं रागद्वेषसे दूर रहकर एक साम्यभाव रूप वर्तूंगा, उस समताकी सिद्धिके लिये चित्तरूपी सर्पको जीतना ही चाहिए। इस प्रकार ध्यान विज्ञानकी सिद्धिके लिए इस चित्तपन्नगको योगीजन जीता करते हैं, यह एक बहुत बडा आन्तरिक तपश्चरण है। देखिये ये इन्द्रियां जगतके प्राणियोंकी विषयोंमें प्रवर्तन कराकर जीवको परेशानी मे और बरबादीमें डालती हैं और इस मनको विकट प्रोत्साहन देती हैं। और इन सभी इन्द्रियोंद्वारा विगाड होता है और सभी इन्द्रियोंके विषय कठिन हैं, लेकिन रसना इन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय इन दो के विषय बड़े प्रवल हैं, और अन्य इन्द्रियोंके भी विषयोंकी प्रवलतामे ये दोनों इन्द्रिया सहकारी बनती हैं। बोलचाल करना, आंखोंसे निरखना ये अन्य इन्द्रियोंके भी प्रवलता के कारण बनते हैं। और कितनी सुविधा मिली है हम आपको कि और इन्द्रियोंपर तो ढक्कन नहीं मिले, आख और मुखपर ढक्कन मिले हैं। अगर कोई चीज नहीं खाना है अथवा कुछ नहीं बोलना है तो लो झट मुख बन्द कर लिया, पर इस मनके विषयको रोकनेके लिए क्या ढक्कन है सो बतावो? कुछ भी तो ढक्कन नहीं है। कानको भी कोई ढक्कन नहीं मिले हैं, स्पर्शन इन्द्रियका भी कोइ ढक्कन नहीं है, नाकका भी कोई ढक्कन नहीं है, पर आँखोंके लिए एक कितनी अच्छी सुविधा मिली है। कहते भी हैं कि मूदहु आँखि कितहु कछु नाहीं। आँखें बन्द कर ली, लो कहीं कुछ नहीं है। और देखो—मुखसे दो काम किए जाते हैं—एक तो वचन बोलनेका काम और एक स्वाद लेनका काम। ये दोनों ही काम बन्द किए जा सकते हैं। ओंठमे ओंठ चिपका लिया लो ये दोनों ही काम बन्द हो गए। इन दोनों इन्द्रियोंके ढक्कन बन्द हो जायें फिर शेष इन्द्रियोंमे प्रवलता रह ही नहीं सकती है। अब रही मनकी बात। इसमें भी कोई ढक्कन नहीं है। यहा भी कौनसा उपाय किया जा सकता है? कानोंके लिए भी कोई ढक्कन नहीं है। हाथसे कानोंको बन्द कर लिया, हाथसे नाकको भी बन्द कर लिया, पर इस मनको किस तरहसे मूंदे? न वहाँ हाथ जाये, न वहाँ किसी वस्तुका प्रवेश हो। यह भीतर ही भीतर मन-स्वच्छन्द होकर लोकमें यत्र तत्र घूमता रहता है। मनका ढक्कन क्या है, इसको रोकनेका प्रक्रिया क्या है? तो देखिये यह विचार भी अरूपी है और वह है तत्त्वज्ञान। विवेक ऐसा लगता है ससारके अनक प्राणियों को देखकर कि तत्त्वज्ञान और कल्याणकी बात तो शास्त्रोंकी ही है, मात्र एक चर्चा करने भरकी है, पर रोकना और मार्गपर चलना यह तो सम्भवसा नहीं लगता। लेकिन ऐसा तो वे ही लोग सोचते हैं जिनको सचमुच उस समय सम्भवसा नहीं है। जब हम यहा अनेक पुरुषो को देखते हैं—किसीमें मोह अधिक है किसीमें कम है, किसीमे और कम है तो इस न्यूनताको निरखकर हम यह तो ज्ञान कर ही लेते हैं कि मोहमे ऐसी कमिया दिख जाती हैं, तो जिसके मोह कम हो अथवा मोह न हो उसके तत्त्वज्ञान बनेगा ही। संयम आन्तरिक तपश्चरण सब साधन उसके बन जायेंगे।

अज्ञानियोंकी चित्तविजयमे कायरता— अपने आपको अज्ञानी जन ऐसा अनुभव करते हैं कि हम तो वह ही हैं जो ससारमे रुलने वाले ये सब प्राणि हैं और ज्ञानीजन अपने आपको ऐसा अनुभव करते हैं कि इन रुलने वाले प्राणियों से विलक्षण एक प्रभुपरमेष्ठी की बिरादरीमे हम एक छोटे भक्त हैं। एक बार कभी बड़ा भयकर युद्ध हो रहा था। मानो महाभारतका समय था। उस समय लोग प्रसन्नतासे उस युद्ध प्रसगमे शामिल हो रहे थे। एक पुरुष अपनी स्त्रीसे बडी डींग मारता था कि हम बड़े बहादुर हैं। लोग प्राय अपनी स्त्रीके सामने बडी डींग मारा करते है क्योंकि वहीं उनका वश चलता है, अपनी बडी-बडी कलायें और अतिशयकी बातें बतानेका। तो स्त्री बोली कि आज कल यह महाभारतका युद्ध हो रहा है, लोग खुशी-खुशी शामिल हो रहे हैं, यह देशसेवा है, आप भी देशसेवाके लिए जाइये। तो वह बोला कि मैं चला तो जाऊ

पर वहाँ तो सब मरनेकी बातें हैं। वहाँसे जिन्दा तो नहीं आ सकते। तो स्त्रीने उस पुरुषको समझानेके लिए एक काम किया कि चना दलनेकी जो चक्की होती है उसपर चने दलने लगी और उस पतिसे कहा कि देखो इस चक्कीमे जो चने दले गए है इसमेसे यह एक चना, यह दूसरा चना साबुत भी तो निकल आये हैं। तो ऐसे ही युद्धमे जितने लोग लड़ते हैं उनमे सभी नहीं मरते, कुछ बचकर भी आते हैं। तो वह पुरुष बोला कि देखो हम इन चनोंमे शामिल हैं जो चने चूरा हो गए हैं, हम उनमेसे नहीं हैं जो चने साबुत निकल आये हैं। तो ऐसे ही अज्ञानीजन मानते हैं कि हम इन रुलते हुए प्राणियोंमे के हैं और ज्ञानीजन मानते हैं कि हम तो जो मोक्षमार्गी ज्ञानी अन्तरात्मा पुरुष है उनमेके हैं। जो अपनेको जिनमेका मानेगा उन जैसी ही प्रवृत्ति बनेगी। तभी ये ससारीप्राणी मोहियोंकी भाति ही रुलते चले जाते हैं और ज्ञानीजन प्रभुकी ओर ही दृष्टि अधिकाधिक लगाया करते हैं। ये सब बातें तत्त्वज्ञान से सम्भव हैं। उस तत्त्वज्ञान द्वारा हम इस चित्तदैत्यको वशमे करें। इस प्रकार इस परिच्छेदमे मनशुद्धिकी बात कही गई है, उससे हमे यह शिक्षा लेनी है कि हम अपने विवेकके बलसे इस मनपर विजय प्राप्त करें।

निःशेषविषयोत्तीर्णं विकल्पव्रजवर्जितम्।
स्वतत्त्वैकपरं धत्ते मनीषी नियत मनः॥११०१॥

क्रियमाणमपि स्वस्थं मनः सद्योऽभिभूयते।
अनाद्युत्पन्नसम्बद्धै रागादिरिपुभिर्बलात्॥११०२॥

तत्त्वज्ञ जनोका मनोनियन्त्रण— बुद्धिमान पुरुष मुनि यदि अपनेको समस्त विषयोंसे उत्तीर्ण और विकल्पसमूहोंसे रहित तथा अपने अतस्तत्त्वके ध्यानमे ही लवलीन मनको बनाते हैं और आत्मस्वरूपके सम्मुख किया हुआ मन भी अनादिसे उत्पन्न हुए या बधे हुए रागादिक शत्रुवोको जबरदस्ती पीड़ित किए जाता है अर्थात् बहुत-बहुत इस मनको वशमे करनेका उद्यम करनेपर भी ये रागादिक शत्रु फिर भी इस जीवको सतानेका यत्न करते हैं। समाधि सतकमें बताया है कि अनादि कालकी अविद्याकी वासनाका ऐसा प्रभाव है कि तपश्चरणसे जिन्होंने अपने आपको कुछ शुद्ध भी बनाया है, फिर भी वह वासना कुछ बार अपना राग दिखाती है। इस जगतको जीतना अर्थात् इन्द्रियोंका विजय करना, अपने ज्ञायकस्वरूपमें विलीन करना यह एक बहुत ऊचा पुरुषार्थ है। बहुत यम नियम सयमसे रहनेपर भी रागादिक विकार इसे परेशान करते है, अतएव रागादिक विकार कैसे जीते जायें, उन विकारोंके जीतनेका उपाय इस परिच्छेद मे कहा जायेगा। जगतमे दुःख केवल रागभावका है और कुछ क्लेश ही नहीं है। मनुष्योके चित्तमे कोई न कोई झझट खडी हुई है, समस्या है, आपत्ति है, उलझन है, वह सब उलझन लोकव्यवहारमें उचित सी मानी जा रही है कि ठीक ही तो है। जब घरमें रह रहे है तो घरकी व्यवस्था अच्छी बनाना कर्तव्य ही तो है। कुछ भला कर्तव्य सा जच रहा हो लेकिन वहा है क्या? सब क्लेश एक रागभावका है। न छोडते बने उस पदवीमें यह दूसरी बात है पर रागभाव तो अपना असर दिखायेगा ही। जैसे हिंसा ४ प्रकार की बताया है—सकल्पी, उद्यमी, प्रारम्भी और विरोधी। उनमेंसे यद्यपि गृहस्थ तीन हिंसावोका त्यागी नहीं बन पाता, केवल सकल्पी हिंसाका त्यागी रहता है तो इसके मायने यह तो न हो जायेंग कि गृहस्थ उन तीन हिंसावोका करे तो उसका पाप न लगता होगा। जो जिस रूप परिणाम है वह परिणाम अपना प्रभाव बनाता है। इतनी बात है कि यह गृहस्थ उन तीन हिंसावोका त्यागी नहीं बन पाया। उन तीनका त्यागी बननेके बाद फिर उन हिंसावोको करता तो यह अधिक पाप माना जाता। इसमें प्रतिज्ञाभगका दोष लगता और नियमके भग हो जानेपर फिर वह स्वच्छन्द बन जाता है। पर गृहस्थ भी जैसे परिणामका करेगा उससे जो वध हो सकता है वह होगा ही। इसीप्रकार किसी पदवीमें कम राग परेशान करता है, कहीं बहुत ही कम राग परेशान करता है, पर विकारका जो कुछ भी प्रभाव है वह सबपर होता है।

मोहमे आत्महितकारी भावोकी कठिनता—भैया ! यो सोच लीजिए कि जिस पुरुषमें जो वासना पड़ी है, जो आदत बनी है, कुछ भी भेष धर लेनेपर उस आदतको कहाँ टाल दिया जायेगा ? यद्यपि तत्त्वज्ञान और वैराग्यका निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे आदत भी पलट दी जाती है, पर प्राय करके जो प्रकृति बन जाती है मनुष्यकी जन्मत उस प्रकृतिका कुछ न कुछ अश अन्त तक चलता रहता है। तो ये रागादिक भाव साधुवोंके भी उत्पन्न हो तो उनका भी वैसा ही कर्मबन्ध होता जैसा अन्य पुरुषोंमें हो सकता है। जिस जातिका राग है, जिस अनुभागका राग है उसके अनुकूल वहाँ भी कर्मबन्ध होता है। जीवको केवल एक रागका क्लेश है। राग न हो, किसी वाह्यपदार्थकी धुन न हो, किसी बाह्य जीवसे अपना स्नेह न लगाया हो तो उसे फिर क्या क्लेश है ? क्लेश है तो वह रागभावका है। सभीके क्लेशो की कहानी सुन लो, अन्तमे आप यही पायेंगे कि इसे किसी परपदार्थमें राग है जिसके कारण इसे क्लेश है। कोई बूढा अपने पौत्रोंके द्वारा सताया जाता है, पौत्र लोग मारते भी हैं, उस बूढेकी मूछ पटाते हैं, उससे वह बूढा परेशान होता जाता है। उसी समय निकला कोई साधु। पूछा कि क्यों तुम दुःखी हो रहे हो ? उस बूढ़ेने बताया कि हमे ये पौत्र बहुत परेशान कर रहे हैं। तो उस साधुने कहा कि हम कहो तुम्हारी इस परेशानी को दूर करदें। तो वह बूढा कहता है हा महाराज अगर हमारा यह दुःख दूर कर दो तो यह आपकी हम पर बडी कृपा होगी। बूढा सोचता था कि यह साधु महाराज कोई ऐसा मन्त्र पढ देंगे कि ये सारे पौत्र हमारे आगे शिर नवाये ही खड़े रहा करेंगे। पर साधुने कहा कि तुम अपना घर छोडकर हमारे साथ चलो तो तुम्हारे ये सारे दुःख दूर हो जायेंगे। तो वह बूढ़ा झुंझलाकर कह उठता है कि महाराज ये बच्चे चाहे मुझे मारें चाहे जो करें। फिर भी हम इनके बब्बा तो मिट जायेंगे और हमारे पोते तो न मिट जायेंगे। आप कौन बीचमें दलाली करने आ गए ? तो जिनसे क्लेश मिलता है उनमे ही रमते जाते हैं, दुःखी होते जाते हैं, मोहमें ऐसी ही स्थिति होती है। मोहसे ही तो क्लेश उत्पन्न होता है और क्लेशको मिटानेका उपाय भी यह मोह ही करता है। किसी वस्तुके रागसे कोई वेदना उत्पन्न हो, क्लेश उत्पन्न हो तो यह उस क्लेशको मिटानेके लिए फिर रागकी ही बात सोचता है और यत्न करता है। जैसे खूनका दाग कोई कपड़ेमें लगा हो और उसे कोई खूनसे ही धोवे तो क्या वह खूनका दाग छूट जायेगा ? नहीं छूट सकता। इसी प्रकार जिस बातसे क्लेश मिलता है उस ही बातसे क्लेश मिटाना चाहें तो वह क्लेश नहीं मिट सकता है। सुख शान्ति के मार्गमे लगाना है तो रागादिक विकारोंको हटाना होगा। रागका प्रवर्तन करना, काम करना है तो आसान कामपर रागका परिहार करना मुश्किल काम है और एक अपने स्वभावकी ओरसे देखो तो रागसे अलग बना रहना यह तो है आसान काम और किसी वाह्य पदार्थमे राग बनाना यह है बडा कठिन काम। उसके लिए कितनी ही अपेक्षा चाहिए, उस प्रकारका उदय हो, उस प्रकारके साधन हों तो राग किया जा सकता है, और रागरहित केवल ज्ञानमात्र अपने आपको प्रवर्तानेमे किसीकी अपेक्षा नहीं करनी होती। लेकिन जब मोह ज्वर लगा है उसका बडा सताप चल रहा है तो इसे रागकी बात तो आसान मालूम होती है और रागरहित ज्ञानमात्रका अनुभव करनेकी बात कठिन मालूम होती है।

रागको निर्मूल कर देनेपर ही शान्तिका लाभ— भैया ! निःसन्देह यह निर्णय रख लीजिए—यों समझिये जैसे वज्रपर लिखा हुआ वाक्य हो। यदि परम शान्ति चाहिए तो रागको समूल नष्ट करना होगा, दूसरा और कोई उपाय नहीं है अपने आपको उत्कृष्ट शान्तिमें ले जानेका। अब जितनी देर करें उतना ही ससारमें रुलें ने। जो कार्य करनेका है वह कार्य यदि शीघ्र कर लिया जाय तो शीघ्र नफा पायेंगे और देरमें किया जाय तो देरमें नफा पायेंगे, उतने समय तक और रुलना पड़ेगा। तो निर्णय एक ही रखिये-सारे राग हमारी बरबादीके साधन हैं, कोई भी राग मेरा हितस्वरूप नहीं है। केवल उन रागोंमें ऐसा तार्तम्य हो जाता है कि जिससे यह राग भला है यों कहने लगते हैं। जैसे कि बुखार १०४ डिग्री हो और थोडी देर बाद १०१ डिग्री रह जाय तो वह रोगी कहता है कि अब तो हमारी स्थिति अच्छी है, पर स्थिति

कहाँ अच्छी है, बुखार तो अब भी है लेकिन कम बुखार होनेसे वह आकुलता नहीं रही, अतएव वह अपनेको शान्त और सुखी सा अनुभव करता है। यह बात इस रोगीकी है। कोई इन्द्रिय विषय सम्बधी राग होता है तो उसमें बडी आकुलता रहती है और सधर्मीजनोंको सगतिमें रहना, गुरुजनोंके वचन सुनना यह भी राग है, लेकिन यह राग ऐसा है जैसे कि १०४ डिग्री बुखारके आगे १०० डिग्री रह जाय तो इस शुभ रागसे यह मानते हैं कि कुछ हमारी स्थिति अच्छी है, लेकिन बुद्धिमान रोगीको १०० डिग्री बुखारमें सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए। उसे भी दूर करे। इस ही प्रकार किसी भी विवेकी बुद्धिमान पुरुषको इन शुभ रागोंमें सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए। जैसे कोई साधु अनशन काम-क्लेश सर्दी-गर्मी आदिकके क्लेश सहता है। तो तपश्चरण करता है निष्कपट करता है, अपने शुद्ध विचारसे करता है। उसे यशकी वाञ्छा नहीं है। उन तपश्चरणोंको करके वह किसी भोगकी भी वाञ्छा नहीं रख रहा है लेकिन भेदविज्ञान नहीं है, तत्त्वज्ञान नहीं है, अपने सहजस्वरूपपर लक्ष्य नहीं पहुचता, एक धर्मसनायमें जैसा कुछ चला आ रहा है उस तरहकी वृत्ति करके अपने आपको एक कल्याणमय मानता है अर्थात् उन तपश्चरणोंमें सन्तुष्ट हो जाता है। ऐसा सन्तुष्ट हो जाना उसकी उन्नतिमे बाधा देने वाली बात है। शुभ रागमे सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए। रागकी किसीका भी हो तो उसे धुनियाकी तरह मोड मोडकर समूल नष्ट कर देना चाहिए। जैसे धुनिया रुई धुनता है तो वह सब तोले-तोलेभर रुईको ऐसा क्रमसे धीरे-धीरे धुनता है कि सब धुन जाय, ऐसे ही इस रागको ढूढ़-ढूढ़कर, निहार निहारकर तत्त्वज्ञानी पुरुष, बुद्धिमान पुरुष नष्ट कर डालता है। जब रागसे रहित हो जाय, वीतराग पद प्राप्त हो तब उसके कल्याणकी स्थिति समझियेगा।

शान्तिधामके दर्शन करनेपर वैराग्यकी सहजता – ये रागादिक दूर करने ही होंगे तब शान्तिका पद मिलेगा। ऐसा विचारने वाले पुरुषके वर्तमानमें राग होता है तो वह भी ऐसा होता है, ऐसा निकल जाता है ऊपर ही ऊपरसे जैसे कि बहुत बड़े पानीके ढेरपर मिट्टीका तेल आ जाय तो वह तेल ऊपर ही ऊपर लोटता रहता है और निकल जाता है, भीतर प्रवेश नहीं करता, ऐसे ही ज्ञानी पुरुषमें रागभाव आता है तो उनपर ऊपर ही ऊपर लोटता हुआ निकल जाता है ऐसा ही अन्तरमें इस सम्यग्दृष्टिका बल है। नारकी सम्यग्दृष्टि हो वह मारकाटमे खुद भी लगता, दूसरोंके द्वारा भी मारा कूटा जाता है इतनेपर भी इतनी घोर विपत्ति पड़नेपर भी वह नारकी जीव तत्त्वज्ञानी आत्मा उससे अपने आत्माके स्वरूपको न्यारा अनुभव करता है, जिस परिस्थितिसे यह कहा गया है कि वह सम्यग्दृष्टि नारकी भी अन्तरङ्गमे सुखरससे गटागट भरा हुआ है। तिर्यञ्चोंमे भी पशु-पक्षी संज्ञी जीव अथवा मगरमच्छ आदिक जलचर जीव जो सम्यग्दृष्टि हों वे तिर्यञ्च गति सम्बधी नाना मौज प्राप्त कर रहे हैं। इतने पर भी वे विपदावोंको अपनेसे न्यारा समझते है और मौजों से भी अपनेको जुदा समझते हैं। इस कारण सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च गतिके जीव भी अन्त निराकुल रहा करते है। ये सब उदयकृत बातें हैं। कोई किसीके आधीन बस जायें पशु और मालिक जैसा चाहे तैसा उन्हें चलाये, पीटे रखे किन्तु वह यदि तत्त्वज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि जीव है तो ऐसे क्लेशोंमे रहकर भी वह अन्तरगमें निराकुल है। मनुष्यगतिमे भी अनेक तरहकी घटनाए होती हैं। मौजको भी वे लोग विपदा मानते हैं जिन्होंने इस जगतके सब मायाजालोंसे भिन्न अपने आपके स्वरूपका निर्णय किया है। और, चूकि मनुष्य गतिमे सयम धारण किया जा सकता है तो वह मनुष्य सम्यग्दृष्टि जीव उस सयमकी ही प्रतीक्षा किया करता है। देखिये जो समागम हैं ये सब विघट जायेंगे, ये सब छूट जायेंगे। अब इन समागमोंको आशा बना बनाकर आयुके अन्तमें बुरी मौत मरे, इस तरह ये समागम छूटे। अपने जीवनमे भेदविज्ञानकी भावना बनाकर जो कुछ ये समागममें आये वे सब अहितरूप हैं, इनसे मेरा कल्याण नहीं है। ऐसे जीवनमें भी विविक्त रहकर अपने समयमें समाधिभाव रख कर मरे। छूटता है, मगर अपनी ओरसे इन्हें छोड दे तो इससे मेरी कुशलता है और मरण आनेपर तो छूट ही जायेगा पर ऐसे छोडनेमे कोई वीरता नहीं है। बड़े-बड़े पुरुष

भी बस इस नियमके आगे अपने घुटने टेक देते हैं। बड़े-बड़े पहलवान हुए, जिन्हें अपने बलका बड़ा मद था, पर सबके घुटने इस नियमके आगे टिक गए। यहाँपर एकसे एक चतुर व्यक्तियोंने इस सम्पदाको रोकना चाहा पर रुकी नहीं, वे सब भी इस नियमके आगे झुककर चले गए। यह ही नियम, यह ही वियोग इस आत्माकी भलाईका कारण बन जाता है।

लौकिक सुखोमे उन्नतिका अनवकाश —देखिये जिन भवोंमें मौज बहुत रहता है, दुःख आता ही नहीं, उन भवोंकी स्थिति देख लो क्या अच्छी है और इस मनुष्यभवमें सयोग वियोग होना, धनी निर्धन होना, शरीरमें रोग होना आदिक अनेक प्रकारके क्लेश चलते हैं तो ऐसे क्लेशवाले मनुष्यभवमें देख लीजिए कि कितना कल्याण किया जा सकता है? देवगतिके जीव जो देव जन्मसे लेकर अन्त तक बडी मौज में रहते हैं, अपने नाना शरीर बना लें, जैसा चाहे रूप बना लें, भूख प्यासकी भी वेदना नहीं होती, बहुत-बहुत मौजमें हैं, सुखियापनमें हैं लेकिन वे देव अन्तमे मरते ही तो हैं। लोग कहते हैं कि इस मनुष्यका आखिरी कल्याण वैकुण्ठ है, वह वैकुण्ठ है क्या? नवग्रैवेयक अधिकसे अधिक और वे वैकुण्ठसे वापिस होना मानते हैं। चिरकाल तक रहता है अन्तमे उसका भी अन्त होता है और फिर नीचे इसे जन्म लेना पडता है, इसका नाम वइकण्ठ है। यों समझिये कि लोकका नक्शा पुरुषाकार है। और उस नक्शेमे जो कठकी जगह है वह है ग्रैवेयक। ग्रैवेयकका भी वही अर्थ है जो वैकण्ठका है। ग्रीवा मायने भी कठका है, ग्रीवासे ग्रैवेयक बना। तो वैकुण्ठ तक भी हो आया, और चिर काल तक इसने बहुत मौज भी माना। जहाँ शुक्ल लेश्या है, जहा कोई विपत्ति नहीं है, रागद्वेषादिक जहां अत्यन्त मद हैं, ऐसी स्थितिके पानेके बाद भी देवको मरनेके बाद फिर देवगति नहीं मिलती? उन्हें यहा अशुद्ध शरीरमें ही जन्म लेना पडता है। लेकिन ऐसी ऊची जगह तक पहुचते हुए और स्वर्गोंके जीव या मनुष्य या तिर्यचकी पर्यायमें जन्म लेना पडता है। देवमे मरनेके बाद फिर देवगति नहीं मिलती। जिनके भवमे मौजकी प्रचुरता है उनकी परिस्थिति बतायी जा रही है, वे निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकते। मनुष्योंमें भोगभूमिके मनुष्य बड़े मौजमें रहते हैं। वहाँ वियोगका क्लेश नहीं, आजीविकाका क्लेश नहीं लेकिन वे मनुष्य भी मर करके अथवा अन्तमें कोई उच्च गतिको प्राप्त नहीं कर पाते। अधिकसे अधिक दूसरे स्वर्ग तक ही तो उत्पन्न होते हैं। तो जिन भवोंमें मौज है वे अपनी प्रगति नहीं कर पाते और यहां कर्मभूमिके मनुष्योंमे वियोगके क्लेश, शारीरिक रोग आदिकके क्लेश, कितने क्लेश हैं, ऐसे क्लेशवाले भवमें रहनेवाले मनुष्य ऐसा उत्कृष्ट वैराग्य प्राप्त कर लेते हैं कि वे निर्वाणको भी प्राप्त हो जाते हैं। एक भवकी एक साधारण बात कही जा रही है। तो सम्यग्दृष्टि मनुष्य विपदावोंसे घबडाता नहीं, वह अकम्प अपने ज्ञानस्वभावको निहारता रहता है और मौजोंमें आसक्त नहीं होता। उन मौजोंमें भी निराकुल अपना ज्ञानस्वरूप प्रतीतिमें रखता है। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष, तत्त्वज्ञानी पुरुष उनपर रागादिक भी गुजरें तब भी वे उन रागादिक विकारोंसे भिन्न अपने स्वरूपकी बराबर प्रतीति बनाये रहते हैं। यह भी एक बडा पुरुषार्थ है और रागादिक गुजरें ही नहीं, दूर हो जायें तो यह ऊचा ही पुरुषार्थ है। रागादिक का समूल नष्ट हो जाना यह ही परमशान्तिका उपाय है, उसका उपाय अब ही से बनाना चाहिए जिससे ये रागादिक क्षीण हो जायें। ये सारे समागम तो छूटेंगे ही, इनको पहिलसे ही छूटा हुआ अनुभव करलें तो ये एकदम समूल भी नष्ट हो जाया करते हैं।

स्वतत्त्वानुगतं चेतः करोति यदि संयमी।
रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति भ्रमसागरे ॥११०३॥

रागादिकोकी बलवत्ताका सकेत—रागादिक भाव ही जीवको दुःख देते हैं। यों तो ससारमें अनेक जीव हैं और अपनेसे सब जीव एक समान न्यारे हैं। इन सब जीवोंमें ऐसा कुछ भी नहीं है कि यह मेरा

हो अथवा यह गैरका हो। सभी जीव अपनेसे न्यारे हैं लेकिन उनमें रागभाव होता है, स्नेह जगता है तो उससे क्लेश ही होता है। मोह रागद्वेषमें कोई जीव सुखी नहीं हो सकता। दुःख इतना ही मात्र है। जो राग लगा है बस उतना ही क्लेश है। जो नाना तरहके क्लेश मानते हैं सो वे सब नाना क्लेश नहीं है, वे सब एक जातिके क्लेश हैं, अपने स्वरूपसे चिगे और बाहरी पदार्थोंमे चित्त लगाया, यह मेरा है यही है सारा क्लेश। तो सयमी पुरुष निज अन्तस्तत्वमे लगे हुए चित्तको भी यदि रागादिक भाव कुछ आये चित्तमें तो उसे फिर भ्रष्ट कर देता है। रागादिक भाव ऐसे उत्कृष्ट मनको भी भ्रमसागरमें पटक देता है। इससे यह यत्न करना चाहिए कि ये रागादिक भाव हमपर हामी न बन जायें। एक रागभाव भीतरमे न बनने दें, फिर क्लेश न रहेगा। क्लेश सब मान रहे हैं, पर क्लेशका कारण जो राग है उसको छोड़नेकी भावना भी नहीं करते। तब बतावो रागादिक छूटे बिना शान्ति कैसे हो सकती है?

आत्माधीनमपि स्वान्तं सद्यो रागैः कलङ्क्यते।
अस्ततन्द्रैरतः पूर्वमत्र यत्नो विधीयताम् ॥११०४॥

रागविजयके लिये अस्ततन्द्रताकी आवश्यकता —ऐसा भी मन बना लिया जिस योगी पुरुषने कि अपने आधीन हो गया हो फिर भी यदि रागभाव जगता है तो ऐसा पवित्र किया गया मन भी शीघ्र कलंकित हो जाता है। अत निष्प्रमाद होकर पहिले इसी विषयमें ही यत्न करना चाहिए, ऐसा तत्त्वज्ञान चित्तमें रखना चाहिए कि रागादिक भाव फिर हमारे चित्तको मलिन न करदें। गृहस्थचर्या भी बहुत विधिकी चर्या है। यद्यपि यह साक्षात् मोक्षका मार्ग नहीं है लेकिन जिनको तत्त्वज्ञान जगा हो, जिसने अपना लक्ष्य सम्हाल लिया हो वह गृहस्थीमें रहकर अपनी चर्याको बहुत पवित्र बना सकता है। गृहस्थचर्यामे तीन वर्गसे काम पडता है धर्म, अर्थ और काम। तत्त्वज्ञानी गृहस्थको इन तीन कामोंमे भी व्यग्रता नहीं रहती। धर्मके समय शुभोपयोगके समय, पूजा आदिकके अवसरमें धर्मध्यान बनायें और जब आजीविकाका समय हो तब दूकानपर आजीविकाका कार्य किया और शेष समय गृहसमाज व्यवस्था आदिकके कार्य किया तो उस वातावरणमे कलुषताका भी कहाँ अवसर है? तत्त्वज्ञान न हो, अज्ञान बसा हो तो उसे सब जगह कलुषता रहती है। लक्ष्यमें यह आना चाहिए कि यह जगत यह घर यह समागम केवल मायाजाल है, स्वप्नवत् है, सारभूत कुछ है नहीं। सयोग हुआ है तो इनका वियोग जरूर होगा, इनमे क्या रमना? हितकी बात तो अपने आपमे अपनी दृष्टि बना लेना है और अपनेमे मग्न रहना है। ऐसा लक्ष्य बन जाय, ज्ञानदृष्टि बन जाय फिर यह गृहस्थ घरके कर्तव्योंको निभाकर भी पवित्र चित्त रहा करता है और साधुजन तो वे ही कहलाते हैं जो ज्ञानकी साधना बनाये रहें, जिनको इतना स्पष्ट भेदविज्ञान हो गया वे आत्मतत्त्वकी ओर दृष्टि बनाये रहा करते हैं। उन्हें रागादिकसे मलिन होनेका कहाँ अवसर है? तो गृहस्थावस्थामे गृहस्थके योग्य रागादिक न होना और साधु अवस्थामे साधुके योग्य रागादिक न होना इसके लिए हमे यत्न रखना चाहिए।

अयत्नेनापि जायन्ते चित्तभूमौ शरीरिणाम्।
रागादयः स्वभावोत्थज्ञानराज्याङ्गघातकाः ॥११०५॥

रागादिकोकी ज्ञानराज्यघातकता —प्राणियोंके चित्तरूपी भूमिमे ये रागादिक विकार बिना ही यत्नके अनायास ही उत्पन्न हो जाया करते हैं और ये रागादिक उस ज्ञान राज्यका घात करते हैं जो साम्राज्य स्वभावसे उत्पन्न होता है। इसमे यह बात भी बता दी गई कि एक तो, अनादिकालसे रागादिकमें वासित चित्त होनेसे स्वभावसे ही रागादिक उठ रहे हैं, अनायास ही बिना श्रम किए और फिर कभी रागका साधन बनाये, कुछ ज्ञान कला पाये तो फिर उसके रागादिक विप्लवका ठिकाना ही क्या है? यह भाव केवल पीडा ही करता है। अपनी बीती हुई घटनावोंमे सब सोच लो। रागादिक करनेका फल कभी मधुर

नहीं हो सकता। जितने काल भी उस समागममे रहकर मौज माना उतने कालमे एक बहुत बडी गल्ती की है। जैसे कि जिसकी जितनी उमर गुजर गई है उसे लग रहा है ना कि यह इतनी उमर कैसे चली गयी, और अभी ऐसा मालूम पड़ता कि बहुत बड़े दिन होते। अरे आज बहुत बड़े दिन लग रहे। पर ये जो ५० - ६० वर्ष गुजर गए वे कैसे लग रहे ? वे भी तो यों ही चले गए। उनके समय की लम्बाई अनुमानमे नहीं आती। तो समागम जो प्राप्त हुआ है इसका वह कितने काल का समागम है ? उसमें क्या हर्ष मानना ? ये रागादिक भाव बनाये गए समागममें तो वियोग होनेपर यह बहुत क्लेश पायगा नियमसे। ज्ञानका सहारा लिए बिना हम आपका गुजारा न होगा चैन न मिलेगी। इस बाह्य वातावरणमे विकारोंमें उलझकर हम कुछ पूरा नहीं पाड सकते, दुःखी ही रहेंगे। हम आपकी गल्ती क्या है ? बड़े-बड़े महापुरुष भी अपने जीवनमे कैसे-कैसे चरित्र कर गए उन्हें तो निहारिये। संयोग वियोग में कैसे-कैसे क्षोभ मचाये ? अब वे कहाँ रहे ? तो ये कुछ इष्ट समागम पाकर या उसकी कल्पनाएं करके या उन साधनोंसे सुख होता है ऐसी अपनी बुद्धि बना करके जो विकार उत्पन्न किया जाता है वह विकार हमारे ज्ञानसाम्राज्यका घात करने वाला है। बहुत ही शीघ्र इन रागादिकोंके दूर करनेका यत्न करना चाहिए और विचार रहना चाहिए।

निर्विकार स्वत्वके परिचयमे चतुराई —भैया ! कुशलतामें इतना ही फर्क है कि जो बुद्धि कुछ समय बाद आयगी वह बुद्धि कुछ समय पहिले आ जाय इतना ही सारा अन्तर है। इतनी त्रुटि हो जानेपर किसीको वह त्रुटि घटाभरमें ही समझमे आ जाती है। किसीको दो चार दिनमे समझमें आती है और किसी को ५ मिनटके बादमे ही समझमें आ जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव जिस समय गल्ती कर रहा है उसी समय समझता रहता है, यह है सारा अन्तर। अपने अनुभवसे देखलो। गल्ती करते हुए यह नहीं लगता कि हम कुछ गल्ती कर रहे हैं, पर गल्ती कर चुकनेके बाद कुछ समयके अनन्तर महसूस होता है ओह ! मैंने गल्ती की थी। तो जो बुद्धि कुछ समय बाद जगेगी वह बुद्धि अभी ही तुरन्त जग जाय, त्रुटियोंके समयमें भी जगती रहे बस यह सम्यग्दृष्टिकी कला है, वह मोक्षमार्गीकी प्रवृत्ति है। प्राणियोंकी चित्तरूपी भूमिमे ये रागादिक अनायास पहुंच जाते हैं। प्रभुसे यही तो प्रार्थना करना है, प्रभु एक पवित्र ज्ञानमूर्ति है, मुझे अपने उपयोगके निकट विराजमान करके यह भाव करना है कि हे प्रभो ! अज्ञानका उपद्रव मेरा समाप्त हो। उस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके निकट अधिक बसा करूं—यह भावना प्रभुपूजाके समय अपने चित्तमें भरता है ज्ञानीजीव। और कुछ नहीं चाहता। निर्बाध होकर धर्मसाधना करना। क्यों ज्ञानी पुरुष तुम्हें वैभव न चाहिए क्या ? क्या करें वैभवका ? भिन्न पदार्थ है, करोडोंका भी वैभव हो तो उससे मुझे लाभ क्या ? क्यों भक्त तुझे अपना यश न चाहिए क्या ? हे प्रभो ! क्या करू यश नामका, किसको अपना नाम जताना है, कौन यहाँ समर्थ है, अधिकारी है या मेरा पालनहार है या कौन यहा मेरा सुधार बिगाड करने वाला है ? हे प्रभो ! यहाँ तो मेरा कोई प्रभु नहीं है, मैं यहाँ किसको क्या जताऊ, ऐसा निर्वांछ होकर ज्ञानी पुरुष प्रभुउपासन में ज्ञानसाधनामें जुटता है।

इन्द्रियार्थानपाकृत्य स्वतत्त्वमवलम्बते।
यदि योगी तथाप्येते छलयन्ति मुहुर्मनः ॥११०६॥

रागादिको द्वारा भावमनका छलन —योगीपुरुष इन्द्रिय विषयोंको दूर करके आत्मतत्त्वका आलम्बन लेते हैं, फिर भी ये रागादिक भाव बराबर इस मनको उलझाते छलते हैं। एक बार समवशरणमे किसी एक श्रावकने अपने किसी गुरुके बाबत पूछा—महाराज वह मुनिराज किस भावके है, कहो उनका जन्म होगा ? तो उत्तर मिला कि अभी अभी आध मिनट पहिले ऐसा परिणाम था कि उस परिणाममे यदि वह मरता तो नरक जाता और अब उसका ऐसा परिणाम है कि मृत्यु हो तो वह स्वर्ग जायगा। तो ये विकार क्षण-क्षणमें कितना ऊंच और नीच बदलते रहते हैं। इन्द्रियके विषयोंकी वासना भी नहीं रही। आत्मतत्त्वका आलम्बन

भी अधिकतर किया करता है ऐसा ज्ञानी और विरक्त है साधु, तिसपर भी ये रागादिक उनके मनको छलते रहते हैं। बैरी हैं अपने ये रागादिक भाव। दूसरा जीव कोई बैरी नहीं। जिस बातमें राग लगा है वह राग दुःखी कर रहा है। किसीको सम्पदामें राग है, तो वह राग बैरी है। सम्पदाके घात करने वाले अथवा यह सम्पदा कोई वैरी नहीं है, राग वैरी है। कभी कभी किसी जीवको धर्मात्मा जन भी नहीं सुहाते और ऐसी स्थितिमें वे दुःखी रहा करते हैं। तो क्या उसको धर्मात्माने दुःखी कर दिया ? नहीं। कुछ उसे अपने विषय लगे हैं अपनी आदत अपने आचार उसके न्यारे हैं जिसमें लाचार होकर वह धर्मात्माजनोंको भी अपना वैरी समझ लेता है। एक दोहा बहुत प्रसिद्ध है। एक सूम कहीं दूसरे धनीको दान करते हुए देख आया तो उसके बुखार चढ आया। अहो ये लोग कैसा लुटाये दे रहे हैं। उसकी उदासीको देखकर नारी पूछती है—"नारी पूछे सूमसे काहे बदन मलीन ? क्या तेरो कछु गिर गयो या काहुको दीन ?" स्त्री क्या पूछती है कि आज आप इतने उदास क्यों हैं ? आपने आज किसीको कुछ दे डाला है या आपका कुछ गिर गया है ? तो वह पुरुष उत्तर देता है "ना मेरा कछु गिर गयो ना काहूको दीन। देतन देखा और को तासो बदन मलीन ॥" हे नारी ! मेरा कुछ गिर नहीं गया है और न किसीको कुछ दे डाला है, पर औरोंको दान देते हुए देख लिया, कैसा वे सारा का सारा धन बड़े परिश्रमसे कमाया हुआ लुटाये दे रहे थे, इस बातको देखकर आज मेरा मन मलिन है। तो अपने ही आचार के कारण कुछ पुरुष ऐसे होते हैं जो धर्मात्माजनोंको भी अपना बैरी समझ लेते हैं। निष्कर्ष यह निकालें कि किसी न किसी पदार्थमें राग लगा है जिससे यह जीव दुःखी है।

क्वचिन्मूढं क्वचिद्भ्रान्तं क्वचिद्भीतं क्वचिद्रुतम् ।
शङ्कितं च क्वचित् क्लिष्टं रागाद्यैः क्रियते मनः ॥११०७॥

रागादिकोंद्वारा मनकी दुःस्थिति —ये रागादिक भाव मनको ऐसा बना देते हैं कि यह मन कभी किसी पदार्थमें मोहित हो जाता है और कभी किसी पदार्थमें। कभी मन भ्रमरूप बन जाता है बावलों जैसा। यहाँ देखा, वहाँ देखा, यहाँ गया, वहाँ गया। यों बावला बन जाता है और कभी यह मन भयभीत हो जाता है। ये सब रागादिकके फल हैं। तीव्र राग होनेके ये फल हैं कि मूढ़ बन जाय, भ्रान्त बन जाय और भयभीत बन जाय। जिस पदार्थमें राग है उसके पीछे सारे क्लेश बने रहते हैं। एक गुरु शिष्य थे। गुरुको कहींसे ७-८ किलोकी एक सोनेकी मूर्ति मिल गयी। जहाँ कहीं भी जाये वह ईंट शिष्यके शिरपर रख दे। गुरु आगे चले और शिष्य पीछे। जब कभी जंगल आवे तो गुरु शिष्यसे कहता कि देखो बेटा चुपकर चलना, आहट न हो। क्योंकि यहाँ डर है। एक दिन क्या हुआ कि रास्तेमें उस शिष्यने एक कुवेंमें उस ईंटको पटक दिया। गुरुने शिष्यसे फिर कहा—देखो बेटा यहाँ डर है, चुपकर चलना, आहट न होने पाये। तो वह शिष्य कहता है—महाराज आप खूब निःशंक होकर चलो, डरको तो मैंने कुवेंमें पटक दिया है। तो किसी भी वस्तुमें अगर रागभाव बना है तो मनकी ऐसी ही स्थिति बन जाती है। मनमें भ्रान्ति रहती है, मन भयभीत रहता है। निष्कर्ष यह निकला कि हम आपका जो कुछ भी दुःख है वह परवस्तुमें जो राग बना है उसका दुःख है। इस दुःखको मिटानेके लिए हम आपको भरसक प्रयत्न करना है। बहुत-बहुत श्रम करते लेकिन उन श्रमोंसे फायदा क्या ? दुःख तो होता है रागभावसे। यदि ऐसा तत्त्वज्ञान जगे कि मैं विषयोंसे दूर हो जाऊं तो फिर समझिये कि सारे क्लेश दूर हो गए।

अजस्रं रुध्यमानेऽपि चिराभ्यासाद्दृढीकृताः ।
चरन्ति हृदि निःशङ्का नृणां रागादिराक्षसाः ॥११०८॥

रागादिकोंकी कुपथमें निःशंकवृत्ति —मुनियों के निरन्तर वश किए हुए मनमें भी ये चिरकालसे वासनामें चले आये हुए रागादिक राक्षस निःशंक होकर इनमें परिणति करते हैं अर्थात् बहुत यत्न किया,

ज्ञान वैराग्य, तपश्चरण, संयम आदिकसे अपने आपके मनको बहुत पवित्र बनाया फिर भी अनादिकालसे लगी हुई मोहकी जो अभ्यास चल रहा था, वासना चल रही थी उस संस्कारके कारण इतना ऊँचे उठने पर भी ये रागादिक निःशंक होकर इनमें नाचते हैं, और फिर वहाँ आत्माका पतन होता है। इससे बढ़कर और क्या उदाहरण होगा कि कोई साधुपुरुष उपशम-श्रेणीमें चढ़कर ११ वें गुणस्थानमें पहुंच जाता है और वहाँ रागका उदय आता है तो कैसा गिरते-गिरते पहिले गुणस्थानमें पहुंच जाता है? मोह और मिथ्यात्वमें पगा जाय, इससे बढ़कर और क्या उदाहरण हो सकता है? ऐसा प्रमाद करके थोड़ी त्रुटि करे, लापरवाही हो जाय तो ये रागादिक भाव आत्मामें उत्पन्न होकर, जो कुछ किया हुआ था धर्म, उन्नति उसे भी ये खतम कर देते हैं। बहुत जरूरी चीज है कि ज्ञानमें उपयोग बना रहे। इसके लिए स्वाध्याय और सत्संग ये दो अवश्य होने चाहिए। स्वाध्याय और सत्संगति करके ज्ञान अपना विशुद्ध बना रहे तो हम इन रागादिक भावोंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। स्वाध्याय और सत्संगको इस जीवनमें प्रमुख स्थान देकर रागादिक भावोंपर विजय प्राप्त करें। यही शान्त होनेका सुगम और सीधा उपाय है।

प्रयासैः फल्गुभिर्मूढ किमात्मा दण्ड्यतेऽधिकम्।
शक्यते न हि चेच्चेतः कर्तुं रागादिवर्जितम् ॥१०९॥

मनको रागादिवर्जित किये बिना दण्डविनाशकी असंभवता—कहते हैं कि हे मुग्ध प्राणी! यदि अपने चित्तको रागादिकसे रहित नहीं बना सकते तो व्यर्थके बड़े-बड़े परिश्रमोंसे, तपश्चरणोंसे, कायक्लेशोंसे आत्माको इतना अधिक दण्ड क्यों देते हो? अर्थात् रागादिक मिटें तो अन्य प्रकारके श्रम करना, खेद करना निष्फल है। जो प्रयोजन था दीक्षाका, जो प्रयोजन था साधनाका वह है मोक्षमार्ग। उसकी सिद्धि नहीं होती है जब तक सम्यग्ज्ञान और चारित्र नहीं बनता। अपने चित्तको कोई रागरहित करले तो उसने किया सर्व कुछ पुरुषार्थ संसारके संकटोंसे छूटनेका। और वहाँ चित्तको रागरहित तो बना न पाये, और बाहरी क्रियामें कुछ भी करे तो उससे मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं होती। अतः हे मुमुक्षु! ऐसा तत्त्वज्ञान जगा, ऐसा वातावरण बना, सत्संग बना, ज्ञानोपयोगमें अधिक रत रह, जिससे कि चित्त रागादिक विकाररहित हो जाय, तब ही आत्मध्यान होगा और इसके प्रसादसे परमपुरुषार्थ मोक्षतत्त्वकी सिद्धि होगी।

क्षीणरागं च्युतद्वेषं ध्वस्तमोहं सुसंवृतम्।
यदि चेतः समापन्नं तदा सिद्धं समीहितम् ॥११०॥

चित्तके रागद्वेषरहित होनेपर ही समीहितसिद्धि—यदि अपना मन ऐसा बन सकता है कि जिसमें न कोई राग आये, न द्वेष आये, मोह भी ध्वस्त हो जाय, ऐसा यदि सम्वृत मन बना सकता है तो समझो कि सर्व कुछ सिद्धि प्राप्त कर ली। चाहिए यह कि दुःख न हो। और दुःख नहीं होता है रागके न रहनेसे। यदि ऐसा उपाय बन जाय कि राग स्नेह न रहे तो उसने सब कुछ पा लिया अर्थात् अब क्लेश रहेगा नहीं। तो सिद्धि उसने ही पायी। अन्य वस्तुवोंके समागममें कौनसी समृद्धि है? ये सुख दुःख देकर जाते हैं, दुःख सुख देकर जाते हैं—यह इसलिए कहा जाता कि दुःख ही दुःख किसी जीवके निरन्तर चिरकाल तक नहीं रह सकता। यह एक परिणमनकी प्रकृति है। कुछ न कुछ दुःखमें कमी आ जायगी एक समान क्लेश रहता नहीं है। दुःखके बाद सुख आता सुखके बाद दुःख आता। तो ऐसा सुख किस कामका कि जिसके बाद दुःख आये। संसारके सुखोंकी बात निरख लो। कुटुम्ब हुआ, संयोग हुआ, आज्ञाकारी पुत्रादिक हुए, कुछ मजेमें समय बिताया। अब उस मजेका क्या करें कि जिसके बाद एकदम वज्राघात जैसा क्लेश आयगा। वियोग तो होगा ही। खुद मरेंगे तो एक साथ सबका वियोग हुआ और अपनी जिन्दगीमें कोई गुजरा तो उसका वियोग हुआ और गुजरनेसे वियोग हुआ तो गुजरनेवालेका गया क्या? वह तो कहीं जाकर नया

शरीर धारण करेगा। जो बच रहे वे तो बड़ा क्लेश मानेंगे। महिलायें तो दो दो माह तकके लिए मंदिर भी जाना छोड़ देती हैं जो कि एक शान्तिका कारण है। मंदिर जायें तो उपयोग बदले, प्रभुमुद्रा निहारें, कुछ परिणामोंमें शान्ति आये, एक ऐसी वियोगकी अशान्ति थी, अब शान्तिका साधन भी छोड़ दिया। संयोगका क्या करे? खूब सोच लो। इसमें रंच सार नहीं है। समय पाकर बात अच्छी तरह विदित हो जाती है और ज्ञानी पुरुषको बहुत ही अच्छी तरह विदित हो जाता है।

समागमके स्नेहमे विषादका लाभ.—जितने भी समागम हैं वे सब विनश्वर हैं। समागमकी प्रीतिमें लाभ नहीं। जैसे कि रेलगाडीमे बैठकर सफर कर रहे हैं, किसी यात्रीसे बातें करनेपर अधिक स्नेह हो जाय तो जब उसका जानेका स्टेशन आ गया तो जायगा ही। उसी समय देख लो कुछ थोड़ा बहुत दुःख होता कि नहीं। उस १०-५ मिनटके सगसे स्नेहसे तो इतना क्लेश मिला, यह तो गैरोंकी बात है और जिनमें स्वच्छन्द होकर स्नेह किया जा रहा है उन पदार्थोंके वियोगमे तो कितना इसे क्लेश न होता होगा? तो इन समागमोंका कोई मूल्य नहीं है। इनसे राग छोड़नेमें ही लाभ है, और जब राग छूटा, शिथिल हुआ तो फिर द्वेष कहाँ करेगा? जितने द्वेष होते हैं वे किसी न किसी बातके रागपर हुआ करते हैं। द्वेष छूटे। ये रागद्वेष मोहकी सतान हैं। तो अब समझिये कि हमारा सारा मोह ध्वस्त हो, ऐसा नियंत्रित चित्त यदि बनाया जा सकता है तो समझ लीजिए कि मनोवाञ्छित अर्थकी सिद्धि प्राप्त हुई। शान्तिके लिए जहाँ अनेक यत्न करते हैं एक यह भी यत्न करके देख लें। ऐसा ज्ञान बनायें, ऐसी भावना करें कि किसी बाह्य अर्थमें राग न आये, ऐसा एक अपना आचरण बने तो वह है शान्तिका सही उपाय। जिस तरह शान्ति आये उस तरह उपाय बनाना यह तो परमकर्तव्य ही है। ज्ञान पानेका फल भी यही है। कभी डगमगा भी जायें, यत्र तत्र स्नेह पहुंच भी जाय तो भी मार्ग तो एक ही है। कितना ही भूल भटक गये हों तब भी शरण यह जैनशासन ही है। राग छोड़ो, द्वेष छोड़ो, मोह छोड़ो। जब चित्त यों मोहरहित हो जाता है तब समझिये कि मनोवाञ्छित कार्योंकी सिद्धि हुई है।

मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे।
पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन् स्वरूपं परमात्मनः ॥१११॥

मोहक्षय व रागप्रशान्ति होनेपर ही स्वरूपका दर्शन—मोहरूपी कीचड़के नष्ट हो जाने पर और रागविभ्रमकी शान्ति हो जानेपर संयमी जन अपने आपमे परमात्माका स्वरूप निहारते हैं। जब तक किसी परभावमे अहबुद्धि लगी है तब तक परमात्मस्वरूप कभी नजर नहीं आ सकता। अहकारभाव लगा रहे तो वहाँ परमात्मतत्त्व नहीं स्फुरित होता। जो मैं हूँ उस ही मे उस 'मैं' का अनुभव हो तो वहाँ परमात्मतत्त्वका दर्शन होता है। अब परख तुमें अहबुद्धि कोई बनाये तो वहाँ प्रभुके दर्शन नहीं हो सकते। समवशरणमे भी कोई जाकर देख तो इन आखोंसे भगवानके दर्शन न होंगे। दिख तो जायेगा दिव्य शरीर अरहत भगवान का वह परमोदारिक देह, पर जो देखा है वह भगवान नहीं है, वह तो एक दिव्य देह है। हम आपको जरा देह घिनावना है उनका कुछ पवित्र हो गया। पर जो आखोंसे दीखा वह भगवान नहीं है। भगवानका स्वरूप मिल ता जायगा। पर चर्मचक्षुवोंकी अपेक्षा न रखकर ज्ञाननेत्रसे तका जाय वह जो रागद्वेष रहित ज्ञानानन्दकी मूर्ति है। वह अमूर्त विशुद्ध परमात्मतत्त्व है और बहुत ही पूर्ण ढगसे निहारने लगे परमात्मतत्त्व तो बाहरमे उस देहका भी आधार नहीं बनाया। उस परमज्योतिको निहारते-निहारते बाहर का आधार छूट जाय और स्वयके ज्ञानविकासरूप वह ध्यान बनता है तो ऐसी एकरूपता हो जानेपर परमात्मतत्त्वके स्पष्ट दर्शन होते हैं। जब मोहपक परिक्षीण हो जाय, जब रागादिक भ्रमजाल शान्त हो जायें तो अपने आपमे परमात्मस्वरूप दिखता है।

अहङ्कारमें प्रभुका अदर्शन :—एक कहावत प्रसिद्ध है कि नाककी ओटमें प्रभु छिप जाते हैं, प्रभुका दर्शन नहीं होता है। कोई था नकटा तो उसे लोग चिढ़ायें। सोचा कि कोई उपाय करना चाहिए जिससे लोग चिढ़ायें नहीं। एक उपाय सूझ गया। जब किसीने उसे नकटा कहकर चिढ़ाया तो वह नकटा कहने लगा कि तुम क्या जानो इस नकटेका स्वाद ? इस नाककी ओटमें प्रभुके साक्षात् दर्शन नहीं होते, नाककी ओटमें भगवान छिपे रहते हैं। मुझे तो देखो साक्षात् प्रभुके दर्शन हो रहे हैं—वह है भगवान। उसकी बात सुनकर उस पुरुषने भी अपनी नाक कटा डाली। जब उसे इतने पर भी प्रभुके दर्शन न हुए तो उस दूसरे नकटाने पहिले वाले नकटासे कहा कि मुझे तो प्रभुके दर्शन नहीं होते। तो पहिले वाला नकटा कहता है कि नाकके कटनेसे प्रभुके दर्शन नहीं होते। अब तो तुम नकटा हो ही गए। लोग चिढावेंगे हो, इसलिए तुम सबसे यही कहो कि नाक कटा लेनेसे प्रभुके साक्षात् दर्शन होते हैं। वह भी यही कहने लगा। लो इसी प्रकारसे सारे गावके लोग नकटा हो गए। अब कौन किसको चिढावे ? तो इस नाककी ओटमें कहीं भगवान नहीं छिपे हैं। नाक मायने हैं अहंकार। लोग कहते भी हैं कि उसने अपनी नाक रखली। यह अहंकार मिटे, रागादिक भ्रम क्षीण हो, मोह दूर हो तो योगीजन अपने आपमें परमात्माके स्वरूपका दर्शन करते हैं। परमात्मतत्त्वके ध्यानके लिए मिलनेके लिए अथवा स्वयके परमात्मतत्त्वके विकासके लिए एक ही मार्ग है, एक ही चारा है कि रागादिक विकार दूर करें, स्नेह बढ़ानेमें बनानेमें तत्त्व कुछ नहीं निकलेगा। बात सबकी एकसी है। चाहे धनी हो, चाहे निर्धन हो, पडित हो, मूर्ख हो, त्यागी हो, गृहस्थ हो सबके लिए बात एक है। जो राग करेगा सो दुःखी होगा। जैसे मनुष्य मनुष्य जितने हैं सब एक ही ढगसे तो पैदा होते, एक ही आकारके वे बनते हैं और एक ही ढगसे मरते हैं, तो ऐसे ही दुःखी होनेकी भी सबकी एक प्रक्रिया है। कहीं हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन ये नाम रख लेनेसे उत्पन्न होनेमें फर्क तो न आ जायगा, ऐसे ही कहीं भेष रख लेनेसे या कोई पद ले लेनेसे इस सिद्धान्तमें फर्क न आ जायगा। यदि राग है तो दुःख अवश्य होगा। सबके दुःखी होनेका एक ही ढंग है। रागद्वेष मोह विकार करे तो वह दुःखी होगा। जब ये रागादिक दूर होते हैं तो शुद्ध आनन्दका अनुभव होता है, परमात्माका दर्शन होता है।

महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः।
योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ॥१११२॥

ज्ञानशस्त्रके द्वारा रागमल्लका निपातन —मुक्तिरूपी लक्ष्मीके सगकी चाह करने वाले ऋषीश्वरोंने महान प्रशमरूपी सग्राममें ज्ञानरूपी शस्त्रसे रागरूपी मल्लका निपात कर दिया। कोई सग्राम हो तो किसी प्रयोजनके लिए ही तो सग्राम होता है। जैसे पहिले सुना जाता था कि किसी राजकन्याके विवाहके लिए सग्राम होता था तो उस कन्याको चाहने वाले लोग जो सग्राम करने थे वे शस्त्रोंसे ही तो करते थे और उसमें जिसे बाधक माना उसका हनन करते थे। तो यहाँ है मुक्तिकी चाह। सो इस मुमुक्षुको इन रागद्वेषादिक विकारोंसे सग्राम करना पड रहा है। इन रागादिक शत्रुवोंसे सग्राम करनेके हथियार हैं प्रशम, क्षमा, तत्त्वज्ञान। उनके द्वारा ये रागादिक क्षीण कर दिये जाते हैं। दुःखका कारण है राग। और रागको दूर करने का उपाय है प्रशमभाव, तत्त्वज्ञान। सो उस ज्ञानशस्त्रसे, प्रशमशस्त्रसे रागादिक बैरियों का विनाश योगीश्वर कर देते हैं। झगड़ा किस बातपर इतना लदा हुआ है, कितना बड़ा यह उत्पात है, कितनी बड़ी यह विडम्बना है कि शरीर मिला और शरीर भी अटपट। इस अटपट शरीरमें यह आत्मा फसा हुआ है। न इसका ज्ञान बढ सक रहा न आनन्द मिल रहा, इतनी सब तो विडम्बनाएं हैं। इन सारी विडम्बनाओंके मूल कारणकी खोज की जाय तो कारण यही मिलेगा कि अन्य पदार्थमें इसने कल्पना कर ली है कि यह मैं हूँ। इतना तो हुआ एक विरुद्धभाव कर लेनेका अपराध और उसपर छा गया है इतना बडा जाल। तो जब मूलकी गल्ती

निकाल दी जाय, परतत्त्वोंमें, परपदार्थोंमें यह मैं हूँ, इससे मेरा हित है, यह मेरा है, इस प्रकारका आशय न रहे तो फिर ये सारी विडम्बनाए दूर हो जाती हैं। देखिये—ज्ञान होनेमें कोई बाधा नहीं, श्रम नहीं, कठिन बात नहीं। इतने पदार्थोंको जानते तो रहते हैं। गांव, नगर, लोग यह सब ज्ञानका ही तो आना है। तो जैसे ये जाननेमे आ जाते हैं, इस तरह वस्तुका स्वरूप भी जाननेमें जो आ सकता है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें है। मैं एक चिदात्मक स्वरूपमात्र हूँ, यह जाननेमें आ गया तो फिर आ ही गया जाननेमें। अब दूसरी बात क्या बने ? यथार्थ निर्णय हो जाय तो उसे फिर सब मार्ग मिल जाता है।

असंक्लिष्टमविभ्रान्तमविप्लुतमनाकुलम् ।
स्ववशं च मनः कृत्वा वस्तुतत्त्वं निरूपय ॥१११३॥

मनको अनाकुल स्ववश करके ही वस्तुतत्त्वके अवलोकनकी शक्यता .—हे आत्मन् ! अपने मनको वश करले, संक्लेशरहित करले, भ्रमरहित बनाले, क्षोभरहित बनाले, निराकुल करले और फिर वस्तुके स्वरूपको खूब निहारता रह। मन जब तक सक्लेशमें रहता है तब तक यह मन वस्तुस्वरूपका अवलोकन नहीं करता। जब चित्तमें भ्रमजाल लगे हुए हैं तो फिर वस्तुतत्त्वका निरूपण नहीं बनता। यहाँ निरूपणका अर्थ प्रतिपादन नहीं है किन्तु अवलोकन है। भली-भांति देखना। कोई बोले कि अमुक आदमी कहता है तो उसका भाव और है, अमुक आदमी निरूपण करता है उसका भाव और है। कहनेमें तो कहना ही है, वचन निकाल दिया और वह कहना एक रिकार्डकी तरह है। और निरूपणमे कहनेकी भी मुख्यता नहीं। कहते हैं उसका अर्थ यह है निरूपणमे कि समस्त वस्तुस्वरूपको अपने ज्ञानमें ले रहा है, अवलोकन कर रहा है। तो जब मन स्थिर हो, किसी प्रकारका भ्रम नहीं, यथार्थ परिज्ञान है, निर्णय है, तब निराकुल बनता है और तब ही वस्तुतत्त्वका निरूपण बनता है। सो हे आत्मन ! एक अपने मनको वश करले और वस्तुस्वरूपके निरूपणका आनन्द प्राप्त कर। वश भी चलता है अपने आपपर, दूसरेपर नहीं चलता। पडौसियोंके बच्चे जब आपस में लडते हैं तो किसीको अगर बैर विरोध नहीं बढ़ाना है, एकदम सब शान्त कर देना है तो बुद्धिमान पुरुषका कर्तव्य है कि वह अपने ही बच्चेको डाट दे, लो झगडा मिट गया, और अगर किसी दूसरेके बच्चेको डाटे, मारे पीटे तो झगडा और बढ़ जाता है। तो वश चलता है अपने आपपर। यह एक दृष्टान्त दिया है, वच्चा भी कुछ अपने आपका नहीं है। इसी प्रकार इस बड़े सग्रामके लिए वश करना चाहिए अपने आपके मनको। हम पदार्थोंको जोड जोडकर सुखी बनाना चाहें, अपनेको तो यह बात तो असम्भव है और पदार्थोंकी हम इच्छा ही न करें ऐसा ज्ञानमें अपने आपको ले जायें कि किसी परकी वाञ्छा न रहे तो यह उपाय सुगम है, स्ववश है। परवस्तुको निरखकर चाहनेकी आदतमें रोना मिट नहीं सकता, क्योंकि जो बात बननेकी नहीं उसकी हठसे कुछ लाभ नहीं है। और यह सब हठ चूकि लोग बड़े हैं और अक्ल वाले कहलाते हैं इसलिए बड़े नहीं मालूम पडते हैं। हम जो हठ करते हैं वह ठीक ढगसे सही कर रहे हैं यों लगता है, मगर हठ होती है परवस्तुवोमे और वे सभीके हठ यों समझिये कि जैसे कोई बालक पहिले हाथी खरीदनेका हठ करे कि मेरे लिए हाथी खरीद दो, और मान लो उसका पिता महावतसे कह कर हाथी उसके पास खडा करवादे। कुछ देर बाद वह बालक कहता है कि अब इस हाथीको मेरी जेबमे भर दो। भला बतलावो इस कामको कौन कर दे ? इस बातको सुनकर कुछ हसी सी आती है। ऐसी ही हसी के लायक हम आपके हठ हैं। जो जो भी परिग्रहमें बुद्धि देते हैं, परिग्रहका सचय करते हैं वे सब हठ उस बालकके हठकी तरह हैं, पर जहाँ सभी ऐसे ही विचारके लोग हों तो कौन किसका मजाक करे ? सभी उसी तरहके हैं, पर जितने ये हठ हैं ये सब हठ उपहासके योग्य हैं। तो उन सब बाह्य दृष्टियोंको त्यागकर जो अपने मनको ववश कर लेता है वही पुरुष वस्तुके स्वरूपका निरूपण करता है अर्थात् समग्र वस्तुओंको न्यारा-न्यारा निरखकर उपेक्षा करके अपने आपमें सन्तुष्ट रहा करता है और जब आत्मध्यान बनता है तब

ही परमात्मस्वरूपका दर्शन होता है।

रागाद्यभिहतं चेत: स्वतत्त्वविमुखं भवेत्।
तत: प्रच्यवते क्षिप्रं ज्ञानरत्नाद्रिमस्तकात् ॥१११४॥

रागाद्यभिहत मनकी स्वतत्त्व विमुखता — जो मन रागादिक विकारोसे विपरीत है वह अपने आत्मतत्त्वसे विमुख हो जाता है और फिर इस ही कारण मनुष्य ज्ञानरूपी रत्नमयरूपी पर्वतसे च्युत हो जाते है। जिस चित्तमे किसी भी बाह्यपदार्थके प्रति राग बसा है ऐसा राग बसे हुए चित्तमे आत्माकी बात नहीं समा सकती। जिस मनमे रागादिक भाव रहते है उस मनमे आत्माकी बात समा नहीं सकती, क्योकि यह आत्मा एक उपयोग रूप है और जिस उपयोगमें रागद्वेषमोहका विकार समाया हुआ हो उस चित्तमे आत्मतत्त्वकी बात नहीं आ सकती। यद्यपि ससारके प्राणी मात्र रागद्वेष मोहसे दु:खी हैं। दु:खका और कोई दूसरा कारण नहीं, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमे न्यारा-न्यारा बसा है। प्रत्येक जीव अपने आपके प्रदेशके ज्ञानके अधिकारी है। कोई किसीका स्वामी नहीं है, कोई किसीको न सुखी कर सकता, न दु:खी कर सकता, न पापी बना सकता, न धर्मात्मा बना सकता। सबका अपना अपना स्वरूप न्यारा है। पर अनन्तानन्त जीवोंमे से एक दो जीवोको समझ लिया कि यह मेरे हैं, बस उनके लिए जी जान सब एक कर देते हैं। जो कुछ तन-मन-धन-वचन है वे सब इन्हीं दो चार प्राणियोंके लिए हैं और उनके अतिरिक्त ससारके सारे प्राणियोंको गैर मानते हैं। जिन्हें आज गैर मानते हैं वे ही जीव मरकर घरमे आ जायें तो उनसे ही मोह करने लगेंगे। मोह करनेकी आदत है। तो एक विचारनेकी बात है, बनना तो जो है सो बनेगा। पर सच्चा ज्ञान आ जाय तो उसमे ही बडा चमत्कार बसा है, राग बनता है, ठीक है, घरमे रहना पडता है ठीक है, जो कुछ भी बतीती है, कषाये आती हैं, करते है ठीक है करना पड रहा है फिर भी यदि सही ज्ञान चित्तमे बसा रहे तो उसकी बहुतसी बाधावोमे अन्तर आ जाता है। तो प्राणी एक अज्ञानमे दु:खी है। राग भी हमारा दु:खदायी नहीं है जितना कि अज्ञान दु:खदायी है। एक बार १० जुलाहा किसी बाजारमे कपड़ा बेचने गए, बीचमे पडती थी नदी। चले गए बाजारमे। अब कपडा बेचकर घर वापिस आने लगे तो जब नदीसे निकले तो उस समय किसीने कहा कि अपन १० मित्र थे। जरा गिन तो लें कि १० ही हैं या नहीं। जब गिनने बैठे तो जो गिनने वाला है उसने जो निगाह डाली तो उसे ९ मित्र दीखे। तो वह बोलता है कि भाई अपना एक मित्र तो कहीं गायब हो गया। उसका कुछ पता नहीं कि कहाँ गया, क्या हुआ? जब दूसरेने गिना तो उसे भी ९ ही मित्र दिखे। उसने भी अपनेको न गिना। यों ही दसोंने गिन डाला, पर ९ ही मित्र निकले। अब वे दसों मित्र रोते है, माथा धुनते हैं कि हाय! क्या करें? गये तो थे दो चार रुपयेके लाभके लिए और अपना एक मित्र खो दिया। तो भला बतलावो वहाँ दु:ख किस बातका है? वह दु:ख है एक अज्ञानका, भ्रमका। हम १० मित्र थे प्रथम तो यह अज्ञान बसा है और फिर उनमेसे एक गायब हो गया दूसरा यह अज्ञान बसा है। वे केवल अज्ञानसे दु:खी हो रहे हैं। इतनेमें कोई घुडसवार वहाँसे निकला और इन सबको रोता हुआ, माथा धुनता हुआ देखा। पूछा भाई क्यों रो रहे हो? उन्होंने अपनी कहानी सुनाई। हम १० मित्र थे। गए तो थे दो चार रुपयेके लाभके लिए पर अपना एक मित्र कहीं खो आये। उसने एक सरसरी निगाहमें देखा तो १० के १० ही दिख गए। सो उसने कहा अच्छा अगर हम तुम्हारा १० वा मित्र बता दे तो? ... कहा—अगर हमारा १० वा मित्र तुम बता दोगे तो हम तुम्हारा जिन्दगीभर बहुत एहसान मानेंगे। जीवनभर आपके आभारी रहेंगे। तो उस घुडसवारने उन दसोंको एक लाइनसे खडा किया और गिनता जाय-एक दो, तीन, चार, पाच, छ, सात, आठ, नौ और जोरसे बेत मारकर कहे यह दस। यों ही उन दसोको गिन-गिनकर बताता जाय और दसवका कुछ जोर बेंत मारकर कहे कि

वह दसवा तू ही तो है। तो जैसे अज्ञानसे वे दुःखी हो रहे थे ऐसे ही सारा क्लेश अज्ञानका है।

वैभवकी विपत्तिरूपता —ये तन, मन, धन कुछ भी साथ नहीं जाते। यह आत्मा ज्ञानरूप है, ज्ञानस्वरूपको ही लेकर जायगा। अब उसमे अज्ञान बसे, भ्रम रहे तो बस इतना ही दुःख है। तो जिस चित्तमे भ्रम बसा हुआ है, रागादिक भाव बसे हुए हैं वह आत्मतत्त्वसे विमुख रहता है। इसी कारण मनुष्य ज्ञानरूप रत्नमय पर्वतसे च्युत हो जाता है, ज्ञानसे गिर जाता है। रागभाव विशेष आ जाय और उसका नियत्रण न कर सकें, काबूसे दूर हो जायें तो वह ज्ञानपर्वतसे भी गिर जाता है। राग ही दुःख देता है। जितना मौजमें लोग रहते है, मेरे घरमे सब कुछ है, परिवार अच्छा है, कुटुम्ब है। ऐसी जो अपनी जिन्दगी गुजार रहे है वे विपत्तिमे है। प्रथम तो सयोगके कालमे भी कोई लडका कुछ कहना न मानता हो, आज्ञा न मानता हो, ऐसा जो बालक मौजमे रह रहा है उसको वियोगके समय बहुत क्लेश होगा। इस कारण ज्ञानी गृहस्थका कर्तव्य है कि सयोगके समयमें भी ऐसा मानता रहे कि जितने भी ये सयोग हैं समागम हैं उनका अवश्य वियोग होगा। जिसका वियोग हो जाय उसका फिर सयोग हो या न हो कोई नियम नहीं है, पर जिसका सयोग हुआ है उसका वियोग जरूर होगा। यह पक्का नियम है। तो जो तत्वज्ञानकी दृष्टि रखे उसे क्लेश नहीं होता। यह सारा जगजाल मायारूप है, भिन्न है, सारका हितका आत्मा नाम नहीं है किन्तु उन पदार्थोंमे जब रागमोह चलता है तो यह प्राणी व्यर्थ दुःखी होता है और चाहने लगता है कि यह मनुष्य कि लोकमे मेरी इज्जत तो हो। पोजीशन तो हो, मै सबमे अधिक धनी कहलाऊ ऐसी स्थिति चाहते हैं। लेकिन किन लोगोमे बडा कहलवाना चाहते हैं? ये सब दुःखी जीव है, कर्मोंके प्रेरे हैं, जन्म मरणके चक्रमे लगे हुए हैं, विनाशीक है। ये सब मर मिटेंगे, जिनमे हम कुछ अपनापन रखना चाहते हैं। देखिये जिनमें अपना बडप्पन बताना चाहते वे तो गुजर जायेंगे और व्यर्थ ही इस अज्ञानके भाव करनेमे जो पाप लगा है उसका दुःख भोगना पड़ेगा।

रागद्वेषभ्रमाभावे मुक्तिमार्गे स्थिरीभवेत्।

संयमी जन्मकान्तारसञ्चमक्लेशशङ्कितः ॥१११५॥

राग, द्वेष, भ्रमका अभाव होनेपर मुक्तिमार्गमे स्थिरता इस ससाररूपी वनमे भ्रमणके क्लेशोसे भयभीत हुए सयमी मुनीश्वर रागद्वेष मोहके अभावसे ही मोक्षमार्गमे स्थिर है। सबकी एक ही पद्धति है, जो राग करेगा सो दुःखी होगा। जो राग छोड़ेगा वह सुखी होगा। सुखी होनेकी भी बात क्या, आत्मा तो स्वय आनन्दस्वरूप है। जैसे हम इन चौकी तख्त वगैरहको देखते है ना तो इनका स्वरूप कौन समझता है? क्या स्वरूप है? जैसे यह पिण्ड है, कडा है रूपआदिक है, यह तो इसका स्वरूप है। और जरा आत्माके स्वरूपकी बात सोचिये। मेरे आत्माका स्वरूप क्या है? इस आत्मामे काला, नीला, पीला आदिक कोई रूप भी है क्या? रूप नहीं है, खट्टा-मीठा आदिक इसमे कोई रस भी नहीं है। इसी प्रकार गध और स्पर्श भी नहीं है। फिर है क्या आत्मा? आत्मा है ज्ञान और आनन्द। अमूर्त चीज है आत्मा। केवल ज्ञान और आनन्द इसमे विदित होगा। जो अपने आपमे मैं सुखी हूँ मैं शान्त हूँ अथवा दुःखी हूँ यों भी अनुभव करता हो वही तो आत्मा है। आनन्दका जब विपरीत परिणमन होता है तो वह दुःख है, क्लेश है और जब विशुद्ध स्वभाविक परिणमन होता है तो उसका नाम सुख है, आनन्द है। तो आत्मामे ज्ञान और आनन्द ही स्वरूप नजर आयगा। अपने आपको बराबर इस रूपमे निहार, ऐसी भावना भाये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, मैं स्वय ज्ञानमात्र हूँ, स्वय आनन्दस्वरूप हूँ, मैं ज्ञान और आनन्दसे स्वत परिपूर्ण हूँ। मुझे ज्ञान अथवा आनन्द प्रकट करनेके लिए कुछ नई चीज नहीं जोडनी है। केवल ज्ञान और आनन्दका जो विघात हो रहा था रागद्वेष भावके कारण उन रागद्वेष विकारोंको दूर करना है। इतना भर काम है

करनेका। जैसे कोई कहे कि धर्म करो तो धर्म करोका क्या अर्थ हुआ ? इसका अर्थ इतना ही है कि तुम अपने आत्माका सही ज्ञान करलो और चूंकि इस आत्मामें अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतएव सबका रागभाव छोड़ दें। यथार्थ ज्ञान करना और राग द्वेष मोह छोडना यही धर्मका पालन है। यह बात बने तो समझिये कि धर्म किया। प्रभुभक्ति दर्शन आदिक करके भी यदि रंच भी मोह रागमें फर्क नहीं आया तो क्या यह कहा जा सकता है कि-उसने धर्म किया ? रागद्वेष मोह दूर हो, अपने आत्माका आनन्द अपने अनुभवमे आये तो उसका नाम है धर्मपालन। धर्मपालन किसीपर ऐहसान करनेके लिए नहीं किया जाता। मैं धर्म करता हूँ तो मैं समाजपर कुछ ऐहसान रखता हूँ ऐसी बात नहीं है। मैं धर्म करता हूँ तो अपने लिए, अपनी शान्तिके लिए। मेरा प्रभाव मुझमें ही होगा। धर्मपालन जो करे सो शान्तिका मार्ग पाता है। तो जो मुनीश्वर रागादिक भावसे दूर होते हैं वे ही मोक्षमार्गमें स्थिरतासे रहते हैं। रागद्वेष मोहके दूर किए बिना मुक्तिका मार्ग नहीं मिलता। जरा राग द्वेष मोह हो रहे हैं तो खूब करें, कमी न रखें, पर अन्तमें मिलेगा क्या ? केवल कष्ट। सब अनुभव करके देख लो। प्रभुका मार्ग पाया, जैन शासन पाया तो कुछ तो ऐसा विचार करना चाहिए कि सामायिक में, दर्शनमे कि हे प्रभो ! मैं मोह राग द्वेष भावोंसे ही दुःखी हूँ, मुझे दुःखी करने वाला अन्य कोई नहीं है। मेरा यह मोह राग कैसे छूटे ? उस ही उपाय मे मेरी भलाई है और अन्य कुछ भी सारकी बात इस जगतमें नहीं है ऐसा विचार तो आना चाहिये, यह सब अपनी भलाईके लिए है, ऐसा ही जो करते हैं उनके गुरुराज कहो, मुनिराज कहो, साधु कहो, वे सब आत्माकी साधना कर लेते हैं और सदाके लिए सकटों से मुक्त हो जाते हैं।

रागादिभिरविश्रान्तं वञ्च्यमानं मुहुर्मनः।
न पश्यति परं ज्योतिः पुण्यपापेन्धनानलम् ॥१११६॥

रागादिसे ठगाये गये मनका अन्धत्व —यह मन रागादिकसे निरन्तर वञ्चित हुआ पुण्य पाप रूपी ईंधनका अग्निके समान ऐसी परमज्योतिका अवलोकन नहीं कर सकते। आत्माके ज्ञानस्वरूपका अवलोकन कोई करले तो पुण्य पाप ईंधनकी तरह भस्म हो जाते हैं। एक अपने आपके स्वरूपकी सम्हालमें सारे सकट दूर हो जाते हैं। कभी भी कोई विपदा आ रही हो, चिन्ता सताती हो उस समय एक अपनी स्वरूपदृष्टि करनेका ही प्रयत्न बनायें फिर कहाँ है क्लेश ? मानलो एक ख्याल बन गया अमुक चीजमें कोई तीस हजार का मुनाफा हुआ, थी किसी भावकी कोई चीज और उसका भाव बढ कर कुछ और हो गया, लो खुश हो रहे हैं, और अगर भाव गिर गया तो ख्याल बनाकर उसमें हानि समझकर दुःखी हो जाते हैं। लेकिन तत्त्वज्ञानसे सोचिये तो जरा कि मेरे आत्मामें क्या हानि हुई है ? यह तो बाहरी मल है, रहा न रहा, उससे इस आत्माका क्या सुधार बिगाड है ? आत्माका सुधार बिगाड तो आत्माके सम्यक्‌चारित्र और मिथ्याचारित्रसे है। बाह्य पदार्थोंकी हानिसे कमी रहनेसे हमारा कोई बिगाड नहीं है। ज्ञानको जरा सम्हाल लें बस सुखीके सुखी हैं। इन रागादिकोंसे तो अपना सारा नुक्सान ही नुक्सान है। मोहमे ज्यादा नुक्सान महसूस होता है। तो जब तत्त्वज्ञानके विपरीत हमारी वृत्ति चलती है तो कितनी भी बाह्य स्थितियां हों वहा अपने सुखका अनुभव नहीं कर सकते। और सच तो यह है कि अपने आपपर दया आ जाय और कभी किसी क्षण ता यों निरखिये कि मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं है, मेरा तो मात्र मैं ही हूँ। जब देह तक भी मैं नहीं हूँ तो अन्यकी चर्चा ही क्या करें ? मेरा तो मात्र मैं ही हू। जब मोहका तीव्र उदय होता है तो मेरा मैं भी नहीं रह पाता। किसे परिचय है कि मैं आत्मा क्या हू। शरणभूत तो वास्तवमें आत्माका यह आत्मा ही है। तो जब अपनेको अकिञ्चन अनुभव करें, मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं केवल ज्ञान और आनन्दस्वरूप हु, इस अकिञ्चन भावनामें सर्वसंकटोंके मेटनेकी शक्ति बसी है। प्रभुको हम पूजते हैं तो क्या है प्रभुके पास ? न धन-सम्पदा है, न घर-बार है, न कुटुम्ब-कबीला है। क्या है प्रभुके पास ? समवशरणमें बिराजमान प्रभुके

देख लो। सिद्ध लोकमें विराजे प्रभुको देख लो। वे अकिञ्चन हैं, उनके तो देह तक भी नहीं है। उनके ध्यानमे ही इतना बड़ा चमत्कार है कि जो प्रभुका निष्कपट ध्यान करते हैं वे सर्व कुछ सम्पदा शान्ति प्राप्त कर लेते है।

दृष्टान्तपूर्वक तुङ्ग अकिञ्चनसे समृद्धिलाभकी सिद्धि —पहाड अकिञ्चन है। पहाडपर न पानी है, न पहाडपर कोई समुद्र है फिर भी सारी नदिया पहाड से ही निकलती है। और समुद्रमें अथाह पानी भरा होता है लेकिन समुद्रमें से कभी कोई नदी नहीं निकलती। समुद्र तो नदियां और चाहता है तो समुद्रमे जल अथाह भरा है, वहाँ से कोई नदी नहीं निकलती और पर्वतमें जलका एक बूंद भी नहीं है फिर भी सारी नदिया पर्वतसे ही निकलती हैं। तो जो अकिञ्चन हैं प्रभु, उनकी उपासनामे जो बात मिल सकती है वह सकिञ्चन श्रीमान आदिकसे नहीं मिल सकती। इसलिए अपने आपको अकिञ्चनरूपमे ही सोचना चाहिए। मेरा मेरे सिवाय कहीं कुछ नहीं है। चित्तमें जो बाह्य बातें बसायी जाती हैं वैभवकी, दूकानकी, नाते रिश्तेदारोंकी उनसे यह चित्त बड़ा ओझल बन जाता है। तो किसी भी समय ऐसा भी विचार करें कि मेरा कहीं कुछ है ही नहीं। किस बातपर क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें करूं और किस प्रयोजनके लिए तृष्णा और लालच बढ़ाऊं। यहा है क्या ? मैं तो अकिञ्चन हूं, केवल ज्ञान और आनन्दस्वरूप हू। यों अपनेको अकिञ्चन निरखियेगा। यह भी एक धर्म है, जिसके प्रतापसे परमात्मपद प्राप्त होता है। दशलक्षण धर्ममे एक अकिञ्चन धर्म भी है। जो अपनेको अकिञ्चन अनुभव करेगा वह उत्कृष्ट पद पायगा। व्यवहार में भी जो अपनेको न कुछ बताता है उसकी कितनी बडी इज्जत बन जाती है और जो अपनेको अपने मुखसे कहे तो उसे फिर कुछ इज्जत नहीं मिलती। तो यह प्रभु जो अकिञ्चन हैं उनका अकिञ्चनपना जाहिर होनेसे उनकी कितनी बडी इज्जत है। हम आप भी अपने आत्मामे यदि अकिञ्चनकी भावना बनायें तो हम आपको भी परमात्मपद प्राप्त हो जाय इसमे कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। तो यह अकिञ्चनकी भावना अपने चित्तमे भाना चाहिए और किसी क्षण ऐसा अनुभव करें कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञान और आनन्द स्वरूप मात्र हू, इस तरहका अपना ध्यान बनायें यही धर्मपालन है, यही सर्वसकटों के मिटानेका सुगम उपाय है। तो अपनको रागादिकरहित केवल ज्ञानस्वरूप आनन्दमय अनुभव करनेमें कुछ समय जरूर बिताना चाहिए। चाहे किसी भी जगह हो। किसी भी समय हो, ऐसा अनुभव करनेमे ज्ञानप्रकाश मिलेगा और आकुलता भी रहेगी।

रागादिपङ्कविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥१११७॥

रागादिपङ्कविश्लेषसे प्रसन्न चित्तवारिमे पदार्थपरिस्फुरण —जैसे जो जल कीचडसे रहित है तो वह प्रसन्न है अर्थात् निर्मल है। उस प्रसन्न जलमें जैसे पदार्थ झलकता है, प्रतिभास होता है इसी प्रकार जब रागद्वेष मोह पंक न रहे तब यह चित्त प्रसन्न रहता है, निर्मल रहता है। चित्त मायने ज्ञान। ज्ञान निर्मल रहता है तो उसमें समस्त वस्तुसमूह प्रतिबिम्बित होते हैं। ज्ञान स्वभावसे जाननशील है, अतएव इस ज्ञानका सारे विश्वके साथ ज्ञेयज्ञायक सम्बध है अर्थात् सारा विश्व जाननमें आ जाय। ज्ञानकी यह शैली नहीं है कि सामने पदार्थ हो तब जाने। जैसे कि इस समय हम आपको ऐसा लगता है कि सामने वस्तु हो तब ही तो जानन बनेगा पर यह ज्ञानकी शैली नहीं है। यह एक रुकावट और आवरणकी परिस्थितिमें बात बनी है। जैसे कोई बहुत बड़ा पुरुष भी किसी विपत्तिमे फस जाय तो उसे भी एक किसी बातपर समझौता करना पडता है निरपराध होकर भी। ऐसे ही ज्ञानका जाननस्वरूप तो ऐसा है कि ज्ञान ज्ञानके कारण, सबको जान लेगा, जहां भी जो सत् हो। जैसे इन्द्रियमे तो ऐसा लगता है कि सामने वस्तु हो, आयी हो तो ज्ञान होनेपर मन इन्द्रियसे विलक्षण शैलीसे जानता है, सामने नहीं है नियत भी कुछ न

कि मन किसी विषयको जाने और मन क्षणभरमें कहीं की भी जान ले, कितना ही पहिलेकी जान ले, कितना ही बादकी जाने। क्षोभ रहे यह बात अलग है पर मनमें एक शैली है, मन भी एक मलिन विकार है, उससे भी उत्तम शैली होना चाहिये विशुद्ध ज्ञानकी। तो ज्ञानमे स्वयं ऐसी शैली है कि वह सब सत्को जाने। जब उसमें आवरण होता है तब नहीं होता ज्ञान। जब आवरण मिटा तो ज्ञानमें प्रसन्नता जगे। निर्मलता जगे तो वहाँ अनेक वस्तुवोंका समूह स्पष्ट रूपसे स्फुरायमान होता है।

रागद्वेषमोहपरिहारका शिक्षण — इस प्रकरणमें रागद्वेष मोह भावको टालनेके लिए शिक्षा दी गई है। इन्हें टालो तो तुम भले ही हो, परिपूर्ण तो हो ही। स्वरूपमे स्वभावमे निर्मल हो, उत्कृष्ट हो, एक विकारको टाल दें तो वही निर्मलता पूर्ण बन जाती है। और ये विकार व्यर्थके विकार हैं। कुछ कल्पनाएं जगीं लो विकार बन गए। उन कल्पनावोंसे सारतत्त्व क्या निकला? उन कल्पनाओंके द्वारा चीज क्या हाथ आयी? चीज हाथ आना तो दूर रहा, खोया ही है सब कुछ। जितना समय गुजरा उतनेमे रोया ही है, पाया कुछ नहीं। तो ये रागद्वेष मोह हटनेके लिए ही हैं, ऐसा पूर्ण निर्णय होना चाहिए। ज्ञानी गृहस्थका ऐसा परिपूर्ण निश्चय रहता है। ये रागद्वेष मोह हटाये ही जाना चाहिए। इनको रखना न चाहिए। कैसा ही राग हो पर रागकी एक कडिका भी इस जीवके लिए हित करने वाली नहीं है। ये परिचय, ये आराम, ये भोग सब क्या हैं? सब जीवकी बरबादीके कारणभूत है। जो इन्हें चाहते हैं, उनके ही बीचमें रहते हैं सो इन सब बातोंके होनेसे हम भी उन्नति समझते हैं। हमने इतने महल बनवा लिया, ऐसी दूकान बना ली, इतना वैभव सचित कर लिया, इतने राज्योंमें लोकमे हमारी पहुच हो गयी, हमारी मान्यता हो गयी। सब लेखा जोखा लगा लो। हो क्या रहा? इस आत्मामे शान्ति क्या मिली? इन सबकी ओरसे उत्तर यह होगा कि इतने भी क्या काम करें, सब बेकार हैं। देखिये किए बिना गुजारा भी नहीं है गृहस्थी मे और उदासी उनमे रखे बिना कल्याण नहीं है। ऐसी स्थिति है। कोई गृहस्थ हो ऐसा तो बतावो कि ऐसी उपेक्षा रखता हो कि न घरमें किवाड रखे, न साकर रखे, न व्यवस्था बनाये, न दूकान करे, न कमाये। बस हमारा तो भगवान शरण है खूब ध्यानमें लगे, न व्यवस्था बनाये न घरकी सोचे। है क्या कोई गृहस्थ ऐसा? गृहस्थीमे ऐसा नहीं बनता। काम वे ही करता पर एक भीतरके उजेलेका सब फर्क है, इसी कारण तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि गृहस्थ की बाहरी बातें सब एकसी मालूम पडती हैं पर भीतरी प्रकाशका अन्तर है। एकको शान्तिके मार्गका पता ही नहीं है, आत्माके स्वरूपका भान ही नहीं है, विपत्ति आनेपर घबडायेगा, और एक ऐसा ज्ञानी है कि जिसे शान्तिके मार्गका पता है और यह भी जान रहा है कि हम जो काम कर रहे हैं वे अशान्तिके काम हैं, मेरे करनेके काम नहीं हैं। उसे आत्माका भान है यह स्वरुप है तभी वह विपत्तिके आनेपर घबडाता नहीं क्योंकि उसका जो परमशरण है निजधाम वह उसको मिल चुका है, उसे विह्वलता नहीं होती। कुछ भी बनो। तो जब रागद्वेष मोहका पक अलग हो जाता तो यह ज्ञान अथवा चित्त इतना प्रसन्न होता कि इस निर्मल चित्तरुपी जलमे समस्त वस्तुवोंका समूह स्पष्ट स्फुरायमान होता है। यह ही ध्यानका फल है। ध्यान उत्तम बननेसे क्या-क्या बातें आती हैं वही बात इसमे कही गई है।

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥११९८॥

वीतराग पुरुषके उत्पन्न हुए परमानन्दके समक्ष लोकत्रयैश्वर्यकी तृणवत् तुच्छता —जो वीतराग होता है, रागद्वेष मोहसे उपेक्षा रखता है उस पुरुषके ऐसा कोई परम आनन्द प्रकट होता कि जिसके द्वारा तीन लोक का भी ऐश्वर्य जो कि अचिन्त्य भी है, महान् भी है तृणके समान हो जाता है। जिसे जो चीज न चाहिए उसके लिए तो वह तृणवत् है। बड़े छोटे बालकको ये महल मकान ऐश्वर्य वैभव क्या हैं कुछ नहीं हैं। तृणवत् हैं, उसकी चाह ही नहीं है, ऐसे ही किसी ज्ञानी योगी पुरुषको ये समस्त वैभव क्या है? तृणवत्

हैं। और गृहस्थको भी प्रतीतिमे त्रणवत् लग रहा है। उस वैभवकी सम्हाल कर रहा है इतने पर भी उसकी दृष्टिमे सारे लोकका ऐश्वर्य त्रणवत् है। जैसे कोई पुरुष मर रहा हो, शरीर छोड़कर जा रहा हो और उससे कहे कि लो यह १०-२० तोला सोनाकी साकर पहिन लो तो उसे वह सांकर सुहाती है क्या ? जिसे फांसी का हुक्म दिया जाय उसे कोई पूछे कि तुम्हें क्या खाना है ? जो खावोगे वह खिलायेंगे। लड्डू, पेडा, रसगुल्ले जो जाहो सो बतावो। तो उसका दिल इस बातको सुनकर खुश होता है क्या ? उसे तो कुछ नहीं सुहाता। ऐसे ही जिसे पता हो कि मेरे आत्माकी तो यह गति हो रही है ससारमे। अभी मनुष्य है, समय आयगा तो कहींके कहीं चले जायेगे, यहा कोई किसीका नहीं है, सब उसे झझट मालूम पड रहा है। तो उसे ये सारे वैभव त्रणकी तरह लग रहे हैं। तो जिसका राग बीत गया है ऐसे प्राणीको कोई ऐसा अलौकिक परम आनन्द प्राप्त होता है कि जिससे तीन लोकका भी महान ऐश्वर्य त्रणके समान लगता है। एक जीर्ण शीर्ण तिनका कोई कोट या कमीजमे लगा है तो क्या उसे कोई लगा रहने देता है ? उसे तो वह झट फेक देता है। तत्त्वज्ञानीके चित्तमे उसकी कुछ कदर नहीं है। इस वैभवकी कदरसे मेरेको क्या मिलेगा ? न मेरेको आनन्द मिलेगा, न गुणविकास होगा, न पवित्रता होगी, न जन्म मरणकी विपत्ति टलेगी। कुछ भी तो नहीं है। ज्ञानीको यह सारा ऐश्वर्य त्रणके समान लगता है। कचन काच एक बराबर जिसकी दृष्टिमे है वह दृष्टि क्या है ? सबसे न्यारे अपने आत्माके आनन्दका अनुभव कर लिया है इसलिए दृष्टि स्वोन्मुख हो गयी है, बदल गयी है, जैसी दृष्टि पहिले थी परकी ओर लगी हुई उससे विरुद्ध हो गयी है, अब उसे कचन कांच एक समान लग रहे हैं। एक निर्णय यह हो जाय कि दुनियामे हमे अपना नाम करके बड़प्पन करके अपनेको कुछ बतला करके क्या करना है ? हमे क्या लाभ मिलेगा ये लोग जानते ही नहीं। जैसे किसी आदमीकी कोई पूछ न हो और वह जान जानकर तुरैया सी छौंके। ऐसी ही सबकी हालत है। कोई किसीको जानता है नहीं, सब एक मायारूप हालत है, पर यह जीव सबमे अपनेको आगे करना चाहे, बडप्पन चाहे, यश चाहे, ये अज्ञानकी स्थितियां हैं उसीका ही सारा क्लेश है। यह महान अधकार है। तो बडप्पनकी चाह मिटे तो ये बाते बन सकती है जो एक शान्ति चाहने वालेको चाहिए।

प्रशाम्यति विरागस्य दुर्बोधविषमग्रहः।
स एव वर्द्धतेऽजस्रं रागार्तस्येह देहिनाम् ॥११९॥

विराग पुरुषके दुर्बोधविषमग्रहका प्रशमन —जो विराग पुरुष है, जो रागभावको अपनाता नहीं है वह भी विराग है और जिसका रागभाव उत्पन्न नहीं होता वह भी विराग है। रागभाव होता है आत्मामे और यह ज्ञान अपने ही अन्दर अवस्थित होकर अपनी ही ओर रहे तो यह राग नहीं होता। मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, वह भी विराग है। जैसे कहीं बाहर कोई चीजे रखी है और उन्हें अपनाये नहीं तो वह उसकी ईमानदारी है, विवेककी बात है, विरक्त है, ऐसे ही आत्मभूमिकापर कर्मके और विकारके निमित्तनैमित्तिक सम्बधके कारण रागविराग उत्पन्न हो गया लेकिन यह ज्ञान उस रागको ग्रहण न करे तो वह भी विराग है। बाहरमे रहने वाले पदार्थोंको ये भिन्न हैं, विनाशीक हैं ऐसा निरखने वाले बहुत हो सकते हैं पर अपनी आत्मभूमिकापर जो विकारभाव आया है, ये भिन्न है, पर है, न्यारे है, मैं इनके अन्दर स्वरक्षित केवल अपने स्वरूप मात्र हूँ, ये बाह्य भाव हैं ऐसा जो जानते है वे पुरुष विरले ही है। दूसरेकी कषाय देखकर मनमे हस जाना यह बात लोगोंको कितनी सुगम लग रही है। कोई पुरुष अभिमान कर रहा, घमडकी बात बगरा रहा उसे सुनकर दूसरे लोग कैसा मनमे उपहास करते है। कैसा अज्ञानका भूत चढा है ? इसी प्रकार अपनेमे ये कषाय जगती है और उनपर उपहास करले यह ज्ञान। क्या हो गया ? निमित्तनैमित्तिक सम्बधसे होता है यह। यह मेरेमे नहीं होता। देखिये ज्ञानका और रागका आधार एक ही है किन्तु भेदविज्ञानकी ऐसी क्षमता है कि कहनेमात्रकी बात नहीं कह रहे किन्तु स्पष्ट उसे भिन्न नजर आ रहा। यह राग है मैं ज्ञानरूप हूँ,

कैसा अपनी ओर मुड़ गया है। यह ज्ञानी उन रागादिकोंको अपनाता नहीं है। तो ऐसा जो विरागपुरुष है उसके अज्ञानरूपी विषम गृह शान्त हो जाते हैं। और जब रागसे पीडित होता है, रूपसे अपनेको जुदा नहीं समझ पाता, इसीके मायने हैं रागसे पीडित होना, रागमें आसक्त होना अपनेको रागरूप अनुभवना। इस प्रकार जो रागसे पीडित पुरुष है उसके निरन्तर अज्ञानरूपी विषमगृह बढता रहता है। अपना भविष्य अपने आपपर निर्भर है इतनी विशुद्ध परिणति जगे तो हमारा भविष्य उत्तम है और परभावोंको अपनाने रूप ही वृत्ति बने तो संसारमें रुलनेका ही काम है। धन्य है वह तत्त्वज्ञान, धन्य हैं वे ज्ञानी पुरुष, साधु हो अथवा गृहस्थ, प्रशसा तो ज्ञानकी है ना। तो बाहरी भेषके इन अनुरागोंसे कोई फर्क नहीं जच रहा, वहाँ दृष्टि ही नहीं दे रहा, वह तो उस सम्यक्त्व किरणपर दृष्टि दे रहा है कि जिस सम्यक्त्वके प्रतापसे एक ही आधारभूत आत्मामें उत्पन्न हुए रागादिक विकारोंसे अपनेको न्यारा समझ रहा है। उस तत्त्वज्ञानकी उपासनामे है यह भक्त। धन्य है वह तत्त्वज्ञान। और एक दृष्टिसे अगर निरखो तो जिन्होंने घर बार छोड दिया, परिग्रह छोड़ दिया ऐसे साधुसत विकार भावोंसे छुट्टी पाकर अपनी ओर लग गये, उनका जितना आन्तरिक तपश्चरण बन रहा उससे कई गुना आन्तरिक तपश्चरण इस गृहस्थ तत्त्वज्ञानीके बन रहा है कि इतना समागम है पास, ऐसा साधन है, घरमें बस रहा है, सब कुछ समस्यायें हैं तिसपर भी समस्त रागादिक विकारोंसे अपनेको न्यारा जानकर अपने आपमे ही तृप्त रहा करता है।

स्वभावजमनातङ्कं वीतरागस्य यत्सुखम्।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशश्वरैः ॥११२०॥

वितराग पुरुषके स्वभावज सुखकी महिमा —कहते हैं कि जो रागद्वेषसे रहित पुरुष है उसको जो सुख प्राप्त होता है बड़े-बड़े देवेन्द्रोंको भी उस सुखका अनन्तवां भाग भी नहीं मिलता, क्योंकि वीतराग योगीश्वरोंका सुख तो स्वभावसे उत्पन्न होता है किन्तु देवेन्द्रोंके सुख स्वभावसे उत्पन्न होते नहीं हैं। उसमें अनेक आधीनताएं हैं। कर्मोका उदय अनुकूल हो तो उन्हें सुख मिले। और वीतराग योगीश्वरोंका आनन्द आतकरहित है पर विशेश्वरोंका सुख आतक सहित है। इस कारण निर्मल ज्ञान वाले पुरुषोंके जो सुख उत्पन्न होता है वह सुख बड़े-बड़े देवेन्द्रोंको भी नहीं मिलता।

एतावनादिसंभूतौ रागद्वेषौ महाग्रहौ।
अनन्तदुःखसंतानप्रसूतेः प्रथमाङ्कुरौ ॥११२१॥

रागद्वेष महाग्रहोंकी दुःखसतानमूलता —अनादिसे उत्पन्न हुए रागद्वेषरूपी महापिशाच बड़े गृह रूप हैं जो अनन्त दुःखोंके सतापकी उत्पत्तिके लिए प्रथम ही प्रथम अकुरभूत हैं। अर्थात् जितने दुःख उत्पन्न होते हैं उन दुःखोंकी परम्परा रागद्वेषसे चलती है। रागद्वेष मोहभाव है तब तक परम्परा चलती है। और वैसे भी अनुभवसे देख लो कोई रागभाव किया जाय तो उस रागकी परम्परा राग बढाता जाता है। राग है सो दुःख है। राग ही दुःख है क्योंकि रागपरिणाम क्षोभको उत्पन्न कराता हुआ होता है। तो दुःखकी परम्परा रागभावसे बढती है अतएव जिन्हें दुःख अनिष्ट है उनका कर्तव्य है कि वे रागविकार न करें। रागसे चित्त चलित हो जाता है। आत्मध्यानका पात्र नहीं रहता, ऐसे रागभावको मेटनेके लिए जैन शासनमे एक तत्त्वज्ञानका उपाय बताया है। ध्यान साधनामें भी प्रमुख साधनका स्थान तत्त्वज्ञानका है। अन्य लोग अनेक साधन वाले पुरुष प्राणायाम, आसन, यम, नियम, प्रत्याहार, धारणा आदिक अनेक रूप करते हैं, पर वे नियामक उपाय नहीं हैं। नियामक उपाय तो राग मेटने के लिए एक तत्त्वज्ञानका ही है।

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।
जीवो जिनोपदेशोऽयं समासाद्बन्धमोक्षयोः ॥११२२॥

बन्ध और मोक्षके कारणोका सक्षेपमें निरूपण .—जैन शासनमें बंध और मोक्षका उपाय सक्षेपमें यह बताया है कि जो रागी पुरुष है वह तो कर्मोंसे बधता है और जो वीतराग है वह कर्मोंसे छूटता है। और यह एक सारभूत उपदेश है—लाख बातकी बात यही एक निश्चयमे लेना है कि हमको जितने भी क्लेश होते हैं वे रागभावसे हुआ करते हैं। किसी न किसी परपदार्थमें रागभाव है तव क्लेश है। खूब खोज करें तो क्लेशोंका कारण और कुछ दूसरा न मिलेगा। जितना भी बधन है वह सब रागका बधन है। कोई गृहस्थ कहता हो कि हम घरसे बहुत बिकट बध गए हैं। छोटे-छोटे बालक हैं, उनका बधन हमे है पर बंधन न बालकोंकी ओरसे है, न किसी इष्टकी ओरसे है। बन्धन है तो केवल अपने रागभावका। जितने भी जीव को बन्धन हैं वे उनके स्नेहभाव जगनेके कारण हैं। एक गायका छोटा बच्चा उस बच्चेको कोई गोदमें उठाकर आगे चले तो गाय बछड़ेके पीछे ही भागती है। गायको रस्सीसे ले जानेकी जरूरत नहीं है। उसके बछडेको आगे ले जावे कोई तो वह अपने आप चलती जायगी। तो इतनी बड़ी गाय और एक दो दिनका वह बछडा, क्या उस बछड़ेने गायको बाध लिया ? अरे वह गाय स्वय स्नेहवश उस बछड़ेसे बध गयी। ऐसा ही सब जीवोंका समाचार है। किसी भी जीवको किसी परपदार्थ ने बाधा नहीं है। स्वय स्नेह किया और उस स्नेहके कारण बध जाता है। जो जीव राग करेगा वह कर्मोको बाधेगा और जो रागसे दूर होगा वह कर्मोंसे मुक्त हो जायगा। यह ही बन्धन और मोक्षका एक सक्षिप्त मर्म है। जो शरीरमे राग करता है उसको शरीरका बन्धन बराबर मिलता चला जायगा। एक शरीर छोडा तो दूसरा शरीर मिलेगा। यों शरीरकी परम्परा बराबर बनती चली जायगी और जिसे शरीरसे राग नहीं है, शरीरसे भिन्न आत्मतत्त्वमे जिसे आत्मप्रतीति है वह शरीरसे मुक्त हो जाता है। केवल अपने आपके भावोंका ही बन्धन है और अपने आपके भावोसे ही मुक्ति है।

तद्विवेच्य ध्रुवं धीर ज्ञानार्कालोकमाश्रय।
विशुष्यति च य प्राप्य रागकल्लोलमालिनी ॥११२३॥

रागविलयके अर्थ ज्ञानसूर्यप्रकाशके आश्रयणका अनुरोध —हे धीर वीर पुरुष ! ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशका आश्रय कर। इस ही ज्ञानभावके आश्रयसे भव्य पुरुष रागभावसे मुक्त हो जाते हैं। इस आत्माको कुछ तो चाहिए जिसमे कि यह लगे। जैसा आत्माका स्वभाव श्रद्धान है अपने किसी भी तत्त्वमे हितका भाव बना जिसे यह श्रद्धान है और किसी न किसी पदार्थका ज्ञान करते रहना यह स्वभाव है, इसी तरह आत्माका यह भी स्वभाव है कि किसी न किसी भावमे लगे रहना। अब यदि इस आत्माको अपना ज्ञानस्वभाव दृष्टिमे मिलता है तो वह वहा लगेगा और अपना ज्ञानस्वभाव अपनी दृष्टिमे नहीं रहता है तो वह किसी परकी ओर लगेगा। जैसे श्रद्धान आत्मस्वभाव है, ज्ञान आत्मस्वभाव है इसी प्रकार किसी न किसी भावमें लगना यही हुआ चारित्र। यह भी आत्मस्वभाव है। तो जो अज्ञानी पुरुष हैं, रागी पुरुष हैं उन्हे अपने आत्माका तो परिचय नहीं है अतएव वहा नहीं लगते और बाह्य पदार्थोंका इन्हे परिचय पडा हुआ है तो वे बाह्य पदार्थोंमें लगा करते हैं। लेकिन जो अपने ज्ञानस्वभावसे परिचित हैं, उनका लगाव ज्ञानस्वभावसे है और इसही कारण रागकी नदी उनकी सूख जाती है, अर्थात् रागभाव नहीं रह पाता। राग मिटा कि सारे सकट मिट गए। सारे सकट क्या हैं ? एक रागमात्र ही है। प्रथम तो शरीरमे राग किए हुए फिर रहे हैं। इसीका बोझ लादे फिर रहे हैं। बूढा भी शरीर हो गया, शिथिल हो गया, इतने पर भी क्या ममता छूटती है ? अपने शरीरसे तगडा रूपवान अनेक मनुष्योंका शरीर है, मगर दूसरेके शरीरमे किसीको ममता नहीं जगती है। उसको माने कि यह मैं हूँ ऐसा भाव होता है क्या ? कैसा ही देह हो अब इस ही देहमे ममता और आत्मीयता जगा करती है तो प्रथम तो इस शरीरसे ही राग है अतएव शरीरके पोषणके लिए शरीरके विषय इन्द्रिय साधनाके लिए निरन्तर कल्पनायें बनाया करते हैं। करता कुछ नहीं आत्मा। न हाथ पैर हैं, न मूर्ति

स्वरूप है, न किसीको परख सकता है और पकडा नहीं तो छोड़ेगा भी किसे? यह एक भेद-भाव बना रहता है। उस भावमें यदि वह पराश्रित है तो कर्मोंसे बंध जाता है और यदि स्वाश्रित भाव है तो कर्मोंसे छूट जाता है।

चिदचिद्रूपभावेषु सूक्ष्मस्थूलेष्वपि क्षणम्।
रागः स्याद्यदि वा द्वेषः क्व तदध्यात्मनिश्चयः ॥११२४॥

पदार्थों में रागद्वेष होनेपर अध्यात्मनिश्चयका अभाव।—सूक्ष्म अथवा स्थूल चेतन अचेतन पदार्थोंमें क्षणभर भी राग अथवा द्वेष होता है तो फिर अध्यात्मका निश्चय कहाँ रहा? अपने आपके स्वरूपके सिवाय अन्यत्र यदि राग अथवा द्वेष उत्पन्न हो तो आत्मदृष्टि कहाँ रही? आत्मदर्शन जब है तब किसी भी आत्मा की सुध न हो। किसी भी अनात्मतत्त्वमे राग न जाना। यदि किसीमें रंच भी राग है तो वहाँ अध्यात्म नहीं है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि हम मजेसे अपने घरमें रहते हैं और किराये आदिकी आमदनी है। लोग घर दे जाते हैं, न किसीको सताते, न किसीसे झूठ बोलते, न चोरी करते, न कुशील परिग्रह सेते। घरमें रहते हैं, अपने परिवारजनोंमें बड़े सुखसे प्रेमपूर्वक रहते हैं तो कर्मबन्धन तो न होता होगा और पाप न लगता होगा, कोई ऐसा सोचे कि हम पराधीन न होंगे, हम तो स्वतंत्र हैं तो यह सोचना गलत है। पराधीनता तो उसको भी कर्मोंकी है, विषयसाधनोंकी है, और वे विषयसाधन अनुकूल मिले, न मिलें, उनकी कल्पनाओं की भी उनको वेदना हुआ करती है। तो पराधीनता भी है और पापभाव भी है। आत्मदर्शन न हो, और आत्मदृष्टिसे अन्यत्र कहीं प्रीतिका परिणाम पैदा हो वह सब पापभाव है। इन्द्रियके विषयोंके साधनोंको रुचि जग रही है वह पापभाव है। आत्माका जो सत्य आनन्द है उस आनन्दकी वहाँ झाकी नहीं है, केवल क्षोभ ही क्षोभ है। और गलत दुनियामें पहुंच गए हैं, और सही लोक है अपना चैतन्यलोक, ब्रह्मलोक, उसमें स्थित नहीं है तो उसको तो सारा पापका ही भाव लग रहा है। बन्धन भी है, पाप भी है। जैसे दूसरोंका सताना पाप है ऐसे ही अपने आपसे विषयोंमे आसक्त बनाना भी पाप है। विषयोंमें आसक्त पुरुषको सम्यग्दर्शन न हो सकेगा और सप्तम नरकके नारकी जो वेदना सह रहा है, दूसरोंको भी सता रहा है उसका सम्यग्दर्शन हो सकेगा। तो अब समझ लीजिए कि विषयोंमें आसक्त होना कितना महान पाप है? जहाँ मोक्ष मार्गका प्रारम्भ भी नहीं बन सकता। तो जिस किसी भी पदार्थमें चाहे वह सूक्ष्म अथवा स्थूल हो। राग अथवा द्वेष होता है तो वहां अध्यात्मका निश्चय नहीं है।

नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम्।
वृणोति वीतसंरंभो वीतरागः शिवश्रियम् ॥११२५॥

वीतराग मुनिका शिवश्रीस्वामित्व —जिसका रागादिरूप विकल्प नष्ट हो गया है वह वीतराग मुनि ऐसी कल्याणश्री को प्राप्त करता है जहां नित्य आनन्द है, शुद्ध है, निरन्तर रहने वाला है और आत्मासे उत्पन्न हुआ है अर्थात् मोक्षका स्वामी होता है। मुक्ति क्या है? सबसे हटकर केवल अपने आप स्वरूपमें रह जाना इस ही का नाम मुक्ति है। खुद-खुद ही है। खुद-खुद बन गया यही मुक्तिका लाभ है। मुक्तिका निर्माण कहीं किन्हीं चीजोंसे जोड जाड़कर न होगा। कोई यों सोचे कि बड़े तपश्चरण विधान आदिक कार्योंको करके मुक्तिका हम संचय करने लगें सो मुक्ति तो हटनेसे प्राप्त होती है, लगनेसे प्राप्त नहीं होती। मुक्तिमें जो स्वरूप प्रकट होता है वह स्वरूप स्वयं ही सहज अपने आपके सत्त्वमे होता है, किसी दूसरे पदार्थके सम्बंधसे नहीं होता। जैसे पाषाणमेंसे कोई प्रतिबिम्ब निकाला जाता है तो वह प्रतिबिम्ब किसी पदार्थको जोडकर लगाकर नहीं बनाया गया है। प्रतिबिम्ब तो वही का वही बन गया है। वह पाषाणमें पहिले भी था अर्थात् वह परमाणु, वह अवयव जो प्रतिबिम्बरूपमें प्रकट हुआ है वह पाषाणमें पहिलेसे

ही था। केवल एक चतुर द्रष्टा कारीगरने उस प्रतिबिम्बको ढकने वाले जो अगल-बगलके पत्थर हैं उनको हटाया भर है, तो प्रतिविम्ब निकल आया। कहींसे बनाया नहीं गया। इसीलिए टकोत्कीर्ण प्रतिबिम्बका दृष्टान्त कहा जाता है। टकोत्कीर्ण प्रतिबिम्ब वह निश्चल है और अपने आपमेसे प्रकट होता है, इसी प्रकार आत्माका जो स्वरूप है, विकास है वह भी निश्चल है और अपने आपसे उत्पन्न हुई है। जो सिद्ध अवस्था है, वह निश्चल है, चलित नहीं होती, कोई निमित्त नहीं रहा, कोई योग्यता न रही, अब वह सिद्ध बिम्ब आत्म प्रदेश निश्चल है, निष्कम्प है और जो विकास होता है वह भी कभी चलित नहीं होता और अपने आपसे उत्पन्न होता है। किन्हीं बाह्य पदार्थोंको छोडकर वह सिद्ध अवस्था प्रकट नहीं हुई है। हम किस बातको कह रहे हैं? अपने आपमें सोचते जाइये, जो हमारा विशुद्ध रूप हो सकता है उसकी बात कह रहे हैं। सिद्धकी बात कहे तो वहाँ ऐसा अनुभवना चाहिए कि हम अपनी बात कर रहे हैं। जैसे व्यापार धधों के अनेक भावी प्रोग्राम खूब खुश हो होकर कहा करते हैं तो यह सिद्ध अवस्था अपने आपके आत्माका ही तो भावी प्रोग्राम है। विकास हो होकर अपने भावी प्रोग्रामकी चर्चा कर रहे हैं कि हम किसी दूसरेकी क्या कह रहे हैं? वह सिद्ध अवस्था मेरे स्वरूपमें ही उत्पन्न हुई है अथवा उत्पन्न हो गयी, वह ज्योंकी त्यों उस स्वभावमे सदैव रहती है प्रत्येक जीवमे है। अब उपयोग ऐसा बिगड़ गया कि हम उसका लाभ नहीं ले पाते। अतएव वह स्वरूप ढक गया है, पर जब भी हम णमो अरिहताण बोलें तो यह अरहत दूसरे हैं उनको हम नमस्कार करते हैं, ऐसी अत्यन्त भिन्न दृष्टि न रखकर हम अपनी ही बात कर रहे हैं। हमारा ही भावी प्रोग्राम है ऐसी अवस्था प्राप्त करनेका और इसी नातेसे हम उन्हें नमस्कार कर रहे हैं। अरहंत भगवान हमे कुछ देते तो हैं नहीं। सुख दुःखका देने वाला कोई दूसरा पुरुष तो है नहीं। फिर अरहतके ध्यानसे हमें फायदा क्या मिला? फायदा यह है कि हम अपने आपका भावी प्रोग्राम समझ रहे हैं उस रिश्तेसे हम प्रभुको नमस्कार करते हैं। वे हमें कुछ देंगे नहीं पर हम ही ध्यान करके अपने आपको उस रूप भा भाकर खुद प्राप्त कर लेंगे और इसी नातेसे हम अरहत प्रभुका स्मरण करते हैं। जब णमोसिद्धाण बोलें तो हम कहीं भिन्न सिद्धको नमस्कार कर रहे हैं ऐसी अत्यन्त विविक्तताकी बात न रखें, किन्तु हम अपने भावी प्रोग्रामकी सुध ले रहे हैं। वह अवस्था हमे इष्ट है, हितरूप है, सर्वसकटहारी है और वह सब कुछ मुझमें ही है। हम अपने आपके अत छुपे हुए उस ममके विकासकी अपनी यादमे ले रहे हैं।

परमेष्ठिपदोमे साध्यसाधनत्वका प्रकाश —परमात्मपद तो हुआ साध्यरूप, पर साधनरूप हैं आचार्य उपाध्याय साधु। ये भी एक ही बात है। निरारम्भ, निष्परिग्रह, इनका एक ही पद है। केवल थोडा एक मोक्षमार्गके निर्वाहके लिए रागादिक भावोंसे जो बाधायें आतीं उन्हें दूर करने भरकी व्यवस्था है। पर पद तीनों ही एक हैं। सबका ध्येय एक कैवल्यकी प्राप्ति है। तो जब हम आइरियाण, उवज्झायाण और साहूण बोलें तो वहा केवल एक रूपका अनुभव करना है, भिन्न-भिन्न रूपोंका नहीं। वही निर्ग्रन्थ, निष्परिग्रह, निरारम्भ केवल ज्ञानस्वरूपकी ही साधनामे उत्सुक ऐसे गुरुभावका हमे स्मरण करना है। वह भी हमारा भावी प्रोग्राम है। वह सामर्थ्य हमारे प्रकट हो कि हम उस निष्परिग्रह पदको प्राप्त करें जो कि आरहत अवस्थाका कारण है। न हो इस कालमें आरहत अवस्था, किन्तु उसका एक सिल्सिला और भावोंमें एक विशुद्धि तो बनेगी। तो जो शाश्वत लक्ष्मी है मुक्ति वह कुछ भिन्न नही है। जो उसका सहज स्वरूप है वही मोन अवस्थामे प्रकट होता है, उसे वीतराग पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं। रागमे तो रागका विषय मिलेगा। विषय भी न मिलेगा, किन्तु रागमें तो अपना रागी परिणमन मिलेगा, अन्य कुछ नहीं हाथ आनेका। हम अपनेको ४–५ मिनट ही बड़े शुद्ध परिणामसे अकिञ्चन आदि अनुभव कर सकें केवल ज्ञानमात्र हूँ ऐसा नाता तोड दें उस धर्मपालनकी प्रक्रियामे कि मानों कुछ भी हमारा नहीं है। जितना व्यवहार रूपमें भी मानते आये हैं, करना पड रहा है या गृहस्थोका कर्तव्य है, इस रूपमें भी जितनी बात मानते आये उसको भी हटा दे यह दशा एक सामायिककी होती है और उस सामायिक में वह मुनि तुल्य बताया गया है चाहे वह गृहस्थ भी हो। जब आत्मध्यानकी स्थितिमें सम ाधि

यह आ गया तो समझ लीजिए कि उसने एक मोक्षका जो यथार्थ उपादानभूत है उस प्रभुको पा लिया। समाधिके लक्षणमें यह बताया गया है कि सामायिकका वह समय है, या सामायिकका वह विधान है या इतनी देरकी सामायिक है कि चोटीकी गांठ लगाना मुठिका बधा होना आदिक बताया है। तो उसके हम दो अर्थ ले सकते कि सामायिककी विधि ऐसी है कि कपड़ेका बन्धन करलें याने चद्दर ठीक बाध ले, चोटीकी गाँठ लगा ले, दूसरा यह भाव बन सकता कि चोटीका बधन करनेमे जितना समय लगता है उतना खासा सामायिकका समय है। अधिक देर तक समतापरिणाम नहीं ठहरता। लेकिन उस समतापरिणाममें ठहरने के लिए हमे और प्रयोग बहुत काल तक करने पडते हैं। हम यदि अपने आपको किसी भी क्षण सारे नाते तोड़कर अकिञ्चन निरखें, केवल ज्ञानस्वरूप मैं हूँ ऐसा दर्शन करें तो उस आत्माको ऐसी कल्याणरूप लक्ष्मी का लाभ हो जो सदा रहने वाला है, समीचीन है, स्वाश्रित है, सदैव जिसमें आनन्द बर्तता रहता है। बस हमारा काम है कि ऐसा ज्ञान बनायें कि मोह न जगे और रागद्वेष मिटे। ऐसे ज्ञानमें लगते रहना ही हमारा कर्तव्य है।

(नोट —श्लोक न० ११२६, ११२७, ११२८ व ११२९ का एक प्रवचन नोट नहीं हुआ)

अयं मोहवशाज्जन्तुः क्रुद्धयति द्वेष्टि रज्यति।
अर्थेष्वन्यस्वभावेषु तस्मान्मोहो जगज्जयी ॥११३०॥

सकारण मोहकी जगज्जयिताका आख्यान —यह प्राणी मोहके वश होकर अन्य पदार्थोंमें क्रोध करता है, द्वेष करता है और राग करता है, इस कारण यह समझ लीजिए यह मोह इन तीन लोकोंको जीतने वाला है। इस मोहका ऐसा प्रसार है कि जतुवोंपर कि जो एकेन्द्रिय जीव भी हैं जिनके सम्बधमें हम आप कुछ कल्पना नहीं कर सकते कि वे क्या विकल्प करते हैं किस तरह उनके अन्तरङ्गमें भावना बनी रहती है। वे देखनेमें लगता है कि पड़े हैं, खड़े हैं उन स्थावरोंमें भी मोह है और सज्ञा द्वारा पर्यायबुद्धिता उनमें बर्त रही है। जो उन्हें पर्याय प्राप्त हुई है उसमें ही अहंका वे अनुभवन करते रहते हैं। अब जितना उनका विकास है उस शैलीसे वे अनुभवन करते हैं, पर पर्यायबुद्धिसे ग्रस्त वे भी हैं। यद्यपि एक इन्द्रिय जीवोंके मोहका वैसा प्रसार नहीं बन पाता जैसा सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके बनता है और इसका प्रमाण भी यह है कि एक इन्द्रिय जीवोंके मोहनीय कर्मका स्थितिबध कम होता है। और सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके मोहकर्मका स्थितिबध अधिक होता है लेकिन एकेन्द्रियकी अवस्था पतित है और जो जितने कम विकारमें भी कमजोर है पर उसका विकार इस ढगका कमजोर है कि उसके विरुद्ध अर्थात् कुछ उन्नतिके लिए कुछ काम भी नहीं कर सकते, इस ढगका मोह है। वे अपने आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार सञ्ज्ञावोंमे डूबे हुए हैं, उनकी सज्ञा उनके भावोंके अनुकूल है, पर मोहका प्रसार उन एकेन्द्रियमे भी है। अब दो इन्द्रिय जीवसे तो कुछ समझमे आ सकती है बात कि इसमें मोह है। ये लट केचुवे, जोक, शख वगैरह चलते रहते है, खाते रहते हैं और कुछ इनका काम नहीं है। आसक्ति उनकी इन्द्रिय विषयोंकी बनी रहती है और कुछ पता नहीं, मन हो नहीं है, हित अहित का विवेक नहीं कर सकते। मन होनेसे मनुष्य हित अहितके विवेकमें समर्थ हो जाते हैं मनका ऐसा प्रभाव है वह मन भी अपने भाव मन योग्यता रूप, पर मन न होनेसे विकल्प न हो, वासना न हो ऐसी बात नहीं बनती। यह जीवोंके चार सञ्ज्ञावोंके प्रभावसे वह अपने आपमे सक्लिष्ट दुःखी और मुग्ध बने रहते हैं। जो पर्याय मिली है उसीको आपारूप अनुभवन कर रहे हैं ऐसे ही तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोमे मोहका प्रसार बना हुआ है। सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंमे तो कलात्मक ढगसे भी मोहका प्रसार चलने लगता है और वह खूब समझमे आता है पर मोह नाम प्रीतिका नहीं है। दो पदार्थोंमे, विविध पदार्थोंमें उनकी स्वतन्त्रताका भान न होकर यह इसका अधिकारी है, मैं इसका अधिकारी हूँ, मैं इसे यों कर सकता, यों कर दूगा आदिक एक दूसरेकी परिणति कर देनेका भान होना यह है मोहकी बात। जो भिन्न-

भिन्न पदार्थ है शरीर और आत्मा उनमें भेद न जान सकना, भेद न अनुभव सकना, शरीरसे न्यारा जैसा स्वय है ज्ञानस्वरूप उस रूप अपने आपको न समझ पाना, भान भी न होना यह है मोहका स्वरूप, मोहका प्रसार। तो सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंमे ती नानारूपोंमे प्रसार मिलता है जो मन हित अहितका विवेक करके हित कार्यमे लगनेके लिए था उस मनको इन चार सञ्ज्ञावोंके प्रबल बनानेमे जुटा दिया है। मन न होता तो भी चार सञ्ज्ञावोंसे पीड़ित यह प्राणी रहता, पर मन होनेसे उन चार संज्ञावोंमे और प्रबलता आ सकी है। तो जगतके सभी प्राणी इस मोहकी लीलावोंसे ग्रस्त हैं अतएव यह मोह सारे विश्वपर विजय कर रहा है। मोह क्या विजय कर रहा ? सभी जीवोंमें मोह विकार ऐसी तीव्रतासे और व्यापकतासे चल रहा है, इसीको कहते है कि मोहको जगतने जीत लिया।

तत्त्वज्ञताके विजयका आख्यान —जिस प्राणोको मोह नहीं रहता और यह पक्का दृढ़ निर्णय रहता कि मेरे लिए कोई दूसरा शरण नहीं है, मेरा कोई जिम्मेदार नहीं, प्रभु नहीं, कर्ता नहीं, अधिकारी नहीं, मालिक नहीं। मेरा जो कुछ है मेरेसे ही चलता है ऐसा जिसने अपने चित्तमे दृढ़ निर्णय बना लिया है, उस पुरुषको अपने आत्महितकी धुन बन जाती है और अन्तरङ्गमे ऐसी प्रेरणा रहती है, ऐसा साहस होता है, ऐसी बुद्धि बननी है कि सिवाय एक आत्मतत्त्वके निकट रहनेके, इस ही के परिचयमें बने रहनेके और कुछ न बनू। कैसी स्थिति है इस तत्त्वज्ञानी की ? और कुछ करना नहीं पड रहा है विकल्प ही मच रहे हैं और उन विकल्पोंका निमित्त पाकर योग परिस्पन्द होना, उसका निमित्त पाकर शरीरकी वायुका प्रवर्तन हुआ और उसका निमित्त पाकर आगे चले, यों सब कुछ करना पड रहा है तथापि एक अपने आत्मतत्त्वके ज्ञान ध्यान और उसके समीप बसे रहनेके अलावा यह तत्त्वज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता। जैसे किसी मित्रसे बहुत-बहुत परेशानी जब सह ली जाती है तब उसका निर्णय बनता है, बस देख लिया। अब मुझे वहा रहनेकी जरूरत नहीं, मेरेको अब कोई आकर्षण नहीं। देख लिया, अब समझाये भी कोई, बहकाये भी कोई तो वह अन्तर से यही आवाज देता है, बस देख लिया क्या होता है समझनेसे ? समझ लिया, परख लिया, ऐसे ही इन बाह्य पदार्थोंमे लगे रहनेसे, विकल्प बसाये रहनेसे जो-जो बरबादिया हुई वे मैं सब समझ गया। बाह्य पदार्थोंकी ओर आकर्षण बनाये रहनेसे जो कुछ मैंने अपनेको बरबाद किया उसे मैं खूब ध्यानसे समझ गया। अब कोई बहकाये भी अथवा अपने किसी प्रकारके राग भरे दर्शन देकर हमे विचलित करना चाहे भी तो इस तत्त्वज्ञानीके यह अन्तरङ्ग आवाज होगी बस मैंने देख लिया। अब क्या होता है बहकानेसे ? समझ गया सब। जो ज्ञानी पुरुष अपने आपको परभावोंसे, परतत्त्वोंसे अशरण समझता है उसका कहीं कोई शरण नहीं, उसे आत्महितमे प्रीति जगती है और एक आत्महितकी ही धुन रही।

मोहजागरणमे मूल अपराधका सकेत - इसे मोह क्यों जगा ? मूलमें यह अपराध है अथवा इसीका ही नाम मोह है। मोह स्वय अपराध है, जो अन्य स्वभाव है अर्थात् मैं चेतन हूँ मेरा चैतन्यसे विलक्षण जो स्वभाव है अचेतन पदार्थोंका अचेतन धर्ममे स्वभाव वाले पदार्थोंमे, अचेतनमे इसने 'यह मैं हूँ' इस रूपसे अनुभव किया अथवा यह मेरा है इस रूपसे अनुभव किया और जो एक ज्ञानकी वृत्तिके अतिरिक्त जो कुछ बीतती है, जो विभाव बनते है उनके प्रति भी तत्त्वज्ञानीकी यह दृष्टि रहती है कि य सब भी अन्य स्वभाव हैं, मेरे ही सत्त्वके कारण मेरे ही स्वरूपसे स्वरसत ये विभाव नहीं जगे हैं। यद्यपि विभाव परिणमन मेरा ही बन रहा है पर मेरे स्वरससे नहीं बन रहा है यह औपाधिक भाव है। जिसको ज्ञानका सुलझेरा हो गया है वह तो तत्त्व निकालता है, मेरा हित हो। ऐसी वह अपनी वृत्ति बनाता है। उसके लिए कभी उपादानकी मुख्यतासे अवगम करना होता है। मेरा परिणमन मेरेसे ही उत्पन्न हुआ। इसमे किसी दूसरेका हाथ नहीं है अर्थात कोई भी दूसरा पदार्थ परिणम कर इस मेरे मोहरूप नहीं बना। उपादानकी प्रमुखतासे केवल अपने आपको ही स्रोत तककर अन्य सब पदार्थोंकी दृष्टि न रखकर एक ऐसी कैवरय वतना बनाता है कि हां भी

विभावपरिणमन तो कब तक होगा, किसके आधारसे ठहरेगा, यों लाभ उठा लिया जाता है उपादान दृष्टि करके। तो कोई निमित्तकी मुख्यतासे भी वर्णन करके सोच करके आत्महितकी ही बात निकालता है। ये क्रोधादिक भाव, ये सब अज्ञानमय भाव जड़ उपाधिका निमित्त पाकर हुए हैं, मेरे ये स्वरसत नहीं उठे अतएव ये मेरे नहीं हैं। निश्चय दृष्टिसे तो यह भी बात आयी थी कि ये मेरे परिणमन हैं। अभी ही सही, आगे न होगा पर दृष्टिमे आया। और यहां यह दिख रहा है कि क्रोधादिक मेरे परिणमन ही नहीं हैं। मेरी चीज ही नहीं हैं यों समझियेगा। मेरा स्वरूप नहीं, मेरी शुद्ध वर्तना नहीं, ये आये हैं, औपाधिक हैं, विभाव हैं, यों सोचकर उन रागादिकोंको अपना न माननेकी उज्ज्वलता जगाई। जिसे ज्ञानका ठीक प्रकाश मिला है वह तो सर्वदृष्टियोंमें अपने मूल आश्रयका दर्शन करनेकी वृत्ति जगती है, पर मोहका ऐसा नाच चल रहा है जगतके जीवोंपर कि वे तत्त्वके निकट नहीं आ पाते। उन्हें फुरसत ही नहीं है अपने आपके विकल्पोंसे। तो मोहका एक ऐसा प्रसार समस्त जीवोंपर चल रहा है कि मोहने मानो सारा जगत ही जीत लिया। अनन्तानन्त जीवोंके समक्ष सख्यामें आने वाले वहाँके विरले सम्यग्दृष्टिजन क्या अनुपात रखते हैं? यों समझ लीजिए न की तरह हैं। लोकमे सब कुछ मिलना सुलभ है पर एक सम्यग्ज्ञान, अपने सहज-स्वरूपका अनुभवन, यह ज्ञान सुलभ नहीं है। है सुगम तब भी प्रकट होगा, है स्वाधीन, लेकिन जब मोहके वश चल रहे हैं तो उस स्वरूपानुभव की न सुगमता रही और न स्वाधीनता रही अर्थात् जो बीत रही है उसका ही अनुभवन करते चले जा रहे हैं। यह मोह समस्त जगतपर विजयी बन रहा है, पर तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसे मोहपर भी विजय पा लेते हैं। तो इस नातेसे ज्ञानी पुरुष जगतपति कहलाये अथवा नहीं?

मोहपरिवर्जनका अनुरोध —ये मोही प्राणी मोहवश ऐसे दीन बने चले जा रहे हैं कि अन्य स्वभाव वाले पदार्थोंमें ये आत्मारूपसे अनुभवन रखते हैं और इस ही अपराधके कारण यह मोह इनपर हामी बना हुआ है। पत्थरका पनघट रस्सीसे घिसनेसे ५-७ वर्षमें उसमें गड्ढे पड जाते हैं रस्सीके खींचनेकी जगह। जब अभ्याससे पत्थरपर गड्ढे बन जाते हैं तो हम यदि अपने आत्मस्वरूपका अभ्यास बनाये रहें, सहज अपने आप बिना किसी उपाधिके, बिना अन्य सगके जो वृत्ति बनती है वह है सहजभाव। और जो सहज-भाव रूप अपने आपको मान ले तो बस वही है शान्तिका मार्ग, कल्याणका पथ। यह मोह जीता जाय तब आत्माका ध्यान बनेगा और जब आत्माका ऐसा विशिष्ट ध्यान बनेगा तो उसको शान्तिका पथ एकदम मिल जायगा। इस मोहको जीतनेका इस जिन्दगीमे काम पडा हुआ है। अगर जल्दी ही कुछ समयमें यह मोह जीता जा सका तो फिर रागद्वेषके दूर करनेका भी सिलसिला चलने लगेगा। मोक्ष मिलेगा विशुद्ध ध्यानसे, आत्मध्यानसे। आत्मध्यान तब बनेगा जब एक आत्मतत्त्वके अतिरिक्त अन्य भावोंमे पदार्थोंमे वाञ्छा न जगे। मोहका दूर करना सबसे बडा काम अपन सबका पडा हुआ है और बातोंमें तत्त्व क्या रखा है? नामवरी, इज्जत, धन जुड जाना, ये सब बातें यदि अन्याय करके ठगा देकर बना लिया है तो इसका इससे कुछ भला होनेका नहीं है, इसका परिणाम अच्छा नहीं निकलनेका। इस मोहको जीतनेमे ही अपना भला है।

रागद्वेषविषोद्यानं मोहबीजं जिनैर्मतम्।
अतः स एव निःशेषदोषसेनानरेश्वर ॥११३१॥

मोहकी दोषसेनानरेश्वरताका कारण —रागद्वेष रूपी विषका जो बाग है उस बागको पनपनेके लिए उस बागके निर्माणके लिए बीज क्या डाला गया था? बीजके बिना ये वृक्ष उत्पन्न नहीं हो पाते। तो रागद्वेषके विषवृक्षका जो एक खासा बाग बन गया है इस प्राणीकी भूमिकामे तो उसमे बीज क्या डाला गया था? जिस बीजसे रागद्वेषके अङ्कुर फूटें और रागद्वेषका प्रसार चले वह बीज है मोहका। मोहके बीजसे ये अङ्कुर फूट गए, रागद्वेषका यह विधान बन गया। तो मोहका जो बीज है वह रागद्वेषरूप विषके बगानको

बनाता है और इसीसे यह मोह समस्त देशरूपी सेनाका राजा बन गया है। मोह है तो सब दोष उसमें आ जाते हैं। स्व और परका विवेक नहीं है, पर देहको आपा मान रहे हैं, इस प्रकारका मोह जहाँ है वहाँ विषयों में आसक्ति होगी, क्योंकि जिसमे मोह बने ऐसे शरीरका पोषण अथवा उस शरीरका उस रूपसे वर्तन यह विषयोंसे वन रहा है। तो विषयोंकी आसक्तिका महादोष लग जायगा। जिसको अपने आपके सहजस्वभावका भान नहीं ऐसे पुरुष विषयसाधनोमें लग रहे है ना, तो उनमे विघ्न पद पद पर हैं। तो उनमे विघ्न डालने वाले जीवोंपर इसे क्रोध उत्पन्न होगा। तो उस क्रोधका भी बीज मोह रहा। जब आत्मस्वरूपका भान नहीं तो जो बाहरी बाहरी बातें है, मानकी, धनिक होनेकी, विश्वमे नेतागिरीकी उन्हें ही सब कुछ मान लेते है। उन्हें मायाचार भी करना पडता है, क्रोध भी करना पडता है पर तत्त्वज्ञानी पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभ इन सभी से दूर है। जहा मोह है वहा सभी दोष आकर इकट्ठे हो जाते हैं। मोहका साम्राज्य सर्वत्र छाया है, अत. तत्त्वज्ञानी पुरुष इस मोहपर विजय प्राप्त कर समस्त दोषोंकी सेनाका मालिक बन जाता है। ईर्ष्या होना, दूसरों को विरोधी मानना, बैरी समझना ये सब बाते इस मोहभावमें बन जाती हैं। ये सब रागद्वेष विभाव इस मोहके शासनमे पनपते है। यह मुग्धभाव दूर हो और आत्मतत्त्वका ध्यान बने, धुन बने, मुझे अन्य कुछ न चाहिए, केवल मैं अपने स्वरूपका दर्शन बनाये रहूँ यह चाहिए। जिनकी आत्महितके लिए धुन बन जाती है उनका मार्ग, उनकी परिणति, अनुभवन सबसे विलक्षण होता है। अपनी उन्नतिके लिए मोहभाव, अज्ञानभाव ये दूर कर देना चाहिए। फसे रहनेमे न कोई तत्त्व अभी तक मिला और न आगे मिलेगा। यहाँ किसका विश्वास किया जाय? ये सब भिन्न भाव है, अन्य भाव है। इस स्वभावमे यह मैं हूँ यह मेरा है, ऐसा भाव न बने तो वह पवित्र पुरुष है, शीघ्र अपना कल्याण कर सकता है। ध्यानके प्रकरणमे ध्यानकी साधनाके लिए तैयारी करायी जा रही है कि हे आत्मन्! तू अपने चित्तको, अपने आत्माको ऐसा पवित्र बना जिससे तू सहज स्वभावके निकट अधिक देर तक स्थित रह सके और इस ही के प्रतापसे ससारके सवसकट मिट जाते है। सो वह स्थिति आये कि यहाँ कुछ सकटका विकल्प ही न रहे। इसी उपायसे सवसकटोंसे यह आत्मा छूट सकता है।

असावेव भवोद्भूत दाववन्हिः शरीरिणाम्।
तथा दृढतरानन्त कर्मबन्धनिबन्धनम् ॥११३२॥

मोहकी अतिशयकर्मबन्धकारणता —यह मोह ही जीवोंके ससारमे उत्पन्न हुए जो दाहबन हैं, दावानल है, अतिशय दृढ अनन्त कर्मोका कारण है। यह मोह अग्नि है। अग्नि तो बेचारी जलकर ईधनको समाप्त करके स्वयं शान्त हो जाती है और खुद मर जाती है, पर यह मोह अग्नि खुद नहीं मर पाती। अग्निका अन्तिमरूप क्या? अग्निका अन्तिम रूप है बुझ जाना, पर इस मोहमें ऐसी बान है कि यह अपने आप कभी नहीं बुझ पाता। अग्निको बुझानेके लिए जल भी न चाहिए, वह अपने आप बुझ जायगी। उसका आखिरी रूप है यह। वह तो बुझाते इसलिए हैं कि उस वस्तुमे प्रीति है। वह मोह पर वस्तुकी प्रीति करनेसे हो जाता है, पर अग्निमे तो यह बान है कि जल जायगी, अपने आप झक मारकर बुझ जायेगी। मोहमें यह आदत नहीं है, उसको बुझानेके लिए तत्त्वज्ञान जल चाहिए ही चाहिए। तो यह मोह तीव्र दावानलके समान है और यह अनन्त कर्मबन्धका कारण है, यही मोह है, बेहोशी है, आत्माका परिचय ही नहीं। शान्ति किसे कहते हैं, उसका पथ क्या है? मोहमे जिसकी ज्ञानरूपी आग तद्रित हो गयी है उसके एक तो अनन्त कर्मोका बन्धन तुरन्त है ही। तो हम और आपको ये रागद्वेष मोह ही सता रहे हैं उनका ही दुख है। न किसीका कोई घर है, न किसीका वैभव है। यह देह तक तो है नहीं किसीका। आत्मा सबसे न्यारा है। कष्ट है तो इसमे मोह रागद्वेषकी कल्पनाओंका है। सो यह निश्चय होना चाहिए कि ये मोह रागद्वेष मिटाये ही जाना चाहिए। दूसरा कोई शरण नहीं है, यह बिल्कुल निश्चित है। गृहस्थ जीवनमे रहकर भी परम तृप्ति पा सकते हैं, यही आत्माकी दया है। इस दयाको अपने आपपर करना चाहिए, यह ही

धर्मका मार्ग है।

राागादिगहने खिन्नं मोहनिद्रावशीकृतम् ।
जगन्मिथ्याग्रहाविष्टं जन्मपङ्के निमज्जति ।।११३३।।

मोहनिद्रावशीकृत लोकका जन्मपङ्कमे निमज्जन —यह समार अर्थात् ससारके सभी प्राणी रागादिकके गहन वनमें तो खेदखिन्न होते हैं। जैसे कोई घने जंगलमें फस जाय, किसी ओर कष्ट भी न मालूम पड़े, दिशाका भी भान न रहे, बड़े-वड़े घने जगलोंमें सूर्य तो दिखता नहीं, प्रकाश भी नहीं आता है तो यह भान भी करना कठिन है कि किस ओर कौनसी दिशा है ? तो जैसे इस प्रकारके गहन वनमे कोई पथ भूल जाय तो वह वडा खेदखिन्न होता है इसी प्रकार रागादिकका गहन वन है, इसमे ओरछोरकी बात नहीं मालम पडती। फसावमें फंसाव वढता ही जाता है। एक ओरसे स्नेहके वचन निकलें, दूसरी ओरसे भी वचन निकलें तो रागादिकका गहन बन जरूर गहन होता चला जाता है। ऐसे रागादिक विकारोंके गहन वनमें जो खेदखिन्न होता है वह प्राणी जरूर वही मोहरूपी निद्राके वशीभूत हुआ मिथ्यात्वरूपी पिशाचसे ग्रसा गया, ऐसा यह प्राणी जन्मरूपी पकमे डूवता है। जन्मसे, ससारसे निकल जाना यद्यपि इस जीवके लिए वडी सुगम बात है, कष्टकी भी कोई बात नहीं है, लेकिन मोहका ऐसा प्रताप है कि जिनमे कष्ट नाना भरे हैं उनके लिए तो रुचि चलती है और जिनमें कष्टका नाम नहीं, विशुद्ध आनन्दका ही जहाँ परिहार है ऐसा यह शिवपथ आत्मशान्तिका मग इसे कष्टदायक प्रतीत होता है। जो मोह रागद्वेषके वशीभूत है वह जन्मरूपी कीचडमे डूवता है। जो रागवश है वह वशीभूत है, उसे अवश नहीं कहा। अवश नाम उसका है जो विकारोंके वश न हो और उस अवश पुरुषका जो कार्य है उसका नाम है आवश्यक। जो रागादिकके वशीभूत है उस पुरुषके आवश्यक काम नहीं हो सकता। आवश्यक शब्द सभी मनुष्योंमे आज जोर पकड रहा है। आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं। आवश्यक काम आगे पड़ा रहता है, पर यह तो बतावो कि आवश्यक शब्द का अर्थ क्या है ? जो काम मुनियोंको करना चाहिये उन कामोका नाम है आवश्यक। अवश कम इति आवश्यक। जो रागादिक विकारोके वश नहीं होता है उस पुरुषका नाम है अवश। और अवशका जो भी कर्तव्य है उसका नाम है आवश्यक। आवश्यक शब्दका जरूरी अर्थ कहाँसे निकल आया ? शब्दमे नहीं पड़ा है लेकिन योगी सतोंको जरूरी काम था वह आवश्यक, अपने आत्माके स्वरूपमे मग्न होनेके लिए जो कर्तव्य किया जाता था वह जरूरी था। तो महत पुरुषोंके लिए जो जरूरी काम है उस कामका नाम है यद्यपि आवश्यक लेकिन आवश्य शब्दका अर्थ लगेगा जरूरी चीज। जो रागादिक विकारोंके वशीभूत हैं ऐसे प्राणियों के भवभ्रमण ही हुआ करता है। अपने आपको पदपदपर वहुत सम्हालनेकी आवश्यकता है। होते हों रागादिक हों, पर ये रागादिक मेरे नहीं, हितरूप नहीं, मेरे लिए कलक हैं, वरवादीके कारण हैं—इस प्रकारकी भावना वनाकर होते हुए भी रागादिकसे दूर रहना और अपने आपको ज्ञानमात्र समझकर इस ज्ञान स्वरूपमें मग्न होनेका पुरुषार्थ करना।

स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यक्षमञ्जसा ।
यः स्फोटयति मोहाख्यं पटलं ज्ञानचक्षुषा ।।११३४।।

मोहपटलके विनष्ट होनेपर ज्ञाननेत्रसे विश्वदर्शनकी सहजता —जो मुनि मोहरूपी पटलको दूर करता है वह शीघ्र ही समस्त लोकको ज्ञानचक्षुसे साक्षात प्रकट जान लेता है। जैसे सूर्यका तेज प्रकाश मेघ पटलसे आच्छादित है, मेघपटल जैसे विघटित है तो सूर्यका प्रताप और प्रकाश सब विस्तृत हो जाते हैं। ऐसे ही आत्माका यह ज्ञानरवि, ज्ञानज्योति रागादिक विकारोंके पटलसे आच्छादित है। जैसे ही यह मोह दूर होता है वैसे ही यह ज्ञान पूर्ण प्रकट हो जाता है। मोह दूर होता है पूर्ण रूपसे। १० वें गुण स्थानके

अन्तमें और उसके बाद फिर १२ वां गुण स्थान होता है। यह अनादिकालसे दबा हुआ इस पूर्ण ज्ञान-स्वभावसे मोहका क्षय होनेपर भी अन्तर्मुहूर्त तक इसे अवकाश नहीं मिल पाता कि वह लोकको जान ले। राग बैरी नष्ट हो जाता है तिसपर भी अन्तर्मुहूर्त तक केवल ज्ञान नहीं जगता है। १२ वें गुण स्थानका अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने पर फिर केवल ज्ञान प्रकट होता है। अब समझ लीजिए, इस ज्ञानस्वरूपपर कितना बडा आघात अनादिकालसे रहा कि इसके घातक रागादिक दूर हो गए तिसपर भी अन्तर्मुहूत तक इसमें वह बल प्रकट नहीं हो पाता। लेकिन रागादिक वैरी दूर हों तो यह ज्ञान समस्त लोक और अलोकको जान ले ऐसे महत्त्व वाला होता है।

इयं मोहमहाज्वाला जगत्त्रयविसर्पिणी।
क्षणादेव क्षयं याति प्लाव्यमाना शमाम्बुभिः ॥११३५॥

प्रशमजलसे मोहज्वालाका त्वरित प्रशमन —यह मोहरूपी महिती ज्वाला जो तीन लोकमे फैली हुई है इसे समता शान्ति रूपी जलसे बुझाया जाय, इसपर जलका प्रवाह चल जाय तो यह शीघ्र ही मोहरूपी बिजलीको क्षण भरमे नष्ट कर देता है। जैसे धधकती हुई आग हो और उसपर पानीका प्रवाह चल जाय तो वह तुरन्त शान्त हो जाता है इसी प्रकार मोहकी ज्वाला जो तीन लोकमे फैली है, तीन लोकके समस्त वैभवको भी ग्रहण कर ले तिसपर भी जो ज्वाला शान्त नहीं हो पाती ऐसी भी कठिन मोह ज्वाला प्रसम-भावरूपी जलसे तत्त्वज्ञानरूपी जलसे यह क्षणभरमें शान्त हो जाती है। यही सुख, शान्ति व आनन्दका उपाय है। ज्ञानको छोडकर अन्य कुछ है ही नहीं। ससारी जीव जो जो भी विचार अपनी शान्ति और आनन्दके लिए किया करते हैं उनमे भी जब जब भी शान्ति कुछ आती है तब तब भी कायके कारण नहीं, वैभव इकट्ठा हो गया उसके कारण नहीं, किन्तु ज्ञान ही उस जातिका बनता है कि कुछ शान्ति प्राप्त होती है। बड़े-बड़े करोडपतियोंके घर हैं जिनका बहुत बडा कारोबार है और फिर भी घरमें लडाई हो, स्त्रीमे लडाई हो, भाईमे लड़ाई हो, मनमोटाव हो। मन न मिले तो इतनी बडी सम्पदा होकर भी वे अपने आपको दुःखी ही अनुभव करते हैं, नींद न आये, बेचैन रहें, क्रोध बहुत तेज उमड़े, एक दूसरेके घातपर उतारू हो जायें, जगतमें क्या-क्या अघटित बाते नहीं हो जातीं। ऐसा भी सोच सकता है कि धनके पीछे बाप भी अपने बेटेको मार दे। जरा कल्पना करना कठिन है। मगर ये भी घटनाए हो रही हैं। एक बहुत बडा परिवार है मेरठमें, अभी अभीकी बात है कि १५-२० हजार रुपयेके धनके पीछे बापने बेटेको छूरेसे मारा। तो ऐसी ऐसी अघटित घटनाए अब भी हो जाती है जो कल्पनामे नहीं आतीं, तो समझ लीजिए कि है क्या जगतमे ? कौन क्या है ? सच तो यह है कि खुदमे रागभाव पैदा होता है उससे दूसरे अपनेको भले लगते हैं पर इसके लिए भला कोई नहीं है। किसीकी ओरसे कोई भलाई हमारे लिए हो नहीं सकती। सब अपने अपने रागभावकी बातें हैं। इसमे बुरा माननेकी जरूरत नहीं क्योंकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। कोई किसीको प्रसन्न कर नहीं सकता, कोई किसीका भला बुरा करनेमें समर्थ ही नहीं हो सकता। रागभाव जगा और अपने आपमें अपनी ओरसे उस रागका जो विषयभूत है उस पदार्थमे प्रीति उत्पन्न हो जाती है। और उस रागके समय दूसरा बडा भला जचने लगा। बडा हितकारी है, अनुरागी है। पर कोई किसीपर न अनुराग कर सकता, न सुख दुःख दे सकता, कुछ कर ही नहीं पाता। सब अपनी चेष्टाएं करते हैं। जैसे कभी बहुत पहिले ऐसे सिनेमा चले थे जो बोलते न थे, आवाज बिल्कुल न थी। पर्दापर देखो तो कहीं हाथ चल रहे, कहीं पैर चल रहे, कहीं ओंठ हिल रहे, पर वचनव्यवहार न होनेसे वह कुछ जमता सा न था, और ऐसा ही लगता था जैसे अटपट होहल्ला हो रहा हो। वहाँ कोई किसीका कुछ कर नहीं रहा। सभी लोग अपने अपनेमे अपना काम कर रहे हैं।

उदात्तव्यवहारका अनुरोध मनुष्योंको वचन एक ऐसे मिले हैं कि इन वचनोंके द्वारा अनर्थ और

बरबादी भी हो सकती है। और इन ही वचनोंके द्वारा अपने आपको विकासमें भी ले जा सकते हैं। और उससे ही राग बढ़ना, मोह होना, परिचय होना, पोजीशनका ख्याल होना ये सारी बातें उत्पन्न होती हैं। यह मोहज्वाला बडी कठिन है, तीन लोकमें फैल रही है। कोई गरीब भिखारी भी हो, वह किसीसे पैसा दो पैसा मांग रहा हो तो कोई कहे कि भाई पैसा दो पैसा न मागो, इतना माग लो जितनेसे सन्तोष हो जाय। फिर क्षोभ न मचाना।...तो बाबू जी ने दे दीजिए ५ रुपये। वह ५ रुपये भी दे दे तो क्या उसे सन्तोष हो जायगा? नहीं होगा। उसकी वाञ्छा और बढ जायगी, सौ, हजार, लाख, करोड आदि रुपयों की इच्छा हो जायगी। सन्तोष कहाँ मिल पाता है? सन्तोषधन तब तक नहीं आ सकता जब तक यह परिचय न हो कि मेरा आत्मा स्वय आनन्दस्वरूप है, इतना ही है, अन्य चेतन अचेतनसे इस मेरेका कोइ सम्वध नहीं, ऐसा जब तक अपने आपके हित स्वरूपका परिचय न हो तब तक बाह्य पदार्थोंसे सन्तोष नहीं आ सकता।

यस्मिन् सत्येव संसारी यद्वियोगे शिवो भवेत्।
जीवः स एव पापात्मा मोहमल्लो निवार्यताम् ॥११३६॥

मोहमल्लके निवारणका आदेश —हे आत्मन्! जिस मोहमल्लके होनेसे यह जीव ससारी है और जिस मोहके वियोग होनेसे यह जीव मुक्त हो जाता है उस मोहका निवारण करो। परिणमन ही है ना। मेरा परिणमनके सिवाय और क्या धन है, मेरी और क्या चीज है? मैं गुणस्वरूप हूँ और मेरा परिणमन होता है, इससे आगे तो कुछ नहीं। अब जो कुछ करने-हरने हटने-लगने आदिकी बातें हैं वे सब अपने आपमें हैं। किससे हटना, किसमें लगना, किससे निकलना यह सब अपने ही स्वरूपमें सोचनेकी, करनेकी बात है। बाहर कुछ नहीं होता। तो जब अज्ञानभाव है तब अन्त. यह मोहका प्रसार होता है। यह मल्ल है, विजीय है, इसने अनन्तानन्त जीवोंको दबा रक्खा है। विरला ही कोई विशिष्ट तत्त्वज्ञानी जीव इस मोहमल्लसे बचकर निकल जाता है। बाकी तो सारा ही ससार इस मोहसे दबा हुआ है। जिस मोहके सम्बधसे यह जीव ससारी कहलाता और जिस मोहके उपयोगसे यह जीव शिवस्वरूप हो जाता। इस जीवका उपकारी संयोग नहीं किन्तु वियोग है। सयोगसे जीवका भला नहीं किन्तु वियोगसे जीवका भला है। सयोगसे जीवको शान्ति नहीं मिल सकती किन्तु वियोगसे जीवको शान्ति मिलती है। सयोगसे जीवको परमात्मपद नहीं मिल सकता, किन्तु वियोगसे परमात्मपद मिलता है। जिसको यावत् जीवसयोग बना रहता है जिस जीवकी ही विशेषता ऐसी है कि सयोग मिटेगा नहीं तो मिटे तो तुरन्त, उसके एवजमे अनुकूल सयोग होता, ऐसा जिस भवमें सयोग बना रहता है उस भवसे मुक्ति नहीं होती। वह भव है देवका भव। और सयोग जब तक है तब तक शान्ति नहीं है। कर्मका सयोग, शरीरका सयोग, परिग्रहका सयोग जब तक है इस जीवको शान्ति नहीं मिलती, और वियोगसे इसका कल्याण ही कल्याण है। पर वियोगकी बात इसे असगुनसी, असुहावनीसी लगती है और सयोगकी बात सुहावनीसी और सगुनसी लगती है। किसी पुरुषका मरण काल आया हो और कोई पडित या त्यागी उसके घर पहुचकर उसे समाधिमरण सुनाने बैठ जाय तो घर वालोंको कितना बुरा लगता है? लो पडित जी यह विचार कर आये कि यह मरेगा। समाधिमरण जैसी चीज और जो कि हट्टे-कट्टे लोगों को भी पढा जाना चाहिए, और चू कि आवीचिमरण भी प्रतिक्षण हो रहा है। मरणमे निषेक गलत रहते हैं, जिस आयुका मरण हो गया वह फिर वापस नहीं आता। तो सदैव समाधि चाहिए, लेकिन मरण काल भी हो और वहा भी कोई त्यागी विद्वान समाधिमरण सुनाने बैठ जाय तो प्रथम तो उस विद्वानकी यो हिम्मत ही न होगी कि घरके लोग बुरा मानेंगे। कुछ सकेत पाये तो सुनाये। तो जो वियोग हमारे भलेके लिए है उस वियोगकी बात भी सुनें तो असगुन समझते हैं। जहा और सयोगकी बात हो उसे सगुन लगती है तो जिस मोहमल्लके सयोग होनेपर यह प्राणी ससारी बनता है और जिसका वियोग होनेपर यह जीव मुक्तस्वरूप हो जाता

है उस मोहमल्लका निवारण कीजिए ।

यत्संसारस्य वैचित्र्यं नानात्वं यच्छरीरिणाम् ।
यदात्मीयेष्वनात्मास्था तन्मोहस्यैव वल्गितम् ॥११३७॥

भाववैपरीत्योकी मोहविलासता —यहा जीवोंकी जो ससारकी विचित्रता, नानारूपता और अपने आपके भावोंमें अनात्मपनेकी आस्था, आत्माकी सुध न होना, आत्माके अभावका ही पोषण करना—ये सब मोहके ही विलास हैं, मोहमे ही ये सब चेष्टाए होती हैं। देखो किया तो है मूलमें अपराध जरा सा और एक प्रकारका, वह क्या ? परवस्तुको माना कि यह मैं हूँ। देखो सब जीवोंका अपराध जडमें एक प्रकारका ही है ना, इन विडम्बनाओंके, कारणोंके-कारणोंके आदिमें अपराध वह एक प्रकारका है और कितना भावात्मक ? केवल इतना भाव किया कि परपदार्थको माना कि यह मैं हूँ, पर उसके फलमे विचित्रता कितनी हो गयी ? कितने तरहके शरीर, कितनी तरहके जन्म, कितनी तरहकी अनेक विडम्बनाए लग रही हैं, विचित्रताएं हो रही है ? ये सब विचित्रताए मोहके ही फल हैं। कोई पेड है, कीडा है, मनुष्य है, पशु है, पक्षी है, कितनी तरहके हैं ? अजायबघरमें देखने जावो तो विदित होता है कि ऐसे भी जीव होते हैं क्या ? हिरण जितना तो जानवर और एक मजिल ऊंची जिसकी गर्दन हो, ऐसे विचित्र जीव बगुला जितना तो पक्षी और गर्दन हो चार गजकी लम्बी। कैसे-कैसे विचित्र शरीरोंमे ये प्राणी बस रहे हैं ? ये सब विडम्बनाएं मोहके ही तो फल है। अपराध तो जडमे एक भांतिका हुआ और उसमे विचित्रताए इतनी भांतिकी हो गयीं। सो ऐसा मोहमल्ल निवारण करनेमें ही इस जीवका लाभ है। मोहमे अपनी ही बरबादीका साधन बनाते हैं। बहुत-बहुत गुरुजन समझाते हैं कि तिसपर भी हमारी बुद्धि नहीं जगती। न जगे, बरबाद कौन होगा ? एक मूलमें सम्हाल रहे, ज्ञान सही बना रहे तो इस जीवको बहुत मौके हैं कि अपने आपको सकटोंसे बचा सकता है। ये रागादिक वैरी सताते हैं उस समय इसके आत्मध्यान नहीं बनता और जब तक आत्म-ध्यान नहीं है तब तक इसको मुक्तिका उपाय नहीं प्राप्त हो सकता।

रागादिवैरिणः क्रूरान्मोहभूपेन्द्रपालितान् ।
निकृत्य शमशस्त्रेण मोक्षमार्गं निरूपय ॥११३८॥

प्रशमशस्त्रसे रागादिवैरियोका विनाश करके मोक्षमार्गका अवलोकन करनेका सन्देश —ये रागादिक भाव जीवके बैरी हैं। जीवके शान्ति धनको नष्ट करने वाले ये रागादिक विकार ही इस मोह राजाके द्वारा पाले गए हैं अर्थात् रागादिक विकारोंकी जड़ मोहभाव है। मोहसे पाले गए ये रागादिक वैराग्यसे, शान्त भावरूप शस्त्रसे छेदन करके हे आत्मन् ! मोक्षमार्गका अवलोकन कर। यदि शान्ति चाहता है तो ऐसी ज्ञानदृष्टि बना कि ये रागादिक बैरी उद्दण्ड न हो सकें। खूब भली प्रकारसे अपने आपमे निगरानी करके परख लो। रागादिक विकारोंके ही कारण जीवोंको क्लेश है। और इस सम्बधमें विशेष युक्ति क्या देना ? अपने आपके ही अन्दर परख लो, यदि किसी भी प्रकारका कष्ट है तो वह किसी विषयमे रागविकार होनेके कारण है। दूसरी कोई बात ही नहीं है। अब उन रागादिक विकारोंको दूसरा कौन दूर करेगा ? खुदके ही योग्य भावोंके द्वारा ये रागादिक दूर किये जा सकते हैं। इन रागादिकोंको दूर करें और मोक्ष मार्गका अवलोकन करें।

इति मोहवीरवृत्तं रागादिवरूथिनीसमाकीर्णम् ।
सुनिरूप्य भावशुद्धया यतस्व तद्बन्धमोक्षाय ॥११३९॥

मोहसुभटबन्धनसे मुक्ति पानेके प्रयत्नका अनुरोध —यह सब मोहरूपी सुभटका कृतान्त जो यह परेशानीका जितना भी समाचार है यह मोहरूपी सुभटके पराक्रमका समाचार है। यह मोह सुभट रागादिक

सेनासे सहित है। इसकी सेना है रागद्वेषादिक परिणाम। तो हे आत्मन्! भली प्रकारसे विचार करके इसके बन्धनसे ही छूटनेका यत्न कर। लोग मनको वशमें करनेका यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदिक उपचार करते हैं तथापि उनके मनमें रागद्वेष मोहका यथार्थस्वरूप ज्ञात नहीं है और उससे बचनेका मार्ग भी विदित नहीं है, अतएव वे बहुत-बहुत श्रम करके भी मनमें शान्ति नहीं पाते हैं। रागादिक भावोंके जीते बिना मोक्षके कारणभूत ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। रागद्वेषमोहकी व्यर्थता समझलो। ये रागद्वेष मोह व्यर्थके परिणाम हैं और जरासा स्नेह विकार किया, कलंक बनाया उसके फलमें ऐसा कर्मबन्धन होता है कि चिरकाल तक वह उस अपराधके बन्धनसे छूट न सकेगा। प्रथम तो यह ही समझलें कि ये रागादिक विकार बैरी हैं, मेरे स्वरूप नहीं है और व्यर्थ ही ये उत्पन्न होते हैं, इनसे लाभ नहीं है। इतना निर्णय तो बसा फिर रागादिक सुगम ही जीत लिए जायेंगे। तत्त्वज्ञान करके जो आत्माकी साधना करते है उनके ही विशुद्ध आत्मध्यान जगता है जिसके प्रसादसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। जब मिथ्यात्व कर्मका उदय होता है तब रागद्वेष मोह उत्पन्न होते हैं। जब मिथ्याभाव दूर होता है तो चारित्रके घातक जो रागादिक भाव हैं वे भी दूर हो जाते हैं।

आत्महितके उपायपर संक्षिप्त प्रकाश —आत्महितमें कर्तव्य यह है कि अपने आपको घिसें। बारबार भावना भावें कि मैं सिवाय भावोंके और कुछ करता तो हूँ नहीं। बाह्य पदार्थोंमे मेरी कोई करतूत नहीं। अपने हो भावोंमें सुधार विगाड दिखता है, किन भावोंसे मेरा विगाड है? कौनसे भाव बिल्कुल व्यर्थ हैं? न होते तो क्या नुक्सान था मेरा? सबमें स्वरचित रहता। ये सब व्यर्थके परिणाम हैं और ऐसे ही परिणामोंमें अनन्तकाल खो दिया। और अनन्त कालकी बात दूर रहो, इस ही भवकी बात सोच लो जो समय गुजर गया है उस ही समयकी बात परख लो। लगता है ना ऐसा कि जो रागादिक भाव किया, विकल्प किया, कल्पनायें कीं, मोह बसाया, आसक्त रहे वह सब व्यर्थ ही समय गया। तो ऐसे व्यर्थ अनर्थ रागादिक विकारोंसे दूर होनेके लिए अपने आपको घिसिये, देखिये ये सब विकार भाव मेरे विनाशके ही कारण हैं। मैं उन विकारोंरूप नहीं हूँ। मैं तो विशुद्ध सहज ज्ञानस्वभाव हूँ। वही परमात्मतत्त्व है, इसकी दृष्टि बने, इसका आश्रय मिले तो यह जीव अमीर है। सब कुछ पा लिया उसने। क्या पा लिया? शान्ति और आनन्दका मार्ग। अपने आपका शोधन करना, सबसे न्यारा अपने आपकी चैतन्यस्वरूप मात्र निखना, ऐसी भावना बनाना, ज्ञानदृष्टिमें अपने आपको घिसना यही तो काम है, इसके बिना शान्तिका रास्ता मिलता नहीं। एक ही उपाय है। अब जब बने तब करें। जितने दुःखी जन होते हैं उतना दुःखी होनेकी बात करलो अथवा विवेक जगाकर अपनेको सुखी करलो। अपनेको विकाररहित केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप अनुभव करो कि मैं यह हू, इसका किसीसे जुडाव नहीं, वह किसीके आधीन नहीं। यहा कुछ भी ऐसा नहीं हैं कि मैं अधूरा रहू और कभी पूरा बन जाऊ, आनन्द से ही भरा हू, और जब विकृत होता हू तो यह पूरा ही तो विकृत हुआ। जब यह चेतता है तो पूरा ही चेतता है, ऐसा परिपूर्ण शुद्ध ज्ञान स्वभावमात्र हूँ, ऐसा अपने आपमें अनुभव करना चाहिए। जैसे अब तक किसी भी इष्टके चिन्तनमें, विचारमें, स्नेहमे, समय खोया ना वह समय खोया और एक आत्माके विशुद्ध स्वरूपकी भावना बनाया तो यह समयका सदुपयोग किया। कुछ तो समय आत्मविश्राममें अवश्य रहना चाहिए। जैसे लोग थककर हसी-खुशीके क्लबमें जाकर दिल बहलाया करते हैं, थकान मेटते हैं, पर आत्माकी थकान उन उपायोंसे नहीं मिट पाती और एक आत्मस्वरूपका भान करें, दृष्टि करें और रुचिपूर्वक उस स्वरूपको ही निरखें और इस निरखनेके फलमें ज्ञानमात्र अपनेको परिणमा लें तो शान्तिकी अवस्था मिलती है। आत्मविश्राम सत्य यही है। इतना काम करनेको २४ घंटेमें १०-५ मिनट तो लगाना ही चाहिए। सब महिमा तत्त्वज्ञानकी है। सब कुछ सुलभ है दुनियामें। बड़े-बड़े राजपाट भी सुलभ हैं किन्तु एक यथार्थज्ञान दुर्लभ है। जिस ज्ञानकी चर्चामें ही बड़े आनन्दरस

उमडते हैं। वह ज्ञान जब ज्ञानरूप होकर परिणमता है तब उसके आनन्दका कौन वर्णन कर सकता है ? मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसी अपने आपमें बारबार भावना करें तो आत्माकी शुद्धि होने लगेगी। यही कल्याणका उपाय है। १० मिनट तो रखिये आत्मदयाके लिए। अपने आपको दुःखी तो किया करीब-करीब २४ घंटे मे एक यह भी पद्धति निरखलो कि जब उपयोग अपने श्रोतमें आता है जहां से यह उपयोग उठा उसी विशुद्ध धाममें उपयोग मग्न होता है तो सत्य विश्राम वहाँ ही मिलता है। उसका बारबार अभ्यास बने तो आत्मध्यान बनता है और आत्मध्यानसे ही मुक्तिका लाभ होता है। अब रागद्वेषके परिहार करनेका उपदेश देने वाला परिच्छेद समाप्त हुआ। अब उस साम्यभेदका वर्णन किया जायगा, जिस साम्यभावसे ध्यानकी सुगम सिद्धि होती है।

ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्दश भाग

मोहवन्हिमपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रियम्।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यान समत्वमवलम्ब्यताम् ॥११४०॥

हे आत्मन् ! मोहरूपी अग्निको बुझानेके लिए और संयमरूपी श्रीको स्वीकार करनेके लिए तथा रागरूपी फूलोंके बागका छेदन करनेके लिए समतापरिणामका आलम्बन कर। इस श्लोकमे तीन प्रयोजन बताये गए हैं—मोहकी आगको शान्त करना और संयमकी श्रीको स्वीकार करना और राग वृक्षके बगीचेको काट देना। इन तीन प्रयोजनोंके लिए समतापरिणामका आलम्बन लें और जहाँ रागद्वेषकी मध्यस्थता हो जाती है तो इनमेसे किसीका पक्ष नहीं रहता है। अपनेको निष्कषाय निःसग अनुभव करना है। उस स्थितिमें मोह नहीं है और सच्चा संयमन जगा है, और रागादिकका पता ही नहीं है, इन तीन प्रयोजनोंमें जो इनका क्रम रखा है उसमें भी मर्म है। पहिले मोहको दूर करनेकी बात कही, फिर संयमके पालनकी बात कही, फिर रागको निर्मूल करनेकी बात कही। इसका यह क्रम है और पूर्व-पूर्व कारण है और अगला-अगला कार्य है। मोह दूर किए बिना शान्तिके मार्गपर चलनेका कोई उपाय ही नहीं रहता। सर्वप्रथम मोह दूर करना है। यह मोह दूर होता है तत्त्वज्ञानसे। जब ज्ञानसे हम निरखते हैं यह दरी है, यह चौकी है, फिर कोई बहका सकता क्या कि यह चौकी नहीं है ? घडियाल है, यह दरी नहीं है किन्तु संगमरमर है। कोई यों बहका देगा क्या ? ज्ञानमें आ गया, आ गयी चीज। तो बस ऐसे ही ज्ञानमें आने भरकी ही बात है, मोह दूर हो गया। ज्ञानमे आ जाय कि मेरा वह ज्ञानस्वरूप इस शरीरसे भी न्यारा, अन्य सब बवण्डरोंसे भी दूर केवल वह ज्ञानस्वभाव है वह मैं हूँ। शेष सब मैं नहीं हूँ। इस प्रकारके ज्ञानभरकी बात है। आ जाय ज्ञान ऐसा तो फिर इसे कोई बहका न सकेगा। क्या कि आत्मा नहीं है यह बाहरी पदार्थ मात्र है अथवा यह भी माया ही है, इन्द्रजाल कि इसका आधार कुछ नहीं है और ये हो गए हैं ऐसे विस्तारमे। हे आत्मतत्त्व, इसका हो गया परिचय, फिर बहकायेगा कौन ? फिर भ्रम नहीं आता।

जब भ्रम न आया, यथार्थ ज्ञान बना तो मोह तो दूर हो ही गया, चाहे राग कितना ही रहे, न छोड़ सके, न रह सके राग बिल्कुल लेकिन मोह नहीं है। मोहका सम्बन्ध अज्ञानसे है। अज्ञान मिटे उससे वहाँ मोह नहीं ठहर सकता। देख लीजिए कितना सरल काम है ? जैसे आँखें खोली और सब चीजें नजर आयीं। जो आया नजर उसे वही मान लिया। ऐसा कर ही रहे हैं। इसमें क्या जोर पड़ा ? यह तो एक सहज कामसा है। काम भी क्या है ? होता ही है ऐसा। तो ऐसे ही मैं क्या करूँ, ये सब क्या हैं, सही परिचय हो जाय, बस मोह समाप्त हुआ। तो सर्वप्रथम प्रगतिपथमें चलनेके लिए मोहको दूर करनेकी बात चलती है। किसी भी पीड़ाको मेटनेके लिए बाह्यविषयोंके संचयका श्रम किया जाता है। बजाय इसके यदि अपने आपमें इस भावनाको दृढ बनालें तो यह रागभाव दूर हो जाय, बस यही मेरी कमाई है। इसीको ही

करना है, ऐसा अपनेमें कार्य-क्रम बने और उसके लिए ही उद्यमी रहें तो यह उपाय शान्तिका है। सब तत्त्व-ज्ञानकी महिमा है। काम तो सब होते ही हैं, हो ही रहे हैं। कहीं हमारी कल्पनासे हमारी चिन्ता से, शोकसे, आसक्तिसे कोई बाह्यमे कार्य बना क्या ? नियम तो नहीं बन जाता कुछ। वह काकतालीय न्याय है। जैसे किसी ताडके बड़े वृक्षके नीचेसे कोई कौवा उड कर आ रहा था। उसी समय उस ताड़से कोई फल गिरा तो लोग कहते कि इस फलको उस कौवाने गिराया या नीचे कौवा उड रहा था और कुछ ऐसा बानक बन गया कि वह गिरने वाला फल कौवाकी चोंचमें आ गया तो यह बात हर समय तो न बन जावगी।

किसी अंधेको कहीं चलते हुए रास्तेमें किसी पत्थरसे ठोकर लग जाय और वह उसे खोद दे, उसमें उसे अशर्फियोंका हडा मिल जाय तो क्या यह नियम बन गया कि सभी अंधोंको यों धन मिल ही जाय ? कोई सोचे कि आखोंमे पट्टी बांधकर अंधे बनकर चले, किसी जगह पैरकी ठोकर मारकर खोदें और अशर्फियोंका हडा मिल ही जाय सो तो बात नहीं है। यदि काकतालीय न्यायसे ऐसा कदाचित हो जाय कि जो चाहता हो वही काम बने। जैसा जिसको परिणमना चाहिए वसा ही बन जाय तो वह सब काकतालीय न्यायसे हो गया पर उसका नियम कुछ नहीं। मोहमे सोचते हैं ऐसा कि हमारे तो ऐसी सामर्थ्य है कि हम जो चाहते हैं तब वही बन जाता है लेकिन जब परखने बैठेंगे तो जैसे इच्छाय एक लाख हुईं दिन-भरमें, एक लाख इच्छायें तो हो ही जाती हैं, हम उसका अनुभव नहीं कर पाते, पर भीतरमें सूक्ष्म निर्णयसे देखें तो लाख इच्छाएं हो ही जाती हैं। ऐसी छोटी-छोटी इच्छायें हैं जिन्हें हम ग्रहण भी नहीं कर पाते। हो गयी इच्छायें, पर उन इच्छावोंमेंसे चारों कषायोंकी इच्छा फलीभूत होती है। तो वह बन गया बानक। अथवा यों समझिये कि जिसके करोड़ोंकी सम्पदा है वह कहींसे हजार रुपये चाहे तो उसे कौनसी निधि मिल गई, कौनसा बडा काम हो गया। ऐसे ही यह आत्मविशुद्धिके पथमें बढ़ रहा था और उसके साथ पुण्य रस बहुत बढा था उस स्थितिमें बहुत छोटीसी बात चाह ली और हो भी गयी तो कौनसी बड़ी बात है ? मोह करना व्यर्थ है। हमारे किये यहाँ कुछ होता नहीं। मोहको त्यागें, पदार्थका यथार्थ विज्ञान बनावें। सबसे पहिले तो यह जरूरी है इसकी साधना होती है, फिर ऐसी स्थिति होती है कि अब संयमका आश्रय करें। उस संयमके ही प्रसादसे यह तीसरी बात बनेगी, रागभावका निर्मूल कर देना। मोह दूर होनेका उपाय तो है तत्त्वज्ञान और रागादिक विकारोंके दूर करनेका उपाय है संयम। सो मोह दूर करनेके लिए समश्री पानेके लिए और रागादिक विकारोंका बगीचा छेद काटकर ध्वस्त कर देनेके लिए समता परिणामका आलम्बन करना चाहिए। तो यथार्थस्वरूप समझकर रागद्वेषको मिटावें और अपनी ओर आयें, यही है सच्ची आत्मदया। इसके प्रसादसे ही मुक्तिका लाभ है।

चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितैः।
न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥११४१॥

जिस प्राणीका मन चेतन और अचेतन पदार्थोंके द्वारा मोहको प्राप्त नहीं होता उस पुरुषकी ही साम्यभावमें स्थिति होती है। समस्त चेतन अथवा अचेतन पदार्थ मेरे स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न हैं, उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनमे है मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें है। मेरा मेरे सिवाय अन्य पदार्थोंसे कुछ भी सम्बध नहीं है। न कर्तृत्व है और न भोक्तृत्व है, न कोई मेरा अधिकारी है, न मैं किसीका स्वामी हूँ, ऐसा जिनके स्पष्ट निर्णय है वे पुरुष अन्य पदार्थोंमें मोहको प्राप्त नहीं होते। राग अथवा द्वेष उनके चित्तमे नहीं आता, अतएव उनके समतापरिणाम प्रकट होता है। जहाँ समता हो वहाँ ही आत्मध्यान है, आत्मस्पर्श है। जहाँ रागद्वेष अथवा किसी पदार्थमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि हो वहाँ ही इस जीवका संसार है। समताका घात करने वाला मूलमें तो मोहभाव है। जहाँ शरीरमे आत्मबुद्धि हुई, यह मैं आत्मा हूँ ऐसा शरीरमें पर्यायका लगाव हुआ कि वहाँ सवप्रथम नामवरीकी चाह उत्पन्न होती है। पोजीशनका

परिणाम जगा फिर वहाँ इस पूर्तिके लिए सर्व कुछ इसे करना पडता है। नीति अनीति कुछ भी इसके लिए शेष नहीं रहते। तो इस मोहके आधारपर रागद्वेषका परिणाम होता, और रागद्वेष होनेपर समता नहीं ठहर सकती। जिन पुरुषोंको साम्यभाव चाहिए उनको यथार्थ ज्ञान समक्ष रहना चाहिए।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
समत्वं भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम् ॥११४२॥

हे आत्मन्! तू काम और भोग आदिकमें विरक्त हो, शरीरमें आसक्तता छोडकर समताका सेवन कर। जब तक काम और भोगोंमें राग है तब तक समता नहीं होती। कामका अर्थ है स्पर्शन और रसना इन्द्रियका विषय और भोगका अर्थ है घ्राणइन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय और कर्णइन्द्रियका विषय। जब तक पंचेन्द्रिय के विषयोंसे विरक्ति नहीं उत्पन्न होती तब तक यह जीव समताका पात्र नहीं बनता। सो काम भोगोंमें विराग करके शरीरकी अशक्तताको छोडें और समताका सेवन करे। यह समता सर्वज्ञकेज्ञान लक्ष्मीके कुलका स्थान है अर्थात समतापरिणाम हो तो उसके केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होती है। जीवस्वरूप स्वभावसे शान्त है, इसको कहीं भी आकुलता नहीं है, लेकिन जब स्वभावको ही भूल जाय तो विभावमें, परभावोंमें, अन्य पदार्थोंमें इसकी आसक्ति बनेगी। और जहाँ परभावोंमें आसक्ति हुई कि फिर वहाँ ज्ञानका विकास रुक जाता है। ज्ञानका शुद्ध स्वाभाविक विकास हो तो वहाँ आकुलता ठहर नहीं सकती। आकुलता भी और क्या चीज है? एक ज्ञानकी किस्म है। ज्ञान किसरूप परिणमता है उस ही आधारपर सुख दुख आनन्द सबकी सृष्टि है। तब ज्ञान ही सम्यक्त्व है, ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, ज्ञान ही सम्यक् चारित्र है अर्थात् जब जीवादिकके श्रद्धान के स्वभावसे यह ज्ञान अपनी परिणति बनाता है तो वह सम्यक्त्व है और जब पदार्थोंके ज्ञानरूपसे वृत्ति बनाता है तो वह सम्यग्ज्ञान है अर्थात् जब रागादिकका त्याग करते हुए ज्ञान अपनी वृत्ति बनाता है तो वह सम्तक्चारित्र है। जब सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये सब ज्ञान ही हुए तो मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र ये भी तो ज्ञानके ही परिणमन हुए। जिस अभेद दृष्टिसे हम सब कुछ ज्ञानको मान सकते हैं तो उस ही अभेद दृष्टिसे हम सब कुछ आकुलताओंको ज्ञानके ही विपरिणमन मान सकते हैं तो सुख क्या, दुःख क्या, आनन्द क्या? ये सब ज्ञानके परिणमन हैं। तो अपने आपको केवल ज्ञाता द्रष्टा रखनेका यत्न करें। ये रागद्वेष स्वय दूर होंगे और अपनी जो कैवल्य ज्ञान, कैवल्य लक्ष्मी है उसको तू प्राप्त कर लेगा।

छित्वा प्रशमशस्त्रेण भवव्यसनवागुराम्।
मुक्तेः स्वयंवरागारं वीरं व्रज शनैः शनैः ॥११४३॥

हे आत्मन्! हे वीर! तू शान्तभावरूपी शस्त्रसे सांसारिक कष्टरूपी शत्रुको छेदन कर और मुक्तिरूपी लक्ष्मीका वरण कर। शान्त होनेसे फिर मार्गका रोकने वाला कोई नहीं है। मार्ग क्या? जिस वृत्तिसे आत्मा शान्तिको प्राप्त हो, आनन्दको प्राप्त हो वही मार्ग है। उस मार्गमें गमन उसका निर्बाध होगा जो प्रसमका रुचिया होगा। समस्त कल्पनाए, समस्त वाधायें शमन होकर एक आत्मीय सत्य प्रसन्नता प्रकट हो तो वहाँ इसके सासारिक कष्ट दूर हों और निराकुलता प्राप्त हो। फिर इसको शिवके मार्गसे रोकने वाला कोई नहीं है। कभी भी कुछ भी कोई सकट आये उन सर्व सकटोंको नष्ट करनेका उपाय केवल अपने आपके एकत्व स्वभावमें दृष्टि बना लेना है। सारे सकट एक साथ समाप्त हो जायेंगे। और उसीमें फिर प्रसम, संम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य प्रकट हो जायेंगे। किसीने पहिले अपराध किया हो तो ऐसे अपराधी पुरुषपर क्रोध न करना उसे क्षमा कर देना सो प्रसमभाव है। तत्त्वज्ञानीके ऐसा विचार रहता है कि कोई पुरुष मेरा अपराध नहीं करता। जो कोई कर सकता है वह खुद अपना अपराध कर सकता है। तब मेरा अपराध करनेवाला जगतमें है कोई नहीं। सबके अपनी अपनी कषायें हैं, उन कषायोंके अनुसार सब

अपनी-अपनी चेष्टायें हैं, मेरा अपराध करने वाला लोकमें कोई नहीं है अतएव किसपर क्रोध करना ? ऐसा ज्ञान जगनेसे इस तत्त्वज्ञानी पुरुषके प्रसम भाव उत्पन्न होता है। सम्वेग भाव दो भागोंमे विभक्त है एक तो ससारसे वैराग्य और दूसरे धर्ममें अनुराग। ये दोनों बातें परस्पर अविनाभावी हैं। जिसे ससारसे वैराग्य है उसे धर्ममें अनुराग है, जिसको धर्ममे अनुराग है उसको ससारसे वैराग्य है। इसी कारण सम्वेदमें दो श्रेणिया हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुषके ससारसे वैराग्य सहज बना करता है, और ससारमें जब किसी भी पदार्थमे इसका उपयोग न टिका तो उपयोग फिर अपने आप रूप रह गया। अपने आपसे फिर अनुराग जगे, प्रीति जगे, यही हो गया धर्मानुराग। तो सम्वेगकी दो श्रेणियां हैं—ससारसे वैराग्य और धर्ममे अनुराग। इस सम्वेग भावको करके अपने आपको यह तत्त्वज्ञानी पुरुष कैवल्य स्थितिके निकट ले जाता है। तीसरा गुण प्रकट होता है ज्ञानीके अनुकम्पा। अनुकम्पा की भी दो श्रेणिया हैं—परभावोंपर अनुकम्पा करना और स्वयंपर अनुकम्पा होना। स्वयंपर अनुकम्पा तो यह है कि यह तत्त्वज्ञानी अपने आपको दुःखी और उद्विग्न देख रहा है। इस ससारमें यह प्राणी रागद्वेषके वशीभूत होकर अपने आपके प्रभुपर अन्याय करता चला जा रहा है, दुःखी हो रहा है।

दुःखियोंपर दया तो ज्ञानियोंको आती ही है। यह स्वय दुःखी है और अपने आपपर दया नहीं कर रहा है। बडी विपिदा है यह। इसकी यह विपदा एक सम्यग्ज्ञानसे ही मिट सकती है। देखो यह ज्ञानी सम्यग्ज्ञानका आदर करके अपने आपपर अनुकम्पा जगा रहा है। यह तो हुई अपने आपपर अनुकम्पा। और जिसको स्वपर अनुकम्पा होती है उसको परमें भी अनुकम्पा होती है। संसारके अनेक प्राणी दुःखी हैं। बाह्य पदार्थोंमें अपने सम्मान अपमानकी बात निरखकर ये संसारके प्राणी दुःखी रहते हैं। ओह ! कितना दुःखी हैं ये ससारके प्राणी ? तत्त्वज्ञानी पुरुषको धनके अभावका दुःख नहीं। कोई पुरुष धन वैभवके कारण दुःखी है ऐसा नहीं निरख रहा है तत्त्वज्ञानी पुरुष, किन्तु वह इस दृष्टिसे दुःखी देख रहा है कि इन ससार के प्राणियोंको पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं है। यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण ये ससारके प्राणी अनेक प्रकारके विकल्प बनाया करते हैं और दुःखी होते रहते हैं। यह खुद सुखसे परिपूर्ण भरा है, आनन्द-निधिसे परिपूर्ण है किन्तु उसका परिचय न होनेके कारण यह जीव दुःखी हो रहा है। यों तत्त्वज्ञानीके अपने आपपर अनुकम्पा जगती है। चौथा गुण इसके प्रकट होता है आस्तिक्य। जो जैसा है उसे वैसा मान ले यह आस्तिक्य भाव है। आस्तिक्य भावके कारण भी बडी प्रसन्नता और निराकुलता रहती है। इस तत्त्व-ज्ञानीको। मैं हूँ अमूर्त। इस अमूर्त अन्तस्तत्त्वमे छेदन, भेदन, सघट्टन आदि किसीकी सम्भावना नहीं है। यह तो केवल अपने भावोंसे दुःखी है। जैसा है वैसा समझ जानेके कारण इसको कहीं भी अप्रसन्नता नहीं रहती। यों तत्त्वज्ञानीके प्रसम, सम्वेग, अनुकम्पा आस्तिक्य भाव रहते हैं, इस कारण वह सदैव सुखी रहा करता है। तो हे आत्मन् ! इस प्रसम भावका आदर करके सासारिक कष्टोंकी फांसीको छेद दे और मोक्ष-स्थानके प्रति गमन कर।

साम्यसूर्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥११४४॥

सयमो मुनि सम्भावरूपी सूर्यकी किरणोंसे रागादिक तिमिर समूहके नष्ट होनेपर परमात्माका स्वरूप अपने आपमे अवलोकन करता है। परमात्माका स्वरूप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दमय है। प्रभु वीतराग हैं, विज्ञानसे भरे हैं। इन्होंने मोहरूपी अधकारको ऐसा नष्ट कर दिया जैसे सूर्यकी प्रचड किरणोंसे अंधकार दूर हो जाया करता है। यह अनन्त चतुष्टयके धनी हैं, समस्त गुण इनके विकसित हैं, समस्त दोष इनके ध्वस्त हो चुके हैं। आत्माकी परम उत्कृष्ट निर्मल अवस्था है, उसके

बढ़कर और आदर्श क्या हो सकता है ? निर्दोष, निराकुल, आनन्दमय एक स्थिति है परमात्माकी। उससे और उत्कृष्ट बात क्या होगी ? उसका स्वरूप स्मरण आते ही अपने आपके स्वरूपका भान होता है और बाह्यकी तृष्णायें आकुलताएं दूर होती है, स्वय स्वयमें मग्न होता है। तो जो मुनि सम्भावरूपी सूर्यकी किरणोसे रागसमूहको नष्ट कर लेता है वह परमात्मस्वरूपको अपने आपमे देखता है। विषय और कषायों का ओट है जिससे प्रभुका दर्शन नहीं होता। यह ओट दूर हुई कि इसे परमात्मतत्त्वका दर्शन होने लगता है। मैं स्वय पूर्ण हूँ, सबकुछ हूँ, अधूरा नहीं हूँ, अपने आपका जो सहज ज्ञानस्वरूप है वह अनुभवमे आये फिर सकटका कोई काम नहीं रहता।

साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम्।
पृथक् करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी ॥११४५॥

भेदविज्ञानी पुरुष समता भावकी सीमाका आलम्बन करके अपनेमे ही अपने आत्माका निश्चय करके मिले हुए और कर्मोको पृथक् पृथक् कर देता है। देखिये कोई दो वस्तुवें साथ-साथमे हों, सयोगमे हों तो उन्हें पृथक्-पृथक् करा देने वाली सीमा होती है। जैसे दो खेत पास-पासमें है तो यह एक खेत है, यह दूसरा है ऐसा ज्ञान करानेके लिए उसमें मेड होता है, हद होती है, इसी प्रकार जीव और कर्म ये दो मिले हुए हैं, इन दो को हम अलग-अलग कर सकें वह है समता भाव। यों निश्चय करिये कि जहाँ तक साम्यभाव है वहाँ तक तो वह जीव भाव है और जहाँ साम्यभाव नहीं है वह सब कर्मभाव हैं। इसको यों निरखिये जैसे कि समयसारमे कहा है कि जीव क्या है ? जीव केवल एक विशुद्ध चित्स्वभाव है। उसमें रूप, रस, गध, स्पर्श आदि नहीं हैं, कषाय भी नहीं हैं, सयमस्थान भी नहीं है। यहाँ तक बताया कि उसमें अध्यात्मस्थान भी नहीं है, वहाँ कोई डिग्रिया नहीं हैं। तो यह जीव क्या है ? एक शुद्ध चित्स्वरूप। वह है क्या ? एक समता भावका पूरा साम्यभाव। तो समझ लीजिए कि जितना चित्स्वभाव है वह तो है जीव और उसके अतिरिक्त जो भी विभाव परिणतिया हैं वे तक भी जीव नहीं हैं। तो साम्यकी उसमें सीमा है, या यों कह लीजिए कि चैतन्यभावकी एक सीमा है। जितना चैतन्यस्वरूप है वह तो है जीव और उसके अतिरिक्त जो भी विभाव हैं, परभाव हैं वे हैं सब अजीव। तो भेदविज्ञानी पुरुष समताभावकी सीमाका आलम्बन करके अपनेमे ही अपने आत्माका निश्चय करें और जीव और कर्मको पृथक् करें। चित्स्वभावके अतिरिक्त अन्य जो कुछ परिणतिया हैं वे सब कर्म कहलाती हैं। यहाँ कर्मको पौद्गलिक कर्मरूपसे न देखकर किन्तु आत्माके द्वारा जो किया जाता है वह कर्म है, अर्थात् विभाव परिणमन सब कर्म है। वे हैं सब अजीव। यों जीव और अजीवमे भेदविज्ञान किया जाता है। यों यह तत्त्वज्ञानी जीव मिले हुए जीव और कर्मोंको इस प्रकार विभक्त कर देता है और यों विभाग करके फिर करता क्या है कि जीवसे उपेक्षा करके चित्स्वभाव रूप जो जीवतत्त्व है उस जीवतत्त्वमे दृष्टि बनाना और उस ही मे स्थिर होना यह ससारके संकटोंसे छूटनेका उपाय है। यों जो समतापरिणामका अनुभवन करता है उसके आत्माका विशुद्ध ध्यान बना और विशुद्ध ध्यानके प्रतापसे आत्मीय यह अनन्त निधि प्राप्त हो जाती है। उस ही ध्यानके लिए समतापरिणाम का प्रयोग करना यह उपदेशमे कहा गया है। मोह रागद्वेष ये ही दुःखकी खान हैं। इन्हें जहाँ तजा वहाँ सारे सकट दूर हो गए, यों समझना चाहिए।

साम्यवारिणि शुद्धानां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम्।
इहैवानन्तबोधादिराज्यलक्ष्मी. सखी भवेत् ॥११४६॥

आत्माका चमत्कार समता परिणाममें है। रागद्वेष न करना, पदार्थोंमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि न होने देना, इस भावमें वह चमत्कार है कि उससे दूसरे भी प्रभावित होते हैं, शान्तिके निकट पहुचते हैं

और स्वयंमें भी प्रभावित होते हैं, शान्त स्वरूपमें पहुचते हैं। हम आप सब जो भी प्राणी दु खी हैं समता-परिणाम न होनेसे दु खी हैं। यह अटूट निर्णय रखना चाहिए। बाहरमे मुझे कुछ कम मिला है अथवा परिजन कम हैं या अनुकूल नहीं हैं इस कारणसे दु ख नहीं है किन्तु खुदमे समतापरिणाम नहीं ठहरता इसका दु ख है। जो पुरुष समतारूप अमृत जलमें शुद्ध हो गये हैं, नहा चुके हैं, अतएव उनके ज्ञानचक्षु खुल गए हैं, उन पुरुषोंको तो यह ही अनन्त ज्ञानादिक राज्यकी लक्ष्मी प्राप्त होती है। जैसे अनेक मनुष्यों का लक्ष्य यह बन गया है कि मैं लोकमे राज्यमे इज्जत अधिक पाऊ, किसीका लक्ष्य यह बन गया है कि मैं धन वैभव अधिक जोड लूं, किसीका कोई लक्ष्य बना है, किन्तु यदि एक मात्र यह लक्ष्य बन जाय कि मैं अपने आपके विशुद्ध स्वरूपको निहारूं और यह ही मैं हू ऐसा निर्णय रखकर अपने आपके आत्माके निकट बसकर प्रसन्न रहूँ। यदि एक यह मूल लक्ष्य बन जाय तो उसका उद्धार हो चुका। जगतके इन पौद्गलिक ठाठ बाटोंमें शिर मारनेसे, उपयोग फसानेसे, विकल्प मचानेसे कौनसे तत्त्वकी सिद्धि हो जाती है? खूब निहार लो, अब तक की जो चर्या बीती है उससे भी परख लीजिए कि हमने पाया क्या है? कौनसी ध्रुव चीज पायी जो मेरे निकट रहे और धोखा न दे और शान्ति बनाये? यहा के समागमोंमे मग्न होनेसे लाभ न मिलेगा। चाहे कितना ही बढिया समागम हो, घरमें स्त्री, पुरुष, बच्चे बड़े सज्जन, बड़े आज्ञाकारी सब कुछ बढिया हो तिसपर भी उनमे मग्न होनेका कर्तव्य नहीं है क्योंकि वे समस्त पर हैं और अध्रुव हैं, वियोग अवश्य होगा, अथवा आज कुछ है कल क्या परिणति बन जाय? किसीने किसीका कोई निर्णय किया है क्या? आज कुछ स्थिति है कल कुछ बन जाय। कोई आज अनुकूल है कहो ऐसा परिवार बन जाय कि मुंह देखना भी पसद न करें। आज कुछ वैभव है कल क्या स्थिति बने? आज कुछ नहीं है, कल कितना ही वैभव आ सकता है। यहाँ के ठाठ-बाट मग्न होनेके काबिल नहीं हैं। कुछ समतापरिणाम लाना चाहिए। तत्वज्ञान और विवेककी बात चित्तमें लाना चाहिये। यह बात प्रयोगकी है। करना किसी दूसरे को नहीं है। अपने आपमे ही अपने आप समाये समाये गुप्त पद्धतिसे ही अपने आपमे यह स्वरूप दर्शनका स्वरूप मग्नता का कार्य करना है। इस कार्यमें कोई बाधा नहीं है। सो कदाचित विरुद्ध भी हों तो अधिकसे अधिक कोई बाहरी उपसर्ग कर सकेगा, पर उसके परिणामोंका निरोध करनेमें कौन कार्यकारी हो सकता है?

जगत है यह। इसमें कोई विश्वास नहीं है। कोई सुख दु ख दाता नहीं है। सब कुछ अपने आपको ही करना होगा। करना भी क्या - केवल एक भाव निर्मल बने, समतापरिणाम जगे ऐसी दृष्टि रखना है। परिवारमें रहकर व्यवस्था करनेके नाते कुछ ध्यान रखना चाहिए, पर उनमें ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ, ऐसी मान्यता अन्दरसे न होनी चाहिए। कदाचित जो आज घरमे पुत्र आदिक हैं उन जीवोंके बजाय अन्य कोई जीव उत्पन्न हो जाते तो उन्हें अपना मान लेते। जिन्हें आज अपना माना जा रहा है वे सब भी इन अन्य जीवोंकी भाति हैं। यहाँ मग्न होनेमें धोखा है? ज्ञानकी सम्हाल रखी जाय तो जीवन अच्छा निकलेगा और जीवनके बाद भी अच्छा समागम रहेगा, उद्धारका अवसर मिलेगा। मनुष्यभव बारबार प्राप्त नहीं होता। बडी कठिनाईसे अनेक कुयोनियोंमें जन्म धारण कर करके आज मनुष्य हुए हैं। तो यह मनुष्यता ऐसे ही नहीं मिल जाती। यहाँ श्रद्धान निर्मल, ज्ञान निर्मल और चारित्रकी ओर यत्न करना चाहिए। सच तो यह है कि ऐसा निर्णय बना लें कि मेरा तो मात्र मैं ही हूँ। सब कुछ सुख दु ख आदिकका रचने वाला हू और अपने ही भावोंसे मैं सुखी होऊ गा और अपने ही भावोंसे दु खी होता हू। मेरे कार्यमें किसी दूसरे का हस्तक्षेप नहीं है। यह यथार्थ तात्विक बात है। न माने तो पाछे पछताना ही पड़ेगा। न समता लाये तो पीछे दु खी होना ही पड़ेगा। भला जो मिले हुए समागममें बहुत आसक्ति रखते हैं तो आखिर उसका होगा क्या अन्तिम परिणाम? वियोग होगा। उस वियोगके समय बहुत सक्लिष्ट होना पड़ेगा, कर्मबन्ध बनेगा, कुगतियोंमें उत्पन्न होना पड़ेगा। मनुष्यभवका एक एक क्षण अमूल्य है। जो समय निकल गया वह पुन वापिस नहीं आ सकता। जैसे पर्वतसे गिरने वाली नदी पवतसे नीचे गिरकर पुन वापिस नहीं चढ़

सकती है, उसकी धार आगे ही बहेगी, इसी प्रकार जीवनके जो क्षण निकल गए वे फिर वापिस नहीं आते, जीवन तो आगे बढ जायगा। तो इस जीवनमे कोई सत्सग उदारताका परिणाम कमा ले। सभी जीवोंमे समानताका व्यवहार रखें। सब कुछ अपना तन-मन-धन-वचन घरके उन चार-छ जीवोंके लिए ही है, ऐसा निर्णय न बनाये। अन्य जीवोंके प्रति भी तो दयाका भाव रहे। यदि अन्य जीवोके प्रति दयाहीनताका परिणाम रहा तो उसका बुरा परिणाम भोगना ही पड़ेगा। कुछ निहार तो लो सभी जीवोंमे वही स्वरूप है जो मेरेमे है। ऐसा कोई अनुभव करले तो उसे एक शिवपथ बहुत निकट रहेगा। जो पुरुष समताके जलमे शुद्ध हो गए हैं और इसी कारण जिनके ज्ञाननेत्र एकदम प्रकट स्पष्ट हो गए है उन पुरुषोंको अनन्त ज्ञान आदिक लक्ष्मी निकटमे ही प्राप्त हो जाती है। कल्याणके लिए भावोंकी निर्मलता चाहिए और उस ही उपाय में वह एक विशुद्ध ध्यान बनता है, अभेद ध्यान बनता है जिस ध्यानके प्रतापसे आत्मा आनन्दमय रहता है। अपने आपको अकेला निरखो और इसे शरण समझकर, इसे सबका जिम्मेदार समझकर, इसे ही आनन्द-धाम निरखकर इसके ही निकट ज्ञानोपयोग द्वारा रहा करें, यही धर्मपालनका समस्त मर्म है।

भावयस्व तथात्मानं समत्वेनातिनिर्भरम् ।
न यथा द्वेषरागाभ्यां गृह्णात्यर्थकदम्बकम् ॥११४७॥

हे आत्मन्! अपने आपको समतापरिणामसे उस प्रकार भावना कर। अपने आपको समतासे भरा हुआ ऐसा भाव बना, उस प्रकारसे भावना कर जिस प्रकार राग और द्वेषसे यह पदार्थोंका पुञ्ज ग्रहण में न आ सकेगा। मैं अकिञ्चन हूँ। देखिये यदि कुछ हो तो उस वाला अपनेको मान लो। वह धर्म ही है। यदि इन्द्रियके विषयोंमे सुख हो तो खूब भोगिये, धर्म ही है। कोई मनाही की बात नहीं। यदि परिग्रहोंके सचयमे शान्ति होती हो तो वह भी धर्म है, पर होता तो नहीं है ऐसा। कोई कहे कि उस समय तो शान्ति हो ही जाती जिस समय विषयसाधन बनाया है, भोग उपभोग चल रहा है। लेकिन उस समय भी शान्ति नहीं है। शान्ति चीज और है और कल्पनाकी मौज और है। जिस भावमें शान्ति मिले वह भाव धर्म है और शान्तिका स्वरूप तो यथार्थ निरख लेना चाहिए। शान्तिभाव क्या चीज है? जहाँ कोई तरग न हो, विकल्प न उठे, कल्पना न जगे, कौन इष्ट है, कौन अनिष्ट है ऐसा परिणाम न बने, शान्ति उस परिणाम मे है। तो अपने आपको मैं शान्त हू, समतासे निर्भर हू ऐसी बारबार भावना बनायें, ऐसा चित्तमे भायें तो यह बात प्रकट हो जायगी। जिस रूपसे अपने आपको भाये उस रूपसे विकास हुआ करता है और वही सतति चलती रहती है। मैं यह देह वाला हूं ऐसी वासना बनी रहेगी तो मरेंगे, फिर देह मिलेंगे क्योंकि देहको अपना रखा है। जैसा अपने आपको भाये उस जातिका फल मिलेगा। तो अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप समतासे निर्भर केवल ज्ञानज्योतिमात्र ऐसा अनुभवें। ऐसा अनुभव कर लिया इसकी परख यह है और वह परख बादमे की जा सकती है, अनुभूतिके कालमें नहीं। ज्ञानस्वरूपकी अनुभूतिके समयमे तो गटागट आनन्दका अनुभव किया जाता है परख नहीं की जाती। उस स्थितिकी परख, अनुभवके बादमे होती है। कैसी होती है वह स्थिति? ओह! जगतके किसी भी अन्य पदार्थकी कल्पना न थी, विकल्प न था, इष्ट अनिष्टके भावकी तो कहानी ही क्या कर? क्या था वहा? केवल निजका विकास, निजका प्रकाश। तो यह बात नो तभी प्रकट होगी जब इम स्वभाव रूपमे अपने आपकी बारबार भावना बनाए। हे आत्मन्! अपने आपको समताभावसे निर्भर अर्थात् खूब अमृतसे भरा हुआ अपने आपको निरख, ताकि रागद्वेषके द्वारा इन अर्थ समूहोका ग्रहण न किया जाय।

ध्यानका यह ग्रन्थ है और ध्यान उसीका नाम है जहाँ एक विशुद्ध स्वरूपमें ज्ञान एकाग्र हो जाय, उसीको ही ध्यान कहते हैं। उसका उपाय है समतापरिणाम होना। यह रागरूपी आग इस जीवको

जला रही है, उसके बुझानेका उपाय समतारूपी अमृतका सिंचन करना है। यों अपने आपको समतासे भरपूर निरखें। किसी बच्चेको बहुत-बहुत गालिया ही दी जाया करें, तू मूर्ख है, गधा है, बेवकूफ है, कुछ नहीं समझता है तो वह अपने आपमें ऐसी ही भावना बना लेगा, मैं मूर्ख हू, वेवकूफ हू तो भावना बनाने से वह उस ही तरहकी चेष्टा करने लगेगा, और एक बच्चेको तू राजकुमार है, तू बहुत बुद्धिमान है, चतुर है, तू ने यह काम ठीक किया, इस प्रकारसे उसे बोला जाय तो वह उस रूप अपनेमें अनुभव करेगा और वैसी ही वृत्तियां करेगा। उससे एक उसमें सभ्यता जगेगी और वह शान्त चित्त रहेगा। अपने आपको अच्छे कार्योंमें लगायेगा, ये सब बातें बन जायेंगी। सब कुछ भावनापर निर्भर है। हम अपने आपको कैसा मानें? बस इस ही बातपर सारा भविष्य निर्भर है। जब तक यह माना जा रहा है कि मैं यह ही हूँ जो जाति, कुल, शरीर, ढंग, इज्जत जो कुछ भी रग है उस मात्र मैं हूँ तो वह इन ही रगोंके अनुकूल अपनी चेष्टा बनायेगा। अपने आपको यदि कोई मैं शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, केवल भावमात्र हू, एक भावका उत्पाद कर लिया, भावरूप परिणम लिया, कुछ जानकारी बन गयी। जानकारी बनी रहनेके सिवाय और मेरा कोई स्वरूप नहीं, और कुछ मेरा कार्य नहीं। ऐसा यदि अपने आपको ज्ञानस्वरूप निहारता रहे तो ये चेष्टायें, ये विकल्प, ये आकुलताएं सब ध्वस्त हो जाती हैं। इतना बड़ा काम पड़ा है अपने सामने, अपने आपको कैसा मानते रहें, कैसा निरखते रहें।

रागादिविपिनं भीमं मोहशार्दूलपालितम्।
दग्धं मुनिमहावीरैः साम्यधूमध्वजार्चिषा ॥११४८॥

यह रागादिक रूप भयानक बन, मोहरूपी सिंहके द्वारा रक्षित है। जिस बनमें सिंह हो उसे कोई उजाड़ेगा क्या? वहाँ कोई लकडी काट लेगा क्या? किसी की हिम्मत तो न पड़ेगी। बनकी रक्षा सिंह करता है। बस सिंहका बना रहना इतना ही बहुत है। उस बनकी रक्षा बनी रहती है। ऐसे ही यह रागादिक रूप भयानक बन मोहके द्वारा रक्षित है। मोह होनेसे ये रागादिक भाव बराबर खूब बने रहते हैं। इन्हें मिटा सकने वाला कोई नहीं है। मोह भाव है तो रागादिक खूब रह जायेंगे, उन्हें कौन मिटा सकता है? रागका मूल तो मोह है, जड है। जैसे जड़ रहे तो वृक्ष हरियाता रहे ऐसे ही अज्ञान रहे, स्वरूप का बिभिन्न जैसा रूप है, मर्म है उसका परिचय न हो यह तो अज्ञान है। इस अज्ञानकी जड है यह राग, वृक्षका फैलाव होता है। उस बनको मुनि रूप महासुभटोंने सम्भावरूपी अग्निकी ज्वालाको दग्ध कर दिया है अर्थात् समतापरिणामसे रागका विध्वस कर दिया है।

मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने।
नृणा हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता ॥११४९॥

पुरुषोंके हृदयमें मोहरूपी कर्दमके सूखनेसे और रागादिक बन्धनोंके दूर होनेपर यह जगत विजय समतारूपी लक्ष्मीमे निवास करता है। देखिये यहाँ मनुष्यमें भी लोगोंकी दृष्टिमें आदर्श और महान् तथा पूज्य एक आस्थाके योग्य कौन मनुष्य माना जाता है? चाहे गृहस्थीमे हो, किसी स्थितिमे हो, जिसमें समताकी बात अधिक पायी जाय जनताके बीचमें वह आदर्श मनुष्य बनता है और जिसके चित्तमे पक्ष हो, राग द्वेषकी बुद्धि बने उस पुरुषका आदर जनतामें ही नहीं रहता है तो लोकव्यवहारमें भी आदर्श ऊ चा समतापरिणाम वाला मनुष्य माना जाता है और फिर परमार्थपथमें उस मोक्षमार्गमे तो समताका ही आदर्श है सर्वत्र। हम जिन प्रभुकी आराधना करते हैं, पूजते हैं वह प्रभु हैं क्या और? समताके पुञ्ज हैं, जिनके रागद्वेष नहीं है। जो केवल अपना ज्ञान विशुद्ध बनाये रहते हैं और इस विशुद्ध वृत्तिके कारण जो आत्माके निकट ही वर्तते रहते हैं, वे ही तो यह परमात्मप्रभु हैं। शान्ति तो जिस विधिसे मिलती है उस

विधिसे ही मिलेगी। सोचनेसे, विकल्पोंसे, अपनी शानसे, उद्दण्डतासे, रागद्वेष मोह भावसे शान्ति नहीं प्राप्त होती। जिनका निर्णय यथार्थ है, ज्ञान सही है वह कदाचित उस ज्ञानका परिपालन भी न कर पाता हो तब भी उसके सकट उसके क्लेश यों समझिये कि ९०-९९ प्रतिशत मिट चुके हैं। जितने कर्मोकी काट-छांट सम्यक्त्व होनेके समय होती है उतनी काट-छांट करनेसे नहीं होता। अनन्त ससार जिस भावसे मिट जाता है वह भाव प्राप्त हो जाय तो आगे की मजिल बहुत थोडीसी रह जाती है। हम अपने आपको ज्ञान-मात्र समतासे भरपूर, सबसे निराला देहसे भी न्यारा अनुभवा करें। इस प्रतीतिसे ही कल्याण निकट है।

आशाः सद्यो विपद्यन्ते यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात्।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ॥११५०॥

जिसके समताकी भावना है उस रूप अपने आपका अनुभव बनाना है। अपने आपका ऐसा सतुलन बना लेना है कि यह उपयोग न इष्टमें जाय, न अनिष्टके पलड़ेमें जाय। कोई सा भी पलडा भार-रूप न बने ऐसा सतुलन जिस ज्ञानतराजूका बन जाता है उस पुरुषकी आशा शीघ्र ही दूर हो जाती है। अविद्या क्षणमात्रमे क्षयको प्राप्त हो जाती है, चित्त विलीन हो जाता है, विकल्प तरग सब विनष्ट हो जाते हैं। देखिये एक नई और अपूर्व दुनियामे प्रवेश किया जा रहा है। बल्कि इतनीसी बातमें कि हम अपने आपको यथार्थ स्वरूपमे मान लें। मैं किस रूप हूँ इतनासा ही काम और जिसका फल देखो तो अनन्त शान्ति परम पवित्रता, ये सब चमत्कार उत्पन्न होते हैं। इसमें क्या जाता है यदि अपना ज्ञानप्रकाश यों बन जाय कि जैसा मैं स्वय हूं तैसा मैं अपने आपको मान लूं। सोच लीजिए इसमे कौनसी कठिनाई है? कहाँ विरोधता है? क्या गरीब नहीं कर सकते यह? कोई भी करले पर ऐसा अनुभव आ जाय तो समझ लीजिए सब कुछ पाया और इस अनुभव विना कैसा ही समागम मिला हो वह सब धोखा है। ये समागम विश्वास के योग्य नहीं है, हितरूप नहीं हैं, परतत्त्व हैं। अपने आपकी सुध लेना यह बहुत बड़ा अपूर्व काम है, सुगम और स्वाधीन है, इस पर ही हमारा कल्याण निर्भर है।

साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत्।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतरः ॥११५१॥

समतापरिणामका माहात्म्य बतला रहे हैं कि जो पुरुष समताकी कोटिपर आरूढ़ हो जाता है वह पुरुष जितने कर्मोका ध्वस करता है केवल एक क्षण मात्रमें उतने कर्मोका ध्वस अन्य पुरुष जो कि समताभावमें नहीं लगा है, रागद्वेष इष्ट अनिष्ट बुद्धिमें फसा है वह पुरुष करोडों जन्म भी कठिनसे कठिन तपश्चरण भी कर डाले तो भी उतने कर्मोका ध्वस नहीं होता, इसका कारण यह है कि कर्म आते हैं तो भावका निमित्त पाकर और इसी प्रकार कर्म नष्ट होते हैं सो भी भावका निमित्त पाकर। तो जब भाव एक शुद्ध स्वभावका आलम्बन करने वाला बनता है तो भी उसे अनेक जन्मोंमें बाधे हुए कर्मोका विजय प्राप्त कर लेता है। समतापरिणाम कहो या तीन गुप्ति कहो। मन वशमें करना, वचन वशमे करना और काय वशमें करना ये तीन योग जब वशमे होते हैं तब कर्मोपर विजय प्राप्त कर लिया जाय और समताभाव आ जाय। जब तक चित्त चचल है, चित्तमें रागद्वेषकी वासना बसी हुई है तब तक समतापरिणाम नहीं आ सकता। तो धर्मपालन कहो और रत्नत्रय धर्म क्षमा आदिक १० धर्म किन्हीं भी शब्दोंमें कहो, सबका मर्म समतापरिणामसे है। जहाँ समता भाव है वहाँ धर्म है, जहाँ समता नहीं है वहाँ धर्म नहीं है। वे मुनि जो यथार्थ आत्माका स्वरूप जानते हैं और रागद्वेष इष्ट अनिष्ट बुद्धिमें कदाचित नहीं फसते हैं वे योगी ऐसा साम्यभाव लाते हैं अपने उपयोगमें कि जिस कारण क्षणमात्रमें ही अनेक भवोंमे बाधे हुए कठिनसे कठिन कर्म भी ध्वस्त हो जाते हैं।

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः ।।११५२।।

समस्त विश्वमें दर्शन कर लेने वाले अर्थात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी जितेन्द्रदेवने यह ध्यान बताया है कि समतापरिणाम आ जाय। उत्कृष्ट ध्यान है यह। रागद्वेष न जगे, समता भाव आये, यही है उत्कृष्ट ध्यान। जिसके प्रसादसे ससारके समस्त सकट दूर होते हैं, उस ही ध्यानके प्रकाश करनेके लिए यह सब शास्त्रका विस्तार बनाया गया है। कितनी तरहके शास्त्र हैं ? कितने शास्त्र होंगे आचार्यप्रणीत ? तो सौ-दो सौ, हजार, दो हजार, दश हजार कितने ही बता दो। बहुत-बहुत शास्त्र हैं पर उन सब शास्त्रोंमे लिखा क्या है ? तत्त्वकी बात क्या आती है ? वह सब एक ही है क्या ? समताभावकी शिक्षा, प्रथमानुयोग हो, करणानुयोग हो, चरणानुयोग हो, द्रव्यानुयोग हो, कितने ही प्रकारके ग्रन्थ हों उन समस्त जैन प्रणीत ग्रन्थोंमे मर्मकी बात यह बताया कि समतापरिणामका आश्रय लो। प्रथमानुयोगमे कथानकों द्वारा सब कुछ बताकर यह शिक्षा दी गयी है कि महापुरुषोंने भी बड़े-बड़े वैभव पाकर अन्तमें समतापरिणाम उत्पन्न किया, उसके फलमें निर्वाण पाया। वे महापुरुष जो बड़े बलिष्ठ थे, जिनका साम्राज्य एकछत्र था, उन्होंने भी ससारमे ही रमकर अपना अतिम समय नहीं बिताया। अतिम समय बिताया त्यागमें, तपश्चरणमे वैराग्यमें। उससे पहिले बडी-बडी बातें कीं, बडा युद्ध किया, बडा परिवार बना, बडी इज्जत कीर्ति फैली। बहुत-बहुत कार्य किया गृहस्थीमे रहकर, किन्तु अन्तमे उन सब महापुरुषोंने एक ही मार्गका आलम्बन लिया—त्यागका, तपश्चरणका, वैराग्यका, सार मिलेगा तो ज्ञाता द्रष्टा रहनेमे। विरक्त रहनेमें मिलेगा। अन्य तो सब उपद्रव हैं, धोखा है अथवा कोई सारकी बात नहीं है।

साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणाम् ।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्वमवलम्बते ।।११५३।।

जिसने समताभावसे अपनेको प्रभावित किया है अर्थात् समताका प्रयोग किया, समता की, भावना की ऐसे बुद्धिमान पुरुषोंको जो सुख होता है—आचार्यदेव कहते हैं कि मैं तो ऐसा समझता हूँ, मानता हूँ कि वह ज्ञानसाम्राज्य की समताका आलम्बन करता है। समतापरिणामसे केवल ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। योगीश्वर पहिले वीतराग बनते हैं पीछे सर्वज्ञ बनते हैं। रागद्वेष मोह ध्वस्त हो जाय ऐसी निर्मल अवस्था पहिले आती है उसके पश्चात् सर्वज्ञता प्रकट होती है अर्थात् अब वे परमात्मा हो गए। समस्त लोकको अपने केवल ज्ञानसे स्पष्ट जाना करते हैं। जीवका प्रधान उद्देश्य है कष्ट न होना और शान्तभाव बतना। तो शान्तिमें कारण वीतरागता है। सर्वज्ञता तो वीतराग बननेका एक माहात्म्य है। सब जान लिया। सबके जान लेनेसे शान्ति नहीं आयी किन्तु वीतरागता होनेसे शान्ति आयी। कम भी जाने कोई और रागद्वेष न हो तो शान्ति होगी। यद्यपि वह उत्कृष्ट शान्ति नहीं है और स्थिर नहीं है, लेकिन वीतरागताका स्वभाव ऐसा है कि वहाँ शान्ति अवश्य आयगी। जहाँ राग है वहाँ अशान्ति है। अपने आपमें शान्ति प्रकट करनेके लिए राग परिणामका त्याग करें ऐसा अपना सुदृढ़ निर्णय बनाये।

यः स्वभावोत्थितां साध्वीं विशुद्धिं स्वस्य वाञ्छति ।
स धारयति पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठितं मनः ।।११५४।।

जो पुरुष स्वभावसे उत्पन्न हुई समीचीन विशुद्धिको चाहता है वही समतापरिणामसे भरपूर अपने मनको बनाता है। जैसी चाह जगी परिणति उस ओर जाती है। यदि पापवृत्तिकी चाह उत्पन्न हुई तो मन पापकी ओर बहेगा और यदि एक शुद्ध भावकी ओर दृष्टि हो, जैसा अपना सहज स्वरूप है उस

रूप माननेकी रुचि जगे तो यह वीतराग बनेगा, इसे शान्ति प्राप्त होगी। जो पुरुष स्वभाविक आत्माकी निर्मलता चाहते हैं उनको समतापरिणामकी सिद्धि होती है और वे ही सच्चे पुण्य रूप पवित्र आत्मा हैं।

तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितम्।
यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥११५५॥

समतापरिणाममें अपना उपयोग कब जगता है जब यह जीव अपने आपको ऐसा जानने लगता है कि यह मैं शरीर वाला हूँ। अपना इस समय तीन प्रकारके शरीरोंका सयोग है, जो यह ढाचा पडा है, देह लगा है। इस देहमें तीन प्रकारके शरीर हैं—एक औदारिक, दूसरा तैजस और तीसरा कार्माण। कार्माण शरीर तो कर्मोंके पुञ्जको कहते हैं। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, इन्द्रिय द्वारा गम्य नहीं होता और तैजस शरीर इन औदारिक शरीरोंमे जो तेज लगा रहता है वह है। और औदारिक शरीर तो प्रकट दिखते हैं। ये तीन प्रकारके शरीर लगे है अपने। इनमेसे दो तो सूक्ष्म शरीर हैं तैजस और कार्माण और यह औदारिक स्थूल शरीर है। मरण करनेपर तैजस और कार्माण ये दो शरीर तो साथ जाते हैं और औदारिक शरीर यहीं विघट जाता है। जैसा कि अन्य लोग भी कहते है कि मरनेके बाद इस जीवके साथ सूक्ष्म शरीर जाता है और स्थूल शरीर यहीं पडा रहता है। वे सूक्ष्म शरीर है तैजस और कार्माण। यह ससारी जीव अभी तक एक समयके लिए भी शरीररहित नहीं बन सका। लोग तो यों कह देते हैं कि यह शरीर छूटा, इससे आत्मा निकला कि वह आत्मा शरीररहित हो गया और कुछ लोग तो यों बताते है कि वह आत्मा तब तक जगतमे डोलता रहता है जब तक कि उस मरने वालेके नामकी पगत न कर दी जाय। और जहाँ तेरही हुई कि अन्य शरीरमे जन्म लेनेकी उसे सर्टीफिकेट मिल जाती है। पर ऐसा नहीं है।

आज तक यह जीव एक क्षण भी शरीररहित नहीं रह सका। सदैव शरीर रूप रहा। जब तक यह स्थूल शरीर है तब तक तो इस शरीरमें रहा और जब इस शरीरको छोडकर चल बसा तो रास्तेमें सूक्ष्म शरीरको लेकर गया। वे है तैजस तथा कार्माण शरीर। यदि यह एक क्षणके लिए भी शरीररहित बन जाय तो फिर सदैव ही शरीररहित रहेगा। फिर शरीर मिलनेका कोई कारण नहीं है। तो यह जीव आज तक भी शरीर रहित नहीं रहा, और मरण भी किसका नाम है? जो पदार्थ सत् हैं उनका कभी नाश नहीं होता जीव सत् है, उसका नाश न होगा, मरण न होगा। यह शरीर है इसमे भी मूलभूत तो है परमाणु, सो वे परमाणु कभी नष्ट न होगे। लेकिन उन परमाणुवोंके मिलजुलकर जो स्कध बनते हैं उसे भी द्रव्य कह डालते है और फिर यह कहा कि जब शरीर विघट गया, चौकी जल गयी, दरी फट गयी, तब उन स्कधोंको पुद्गल मान कर कहते है तो यह शक हो जाती कि पुद्गल नष्ट हो जाता है। पुद्गल भी नष्ट नहीं होता, जीव भी नष्ट नहीं होता। यह शरीर कोई पदार्थ नहीं है। ये अणु अणु रूप जो पदार्थ है उन पदार्थों का समुदाय है। मात्र एक अणु ही कहीं दृश्य नहीं बन गया। तो आत्माका मरण क्या? लोग मरणसे यों ही घबडाते हैं कि यहाँ लोगोंसे कुछ परिचय बन गया है और उनमे ममता जग गयी है, अब छोडकर जाना पड रहा है तो यह क्लेश है कि बडे व्यवसाय, बड़े प्रयत्नसे हमने यह धन वैभव इकट्ठा किया और आज यह सब छूटा जा रहा है, यह भाव आता है उसका क्लेश बढता है। मरणमे क्या हानि हुई? पर मोह लगा है तो वह हानि समझता है और इसी कारण मरणसे डरता है। तो आत्मा सद्भूत है और वह स्वभावसे खण्डरूप है, समताका उसमे स्वभाव है। तो समता वह स्वभाव रूप भावना बनानेसे बुद्धिमान पुरुषोंको एक अनुपम विलक्षण सुख उत्पन्न होता है। वह सुख क्या है? वह ज्ञान साम्राज्यरूप लक्ष्मीको प्रदान करता है। मोक्ष मिलेगा और वहाँ समस्त पूर्ण ज्ञान भी मिलेगा। किन्तु वह किस उपायसे, किस आधारसे मिलता है? वह आधार है समताका। रागद्वेष न हो, फिर क्या दुःख? सबके दुःख लगे हैं और

सब किसी न किसी चिन्तामें हैं। मान लो इस समय शास्त्र अच्छी तरह सुन रहे हो तो नहीं जा रहा है किसी दूसरी जगह चित्त, मगर वासनामें तो सब बसा हुआ है। तो जब रागभाव जगता है, कषायभाव बना होता है तो उसमें ऐसी ही खूबी है कि वह अपने आधारको छोड़ देता है और यह ज्ञान दरदर बाह्य पदार्थोंकी आशा करके भटकता रहता है। सब संकटोंके दूर करनेका उपाय है समतापरिणाम। सो अपने आपको इस प्रकार जानें समतापरिणाममें स्थिति और अधिकार पानेके लिए और ऐसा भाव बनायें कि मैं सर्वसे रहित हूँ, रागद्वेष मोह ये जो तीन भाव हैं इनसे मैं दूर हू। इस प्रकार अपने आपके आत्माको जानें तो इस ज्ञानके बलसे समतापरिणाममें स्थित हो सकते हैं। विसमतामें क्लेश है। समतामें आनन्द ही आनन्द है। तत्त्वज्ञानी पुरुषका इतना प्रकट बल रहता है कि वह बाह्य पदार्थोंके समागमसे अपना लाभ नहीं समझता और बाह्य पदार्थोंकी हानिसे अपनी हानि नहीं समझता। किसी भी स्थितिमें सम्यग्दृष्टि पुरुष घबड़ाता नहीं है। तो समतापरिणाममें स्थिति करनेके लिए अपने आत्माको निर्दोष और मन, वचन, काय योगसे रहित ऐसी अपने आत्माकी भावना करे तो उसके समतापरिणाममें स्थिति बनती है।

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम्।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते ॥११५६॥

जब कोई योगी अपने आपके आत्माके विषयमें निश्चय करता है कि यह मैं समस्त परपर्यायों से, परद्रव्योंसे, परभावोंसे, औपाधिक तत्त्वोंसे भी विलक्षण यह मैं आत्मा हूँ, इसके ही निश्चय ध्यान बनता है और अष्टकर्मोंसे मुक्त हो जाता है। जिस शरीरको निरखकर हम लोकमें व्यवहार बनाते हैं और अन्य लोग भी जिस शरीरको देखकर वचनव्यवहार बनाते हैं वे सब परपर्यायें हैं, परद्रव्य हैं, औपाधिक भाव हैं, उनसे रहित यह मेरा आत्मा है। निश्चयदृष्टिसे जैसा आत्मस्वरूप बनता है उसे ही कई लोगोंने अद्वैत ब्रह्मका रूप रखा है। सो एक दृष्टि तो भाव बनाई, पर व्यवहारका विरोध करनेके लिए निमित्त-नैमित्तिक विधानका भय नहीं करता। इस कारण कुछ ज्ञानकी बात करके समतापरिणाममें ठहर नहीं पाता। समताका आलम्बन ही सर्वोपरि पुरुषार्थ है। ऐसी शुद्ध भावना हो कि जिसमें रागद्वेषके पुट भीतर न आ सकें। जहाँ ऐसी समता प्राप्त होती है वहाँ ही निश्चयध्यान बनता है जिस ध्यानके प्रसादसे आत्मा अष्ट-कर्मोंसे मुक्त हो जाता है।

तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम्।
तस्यैव बन्धविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ॥११५७॥

जिस योगी पुरुषमें समतापरिणाम जगता है उस योगीश्वरके ही अविचल सौख्य उत्पन्न होता है। ऐसा आनन्द जिसका कभी वियोग न हो। वह आनन्द उस योगीके प्राप्त होता है जिसने आत्माका ध्यान करके पवित्र अपने उपयोगको बना लिया है, उसीके अविनाशी पद प्रकट होता है। ये संसारके जो कुछ समागम हैं वे सब कर्मानुसार हैं। जब जो काम नहीं होना है उसके लिए पुरुष यदि तीव्र वाञ्छा करे, अधिक मेहनत करे, श्रम करे तब भी नहीं होता। तो इससे क्या शिक्षा मिलती है कि आत्माके अनुभवका काम मात्र आत्माके निकट रहनेसे होता है। बाह्य पदार्थोंके संचयसे समता प्रकट नहीं होती है। सब आनन्द समतापरिणाममें ही है। लोकमें उसका बहुत आदर होता है जो रागद्वेष नहीं करता, जो किसीका पक्षपात नहीं करता, अपने आप उसमें समता, गम्भीरता, धीरता रहती है उस पुरुषके यहाँ ही बड़ी आस्था होती है। तो अविचल आनन्द उस ही योगीके हैं और अविनाशी पद भी उस ही योगीश्वरके है। भव-भवके बाँधे हुए कर्मबन्धोंका विनाश उस ही योगीके है जिस योगीने समतापरिणामकी साधना कर ली है।

यस्य हेयं न चोपेयं जगद्विश्वं चराचरम् ।
स्यात्तस्यैव मुनेः साक्षाच्छुभाशुभमलक्षयः ।।११५८।।

जिस मुनिके चराचर रूप समस्त जगतमें न तो कोई हेय रहा, न कोई उपादेय रहा, उस मुनिके ही शुभ अशुभ कर्मरूपी मलोंका शीघ्र क्षय हो जाता है । स्वरूपदृष्टिसे भी देखो तो आत्मा अमूर्त है, वह किसी भी पदार्थको पकड नहीं सकता । जब किसी पदार्थको आत्मा ग्रहण नहीं करता तो फिर उसने त्याग ही क्या ? त्याग भी क्या चीज रही ? आत्मा तो सकलक है ही नहीं । तो जो कुछ ग्रहण करनेको नहीं तो त्यागनेको भी क्या है ? जीव अपने भाव ही तो ग्रहण करता और भावोंका ही परित्याग करता । तो जो इतना समतापरिणाममे आ गया कि जिसको न कुछ हेय है, न कुछ उपादेय है उस ही मुनिके शुभ और अशुभ कर्मोका शीघ्र विनाश होता है । समताकी बड़ी महिमा है । यहाँ भी समता रहे तो लोकके अनेक संकट टलते हैं और फिर मोक्षमार्गमें इस समतासे ही पहुचा जा सकता है । समता बिना मोक्ष मार्ग कभी नहीं बनता । तो उस समतापरिणामका आदर योगीश्वर करते हैं जिनके प्रतापसे ऐसा उत्कृष्ट ध्यान बनता कि भव भवके कर्म ध्वस्त हो जाते हैं । जाप, व्रत, तप, विधान आदि से यही शिक्षा लें कि मेरे विषयकषाय दूर हों और हम अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप अनुभव करते रहें ।

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैरा परस्परम् ।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ।।११५९।।

समतापरिणाममे ऐसा प्रभाव है कि इस समतापरिणामके कारण मुनिके निकट जितने भी जंतु आयें, क्रूरसे भी क्रूर हों और उनका परस्परमें एक दूसरेसे बैर हो तो भी वे शान्त ही जाते हैं । मुनिराज वहाँ कुछ नहीं कर रहे । वे अपने आत्मीय प्रयोजनमे ही लग रहे । अपना जो निर्मल ज्ञानदर्शन आनन्द-स्वरूप है उस स्वरूपमें ही मग्न हो रहे हैं, लेकिन अपने स्वरूपमें मग्न होनेसे जो समतापरिणाम बना उस परिणामका ऐसा प्रताप है कि क्रूर भी जंतु शान्त हो जाते हैं । उनके निकट सिंह और हिरण एक साथ बैठे रहते हैं । उनका बैर खतम हो जाता है, परस्पर प्रीतिपूर्वक रहते हैं । यह सब समताका परिणाम है ।

भजन्ति जन्तवो मैत्रीमन्योऽन्यं त्यक्तमत्सराः ।
समत्वालम्बिनां प्राप्य पादपद्मार्चितां क्षितिम् ।।११६०।।

जो समतापरिणामका आलम्बन लेते हैं उनके चरणकमलोंसे पूजित जो पृथ्वी है वहाँ जो जो भी आ जाते हैं वे सब जतु आपसमें द्वेष त्याग देते हैं और परस्पर मैत्री भाव रखने लगते हैं । आखिर वे भी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव हैं । जो क्रूर जन्तु उनके निकट बैठते हैं वे बैर छोड़कर और परस्परमें मित्रताकी बात रखते हैं, वे भी सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव हैं । उनके भी मन है, उन पर प्रभाव पडता है उस समता-परिणामके वातावरणका । जैसे यहॉ भी जैसे मनुष्यके पास बैठो वैसा प्रभाव बनता है । तो यहॉ एक साधारण रूपसे एक थोड़े प्रभावकी बात है और वहाँ उन विशिष्ट योगीश्वरोंके उनका समताका प्रभाव अपूर्व होता है । जिनके रागद्वेष नहीं हैं किसी भी जीवका जो बुरा नहीं चाहते हैं उनके देहपर कितने भी क्रूर जीव उपसर्ग करें, उनकी चमड़ी छीले, शिरपर अगीठी जलायें, कैसा ही उपद्रव करें, इतने पर भी चूकि उन्होंने ज्ञानस्वभावका आश्रय किया है और उनका अह रूपसे अनुभवना है, अतएव ऐसे उपद्रव कार्योपर भी उनके बैरभाव नहीं जगता । ऐसी समता जिनके जग गयी है उन पुरुषोंके निकट भूमिपर जो भी क्रूरसे क्रूर जतु आ जायें तो भी मात्सर्यभाव छोड देते हैं और परस्परमें मित्रताका आचरण करने

लगते हैं। यह सब समताका प्रताप है। समताका प्रताप खुदमें तो एक अपूर्व आनन्दका अनुभव जगे ऐसा होता है और बाहरमें लोग भी वैर छोड़ दें, मात्सर्य त्यागकर अपने आपमें प्रमुदित रहें ऐसा प्रताप होता है। वे योगीश्वर वर्तमानमें अपनी योगसाधनामें रहते हैं अतः समताभाव है, किन्तु उन्होंने पूर्व समयमें जो भी कर्म बाँधा था या किसी भी प्रकार दूसरोंको उनसे तकलीफ पहुची थी, जब कि वे योगी न थे और उस समय बाँधे हुए कर्म भी उदय आनेपर उनपर उपद्रव भी हो जाता था। किसी किसीके तो एकतरफा वैर होता है। न भी किसी भवमें किसीका अनिष्ट चाहा लेकिन दूसरे जीवोंका भ्रम बढ़ता जाय और उनसे वे वैर बाँधलें ऐसी स्थिति भी हो जाती है, लेकिन जो योगीश्वर हैं, जिन्होंने आत्मतत्त्वका अनुभव किया है उनके बैरियोंके प्रति भी वैर नहीं जगता। यथार्थ निर्णय है। अब यह भाव है कि मेरेको दुःखी करने वाला कोई दूसरा जीव हो ही नहीं सकता। कदाचित उपद्रव भी हो रहा हो तो उसमें अपना ही उपार्जन किया हो, कर्मोंका यह सब फल है। आत्मतत्त्वका अनुभव करने वाले योगीश्वर दूसरोंपर ईर्ष्याभाव, बैरभाव, विरोधभाव नहीं लाते। ऐसे योगियोंके निकट जो भी जंतु आयें वे सब क्रूरताको त्याग देते हैं और परस्परमें मित्रताका बरताव करते हैं।

शाम्यन्ते योगिभिः क्रूरा जन्तवो नेतिशङ्क्यते।
दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैर्बलाहकैः ॥११६१॥

योगियोंके निकट क्रूर जंतु आ जायें वे सब शान्त हो जाते हैं, इसमें शंकाकी कोई बात नहीं है। जैसे दावानलसे दीप्त हुआ कोई वन है तो वह जैसे वर्षा करने वाले मेघोंसे एकदम शान्त हो जाता है, इसमें कोई आश्चर्य करता है क्या? कुछ भी आश्चर्य नहीं। तेज अग्नि लग रही है जंगलमें और उसी समय बड़ी तेज वर्षा हो जाय तो जंगलकी आग बुझ जाती है। तो जैसे उन वर्षा करने वाले मेघोंमें ऐसी सामर्थ्य है कि बहुत बड़े विशाल भी वनकी अग्नि शान्त हो जाती है इसी प्रकार इन योगीजनोंका ऐसा प्रताप है कि कितने ही क्रूर जंतु उनके निकटमें आयें तो उनका क्रौर्य शान्त हो जाता है। दूसरे जीव भी समझदार हैं और योगियोंकी शान्त मुद्रा निरखकर वे भी अपने आपमें एक नया प्रभाव उत्पन्न कर लेते हैं और वे शान्त हो जाते हैं। समताभाव रखनेसे धैर्य और गम्भीरताका परिणाम रखनेसे जीवको कष्टका मुकाबला नहीं करना पड़ता और रागद्वेषमें जो बढ़ें, हठ करें, किसीकी न मानें, जो विषयासक्त मनने आर्डर दिया उस ही में रत हो जाय ऐसी जिनकी कमजोरी है, रागद्वेषभाव लगा हुआ है। वे पुरुष स्वयं क्षुब्ध रहते हैं उनके निकट बसने वाला कोई कैसे शान्त हो सकेगा। जैसे करीब करीब यह बात है कि दुःखी और मोही प्राणियोंकी कहानी सुनकर अधीर पुरुषोंकी अधीरता भरी वेदनाएं सुनें सुनकर सुनने वाले चित्तमें भी वेदना जग जाती है और सुखी शान्त ज्ञानी विरक्त पुरुषोंकी वार्ता सुनकर सुनने वालेके चित्तमें भी ज्ञान और वैराग्यका भाव जग जाता है। जैसे मनुष्योंके साथ उठे बैठें, रहे, बातें सुनें, वैसा प्रभाव होने लगता है। यहाँ तो अद्भुत समताके धनी योगी विराजे हैं तो उनके निकट जो भी प्राणी आवें वे कषायोंको छोड़कर शान्त हो जाते हैं।

भवन्त्यतिप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम्।
चेतांसि योगिसंसर्गेऽगस्त्ययोगे जलानिवत् ॥११६२॥

जिस तरह शरद ऋतुमें अगस्त ताराका सम्पर्क होता है उसके उदय होनेपर जल निर्मल हो जाता है इसी तरह समतासे भरपूर योगीश्वरोंकी सगति होनेपर जीवोंके मलिन चित्त भी प्रसन्न हो जाते हैं। जैसे जब शरद ऋतु आती है तो इससे पहिले तो वर्षा ऋतु थी, उस बरसातसे जगह जगहके जल गंदे हो गए थे। जहाँ जमीनमें पोखरासे होते हैं उनका पानी पीने लायक नहीं रह जाता। गन्दगी, मिट्टी उनके

जलमें भर जाती है। ज्यों ही क्वार कार्तिकका महीना आता है तो उनका कीचड नीचे बैठ जाता है और वह निर्मल हो जाता है। इसी तरह जब तक जीवोंमें विषयकषायोंकी वृत्ति बनी हुई है तब तक उनका चित्त मलिन रहता है और जैसे ही शरद ऋतुकी भांति योगीश्वरोंका सम्बंध होता है तो उन पवित्र योगीश्वरोंकी संगतिसे मलिन भी मन पवित्र हो जाता है, उस मलिनताको त्याग देते हैं। संगति उच्च पुरुषोंकी हो तो चित्तमें उच्च बात भी समाये और उस समय उसके फिर उच्च बातकी ऐसी संतति बन सकती है कि अवनतिमें यह अग्रसर हो जायगा और खल दुष्ट अधीर विषयासक्त अज्ञानी पुरुषोंकी संगतिसे अज्ञानभरी बात ही बनेगी। जो जहा कुछ सोचा जाता है कि धर्मका परिणाम मनमें क्यों नहीं आता? रोज धर्मसाधना भी करते, पूजामें भी समय देते, और और भी कार्य करते, पर क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें न जगे, विशुद्ध तत्त्वकी दृष्टि बनी रही ऐसी वृत्ति क्यों नहीं जग पाती? इसका कारण यह हो सकता है कि धर्मसाधनामें तो हमें थोडी बहुत संगति भी मिली तो थोड़े समयको मिली, और दूकान व्यापार आदिकके समय किससे बात हो रही है सो तो समझ लीजिए। मोही, अज्ञानी, असभ्य, देहाती, कितनी-कितनी तरहके असदाचारी लोगोंसे बातें होती रहती हैं उनकी संगति चलती है १०-१२ घंटे और शेष समयमें कुछ घर वालोंका, मित्रजनोंका संग चलता है, सो वे भी मोही हैं, अविवेकी हैं, तो धर्मसाधना का हमको कितना संग मिला? वह कुछ भी सा नहीं रहता। तब जहाँ हमारी संगति अधिक लगे वहांका प्रभाव बढ जाता है—यह कमी है जिस कारणसे हम प्रथम आदिक गुणोंमें आगे नहीं बढ पाते। तब क्या करना चाहिए। जान बूझकर ऐसा समय निकालना चाहिए कि उन मोहियोंकी बातोंमें कमसे कम समय लगे और सत्संगति, स्वाध्यायमें अधिक समय लगे तो धर्मका प्रभाव बन सकता है। तो ऐसा भी मलिन चित्त हो वह चित्त भी योगीश्वरोंके संसर्गमें निर्मल हो जाता है, अतएव साधु संतोंकी संगतिका अधिकसे अधिक लाभ लेना चाहिए, तभी मन विशुद्ध बनेगा जिससे आत्मध्यानकी बात ठहर सकेगी और मुक्तिका मार्ग मिल सकेगा।

क्षुभ्यन्ति ग्रहयक्षकिन्नरनरास्तुष्यन्ति नाकेश्वराः,
मुञ्चन्ति द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादयः क्रूरताम्।
रुग्वैरप्रतिबन्धविभ्रमभयभ्रष्टं जगज्जायते,
स्याद्योगीन्द्रसमत्वसाध्यमथवा किं किं न सद्यो भुवि ॥११६३॥

समतापरिणामसे युक्त योगीश्वरोंके प्रभावसे अन्य बड़े-बड़े विशिष्ट जीवोंपर प्रभाव पड़ता है। वे अपने दुष्परिणामोंको त्यागकर प्रसन्नताके परिणाममें रहा करते हैं, यही क्षोभ कह लीजिए। क्षोभमें दोनों बातें होती है—हर्ष भी और विषाद भी। कोई प्रकारकी नई बात उत्पन्न होना यह बात योगीश्वरोंके प्रभावसे उत्पन्न होती है तथा शत्रु दैत्य सिंह और क्रूर जानवर सर्प आदिक अपनी क्रूरता छोड़ देते हैं। जैसे कुछ तो अन्तर आता है ना। जब मंदिरमें बैठे हों, शास्त्रसभामें हों तो परिणामोंकी विह्वलतामें कुछ अन्तर आता है ना? स्थानका एक प्रभाव है ऐसा, इसी प्रकार संगतिका भी एक अचूक प्रभाव है। क्रूर पुरुष भी अपनी क्रूरताकी परिणतिको त्याग देते हैं, अपने आपमें शान्त और निराकुल बन जाते हैं। तो सत्संगसे ज्ञानी संतोंके प्रभावसे लोग हर्षित होते हैं और क्रूर पुरुष क्रूरताको तजते हैं तथा ये जगत, राग, बैर, प्रतिषेध, विभ्रम, भय आदिकसे प्रथम तो योगियोंकी मुद्रा दिख जाती है। न त्रिशूल है, न शस्त्र है, न लाठी है और यहाँ तक कि उनके शिरके दाढीके बाल भी बड़े नहीं होते। चार माहमें केश लोंच करनेका नियम है, तो ऐसी उनकी मुद्रा है कि जिससे भयानकता नहीं टपकती। और शस्त्र आदिक न होनेसे किसी मनुष्य को उनसे शंका नहीं रहती। तो उनकी मुद्रा निरख कर लोगोंके भी विश्वासमें शीघ्र आ जाता है, इनसे मे-

अहित न होगा हित ही होगा। जैसे यह भावना भर लेते हैं लोग इसी प्रकार योगीश्वरोंके निकट रहने वाले क्रूर भी पुरुष अपनी क्रूरताका परिणाम छोड देते हैं और शान्तचित्त होते हैं। इस पृथ्वीमें ऐसा कौनसा काय है जो योगीश्वरोंके समतापरिणाममें सिद्ध न हो सके साधुभावसे समस्त मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इस संसारमे बाहरी पदार्थोंके सुधार बिगाड़के लिए अपनी कल्पनासे कितना उद्यम कर डालते हैं, मगर वे उद्यम सफल नहीं हो पाते। दूसरे जीवोंके प्रति हम जो जो कुछ भी चाहते हैं वह कार्य नहीं बनता। प्राय करके अपने जीवनमें सब लोग समझते होंगे। तो कार्य हमारा क्यों बनहीं बनता ? यों नहीं बनता कि हममें राग और द्वेष भाव भरा है। यह राग न रहे, ममतापरिणाम जग जाय तो यह तत्त्वज्ञानी बाहरी पदार्थसे कुछ आशा ही न रखेगा। जो कुछ आशा नहीं रखता उसके मनोवाञ्छित सब कार्य सिद्ध हो गए। जब तक इच्छा रहती है तब तक कार्य सिद्ध नहीं होते। जहाँ इच्छा नष्ट हुई तहा सभी कार्य सिद्ध हुए समझिये और जब तक इच्छा जग रही है तब तक यह ही अनुभव करता, रहेगा यह प्राणी कि मेरा तो कोई कार्य बनता ही नहीं। खूब कल्पनाए करता, खूब श्रम करता पर मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध नहीं हो पाते, इच्छा न रहे तो सब सिद्ध है और इच्छा रहती है तो सब असिद्धि असिद्धि ही प्रतीत होती है। योगीश्वरोंके समतापरिणामके माहात्म्यसे मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

चन्द्रः सान्द्रं विकिरति सुधामंशुभिर्जीवलोके,
भास्वानुग्रैः किरणपटलैरुच्छिनत्त्यन्धकारम्।
धात्री धत्ते भुवनमखिलं विश्वमेतच्च वायु,
र्यद्वत्साम्याच्छमयति तथा जन्तुजातं यतीन्द्रः ॥११६४॥

जैसे चन्द्रमा अपनी किरणोंसे सघन गरजता हुआ अमृत बरसाता है इस ही प्रकार समतापरिणामके धनी योगीश्वर अपने पौरुषके द्वारा जगतमें निर्भयता का अमृत बरसाते हैं। चन्द्रमाकी किरणोंको जो शीतल बनाता है उसको शीतलता आ ही रही है। इसी प्रकार योगीश्वरोंकी मुद्रासे, उनके आचारणसे प्राणी अपने आपमें अमृतका पान करते रहते हैं। योगीश्वरोंके संसर्गसे भक्तजन अमृत तत्त्वका पान करते रहते हैं। जैसे सूर्य तीव्र किरणोंके समूहको नष्ट कर देता है इसी प्रकार यह तत्त्वज्ञानी योगीश्वर मजबूत श्रद्धा सहित तत्त्वज्ञानकी किरणोंसे मोहरूपी समस्त अधकारको नष्ट कर देते हैं। जैसे पृथ्वी समस्त बोझको धारण किए हुए है फिर भी धीर गम्भीर है। इसीसे इसका नाम भी क्षमा है। क्षमा नाम पृथ्वीका भी है। तो जैसे यह पृथ्वी अनेक बोझ लादनेपर भी क्षमाशील है इसी ही प्रकार ये योगीश्वर अनेकके उपद्रव और प्रतिकूल व्यवहारके होने पर भी वे अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होते। समतापरिणामकी अतुल महिमा है। सुख शान्तिके लिए और किसी की जरूरत नहीं है। स्वय तत्त्वज्ञान उत्पन्न करें और अपनेको रागद्वेष रहित समतापरिणाममें लगा हुआ बनायें, रागद्वेष छोडनेसे ही अपना भला होगा, रागद्वेषसे भला न होगा। जिन्दगी गुजर रही है, रागद्वेष करते जा रहे हैं। जिन्दगी गुजर चुकती है पर यह जीव उस रागद्वेष के संस्कारके कारण आगेके समयमें भी वह दुःखका बोझ उठा लेता है। समतापरिणामका बहुत अधिक महत्त्व है। उसमें ही समस्त चमत्कार बसे हुए हैं। हमको ही इस ओर यत्न करना करना चाहिए कि हमारी कषायें शान्त हों और समता-अमृतका पान करके निराकुल बने रहें।

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं,
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजाङ्गम्।
वैराण्या जन्मजातान्यपि गलितमेदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति,
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुष योगिन क्षीणमोहम् ॥११६५॥

आत्माका हित समतापरिणाममें है। मोह राग द्वेषका विकार न जगे उस समय, जो ज्ञानकी विशुद्ध वृत्ति बनती है, केवल ज्ञाता द्रष्टा रहता है यह स्थिति हितपूर्ण है और शेष जितने भी जमघट हैं, समागम हैं, पोजीशन है, वैभव है ये सब यद्यपि गृहस्थीमे चाहिए, मगर आत्माके हितके लिए कोई सारभूत झमेला नहीं है। हॉं इतनी बात अवश्य है कि गृहस्थीमे भी एक धर्म है, साधु भी एक धर्म है। साधु धर्म साक्षात् मोक्षमार्ग है और गृहस्थ धर्म परम्पर्या मोक्षमार्ग है। साधु प्रशसाके योग्य है, किन्तु गृहस्थ भी अपने नियमसे सदाचारसे, धर्मानुरागसे रहे तो वह भी प्रशसाके योग्य है। जिस गृहस्थको हिंसाके बचावका ख्याल हो, झूठ न बोले, सत्यताका बर्ताव करे, किसी चीज की चोरी न करे, परस्त्री सेवन भी न करे, संसार की समस्त स्त्रियोको मा, बहिन, पुत्रीके समान निरखे, और प्राय. ऐसा होता है। जब गृहस्थके स्वस्त्री है तो उसका चित्त स्वस्त्रीमे ही तृप्त हो जाता है तत्त्वज्ञानी गृहस्थका। फिर उसे परस्त्रीकी वाञ्छा नहीं रहती है और परिग्रहमें भी तृष्णाभाव न जगे। ऐसा अपना निर्णय बनायें कि भाग्यानुसार जो कुछ आय होती है तो यह कर्तव्य है कि उसमे हो विभाग बना लेना कि हम इतना धर्ममे, इतना पालन पोषणमें, इतना और कार्योंमे खर्च करें, इस प्रकारके विभाग बनाकर गुजारा करे, उसमें ही तृप्त रहे और अपना जीवन प्रभुभक्तिके लिए, साधुसेवाके लिए और आत्माके ज्ञान ध्यानके लिए समझे, ऐसी वृत्ति जिस गृहस्थके है वह गृहस्थ भी प्रशसाके योग्य है, ऐसे गृहस्थकी भी देवता पूजा करते हैं। तो जितनी भी शान्ति मिलती है समतापरिणामसे मिलती है। बड़े होकर छोटे लोगोंपर क्षमा करदें, जितनी कुछ अपनी हानि सह सकते हैं उतनी सह लें और दूसरोंको क्षमा करदें, कोई इस वृत्तिसे रहता है तो उस धनिककी शान्ति देख लो कितनी है, और जो पैसे-पैसे पर जान दे देता है और कड़ा बर्ताव रखता है इसके चित्तमे देखिये कितनी अशान्ति रहती है ? तो वह गृहस्थ भी प्रशसाके योग्य है जो ज्ञानी है, धीर है, उदार है, समताकी झलक उसमें भी आयी है तो शान्ति समतासे प्राप्त होती है। उस समताका क्या प्रभाव है ? स्वयपर तो यह प्रभाव है कि शान्ति रहा करती है। दूसरे जीवोंपर क्या प्रभाव होता—सो आचार्य कहते हैं कि उन योगीश्वरोंके चरणों के निकट हिरणी सिंहके बच्चेसे खेलती है। उनका जो जन्मजात बैर परस्परमें था वह समाप्त हो जाता है। जिस पुरुषके निकट जाये उस प्रकारका कुछ न कुछ प्रभाव निकट जाने वालेपर पड़ता है। जहॉं समताके पुञ्ज योगीश्वर अपनी अपनी शान्तमुद्रामे विराज रहे हैं तो उनकी शकल निरखकर ये क्रूर जीव भी अपने क्रूर भाव छोड देते हैं। ये जीव भी समझते है। किसी कुत्तेको ललकारें या जरा तेज आखें निकालकर ही देखें, मुखसे भी न बोलें तो वह कुत्ता गुर्राने लगता है। तो उसमें समझ है या नहीं ? और कोई अपनी ठीक शान्त मुद्रासे रहे, अपने कामसे काम समझता हुआ निकल जाय तो कुत्ता भी उसपर उपद्रव नहीं करता। वह भी जानता है कि यह मुझपर कषाय कर रहा है।

देखो दूसरेकी कषाय दूसरेको सुहाती नहीं है। अज्ञानियोंकी बात कह रहे हैं। खुदके क्रोध, मान, माया, लोभ आदि तो खूब सुहा रहे है पर दूसरेके नहीं सुहाते हैं। जो खुद लोभ कर रहा है उसे वह लोभ बडा प्यारा लग रहा है और दूसरा पुरुष लोभी हो, अधिक लालच करे तो वह सहन नहीं होता, और कोई क्षमाशील हो, बड़ा नम्र सरल हो, निष्कपट हो, लोभ लालच भी न हो तो ऐसा पुरुष साधारण जनोंको भी सुहा जाता है। तो वनमे ऐसे योगीश्वर विराजे है जिनके रागद्वेष रच नहीं है, अपने एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्माकी उपासनामे लग रहे हैं ऐसी विशुद्ध मुद्रा वाले साधुके समीप सिंह हिरण वगैरह भी अपना वैर छोड दें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। वे योगीश्वर जिनका कि मोह क्षीण हो गया है, कषाय मल जिनका धुल गया है ऐसा समतापरिणाममें लगे हुए योगीश्वरोंके निकट हिरणी तो सिंहके बच्चेको अपने बच्चेकी तरह स्पर्श करता है और गाय व्याघ्रके बच्चेको अपना पुत्र समझकर उसे दुग्ध-पान करा लेती है। यहॉं मदिरमे ऐसे चित्र भी बने हुए है कि एक बड़े बर्तनमे सिंहनी और गाय दोनों पानी पी रहे

हैं। सिंहनीका बच्चा गायका दुग्ध चूस रहा है और गायका बछडा सिंहनीका दूध चूस रहा है। तो ऐसी स्थिति उन योगीश्वरोंके निकट बन जाती है जो रागद्वेषसे दूर हैं. जो साम्य भावमे लीन रहते हैं, उन योगीश्वरोंके समताका इतना बड़ा प्रभाव है। ये जानवर अपनी प्राकृतिक क्रूरता भी तज देते हैं। बिलाव पक्षियोंका दुश्मन है लेकिन उन योगीश्वरोके चरणोंके निकट बिलाव भी कोई बैठा हो तो वह हंसके बच्चेके स्नेहके वश होकर उसके साथ खेलता है। और मयूरनी भुजंगका स्पर्श करती है। सर्पका और मोर का भी वैर है। जहाँ मोर बोला करते हैं वहाँ सर्प बाहर नहीं फिरा करते हैं। वे डरके कारण बिलोंमें ही घुसे रहते हैं, लेकिन योगीश्वरोंके चरणोंके निकट बिलाव भी हंसके बालकसे स्नेह करते हैं। ये सब क्रूर जानवर योगीश्वरोंके चरणोंके निकट आकर अपने मदको दूर कर देते हैं और क्रूरता, वैर भाव, दुश्मनी ये सब उनके नष्ट हो जाते हैं। योगीश्वरोंकी समताका इतना उच्च प्रभाव है।

> एकः पूजा रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः,
> क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः।
> तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी,
> साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥११६६॥

जिन मुनियोंकी ऐसी वृत्ति है कि चाहे कोई उनकी पूजा रच रहा हो चाहे कोई क्रुद्ध होकर कंठ में सर्प डाल रहा हो लेकिन उन योगीश्वरोंके दोनोंके प्रति समताका व्यवहार रहता है। यह सब ज्ञानका प्रताप है। कषाय करनेसे क्लेश ही उत्पन्न होता है। कषायका अर्थ ही यह है जो आत्माको कसे अर्थात् दुःख दे। जिसके मोह अज्ञान नहीं रहा, इस देहको भी अपना स्वरूप नहीं समझता, जिसका यह दृढ निर्णय है कि इस देहसे भी न्यारा चैतन्यस्वरूप मैं आत्मा हूँ, इस मुझ आत्माको न कोई छेद सकता, न भेद सकता, न जला सकता। मानो कोई इस शरीरको छेद भेद भी रहा है, प्राण भी ले रहा है तो ज्ञानी पुरुष यह समझता है कि इसमे तो मेरा कोई बिगाड़ नहीं हो रहा। अरे मेरा यह आत्मा यहाँ न रहा, न सही। किसी और जगह पहुंच गया तो इससे मेरा क्या बिगाड ? मरण समयमें कष्ट तो उन्हें होता है जिनको यहाँके समागमोंमें ममता है और उनको मरण समयमें कष्ट नहीं होता जिन्हें यहाँके समागमोंमें ममता नहीं है। मरण समयकी बात तो जाने दो, जिस पदार्थमें भी ममता है उसके नष्ट हो जानेपर, घाटा हो जाने पर अथवा कुछ बिगाड हो जानेपर ये जीव बडा क्लेश मचाते हैं और मरण समयमे यह विकल्प बना रहता है कि लो साराका सारा यह वैभव, मकान, परिजन सभी एक साथ छूटे जा रहे हैं, इस बातका बडा क्लेश होता है। और योगीश्वरोंको न इस शरीरसे ममता है, न यहाँ के किसी अन्य साधनोंसे ममता है, न उन्हें अपने भक्तोंसे ममता है, जिनका केवल आत्मस्वरूपकी साधनामे ही उपयोग रमता है ऐसे पुरुषोंको मरणके समय मे कोई कष्ट नहीं है। जिसको जिस जगहसे ममता नहीं है उसे यदि कोई उस जगहसे हटा दे तो वह तुरन्त वहाँ से चला जाता है, उस जगहपर ठहरनेके लिए वह विवाद नहीं करता। तो चूंकि साधुजनोंके ममता और अहंकार नहीं रहा इस कारण ऐसी समता प्रकट हुई है कि कोई पुरुष तो उनकी पूजा कर रहा है और कोई पुरुष क्रुद्ध होकर उनको मारपीट रहा है, फिर भी दोनोंमे जिनकी समान वृत्ति रहती है ऐसे योगीश्वर कहा रहते है, कहाँ विचरते हैं ? समताके बगीचेमे। जहाँ उत्कृष्ट ज्ञानका अवकाश दिया है अथवा उत्कृष्ट ज्ञान जहाँ प्रकट हुआ है ऐसे समताके उपवनमे उनका निवास है और विहार है, ऐसे समताके जो धनी हैं वे ही पुरुष उत्कृष्ट आत्मध्यान करते हैं जिसके प्रसादसे उन्हें मुक्तिकी प्राप्ति होती है। गृहस्थ भी वास्तवमे सही वही है जिसके चित्तमें यह बात बसी रहती हो कि हे नाथ ! परम इष्ट तो साधु मार्ग है। मैं कब साधुता ग्रहण करलूं ऐसी तीव्र वाञ्छा रहती हो उसका नाम है गृहस्थ, श्रावक, उपासक। चाहता वह

ऐसा नहीं है कि मैं इस ही भवमें मुनि हो जाऊंगा। कुछ समझ रहा है कि आजकलका समय बडा कठिन लग रहा, शरीरका संहनन भी बडा कमजोर मालूम पड़ता और उसकी उम्मीद में नहीं है कि मैं अपनी इस जिन्दगीमें साधु बन सकूंगा, फिर भी भीतरमें लालसा यह लगी है कि ये सब विकल्प विडम्बनाएं, चिन्ताएं और दूसरोंके श्रम सब बेकार बातें हैं। मेरी स्थिति तो साधुताकी बने, निर्ग्रन्थ दिगम्बरकी बने, कपड़ोंकी भी चिन्ता नहीं, केवल आत्माकी ही उपासनामें निरन्तर रहा करूं ऐसी मनमें इच्छा सद्गृहस्थके रहा ही करती है। न हो सके इस भवमें तो अच्छा है, अरे अगले भवमें होवेगा, पर उद्धार होगा तो इस ही मार्ग से होगा, ऐसा सद्गृहस्थके दृढ निर्णय रहा करता है। वे योगीश्वर कैसा समताके पुञ्ज हैं कि कोई तो उनकी पूजा रच रहा है और कोई बसूलासे चमडी छील रहा है, फिर भी दोनोंमें समान बुद्धि रहती है। अंदाज कर लीजिए कि कितनी उत्कृष्ट उनके समता है।

नोऽरण्यान्नगरं न मित्रमहिताल्लोष्टान्न जाम्बूनदं,
न स्रग्दाम भुजङ्गमान्न दृषदस्तल्पं शशाङ्कोज्ज्वलम्।
यस्यान्तकरणे विभर्ति कलया नोत्कृष्टतामीषद-
प्यार्यास्तं परमोपशान्तपदवीमारूढमाचक्षते ॥११६७॥

जिस योगीके मनमें वनसे नगर, शत्रुसे मित्र, पत्थरसे स्वर्ण, रस्सी या सर्पसे पुष्पमाल, पाषाण शिलासे चन्द्र समान उज्ज्वल शय्या आदिक पदार्थ अंतःकरणमें किञ्चित मात्र भी भले, उत्कृष्ट, बड़े नहीं दिखते उस ही मुनिको सत् पुरुष यह कहते हैं कि यह मुनि उपशान्त पदवीको प्राप्त हुआ है। लो वनसे नगर में आरामकी चीजें हैं। वनमें तो कष्ट है, कहाँ बैठना, उठना, सोना, कितना भयानक जंगल है, इसमें क्रूर जंतु रहते हैं। नगर बड़े आरामकी जगह है, ठंड गर्मीका बचाव है, सारे साधन निकट हैं यों जिनके मनमें नहीं आता और वनसे नगरको उत्कृष्ट नहीं मानते, दोनोंको एक प्रकार समान समझते हैं और कदाचित नगरसे वनको अच्छा समझते हैं ऐसे ही मुनि उपशान्त भावको प्राप्त होते हैं। देखिये जीवपर सबसे बड़ी विपदा है विकल्पोंकी, आत्महितके मंचपर यह बात कही जा रही है। इस समय यह कुछ ध्यान न देना कि वाह परिवारका खर्च कैसे चलेगा, उसकी बात नहीं कही जा रही, यह तो आत्महितका जो एक मार्ग है उसकी बात कही जा रही है। उसे गृहस्थ थोडा धारण कर पाते, योगी पूर्ण धारण कर पाते, और फिर यह भी एक निर्णय है कि गृहस्थीका पालन कोई एक पुरुष नहीं कर रहा, बल्कि कमाने वालेसे अधिक पुण्य घरके उन लोगोंका है जो बैठे रहते, मौज करते और काम वालेसे ज्यादा भोगोपभोग भोगते हैं। कमाने वाला कहां शानसे रह पाता, सादा खाना, सादा रहना, सादे कपड़े पहिनना, यही रहता है, खुदको ढंगसे नहीं रख सकते। जब व्यापार आदिकमें लग रहे हैं तो वहीं जो कुछ मिल गया खा लिया, कमाने वाला शौक शानसे कहाँ रहता है? और जो घरके लोग स्त्री पुत्र वगैरह हैं वे कितना शानसे मौजसे रहते हैं। अब जरा यह बतावो कि उस कमाने वालेका पुण्य अच्छा है या घरमें रहने वालोंका पुण्य अच्छा है? पुण्य तो घरमें रहने वाले उन चार जीवोंका ही अच्छा है जिन्हें कमाना नहीं पडता, श्रम नहीं करना पडता। यह एक दिल पलटनेके लिए बात कही जा रही है। यथार्थ क्या है इसको कोई तराजूसे तौलकर नहीं कहा जा रहा है, पर जो मोटे रूपसे देखनेमें बात आयी वह कही जा रही है। ऐसा जानकर मैं किसीका पालना पोषता हूँ इस अहंकारको छोड़ देना चाहिए। केवल इस शिक्षाके लिए बात कहा है। हम किसीको कमाकर खिलाते हैं ऐसा कहना सही नहीं है। इसे यों बोलिये कि जिनके कामसे यह व्यवस्था आ रही है उनके पुण्यके उदयसे कमाईमें मैं निमित्त बन रहा हूँ। कर्तृत्व बुद्धिकी भाषामें आप अपनेको न निरखिये। ये मुनिजन वनसे नगरको उत्कृष्ट नहीं मानते, शत्रुसे मित्र को उत्कृष्ट नहीं मानते, अर्थात् दोनों ही पर समान जीव हैं ऐसा निरखते हैं। दोनोंके ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं। यह

बात गृहस्थीमें होना तो जरा बहुत मुश्किल है, पर जो केवल आत्मकल्याणपर ही तुल गया है वह तो वही कार्य करेगा जिससे आत्महित हो, कल्याणमें बाधा न आये, और वह उपाय है समताका। वह शत्रु और मित्रको एक समान समझता है। पत्थर पड़ा है और स्वर्ण पडा है, पत्थरसे स्वर्णको उत्कृष्ट नहीं मानते। देखिये आशयकी बात है—चाहे यह जान रहा है वह कि यह डला तो एक दो आनेका है और यह डला लाख रुपयेका है, है तो है मगर खुदके लिए तो दोनों एक समान हैं। लोहेसे स्वर्णकी उत्कृष्टता नहीं देता। ऐसे योगीश्वर परम शान्त दशाको प्राप्त होते हैं। रस्सी या सर्प है और एक ओर फूलोंकी माला है तो रस्सी से फूल मालामें उत्कृष्टता न देंगे। दोनों ही पदार्थ हैं, यह भी है, रस्सी भी है, सर्प भी है। जिनको केवल आत्महितकी धुन लग गयी उनको इन बाह्य बातोंमे यह उत्कृष्ट है ऐसा ख्याल नहीं जगता है, उसके लिए तो सब समान हैं। जिन्होंने बाह्य वस्तुवोंसे अपना हित नहीं माना, लगाव तोड दिया उसके लिए तो वे सब बराबर हैं। पाषाणशिला और एक शय्यामें उनके लिए कोई भेद नहीं है। पाषाणशिलाके आगे वे कोमल शय्याकी उत्कृष्टता नहीं मानते। अच्छा यह तो मुनियोंकी बात है। जब कभी गृहस्थको कोई बडी ठोकर लगती है जिससे फिर संसारमें उसे और कुछ नहीं सूझता है उस तकको भी पलंग और शय्या नहीं रुचते हैं। पड़ा रहता है जमीन पर, जमीनसे शय्याको वह उत्कृष्ट नहीं मानता, क्योंकि उसके चित्तमें एक बहुत बडी चोट लगी है, उसी ओर ख्याल है, शरीरके आरामके साधनोंपर दृष्टि नहीं है। जब यहाँ तक मूढ पुरुषकी बात बन जाती तो भला जो एक सहज ज्ञायक स्वरूप है, जो आत्मतत्त्वकी धुनमें है उसे तो परमार्थ पंथ दिखता है, वह यह भाव न करेगा कि शय्या अच्छी है और पाषाणशिला जघन्य है। तो जिसका चित्त इन बाह्य वस्तुवोंसे मुग्ध नहीं होता ऐसे योगीश्वर ही परमशान्त दशाको प्राप्त होते हैं। उनके उत्कृष्ट ध्यान जगता है जिसके प्रतापसे सदाके लिए संकटोंका विनाश कर लेता है।

सौधोत्सङ्गे श्मशाने स्तुतिशयनविधौ कर्दमे कुङ्कुमे वा,
पल्यङ्के कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु।
शीर्णाङ्गे दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासम्॥११६८॥

जिन योगियोंका मन लोकव्यवहारियों द्वारा माने गए इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंमें विकल्पित नहीं होता वे ही योगीश्वर समताकी लीलाके विलासका अनुभव करते हैं। इस समतापरिणामकी वृत्ति की लीला का वे ही आनन्द पाते हैं जिन योगियोंका मन शिखरमें श्मशानमें और बड़े-बड़े महलोंमें और मरघटमे यह विकल्प नहीं मचाते कि हमें महलमें इष्ट है और मरघटमें अनिष्ट है। जिसके जिस बातकी लगन होती है उसे तो वह चाहिए। योगीको आत्माके स्वरूपके दर्शन करनेकी और उस ही ज्ञानमें मग्न होनेका आनन्द लूटनेकी धुन लगी है। वह बात जिनके नहीं प्रकट हुई उनका कैसे चित्त लगेगा? यदि विकल्प उठे तो श्मशानकी उत्कृष्टता देंगे, महलकी उत्कृष्टता न देंगे और फिर ऊँची बात तो यह है कि महल और श्मशानमें दोनोंमें समता रहे। जिस पुरुषके दोनोंमें समता रह सकती है, उसकी परख यह है कि वह रहा करे मरघटमें, जगलमें, एकान्तमें, यों कहनेसे बात नहीं बनती। शास्त्रमें तो कुछ दुहाई देते कि योगीश्वरोंको क्या है, महल और जगल एक समान है। महलमें रहें तो क्या, जगलमें रहें तो क्या? हम महलोंमें रह रहे हैं तो समान दृष्टि करके रह रहे हैं यह बात जमती नहीं है। ऐसे समतापरिणाम वालोंकी वृत्ति एकाकी बनमें, श्मशानमें ऐसे-ऐसे स्थानोंमें रहनेकी है। कदाचित् रहना भी पड़े नगरोंमे भी तो जहाँ तक सम्भव है कुछ ध्यान योग्य, धार्मिक वातावरण योग्य कोई एकान्त स्थानका बने तो वहाँ भी रहते हैं किन्तु उनका चित्त सन्तुष्ट नहीं होता। जिनको ज्ञानस्वरूपके अनुभवनमें लालसा

है, ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको जानता रहे बस यही तो अनुभवकी स्थिति है। ऐसी स्थिति की जिन्हें धुन है उन पुरुषोंका मन निर्जन स्थानमें लग पाता है। खैर रहें वे मरघटमें, जंगलमें तब भी कहा जायगा कि उनकी दोनोंमें समान बुद्धि है। लौकिक जन महलोंको शिखर पसन्द करते हैं उनके मुकाबलेमें कुछ समताकी बात कही जायगी, और कदाचित् यह भी कह दें कि उनको महल अनिष्ट हैं और श्मशान, जंगल, वन ये इष्ट हैं और इससे ऊँची स्थिति बननेपर उनके श्मशान, वनको सुध नहीं रहती है। ऐसी निर्विकल्प स्थिति बनती है, एक समता यह दीजिए तो बात बहुत उपयुक्त है।

जिस योगीका चित्त निज सहज शुद्ध ज्ञायकस्वभावके अनुभवनका उमड़ा है वह स्तुतिमें और निन्दामें अपने मनको विकल्पित नहीं करता। कितना विशिष्ट आत्मबल है कि कोई निन्दा भी कर रहा है किन्तु वह अपने विशुद्ध ज्ञानस्वरूपको निरख रहा है इसके निकट ही रहकर रम रहा है- और उसके लिए यह बात स्पष्ट है। जैसे कहीं बाहरके दृश्य देख रहे हैं—वह देखो अमुक पहाड़से, अमुक जगहसे नदी निकली, अमुक जगह वह नदी गिरी तो इस बातके जाननेमें क्या विकल्प ? ऐसे ही ज्ञानी पुरुषोंको कोई उनकी निन्दा करे अथवा प्रशंसा करे तो उससे उनको क्या विकल्प ? निन्दक और प्रशंसक दोनों ही उनकी दृष्टिमें समान हैं। न निन्दा करने वालेपर विरोधका भाव लाते हैं और न प्रशंसा करने वालेपर स्नेहका भाव लाते हैं, ऐसा ही योगियोंके समतापरिणामका जो विशुद्ध फल है, आत्मीय आनन्द है ऐसे अमृतका पान किया करते हैं। ये योगीश्वर कीचड़में और केसरमें समान बुद्धि रखते हैं। लोग मानते हैं ना कि केसर कीमती चीज है और बड़े-बड़े उपचारोंमें काम आती है और केसर भी तो एक तरहका कीचड़सा बन जाता है। उसे पानीमें घोले इसलिए केसरके साथ मुकाबलेमें कीचड रख दिया। उनकी केसर और कीचड़में समान बुद्धि रहती है। समतापरिणामके अभ्यासी योगीश्वर शय्या और कांटेके अग्रभागकी कटीली जमीनमें अथवा कांटायुक्त पृथ्वीमें समानता बर्तते हैं। जब तक मूल बात समझमें न आयगी तब तक यह विश्वास न हो पायगा कि उन योगीश्वरोंको शय्या और जमीन या जो जो और बातें अभी कही गई हैं उनमें समता परिणाम रहता है।

जैसे बध्या स्त्री प्रसव करने वाली स्त्रीका क्या ज्ञान कर सकती है ? वह तो यों ही समझती होगी कि यह ढलता रही है। जो तकलीफ प्रसवके समयमें मिलती है उसको बध्या स्त्री क्या अनुभव कर सकती है ? ऐसे ही मोहीजन जिनकी जगतके समागमोंमें इष्ट अनिष्टकी बुद्धि लग रही है वे ज्ञानीकी इस अन्तरवृत्तिको क्या समझ सकें कि उनको श्मशान और महल एक समान नजर आते हैं ? अंदाजा करने वाले की उसके अनुरूप कुछ परख हो, कुछ ज्ञानदृष्टि हो तो बड़ेकी वृत्तिका भी अंदाजा कर सकते हैं, पर मोहमें तद्विषयक ज्ञान रंच भी नहीं होता और न वैराग्यकी जरासी उमंग भी होती। तो ज्ञानियोंकी चर्याका वह अंदाजा नहीं कर सकता। ये योगीश्वर पत्थरमें और चन्द्रकान्तमणिमें लोह और रत्नमें समतापरिणाम रखते हैं। विकल्पोंमें स्पर्शित नहीं हैं। चित्त उनका विकल्पित नहीं होता। उन्हें रत्नकी वाञ्छा हो तो विकल्प हों। कुछ चाहिए ही नहीं उन्हें। केवल एक ही अभिलाषा है। मेरा यह ज्ञानस्वरूप प्रभु मेरी दृष्टिमें अधिकाधिक रहा करे। उसी चाह है उसके अनुकूल ही चेष्टा होगी। अब अंदाजा कर लीजिए चक्रवर्ती ६ खण्डके वैभवका स्वामी और किसे कहा जाय ? चक्रवर्तीका वैभव तो भौतिकताकी दृष्टिमें बड़ा है और तीर्थंकरका वैभव इनसे दृष्टिमें बड़ा है, इनके वैभवसे बढ़कर किसका बताया जाय पर ये चक्री और तीर्थंकर भी इस वैभवमें मुग्ध नहीं रहे। इसे त्यागकर एक विशुद्ध ज्ञायक स्वभावके ध्यानमें उन्हें रुचि हुई। तब आप समझेंगे कि इस स्वाधीन निज सहज स्वभावके अनुभवकी कीमत कितनी है ? तीन लोककी सारी सम्पदा से भी बढ़कर उसके समक्ष कुछ है ही नहीं दुनियामें। इतना महान वैभव है ज्ञानानुभूति का।

जिसे उमंग है वह रत्नको क्या रत्न समझेगा ? वह यो यही समझेगा कि यह रत्न भी उन रूप, रस, गध, स्पर्श आदिके पाषाणोंकी तरह है। ऐसे समतापरिणाम वाले योगीश्वर ही आत्मीय सत्य आनन्दामृतका पान करते हैं। ये योगीश्वर चर्ममें और चीन देशके बने रेशममें तथा अनेक प्रकारके और और आवरणोंम किसी भी प्रकारका विकल्प नहीं किया करते हैं। इसीसे उनके किसीको भी ग्रहण करनेका भाव नहीं है, फिर भी मुक्तावलेकी दो चार चीजें बताकर समताकी बात कही जा रही है। इन योगीश्वरोंके चित्तमे क्षीण शरीर उनमें, सुन्दर स्त्री आदिकका रूप इनमें भी मन विकल्पित नहीं होता है। देखिये दृष्टिके अनुसार वासना वृत्तिया चलती हैं। जिसको निज शुद्ध ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें उमग जगी है उसे इसके अतिरिक्त जो ये सब कुछ विषय साधन हों अथवा रूप हों ये सब नि'सार जचते हैं। जैसे जब चित्त नहीं रहता है घ.के किसी पुरुषमें तो उसका आकार फिर सरस नहीं जचता, क्योंकि खुदमे उससे राग हटा हुआ है ना, ऐसे ही इन योगीश्वरोंको अपने ज्ञानानुभवमे उमग है अतएव ये सब शरीर अपवित्र असार धोखा भरे जचते हैं। तो उन योगीश्वरोंके क्षीण शरीरमे जिनके न रूप रहा, न मुद्रा रही और जो हृष्ट-पुष्ट सुन्दर शरीर हैं उनमें मन विकल्पोंसे स्पर्शित नहीं होता। *ऐसे प्रवीण मुनि समतापरिणाममें लीलाके विनाशका अनुभव करते हैं।* देखिये जो बात इन योगीश्वरोंके लिए कही जा रही है उनके आचरण पूर्ण अथवा अधिकाधिक आ रही है। लेकिन वे सब बातें ज्ञानी सद्गृहस्थके भी किसी अश तक आना चाहिए और प्रतीतिमे, श्रद्धामें तो इतनी ही दृढ़ता होनी चाहिए जितनी कि योगिराजोंको है। कल्याणका मार्ग एक ही प्रकारका है और वह यही है **परसे विमुख होना और अपने आत्मामें उन्मुख होना।** ऐसे योगीश्वर अतुल्य शान्ति प्राप्त करते हैं और समतापरिणामकी लीलाका विलास किया करते हैं।

चलत्यचलमालेयं कदाचिद्दैवयोगतः।
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुनेः साम्यप्रतिष्ठितम् ॥११६९॥

कदाचित् दैवयोगसे चलित हो जाय, पर मुनिका समतापरिणामसे भरा हुआ मन उपसर्गोंसे भी चलित नहीं होता। आदिनाथ स्तवनमें कहा है कि हे नाथ ! यदि आपका मन देवोंकी देवियोंसे भी चलायमान नहीं होता तो इसमें आश्चर्य क्या है ? हम तो यह भी देखते हैं कि ये बड़े-बड़े पवत मेरु आदिक कितनी ही प्रलयकाल जैसी वायु चले तो उससे भी हमने इनको चलायमान नहीं देखा तो आपका मन यदि उन देवागनाओंसे चलित नहीं होता तो इसमें आश्चर्य क्या है ? मोही जीवोंको अन्तरमे ऐसा ही अज्ञान और मोहका भाव बना होता है जिससे प्रेरित होकर अविवेकी बनकर केवल दिखने मात्रका सुन्दर शरीर, किन्तु नीचेसे ऊपर तक राध, रुधिर, मल, हड्डी, खून, चर्म, पसीना इन सबसे अपवित्र रहता है और सारका इसमें कहीं नाम भी नहीं। ऐसा असार शरीर भी मोही जनोंको मोहमे अज्ञानवश इष्ट जचा करता है। ज्ञानीको तो वह प्रसग एक आफतसा जचता और एकदम सीधासा असार दीखता रहता है तो इतना मन दृढ रहता है जिसको तत्त्वज्ञानका बहुत-बहुत अभ्यास बढ गया है कि कदाचित् भी उपसर्गोंसे भी मन चलित नहीं होता। श्रद्धा उनकी नहीं बदलती और परमें विषयसाधनमे उनका आकषण नहीं बनता। चाहे ये पर्वत चलित हो जाय, टूट जायें पर योगीका मन उपसर्गोंसे चलित नहीं हो सकता। समतापरिणामकी महिमा कही जा रही है। ध्यानका एक मात्र साधन साम्यभाव है और इससे ही ऐसा निर्विकल्प ध्यान बनता है कि कर्मोका क्षय होकर अनन्त आनन्दकी प्राप्ति इस ही उपायसे होता है।

उन्मत्तमथ विभ्रान्तं दिग्मूढं सुप्तमेव वा।
साम्यस्थस्य जगत्सर्वं योगिनः प्रतिभासेत ॥११७०॥

समतापरिणाममें स्थित मुनिको यह जगत ऐसा जचता है कि मानो यह जगत उन्मत्त है या

विक्रयरूप है या दिग्मूढ है अथवा रीता है। जिसने अपने आपमें समताका स्वभाव लिया हो, केवल ज्ञानमात्र तत्त्वका अनुभव किया है वह बाहरमे भी जीवोंको देखेगा तो उनमें भी यही निश्चल चित्स्वरूप नजर आयगा। पीछे कुछ सोचेगा तो यह बात आयगी क्या कि यह यह है, ऐसी पर्याय है, अमुकका अमुक है? जैसे ज्ञानके कम अभ्यासियोंको सबसे पहिले ये मायामय शरीर मुद्राय पर्यायें नजर आती हैं फिर कुछ तो चित्त चलायें, ज्ञानकी ओर ले जायें तो श्रमसे फिर उन सबका अंत. जो मर्म है, चैतन्य स्वरूप है उसकी दृष्टि जाती है। जैसे कोई पुरुष दोष देखनेकी आदत वाला है तो जिस किसीको भी वह देखेगा तो वह उसमें दोष ही पायगा और पीछे कोशिश करनेपर फिर गुणोंकी भी बात कुछ समझ सकेगा। और जिसे गुण देखने की आदत है वह दूसरेको देखकर सर्वप्रथम आनन्दसे सहज ही बिलाम्बपूर्वक गुण देखेगा, पीछे कोशिश करनेपर, श्रमसे विचार करनेपर फर दोष भी हों तो समझमें आयेंगे। ऐसे ही ज्ञानके कम अभ्यासी जनोंको जगतके इन जीवोंमें एकदम साफ तौरसे यह भाव ही नजर आयगा, यह मनुष्य है, पशु है, पक्षी है, अमुक जातिका है, अमुक जगहका है। पीछे कोशिश करनेपर फिर उनका जो वास्तविक मूल रूप है उसमें दृष्टि बड़े श्रमसे पहुच सकती है और अभ्यासी जनोंको विश्वके इन समस्त जीवोंमें सीधे ही एक चैतन्यस्वरूप दृष्टिमे आता है, पीछे फिर सोचनेपर पर्याव भेद ये सब भी ज्ञानमे आ सकते हैं। ज्ञानका ऐसा अभ्यासी पुरुष उसको यह जगत कैसा नजर आता है? उसकी बात इस छन्दमे कही जा रही है। समतापरिणाममें स्थित योगीको यों भासता है कि मानो यह जगत पागल है। तत्त्व तो कुछ है, आनन्द तो निकट है, आनन्द तो स्वरूप है, पर उस ओर दृष्टि नहीं दे रहा यह जीवलोक। और बाहर बाहर ही दृष्टि देकर अपने आपको पागल बनाये जा रहा है। निकट ही क्या? वहाँ दृष्टि न दे और बाहर ही बाहर उपभोग दृष्टि चलित हो रही है यों वह पागल दिखता है। इसीसे मिलाजुला यह भी दर्शन होता है उन जीवोंमें अथवा ये सब विकृतरूप है, अब कुछ थोड़ी सी इज्जत की है। जैसे किसी पुरुषके बारेमे यह कहें कि भाई इसका क्या अपराध है? इसको जरा भ्रम हो गया है तो भ्रमका नाम लेनेसे कुछ ऐसा नजर आता कि कुछ इसकी महिमा बढ़ायी है। बजाय पागल कहनेके विक्रय रूप कह दिया जाय तो कुछ इसकी इज्जत है अथवा यह दिशाभूल हो गयी है लेकिन कुछ इज्जत और बढ़ा दी है। विक्रयमें जितना भ्रान्तिका दोष है दिशाभूलमे उतना दोष नहीं माना जाता। लो थोड़ी और इज्जत बढा दी है। मानो यह विश्व सो रहा है लेकिन अचल चैतन्यस्वरूपमे दर्शनके मुकाबले ये सब विरुद्ध ही वृत्तिया बतायी जा रही हैं। ज्ञान और समताके अभ्यासी योगीको यह विश्व इस प्रकार भासता है, क्योंकि उनमें भी इसने अपने ही समान विशुद्ध चित्स्वभावका अवगम किया है।

वाचस्पतिरपि ब्रूते यद्यजस्रं समाहितः।
वक्तुं तथापि शक्नोति न हि साम्यस्य वैभवम् ॥११७१॥

समतापरिणामका कितना महत्त्व है? इस वैभवकी बातको यदि वाचस्पति भी कहना चाहे तो कह नहीं सकता। वाचस्पतिका अर्थ है वचनोंका मानना। जिसका वचनोंपर पूर्ण अधिकार है ऐसा वाचस्पति महेन्द्र अथवा अन्य अन्य महापुरुष ऋषि योगीश्वर भी समतापरिणामके वैभवको वचनोंसे नहीं कह सकता। उसका अनुभव चाहे करलें योगीजन पर उसको बता नहीं सकते। जैसे अनेक पकवान मिठाई होती हैं, उन्हें आप खाकर अनुभव तो कर लेंगे कि इसमें कैसा स्वाद है, क्या रस है, पर आपसे पूछें कि बतावो तो सही कि कैसा स्वाद है तो आप बता न सकेंगे। अच्छा इतना तो पता ही है कि अरहरकी दाल और मूंग की दालके स्वादमें अन्तर है। पर आप उनके स्वादको वचनोंसे नहीं बता सकते। तो जब आप छोटी-छोटी बातोंका अनुभव भी वचनोंसे नहीं बता सकते तो समताके अनुभवकी बात तो दूर रही। इस ही समतापरिणामके अनुभवसे योगीजन ससारके संकटोंका, कर्मोंका छेदन करते हैं। इससे ही विशुद्ध ध्यान बनता है और ध्यानके प्रतापसे सदाके लिए यह अनन्त आनन्दमय बन जाता है। जो आनन्द निज ब्रह्म-

स्वरूपके दर्शनमें है वह आनन्द विषय साधनोंमें नहीं है। परसे स्नेह करके परके आधीन बन करके कोई आनन्द पा सकता है क्या ? केवल कल्पनाकी मौज है। दुःखमयी जिन्दगीसे जीते जाये वह क्या जिन्दगी है ? किसी भी समय ऐसा तो अपने आत्मस्वरूपका ध्यान होना चाहिए कि यहाँ कोई दुःख नहीं है, कोई चिन्ता नहीं है। चाहे बाहरमे कुछ भी गुजरो। जहाँ ऐसा तत्त्वज्ञान जगा है वहाँ ऐसा समताभाव प्रकट होता है जिसके अनुभवसे वह अनन्त आनन्दका अनुभव कर लेगा, पर वचनोंसे कोई कह नहीं सकता।

दुष्प्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया,
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोदिता देहिनः।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मानलं,
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि ॥११७२॥

कहते हैं कि ऐसे प्राणी तो घर-घर मिलेंगे जो अज्ञानके बलसे, वस्तुके स्वरूपके सम्बधमे कुछ भी नहीं जानते हैं। ऐसे जीव तो घर-घर हैं जो अज्ञानसे ग्रस्त हैं, वस्तुस्वरूपका जिन्हें कुछ भान नहीं है। ज्ञानविज्ञानसे सूने हैं, अपने-अपने स्वार्थमें लगे हुए हैं, जिनको जो विषयसाधन इष्ट हुआ वे उस ही साधन मे लगे हुए हैं ऐसे प्राणी घर-घरमें मौजूद हैं, किन्तु ऐसे प्राणी क्वचित् दो तीन ही मिलेंगे जो आनन्दरूपी अमृतके कणोंसे इस जन्मरूपी अग्निको बुझा देते हैं और मोक्षमार्गमें बढते जाते हैं। जो समताके अधिकारी हैं, किसी भी अन्य पदार्थमें मोह भाव नहीं लाते हैं ऐसे पुरुष विरले ही मिलेंगे। यों समतापरिणामके प्रकरणमें समताका वर्णन किया। अब इसके बादमे अगले प्रकरणमे ध्यानका वर्णन करते हैं।

साम्यश्रीर्नातिनिःशङ्कं सतामपि हृदि स्थितिम्।
धत्ते सुनिश्चलध्यानसुधासम्बन्धवर्जिते ॥११७३॥

सत पुरुषोंका हृदय यदि भली प्रकार निश्चल ध्यानरूपी अमृतके सम्बधसे रहित हो तो उनमें समतारूपी लक्ष्मी निशंकतासे अपनी स्थिति नहीं बना सकती। कितना ही उदारचित्त हो, अनेक गुण हों फिर भी जिनके चित्तमे ध्यान साधनाकी बात नहीं है उनको समता नहीं जग सकती है। देखिये समताके अभ्यासके लिए जहा और और अनेक उपाय करते हैं वहाँ एक यह भी उपाय करें अथवा जैसे जाप सामायिक में प्रभुभजन, जाप, स्तवन, तत्त्वचिन्तन आदि किया करते हैं वहाँ कुछ ऐसा भी यत्न करें कि लो हमें न कुछ अच्छा सोचना है, न कुछ बुरा सोचना है। ससारी प्राणियोंके बारेमें न तो सोचना है और न भगवान के बारेमें सोचना है। अपने मनको सोचनेकी ओरसे ऐसा शून्य बना दें उस कालमे जो सहज बात होना चाहिए, जिसमें कोई त्रुटि सम्भव नहीं है वह अनुभव जगेगा। कुछ जानबूझकर विकल्प मचाकर तत्त्वकी बात सोचनेमें त्रुटि हो सकती है। हम समझते हैं कि यह ठीक है, पर न भी हो ठीक ऐसा भी हो सकता है। प्रमाणके लिए सर्वत्र इतनी बात देखलें कि जो जो भी धर्मसाधनाका, सन्यासका, समाधिका आचरण करते हैं अथवा बतलाते हैं वे सभीके सभी बात ही बातमे हटाये जाते हैं। सभी अपने-अपने मजहबको ठीक समझकर उसीके गुण गाते हैं पर उसमें अपनी त्रुटि नहीं समझ पाते। जो पुरुष अपने मनको शान्त बनायेगा, अपने मनको रोके देगा, किसीका विचार न करेगा, ऐसे पुरुषके हृदयमे जो एक अनुभव होना, जो एक अन्तर्वृत्ति होगी, वह एक विलक्षण होगी। जान बूझकर विकल्प करके धमका वर्णन करगे तो वे सब भिन्न-भिन्न बातें हुईं। मनको शान्त करके कोई विकल्प न उठाकर अपने आपमें जो जानकारी बनती है सहज, उसका अनुभव होनेपर एक तो मार्ग दर्शन होता, आनन्दका उपाय यही है और समतापरिणाम भी उसके जागृत होता है इस ही स्थितिमे रहना सो कल्याणका मार्ग है। जहाँ इष्ट अनिष्ट कोई भी विकल्प नहीं

होते। तो यों चित्तको स्तब्ध करें, विषयोंमें जानेसे रोकें, किसी भी वस्तुका चिन्तन न करें तो अपने आप आत्मामें विशुद्ध ज्ञानज्योतिका अनुभव होता है।

यस्य ध्यानं सुनिष्कम्पं समत्वं तस्य निश्चलम्।
नानयोर्विद्ध्यधिष्ठानमन्योऽन्यं स्याद्विभेदतः ॥११७४॥

जिस पुरुषका ध्यान निश्चल है उसका साम्यभाव भी निश्चल है और ध्यानका व समताका परस्पर भेद नहीं है तो ध्यानका आधार सम्भाव है और समताका आधार ध्यान है। जहाँ समता है वहाँ ध्यान जगता है जहाँ ध्यान विशुद्ध होता है वहाँ सम्भाव प्रकट होता है। तो जिसके निश्चल ध्यान है उसके ही समताकी सिद्धि होती है। जैसा लोग सोचते हैं सुख शान्तिके लिए कि अमुक काम करलें, धन-सचय करलें, अपना नाम बना ले तो उससे सुख शान्ति मिलेगी, पर यह तो उनका केवल स्वप्न है। बजाय इसके ऐसी उत्सुकता जगना चाहिए कि मैं अपने आपमे कितनी अधिक समता प्रकट कर सकता हूँ? जितनी मुझमे समता बनेगी उतना ही आनन्द मिलेगा, विश्राम मिलेगा, संकटोंसे मुक्ति होगी। तो जैसे लौकिक जनोंको धनकी तृष्णा लगी हुई है ऐसे ही ज्ञानी जनोंको एक समताभावकी तृष्णा जगती है। तृष्णा क्या? यह भावना बनती है कि मेरेमे समता प्रकट हो और वे निहारते हैं कि मुझमें समता कितनी आयी है, मैं कितने समागमको निरखकर ज्ञाताद्रष्टा रह सकता हूँ? लोकमें सारका कहीं नाम नहीं है। किसी भी समागम में क्या है समागम? अनन्तानन्त जीवोंमेंसे कोई दो एक जीव आ गए समागममें तो वे क्या हित कर देंगे? हित तो दूर रहो, उनमें स्नेह जगेगा तो हम ही उनके आरामके साधन बनानेके लिए श्रम किया करेंगे। दूसरोंसे मिलता कुछ नहीं है। मानो लखपति हो गए, करोड़पति हो गए, बडा धनसचय कर लिया तो अन्त में होगा क्या? उसे छोड़कर जाना ही पड़ेगा? लाभ कुछ नहीं है इन बाह्य समागमोंसे, यह पूर्ण सुनिश्चित बात है, लेकिन जब मोह बसा हुआ है तब तो अपने आपको परेशान ही कर डालेंगे। है वहाँ कुछ नहीं, ये सभी स्वप्नवत् बातें हैं। जैसे स्वप्नमें जो कुछ दिखता है वह स्वप्नके समयमें सही प्रतीत होता है पर सही कुछ नहीं है। जहाँ नींद खुली तहाँ वहाँ कुछ नहीं है ऐसे ही इन आखोंके देखते हुए की स्थितिमें भी जो जो भी समागम प्राप्त हैं उनमे सार कुछ नहीं है। केवल कल्पनाएं जगा-जगाकर अपने आपको परेशान किया जा रहा है। स्मरण तब होगा जब तत्त्वज्ञान जगेगा या उन प्राप्त समागमोंका विछोह होगा। फिर किसके लिए इस अपने मनको परेशानीमें डाला जाय? आत्मस्वरूपको निरखिये और खूब धर्मपालन कीजिए। धर्मपालन ही एक सार है। धमके अतिरिक्त अन्य कोई भी श्रम विकल्प हितरूप नहीं है। समतापरिणाम के जगानेका उद्यम करना चाहिए।

साम्यमेव न सद्ध्यानात्स्थिरीभवति केवलम्।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौघकलङ्की यन्त्रवाहकः ॥११७५॥

प्रशस्त ध्यानसे केवल समताका परिणाम ही स्थिर नहीं होता, किन्तु कर्मोसे मलिन यह यन्त्र-वाहक जीव भी शुद्ध हो जाता है, समता भी जगती है, ध्यानके प्रतापसे सिद्ध भी हो जाते हैं। कैसी अपने आपके भीतर गति है? क्षणमें कुछ चिन्तन, क्षणमें कुछ। क्षणमें दुःखका पहाड इसे दिखता है और क्षणमें दुःखका कहीं नाम नहीं है ऐसा अनुभव करने लगता है। बाहरमे दृष्टि की कि दुःखका पहाड़ दिखने लगता है और जहाँ अन्तर्दृष्टि की वहाँ फिर कोई संकट नहीं जचता। वैराग्यमें शान्तिका उद्भव है और रागमें अशान्तिका उद्भव है। तो तत्त्वज्ञान चाहिए, और जो अपने आपके स्वरूपका स्वयंमें निर्णय होता है उसका विशुद्ध ध्यान चाहिए। चाहिए तो यह और लौकिक जन चाहते हैं कि हमे मकान चाहिए, दूकान चाहिए, पूंजी चाहिए, नाम चाहिए, नेतागिरी चाहिए। ये सब मोह निद्राके स्वप्न हैं। चाहिए तो इसे सिर्फ

तत्त्वज्ञान, वैराग्य, सो कुछ चीज नहीं चाही जा रही है। किन्तु जो कुछ परभाव आये हैं, गड़बड़ी आयी है, उपाधि लगी है उनका वियोग चाहिए। मुझमें मैं ही रहूँ, अन्य कुछ परभाव मेरेमें न आयें, यह बात चाहने योग्य है। अन्य चीजोंकी चाह करना इस जगतमें उचित नहीं है। चाहसे होता कुछ भी नहीं है। तो ध्यानके प्रतापसे समताभाव भी आता है और यह कलंकित आत्मा शुद्ध भी हो जाता है। यह शरीररूपमें रहकर अशुद्ध है। आत्मा तो अमूर्त ज्ञानमात्र निर्लेप है और दशा यह बन रही है कि इन शरीरोंमें बंधा-बंधा फिर रहा है। इस आत्मासे यह शरीर छूट ही नहीं रहा है। और छूट भी जाय कभी तो यह सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता है, इस स्थूल शरीरके उत्पादक कर्म नहीं छूटते हैं। इन शरीरोंसे छुट्टी तत्त्वज्ञान और ध्यानके प्रतापसे ही मिल सकती है।

यदैव संयमी साक्षात्समत्वमवलम्बते।
स्यात्तदैव परं ध्यान तस्य कर्मौघघातकम् ॥११७६॥

जिस समय संयमी पुरुष योगी महात्मा साक्षात् समतापरिणामका अवलम्बन करते हैं, तो उनके उस समय ऐसा ध्यान प्रकट होता है जो कर्मोंके समूहका विनाश कर दे। लोकमें भी तो जिनको समताकी प्रकृति पड़ी है, इष्ट अनिष्ट बातोंको टाल देनेकी जिनकी धुन बनी है, वे लौकिक पुरुष भी समताके कारण सुखी रहा करते हैं। कोई गुंडा नीच दुष्ट कुछ ऐब करता है, निन्दा करता है तो उसका उपाय क्या सोचता है तत्त्वज्ञानी कि उसकी उपेक्षा करदे। न उसमें राग रखे, न द्वेष रखे, तो उपेक्षा कर देना यह एक तत्त्वज्ञानीका उपाय है, और उस ही उपेक्षा भावसे आत्मा उन्नतिके पथपर पहुंचता है। तो यहाँ भी समता ने मदद दीना। हमारे जीवनमें अनेक प्रसंग आया करते हैं। उन सब प्रसंगोंमें विजय उनकी होती है जिनका चित्त उदार है और जो समतापरिणाममें रहते हैं। तो जिस ही समय योगी समतापरिणामका अवलम्बन लेता है उस ही समय इसके ऐसा अनुपम ध्यान प्रकट होता है जो भव-भवके बाँधे हुए कर्म भी दूर हो जाते हैं। कर्मसिद्धान्तपर विश्वास रखते हैं ज्ञानीजीव। जो कर्म किया, जो कर्म बाँधा उसका फल भोगा जायगा, भोगना पड़ेगा। हाँ कदाचित ऐसा तत्त्वज्ञान और वैराग्य जग जाय जो बाँधे हुए कर्मोंके फल को भी बदलदे, यदि ऐसा कोई उच्च पुरुषार्थ बने तो ये बाँधे हुए कर्म टल सकते हैं। अन्यथा ज्यों के त्यों कर्मोंका फल भोगना पड़ता है। अतः ऐसा उद्यम हो कि कर्मबन्धन न हो। अपने स्वरूपसे बाहर जितने भी जो कुछ पदार्थ हैं उनमें राग अथवा द्वेष उत्पन्न न हो, इससे बढ़कर और कोई कमाई नहीं है। आज जो लोग आराममें रहकर बहुत-बहुत वैभवके भी धनी बन जाते हैं वह सब पूर्वकृत धर्मका ही तो प्रसाद है। धर्म सब दिशाओंमें अच्छा ही फल देता है। धर्मके प्रतापसे परलोकमें भी सुख होता और इस जीवनमें भी सुख रहता है। तत्त्वज्ञानी जैसा का तैसा जानता है। जो रागद्वेष भाव नहीं करता, उसके समता प्रकट होती है। बस इस समताके प्रतापसे ऐसा ध्यान बनता है कि भव भवके बाँधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। हम सबका कर्तव्य है कि तत्त्वज्ञानी हों, विरक्त हों और अपने आपके प्रभुके निकट अधिक काल रहा करें, इससे ही हम आप सबका कल्याण प्रकट होगा।

अनादिविभ्रमोद्भूतं रागादितिमिरं घनम्।
स्फुटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्कः प्रविजृम्भितः ॥११७७॥

इस जीवको जितने भी क्लेश हैं वे रागसे हैं। किसी भी स्थितिमें किसी भी प्राणीको निरखलो राग ही उसका दुःख है, और राग है व्यर्थका। वैसे लगता है ऐसा कि इस बिना काम नहीं चलता तो यह राग करना ही चाहिए। यह तो अपनी ही वस्तु है, पर निश्चयसे देखो तो मेरे आत्माका तो केवल मेरा आत्मद्रव्य है, आत्मस्वरूप है जो कि ज्ञान और आनन्दमय है, अमूर्तिक है, इतना ही मात्र मैं हूँ, और जो कुछ

इसमें शक्ति है परिणमन है वही मेरी शक्ति है और परिणति है, इसके अतिरिक्त बाहरमें अन्य कुछ भी मेरा नहीं है। सभीके मनमे कोई न कोई कल्पनाए बनी हुई हैं और उन कल्पनाओसे क्लेश भोगते रहते हैं। तो यह राग अधकार कहलाता है। जैसे अंधेरेमे अपना शरीर भी नहीं दिखता है ऐसे ही रागभावमें अपने आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं रहता है। इस कारण रागको अधेरखाता कहा है। जितना जो कुछ किया जा रहा है रागवश वे सब व्यर्थकी बातें हैं। कर रहे हैं उदय है, ऐसी परिस्थिति है किन्तु है सब व्यर्थकी बात, उससे आत्माका लाभ कुछ नहा है। यह अंधेरा इस जीवपर लगा क्यों है ? अनादि कालसे इसके भ्रम बना हुआ है अज्ञान बना हुआ है, अपने आपके स्वरूपका भान नहीं हो सका है, मैं आत्मा हूँ, ज्ञानानन्द स्वरूप, सर्वसे विविक्त ज्ञानानन्द स्वभावी अमूर्त आत्मा हू, जो कुछ करता हू सो अपने आपके ही प्रदशोंमे करता हू, और मै करता ही क्या हू। पदार्थोंका स्वभाव ही ऐसा है कि वह प्रति समय परिणमन करता रहेगा, मैं भी पदार्थ हू अतएव मेरा परिणमन होता रहता है, करता भी क्या हूं ? करनेकी बात तो इसलिए लगा देते है कि यह आत्मा इच्छा किया करता है और ऐसा विकल्प रखता है कि मैं अमुक पदार्थको करता हू, अमुकको कर दूंगा, पर करनेकी इसमें क्या बात ? जैसे ये जड़ पदार्थ शीर्ण होते हैं, फूटते हैं, पुराने होते हैं, सडते हैं तो क्या ये कुछ करते हैं ? अरे इसमें कुछ करनेकी बात तो है ही नहीं। करनेका शब्द तो अज्ञानमे बना है। चूंकि अज्ञानी जीव करनेकी बात किया करता है तो यह कहनेकी रुढ़ि चल उठी है कि आत्मा ज्ञान करता है ? अरे आत्मा तो स्वय ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वभावी है। उसका स्वभाव है अपने ज्ञानमें प्रति समय-परिणमते रहनेका, सो यह आत्मा परिणमता रहता है। जगतके सभी पदार्थ अपने आपमे परिणमते रहते हैं। किसीकी बदल चाहे समान हो और किसीकी असमान हो पर बदलते सब रहते हैं। सिद्ध भगवान हैं वे बदलनेका कुछ पता तो नहीं दे सकते। जैसे यहा संसारी लोग है इनकी बदल बता सकते है, अब यों भाव रखने लगा, अभी तक पापमे था अब धर्ममें आ गया, अभी तक सुखमे था अब दुखमें आ गया। यों असख्याते तरहकी बदल हुआ करती है किन्तु सिद्धमे क्या बदल है ? जो सारे विश्वको एक साथ ज्ञानसे जाने, दूसरे समयमें भी सारे विश्वको ज्ञानसे जाने। अनन्त काल तक विश्वको जाने, इसी तरह उसमे क्या बदल है, लेकिन वे समान समान बदलते रहते हैं।

जैसे एक मनुष्य २० सेरका बोझ हाथमे लेकर खडा हुआ है और इसी तरहसे वह १० मिनट तक खडा रहे तो दिखनेमें तो ऐसा लगता है कि यह कोई नया काम तो नहीं कर रहा है, यह तो १० मिनटसे वैसाका ही वैसा खडा है—पर ऐसी बात नहीं है, वह प्रत्येक सेकेण्डमे नया नया काम कर रहा है, क्योंकि ताकत उसकी नई नई लग रही है और उसे श्रम भी हो रहा है। तो जैसे दिखनेमे भले ही आये कि यह पुरुष वही वही काम कर रहा है पर उसमे बदल चल रही है। अब दूसरा काम कर रहा है, अब तीसरा काम कर रहा है। ऐसे हो प्रभु भगवान सारे विश्वको जानते रहते है और वैसा ही अब जाना, ऐसे ही अब अगले समयमें जानेंगे। तो यद्यपि एकसा ही जानना चल रहा है लेकिन प्रति समयमे जो जानना चल रहा है वह भी तो कार्य है, ज्ञान शक्तिका परिणमन है। जैसे बिजली जल रही है, १० मिनट से तो लगता है कि वह तो वही का वही काम १० मिनटसे कर रही है कोई नया काम नहीं कर रही है पर ऐसी बात नहीं है। वह प्रति सेकेण्डमें नया नया काम कर रही है। तो चाहे समानपरिणमन हो, चाहे असमानपरिणमन हो पर वहाँ बदल चलती रहती है। तो हमारा काम है निरन्तर परिणमते रहनेका सो परिणमन कर रहे है। हम कर नहीं रहे हैं, हो रहा है ऐसा तत्त्वज्ञानी जीव अपने आपमे निरख रहा है। यह मैं हूँ और परिणमता रहता हूँ, इससे आगे मेरी दुनिया नहीं, मेरा घर नहीं, मेरा कोई स्वामी नहीं, सब मोहजालकी बात है, ऐसा निर्णय जिस पुरुषके चित्तमें समाया हुआ है वह पुरुष राग अंधकारको दूर कर सकता है और ज्ञानका सूर्य ऐसा उदित होता है कि उसके कारण रा

अंधकार फटक नहीं सकता। देखिये सब कुछ अपने आपकी भलाईका काम अपने आपमे ही मिलेगा। सर्व-सुख, सर्व आनन्द, कल्याण समृद्धि, जो भी अभीष्ट है, जो भी उत्कृष्ट बात है वह सब कुछ अपने आपमे अकेलेमे मिलेगा। दूसरे पदार्थोंकी दृष्टि, आशा, इच्छा, आकर्षण, स्नेह ये सब अधकार हैं और इनमे अपने आपकी सुध नहीं रह पाती है। उसका फल है क्लेश। यदि क्लेश न चाहिए तो कुछ क्षण तो ऐसा चिन्तन करें कि मैं केवल अपने आपमे आप ही स्वय हूँ और निरन्तर परिणमता हूँ। ऐसा ज्ञान बनते ही उसमे ध्यान के अंकुर बन जाते हैं और जब ध्यानरूपी सूर्य उदित होता है, अर्थात् एकाग्रचित्त होकर आत्माके स्वरूपका ही ध्यान रहता है तो फिर भ्रमके कारण बना हुआ यह जो राग अधकार है वह दूर हो जाता है।

भवज्वलनसम्भूतमहादाहप्रशान्तये।
शश्वद्ध्यानाम्बुधेर्धीरैरवगाहः प्रशस्यते ॥११७८॥

संसाररूपी अग्निसे उत्पन्न हुआ जो महान आताप है उसकी शान्तिके लिए जो बड़े तत्त्वज्ञानी धीर वीर पुरुष हैं वे ध्यानरूपी समुद्रका अवगाहन किया करते हैं और इस ही की योगीश्वरोंने प्रशसा की है। जैसे कोई सूर्यकी प्रखर किरणोंसे अथवा अग्निके निकट रहनेसे बहुत तेज आताप हो गया हो तो उसे शान्त करनेके लिए समुद्रका स्नान किया करते हैं, लोग सरोवरमें स्नान करते हैं इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी जीव इस संसारके भ्रमणसे ससारवासनासे उत्पन्न हुआ जो महान सतापमें अग्नि है, कष्टका आताप है उसका शमन करनेके लिए वे ध्यानरूपी समुद्रमे स्नान किया करते हैं। लोकमें भी कहते हैं कि मनके हारे हार हैं मनके जीते जीत। दुःख है कहाँ ? मनको सम्हाला दुःख दूर हुआ। मनको न सम्हाल सके, विषयोंमे मन चलित हुआ, तो वहाँ कष्ट हो गया। तो यह सब ध्यानके आश्रित है। ध्यानसे ही पीड़ा है, ध्यानसे ही मधुरता है, ध्यानसे ही धर्मसाधन होता है और ध्यानसे ही समतापरिणाम जगता है। तो ससार परिणामके सतापको शान्त करनेके लिए तत्त्वज्ञानी पुरुष ध्यानके समुद्रमें नहाया करते हैं। कहीं भी हो कैसा ही कष्ट हो, ध्यान जरा अपने आत्माकी ओर कर लिया जाय कि दुःख मिट गए। दुःख यों मिट जाता है कि दुःख वास्तवमें था नहीं। एक उस तरफ दृष्टि लग गयी तो वह दुःख मानने लगा। वह दृष्टि हटी कि दुःख दूर हो गया। कल्पनासे कष्ट माना था, कल्पना मिटी लो कष्ट मिट गया। तो ये सब अभीष्ट कल्याणकी बातें एक विशुद्ध ध्यान द्वारा सिद्ध होती हैं। जैसे लोकमें अपनी जिन्दगीमें प्रोग्राम बना करते हैं, अमुक काम करना है, चलो कुछ बढ़े चलो, पर कुछ गम्भीरतासे विचारो तो सही कि यहाँ कौनसा प्रोग्राम ऐसा है तो इस भवमें भी शान्ति दे सके और अगले भवमें भी शान्ति दे सके। ऐसा प्रोग्राम है, चलो आत्मस्वरूपका ज्ञान करें, अपने आपके निकट रहा करें, इतनी ही चर्यामे उत्सुकता रहे। यों आत्मज्ञानका प्रोग्राम हो, आत्मदृष्टि आत्म-धुनका प्रोग्राम हो जीवनमे तो यह लाभकारी व्यापार है और आत्माकी धुन न हो तो कितना ही कोई बाहरी बाहरी कार्य करले उससे शान्ति प्राप्त नहीं होती। शान्तिका हिसाब यदि लौकिक वैभवसे लगता होता तो इस वैभवको बड़े-बड़े चक्रवर्ती तीर्थंकर इत्यादि क्यों त्याग देते ? इस लौकिक वैभवमें उन्हें कुछ सार नहीं दीखा इस कारण वे उसे छोड़ देते हैं और गरीबसे भी गरीब बन जाते हैं। न कपड़ा, न घर, न परिवार, न कुछ रखना, ऊपरी हालत देखो तो बतावो साधुवोंसे ज्यादा गरीब और कौन है ? लेकिन ऐसे ऐसे वैभव वाले पुरुष जब वैभवको त्याग देते है तभी शान्ति पाते हैं और अब वे गरीब नहीं कहलाते, वे लोकमें सबसे उत्कृष्ट अमीर हैं, क्योंकि आनन्द और शान्तिका उनको विधान मिला हुआ है।

ध्यानमेवापवर्गस्य मुख्यमेकं निबन्धनम्।
तदेव दुरितव्रातगुरुकक्षहुताशनम् ॥११७९॥

विशुद्ध ध्यान ही मोक्षका एक प्रधान कारण है और वह शुक्ल ध्यान रागद्वेष रहित ध्यान पापों

के महा वनको जलानेके लिए अग्निकी कडिकाके समान है। जैसे वन बहुत बड़े विस्तार वाला है, कोशोंका लम्बा चौडा है फिर भी उस विशाल वनको जलानेमे समर्थ एक अग्निकी कडिका है, ऐसे ही पापोंका बहुत बड़ा विस्तार है, एक बहुत बड़ा पापोका बोझ लदा हुआ है, भव भवके पाप इकट्ठा हैं, ऐसा पापोंका समूह महा वनकी तरह बहुत विस्तारको लिए हुए है, और विशुद्ध ध्यान शुक्लध्यानरूपी अग्नि कितनी है ? किस तरह है ? एक अपने आत्माके केन्द्रमे है और वह भी विस्तार बनाकर नहीं, किन्तु सकोचका. मग्नता का स्वभाव लकर है। तो यह ध्यान अग्नि एक केन्द्रमे मग्न है, उसमे इतनी सामर्थ्य है कि महाविस्तार वाले पापोंके वनसमूहको नष्ट करनेमे समर्थ एक ध्यानरूपी अग्निकी कड़िका है।

अपास्य खण्डविज्ञानरसिकां पापवासनाम्।
असद्ध्यानानि चोदेयं ध्यान मुक्तिप्रसाधकम् ॥११८०॥

हे आत्मन्! खण्ड-खण्ड विज्ञानमें रस बनाने वाली जो पापकी वासना है उसको दूर करो और जो असतध्यान हैं उन्हें दूर करो और मुक्तिका साधनभूत जो उत्कृष्ट आत्मध्यान है उसे अगीकार करो। देखिये पापकी वासना खण्डज्ञानसे सम्बन्ध रखती है। जब उपयोग विकृत होता है तो वह उपयोग जहाँ लगा है, जिसमें रुचि है, जिसकी वासना बनी है उसका ही तो ज्ञान करेंगे और उसका भी अशमात्र ज्ञान करेंगे। तो पापकी वासना जब रहती है तब खण्डज्ञान होता है और यह पाप बुद्धि खण्डज्ञानको ही पसद करती है। तो ऐसी बुद्धिको तजो जिसमें किसी एक पदार्थपर किसी-किसी विकृष्ट पदार्थमे हम अपना उपयोग फसायें, बिगाडे, इष्ट अनिष्ट बुद्धि करें, रागद्वेषकी वृत्ति बनायें। वह तो कल्याणकी चीज नहीं है। खण्ड ज्ञानके रसिक मत बनो, अखण्ड ज्ञान चाहो, अखण्ड ज्ञान तो परिणमनकी दृष्टिसे प्रभुका है। समस्त विश्वको, लोकालोकको जानने वाले हैं प्रभु। तो प्रभुका ज्ञान अखण्ड है, क्योंकि समस्तको जान लिया। समस्तको जाना तो वहाँ खण्ड नहीं रहा, टुकडा नहीं रहा। एक तो अखण्ड ज्ञान मिलेगा प्रभुमें और एक अखण्ड ज्ञानकी झाकी मिलेगी आत्मानुभवमें, निजमें। सर्वविकल्पोंको छोड़कर केवल एक आत्माके सहज ज्ञायक स्वरूपमे ही चित्त लीन हो जाय तो वहाँ भी अखण्डता रहती है। तो अखण्ड ज्ञानकी झांकी है आत्मानुभव। या तो अखण्ड ज्ञान बनेगा, किसीको मत सोचें, जिनका टुकडा नहीं है, या वीतराग सर्वज्ञ हो जाय, निर्दोष हो, कर्मरहित हो तो उसका ज्ञान अखण्ड बनता है। पापवासनामे अखण्डतान कोईसा भी नहीं बनता, न आत्मानुभवनका ज्ञान बनता है और न सर्वज्ञताका ज्ञान बनता है, क्योंकि पापवासना खण्डज्ञानको ही पसद करती है। अन्यथा पापोंकी इच्छा ही नहीं हो सकती। किसी थोडी जगहमे, एक दो पुरुषोंमे, किसी एक निश्चित विभूतिमे रुचि बनती है तभी तो पापकी वासना बना करती है। तो पाप की वासना है तो खण्डज्ञान ही यह जीव करेगा। न आत्मानुभव करेगा और न सर्वज्ञता मिलेगी।

खण्डज्ञानका मोह तजें। कुछ आ गया ज्ञानमे १०-२० बातें कह लो, हम उस ज्ञानको भी नहीं चाहते। हमे किसीका भी परिज्ञान न चाहिए, सब ज्ञान बद हो जायें, सब चिन्तन समाप्त हो मन पावे विश्राम, फिर जो हो सो हो, पर मुझे खण्डज्ञान न चाहिए। मेरा तो आत्मानुभव बने जिसमे अखण्ड ज्ञान है। धर्म अखण्ड ज्ञानका आश्रय लेता है। खण्डज्ञानके रसिकको पापकी वासना बनती है। जो इस खण्ड ज्ञानको छोड देते हैं उनको ध्यानकी सिद्धि होती है। इस ध्यानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। मुक्तिका अर्थ है छुटकारा प्राप्त करना। जो है सो वही मात्र अकेला रह जाना इसका ही नाम मुक्ति है। केवल रह जाना, अकिञ्चन हो जाना, कोई सम्बध न रहना, सब औपाधिक भाव दूर हो जाना इसीका नाम है मुक्ति। यही योगीश्वरोंका महान ध्येय तत्त्व है। तो पहिले विश्वास तो रखें कि मैं आत्मा स्वत केवल ही हूँ, मुझमें किसी दूसरे पदार्थका सम्बध नहीं है, ऐसा अपने आपका अनुभव कीजिए तो इन कल्पनाओंकी जब रसिकता बनेगी तब समझिये कि वह धर्मभावना दृढ़तासे बन गयी है और जब बाहरी पदार्थोंमे ही हमारी

इच्छा रहेगी अथवा पसंदगी रहेगी तो उससे तो पापकी वासना ही बनेगी। उसे छोड़ें और मुक्तिको सिद्ध करने वाला जो ज्ञान है अर्थात् अपनेको केवल अनुभवना और इस ही मे मग्न होना, यह यत्न ही मुक्तिको सिद्ध करने वाला है और पूछो तो धर्म उतना ही है। मदिरमें जाकर ढोलक झांझ बजाना यही मात्र धर्म नहीं है। अपने आपको सब पदार्थोंसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप अनुभव कर सके तो समझिये कि हमने धर्म-पालन किया। यह बात एक बिल्कुल सारभूत कही जा रही है। इसीका नाम धमपालन है। यह बात चाहे जगलमें कर ले, चाहे मदिरमें। यहाँ बाह्यमें क्षोभ मचानेसे कुछ भी न मिलेगा। यदि अन्तरमे अपने आपके कल्याणकी दृष्टि नहीं जगती है तो कुछ भी नहीं है।

अहो कैश्चिन्महामूढैरज्ञैः स्वपरवञ्चकैः।
ध्यानान्यपि प्रणीतानि श्वभ्रपाताय केवलम् ॥११८१॥

अहो! आश्चर्यके साथ कहा जा रहा है कि अज्ञानी मोही, मूढ़ अज्ञानी पुरुषोंने जो कि अपने आपको भी ठग रहे हैं और परको भी ठगते हैं उन्होंने ध्यान भी ऐसा किया जो केवल नरकमें अपने आपको ढकेलें। ध्यान बिना कोई नहीं है। सब जीवोंमें ध्यान बनता है पर किसीके खण्डज्ञान है तो किसीके अच्छा ज्ञान है। जो अज्ञानी पुरुष हैं, मोहके वशीभूत हैं, उनके खण्डध्यान जगता, आर्त रौद्र ध्यान बनता। रौद्रध्यानमें तो यह जीव क्रूरता करके मौज मानता है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापकार्यों में मौज मानता है और आर्तध्यानमें कुछ पीडा होनेपर तो प्रभुकी कुछ खबर रहेगी, पर सासारिक मौजोंमें प्रभुकी खबर नहीं रहती। ध्यान ही है सिर्फ इस जीवके पास। ध्यानसे ही यह जीव नरकमें पहुचता, ध्यान से ही ससारके आवागमनसे छुटकारा प्राप्त करता। जब ध्यानसे ही सब कुछ प्राप्त होता है तो विशुद्ध ध्यान ही करना चाहिए ना। जैसे बालक लोग पंगतका खेल खेलते हैं। कुछ पत्ते बालकोंके सामने रखते गए और कहते गए कि लो यह रोटी, कुछ कंकड बालकोंके सामने रखते गए और कहते गए कि लो ये चने। अरे जब कल्पना करके ही कहना है तो चना और रोटी कहकर क्यों परोसते? पत्तोंको पूडी कचौडी कहकर परोसें और कंकडोंको बूंदी कहकर परोसें। ऐसे ही जब ध्यानसे ही अपना हित अहित प्राप्त होता है तो क्यों न अपना विशुद्ध ध्यान बनायें? तब यों समझिये कि अखण्ड भावनासे ही सर्व कुछ सिद्धि है और खण्ड भावनासे कुछ भी सिद्धि न होगी।

विषायतेऽमृतं यत्र ज्ञानं मोहायतेऽथवा।
ध्यानं श्वभ्रायते कष्टं नृणां चित्रं विचेष्टितम् ॥११८२॥

यह खेदकी बात है कि अमृत तो विषकी तरह लगे, इसी प्रकार यह भी खेदकी बात है कि ज्ञान-मोह बढानेके लिए बन जाय और ध्यान नरकके लिए हो जाय, ऐसी विपरीत चेष्टा आश्चर्य उत्पन्न करने वाली है। अमृत भी विष बन जाय अथवा कोई अमृतको विष बना ले तो यह उसके लिए खेदकी बात है। ज्ञानको कोई मोहके लिए बना ले, जैसे कीडा-मकोडोंमें कितना ज्ञान है और पशुपक्षियोंको उनसे विशेष है और मनुष्य को सबसे विशेष है, सो तेज मोह मनुष्य कर सकता है। पशु-पक्षी भी इतना तीव्र मोह नहीं कर सकते। वैसे अज्ञानरूप है ठीक है मगर तीव्र मोह मनुष्य कर पाते हैं क्योंकि उनके ज्ञान होता है। वह ज्ञान इस ढगसे ढाते हैं कि मोह बढाते हैं। ये पशु मकान नहीं बनवाते, सभा नहीं जोड़ते, वे अधिक मोह क्या करेंगे? अज्ञानरूप परिणाम है, सो मोह है, यह बात जुदा-जुदा है, पर जान जानकर मोह बढाया सो मनुष्य बढा सके, पशु-पक्षी नहीं बढा सकते, कीड़े-मकोड़े नहीं बढा सकते। तो यह खेदकी बात है कि जो ज्ञानमोह दूर करनेके लिए होना चाहिए सो मोह बढानेके लिए बन बैठा, इसी प्रकार ध्यान होता है मोक्षकी प्राप्तिके लिए। स्वर्ग मोक्ष या कर्म उत्तम भवमें उत्पन्न होना उसके लिए है ध्यान, पर कोई ध्यानको नरकके लिए बना लेता है। रौद्र ध्यान

करे, खोटा ध्यान करे, पापमय भावना रखे तो नरक जायगा वह। तो ध्यान जो कि मोक्षकी प्राप्तिके लिए है उसे ही कोई नरक जानेके लिए बना ले तो यह खेदकी बात है। शिक्षा इसमें यह दी गयी है कि भाई अमृत पाया है तो उसे विषवत् बना डाल तो यह तो एक साधारण सी बात है। कोई खोटा मेल कर दे, कोई योग्य देश कालका सम्पर्क बना दे, इसी प्रकार ज्ञानको मोहमें ढा देना भी आसन बात बन रही है। मनुष्यमें साहित्यिक कलायें भी हैं। एक दूसरेसे प्रेम करे उसके लिए कितनी तरहके वचनालाप हैं, कितनी तरहके बोलचाल हैं, इतना विलक्षण वचनालय पशुवोंमें कहाँ है? वे मोह करते हैं पर यों ही मूढतापूर्ण करते हैं। और यह मनुष्य बडी चतुराईसे मोह करता है। तो इस मनुष्यने ज्ञानको मोहका साधन बनाया, मोक्षका नहीं बनाया, यह भूल है। इसी तरह ध्यान एकाग्र चित्त होनेका नाम ध्यान है। किसी भी विषयमें एक चित्त बन जाय वही ध्यान कहलाता। अब किसी शुभ विषयमें, अच्छे विषयमें एकाग्र चित्त बने तो वह स्वर्ग और मोक्षके लिए है और खोटे पापके लिए, विषयोंके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ जिसमें बढे, क्रूरता बढ़े, लोभ लालच बढ़े ऐसा ध्यान बनेगा तो वह ध्यान नरकके लिए होता है। सो यह खेद की बात है कि जो ध्यान मोक्षका साधनभूत बनना चाहिए था, सो बन गया है नरकके लिए।

अभिचारपरैः कैश्चित्कामक्रोधादिवञ्चतैः।
भोगार्थमरिघातार्थं क्रियते ध्यानमुद्धतैः ॥११८३॥

कितने ही लोग जो विचार वृत्ति वाले हैं, कोई किसीके वशमें करनेके लिए मन्त्र सिद्ध करना चाहते, कोई अजन ऐसा सिद्ध करते कि जिसे आँखमें लगा ले तो दूसरेको शरीर न दीखे और फिर चोरी करना, अनेक कौतूहल आदिक विचारोंमें जो तत्पर रहा करते हैं ऐसे पुरुष अथवा जो काम क्रोध आदिकसे ठगाये गए हैं ऐसे मूढ पुरुष भोगोंके लिए और शत्रुवोंके घातके लिए ध्यान किया करते हैं। कितने ही क्रूर लोग ऐसे हैं कि कोई साधना करेंगे तो दूसरोंके ठगनेके लिए दूसरोंका नाश करनेके लिए। दूसरोंके घात करनेका ही विधिविधान बनाया करते हैं लेकिन उससे बचनेका उपाय बिल्कुल अमोघ है। वह अमोघ उपाय है णमोकार मन्त्रका विशुद्ध ध्यान। णमोकार मन्त्रका विशुद्ध ध्यान हो तो किसीके द्वारा भी कराया गया मन्त्र टल सकता है। यों ही पढ देनेसे नहीं किन्तु श्रद्धापूर्वक विशुद्ध ध्यान किया जाय तो मन्त्र टल सकता है। णमोकारमन्त्रका बड़ा माहात्म्य है। इस णमोकार मन्त्रसे कितने ही लोगोंने पूर्वकालमें बड़े-बड़े काम सिद्ध किये, और छोटी बातोंमें तो अब भी लोग अनुभव करते हैं कि अमुक विपदा पड़ी, इन पंचपरमेष्ठियोंका ध्यान किया लो विपदा टल गयी। अनेक प्रसग ऐसे होते हैं। सो मूढ़जन, काम, क्रोध आदिकके वशीभूत होकर जो ध्यान किया करते हैं वह उद्दण्ड भोगोंके लिए या दूसरोंके घाटके लिए, जिन्हें अनिष्ट समझा है, दुश्मन समझा है उनके विनाशके लिए किया करते। बतावो कितना बडा अज्ञान है कि क्या करना चाहिए था मनुष्यभवमें और क्या-क्या कर लिया जाता है?

ख्यातिपूजाभिमानार्तैः कैश्चिच्चोक्तानि सूरिभिः।
पापाभिचारकर्माणि क्रूरशास्त्राण्यनेकधा ॥११८४॥

ख्याति, पूजा, अभिलाषा इनसे पीडित हुए अनेक पुरुषोंने पाप कार्योंकी विधि वाले अनेक शास्त्र रच डाले हैं सो वह बडा पाप है। एक ही ढगके वीतरागताके ही पोषक शास्त्र क्यों नहीं मिलते? कोई रागमें धर्म बतलाते हैं, कोई यज्ञमें, हवनमें, पशुघातमें धर्म बतलाते हैं। अनेक प्रकारके पापकार्योंकी शिक्षा देने वाले जो ग्रन्थ रचे हैं वे ऐसे लोगों द्वारा रचे गए हैं जो काम क्रोध आदिक भावोंसे पीडित थे, जिन्हें ख्याति, पूजा, लाभ, अभिलाषयें, कषायें रुचती रहें, उनसे अनेक प्रकारके पापकार्योंकी साधना बनी। कोई समय था ऐसा जब कि कुछ लोगोंकी धर्मात्माके रूपमें बडी मान्यता थी। और लोग आ‌गवनेका

बहुत पूज्यताकी दृष्टिसे निरखते थे, और थे भी वे पूज्य, जब कि वे ब्राह्मण ज्ञानी थे, तत्त्वज्ञानी थे, तो पूज्यता की रुढ़ि बराबर चली आयी। अब कुछ चित्तमें अनेक बातें आने लगीं। जैसे आजकल लोग मासभक्षणके रुचिया बहुत हो गए हैं। जहाँ देखो वहाँ ही १००-२०० लोगोंमे विरला ही व्यक्ति ऐसा मिलेगा जो मास न खाता हो। जब मास खानेकी उन लोगोंमे इच्छा बढी तो सोचा कि यों खानेसे तो लोकमे हमारी निन्दा होगी तो उसका एक यज्ञविधान बना डाला। अश्वमेघ यज्ञ, गोमेध यज्ञ, मनुष्यमेघ यज्ञ आदि बना डाला। घोडा, गाय और मनुष्य आदि उस अग्निकुण्डमे होम किये जाते थे। उसमे अनेक प्रकारकी सुगंधित वस्तुवें पडती थीं। जब उन सुगंधित वस्तुवोंके बीचमे वह जीव अच्छी तरहसे पक जाता था तो उसकी दुर्गन्ध दूर हो जाती थी, उसे लोग प्रसाद कह करके खाते थे। ऐसा करनेमे वे धर्मात्मा भी कहलाये और उनके विषयों का पोषण भी हो गया। जरा बतावो तो सही कि इस तरहसे जीवोंको सतानेमे कौनसा धर्म होता है? और यह बात शास्त्रोंमें लिखकर जनताके चित्तमे डाली गई है कि अमुकका घात करो तो उससे देव प्रसन्न होगा और मनोकामना सिद्ध होगी, यों सारी बातें शास्त्रोंमें रच डाली। तो जिनके ख्याति, पूजा, लाभ, अभिलाषाकी कषाय थी उससे पीडित होकर पाससे सम्बध रखने वाले कर्मोंको उन्होंने धर्म बताया और ऐसे ही क्रूर शास्त्र अनेक तरहके रच डाले।

बताया यह जा रहा कि यह नरभव मिलना कठिन था और ज्ञान मिला, ध्यानकी योग्यता मिली तो किस ओर ध्यानको लगाना था और ध्यानका क्या प्रयोग करना था वह सब तो भूल गए और उल्टी गैल चले, उल्टे शास्त्र रचे।

अनाप्ता वञ्चकाः पापा दीना मार्गद्वयच्युताः।
दिशंत्यज्ञेष्वनात्मज्ञा ध्यानमत्यन्तभीतिदम् ॥११८५॥

ऐसे पुरुष जिन्होंने ऐसे शास्त्र रचे वे पुरुष अनाप्त हैं, मूढ हैं, तत्त्वपर पहुचे नहीं थे, खुदको भी और दूसरोंको भी ठगा था, ऐसे वचक थे, पापी थे, दीन थे, और न वे इस लोकके रहे, न परलोकके रहे। देखिये कोई योगी यदि स्वयं कुछ पाप करने एक तो वह पाप और एक पापको पुण्य बता जाना, पापको धर्म बता जाना, शास्त्र लिख जाना और चाहे कोई स्वयं पाप न किया हो तो आप यह बतलावो कि उन दोनोंमे से अधिक पापी कौन है? सो उन दोनों ऋषियोंमें एक तो पापी हो, परिग्रही हो, व्यभिचारी हो, चोर हो, कैसा ही दोष किया हो ऐसे साधु संन्यासी और एक ऐसे साधु संन्यासी जो चाहे खुद बड़ी शुद्धतासे रहते हों और शास्त्र ऐसे लिख जाते जिसमें सारा पापका ही उपदेश है जिसमें पापकार्योंको ही धर्म बताया है। तो आप जरा बतावो कि महापाप किसने किया है? जो खोटे शास्त्र रच जायें वह पाप अन्य पापोंसे भी अधिक है। सो ही लिख रहे हैं कि जो मुनि अनाप्त थे, अज्ञान बंचर दीन, जिनका न यह लोक सफल रहा, न परलोक सफल रहा, उन्होंने ऐसे शास्त्र रचे जिनमें पापको पुण्य कहा, धर्म कहा, पापसे सिद्धि बताया, ऐसे शास्त्रोंको अनेक अज्ञानी रच गए। बताया यह है कि मनुष्यजन्म मिला तो था इसलिए कि मैं कुछ करनी ऐसी कर जाऊं, अपना विशुद्ध ध्यान बना लें, कुछ धार्मिकता आत्मामे लायें जिससे इस ससारके जन्म मरणसे छुटकारा मिल सके, पर अपनी बुद्धिका कैसा दुरुपयोग किया कि खोटे शास्त्रोंके रचनेमे लगा दिया। ज्ञान पाया तो मोहके बढ़ानेमें इस ज्ञानको लगाया। बड़े ऊचे-ऊचे रागभरे वचनोंसे दूसरोंमें प्रेम उपजाना, अर्थात् प्रीति भाव बढ़ाना यह सब वचनों द्वारा किया। ज्ञान पाया तो उस ज्ञानका ऐसा उपयोग किया कि अपने मोहभावको ही बढ़ाया तो यह बड़े खेदकी बात है। जैसे कोई अमृतको विष बनाकर पीले तो वह मूढ़ है, ऐसे ही कुछ मूढ पुरुषोंने ज्ञान पाकर उस ज्ञानको विषयकषायोंमे, खोटे शास्त्रोंके रचनेमे, मोहके बढानेमे लगाया सो यह खेदकी बात है। देखिये जैसे पर्वतसे गिरनेवाली नदीका वेग पुन वापिस लौटकर नहीं जाता, जो धार पर्वतसे नीचे गिरी सो तो गिर ही गयी, ऐसे ही इस जीवनके जो क्षण व्यतीत हो गए, वे फिर लौटकर नहीं

आते हैं। कोई बूढ़ा, भला बालक अथवा जवान बनकर दिखा दे ऐसा तो कोई नहीं कर सकता। हाँ मरकर फिर कहीं बच्चेके रूपमें पैदा हो जाय, वह बात अलग है। जब ऐसी बात है कि जीवनके बीते हुए क्षण वापिस नहीं आते तो शीघ्र ही अपने इस दुर्लभ जीवनमें जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका सदुपयोग करलें। अधिकाधिक सत्संग हो, स्वाध्याय हो, ज्ञानकी बात अधिक सुननेमें आये, प्रभुकी महिमा, प्रभुका स्वरूप हमारे ज्ञानमें विशेष वर्ते, यों बात कुछ तत्त्वज्ञानकी चले तो उससे जीवनका सफल माने। इन बाहरी विभूतियों से अपने जीवनकी सफलताका अन्दाज न लगावें। हमने कितनी शान्ति पायी है, कितनी पवित्रता पायी है, हम कितना निर्मोह होकर रह सकते हैं? इस ओर दृष्टि जाय।

संसारसभ्रमश्रान्तो यः शिवाय विचेष्टते।
स युक्त्यागमनिर्णीते विवेच्य पथि वर्तते ॥११८६॥

जो पुरुष संसारके भ्रमणसे खेदखिन्न होकर मोक्षके लिए चेष्टा करते हैं वे तो विचार करेंगे, युक्ति और आगमसे निर्णय किए हुए मार्गमें ही लगते हैं वे अन्य ठगोंके बताये हुए मार्गमें नहीं लगते हैं। जिनको वस्तुतः आत्महितकी वाञ्छा हुई है वे किसी पक्षमें रुचि न रखेंगे। जहाँ हित हो, शान्ति मिले, उद्धार हो उन ही बातोंका आदर करेंगे। तो जिन्हें वास्तवमें आत्माके हितकी इच्छा जगी हैं वे ढूंढ़ लेंगे मार्ग और कभी बाहर न मिले किसी निमित्त विधिमें तो वह अपने आपमें ही स्वतः अपनेमें ही पक्ष त्यागकर ढूंढ़ लेगा कि शान्तिका मार्ग क्या है? देखिये मनुष्य धर्मसाधनके लिए उद्यम करेगा तो वह तो भटक सकता है। कोई खोटे मार्गमें लग जाय खोटी धर्मपद्धतिमें लग जाय, जिस किसीके बताये हुए मार्गसे चलने लगे तो वह मनुष्य तो ठगा जा सकता है, पर पशुवोंमें धर्म करनेकी बुद्धि जग जायगी क्या? नहीं जग सकती। उसका कारण है कि पशुवोंमें गृहित मिथ्यात्व है, प्रमाद है। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आदिकी मान्यताएं तो मनुष्यमें हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र इत्यादि कुपथका सेवन तो मनुष्य करता है। यों कुपथके रास्ते तो मनुष्य निकाल लेगा, पर पशु न निकाल सकेगा। पशुवोंमें धर्मकी बात जगी तो वह ठीक जग जायगी और मनुष्यमें धर्मकी इच्छा भी हुई और धर्मके लिए यत्न भी करे तो वह सैकड़ों कुमार्गोंको भी अपना सकता है। खेदकी बात है कि हमने पशुवोंसे भी अधिक ज्ञान पाया, बहुत-बहुत ज्ञान पाया, पर उस ज्ञानका उपयोग मोह रागद्वेषके बढ़ानेमें करते हैं, तृष्णा बढ़ानेमें करते हैं, यह सब बड़े खेदकी बात है। जैसे कि अमृतको कोई विष बनाकर पिये तो वह तो उसके लिए बड़े खेद की बात है। ध्यान तो मोक्षसाधनके लिए था, पर बना डाला इन पुरुषोंने नरक जानेके लिए तो यह अमृतको विष बनाकर पीनेकी तरह है। दूध तो विशुद्ध है, ताजा है, मीठा है और उसे कोई जहर बनाकर पिये तो यह कितनी मूढता भरी बात है? ऐसे ही ज्ञान तो पाया है बहुत अच्छा, पर ज्ञानमें विषयकषायोंकी पुट मिलाकर उस ज्ञानका साधन बना रहे हैं तो यह खेदकी बात है। बहुत घूम लिया इस संसारमें, लोकमें नहीं कह रहे, आकाशमें नहीं कह रहे किन्तु भावसंसारमें। इन विकल्पोंमें बहुत घूम लिया, बड़ा किया कि मेरा घर है, मेरा परिवार है, मेरी इज्जत है, मेरी पोजीशन है, लेकिन ये सब आश्वासन संसारके भ्रमणके कारण बनते हैं, और विरक्तबुद्धि होना मिला है। ठीक है पुण्यका काम है, पुण्यके उदयमें ऐसा हुआ ही करता है। किसीके बहुत अधिक है, किसीके कुछ भी नहीं है। ये सब विचित्रताए सिद्ध कर रही हैं कि ये सब पुण्य पापके ठाठ हैं।

उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्ततः।
ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमाः ॥११८७॥

इस छंदमें ध्यानका स्वरूप कहा है। उत्कृष्ट ध्यान उस पुरुषके हो सकता है जिसके

वज्र-वृषभ-नाराचसंहनन हो। जिनका चित्त ऐसा है कि परीषह नहीं सह सकते, जरा जरासी बातोंमें चिन्तित हो जाते हैं, ऐसा जिनको शरीर मिला है उनके उत्कृष्ट ध्यान कैसे बने ? उत्कृष्ट ध्यान उस पुरुषके बनता है जिसे साधना भी सहज बड़ी ऊँची प्राप्त हो। वज्रवृषभनाराचसंहननमें बड़ा बल है, बड़ा पौरुष है, और आत्मज्ञान होनेके कारण अध्यात्म बल भी बहुत है ऐसा मनुष्य अन्तर्मुहूर्त पर्यन्तमें अपना ध्यान बना सकता है। ध्यान यही है एक ओर चिन्तवनका रुक जाना। किसी भी एक विषयकी ओर मन लग जाय, एकाग्रचित्त हो जाय उसीके मायने हैं ध्यान। देखिये जिसमें मैं मैं का अनुभव होता है वह खुद है ना कुछ चीज। उसीको ही तो पकड़ना है कि वह मैं हूँ कैसा ? जो अनेक इच्छायें करता है, शान्तिकी लालसा रखता है वह मैं हूँ क्या ? उस मैं का ही तो निर्णय करना है। तो उस मैं का निर्णय क्यों इतना कठिन बन रहा है ? स्वयं ज्ञानस्वरूप है, स्वयं प्रकाश है, स्वयं समझने वाला है, स्वयं ज्ञेय है। ऐसा यह ज्ञान अंतस्तत्त्व क्यों कठिन बन रहा है ? यों बन रहा है कि वह अपने किए की, जाननेकी और हित करने की तीव्र रुचि जगा रहा है। यह सब संसार असार है, अहितरूप है, इसमें विश्वास करनेसे लाभ न मिलेगा, एक अपने आपके स्वरूपका श्रद्धान करें, विश्वास करें तो उससे अलौकिक आनन्दकी सिद्धि होगी। यही उपदेशका मर्म है। अपने सहजस्वरूपको पहिचानें, उस ही स्वरूपके निकट रहा करें जिससे अन्तरङ्ग आत्म-प्रदेश सब पवित्र बन जायें। ज्ञानप्रकाशकी किरणोंसे सारे दोष, क्रोधादिक सब भाग जायें, ऐसा अपनको पवित्र बनायेंकी यही आत्महितकी बात है।

एकचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानं भावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥११८८॥

ध्यानका स्वरूप बताया है कि जो एक चिन्ताका निरोध है अर्थात् एक ही ज्ञेयसे ठहरा हुआ जो ज्ञान है उसका नाम ध्यान है, यह भावना उससे भिन्न है। उसे ध्यान और भावनाके जानने वाले विद्वान अनुप्रेक्षा अथवा अर्थचिन्ता भी कहते हैं। ध्यान और भावना, पहिले हो होता है अभ्यास। जब उसका विशेपरूप बढ़ जाता है तो उसका नाम है भावना और भावनासे जो और रूप बन जाता है उसका नाम है ध्यान। सब स्थितियां ध्यानसे होती हैं, खोटा फल भी ध्यानसे मिलता है और अच्छा फल भी ध्यानसे मिलता है। ध्यानके बिना कोई जीव नहीं है और यहाँ तक कि जिनके मन नहीं है उनके भी संज्ञाके माध्यमसे ध्यान रहा करता है। ध्यानकी विशेषता संज्ञी जीवोंके होती है, पर ध्यान किसी न किसी अंशमें हर एक संसारी जीव के रहा करता है। तो खोटे विषयोंमें चित्त रुक जाय वहाँ ही मन बना रहा करे इसे कहते हैं खोटा ध्यान। और जो धर्मयोग्य विषयमें, चिन्तनमें स्वरूपमें ध्यान बना रहे वह है उत्तमध्यान। तो इसका नाम अनुप्रेक्षा भी है, भावना भी है और जो ध्यानरूप है उसका नाम है अर्थचिन्ता। ध्यान तो सबके होता ही है और ध्यान के सिवाय हम आपकी कुछ करतूत नहीं है। वैभव जोड़ना अथवा कोई धर्म जलसा मनाना या कमाई करना— ये सब अपने मनकी बात नहीं हैं। सब जगह केवल आत्मध्यानभर करना है और ध्यान करनेसे फिर प्रदेशोंमें इच्छाके कारण परिस्पन्द होता है और उस परिस्पन्दके अनुसार फिर हाथ पर चलते हैं, फिर और और बातें होती हैं। तो ध्यान ही हम आप सब जगह कर पाते हैं। जैसे कोई मनुष्य किसी दूसरेका बुरा विचारे तो वह अनिष्ट चिन्तवन ही कर सकता, बुरा नहीं कर सकता। अपना विचार बुरा बना ले, इतनी तक ही उसकी ताकत है, किसीका बुरा करदे यह सामर्थ्य उसमें नहीं है। तो जब हम आप सब ध्यानके सिवाय और कुछ नहीं कर सकते, फिर ऐसा ही उपाय करें ना कि विचार अपने बुरे न बनें, भला ध्यान बना लें। भला ध्यान बनानेके लिए आवश्यक है कि सत्सग करें, स्वाध्यायमें विशेष समय लगायें, गुरुसेवा धर्ममें अपना समय लगायें, ये सब उपाय हैं अपना ध्यान भला बनानेके। ध्यान अच्छा हो गया तो समझो कि अपना मार्ग साफ हो गया। न अब दुःख है, न आगे दुःख रहेगा। उस ध्यानका स्वरूप कहा जा रहा है।

प्रशस्तेतरसंकल्पवशात्तद्भिद्यते द्विधा ।
इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्बीजभूतं शरीरिणाम् ॥११८९॥

कहते हैं कि ध्यान दो प्रकारका है—एक प्रशस्त ध्यान और दूसरा अप्रशस्त ध्यान । भला और बुरा । सो जीवके इष्ट अनिष्टरूप फलकी प्राप्तिका कारण है यह ध्यान । शुभ ध्यानका उत्तम फल होता है और अशुभ ध्यानका बुरा फल होता है । अशुभ ध्यानसे कर्मबन्ध होता और उसके उदयकालमें क्लेश होता है । तो अशुभ ध्यानसे निराकुलता मिलती है । शुभ ध्यान करने वालेके ऐसा बल प्रकट होता है कि उसका आत्मस्वरूपरूपी किला इतना मजबूत हो जाता कि वह किसी भी परपदार्थकी कैसी ही चेष्टासे अपने आत्मे बिगाड़ नहीं मान सकता, और है भी नहीं बिगाड़ । हम ही अपने विचार बना बनाकर अपना बिगाड़ करते हैं, परपदार्थसे बिगाड़ नहीं है ।

अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतत्त्वं विचिन्तयेत् ।
तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं सूरिभिः क्षीणकल्मषैः ॥११९०॥

कहते हैं कि जिस ध्यानमें मुनि रागरहित होता है और वस्तुस्वरूपका चिन्तन करता है उस ही को पवित्र आचार्यदेवने प्रशस्त ध्यान माना है । जिसमें रागका लेश न रहे और वस्तुस्वरूपका ध्यान जगे वह प्रशस्त ध्यान है । शुभ ध्यानके दो लक्षण हैं, एक तो उसके प्रति राग न हो और दूसरे वस्तुस्वरूपका चिन्तन बना हो वह शुभ ध्यान है । अब अपने अपने ध्यानकी परीक्षा कर लेना चाहिए । हम निरन्तर कुछ न कुछ ध्यान बनाया करते हैं, किसी न किसी जगह अपने मनको टिकाया करते हैं वह क्या रागरहित है ? अगर रागसहित है तो उसका फल खोटा होगा । दूसरी बात सोचिये—क्या वहाँ वस्तुका चिन्तवन चलता है और विषयोंमें ही बासना बनी रहती है तो इसका फल नियमसे खोटा होगा । तो अपने आपकी परीक्षा करलें—हमारा विचार ध्यान यदि रागरहित है और वस्तुके स्वरूपके चिन्तवनसे युक्त है तो वह हमारा ध्यान उत्तम है । उसके प्रसादसे हम संसारके संकटोंसे छूट सकेंगे । और यदि ध्यान विषयकषायोंमें है, इष्ट अनिष्टमें है तो उसका फल नियमसे खोटा है ।

अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य रागाद्युपहतात्मनः ।
स्वातन्त्र्यवृत्तिर्या जन्तोस्तदसद्ध्यानमुच्यते ॥११९१॥

अब इसमें अशुभ ध्यानका स्वरूप कहा जा रहा है । जिसने वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना, जिसका आत्मा रागद्वेष मोहसे पीड़ित है ऐसे जीवकी स्वाधीन प्रवृत्तिको अशुभ ध्यान कहा गया है । जो शुभध्यानकी विशेषताएं थीं उनसे उल्टी बात असत्ध्यानमें है । जहाँ राग पाया जाता हो और वस्तुके स्वरूपका ज्ञान न हो ऐसा जो ध्यान है वह असत् ध्यान कहलाता है । संसारके प्राणियोंमें ये ये बातें पायी जा रही हैं, वस्तुके स्वरूपका उन्हें परिचय नहीं है, राग ही राग बसा रहता है । देखिये रागका नाम अधिक क्यों लिया जाता और वीतराग विराग आदिक शब्दोंसे केवल राग वीतराग ऐसा क्यों कहा जाता है ? राग है द्वेष भी है, वीतराग है तो द्वेष बीत गया ऐसा क्यों नहीं कहा ? राग रागको ही क्यों अधिक कहा ? इसका कारण यह है कि राग और द्वेषमें मुख्य राग है । जितने द्वेष हुआ करते हैं वे किसी न किसी वस्तुमें रागके कारण हुआ करते हैं । जिनको भी हम अपना विरोधी अथवा शत्रु मानते हैं तो तब मानते हैं जब हमें किसी बातमें राग है और उसका विरोध हो रहा है जिससे तो हम उससे द्वेष करने लगते हैं । तो द्वेष भी जो बनता है जीवमें वह किसी न किसी रागके कारण बनता है, इसलिए मुख्य तो राग है । धनमें राग हो जाय उस धनमें कोई बाधा डाले तो हम उससे द्वेष करने लगते हैं । हमारा अनुराग यदि इज्जतमें है और

इज्जतमें बाधा डाले तो हम उससे द्वेष करने लगते हैं। हमारा जिस प्रसंगमें राग है उसका विघात जिसके निमित्तसे होता हो उससे द्वेष करने लगते हैं और केवल चेतन पुरुषसे नहीं, अचेतनसे भी द्वेष करने लगते हैं। अभी दरवाजेसे घुसकर घरमें जा रहे हो ऊपरका कोई बिरोंदा लग जाय तो उसपर भी गुस्सा करने लगते हैं। हालांकि वह अचेतन है, उसने ठोकर नहीं मारा, खुदसे ही लग गयी पर उसपर भी गुस्सा आता है। कभी किसी बच्चेके किवाड़ लग जाय तो उसकी मां किंवाड़के दो-चार थप्पड़ मार देती है, तो उस बच्चेका रोना बंद हो जाता है। बच्चेके मनमें यह बात आ जाती है कि जिसने हमें मारा उसे हमारी मां ने दण्ड दे दिया। वह बच्चा रोना बन्द करके झट हंसने लगता है। तो जितने भी द्वेष होते हैं वे किसी न किसी वस्तुमें राग करनेसे होते हैं। अतएव राग ही रागकी बात कही जा रही है। जिसके राग है वह संसारमें रुलता है और जिसके राग नहीं है वह संसारसे छूट जाता है। द्वेषका नाम बहुत कम बोला जाता है। द्वेषका मूल हुआ राग और रागका मूल हुआ मोह। मोह है, वस्तुके स्वरूपका यथार्थ भान नहीं है, अज्ञान बना हुआ है तो उस स्थितिमें चूंकि इस जीवका सम्बंध पर्यायसे है ना तो पर्यायमें 'यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि करता है। देहको निरखकर 'यह मैं हूँ' ऐसा अपना प्रयत्न करता है और फिर जब शरीरसे प्रीति हो गयी है, उसे आपा मान ले तो शरीरकी साधनामें उसका राग हो जाता है। तो सबसे प्रबल मोह है। जिसके मोह नष्ट हो गया उसके राग और द्वेष भी नष्ट हो गये, और जिसके रागद्वेष नष्ट हो गए उसको वीतरागताका आनन्द प्राप्त होगा। मनुष्य हुए हैं, हम आप सबको मनुष्य बनकर करनेका काम था तत्त्वज्ञान करना, अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि बनाये रहना—ये दो बातें बनी रहें तो समझो कि बस आत्मासे अमीर और कोई नहीं है। यहांके ठाठबाट तो कल्पनाकी चीज है, उससे कुछ सिद्धि नहीं है। आत्मसिद्धि तो आत्मज्ञानमें, वस्तुचिन्तनमें है। तो जिस मुनिके राग नहीं रहा, तत्त्वका चिन्तन चलता है उसके तो बताया गया कि यह सत् ध्यान है, और जिस पुरुषके वस्तुस्वरूपका यथार्थ भान नहीं है, राग भी बर्त रहा है उसके असत् ध्यान कहा गया है।

स्वयभूरमण समुद्र बहुत दूर है अन्तिमसमुद्र, और अनगिनते मीलोंके बाद है और जितना बड़ा वह समुद्र है उतना बड़ा सारे समुद्र और द्वीप हैं फिर भी उससे वे कम हैं। जैसे बीचमें एक गोल बनाया, जम्बूद्वीप गोल ही तो है एक लाख योजनका। उसके बाद दूसरा गोल बनाया, इतना बड़ा दूना गोल हुआ तो दो लाख योजन एक तरफ हो गया। अब उस समुद्रका क्षेत्रफल करें तो उससे कम जम्बूद्वीप मिलेगा, समुद्रसे दूना है द्वीप, उससे दूना है समुद्र। इस तरह द्वीप और समुद्र दूने-दूने होते जाते। अन्तका जो समुद्र है वह स्वयभूरमण है। वह कितना बड़ा है, स्वयंभूरमणसमुद्रमें ये सब बाकी द्वीप और समुद्र समा गए। इससे भी बड़ा है। जैसे एक छटांक, उसका दूना आधपाव, उसका दूना पाव, उसका दूना आधसेर, उसका दूना सेर। तो सेरका कितना वजन है? उससे एक ही हिस्सा कम उतना ही वजन है उन सब बाटोंका, ऐसे ही एक दूसरे दूने-दूने द्वीप समुद्र हैं। तो आखिरी समुद्र इतना बड़ा है कि सब समुद्र सब द्वीप मिलकर जितने हुए उससे भी बड़ा है स्वयभूरमणसमुद्र। उस ही स्वयभूरमण समुद्रमें सैकड़ों कोशोंके लम्बे मच्छ पाये जाते हैं। जहाँ जितना खुला हुआ स्थान है वहां उतना बड़ा जीव पैदा होता है। यहीं देख लो। इस शहरमें (मुजफ्फरनगरमें) चींटियां जितनी बड़ी हो सकती हैं उससे अधिक बड़ी चींटियां मसूरी और शिमला वगैरहमें पायी जाती हैं। तो जहाँ जिसमें जितना खुला स्थान मिला वहाँ जीव बड़ा होता है। तो स्वयभूरमण समुद्रमें एक मच्छ है जो एक हजार योजनका लम्बा है और उस ही की आंखमें एक तंदुल मत्स्य रहता है जो अत्यन्त छोटी अवगाहनाका है। वह मन ही मन कुढ़ता रहता है। वह सोचता है कि यह मच्छ जो अपना मुंह फैलाये है इसमें हजारों मछलियां लोट रही हैं, यह नहीं खाता। यदि मैं होता इसकी जगहमें तो एक भी मछली बचने न देता, सबको खा जाता। इस प्रकारका परिणाम बनाकर मरण करके वह ७ वे नरकमें पहुंच जाता है। तो बुरा ध्यान करनेका कोई फायदा नहीं। अपने मनको सम्हालो, सबका हित सोचो, सबका भला चिन्तन करो, किसीका अहित न सोचो। सद्ध्यानसे ही इस जीवका लाभ है और

असत् ध्यानसे ही इस जीवका पतन है। खोटे ध्यान तजकर अच्छे ध्यानोंमें अपने मनको लगाना चाहिए। कोई भी प्रसग हो सर्वत्र उदारता वर्तें। अपने पास जो कुछ आना हो आये, जो जाना हो जाये, ये सब औपाधिक बातें हैं। यहाँ कुछ बंधकर नहीं रहता है। अगर पुण्यका उदय है तो सब कुछ प्राप्त होता है और अगर पुण्यका उदय नहीं है तो कितना ही प्रयत्न कर लिया जाय पर किसी भी चीजकी प्राप्ति नहीं होती है। वस्तुका यथार्थ चिन्तन ऐसा करना चाहिए कि उदारताका परिणाम जगे, एक ही बात नहीं, सभी बातोंमें यही शिक्षा लेना है। कोई अच्छा बोले, बुरा बोले, गाली दे, कुछ भी करे तो उसके मात्र ज्ञाताद्रष्टा रह सकें, चित्तमें क्षोभ न ला सकें, यही एक महिनीय बात है।

आर्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधा।
द्विधा प्रशस्तमप्युक्तं धर्मशुक्लविकल्पतः ॥११६२॥

यह ध्यानका मुख्यतया ग्रन्थ है, तो इस परिच्छेदसे पहिले-पहिले सब ध्यानकी योग्यता बन सके वैसा वर्णन आया है। बारह भावनाओंका स्वरूप कहा, ध्यान, ध्याता, ध्येय, फल, सबका विवरण बनाया और जैसे वैराग्य जगे, काम विकार नष्ट हो, कषायें दूर हों, उस प्रकारका चिन्तन कराया और फिर उनके उपायमें समतापरिणाम मुख्य है, वह जैसे बन सके उस प्रकार ज्ञान और वैराग्यका उपदेश दिया। सब कुछ बहुत-बहुत वर्णन करनेके बाद, ध्यानके अगका भी विचारविनिमय करनेके बाद अब ध्यानका सीधा वर्णन किया जा रहा है। ध्यान २ प्रकारके बताये—एक शुभ ध्यान और एक असत् ध्यान। असत् ध्यान तो दो प्रकारका है - आर्तध्यान और रौद्रध्यान। आर्तध्यानमें तो पीडा होती है, रौद्र ध्यानमें यह जीव मौज मानता है। कोई इष्ट पुरुषका वियोग हो गया, अब उसका ध्यान बनाये हुए हैं—यह कब मिले? कैसे मिले? यह इष्ट वियोगज आर्तध्यान अनिष्ट विचारका सयोजक हुआ करता है। किसी अनिष्ट विचार से अनिष्टवियोगज आर्तध्यान होता है। इन दोनों ध्यानोंमें जीवको पीड़ा हुआ करती है। इष्टका वियोग हुआ तो वहाँ भी कष्ट होता है, अनिष्टका सयोग होता है तो वहाँ भी कष्ट होता है। तीसरा आर्तध्यान है वेदनाप्रभव। शरीरमें कोई वेदना हुई तो उसमें ध्यान बनाये हुए हैं कि हाय अब क्या होगा? क्या यह वेदना बढ़ जायगी? क्या मरण हो जायगा? यों उस शरीरकी वेदनाके सम्बधमें जो ध्यान बनता है वह सब आर्तध्यान है। चौथा आर्तध्यान है निदानका। किसी बातकी आशा रखना इस भवके लिए अथवा परभवके लिए, अमुक पदार्थ मुझे मिले, उसकी आशा बनाये तो आशाके भावमें भी तो पीड़ा होती है। अभी यहीं आप किसीकी बाट जोह रहे हों, कुछ देर हो गयी, वह न आया तो आप झट झुंझला जाते हैं। तो आशा करके जो वेदना होती है वह सब आर्तध्यान कहलाता है। रौद्रध्यानमें यह जीव मौज मानता है। जैसे कोई हिंसा करने लगे, झूठ बोले, चोरी करे, कुशील सेवन करे और परिग्रह बहुत बढाये और इन समस्त पापकार्योंको करता हुआ वह मौज भी माने तो यह रौद्रध्यान है। यों आर्तध्यान और रौद्रध्यान तो अशुभ ध्यान बन गए और दो ध्यान शुद्ध बताये गए—धर्मध्यान और शुक्लध्यान। धर्मध्यान तो उसे कहते हैं जहाँ धर्ममें चित्त बढ़े। देव पूजा, स्वाध्याय, तपश्चरण आदिक जिनमें भावना पवित्र रहे ये सब धर्मध्यान हैं और शुक्लध्यान वह है जहाँ रागद्वेष मोह नहीं रहे। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो समीचीन माने गए हैं और आर्तध्यान व रौद्रध्यान खोटे ध्यान माने गए हैं। इस कालमें शुक्ल ध्यान तो बन नहीं सकता। इस पचम कालमें विरक्ति परिणामसे, अधिकसे अधिक सप्तम गुणस्थान तक ही जीव पहुच सकता है। यहाँ शुक्लध्यान नहीं है, पर धर्मध्यान बहुत प्रताप वाला ध्यान है, जिसका सम्बंध कर्मनिर्जरासे चलता रहा है। नहीं बन सकता शुक्लध्यान किन्तु धर्मध्यानकी तो हम आपमें योग्यता है। हम अपना धर्मध्यान बना लें। सच समझलो कि मेरा तो मैं ही आत्मा हूँ, दूसरा कोई मेरा कुछ नहीं है। मैं सबसे न्यारा मात्र ज्ञानानन्द-स्वरूप हूँ, अत कोई समय ऐसी सच्ची दृष्टि बने तो वही धर्मध्यान होता है। इसी धर्मध्यानके लिए हम

आप सबको विशेष यत्न रखना चाहिए।

स्यातां तत्रार्तरौद्रे द्वे दुर्ध्यानेऽत्यन्तदुःखदे।
धर्मशुक्ले ततोऽन्ये द्वे कर्मनिर्मूलनक्षमे ॥११६३॥

उन चार प्रकारके ध्यानोंमेंसे आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो तो खोटे ध्यान हैं जो कि अत्यन्त दुःखको देने वाले हैं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान ये दो समीचीन हैं और कर्मका निर्मूलन करनेमें समर्थ हैं। मिथ्यात्व अवस्था तक केवल आर्त और रौद्रध्यान रहते हैं, धर्मध्यान नहीं बनता। शुक्लध्यान तो योगीश्वरोंके हुआ करता है। आर्त और रौद्रध्यानसे हटकर धर्मध्यानमें आयें ऐसा उद्यम करना चाहिए, क्योंकि जीवको एक विशुद्ध ध्यान ही शरण है। अब तक जो संसारमें इतनी भटकना हुई है वह आर्तध्यान और रौद्रध्यानका ही परिणाम है। ये क्या होते हैं? इसके विस्तारसे वर्णन आगे चलेगा, पर संक्षेपमें यों जान लें कि जहाँ वेदना सहित ध्यान होता है वह तो आर्तध्यान है और जहाँ मौजसहित ध्यान होता है वह रौद्रध्यान है। विषयोंमें हिंसा आदिक प्रवृत्तियोंमें मौज मानते हुए जो चिन्तन चलता है वह रौद्रध्यान है। तो उसमेंसे अब चार प्रकारके ध्यानोंमें भेद कितने हैं? इसका वर्णन करते हैं।

प्रत्येकं च चतुर्भेदैश्चतुष्टयमिदं मतम्।
अनेकवस्तुसाधर्म्यवैधर्म्यालम्बनं यतः ॥११६४॥

आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान—ये चार ध्यान चार-चार प्रकारके होते हैं। किसीमें भेद करना हो तो उसमे साधर्म और वैधर्म दोनों पाये जाते हैं, जहाँ जीवके भेद करते हैं। जीव दो तरहके हैं—मुक्त और ससारी। तो किसी दृष्टिसे मुक्त और संसारी दोनोंमें समानता आना चाहिए, तब तो वह भेद है अन्यथा भेद नहीं है। और किसी दृष्टिसे इन दोनोंमें परस्परमें फर्क भी होना चाहिए, तब तो वह भेद है अन्यथा भेद नहीं है। तो मुक्त और ससारी ये जीवत्वकी अपेक्षा तो समान हैं, और मुक्त हैं कर्मरहित, ससारी जीव हैं कर्मसहित। यों इन दोनोंमें भेद है। तो ऐसे ही आर्तध्यानमें चार भेद कहे गए। और सबको विदित है कि इष्ट वियोगज, अनिष्ट सयोगज, वेदना प्रभव और निदान—ये चार आर्तध्यान कहलाते हैं। इन चारोंमें समानता होना चाहिए तब तो आर्तध्यानके भेद कहलायेंगे तो समानता है। पीडाका ध्यान वह इष्टवियोगमे भी है, अनिष्ट सयोगमें भी, वेदना प्रभवमें भी और निदान तकमें है। तो क्लेशकी दृष्टिसे चारों समान हो गए। पर इष्टके वियोगसे हुआ इष्टवियोगज, अनिष्टके सयोगसे हुआ अनिष्टसयोजक। तो यह वैधर्म हुआ। तो साधर्म और वैधर्मका आलम्बन हो तो भेदप्रक्रिया बनती है। जैसे ससारी जीव ५ तरहके हैं—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। तो ये पाचों के पाचों ससारी हैं इस दृष्टिसे बराबर हैं और ये पाचों आपसमे एक दूसरेसे भिन्न हैं। कोई एकेन्द्रिय है, कोई दोइन्द्रिय है, कोई तीन इन्द्रिय है, कोई चारइन्द्रिय है और कोई पञ्चेन्द्रिय है। तो किसी बातमे तो हो समानता और किसी बातमे हो भिन्नता तो वह भेद कहलाता है। तो यों चार प्रकारके ध्यानके चार-चार भेद बताये गए हैं। उनमेसे अब प्रधान आर्तध्यानका स्वरूप बतलाते हैं।

ऋते भवमथार्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम्।
दिग्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात् ॥११६५॥

पीडामें उत्पन्न होने वाले ध्यानको आर्तध्यान कहते हैं। यह ध्यान अप्रशस्त ध्यान है और इस ध्यानमें जीवकी ऐसी दशा होती है कि जैसे दिशाओंके भूल जानेसे उन्मत्तता आती है, पागलपन आता है, किंकर्तव्यविमूढता आती है, इसी प्रकार आर्तध्यानमें यह जीव किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है। इष्टका वियोग

हो, उसे फिर कुछ सूझता नहीं है। पिताका, मांका, पत्नीका, पतिका जो भी इष्ट हो उसका वियोग हो तो फिर दुनिया एकदम असार प्रतीत होने लगती है। कुछ नहीं रखा है इस दुनियामे—इस प्रकारका ध्यान बनता है, और वस्तुत देखो तो जिनका सयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होगा। चाहे जिसका पहिले वियोग हो, पर वियोग प्रत्येक समागमका अवश्य होगा। यह वियोग तो होता ही आया है, किन्तु खुदमे मोह है सो उसे अनहोनी सी लगती है। बड़ी आफत आ गयी, बड़ा उपद्रप ढा गया, ऐसा प्रतीत होता है। पर यह तो ससारकी रीति है, उस रीतिसे यह सब हो रहा है। तो पीडामे जो ध्यान बनता है आकुलतामय उसका नाम है आर्तध्यान। यह असत् ध्यान है, और जैसे दिशा भूल जाय तो उसमें उन्मत्तता आ जाती है, कुछ पता नहीं रहता, क्या करें, कहां जावे, कहा रहा होगी? जैसे दिशा भूलने वाले पुरुषको सुध नहीं रहती है इसी प्रकार आत्मस्वरूपकी दिशा भूल हो जानेपर इसे कुछ भी सुध नहीं रहती। वे चार भेद कौनसे हैं? आर्तध्यानके हैं, उन चारो भेदोंको बताते हैं।

अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम्।
रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानात्तुर्यमङ्गिनाम् ॥११९६॥

पहिले आर्तध्यानका नाम है अनिष्टसयोगज। जो अपनेको इष्ट नहीं है, जिसे देखना भी नहीं चाहते हैं, जिससे दूर बने रहना चाहते हैं ऐसे अनिष्ट पदार्थका सयोग जुड़ जाय तो उसमें जो कुछ पीडा होती है वह है अनिष्टसयोगज आर्तध्यान। देख लो जगतमे किसीका कोई न इष्ट है, न अनिष्ट है, मुझसे समस्त जीव भिन्न हैं, किसी भी जीवके परिणमनका प्रभाव मेरेमे नहीं आता। मैं उनकी परिणतिको निरखकर निमित्त बनाकर अपने आपमें ही अपना एक प्रभाव उत्पन्न करता हूँ। प्रभावका अर्थ है—चाहे बुरा हो, चाहे अच्छा हो, एक स्थितिसे कुछ विलक्षण स्थिति बन जाय इसका नाम है प्रभाव। तो अनिष्ट तो कुछ दुनियामें है नहीं लेकिन मोहका ऐसा प्रभाव है कि मान्यता बनी रहती कि अमुक मेरा है, अमुक यों है, इष्ट है, अनिष्ट है, इस ही मान्यतासे इस जीवको कष्ट हो रहा है। यही है अनिष्टसयोगज आर्तध्यान। दूसरा है इष्टवियोगज आर्तध्यान। जो पदार्थ इष्ट है उसका वियोग हो जानेसे उसके मिलापके लिए चिन्तन करना इष्टवियोगज आर्तध्यान है। किसीका कोई गुजर गया हो तो जहाँसे जिस गलीसे वह रोज आया करता हो उस गलीकी ओट खटकी लगाकर रोज देखता रहता है। उसे पता है कि उसका वियोग हो गया, फिर भी ऐसा भाव बना रहता कि वह आता होगा। इस प्रकारका ध्यान करना आर्तध्यान है। यह नहीं हो पाता कि चलो अब उसकी दृष्टि छोडकर विशुद्ध आत्मध्यानमे लगे तो अपना हित ही करलें, यों विकल्प नहीं उठता, मोहका ऐसा प्रभाव है। तीसरा आर्तध्यान है रोगके प्रकोपसे जो पीडा आदिक चिन्तन होता है वह है वेदनाप्रभव। कोई रोग हो गया, अब उसमे विचार बुरा चल रहा, हाय बढ़ न जाय, कब मिटेगा, बडी पीड़ा है, इस प्रकारके आर्तपरिणाम होते हैं। तो यह तीसरा आर्तध्यान है वेदनाप्रभव और चौथा ध्यान है निदान। आशा, प्रतीक्षा, इच्छा होनेमे भी बडा क्लेश है ना, तो इसीका नाम निदान है। किसी सांसारिक पदकी वाञ्छा करना इसका नाम है निदान। सो आप समझ लो कि इच्छामे भी कितने क्लेश उठाने पडते हैं? इच्छा हुई और भागे भागे फिरे। तो यह इच्छा भी, निदान भी आर्तध्यान है। अब इन चारोंमेसे अनिष्टसयोगज ध्यानका स्वरूप विवरणसे कहते हैं।

ज्वलनवनविषास्त्रव्यालशार्दूलदैत्यैः स्थलजलबिलसत्त्वैर्दुर्जनारातिभूपैः।
स्वजनधनशरीरध्वंसिभिस्तैरनिष्टैर्भवति यदिह योगादाद्यमार्तं तदेतत् ॥११९७॥

इस लोकमें कोई ऐसा उपद्रव आये जिससे स्वजन, कुटुम्बी जनका, धनका और शरीरका नाश होनेको हो। जैसे आग लग जाय तो सब कुछ नष्ट होगा ना, तो अग्नि लगनेपर जो चिन्तन बनता है,

खेद होता है, हाय सब भस्म हो जायेगा, मेरे इष्ट, मेरे प्रिय, मुझे सुख देनेवाले अमुक पदार्थ खाक हो जायेंगे, ऐसा चिन्तन आता है तो उसे एक पीडा उत्पन्न होती है। जलके बीच कोई फस गया हो, चारो तरफसे जलने घेर लिया हो तो उस समय कितनी पीडा होती है? हाय अब कैसे प्राण बचेंगे, क्या हाल होगा, यों अनिष्ट चिन्तन करना सो अनिष्टसयोगज आर्तध्यान है। इसी तरह विष, सर्प, सिंहादिक, क्रूर जानवर, दुश्मन, राजा आदिक इन सभी अनिष्ट पदार्थोंके सयोगसे जो ध्यान बनता है उसे कहते हैं अनिष्टसयोगज आर्तध्यान। यह तो हुआ अनिष्टसयोगज ध्यानका स्वरूप। अब इसे रोका कैसे जाय? इस पर विचार करें। रोकनेकी मूल तरकीब तो यह है कि हम उसे अनिष्ट मत मानें। उसे अनिष्ट न माननेसे फिर ये खोटे ध्यान दूर हो सकते हैं। कैसे समझें कि यह अनिष्ट नहीं है? तो उसका स्वरूप समझना होगा। यह मैं आत्मा जैसा परिणाम करता हूँ वैसा फल पाता हूँ। किसी दूसरेकी चेष्टासे मेरे आत्मामे कुछ परिणमन नहीं हो जाता। कोई चेष्टा करे, गाली-गलौज करे तो उसकी गालीको सुनकर हम खुद कल्पनाए बनाते है और अपनी कल्पनाओंसे भावना वासनासे अपने आपको दुःखी कर डालते है। कोई दूसरा जीव मुझे दुःखी नहीं कर सकता। तो भेदविज्ञानकी वात दृष्टिमे रहे, अपनेको सबसे निराला ज्ञानमात्र आनन्दमय समझा करें तो फिर लोकमें मेरे लिए कहीं कुछ अनिष्ट नहीं है। कोई आदमी गाली दे गया, अब पर्यायकी ओर हम दृष्टि डालते हैं अपने शरीरको निहारकर जो यह अनुभव करते हैं कि यह मैं हूँ तो गाली देने वाले पर उसे क्रोध उमड़ आता है, ओह! इसने मुझे यों कह दिया। तो जब अपनी पर्यायमें आत्माकी बुद्धि रही और भेदविज्ञान बना, मैं तो देह भी नहीं हूँ। ये लोग भी क्या हैं जिनका समागम हुआ है, बच्चे महिलायें कुछ भी ये तो मेरेसे अत्यन्त निराले हैं। तीन काल भी इनका और मेरा सम्बध नहीं बन सकता। मैं तो केवल अपने ही भावोंसे सुखी दुःखी होता हूँ मेरा अनिष्ट करने वाला इस जगतमें कोई परजीव नहीं है, परपदार्थ नहीं है। ऐसा दृढ़ निश्चय हो तो अनिष्टसयोगज आर्तध्यानको जीता जा सकता है। जो आज अनिष्ट जच रहा है कुछ समय बाद ही आपके मनके कषायके अनुकूल कुछ चेष्टा बन जाय तो उसे मित्र मान लेते हैं और जिसे आज मित्र मान रहे हैं जिसके बिना खा पी नहीं सकते, रह नहीं सकते, कहो कुछ ऐसी परिस्थिति बन जाय कि वह दुश्मन हो जाय, शत्रु मानने लगे, अनिष्ट मानने लगे, यह तो अनुभवकी बात है, अपनेमें विचार कर लीजिए, किसे मानें कि यह अनिष्ट है? जाड़ेके दिनोंमे य ही कपड़े बड़े अच्छे लगते थे मोटे वाले, अब गर्मीके दिनोंमें ये कपड़े सुहाते नहीं हैं। तो किस बातका इष्ट मानना और किस बातका अनिष्ट मानना? कुटुम्बमें प्रथम पृथक कुछ समय तक विवाहके बाद पति-पत्नीमे बहुत अनुराग रहता है, कुछ समय बीत जानेपर जरा जरासी बात पर मुहजोरी होने लगती है। तो उनको बीच-बीचमें क्लेश उठाना पडता है। तो इष्ट क्या रहा? सीधीसी बात तो यह है कि जो इष्ट होगा वह अन्तमें बड़ा दुःख देकर ही दूर होगा। उस इष्टके प्रति विचार विचारकर दुःख होगा। किसमे विश्वास करें, किसकी आशा रखें कि उससे हमे सुख मिलेगा? ससारके कोई भी पदार्थ विश्वासके योग्य नहीं हैं। तब क्या इष्ट और क्या अनिष्ट? अपनी कल्पनाए करते हैं और उसके अनुसार इष्ट अनिष्ट मान लेते हैं। तो कोई अग्नि, जल, विष, शस्त्र, सर्प आदिक किन्हींके द्वारा जो कोई क्लेश माना जाता है। अनिष्ट मानकर उन्हें उनके सम्बंधसे फिर जो एक पीडा उत्पन्न होती है अथवा कल्पना बना डाली जाती है वह सब है अनिष्टसयोगज आर्तध्यान।

तथा चरस्थिरैर्भावैरनेकैः समुपस्थितैः।
अनिष्टैर्यन्मनः क्लिष्टं स्यादार्तं तत्प्रकीर्तितम् ॥११९८॥

चर और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर मन क्लेशरूपी अनुभव करने लगता है उसीका नाम है प्रथम आर्तध्यान। ज्ञानमात्र अमूर्त मैं आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टिमें पहुच आया और फिर उस हा

का अभ्यास बनानेका प्रयत्न हो तो अनिष्टको अनिष्ट न माना जाय, ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। तो अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान तब होता है जब अज्ञानभाव बसा होता है। फिर चलने वाले पदार्थ जीव पुरुष कुटुम्ब और न चलने वाले पदार्थ जैसे ये अजीव वैभव उनकी प्राप्ति होनेपर तो अनिष्ट पदार्थका सयोग होनेपर मन क्लेशरूप होता है, उसको आर्तध्यान कहते हैं। अब चोरोंको घरका यह मालिक अनिष्ट जचता है क्यों कि वह जग रहा है। वे चोर सोचते हैं कि इसे नींद क्यों नहीं आ जाती? जिस चाहे को जो चाहे अनिष्ट मान लेते हैं। किसी शिकारीको साधु दिख जाय तो वह शिकारी उसे अनिष्ट मानने लगता है। वह सोचता है कि आज साधुके दर्शन हो गए, कोई शिकार न मिलेगा। जिसके मनमे जो आता है वह इष्ट अनिष्ट बन जाता है। ऐसी कल्पना अनिष्ट पदार्थके सयोग होनेपर जो उसका चिन्तन बनता है उसे अनिष्ट-संयोगज आर्तध्यान कहते हैं। जो चर और अचर पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर मन कष्टरूप अनुभव करने लगता है उसीका नाम यह है प्रथम आर्तध्यान। और भी सुनो।

श्रुतैर्दृष्टैः स्मृतैर्ज्ञातैः प्रत्यासन्तिं च संसृतैः।
योऽनिष्टार्थैर्मनःक्लेशः पूर्वमार्तं तदिष्यते ॥११९९॥

जो सुने देखे, स्पर्शमे आये हुए पदार्थोंको निकट प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थोंको, मनको क्लेश हो तो उसे पहिला आर्तध्यान कहते हैं। कोई पदार्थ जो कभी देखा नहीं, सुना नहीं, अनिष्ट है, वह उस पदार्थके प्रति सम्भावना भी चित्तमे आये तो वहाँ आर्तध्यान होता है। कोई भोगे गए वैभव आदिक अथवा स्मरणमें आ गये हैं ऐसे निकट प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थोंसे मनको क्लेश होना उसका नाम है अनिष्टसयोगज आर्तध्यान। इससे कर्मका बन्ध होता है और नरक आदिक गतियोंका बन्ध होता है। कभी किसीके फन्देमें आकर, सगमे आकर मदिर जाना पड़े और वहाँ यह बड़ा बुरा मानता रहे, व्यर्थमें यहाँ आकर समय खोना पड़ा, ऐसा सोचे तो वह मदिरमे रहकर भी आर्तध्यान बना रहा है। तो जहाँ कोई दूसरा पदार्थ अनिष्ट जचे तो वहाँ जो कुछ भी ध्यान बनता, वियोगके लिए ही ध्यान बनता। जिस चीजको हमने अनिष्ट मान लिया उसको अपनानेका भाव रहता है या जल्दीसे अलग हो जायें, यह भाव रहता है? तो देखा हुआ हो कुछ अथवा स्मरणमें आया हो कुछ या किसी प्रकार जाना हुआ हो, निकटमें आया हुआ हो, ऐसे अनिष्ट पदार्थोंसे जो मनको क्लेश होता है उसे अनिष्टसयोगज आर्तध्यान कहते हैं। यह ध्यान दुःखदायी है और यह सब ससारी जीवोंमे पाया जाता है।

अशेषानिष्टसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम्।
यत्स्यात्तदपि तत्त्वज्ञैः पूर्वमार्तं प्रकीर्तितम् ॥१२००॥

समस्त अनिष्टका सयोग होनेपर उनके वियोगका जो अनुचिन्तन होता है वह भी आर्तध्यान कहलाता है। अनिष्ट सामने आये तो यह भाव होता है कि यह कब मिटे, इस प्रकारका ध्यान बनता है, निदान होता है तो सभी प्रकारके अनिष्टका सयोग होनेपर उन उन पदार्थोंके वियोगका चिन्तन करना, कब दूर हो, इस प्रकार अनिष्टका संयोग होनेपर बलकी भावना करना यह भी अनिष्टसयोगज नामक आर्तध्यान है। आर्तध्यानका फल बुरा है, धर्मध्यानका फल उत्तम है, ऐसा जानकर आर्तध्यानकी भूमिकासे हटकर उस ही उत्कृष्ट आत्मध्यानकी भूमिकामे आना चाहिए। अपनेको ज्ञानमात्र मानें और उसही मे तृप्त रहकर प्रसन्न होनेका उपाय करें।

राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये,
चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावेऽथवा।

संत्रासभ्रमशोकमोहविवशैर्यत्खिद्यतेऽहर्निशम्,
तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम् ॥१२०१॥

आर्तध्यानका दूसरा भेद है इष्टवियोगज। जो पदार्थ इष्ट है उसका वियोग होनेपर जो इष्टके मिलनके लिए चिन्तन बना रहता है उसका नाम है इष्टवियोगज आर्तध्यान। आर्तध्यान जितने होते हैं सबमें क्लेश रहता है। अनिष्टका संयोग होनेपर अनिष्टको मिटानेके लिए वेदना उठती थी। इष्टका वियोग होनेपर उसके संयोगके लिए चिन्तवन और वेदना होती रहती है। राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, सौभाग्य, भोग आदिक इनके नष्ट होनेपर, विषयोंका प्रध्वस होनेपर पीडा, भ्रम, शोक, मोह उत्पन्न होता है और इस कारण निरन्तर खेदरूप रहता है, यह इष्टवियोगज नामका आर्तध्यान है। स्वरूपदृष्टिसे देखा तो आत्माका आत्माके सिवाय अन्य किसी पदार्थसे कोई वास्ता नहीं है वास्तवमे। माननेकी, कल्पनाकी बात अलग है। कल्पनामें तो कुछ भी मानलो किन्तु स्वरूपको देखकर यदि निर्णय किया जाय ता यह निर्णय है सही अपने आपको लक्ष्यमें लेकर निरखिये कि मेरे आत्माका तो मेरे आत्माके प्रदेशोंमे ही जो गुण है, शक्ति है उससे ही सम्बध है, उससे बाहर किसी भी अन्य पदार्थसे सम्बध नहीं है क्योंकि सभी पदाय अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चतुष्टयको लिए हुए है और यह मैं आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चतुष्टयसे रहता हू, इस कारण न मेरा कर्तव्य किसी अन्य पदार्थसे है और न किसी अन्य जीवका अथवा अजीवका किसी भी पदार्थका सम्बध न मुझमें है, फिर नाता क्या रहा? स्वय ज्ञानमे आकर यह जीव मोह और स्नेहकी कल्पनाए जगाता है और और दुःखी होता है। इष्टमे सभी चीजें हैं। जैसे किसीने यह नियम बनाया है क्या कि कितना धनवैभव हो जाय तो शान्ति मिला करे। वही मनुष्य जो पहिले यह सोचता था कि ५० हजारकी सम्पदा हो जाय फिर तो कोई आपत्ति ही नहीं है, अच्छी प्रकारसे गुजारा है; सब कुछ उसमे समृद्धि है, इससे अधिककी हमे चाह नहीं है, और जब ५० हजार हो जाते हैं तो फिर उसे यह थोडा दिखने लगता है। उस ढगका इसका वातावरण हृदयमे बनता है, तो फिर दुबारा सीमा रखता है। मानलो दो लाख हो जाये तो सोचता है कि अब तो बहुत हो गया, अब करना क्या है, और दो लाख होनेपर फिर वह भी थोडा लगने लगता है। परिणाम यह निकलता कि कैसा ही कुछ हो जाय, करोडपति भी हो जाय, चक्रवर्ती भी हो जाय तो भी धन-वैभवके कारण उसकी ओरसे शान्तिका कोई हल नहीं है। तब फिर क्या इष्ट है? बल्कि जिस पदाथको हम इष्ट समझते हैं उसीके कारण हृदयमे शोक चिन्ता और अशान्ति जगती है। घरके स्त्री पुत्रादिककी जरा जरा-सी बातको देखकर क्रोध उमड आता है, और और ही भाव जग जाते हैं। चिन्ता और शोक छा जाते हैं। तो जिसे हम इष्ट समझते हैं वही हमारे अनिष्टका खास कारण है। तो इष्ट क्या है जगतमे और अनिष्ट क्या है, कुछ भी नहीं। यह दृष्टि जगे कि आत्मा जो सहजशुद्ध ज्ञायकस्वभाव है तन्मात्र ही मैं हू। मैं आत्मा तो चैतन्यस्वभावरूप हू ऐसा अपने आपका विश्वास बनाये तो फिर उसे अन्य कोई पदार्थ इष्ट न लगेगा और न अनिष्ट लगेगा। और कुछ पदाथ न ता इष्ट जचे, न अनिष्ट जचे ऐसी ज्ञानज्योति प्रकट हो जाय तो इससे बढकर और अमीरी कुछ नहीं है। आत्माका स्वरूप ज्ञान है और ज्ञानके शुद्ध विलाससे ही आत्माकी अमीरी समझी जाती है। आत्माका शरण बाह्यमें कुछ नहीं है, जिसको शरण मानते हैं, इष्ट समझते हैं, जिससे प्रीति जगती है, अरे वह इष्ट क्या है? उसके लिए तो महा अनिष्ट है। रागवश इष्ट जच रहे हैं। आत्मा स्वय अपने आप सुखी है। इसका कोई आकुलताका अपने आपकी ओरसे कुछ भी कारण नहीं है, लेकिन जब अपनेमें नहीं ठहरते, अपनेसे बाहरमे किसी पदार्थमे अपना ग्रहण बनाता है, फिर यह जीव स्वय अपने आप आकुलित हो जाता है। तो ये जो इष्ट पदार्थ हैं बाहर दृष्टि फैल गयी, मेरा इतना बडा देश है, देशके निवासी सब मेरे प्रजाजन हैं, इनमे मैं बडा माना जाता हू। ये लोग मुझे राजा करके मानते हैं, कितने ही विकल्प मचालें, पर है क्या? इस समस्त विश्वमे जो कि ३४३ घनराजू प्रमाण है, एक राजूमें असख्याते

योजनके असंख्याते द्वीप समुद्र समा गये । घनमें ३४३ राजू लोक है । कितनी सी यह जगह है जिसमे कोई भी राजा लोगोंसे अपना बडप्पन मानता है । और फिर मर गए तो वह भी न रहा । पर ज्ञानमे राज्य ऐश्वर्य, ये सब कुछ अपने बड़प्पनके साधन प्रतीत होते हैं, ऐसे ही स्त्री कुटुम्ब पुत्र आदिक जो परिजन हैं वे परिजन इष्ट प्रतीत होते हैं। देखिये ज्ञानी पुरुष किसी भी समय तक घरमे रहता है तो क्यों रहता है ? उसका कारण यह है कि ज्ञान तो इतना प्रकट होता है कि उसकी अन्तरमे यह अभिलाषा है कि गृहस्थी बसाकर रहनेमें आत्माका कल्याण नहीं है । उसकी भावना है कि निर्ग्रन्थ, वनवास, आत्मसाधनामे ही समय लगना चाहिए । चित्तमे तो यह बात है कि कर्मोंका उदय इस प्रकारका है अथवा उसकी स्वय अशक्ति इतनी है कि वह इस बातमें समर्थ नहीं है कि एकाकी निष्प्रह हो जाय, केवल आत्मतत्त्वकी रुचिसे ही प्रसन्नतामें समय व्यतीत कर सके । इतनी जब शक्ति नहीं है तो ऐसी स्थितिमे गृहस्थ धर्म पालन करनेके सिवाय दूसरा कोई उचित चारा नहीं है । अब गृहस्थीमे मोक्षमार्गमे चलने लायक योग्यता कैसे रहती है सो सुनो । गृहस्थ धर्ममें पच अणुव्रतरूप वृत्ति होती है—अहिंसा अणुव्रत, अचौर्य अणुव्रत, सत्य अणुव्रत, ब्रह्मचर्य अणुव्रत और परिग्रह परिमाण अणुव्रत । अहिंसा अणुव्रत तो अपने आप ऐसा सधा रहता है कि त्रस हिंसाका पूर्ण त्याग है और स्थावर एकेन्द्रिय जीवोंकी भी बिना प्रयोजन हिंसा नहीं करता । अहिंसा व्रतकी दिशामे गृहस्थने यह परिमाण लिया है । यह अणुव्रत बनाता है । बोलना तो चाहिए केवल आत्माकी ही बात । वही सत्यमहाव्रतमे, लेकिन यहाँ जब गृहस्थीमे रहना पड़ रहा है, अपने आपको अनेक पापोंसे बचानेके लिए जब गृहस्थ धर्मको अगीकार किया है तो यहाँ अर्थव्यवस्था भी चाहिए, अत अनेक प्रकारके रोजिगार करने पडते हैं। वहाँ उसे बहुत बहुत वचनव्यवहार भी करना पड़ेगा तो सच्चाईसे ईमानदारीसे वचनव्यवहार भी करेगा। इसमें सत्यका भी वह गृहस्थ ख्याल रखता है। अचौर्य अणु व्रतमें किसीकी चीज नहीं चुराता, परधन नहीं हड़पता और अपने आपमें ऐसा विश्वास बनाये रहता कि अध्यात्मदृष्टिसे तो कोई भी परपदार्थको अपना बनाये, अपना माने यह चोरी है । इस चोरीको तो इस ज्ञानीने छोड दिया । अब व्यवहारिक रूपसे जो वस्तुवोंमे उलझन बनी है वह रह गयी है सो उसमे अपना विवेक रखता है । गृहस्थ धर्ममे ज्ञानी ब्रह्मचर्यका पालन करता है, स्वदारसंतोषवृत्ति रखता है यह ज्ञानी गृहस्थ, और परिग्रह बिना गृहस्थीका काम चल तो नहीं सकता । ठीक है, लेकिन परिग्रहमे लालसाका कहीं अन्त हो सकता है क्या ? नहीं हो सकता । तीन लोकका भी वैभव मिल जाय तो भी लालसाका अन्त नहीं होता । इस मनसे कुछ विचार कर लेनेमे कौनसी कठिनाई है ? जरा विचार करें कि वैभव तो कितना भी हो पर उससे सन्तोष नहीं होता, अत इस परिग्रहका परिमाण बनाना ही चाहिए । परिग्रहका परिमाण बना लिया । लोग सोचते हैं कि परिमाण तो बना लिया, जैसा मान लो एक लाखका परिमाण बना लिया, और वे हो जायेंगे जल्दी ही एक लाख पूरे, फिर अपना लाभ व्यर्थ ही छोड़ा जा रहा है लेकिन यहाँ सच्चाई यह है कि परिग्रहका सचय किस लिए करता है ? जो लखपति है यह करोड़पति होना चाहता है, किस लिए कि दुनियामे मैं प्रथम नम्बरका धनिक कहलाऊं, अपने आपको महानता जाहिर करूं । यदि धनसचय करनेका कोई और दूसरा कारण हो तो बतावो । तो अब परिग्रहका परिमाण कर लेनेसे देखिये परिग्रहके जोडते रहनेका जो प्रयोजन है, उद्देश्य है उसमे कुछ फर्क नहीं पड़ता ।

परिग्रहका मान लो परिमाण कर लिया, दो लाखका कर लिया तो दो लाख हो जानेके बाद फिर परिग्रह बढ़ानेकी बात मनमे न आयगी । पर परिग्रहका परिमाण कुछ नहीं है तो चाहे जितना धन सचित हो जाय पर तृष्णाका अन्त नहीं आता । परिग्रह परिमाण करनेपर यह विधि रहती है कि जितना परिमाण किया उतना पूरा होनेके बाद जो कुछ विशेष आय बने उसे दान कर देवे । तो अब देखिये कि दो लाखका परिमाण करने वालेने यों यदि दो लाखका दान कर लिया और दो लाख उसके है ही । इसके बाद यदि वह चार लाखका धनी बन जाय, उसमे दान करता तो इज्जत ४ लाख होनेपर बढती या दो लाख ही रहे, दो लाख दानमे गए तो उसमे इज्जत बढी । तो परिग्रहका परिमाण करनेपर धनसचयका प्रयोजन अप

होता। यश इज्जत प्रसन्नता चार आदमियोंमें सभ्यतासे, समानतासे बैठनेका अवसर मिलना ये सब बातें परिग्रह परिमाणसे बनती हैं। यों गृहस्थ परिग्रह परिमाण अणुव्रतका पालन करके अपने आपको मोक्षमार्गके पथसे बराबर चलाये रहता है।

ज्ञानी गृहस्थ कुटुम्बियोंके भरण पोषणके लिए सारे काम करता है पर उनमे रागभाव नहीं आने देता। देखो जिन जिनका भी सयोग हुआ है उनका वियोग नियमसे होगा। यह असगुनकी बात नहीं किन्तु एक तत्त्वकी बात कही जा रही है। यदि संयोगके कालमे बहुत प्रीतिपूर्वक रहे और कुछ भी वैराग्य न रखा तो बतलावो वियोगके कालमें उसकी क्या स्थिति होगी? जब तक सयोग है तब तक भी यह ज्ञान जगाये रहें कि प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं और किसी पदार्थके आधीन कोई दूसरा नहीं है और जिनका समागम हुआ है उनका वियोग किसी क्षण किसी समय भविष्यमें अवश्य होगा, ऐसा तत्त्वज्ञान जागृत रहे तो फिर वियोगके कालमें विह्वलता न जगेगी। झट धैर्य होगा कि यह बात तो हम पहिलेसे ही जानते थे। यह तो एक ससारकी ही रीति है। इसी प्रकार सौभाग्य भोग भोगसाधन ये भी इष्ट तत्त्व हैं। जब कभी किसी समय सौभाग्यका विनाश होता है, भोगका भोगसाधनका विनाश होता है उस समय भी इस जीवको एक बहुत विह्वलता उत्पन्न होती है। तो यह ज्ञान बनाये रहें कि सौभाग्य तो एक कलक है, पुण्य हो अथवा पाप हो, सभी प्रकारके कर्म तो जीवके कलक हैं, जो इन समस्त कलकोंसे दूर हो गये ऐसे, निष्कलक सिद्ध अरहत परमात्मा ही पूज्य ईश हैं। सौभाग्यके विनाशका अथवा भोग और भोगसाधनोंके विनाशका क्या खेद करना? ये तो बाह्यतत्त्व हैं। मैं आत्मासिद्ध समान अथवा प्रभु समान अनन्त ज्ञानका ऐश्वयका अधिकारी हूँ। ये सब मिली हुई बाहरी बातें मेरे लिए कुछ नहीं हैं, ऐसा जानकर उनमे इष्ट अनिष्टकी बुद्धि न बनायें। इष्टवियोग होनेपर शोक करना इष्टवियोगज आर्तध्यान है। इसमें खोटे ध्यानोंका वर्णन चल रहा है, इन ध्यानोंमे रहते हुए आत्मध्यान नहीं बन सकता और न आत्मोद्धारका कोई उपाय बन सकता।

दृष्टश्रुतानुभूतैस्तैः पदार्थैश्चित्तरञ्जकैः।
वियोगे यन्मनः खिन्नं स्यादार्तं तद्द्वितीयकम् ॥१२०२॥

ऐसे पदार्थ जो कभी देखे अथवा सुने गए अथवा अनुभवमें आये हैं उन पदार्थोंका वियोग होनेसे मनको जो खेद होता है उसको आर्तध्यान कहते हैं। आत्माके लिए सारभूत हितरूप केवल आत्माके सिद्धि सहजस्वभावका अनुभवन है। इसके अतिरिक्त आत्माका कोई शरण नहीं है, सारभूत नहीं है, हितरूप नहीं है। इन धनवैभव परिजन, इज्जत पोजीशन इत्यादिमे कहीं कुछ भी सारका नाम नहीं है। कदाचित यहाँके कुछ लोगोंने बडा कह दिया, भला बता दिया तो वह भी है क्या? ससारके दुःखी प्राणी हैं उनकी स्याबाशीका अर्थ क्या है? अपने आपमें अपने कल्याणकी बात निरखना चाहिए। तो जो देखा गया है, सुना गया है, भोगा गया है अथवा अनुभव किया गया है, इन तीन प्रकारके भोगोंमे ही तो जीवोंकी प्रतीति होती है। देख लिया तो मनमें वासना बन जाती कि ऐसा मुझे भी होना चाहिए। किसीके पास कार है तो मेरे पास भी होना चाहिए। किसीके पास बडे-बडे आरामये साधन हैं तो वैसे मेरे पास भी होने चाहिएं। इन दिखने वाले भोगसाधनोंमे इस जीवके लालसा उपजती है और यह दुःखके मार्गमे चला जाता है। कोई बात सुनता है तो सुनकर भी तृष्णा जगती है। कोई बात अनुभवमे आती है, कुछ रसीले भोजन कर लिया तो उसमे लालसा बढ जाती है कि ऐसा मुझे भी खाना चाहिए। तो देखे गए, सुने गए, अनुभव किए गए भोगोंमें लालसायें बढ़ती है और वे कदाचित प्राप्त हो जायें तो कभी वियोगका भी समय आता है तो उस वियोगके समयमें इस जीवको बडी विह्वलता बढती है। बम्बईमे कोई बडा ऊचा गणितका प्रोफेसर था। उसे अपनी स्त्रीमें इतना अनुराग था कि जब स्त्री मदिर जाये तो वह उसपर छतरी लगाये रहता था। इतनी कोमल थी वह कि कहीं धूप न लग जाय। तो स्त्रीने समझाया कि इतनी अधिक प्रीतिका फल

बुरा होगा, हमारे मरनेपर फिर तुम्हारी क्या स्थिति होगी ? तुम्हारा चित्त वश न रहेगा, उन्मत्त हो जावोगे। और, हुआ भी ऐसा ही। जब स्त्रीका वियोग हुआ तो ऐसा उन्मत्त बन गया कि उसके फोटोको लिए रहे और उस ही फोटोसे बातें करे। एक बार बनारसमें कोई एक धर्मशालामे ठहरा था। बगलके ही कमरेमे चिरोंजा बाईजी भी रहती थी जिन्होंने बड़े वर्णीजी को पढ़ाया था। जब वह उस फोटोसे कुछ बातें कर रहा था-अभी रोटी नहीं बनाओगी, भूख लग रही है आदि, तब बाईजी ने उसके पास जाकर पूछा कि तुम किससे बातें कर रहे हो ? तुम्हारे पास तो कोई नहीं है। तो उसने सारा किस्सा सुनाया। तो यहाँ जिस जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग नियमसे होगा। आप सच समझिये कि संसारमें बाहरी कोई भी पदार्थ आत्माके लिए हितरूप नहीं है, सब भिन्न हैं। उनमें आसक्ति करना यह अन्तमें क्लेशका ही कारण बनता है। अत इष्ट-वियोगज आर्तध्यानसे बचना है तो अभीसे यह तपश्चरण किया जाय कि समागमको क्षणिक मानलें। यह तो क्षणभरका समागम है, ये सभी बिखरेंगे, ऐसा निरखते रहें तो भविष्यमे इष्टवियोगज आर्तध्यान न भोगना पड़ेगा। तो इन चित्तरञ्जक इष्ट पदार्थोंका जब वियोग होता है तो मनमें बड़ा खेद उत्पन्न होता है। उस खेदखिन्नतामें इष्टवियोगज नामका आर्तध्यान होता है। पहिले तो था अनिष्टसयोगज, अनिष्ट चीजका सयोग होनेपर दु:खी हो रहा था, जिससे मन न मिले उससे चित्त चाहता है कि यह यहाँसे हट जाय। अनिष्टसयोगमे भी वेदना होती है इस जीवको और अब इष्टवियोगमे भी यह पुरुष ऐसा भूल वाला हो जाता कि अपने आत्माका उद्धार करने योग्य नहीं होता। यों खोटे ध्यानोको तो तजना चाहिए और देव, शास्त्र, गुरुका अनुराग ऐसे-ऐसे विशिष्ट ध्यानोंमे अपनी परिणति करना चाहिए तो आत्माका अवसर मिलेगा और मोक्षमार्गमे लगना आगे बढ़ता रहेगा।

मनोज्ञवस्तुविध्वंसे मनस्तत्संगमार्थिभिः।
क्लिश्यते यत्तदेतत्स्याद्द्वितीयार्तस्य लक्षणम् ॥१२०३॥

मनोज्ञवस्तुका विध्वंस होनेपर उस वस्तुके सगमकी चाह करन वाले लोग क्लेश करते हैं, मन-सक्लेशमे होता है ऐसे पीडारूप ध्यानको इष्टवियोगज नामक आर्तध्यान कहते हैं। अब इसमे ध्यानका स्वरूप साक्षात् बताया जा रहा है। पहिले तो इसका प्रभाव इसके बिना होने वाले कष्ट, विडम्बनाएं, इनका उपाय ध्यान करने वालेकी प्रशसा, ये सब वर्णन हो चुके, अब ध्यानका ही स्वरूप चल रहा है जिसमे प्रथम यह बताया जा रहा कि दो प्रकारके ध्यान आर्त और रौद्र ये आत्मध्यानके विघातक हैं। ध्यान तो ये भी है, पर ये ससार के मार्ग हैं और आत्मध्यानसे बिमुख करने वाले हैं। इष्टवियोगज आर्तध्यान और अनिष्ट-सयोगज आर्तध्यान, दो ये हैं। अब वेदनाप्रभव आर्तध्यानका स्वरूप कहते हैं।

कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्ठातिसारज्वरैः,
पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितै: रोगैः शरीरान्तकैः।
स्यात्सत्त्वप्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्व्याकुलत्वं नृणाम्,
तद्रोगार्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरं ॥१२०४॥

वात पित्त कफ प्रकोपसे उत्पन्न हुए जो रोग हैं जो शरीरको नाश करने वाले हैं, बड़े प्रबल हैं, क्षण-क्षणमें उत्पन्न होते हैं ऐसे जो श्वास आदिक अनेक रोग हैं, उन रोगोंसे जो मनुष्योंके व्याकुलता होती है उसे रोग, पीड़ा, चिन्तन नामका आर्तध्यान कहा है। जहा तीनकी समता है—वात पित्त कफ, वहा तो शरीरकी स्वच्छता है और जहां इन तीनोंमें विषमता हुई वहां शरीरमें रोग हुआ। यही हालत आत्माकी है— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। इन तीनकी जहां एकता है वहा तो शान्तिका मार्ग है और अविषमता है, अपने स्वभावसे, स्वरूपसे चलित हो जाता है वहा ससारकी अनेक विडम्बनाएं होती

तो वात पित्त कफके प्रकोपसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और नाड़ीसे उन्हीं वात पित्त कफके प्रकोपका अनुमान किया जाता है। वात नाम है वायुका। जो शरीरमें वायु है जो बढ़ जाय पेटमें, शूलका रोग बढ़ जाय वह वायुका प्रकोप है। वायुका प्रकोप हो जाय, पेट फूल जाय, बेचैनी बढ़ती है, और उस वायुका धक्का लगनेसे हार्ट तक फैल हो जाता है। तो वायु शरीरके लाभके लिए है, कम्पित हो जाय तो वही वायु शरीर के विनाशके लिए है। पित्तमें गर्मी बढ़ती है और पित्त सम्बंधी अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। कफमे ठंडक बढ़ती है और कफ सम्बंधी रोग उत्पन्न होते हैं। कफके प्रकोपसे जहां वायु कम्पित हो जाता है वहां सन्निपात हो जाता है। सन्निपात बड़ा कठिन रोग है। यों वात पित्त कफकी असमतासे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। तो उस समय मनुष्य के जो पीड़ा होती है, जो चिन्तन होता है, वह है वेदनाप्रभव नामका आर्तध्यान। रोग तो जो भी हो वही पहाड़सा दीखता है। फोड़ा-फुंसी तो एक साधारणसी बात मानी जाती है पर वह भी एक पहाड़ जैसा दिखता है। ये फोड़ा-फुंसी तो किसी नस पर ही हुआ करते हैं। जब उस फोड़ा-फुंसीकी वेदना नहीं सही जाती है तो ऐसा कहते हुए लोग पाये जाते हैं कि इस फोड़ा फुंसीकी वेदनासे तो बुखारकी ही वेदना ठीक थी। इस फुंसीकी वेदना तो नहीं सही जा रही है। कहीं पसीना बहुत आया, मैल जम गया तो उससे जो खाज होती है उस खाजके खुजानेमें जो पीड़ा होती है वह पीड़ा भी इन प्राणियोंको बड़ी कठिन वेदना करने वाली दिखती है। फिर रोग हैं कितने, करोड़ोंकी गिनतीमें हैं, उन रोगोंमें जो पीड़ा वेदना होती है उस समयका जो चिन्तन है उस रोगपीडाचिन्तन नामक ध्यान कहते हैं। बड़े-बड़े पुरुष बड़े-बड़े उपसर्गोंको सह सकनेका जिन्होंने अभ्यास नहीं किया है वे रोगोंमें विचलित हो जाते हैं।

स्वल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वप्नेपि सम्भवः।
ममेति या नृणां चिन्ता स्यादार्तं तत्तृतीयकम् ॥१२०५॥

इस रोग पीड़ा चिन्तवन नामक आर्तध्यानमें कैसी बुद्धि उत्पन्न होती है कि उसके किञ्चित भी रोगोंकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी नहीं होती, ऐसा चिन्तन होना और न होने देनेके लिए एक शोक और चिन्ता बनाये रहना यह तृतीय आर्तध्यान है। अध्यात्म दृष्टिसे सोचिये तो यह जो शरीरका ढाचा मिला है यह महारोगी है। यह विस्तर रोगोंसे भरा है। इसे विस्तर क्यों माना गया? विस्तरसे केवल विस्तरकी ही बात नहीं है। विस्तर उनके होता है जिनके बड़े-बड़े ठाठ-बाट हैं, आरामके साधन हैं। जो निष्परिग्रह हैं, त्यागी लोग उनके पास कहां विस्तर है? तो यह शरीर विस्तर महारोगी है। कहां तो यह अमूर्त आत्मा आनन्दमय था, अपने आपके स्वरूपके प्रकाशसे सदैव पवित्र था, अब लग गया यह संग विस्तर। इसके लगनेपर भ्रम बढ़ा, यह मैं हू, और जब शरीरको माना कि यह मैं हू तो उसकी फिर यह रक्षा करता है। लोग ऐसी भावना करते हैं कि स्वप्नमें भी कभी मेरे शरीरमें रोग न उत्पन्न हो।

भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुरवधूलास्यलीला युवत्यः।
अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादि चिन्तासुभाजाम्
यत्तद्भोगार्थमुक्तं परमगुणधरैर्जन्मसन्तानमूलम् ॥१२०६॥

अब निदान नामका आर्तध्यान कहा जा रहा है। बड़े-बड़े देव जो धरणेन्द्र इन्द्रके द्वारा सेवन किए जाते हैं, इनके उपवनको बचाने वाली रूप साम्राज्यकी लक्ष्मी है जिसकी इच्छा करना सो निदान नामक आर्तध्यान है। इच्छा, आशा, प्रतीक्षा, अभिप्राय इनसे बड़ा कष्ट होता है और ये सब निदानके ही रूपक हैं। जैसे निदानकी यह परिस्थिति है कि परभवमें मुझे स्वर्ग लाभ प्राप्त हो देवेन्द्र धरणेन्द्र आदिके पद प्राप्त हों,

ये सब निदान ही तो हैं। किसी भी परवस्तुकी चाह होना यह सब निदान है। परलोकके लिए चाह करना सो निदान है, इस लोकके लिए चाह करना सो भी निदान है। इस भवमें मुझे वैभव, इज्जत, आदिककी प्राप्ति हो, ऐसी चाह करना सो निदान है। इस निदानसे क्लेश ही होता है, भले ही शेखचिल्ली जैसा सोच सोचकर मौज मान लिया जाता हो, यों करूंगा फिर यों करूंगा। प्रथम तो ऐसी इच्छा करते हुएमे भी उसे सुख नहीं है। लेकिन उस मौजको भी मान लीजिए तो उसका भंडाफोर क्षणभरमे ही होता है। एक मनुष्यको स्वप्न आया कि रास्तेमें यह दो हजार रुपयेकी थैली पडी है, चाँदीके रुपये हैं, इसे ले लें। उसका वजन था २५ सेरका। तो स्वप्नमें उस पुरुषने उसे अपने कंधेपर रख लिया और चल दिया। चलते-चलते कंधा दुखने लगा। उस दुखमें ही उसकी नींद खुल गयी। जब नींद खुली तो तुरन्त थैलीको ढूढ़ने लगा। कहाँ गई वह थैली? अरे वह तो स्वप्नकी बात थी, लेकिन स्वप्नमे भी जो वह कल्पना लगा बैठा था उससे सचमुच कंधा दर्द करने लगा। तो यह निदान भी एक महाविडम्बना है।

अपने स्वरूपकी खबर हो और सबसे निराला ज्ञानमात्र यह मैं आत्मा हूँ, मेरा कार्य केवल ज्ञानज्योति है, इस प्रकार परसे न्यारे केवल अपने आपमें परिणति करते हुए उपयोग बने तो वह तो है जीवनकी सफलताकी निशानी और इसके विरुद्ध जो कुछ हो रहा है जिसमें हम मौज कल्याण समझते हैं वह सब इसके लिए अनर्थ है। तो निदान अनर्थ है और निदानसे कुछ सिद्धि नहीं। कोई ऐसा सोचले कि मैं देवेन्द्र बन जाऊं तो सोचनेसे बन गया क्या? हां इतना हो सकता है कि तपश्चरण, वैराग्य, पुण्य तो बहुत हो और माग ले थोडी बात तो मिल जायगी। जैसे धनवैभव तो अधिक हो और किसी समस्यामें किसीसे थोड़ा माग ले तो उसका मिल जाना सुगम है। तो निदानमे सब बातें हो जायेंगी तो भी सफलताएं नहीं है। मिलना तो बहुत था पर थोडा मिल गया। यों इस निदानमे कोई सिद्धि नहीं है। अपना वैसा परिणाम बने, सबसे निराले अपने आपके ज्ञानस्वरूपको निहारनेका उपयोग बने, किसी परपदार्थसे किसी भी प्रकारकी वाञ्छा न रखें, अपने आपका दर्शन सुगम होता रहे ऐसी परिणति होती है तब उसे शान्ति प्राप्त होती है, अन्यथा बाहरी वस्तुवोंके सम्पर्कमें तो इस जीवको परेशानी ही परेशानी है। पर और ईशान ये दो शब्द है। ईशानका अर्थ है मालिक, परका मालिक बनना, परको मालिक बनाना ऐसा जो अपना भाव रखता है उस मनुष्यका नाम है परेशान। किसी परवस्तुके सम्पर्कमे कुछ हित नहीं है, अहित ही है, क्लेश ही क्लेश है, फिर भी यह प्राणी बाह्य वस्तुवोंसे विमुख होकर अपने आत्मामे मग्न होनेकी धुन तक भी नहीं बनाता। ये सब निदानके सताये हुए लोग बाह्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि रखकर अपने आपको आकुलित बनाये चले जा रहे है। यह है निदान नामका चतुर्थध्यान आर्तध्यान। इन्द्र धरणेन्द्र आदिक भोगोंकी चाह करना, दुनियाभरमे जो अनुपम रूप हो, ऐसे रूपकी चाह करना तथा क्षीण हो गये हैं शत्रुके समूह ऐसे राज्यकी वाञ्छा करना और देवागनाओंके नृत्यमे वचनालापमे रहनेकी चाह करना, इस प्रकारके चिन्तवनको आचार्यदेव भोगार्थ नामका चौथा आर्तध्यान कहते हैं। योगसाधनोंकी बाधासे दुःखी होनेका नाम आर्तध्यान है। लोग जानते हैं कि क्या-क्या विचार करते जाते हैं और बनता है उसका क्या, इच्छा करना व्यर्थ है। अध्यात्म दृष्टिसे देखा जाय तो जिस कालमें इच्छा है उस कालमे क्लेश है और समीपमें भोग नहीं है। समीपमें भोग साधन हो तो इच्छा फिर किसकी करे? जैसे जिसके हाथमे १०० रु० हैं, क्या वह यह इच्छा करेगा कि मुझे १०० रु० मिल जायें? जो कुछ प्राप्त है उसकी वाञ्छा नहीं होती है। तो जिस समय वाञ्छा है उस समय चीज प्राप्त नहीं है और जिस समय चीज प्राप्त है उस समय उसके भोगनेकी वाञ्छा नहीं रहती। यद्यपि भोगनेके समयमे भी इच्छा चलती है मगर जो भोग भोगा जा रहा है उसकी नहीं, अब अन्य भोग-साधनोंकी इच्छा करने लगता है। इच्छाका विषय था भोगसाधन, वह इच्छाके समय प्राप्त हुआ नहीं। तो फिर उस इच्छासे सफलता क्या हो? इच्छा करना बिल्कुल व्यर्थ ही तो रहा।

जैसे कोई गरीब आदमी है, उसके जब तक दांत थे तब तक चने नहीं जुड़े और जब चने जुड़े तो दांत न रहे। वह बेचारा गरीब अपने जीवनभर चने न चबा सका। यह बात है इच्छाकी और मो साधनोंको। तो यह इच्छा कभी भी सफल न हो सकी। किसी भी मनुष्यकी इच्छा जो भी की जा रही वह सफल नहीं होती। उस इच्छासे व्याकुलता हो रही, बेचैनी हो रही। कोई साधु शहर के बाहर जंग में चातुर्मास कर रहे थे तो एक सेठ जी जो कि बहुत ही भक्त पुरुष थे उन्होंने सोचा कि चार माह तक इ महाराजके पास इसी जंगलमें रहें और महाराजकी खूब सेवा करें। सो क्या कि घरमें जो कीमती सामा था सोना, चांदी, हीरा, जवाहरातका उसे निकालकर एक हंडेमें भरा और इसी जंगलमें एक पेड़के नी गाड़ दिया। अब वह सेठ रात-दिन उसी जंगलमें रहे। जब चातुर्मास समाप्त हो गया तो महाराज त विहार कर गए, वहां क्या हुआ कि उस सेठके पुत्रने कभी किसी तरहसे उस हंडेको देख लिया था, सो उसे वा खोद ले गया था। उस सेठने समझा कि इसमें तो महाराजका हाथ मालूम होता है क्योंकि उनके सिवार यहां और कोई न रहता था। सो झट महाराजके पास पहुंचा और वहाँ ऐसी-ऐसी कथायें कहानियां कहं कि जिनमें यह बात टपकती थी कि हमने तो महाराजकी चार माह तक बड़ी सेवा की, फिर भी हमारा कीमती वस्तुवोंसे भरा हुआ हंडा गायब कर दिया। महाराजने भी कुछ ऐसी कथायें कहानियां कहीं कि जिनमें यह बात भरी थी कि अरे सेठ तेरा अनुपकारी कोई और होगा, मेरे प्रति तो तुझे केवल भ्रम है। तो यह सब क्या है? निदान ही तो है। परभवकी बात बिचारना सो निदान है और इस भवके साधनों में मन लगाना सो भी निदान है। तो इस निदानके कारण इस जीवको निरन्तर परेशानी रहती है। जगत की कोई वस्तु चाहनेके योग्य नहीं है। हमारा साथी यहां है कौन? शिरमें पीड़ा हो जाय तो क्या उसे कोई बाँट सकता है? कोई नहीं बाँट सकता। तो यहाँ किसे साथी माना जाय? प्रत्येक जीव स्वयं है, किसीका किसीसे कुछ सम्बध नहीं है, सब एक दूसरेसे अपरिचित हैं, फिर भी उनके प्रति मोह रखना, उस ही धुनमें निरन्तर बने रहना, विकल्पोंसे हटकर अपनेको बोझरहित अनुभव न करना, ये सब तो इस नरभवको निष्फल बनानेकी निशानी हैं। निदान, आशा, इच्छा ये सब व्यर्थके ही दुर्गुण हैं जिससे जीवको परेशानी रहती है। अगर उदय अनुकूल है तो इस वैभवकी प्राप्ति होती है, लेकिन उस वैभवमें यदि आसक्ति हो, इच्छा हो तो वैभव मिलनेके बाद भी वह दुःखी है, परेशान है, तो ये चारों प्रकारके आर्तध्यान इस जीवको क्लेश देने वाले हैं। उन दुर्ध्यानोंसे हटकर आत्मध्यानमें लग सकें तो हम आपकी भलाई है। उसमें ही तत्त्वज्ञान और वैराग्य बनता है। यह तत्त्वज्ञान और वैराग्य सत्संगसे हुआ करता है। तो सत्संगमें रहकर तत्त्वज्ञान और वैराग्यकी पुष्टि करें, और इन ही के द्वारा हम अपने आपको शान्त कर लें।

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां,
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात्।
पूजासत्कारलाभप्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः
स्यादार्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधाम ॥१२०७॥

जो जीव तीर्थंकरके अथवा देवोंके पदोंकी वाञ्छा करता है अथवा शत्रुसमूहके उच्छेदनकी वाञ्छा करता है या अपने पूजा प्रतिष्ठा लाभ आदिककी वाञ्छा करता है तो वह निदानजनित आर्तध्यान करता है। यह ध्यान भी जीवोंको दुःखरूपी अग्निका तीव्र साधन है। तीर्थंकरका पद पुण्य आचरणोंके समूहोंसे भरा हुआ है। उसकी वाञ्छा करना भी निदान है। प्रथम तो यह है कि तीर्थंकरके बाहरी बातोंके अतिशय जानकर इच्छा किया करते हैं और कदाचित कोई तीर्थंकरका स्वरूप भी जाने और फिर भी वाञ्छा रखे कि मैं तीर्थंकर होऊं तो वह भी निदानकी बात है। मैं संसारसे मुक्त होऊं, कर्मोंसे छूटूं, यह परिणाम

तो एक सामान्यपरिणाम है। वह साधारण मुनि रहकर भी मिल सकता है और उत्कृष्ट साधु अवस्थामें सब एक समान है, पर तीर्थंकर पद तो एक अतिशय चमत्कारोंसे भरा हुआ इस लोकका पद है। उस पदके पाने की वाञ्छा करे, उसका वैक्रियक शरीर है, कई-कई पखवारेमें उनके श्वास आती हैं, भूख हजारों वर्षोंमें लगती है, उनका शरीर निरोग रहता है, असख्याते वर्षोंकी उनकी आयु है। यह सब जानकर जो उस पद की वाञ्छा करता है सो भी निदान है। अब निदान करते समय जीवको आकुलता रहती है, क्योंकि इच्छा करनेका फल आकुलता है। मोक्षकी भी इच्छा हो तो उस इच्छा करनेसे मोक्ष नहीं होता। भले ही मोक्ष की इच्छा करना भला है, पर इच्छा करनेसे मोक्षकी प्राप्ति हो सो बात नहीं है। फिर सासारिक पद-तीर्थंकर, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदोंकी इच्छा करना निदान है। दुःखका ही देने वाला है। यह तो साधारण-सी बात है। कोई लोग तो ऐसी इच्छा कर डालते हैं कि मैं अमुक सेठका लड़का बन जाऊं। कोई सेठ बड़ा प्रतापी हो, कोमल हो, उसके बड़े आरामको देखकर कोई चाहे कि मैं इस सेठका लड़का बन जाऊं तो यह निदान है। होना न होना निदानके आधीन बात नहीं है। कोई पुण्य तो हो बड़ा और निदान छोटा बाध ले तो बात बन भी जाती है, सो भी बन गयी, निदान करनेसे बनी हो सो बात नहीं है। तो निदानके समयमें आकुलता रहती है और उसके फलमें कोई हीन अवस्था ही मिलती है, उत्कृष्ट अवस्था नहीं मिलती। निदान न करता हो तो उसे बहुत उत्कृष्ट स्थिति मिल सकती है। शत्रुसमूहको जड़मूड़से उखाड़ देनेकी वाञ्छा अथवा अपनी पूजा प्रतिष्ठा लाभ आदिको याचना करना यह सब निदान है। निदान मुख्यतया अज्ञान अवस्थामें होता है, पर कदाचित सम्यक्त्व जग जानेपर भी गृहस्थ अवस्थामें शुभ निदान सम्भव है। जैसे मैं विदेहमें उत्पन्न होऊ, कर्म काटकर मुक्त हो जाऊं या ऐसी बात जो एक मुक्तिसे सम्बध रखती हो उनकी वाञ्छा करना वह प्रशस्त निदान कहलाता है, पर जो वह निदान है, अप्रशस्त है वह अज्ञान अवस्थामें बनता है, ज्ञान हुआ कि मैं आत्मा अपने स्वरूप मात्र हूं और इसका स्वभाव एक केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेका है, तो इस ही के निकट बसनेकी उसकी परिणति बन जायगी क्योंकि समस्त पदार्थ असार जचते हैं तो वहा उसकी धुन बन सकती है। यह तो है एक मार्गकी बात। इसमे चाहा कुछ बन गया, पर कदाचित सभी बातें चाहे मुझे आगे भी धर्मका समागम मिले, देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति मिले, साक्षात् तीर्थंकरके दर्शन मिलें ऐसी बात कदाचित उठ भी जाती है लेकिन यह भी ठीक नहीं है। तत्त्वज्ञानी जीव तो अपने स्वरूपमे ही उपस्थित होता है। आत्मस्वरूपका आलम्बन त्यागकर बाह्य पदार्थोंमें आकर्षण बनना सो सब निदान नामक आर्तध्यान है।

इष्टभोगादिसिद्ध्यर्थं रिपुघातार्थमेव वा।
यन्निदानं मनुष्याणां स्यादार्तं तत्तुरीयकम् ॥१२०८॥

इष्ट भोगोंकी सिद्धिके लिए और शत्रुके घातके लिए जो निदान होता है वह भी चौथा आर्तध्यान है। कोई क्रोधमे जल रहा है, तो कोई चाहमें जल रहा है, कोई दोनों जगह जल रहा है। क्रोधका तो लोगोंको पता नहीं पड़ता। तो चाह और क्रोध दोनों ही समान अग्नि हैं, बल्कि यों कहो कि चाहकी आग प्रबल है। इच्छामें ही बना रहे उपयोग तो उसे कोई स्वरूप समझमे नहीं आता। तो अपने भोगोंकी सिद्धिके लिए चाह करना अथवा शत्रुके घातके लिए चाह करना वह सब निदान है। जिससे बैर हो जाय, जो अपना अनिष्ट जचे उसको समूल नष्ट करनेकी अज्ञानी जीव भावना करते हैं और जगह-जगह भटकते हैं, मत्र पूछते हैं, साधना करते हैं कि मेरे इस शत्रुका विनाश हो। तो ऐसी जो धुन बनी है, चाह बनी है वह भी आर्तध्यान है।

इत्थं चतुर्भिः प्रथितैर्विकल्पैरार्तं समासादिह हि प्रणीतम्।
अनन्तजीवाशयभेदभिन्नं ब्रूते समग्रं यदि वीरनाथः ॥१२०९॥

यहां चारों भावोंसे विस्तारसे आर्तध्यानका स्वरूप बताया है। इस आर्तध्यानको अगर जीवों के आशयके भेदसे बताया जाय तो वे असंख्याते भेद हो जाते है, उसे बतानेमे कोई समर्थ नहीं। वीर प्रभु उन्हें जान जायें और बोलते होते तो बता देते कि तुम्हारे अनगिनते प्रकारोके आर्तध्यान होते हैं। यहीं देख लो कितने मनुष्य हैं, सब दु खी है और किसी एकका दुख किसी दूसरेके दु खसे नहीं मिलता। कोई मोटे रूपसे कह भी दे कि अमुक भी अपने पुत्रके मरनेसे दु खी है और अमुक भी अपने पुत्रके ही मरनेसे दु खी है तो दोनोंका दु ख एक जैसा है, पर ऐसा नहीं है। किसीका किसी प्रकारका विकल्प है किसीका किसी प्रकारका। भिन्न-भिन्न प्रकारके विकल्प करके वे दु खी हो रहे हैं। उन दु खोंमें भी समानता नहीं है। कितने आशयभेद हैं, कितने प्रकारके दु ख हैं वे सब आर्तध्यान ही तो हैं। ये आर्तध्यान ४ भांति के यहा बताये तो हैं पर उन चार भातिके आशय भेदोंका विस्तार बन जाय तो अनगिनते विस्तार बन जायेंगे, भेद बन जायेंगे। जब पाण्डव तपश्चरण कर रहे थे, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव बड़े उपसर्गोंपर विजय भी कर रहे थे, वहा नकुल, सहदेवको अपने भाइयों पर जो हो गया, लो इस तरहका विकल्प हो गया। वह भी तो दु ख ही है। उन्होंने भी यह आर्तध्यान बना लिया। किसीका दु ख किसीके दु खसे मिलता नहीं है, तो ये आर्तध्यान चार ही प्रकारके नहीं। ये अनेक प्रकारके होते हैं। ऐसी भावना भावें कि, हे भगवन ! विकल्पोंसे पिटे तो जा रहे हैं, पिटते भी रहें और आपकी भी सुध बनी रहे। कोई तो समय आयगा ही जब कि पिटना समाप्त भी हो सकता है। धर्मधारण करनेके लिए कोई ऐसा प्रोग्राम बनायें कि दो वर्षके बाद अमुक काम करके फिर धर्म ही धर्म करेंगे, अभी दो वर्ष तक तो खूब कमाई करलें, सारी व्यवस्था बनालें, ऐसा सोचने वाला व्यक्ति तो धर्म धारण कर सकता है, अगर धर्मधारणकी दृष्टि बनी है तो उसकी किरण अभीसे आना चाहिए। चाहे थोडी आये चाहे किसी रूपमें आये, उससे तो आशा है कि वह आगामी कालमें प्रभुशक्ति, आत्मउपासना, धर्मसाधना कर सकेगा। तो ये आर्तध्यान अनेक प्रकारके कहे गए हैं और उनकी जड अज्ञान है। अपने आत्माके स्वरूपका भान न हो, प्रभुके स्वरूपकी पहिचान न हो तो यह बात मिलती है।

अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे।
विद्ध्यसद्ध्यानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम् ॥१२१०॥

हे आत्मन् ! यह आर्तध्यान प्रथम क्षणमे रमणीक है पर अन्तमें क्लेशके ही देने वाला है, ऐसे इस अप्रशस्त ध्यानका निदान करते हैं, इच्छा करते हैं तो इच्छा सुहावनी लग रही है लेकिन उसका अन्तिम परिणाम जीवको क्लेशकारी ही बनेगा। सो आचार्यदेव सम्बोधित कर रहे हैं कि हे आत्मन् ! कोई-कोई आर्तध्यान प्रथम क्षणमे रमणीक लगेंगे लेकिन उनका अन्तिम परिणाम खोटा ही है, ऐसे इस तथ्यभूत ध्यान को जान। ये आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक होते हैं। एक निदान नामका आर्तध्यान भी नहीं होता, मगर होने लगे तो छठे गुण स्थानके परिणाम नहीं रहते हैं। प्रशस्त ध्यान भी, निदान भी लगे तो वह मुनिकी भूमिका नहीं रही, वह तो श्रावकी भूमिका रही। मुनि भेषमे न रहना ही श्रावक नहीं कहलाता है, वह तो एक अन्तरङ्ग परिणामोंकी बात है। हाँ यह बात है कि छठे-सातवें गुणस्थानके लायक परिणाम हो तो वह मुनि है और चाहे निर्ग्रन्थ ही हो पर चौथे, तीसरे, दूसरे, पहिले गुणस्थानके लायक परिणाम हों तो वह मुनि नहीं कहला सकता है। तो जब तक निदानकी बात रहेगी, मैं उत्कृष्ट पद पाऊं, अमुक जगह मरा जन्म हो, बडे ठाठ-बाटोंकी चाह होना आदिक ये सब निदान हैं। इष्टवियोग, अनिष्टसयोग, वेदनाप्रभव ये तीन आर्तध्यान छठे गुणस्थानमें भी सम्भव हैं। कोई मुनि जो बच्चों वाला है वह यदि पुत्रके मर जानेपर वियोग करे तो वह तो एक मोहकी भूमिका है, वह तो मुनिपदसे बिल्कुल विचलित हो गया। कोई बुद्धिमान और शान्तिपथका प्रेमी शिष्य है और उसका वियोग हो रहा है तो उसके वियोगके समय कुछ

पीडा मुनिको भी हो जाती है। फिर भी उसका गुणस्थान नहीं विगड़ता। और कोई शिष्य अनुकूल नहीं चलता, अवहेलना करता है, वात नहीं मानता है, धमके विरुद्ध भी चलता है, परिस्थिति ऐसी है कि उसे एकदम हटा भी नहीं पा रहे, सामने मौजूद है, तो उस अनिष्टके सयोगसे जो कुछ पीड़ा उत्पन्न हुई, जो मनमे खेद आता है वह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है। यह तक भी मुनिके सम्भव है। ७ वें गुणस्थानमे नहीं है आर्तध्यान। शरीरमे बहुत वेदना हुई, सहन पूरी तरह नहीं कर सकते, कुछ विकल्प भी हो जाते, ऐसा पीडा चिन्तन नामक आर्तध्यान भी मुनिके सम्भव नहीं है, पर अज्ञानीकी तरह नहीं, तो ये तीन प्रकार के आर्तध्यान मुनिमें भी सम्भव हैं।

संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायते।
प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा ॥१२११॥

यह आर्तध्यान संयतासंयत नामक ५ वें गुणस्थान पर्यन्त चारभावरूप रह सकते हैं। ५ वें गुणस्थान तक श्रावकको इष्टवियोगज, अनिष्टसयोगज, वेदनाप्रभव और निदान—ये चार ध्यान रह सकते हैं। प्रशस्त और अप्रशस्त ये दो प्रकारके ध्यान है। प्रशस्त ध्यान क्या ओर अप्रशस्त ध्यान क्या? इन ध्यानोंकी जड तो मोह है तो पीडा है। कोई पुरुष कहीं चला जा रहा था। रास्तेमें उसने देखा कि हाथीने एक बच्चेको अपनी सूडसे उठाकर पटक दिया। उस लडकेकी सूरत उसके ही लड़केकी सूरतके समान थी। उसने समझा कि इस हाथीने मेरे लडकेको मार डाला। इस भ्रमके कारण उसके इतनी पीडा उत्पन्न हुई कि वह वेहोश हो गया। उसके कुछ साथी लोग वहाँपर मौजूद थे। उन्होने इस दृश्यको देखा और समझ लिया कि यह पुरुष इस कारणसे वेहोश हुआ। इसने समझा कि मेरे पुत्रको इस हाथीने मार डाला। साथ ही अपने एक साथीको भेज दिया उस पुरुषके लडकेको लिवाकर लानेके लिए। जब वह पुत्र उस पुरुषके सामने आया और कुछ वेहोशी दूर हुई तो उसको चेत हो गया, खुश हो गया। तो वहा जो इतना वडा क्लेश था वह इस भ्रमका था कि वह लड़का मेरा है जिसको हाथीने मार डाला है। तो इस मोहके कारण उसे क्लेश हुआ। उस हाथी द्वारा पटके गए पुत्रमे जो मोह था वह मिट गया और वह शान्त हो गया। तो यों ही जितने प्रकारके आर्तध्यान हैं, सभीमे लगा लें, उसका कारण मोहरागद्वेष है। इन तीन परिणामोसे आर्तध्यान बनते हैं। तो ये मिटें कैसे? उन सबका मूलमे उपाय तो इतना ही भर है—निजको निज परको पर जान। अगर वास्तविक स्वरूपसे, तत्त्वसे निज कितना है और इससे अतिरिक्त पर कितना है? इसका विवेक जग जाय तो फिर उसे क्लेश नहीं हो सकता। है, पर है, हो गया परिणमन। जैसे दुनियाके अन्य सभी लोग जिनको गैर माना है वे पर हैं ऐसे ही आज जो कुछ प्राप्त हुआ है वह सब भी पर है। दुनियाके परपदार्थोंको मानता है यह जीव कि ये मरे हैं इस मिथ्या मान्यताके कारण इसे कष्ट रहा करता है। अपने आन्तरिक स्वरूपको निरखकर यह भाव वना ले कि यह मेरा शरीर भी पर है। इस मान्यतासे फिर शरीरपर कुछ भी वीतो पर उससे क्लेश नहीं होता है। तो निजको निज परको पर जान—यह बात यदि बन जाय तो फिर दुखका कारण नहीं रहा। वह आर्तध्यान फिर आर्तध्यान न रहेगा। अत समस्त परवस्तुवोंसे निराले निज ज्ञानस्वरूप मात्र आत्माको समझ जाय कि यह मैं हूँ, फिर उसके कोई क्लेश न रहेगा।

कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते।
इदं दुरितदावार्चिः प्रसूतेरिन्धनोपमम् ॥१२१२॥

आर्तध्यान ३ खोटी लेश्यावोंके बलसे प्रकट होता है। आर्तध्यानके समय पीत पद्म शुक्ल लेश्यावोंका बल नहीं होता है और पीडारूप भाव रहता है, अनुभवन होता है वह अशुभ लेश्यावोंमे होता

है। कृष्णलेश्यामें प्रबल क्रोध रहता है। वैर न छोड़े, बहुत गाली गलौज बके, दया न रहे, ऐसी स्थिति वाले के आर्तध्यान हुआ करता है। नील और कापोतमे उससे कुछ कम है और वहा भी विषयाकांक्षा नामकी इच्छा आदिक अनेक कुत्सित परिणाम होते हैं। तो इन अशुभ लेश्यावोंका बल मिलनेसे यह आर्तध्यान बढ़ जाता है और जैसे दावानल अग्निको जलानेमें ईंधन कारण है, ईंधन मिल जाय तो अग्नि बढ़ती जावगी ऐसे ही पापरूपी दावाग्निको उत्पन्न करनेके लिए यह आर्तध्यान ईंधनके समान है। आर्तध्यान ज्यों-ज्यों होता है त्यों-त्यों पाप बढते हैं। आर्तध्यानमे हुए जैसे आत्मध्यानकी सम्भावना नहीं है, और आत्मध्यान बिना मोक्षका या शान्तिका उपाय नहीं बनता। अत कल्याणार्थी पुरुषोंको आर्तध्यान तजना चाहिए।

एतद्विनापि यत्नेन स्वयमेव प्रसूयते।
अनाद्यसत्समुद्भूतसस्कारादेव देहिनाम् ॥१२१३॥

यह आर्तध्यान जीवको अनादिसे स्वय सहज बन जाता है। सहजका अर्थ यहाँ स्वभावसे नहीं, किन्तु सब उपदेश दिये बिना, धर्म किए बिना, कोई परिश्रम उठाये बिना, कोई यत्न किये बिना आर्तध्यान इस जीवके चल ही रहा है। आर्तध्यान उसे कहते हैं जिसमे क्लेश भोगनेका परिणाम बने, खेद होना पड़े। दुःखको बढ़ाने वाला जो ध्यान है वह आर्तध्यान कहलाता है। सो आर्तध्यान बिना ही यत्नके स्वसम्वेद्य हो रहा है। इसमें कारण यह है कि अनादि कालसे खोटे सस्कार जीवमे लग रहे हैं, अत. बिना बुद्धिके आर्तध्यान होता है। आर्तध्यान के लिए कोई कुछ सिखाता नहीं है। जहाँ इष्टका वियोग हुआ बस क्लेश स्वय होने लगता है, जहाँ अनिष्टका संयोग हुआ बस क्लेश होने लगता है। कोई वहा सिखाता नहीं है ऐसे ही जहा शरीरमें वेदना हुई, उसके प्रति चिन्तन हुआ वहाँ ही पीड़ा उत्पन्न होने लगती है। ऐसे ही आशा, इच्छा, निदान के परिणाम जीवमें स्वय सस्कारवश हो जाते हैं। इस आर्तध्यानसे बचकर धर्मध्यान में लगकर ही शान्तिका मार्ग पाया जा सकता है। वह आर्तध्यान छूटेगा तत्त्वज्ञानसे, विवेकसे, भेदविज्ञानसे।

अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यग्गतेः फलम्।
क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तकः ॥१२१४॥

आर्तध्यानका फल क्या है? तिर्यञ्चगति मिलना। नरक गतिसे भी तिर्यञ्चगति खोटी मानी गयी है। हालाकि नरकगतिमें दुःख बहुत हैं, मारा काटा और वहाकी भूमिमें सर्वत्र क्लेश भरा है। होते तो वे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय ही ना, सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति वहाँ हो सकती है और तिर्यञ्चगतिमें एकेन्द्रिय बन गए, पेड हुए, पृथ्वी हुए, निगोद हुए, अब इन्हें क्या सुध है? उनको कल्याणका अवसर नहीं है। तो तिर्यञ्चगति प्राप्त होना यह है आर्तध्यानका फल। जिसमे अनन्त दुःख बसे हुए हैं वहाँ देखनेमें भले ही लगे कि यह वृक्ष खड़ा है, ये खूब हरे भरे हैं, खूब झूम रहे हैं, ये तो बड़े सुखी होंगे, पर उनका क्लेश वे ही जानें। पेड बड़े कष्टका अनुभव कर रहे हैं। तिर्यञ्च गतिमें अनन्त दुःख हैं, वह फल हैं आर्तध्यानका, और आर्तध्यान है क्षायोपशमिक भाव। ध्यान होना, इसमे तो कुछ ज्ञान भी चाहिए। तो आर्तध्यान क्षायोपशमिक परिणाम है, ज्ञानावरण क्षायोपशमिक हो, कुछ विज्ञान हो तो यह ध्यान बनता है, और जिसमें जितना क्षयोपशम विशेष है और उदय हो पापका, मिथ्यात्वका तो उसके आर्तध्यान विशेष सम्भव है। यह आर्तध्यान क्षायोपशमिक परिणाम है, और इसका समय अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्तके बाद ध्यान बदल जाता है। एक विषयमे ध्यान अन्तर्मुहूर्तसे ज्यादा नहीं टिकता। तो यह ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक रह पाता है। तो तिर्यञ्च गतिका दुःख मिलना यह आर्तध्यान का फल है।

शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चित्तभ्रमोद्भ्रान्तयः,
उन्मादो विषयो.सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमा.।

मूर्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यल-
मार्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्यावर्णितानि स्फुटम् ॥१२१५॥

आर्तध्यानके बाह्य चिन्ह क्या हैं ? जब आर्तध्यान होता है जीवके तो उसकी चेष्टा कैसी बन जाती है ? ऐसे चिन्ह इस छन्दमे बताये जा रहे हैं। जिसको आर्तध्यान करनेकी प्रकृति है, जिसके आर्तध्यान अधिक बना रहा करता है उसको प्रथम तो शका होती है। आतध्यान वाला हर जगह शकाका स्वभाव रखता है। कोई अनोखी बात न हो जाय, कोई गजबकी बात न बोत जाय, यों आर्तध्यानका स्वभाव बना रहता है। पहिली बात तो यह है, दूसरी बात यह है कि जिसको आर्तध्यानकी प्रकृति पडी है उसको शोक रहा करता है। देखो कैसी बात इस जीवपर गुजर रही है। ज्ञान और आनन्द इस जीवका स्वाभाविक गुण है, पर जब ज्ञान बिगडता है तो ऐसी ऐसी कल्पनाएं जगती हैं। जिसके आतध्यानकी प्रकृति है उस पुरुषकी बाह्य पहिचान क्या है ? प्रथम तो उसे हर बातमे शका रहा करती है, इसके पश्चात् शोक होता है। आर्तध्यानमे शोककी जगह प्रसन्नता नहीं मिल सकती, पश्चात् भय होता है। आर्तध्यानमे भयकी प्रमुखता है। इष्टवियोग न हो जाय ऐसा भय बनाये वहाँ ही आर्तध्यान है। किसी अनिष्टका सम्बध हो, उसका चिन्तन बने वह आर्तध्यान बनता है। आर्तध्यान करना जीवका स्वभाव नहीं है लेकिन जब जीवपर अज्ञान सवार है तो आर्तध्यान उसको होगा ही। स्वय है आनन्द रूप। जैसे कोई पदार्थ बनता है तो किसी बातकी लिए हुए होता है ना ? कुछ तो उसका स्वरूप है। जैसे पुद्गलका स्वरूप है रूप, रस, गंध, स्पर्श तो जीवका भी तो कुछ स्वरूप होगा। वह स्वरूप है ज्ञान और आनन्द। पुद्गलका तो ढेर मिलेगा, पिण्ड मिलेगा, कड़ापन है, और आत्मामें मिलेगा ज्ञान और आनन्द। केवल जानकारी इसका स्वभाव है और शुद्ध जानकारी रहे तो आनन्द बना रहे यह स्वभाव है लेकिन जब अपन आपको असली रूपमे नहीं माना गया, अन्य पर्यायरूप मान लिया गया तो इसको आनन्दकी दृष्टि कैसे मिल सकती है ? आर्तध्यान जगे तो आतध्यान वाले के भय बराबर बना रहता है। इसके पश्चात् उसके प्रमाद होता है। प्रमादमें शिथिल होनेमे वह क्लेशका अनुभव करता है। जब आर्तध्यान किया तो भीतर बाहर सब जगह थक गया यह जीव, क्योंकि कष्टरूप अनुभव न करनेका बडा श्रम होता है। तो उस थकानमें प्रमाद होता है। आतध्यान करने वाले पुरुषके चिन्ह बताये जा रहे हैं। आर्तध्यानी पुरुष क्या करता है ? जब सहा नहीं जा सका तो वह क्लेश मानता, फिर चित्तका भ्रम करता है। अर्थात् चित्त भ्रान्त रहता है, एक जगह चित्त टिक नहीं सकता, क्योंकि अन्तरमे क्लेश है। और क्लेश है केवल भ्रमका। जैसे कोई सा भी क्लेश उदाहरणमे ले लो। किसी भी प्रकारका क्लेश माना जा रहा हो तो भली प्रकार निरखोगे तो उसकी जड़ कुछ नहीं है। जड है केवल कल्पना की, किसी भी प्रकारका क्लेश हो कल्पना की जड़ पर ये सब क्लेश आधारित है। अपने सही स्वरूपका भान हो। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र आत्मा हूं ऐसा अपने आपके स्वरूपका भान हो वहा क्लेशका नाम नहीं रह सकता। स्वरूप से गिरे, बाहर कुछ खोजने लगे तो वहाँ क्लेश हो जाता है।

आर्तध्यानी पुरुषका चित्त एक जगह लगता नहीं। कुछ पागलपनसा छा जाता है। कितनी ही बुढिया रो रोकर अपनी आंख फोड लेती हैं। यदि किसी बालकका वियोग हो गया तो कहो सारा जीवन उसका रोते रोते ही बीते। एक बुढिया थी, उसके थे ५ लडके। सो उनमेसे एक लडका गुजर गया। अब बुढियाका ख्याल उसी लडकेका बना रहे और रोते रोते अपने दिन गुजारे। ४ बालक समझाते हैं - अरी मां तू क्यों रोती है ? अभी हम चार लडके हैं, हम चारोंको देखकर तू प्रसन्नतासे गुजार। लेकिन वह बुढिया कहे बेटा! हमारा ध्यान तो एक उसी लडके पर बना रहा करता है। वह लडका तो हमें [illegible] ही [illegible] है। जब दूसरा लडका गुजर गया तो फिर बुढिया रो रोकर जीवन गुजारे। तीन लडके समझाते हैं— मां [illegible] हम तीन लडके जीवित हैं, हम तीनोंको देखकर तू प्रसन्न रह। पर बुढिया यही कहे कि [illegible]

बस वे दो ही लडके नहीं भूलते हैं। उनका ही ध्यान बराबर बना रहता है। इसी प्रकारसे वे सभी लडके धीरे धीरे गुजर गए, और हर लडकेके गुजरनेपर वह बुढिया उसी तरहसे कहे और रो रोकर अपना जीवन गुजारे। तो इस आर्तध्यानमे बुद्धि खराब हो जाती है। पागलपनसा छा जाता है। आर्तध्यानी पुरुषको अपने आत्माका भी भान नहीं रहता है। तो समस्त परपदार्थोंसे भिन्न अपने आपको अनुभव कर प्रसन्न रहें। संसारमें मेरा कहीं कुछ नहीं ऐसा समझकर अपने आपको ही अपना शरण समझें, अपने आपके ही निकट रहें तो लाभकी बात होगी। आर्तध्यान करना तो एक बिल्कुल मूढताकी बात है। अपने आपको अपने अन्दर में ही देखिये और अपने आपको प्रसन्न रखिये। मेरा कहीं भी कोई शरण नहीं है ऐसा समझकर अपने आपका शरण ग्रहण करना चाहिए। आर्तध्यानकी प्रकृति वाले पुरुषके फिर विषयोंमें उत्सुकता जगती है। इस आर्तध्यानमे जो जीव दु:ख भोगता है उसकी शान्तिके लिए एक यह उपाय सूझता है कि विषयोंमें प्रगति करे, विषयोंकी उत्सुकता जगे तो यह आर्तध्यानका चिन्ह है। आर्तध्यानका एक चिन्ह और बताया है—उसे बारबार निद्रा भी आती है। हालांकि जिसे बहुत अधिक क्लेश होता है उसकी निद्रा भग हो जाती लेकिन आर्तध्यान करनेसे गुणानुरागमें इतनी अधिक थकान हो जाती है कि बडी जल्दी निद्रा आ जाती है, पर निद्राका भंग भी वडी जल्दी हो जाता है। तो ऐसे जल्दी निद्राका आना और जल्दी ही निद्राका भग होना ये बातें इस आर्तध्यानी पुरुषके चलती रहती हैं।

आर्तध्यानी पुरुषके शरीरमें जागरुकता नहीं रहती, उसमें एक जडतासी आ जाती है। इस तरह शरीर जड बन जाता है और फिर उसको वेहोशी हो जाती है। आर्तध्यानके परिणामका तो यही फल है। जैसे किसीको पता न हो कि यह मेरा पुत्र है और वह कितने ही क्लेश पा रहा हो तो भी इसके चित्तमें कुछ भान नहीं होता। और कदाचित गुजर भी जाय तब भी चित्तमें कोई वेदना या अनुकम्पा नहीं होती। कुछ समय बाद मालूम पडा कि यह मेरा ही पुत्र है तो इतनी बातके मालूम पड़ते ही वह गिर जाता है, वेहोश हो जाता है। तो आर्तध्यानका आखिरी फल है वेहोश हो जाना। कितने ही लोग तो इस आर्तध्यानके क्लेशमें अपने प्राण भी गवा देते हैं। कोई धर्मका भी थोडा सम्बन्ध रखकर आर्तध्यान करे वह भी उतना ही दु:खी होता है, कोई विषय संस्कार बनाकर आर्तध्यान करता है वह भी उतना ही दु:खी होता है। जब अजनाकी सासने दोष लगाकर निकाल दिया और अजना भटकती रही, फिर चाहे कुछ भी हुआ, उसके पुण्यका उदय था, जब पवनजयको पता चला कि अजनाको दोष लगाकर निकाल दिया गया तो यह प्रतिज्ञा की कि अमुक समय तक अगर हमको अजना नहीं दिखती तो अग्निमें जलकर आत्महत्या कर लेंगे। जब पवनञ्जय अग्निकी चिता बनाकर आत्महत्या करने वाला था उसी समय खबर मिली कि अजना अपने मामाके घर भलीप्रकार सुखसे है, और उसका वेटा हनुमान बडा प्रतापी है। तो ऐसे ऐसे आर्तध्यान होते हैं कि लोग अपने प्राणोंको भी गवा देते हैं। इन आर्तध्यानोंकी जड़ है केवल कल्पना। आत्माको कोई पकड़े नहीं है, यह छेदा-भेदा नहीं जा सकता, इस आत्मा पर किसी भी प्रकारका कोई उपद्रव नहीं कर सकता है, इस आत्मामें क्लेशकी कोई बात नहीं है, पर यह जीव स्वय कल्पनाएं बना लेता, ससारमें अपनी इज्जत चाहता, नाम चाहता, तो ऐसे ऐसे पर्यायसम्बधी सस्कार बनानेसे इस जीवको आर्तध्यान होता है।

आर्तध्यानका फल अच्छा नहीं है, इस कारण ऐसा ज्ञान बनाना चाहिए कि कैसी भी पीडा आये, कोई भी उपद्रव आये उसमे भी हसकर रह सकें, उसका प्रभाव अपने आप पर न आ सके। जो आर्तध्यान करता है उसके ऐसी-ऐसी विडम्बनाएं होती हैं। ये उसके बाह्य चिन्ह हैं ऐसा बड़े बड़े प्रकाण्ड विद्वानों ने बताया है। यों ध्यानके इस ग्रन्थमें इस समय आर्तध्यानकी बात बतायी गयी कि ये जीवके अहितरूप ध्यान हैं। आत्मध्यान ही उपादेय है। जो भी होता हो होने दो, पर अपने आपको जो दु:खी अनुभव करेगा तो उसमें अपना ही विनाश है, अपना ही अकल्याण है। कुछ भी होता हो तो सबसे निराले मेरे आत्मासे गया क्या? सारा धन बिगड जाय, गृह गिर जाय, जो भी अनर्थ लोकमें माने जाते हैं वे सब हो

जायें तिसपर भी मेरा आत्मा तो अपने स्वरूपमें सबसे निराला है। यह तो सदैव आनन्दमय है ऐसा निर्णय करके अपने आपको दुःखी अनुभव करनेका साहस न करना चाहिए। और मैं आनन्दस्वरूप हू ऐसी ही भावना, ऐसा ही ध्यान अपना बनाना चाहिए। यह सब होता है मोह छूटनेके प्रतापसे, मोह छूटता है तत्त्वज्ञानसे। इस कारण तत्त्वज्ञानमें अधिक यत्न हो जिससे भेदविज्ञान जगे और ससारके सारे सकट अपने दूर हों। उस उपायमें ज्ञानवृद्धिका यत्न करना चाहिए।

रुद्राशयभवं भीमसपि रौद्रं चतुर्विधम् ।
कीर्त्यमानं विदन्त्वार्याः सर्वसत्त्वाभयप्रदाः ॥१२१६॥

आर्तध्यानके बाद अब रौद्रध्यानका स्वरूप कहा जा रहा है। रौद्र आशयसे उत्पन्न हुआ जो भयानक ध्यान है उसे रौद्रध्यान कहते हैं। जो पुरुष हिंसा करनेमे करानेमें कुछ आनन्द मानते हैं उनका भयानक ही तो काम है। जिससे अनेक जीवोंका उपकार होता है, झूठ बोलनेमें, झूठी गवाही देनेमें, झूठे षडयन्त्र रचनेमें जो कुछ आनन्द माना है वे सब रौद्रध्यान ही तो हैं। चोरी करनेमे करानेमें जो आनन्द समझते हैं वे सब रौद्रध्यान हैं और विषयोंके साधनोंके संरक्षणमें, सचयमें जो आनन्द माना जाता है वह सब रौद्रध्यान हैं। तो ऐसे रौद्रध्यान करने वाले पुरुषोंका आशय क्रूर होता है। भले ही मौज मान रहे हैं पर आशय उनका भला नहीं है। तो रुद्र आशयसे उत्पन्न हुआ भयानक भी यह रौद्रध्यान चार प्रकारका कहा गया है। ऐसे वीतराग ऋषि संतोंने कहा है जो सब प्राणियोंको अभयदान देने वाले हैं, जिनका उपदेश सबके हितके लिए है। जो जीवदयाका उपदेश दिया है प्रभुने उस उपदेशसे देखो सबका हित होता कि नहीं। यदि मनुष्य हैं, दया पालकर अपना धर्म निभाते हैं तो यह तो मनुष्योंका उपकार है और दया पालनेसे जो जीव बच गए, जिन जीवोंकी हिंसा नहीं हुई इससे उन जीवोंका भी भला है। तो उन ऋषियोंका उपदेश सबकी भलाई करने वाला होता है। उन्होंने बताया है कि रौद्रध्यान चार प्रकारका होता है।

रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः ।
रुद्रस्य कर्म भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥१२१७॥

रौद्रध्यान रुद्र शब्दसे बना है और रुद्र कहते हैं क्रूर अभिप्राय वालेको। जिसका इतना खुदगर्ज अभिप्राय है कि उसके प्रयोगमे दूसरे जीवोंकी हिंसा हो, दिल दु खे, अपघात हो, कुछ भी हो किन्तु अपना मौज रखने और बिना प्रयोजनसे ऐसी खटपट बातें रचना जिससे खुद मौज लेते रहें वे सब भाव रुद्र हैं। यो रुद्र वह प्राणी है जिसका क्रूर आशय है, और रुद्रका जो कर्म है, भाव है, ध्यान है उसका नाम रौद्रध्यान है। जब पाण्डव और कौरवोंका एक गुप्त कल्पयुद्ध हो रहा था, पाण्डव तो शान्त प्रकृतिक थे। जब उस कल्पयुद्धमें वे हार गए तो उसके बाद एक यह भो सजा दी कि ये यहाँसे चले जायेंगे और लाखके महलमें रहेंगे। उस लाखके महलको आगसे जला दिया जायगा और ये सब मर जायेंगे। अब बतलावो कि उन कौरवोंका अभिप्राय क्रूर है कि नहीं ? लेकिन बात कैसे क्या बन गयी ? उन पाण्डवोंका हितू था विदुर। और गुप्त रूपसे सुरंग बना लिया गया था, वे सब पाण्डव तो बच गए थे, पर कौरवोंकी समझमे तो वे भस्म हो गए। और आजकल बताते हैं कि वह लाखका किला बरनावामें है। तो जो क्रूर आशय वाले पुरुष हैं वे रुद्र हैं, और रुद्रका जो काम है, चिन्तन है, परिणाम है उसको कहते हैं रौद्रध्यान। रुद्रध्यान जीवका अनर्थ करने वाला है, संसारमें रुलाने वाला है, आत्मतत्त्वसे विमुख रखने वाला है। कहाँ तो सीधा सरल काम था केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप अपने परिणाम बनानेका और कहाँ उससे अत्यन्त विरुद्ध नाना विकल्पजालोंमें रचा गया यह रौद्रध्यान। यह सब अज्ञानका फल है। जीवको अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपका

विश्वास नहीं हुआ, इस कारण वह अपने आपमें तो टिक नहीं सका, अपने आपका इसे भान नहीं हो सका, पर्यायमें दृष्टि करके, बाहरी पदार्थोंसे अपना बड़प्पन समझ कर रौद्रध्यान बना लिया।

हिंसानन्दान्मृषानन्दाच्चौर्यात्संरक्षणात्तथा।
प्रभवत्यङ्गिनां शश्वदपि रौद्रं चतुर्विधम् ॥१२१८॥

हिंसामें आनन्द माननेसे, झूठमें आनन्द माननेसे, चोरीमे आनन्द माननेसे और विषयसरक्षण में आनन्द माननेसे रौद्रध्यान होता है। अब समझ लीजिए कि कैसे-कैसे रौद्रध्यान बन जाया करत हैं। हिंसा करना कराना और उसमे आनन्द मानना प्रकट रौद्रध्यान है, पाप है, लेकिन खुदके आरामके खातिर उन जीवोंकी हिंसा कर रहे हैं, यह भी एक रौद्रध्यान है। अपने विषय साधनोंके लिए अथवा अपने किसी भी मतलबकी सिद्धिके लिए ऐसा प्रयोग करना कि चाहे उसमे दूसरोंका दिल दुःखे, क्लेश हो, वह भी रौद्रध्यान है। झूठ बोलनेमे जो मौज लेते हैं वह भी रौद्रध्यान है। अब सभी बातोंको विचारते जायें कि हम कितना रौद्रध्यान बसाया करते हैं। चोरीमें आनन्द मानना, छुपकर कोई कार्य करके आनन्द मानना आदिक चौर्यानन्द नामके आर्तध्यान हैं। कभी मान लो व्रत लिया हो और खाते हुएमे कोई जरासा बाल दिख जाय और उसे अगल-बगल करके निपटारा कर दिया जाय तो वह चौर्यानन्द आर्तध्यान हुआ कि नहीं। चोरी हैं वे सब बातें जो जो इस जीवको छुपकर करनी पड़ें। जब कुत्ते को रोटी डालते हैं तो वह कितना प्रेमवश, प्रीति दिखाकर, पूंछ हिलाकर, मालिककी विनय करता हुआ रोटी खाता जाता है, और किसी तरहसे वह कुत्ता चौकेसे रोटी उठा ले जाय तो कितना वह लुक छिपकर भागता है। और किसी एकान्त स्थानमे जाकर रोटी खाता है। सो चौर्यके भावमे मौज मानना सो चौर्यानन्द रौद्रध्यान है और चौथा है विषयसरक्षणानन्द। केवल धनवैभव बढ़ानेमें आनन्द माननेका ही नाम रौद्रध्यान नहीं, किन्तु पचइन्द्रिय और छठा मन इन विषयों का सरक्षण जिस किसी प्रकार हो उसमे भी आनन्द मानना, यह सब रौद्रध्यान है। तो कीर्ति नामवरी नेतागिरीके खातिर हजारों रुपये खर्च करके आनन्द माने तो वह भी विषयसरक्षणानन्द रौद्रध्यान हुआ। परिग्रह नाम केवल रुपया पैसोंका ही नहीं किन्तु जो किसी भी अनात्मतत्त्वमें रुचि जगाये, उसे अगीकार करे वह सब परिग्रह कहलाता है। तो ये चार प्रकारके रौद्रध्यान हैं। ये जीवके सदैव भी चार प्रकारके रौद्रध्यान उत्पन्न होते रहते हैं। एकेन्द्रियसे लेकर सञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रिय तकके समस्त जीवोके बराबर रौद्रध्यान रहता है। जिनके मन है वे अच्छे ढगसे आर्तध्यान कर लेते हैं बडी कलासे और जिनके मन नहीं है वे सञ्ज्ञावोंके वश होकर इन ध्यानोंको करते रहते हैं। ये चार प्रकारके ध्यान इस जीवको पदच्युत कर देते हैं।

एक अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि जगे और जब यह विदित हो कि यह मैं आत्मा अपने ऐसे दृढ़ किले वाला हूँ कि जिसका किसी भी परतत्त्वमें प्रवेश ही नहीं हो सकता। जब यह दृष्टिसे आये कि मैं सबसे न्यारा हूँ, अपने आपमें परिणमन करता रहता हूँ, अपनेको करता हू, अपनेको ही भोगता हूँ। मैं निरन्तर कुछ न कुछ परिणमन करता ही रहता हूँ, इसके आगे और कुछ मैं नहीं करता। यो समझकर जब भेदविज्ञान जगता है, विज्ञान जगता है, मैं न्यारा सब न्यारे, उस पुरुषके फिर रुद्र आशय नहीं रह पाता। नीतिके ग्रन्थमें दुष्ट पुरुषकी मच्छरोंसे उपमा दी है। जैसे मच्छर पहिले पैरमे पडते हैं, पीछे पीठका मास खाते हैं। तीसरे कानमे कुछ अपने शब्द बोलते हैं, ये तीन काम हैं मच्छरोंके, ऐसे ही दुष्टोंके भी ये तीन काम हैं—पहिले पैरोंमें पड जायें, आप बड़े हितैषी हैं, आपका क्या कहना है, आप एकचित्त हैं ऐसा विश्वास पहिले पैदा कराया और पीठ पीछे बुराई किया फिर कानोंमे कुछ न कुछ शब्द गुनगुनाते हैं, यहाँ की बात वहाँ कहा, वहाँकी बात यहाँ कहा, तो यह सब रुद्र आशयकी चीज बतायी गई है। जब प्राणीका क्रूर आशय होता है तो उसकी ऐसी प्रवृत्ति होती है। यहाँ सार नहीं है। सार है एक विशुद्ध आत्माके ध्यानमें, वैभव जुड जाय, परिजन अच्छे हो जायें, इज्जत भी बढ़ जाय, सब कुछ हो जाय, पर एक धमके

… सम्बन्ध … कोई भी अपना हित करनेमें समर्थ नहीं है। सबका सम्बन्ध एक जुदी-जुदी दिशामें होता है। धर्मका सम्बन्ध सदाके लिए इस जीवको निराकुल बना देता है। देशका सम्बंध, समाजका सम्बंध, कुटुम्बियोंका सम्बन्ध जीवको सदा आकुलित बनाये रहता है, पर एक धर्मका सम्बंध ऐसा है कि जीवको सदाके लिए निराकुल बना रहती है। तो जब भेदविज्ञान ज्योति जगती है और सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपने अनुभवमें आता है उस समय विदित होता है कि एक मेरे आत्माके ध्यानके सिवाय अन्य सब अत्यन्त असार है। यह ज्ञान जिनके नहीं जगा उनको पर्यायमें आत्मबुद्धि रहती है। और शरीरकी जो इन्द्रियाँ हैं उनके पोषणके लिए ही यत्न रहता है, उसमें आशय क्रूर अवश्य हो जाता है।

हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसा रौद्रमुच्यते ॥१२१९॥

कोई जीवसमूह मर जाय, पीडित किया जाय, ध्वस्त हो जाय अथवा उसे बिलखाया जाय अपने द्वारा या दूसरेके द्वारा, उसमें हर्ष माने यह हिंसानन्द नामका रौद्रध्यान है। बाजारोंमें कोई मदारी नेवला और सर्पकी लड़ाई दिखाते हैं। सर्प और नेवलोंका तो बैर है। नेवला सर्पको इधर उधर काट लेता है फिर भी देखने वाले सभी लोग उसमें मौज मानते हैं। तो इन सभी दर्शकोंने वहाँ रौद्रध्यान किया। गृहस्थावस्थामें कैसा विचित्र समन्वय है कि कोई धर्मपर अथवा अपने परिवारपर हमला करे तो उसकी रक्षा करते हुएमें यदि शत्रुका मरण भी हो जाय तो वहाँ हिंसा नहीं माना है। कभी-कभी मदारी लोग ऐसा दृश्य दिखाते हैं कि एक मुर्गाके पैरमें पैनी छुरी बाँध दिया और किसी दूसरे मुर्गेसे लड़ा दिया। वह मुर्गा छुरीसे छिद भी जाता है पर लोग उस दृश्यको देखकर मौज मानते हैं। तो सभी दर्शक लोग वहाँ रौद्रध्यान कर रहे हैं। किसी युद्धके प्रसंगमें अपनी रक्षा करते हुएमें यदि शत्रुका प्राणघात भी हो जाय तो चूँकि वहाँ किसीके मारनेका भाव नहीं है, अपनी रक्षाका मात्र भाव है तो वहाँ हिंसा नहीं माना। इस रौद्रध्यानका बड़ा विस्तार है, कोई-कोई लोग चूहेके पैरको रस्सीसे बाँध लेते हैं और उसके पीछे कुत्ता दौड़ाते हैं। कुत्ता चाहे मारकर खा भी डाले, पर लोग उस दृश्यको देखकर खुश होते हैं, ये सब रौद्रध्यान है। यह हिंसाविषयक नामका रौद्रध्यान है।

अनारतं निष्करुणस्वभावः स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः।
मदोद्धतः पापमतिः कुशीलः स्यान्नास्तिको यः स हि रौद्रधामा ॥१२२०॥

रौद्रध्यान उस पुरुषमें बसा होता है जो निरन्तर निर्दयस्वभाव वाला होता है। जिसका दयाहीनस्वभाव है उसके संगमें रहनेसे अचानक ही जब चाहे बहुत कठिन विपदायें आ सकती हैं। देखिये कोई व्रत भी पाले और हृदयमें दया न हो। दूसरे जीवोंका दिल दुखाये तो उसका रौद्र आशय कहा जायगा। कुछ त्यागी लोग ऐसे होते हैं कि जरासी हरी घासपर नहीं चल सकते तो छोटी सकरी गली गलीसे चले जाते हैं। देखिये वहाँ कितना रौद्र आशय है उस त्यागीका। ऐसी ऐसी छोटी-छोटी बातें कहाँ तक कही जायें। व्रत भी पालन करते जायें, पर दयासे रहित स्वभाव हो तो उस व्यक्तिको दुर्गति सुगम है। कोई पुरुष दयाका स्वभाव वाला है और व्रत नहीं भी पाल सकता, संयम नहीं धारण कर सकता, किन्तु हृदय कोमल है, परोपकारके लिए चित्त चलता है ऐसा पुरुष स्वर्गादिक गतियोंको शीघ्र पा लेता है। दयाका बड़ा महत्त्व है, तभी दयाको ही धर्म कहा गया है, लेकिन दयाका अगर पूरा अर्थ किया जाय तो यह होगा कि अपने आपपर दया करना है, अपने आपको विषय कषायोंसे दूर करें, खोटे अभिप्राय न जग सकें, यों अपने आत्मप्रभुकी रक्षा करना यही है आत्मदया।

जिसका दयारहित स्वभाव है उस पुरुषके रौद्रध्यान बसा करता है। जो स्वभावसे ही क्रोध-

कषायसे जला हुआ रहता है, क्रोध करनेका स्वभाव ही बना रहा करता है ऐसे पुरुषके रौद्रध्यान बसा करता है, ऐसे पुरुषसे बातें करनेमें भी लोग डरते हैं। यही डर लगा करता है कि न जाने यह कैसा आग बबूला हो जाय ? जिसे घमंड है अपने रूपपर, अपने ज्ञान पर, बल पर, इज्जत पर, जातिपर तथा कुल आदि पर, तो ऐसे पुरुषके रौद्रध्यान बसा रहता है। घमंडी पुरुषको तो अपना सम्मान चाहिए, अपने मानकी पूर्ति चाहिए। उसमें चाहे मित्रका भी अपमान हो, किसीपर भी विपदा आये उसको न देखना, क्योंकि घमंडमें, अहंकारमें इतना बुरा फसा है कि उसके निरन्तर रौद्रध्यान रहा करता है। जो पाप बुद्धि वाला जीव अपने शीलसे चिगकर कुशीलको धारण करता है वह पुरुष भी रौद्रध्यानी है। जो भी नास्तिक जन हैं वे सब रौद्रध्यानी होते हैं। कभी-कभी धर्मकी चर्चा करते हुए मे भी जो विद्वान है, जिसे बोलनेकी बडी कला याद है तो ऐसे ढगसे बोलता जाता है कि मर्म छिद जाय, ऐसी शैलीसे बात करता है वह है रौद्रआशय। अपने आपके हितकी इच्छा होना और जगतके समस्त प्राणियोंके हितकी भावना होना यह बहुत ऊंचे भवितव्य की बात है। जो पुरुष ऐसे रौद्र आशयमे रहते हैं उनके रौद्रध्यान होता रहता है। अब रौद्रध्यान हमारे कितना कब कैसे रहता है, इसकी परीक्षा करना चाहिये, खोज तो करनी चाहिए। शास्त्रोंके सुनने और अध्ययन का फल यही है, प्रयोजन यह है कि हम अपने आपके हितके लिए निर्णय करें। यह शास्त्रोपदेश सुननेभरके लिए और बांचने भरके लिए नहीं है। बांचना और सुनना तो एक माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने प्रयोजन पर पहुच सकते हैं। सुनकर, बांचकर यदि अपने प्रयोजनकी सिद्धि न की तो उससे लाभ क्या हुआ ? हमें शिक्षा लेना चाहिए कि खोटे ध्यानोंसे बचें और शुद्ध ध्यानसे रहें। देखो—विशुद्ध ध्यान करके कहीं भी आपत्ति नहीं है, प्रसन्नता रहती है, और अशुद्ध भाव बनानेमें तो अपने आपमे एक दुःसाहस भी बनाना पडता और उसके साथ-साथ क्लेश भी भोगना पडता है। इस कारण अपने आपको सरलहृदयी बनाना चाहिए जिससे हम अपने आपमे विकल्पजाल न मचायें और शान्त सुखी रह सकें। यह हिंसानन्द नामका रौद्रध्यान कहा है। दूसरेकी हिंसामे आनन्द मानना यह बहुत दुष्ट ध्यान है। इसे छोडकर निर्मोह बनकर आत्माके विशुद्ध ध्यानकी ओर लगाना चाहिए।

> हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापोपदेशे भृशम्,
> दाक्ष्यं नस्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः।
> संवासः सह निर्दयैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता,
> यत्स्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयै ॥१२२१॥

जिसका प्रशान्त आशय है, ज्ञान और शान्तिका भण्डार है ऐसे महर्षिजनोंने हिंसानन्द नामक रौद्रध्यानका यह स्वरूप कहा है। हिंसाके कार्यमे प्रवीणताका होना यह हिंसानन्द रौद्रध्यान है। जैसे कोई शिकार खेलनेमे कुशल होता है और कीडा मकोडा आदिकके सतानेमे बडी चतुराई रखता है, चूहोंको कुत्ते के सामने छोडने आदिक ऐसे कार्योंमें प्रवीण है वह रौद्रध्यानका फल है। उनका आशय क्रूर है। आशयकी बात देखिये—कोई आक्रामकके विरुद्ध युद्ध करना पड़े और उस युद्धमें जो होना है सो होता ही है तिसपर भी वह क्रूर आशय वाला नहीं कहा गया है। जो कीडा मकोडा आदिक पशु पक्षियोंको सताये उसका क्रूर आशय बताया है। यद्यपि वहा भी हिंसा है और विरोधी हिंसा है। किसी निरपराध व्यक्तिको युद्धमें लडाई भी करनी पड़े और उसके द्वारा शत्रुका आघात भी हो जाय तो वहा हिंसा नहीं बताया गया। उसके हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान नहीं बनता है। तो चिन्ह बताये जा रहे हैं, जो हिंसाकर्म करनेकी चतुराई बतायें, पापकर्मका उपदेश देनेमें जो निःस्पृह हों उनके रौद्रध्यान बनता है। जो हिंसाजनक कार्य हैं उनकी निष्पृहता आये तो वह रौद्रध्यान है, जिससे नास्तिकताका प्रचार हो, ऐसे ऐसे भाषण करना, उपदेश करना,

खूब खावो पियो मरनेके बाद कौन देख आया कि क्या होगा ? किसी भी तरहसे धन कमाओ, अपने पास खूब धन होगा तो लोकमें इज्जत होगी। न्याय और अन्याय क्या है ? धनका सचय है तो उससे बड़प्पन है आदिक बातोंको कहकर नास्तिकताके शास्त्रोंमें दक्षता बनाना यह रौद्रध्यान है। प्रतिदिन जिन पुरुषोंकी हिंसा करनेमे प्रीति होती है ऐसे निर्दय पुरुषोंके साथ अपना आवास रखना वह सब रौद्रध्यानका चिन्ह है। व्रतभावका न होना और स्वभावत. क्रूरताका परिणाम होना ये सब बाते जिन देहधारियोंके होती हैं उनके रौद्रध्यान कहा है। दो ध्यान खोटे हैं—आर्त और रौद्र। इनकी भी अपने आपके मनमें चिन्तना करना चाहिए कि हम आर्त रौद्रध्यानमें कितना समय गुजारते हैं ? और अपने आपकी दृष्टिमें, धर्मकी साधनामें, शान्तिके स्वागतमे कितना समय गुजारते हैं ? यह हिसाब प्रत्येक कल्याणार्थीको प्रतिदिन रखनेकी आवश्यकता है। यदि किसी ध्यानमे दु खरूप परिणम रहे हैं तो वह आर्तध्यान है और किसी ध्यानमे सासारिक सुख लूटनेका ध्यान रहता है वह रौद्रध्यान है। यह हिंसानन्दरौद्र ध्यानकी बात है।

केनोपायेन घातो भवति तनुमतां कः प्रवीणोऽत्र हन्ता,
हन्तुं कस्यानुरागः व्यतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातम्।
हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां कीर्तिशान्त्यर्थमित्थम्,
यत्स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृतां तद्धि रौद्रं प्रणीतम् ॥१२२२॥

रौद्रध्यानी पुरुषका कैसा कैसा विचार चलता है ? किस उपायसे प्राणियोंके घातका उपाय बनाता है, सूतका जाल बनाता है मछलियोंको फासनेके लिए या अन्य अन्य साधन बनाता है मछलियां पकड़नेके लिए। इनमें जो भी विचार बनाये जाते हैं वे सब रौद्रध्यान हैं। बहुतसे लोग हिंसक कार्योंका रोजगार करते हैं, जिनके भी मनमे यह चिन्तन रहता है कि किस उपायसे प्राणियोंका घात हो वह सब रौद्रध्यान है। यों देखना कि मारने वाला कौन अधिक प्रवीण है ? हिंसा करनेमे कौन अधिक चतुर है ? ऐसी छाट करना यह सब रौद्रध्यानका फल है। जीवोंके समूहको मारनेमें किसका अनुराग बना हुआ है, जीवोंका समूह कितने दिनोंमे मर जायगा ये सब बातें चिन्तनमें लाना रौद्रध्यान है। एक भाव होता है विषय संरक्षणानन्द, उससे तो कोई श्रावक बचता नहीं है। जब घरमें रहता है। तो घरके साधनोंके जुटानेमें एक आवश्यक सा हो जाता है। तो विषयोंके साधनोंके जुटानेमे सुख मानना सो परिग्रहानन्द है। दूकान करता है, दूकानपर जो बैठता है क्या वह यह परिणाम नहीं रखता कि मैं यहां कुछ कमाई करूं। इतना फर्क है कि कोई पुरुष धर्मसाधनाके लिए जी रहा है और उस ही प्रोग्राममे अर्थका उपार्जन भी कर रहा है। कोई पुरुष केवल मौजके लिए, आरामके साधन बढ़ानेके लिए कमाई करते हैं। गृहस्थीमे रहकर तो कमाईके लिए भी कुछ न कुछ ख्याल रखना ही पड़ता है तो रौद्रध्यान बनाना सम्भव ही है। यह रौद्रध्यान पचम गुण स्थान तक भी हुआ करता है। जो अत्यन्त खोटा रौद्रध्यान है हिंसानन्द उसकी बात चल रही है। इन जीवोंको मारकर, इनकी बलि देकर मैं अपने इष्टदेवको, इष्ट गुरुको प्रसन्न करूं, उससे कीर्ति होगी और शान्ति मिलेगी ऐसा कुछ लोगोंका भाव रहता है वह भी रौद्रध्यान है। धर्मका नाम लेकर भी एक सांसारिक सुख जैसे हिंसावसे जो मौज आता है वह भी रौद्रध्यान कहलाता है। जब तक जीवको निराले ज्ञानानन्द-स्वरूपका अनुभव न जगे तब तक इस असार ससारसे विरक्ति नहीं उत्पन्न होती और जब तक ससार, शरीर भोगोंसे विरक्ति नहीं उत्पन्न होती तब तक खोटे ध्यान हट नहीं सकते। जो अपनी दया करता है उसमें सबकी दया व्यवस्थासे बनेगी और जो खुद आकुलित हो रहा है वह दूसरेको निराकुल बनानेका उपाय क्या रचेगा ? आत्मदया यह है कि यह बुद्धि आये कि मैं शरीरसे भी न्यारा हू। मेरे ही परिणामसे जो मुझमें पापकर्मबन्धनको प्राप्त होने हैं उनके उदयके अनुकूल अपनेको सुख-दु ख प्राप्त होता है। ऐसी ही समस्त संसारी जीवोंकी स्थिति है। जब पुण्य पाप भावोंसे भी उठकर केवल ज्ञानस्वभावमें ही मग्न होनेका ध्यान

जावेगा तो उस समय कर्मबंधनोंसे मुक्ति मिलेगी।

मेरे लिए मैं आत्मा ही सर्वकुछ हूं। यों संसार शरीर और भोगोंसे विरक्ति परिणाम हो तो उससे उत्कृष्ट पवित्रता और क्या होगी ? खूब नहानेसे श्रृंगारके वस्त्र आभूषण आदि पहिननेसे कोई पवित्रता आती है क्या ? पवित्रता आती है परिणामोंमें वैराग्यभाव जगनेसे । अपने ज्ञानस्वरूपका अनुराग जगा हो तो पवित्रता आती है। ऐसी पवित्रता आये बिना जीवको शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। परिग्रहमें मुग्ध होना, धन वैभवके सञ्चयकी लालसा बनाये रखना इससे जीवको शान्ति प्राप्त हो सकेगी क्या ? परिवारके लोगोंको अच्छा बनाकर भी शान्ति प्राप्त हो सकेगी क्या ? अरे इन सब बातोंके कर लेनेसे शान्ति न प्राप्त होगी। शान्ति तो प्राप्त होती है आत्मबोध होनेसे। अपने आपका सही निर्णय हो और अपने आपके ही निकट अपना उपयोग रह सके यह ही सारभूत बात है। शेष सब चीजें तो स्वप्नवत् असार हैं। जैसे स्वप्नसे अपनी महिमाकी बात बढाना असार है ऐसे ही यहा पर जो कुछ समागम प्राप्त हैं वे सब भी असार हैं और यहाके ये मायामय लोग जो स्वयं जन्म मरणके चक्रमें घिरे हुए हैं ऐसे इन प्राणियोंसे अपने लिए कुछ चाहना भी असार है। यह तो [illegible] वर्षका जीवन है, इससे पहिले भी तो हम आप थे, पर तब तकका अब कुछ साथ है क्या ? पहिले भी बड़ा वैभव रहा होगा, बड़ी इज्जत रही होगी, खूब कीर्ति फैली हुई होगी पर उसका एक बिन्दु भी अब साथ है क्या ? जब तक १०-२० वर्ष तक जी रहे हैं तब तक भले ही कुछ ठाठ-बाठ दीख रहा है, पर मरण होनेके बाद किसको क्या पता कि क्या स्थिति होगी ? तब यहा क्या करना ? अपने आपमें ज्ञानकी बात जगे, अपने चित्स्वरूपका अनुराग जगे, शेष सभी जीवोंको एक समान स्वरूपमें देखें ऐसी श्रद्धा रहे तो वह आत्मा पवित्र है, वह सबका पूज्य है। इसी पवित्रतामें ही शान्तिका मार्ग बसा है और रौद्रध्यानसे शान्तिका मार्ग नहीं मिलता। रौद्रध्यानी पुरुष क्या-क्या सोचता है ? किस जीवका घात हुआ, अब किस जीवका घात करें आदि। किसीको कोई बल देकर गिरा देवे और दर्शक उसमें खुश हों तो यह सब भी रौद्रध्यान है। यह तो एक विशिष्ट बात कही गई है। साधारणतया तो अपने स्वरूपको जो पुरुष भूले हुए हैं और अपने विषयसाधनोंके लिए जो हिंसाकी भी परवाह नहीं करते ऐसे पुरुषोंके भी रौद्रध्यान पाया जाता है। रौद्रध्यानका फल है सामान्यतया नरक गति और आर्तध्यानका फल है सामान्यतया तिर्यञ्च गति। किसी दृष्टिसे तिर्यञ्च गति नरक गतिसे खराब है और किसी दृष्टिसे नरक गति तिर्यञ्च गतिसे खराब है। इन दुर्ध्यानोंका यही फल है कि यह जीव संसारमें जन्म-मरणके चक्र लगाये जा रहा है।

गगनवनधरित्रीचारिणां देहभाजाम् दलनदहनबन्धच्छेदघातेषु यत्नम्।
दतिनखकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत् तदिह गदितमुच्चैश्चेतसां रौद्रमित्थम् ॥१२२३॥

आकाशमें चलने वाले पक्षी, जलमें चलने वाली मछली आदिक, थलमें चलने वाले पशु आदिक इन जीवोंके घात करनेका उपाय रचना, घात करनेका यत्न करना ये सब रौद्रध्यान हैं। यह हिंसानन्द रौद्रध्यानका स्वरूप कहा जा रहा है। तो पशुवोंकी चमड़ी, नख, हाथ आदिक नष्ट करके जो भी क्रूर परिणाम होते हैं वे सब रौद्रध्यान कहलाते हैं। कितने ही लोग कुत्तेको लुटाते और उसकी पूछ काट डालते, कुछ लोग तोते, तीतर आदि पिंजड़ेमें बन्द करते, ये सब आखिर हिंसक जीव ही तो हैं। इनसे कभी जीवघात करनेकी बात देखी तो वहा भी रौद्रध्यान बनता है। गुरुजी सुनाते थे कि बाईजीके घरमें एक बिल्ली पली रहती थी। वह बिल्ली बाईजीको तथा गुरुजीको बड़ा अनुराग दिखाती थी। जब कभी ये लोग कहीं बाहर चले जाते और वहासे लौटकर आते तो वह बिल्ली उनके पैरोंमें लौटकर बडा अनुराग दिखाती थी। तो गुरुजी उसे खूब दूध पिलाने लगे, खूब रोटी खिलाने लगे। बाईजीने गुरुजीसे कहा कि देखो तुम इस बिल्ली

को खूब खिलाते पिलाते हो, पर किसी दिन तुमको इससे बड़ा दुःख होगा। तो कुछ ही दिनोंके बादमें हुआ क्या कि उस बिल्लीने एक चूहेको पकड़ कर बुरी तरहसे मार डाला। ऐसे दृश्यको देखकर गुरुजीको बड़ा दुःख हुआ। तो किसी हिंसक पुरुषको पालकर कभी यदि उसके द्वारा किसी जीवकी हिंसा करते हुए दिख गया तो उस समय जो भाव बनेंगे, जो ध्यान बनेगा वह भी रौद्रध्यानसे सम्बंध रखने वाली बात है। आजकल तो चमड़ेके कोट कमीज भी बनते हैं। पहिले छोटे-छोटे बछड़ोंको जिन्दा मारकर उनकी चमडी छील ली जाती है और फिर उस ही चमड़ीको पानीमे उबालकर साफ कर वे कोट कमीज आदि बनते हैं। तो कोई यदि चमड़े से बनी चीजोंका उपयोग करे तो उसे भी रौद्रध्यानमें शामिल होना पड़ेगा। आखिर समर्थन तो उनका मिलता ही है। तो जीवोंके सतानेका जो केवल कौतूहलरूप परिणाम रखते हैं वह रौद्रध्यान है, ऐसा बड़े चित्त वाले पुरुषोंने कहा है।

अस्य घातो जयोऽन्यस्य समरे जायतामिति।
स्मरत्यङ्गी तदप्याहू रौद्रमध्यात्मवेदिनः ॥१२२४॥

जो अध्यात्मवेदी पुरुष हैं उन्होंने बताया है कि ऐसे भी चिन्तन करके कि इस जीवकी हार हो, इसकी जीत हो अर्थात् किसीका पक्ष रखे और किसीका विरोध रखे यह भी तो रौद्रध्यान है। कोई दो पुरुष लड रहे हों अथवा दो तीतर लड रहे हों, बिना प्रयोजन ही किसीके जीत जाने और किसीके हार जानेकी बात मनमें आये तो वह भी रौद्रध्यान है। कभी मित्रजन आपसमे बात करते हैं कि देखो अमुक हारेगा अमुक जीतेगा ऐसी पक्ष विपक्षकी बातें सोचना यह सब भी रौद्रध्यान है। किसी युद्धके प्रसगमें अमुककी हार हो, अमुककी जीत हो इस प्रकारका चिन्तन करना भी रौद्रध्यान है। अब इस प्रसंगमे एक यह बात जाननेकी है कि कोई-कोई पुरुष धर्मका पक्ष ले लेते, धर्मीका पक्ष ले लेते, अधर्मके विपक्षी हो जाते, अधर्मीके विपक्षी हो जाते तो क्या यह भी रौद्रध्यान है? सो ऐसी बात नहीं है, वह तो धर्मानुरागकी बात है, पर जिससे धर्मका सम्बंध नहीं है वहाँ किसीके पक्ष विपक्षमे पड़े तो वह सब रौद्रध्यान है। जो मित्रताके नाते से विचार चलता है कि अमुक मेरा मित्र है, इसकी विजय हो, दूसरेको हार हो यह भी रौद्रध्यानमे शामिल है। इस रौद्रध्यानको कहा तक विस्तारसे कहा जाय? इस विश्वमे विरले ही सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको छोड़कर समस्त विश्वके जीवोंमे आर्तध्यान और रौद्रध्यान लगा हुआ है।

श्रुते दृष्टे स्मृते जन्तुवधाद्युरुपराभवे।
यो हर्षस्तद्धि विज्ञेयं रौद्रं दुःखानलेन्धनम् ॥१२२५॥

जीवो के बन्धन आदिकके तीव्र दुःख अपमान आदिकके देखने सुननेमे हर्ष करना यह भी रौद्रध्यान है। सब जीवोंमें अपनी-अपनी कषायें हैं, सभी अपने-अपने कषायोंके अनुसार बर्ताव करते हैं, किसीसे कुछ मतलब तो नहीं, कोई किसीका शत्रु नहीं, पर किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट मानले तो यह भी आर्तध्यान है। अरे ये सभी अपना-अपना स्वार्थ चाहते हैं, अपना सुख चाहते हैं, किसीका किसीसे यहां कोई नाता नहीं कोई सम्बध नहीं, पर किसीमे इष्ट माननेकी बात जगी और किसीमे अनिष्ट माननेकी बात जगी, किसीके मानको सुनकर खुश हो रहे तो किसीके अपमानको सुनकर खुश हो रहे, यह सब क्या है? यह सब रौद्रध्यान ही तो है। किसीका मरण जानकर, अकल्याण जानकर हर्ष मानना वह भी रौद्रध्यान है। यह रौद्रध्यान दुःखरूपी अग्निको बढ़ानेके लिए ईंधनके समान है। जैसे ईंधन पाकर अग्नि बढ़ती है ऐसे ही रौद्रध्यानको पाकर यह दुःख बढ़ता है। इस रौद्रध्यानसे आत्माको सिद्धि कुछ नहीं मिलती। हमारा जो कुछ भी भविष्य बनता है वह हमारे भावोंके अनुसार बनता है। फिर दूसरोंके प्रति दुर्भावना रखना, किसीको शत्रु मानना, किसीको अनिष्ट समझना ये सब अनर्थकी बातें हैं, क्लेशकी ही बातें हैं। अपने

परिणाम न विगडने देना, अपनी भावनाएं विशुद्ध बनाना, इसमे ही लाभ है। कोई बाह्य अर्थोंकी प्राप्तिके लिए दुर्भावना बनाये और कदाचित वे प्राप्त भी हो जायें तो समझिये कि वह सब पूर्वकृत पुण्यका फल है। क्रूर आशय बनाकर जो कुछ वैभव जोड़ भी लिया तो उससे इस आत्माका कुछ भी लाभ नहीं है। पापका उदय आयगा और इससे कई गुना दुःख भोगना पड़ेगा। अपनी भावनाए विशुद्ध बनाये, खोटे ध्यानोंका त्याग करें, इसमे ही अपना भला है।

अहं कदा करिष्यामि पूर्ववैरस्य निष्क्रयम्।
अस्य चित्रैर्वधैश्चेति चिन्ता रौद्राय कल्पिता ॥१२२६॥

ऐसा चिन्तन करना कि मैं कब पूर्वकालके वैरीका बदला लूं, अनेक प्रकारके घातसे किस समय बदला ले सकूंगा ऐसा विचार करना भी रौद्रध्यान माना गया है। किसीसे कुछ बुराई हुई, किसीको दुश्मन मान लिया, अब उसके बारेमे विचार कर रहे है मैं कब बदला ले सकूंगा, और उसका बदला लेनेकी वासना बनाना और उपाय करना यह सब रौद्रध्यान है। खोटे ध्यानोंसे आत्माका कुछ लाभ नहीं है, क्योंकि जगतमे जितने जीव हैं सभी अत्यन्त भिन्न है, न कोई उनमे इष्ट है और न कोई अनिष्ट है और फिर किसी पुरुषका बुरा हो जाय उससे इसे कुछ मिलता नहीं, केवल एक कल्पना जगी, उसकी पूर्ति हो गयी। यह मूढता है। जैसे किसी बच्चेके शिरमे किवाड लग जाय तो उसकी मा किवाडको थोडा पीट देती है लो वह बच्चा शान्त हो जाता है, सुखी हो जाता है। अब यह बतलावो कि मिला क्या किवाडके पिट जानेसे उस बच्चेको? कुछ भी तो नहीं मिला। ऐसे ही कोई मनुष्य या कोई जीव हो, जिससे पीडा पहुची हो तो उसे कोई ठीक पीट दे तो यद्यपि इसे मिला कुछ नहीं है पर वह सन्तुष्ट हो जाता है तो किसीका अनिष्ट चिन्तन करनेसे खुदका लाभ कुछ नहीं, है बिगाड ही सारा है। जब बुरा चिन्तन करता है तो उस घडीमे वह सक्लेश ही पाता है। तो भावना भावो कि स्वप्नमे भी मैं किसीका बुरा विचार न करू। बुरे विचारसे न पूजाका महत्त्व है, न धर्मपालनका महत्त्व है। धर्मक्रियायें जितनी की जाती हैं वे सब केवल श्रमरूप हैं। यदि भावना अपनी अच्छी न रही, सब जीवोंके प्रति सुख शान्तिकी भावना न हुई, किसीको अनिष्ट जानकर उसका अकल्याण विनाश विघात करनेपर परिणाम उतारू रहे तो इसका फल अच्छा नहीं है। यहाँ कोई शरण तो है नहीं, फिर किसको प्रसन्न करनेका यहाँ उद्यम करें? तो यह सावधानी होना चाहिए कि मेरा परिणाम निर्मल रहे। आर्तध्यान और रौद्रध्यानसे बचें। जगतमे जो जो भी बातें अनिष्ट मानी जाती हैं वे सब कुछ भी हो जायें तब भी उससे इस जीवकी क्या बरबादी है? कल्पनाए करते है और खोटी मान्यतासे दुखी होते हैं। तो ऐसा कोई विचार करे कि मैं पूर्वकालके इस वैरीका किस समय बदला चुका सकूगा, यह चिन्तन करना रौद्रध्यान है।

किं कुर्मः शक्तिवैकल्याज्जीवन्त्यद्यापि विद्विषः।
तद्यामुत्र हनिष्याम प्राप्य कालं तथा बलम् ॥१२२७॥

ऐसा विचार करे कोई कि मैं क्या करू, शक्तिसे हीन हूँ इस कारण शत्रु अभी तक जी रहे हैं, नहीं तो मैं कभीके इनको मार डालता, ऐसा चिन्तन करना और सोचना कि कब मैं इस योग्य हो सकूंगा कि इनको मैं मार डालू, इस प्रकारके चिन्तन करना सो रौद्रध्यान है। कषायके आवेशमे ऐसा ही सूझता है और इसीमें चतुराई मानते हैं, इसको बुरा कार्य नहीं समझो, यों वे अनन्तानुबधी कषाय बाध लते हैं और उससे निरन्तर पीडित रहा करते है। कितनी मूढता भरी कल्पनाए हैं कि किसी जीवके प्रति अनर्थका विचार करे इस भवमे मैं घात न कर सका तो अगले भवमे करूगा, इतना तक भी चिन्तन करने वाले कोई कोई लोग होते हैं। तो यह कितनी मूढता भरी बात है? ऐसा खोटा संकल्प करना भी रौद्रध्यान है।

अभिलषति नितान्तं यत्परस्यापकारं, व्यसनविशिखभिन्नं वीक्ष्य यत्तोषमेति ।
यदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वान्यभूतिं भवति हृदि सशल्यस्तद्धि रौद्रस्य लिङ्गम् ॥१२२८॥

निरन्तर दूसरेका अपकार चिन्तन करना रौद्रध्यान है। कषाय वसी है, मन ही मन गुड़गुड़ाते रहते हैं, अमुकका नाश हो, और कितने ही लोग तो ऐसे भी होते हैं जो मन्दिरमे जाकर भगवानकी डेरीमें पड़कर यह ध्यान करते कि हे भगवन्! अमुक व्यक्तिका नाश हो जाय। अब तो खैर धर्ममे श्रद्धा ही नही लोगोंको रही। भगवानके मन्दिरमे जायेंगे ही क्या, पर कभी यह बात थी कि लोगोंमे धर्मकी श्रद्धा थी-और लोगोंका मन्दिर जानेका नियम रहता था, तो कोई लोग मन्दिरमे भगवानसे निवेदन करते कि हे भगवन्! अमुकका नाश हो जाय। तो यह खोटी कल्पना कितनी मूढ़ता भरी कल्पना है? वह हृदय पवित्र है जिसमें सब जीवोंके प्रति सुखी होनेकी भावना बने। किसीका बुरा न विचारे। गृहस्थी है तो अपना काम काज करिये, धर्मपालन भी कीजिए। पर इतना ध्यान तो सभीको रखना चाहिए कि अपने लाभके लिए किसी भी मनुष्यका प्राणीका बुरा चिन्तन न करें कि अमुकका नाश हो, अमुककी बरबादी हो। वह पुरुष श्रेष्ठ है जिसमे यह धीरता है कि अपने काममें डटे जावो और तुमसे कोई-विरोध करे, नुक्सान पहुचाये इतने पर भी उसका हृदयसे बुरा न सोचना। यह एक बड़ा आन्तरिक तपश्चरण है। जो ऐसी भावना भरेगा वह सोनेकी तरह तप जायगा, कुन्दन हो जावेगा, पवित्र बन जायगा, यह अभ्यास कीजिए कि किसीका भी बुरा मत होवे। चाहे किसीके द्वारा हमपर उपसर्ग आया हो और उपद्रव ढा गया हो इतने पर भी किसीका अकल्याण न विचारना ऐसा चित्त बन जाय वह एक ऊंचा तपश्चरण है। धर्मके हित उपवास करते न बने न सही, तप सामायक ये सब चीजें न बनें न सही, पूजा भी नहीं बन पाती, न सही, किन्तु इतनीसी बात जो केवल चित्तके आधीन है, भावनामयी बात है, फिर भी जिसमे कोई व्यय नहीं है और विडम्बना भी जहॉं नहीं आती, ऐसी यह भावना हृदयसे बनाये तो सही, किसीने उपद्रव भी किया हो तिसपर भी उसका बुरा न सोचना, उसका अकल्याण न सोचना ऐसा हृदय बने तो खुदको तो लाभ हो ही गया और फिर दूसरोंमे भी उसकी महिमा प्रकट होगी। धर्म तो वीतराग प्रभु और ऋषियोंकी परम्परासे चला आया है। उनकी सतानमे हम आप भी जन्मे है। तो यह जानकर कि धम कुछ अलग चीज नहीं है, यह व्यवहार धर्म, यह सब सामायिक व्यवस्था यह सब धर्मकी परम्परा है। उस परम्परामे हम भी एक सहयोग दे रहे हैं। इस लोकमे मेरा कोई मालिक नही, अधिकारी नहीं, मेरा कुछ उसमे विशेष रूपसे कुछ लाभ होता हो कुछ भी नहीं है। एक धर्म यों परम्परासे चलता जाता है, उसकी ही परम्परा बनानेमे एक हम भी सहयोगी हैं। तो बिना कुछ चाहे, कीर्ति चाहे बिना, अन्य प्रकारका लाभ कुछ भी चाहे बिना जितना बन सकता है, हम उस परिपाटीमे सहयोग दे रहे हैं। उस परिपाटीमे सहयोग देनेसे कहीं हमारा अलग अस्तित्व नहीं बन गया। हम जीव ही परिपाटी चलाने वालोंमे घुलमिलकर अपना कर्तव्य निभायें यह बात युक्त है। तो ऐसा विचार बने, ऐसी पवित्र भावना बने कि किसी भी जीवका अहित न सोचे तो वह धर्मभावना है, और किसीका अनिष्ट सोचना वह सब रौद्रध्यान है। किसी विपत्तिमे पड़े हुए पुरुषको देखकर सन्तोष करना, देखो अच्छा हुआ, बहुत ऊधम करता था, बड़ी उद्दण्डतासे रहता था, अब ठीक हुआ, होनी ही चाहिए ऐसी विपत्ति, यों किसीकी विपत्तियां निरख कर कोई संतोष करता हो तो यह भी रौद्रध्यान है, खोटी भावना है। गुणोंमे कोई बड़ा हो, गुणवान हो, उसको देखकर द्वेष करना सो रौद्रध्यान है। गुणीजनोंको देख कर मनमे रोष आना। कैसे रोष आ गया? ऐसा अहंकार है, अभिप्राय है और उसको डर लगा कि इसके आनेके कारण हमारी बात लोगोंमे न मिल जाय, हमे फिर कोई न पूछेगा, इससे तो हमारी पोजीशन बिगड़ेगा, ऐसा आशय रहता है तब जो गुणी पुरुष हैं उनके प्रति द्वेषभाव जगता है, कहांसे यह कांटा आ गया है, कब यह टलेगा, यों चिन्तन करना सब रौद्रध्यान है। दूसरेकी विभूतिको देखकर द्वेष करना, किसीके ज्यादा धन बढ़ रहा है, अपने आ

साधन अच्छे बढ़ा रहा है, और वैभवका भी विस्तार कर रहा है ऐसी विभूति देखकर द्वेष करना यह भी रौद्रध्यान है। किसीके बडा बन जानेसे, धनी हो जानेसे किसी दूसरेका क्या नुक्सान पडता है ? फायदा जितना चाहे हो सकता है। कोई धन बढ़ाकर आखिर करेगा क्या ? कुछ दिन कंजूसी भले ही करले, किन्तु उसी का ही परिणाम कभी बदलेगा और न बदला तो मर गया। उसके पुत्रोंका वह धन बनेगा, परोपकारमें वह धन लगेगा। कमाने वाला अपने पेटमें खाता है क्या उस वैभवको ? किसीके धन बढ़ रहा है तो बढने दो, उससे भला ही है। देशका लाभ है, गांवका लाभ है, पडौसियोंका लाभ है, सबका ही लाभ है। कोई अगर विभूतिमें बढ़ रहा है तो उसको निरखकर द्वेष करना यह खोटा ध्यान है। जो रौद्रध्यानी पुरुष है वह शल्यसहित रहता है, ऐसे ध्यानका त्याग करना चाहिए और शान्तिके पथमे बढना चाहिए।

हिंसानन्दोद्भवं रौद्रं वक्तुं कस्यास्ति कौशलम् ।
जगज्जन्तुसमुद्भूतविकल्पशतसम्भवम् ॥१२२९॥

हिंसामें आनन्द माननेसे जो रौद्रध्यान बना उस रौद्रध्यानकी बातको कहनेके लिए किसके कुशलता है, रौद्रध्यानमें कितना खोटापन है वह बतानेमें कोई समर्थ नहीं है। रौद्रध्यान आर्तध्यानसे भी बुरा है ? आर्तध्यानमें तो विवशता है, करे क्या, कुछ ऐसी भी बात है। शरीरमे रोग बढ़ गया, भूख बढ़ गयी, जुखाम खांसी ज्वर आदिक हो गया, उसमे कुछ पीडा होने लगी, विवश है लेकिन रौद्रध्यानमें क्या विवशता है ? किसीने कोई जबरदस्ती की क्या, कोई अटकी थी क्या कि कोई तो तड़फे, किसीका तो घात हो और यहां यह सतोष करे, अच्छा हुआ, बहुत उद्दण्ड था, हमसे सीधी बात भी न करता था। अब आपत्तिमे पड़ गया, उसका संतोष कर रहा है। इसमें कौन विवशताकी बात है ? तो यह रौद्रध्यान एक उद्दण्डताकी बात है और इसमें बहुत क्रूर आशय होता है। ऐसा ध्यान तो नरक आदिक गतियोंका कारण है। हिंसामे आनन्द माननेसे जो रौद्रध्यान उत्पन्न होता है वह रौद्रध्यान सैकडों विकल्पोंसे उत्पन्न हुआ, इसके परिणाम अनेक पुरुषोंको अनेक प्रकारके होते हैं, वे कहनेमे आ नहीं सकते। किसीका किसी प्रकारका रौद्रध्यान, कोई किसी तरहका मौज मान रहा, कोई हिंसामें. कोई झूठमे, कोई चोरीमे, कोई कुशीलमें, कोई परिग्रहमे, इन अनात्म भावोंमें मौज माना जा रहा है, ये कितनी तरहके परिणाम हैं। उनको कहनेके लिए किसमें कुशलता है, अर्थात् कोई नहीं कह सकता।

हिंसोपकरणादानं क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहं ।
निस्त्रिंशतादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनः ॥१२३०॥

हिंसाके उपकरण जो शस्त्र आदिक हैं उनका सग्रह करके ग्रहण करना यह रौद्रध्यानका चिन्ह है। तलवार को पैनी देखते ही जो खुश होता है, जो छुरीको देखकर मौज मानता है, यह ठीक है, बहुत रुचिसे देखता है उसमें आशय कितने बुरे पड़े हुए है ? तो जो पुरुप हिंसाके उपकरणोंको ग्रहण करे अथवा किसीके बधके लिए प्रदान करे वे सब रौद्रध्यान है। ये रौद्रध्यानके चिन्ह हैं और एक चिन्ह यह है कि निर्दय मनुष्योंका अनुग्रह करके जो निर्दयचित्त है, हिंसक है, शिकारी है, जीवोंका वध करने वाला है ऐसे प्राणीका भला करना, उसकी सहायता करना, उसकी पूजी बनाना आदिक ये सब रौद्रध्यान करने वाले पुरुषोंके चिन्ह हैं। और निर्दयता का परिणाम होना ये सब रौद्रध्यानी पुरुषके बाह्य चिन्ह होने हैं। इस प्रकार हिंसानन्द नामक रौद्रध्यानका वर्णन किया गया, अब मृपानन्द नामके द्वितीय रौद्रध्यानका वर्णन कर रहे हैं।

असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानस. ।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥१२३१॥

जो मनुष्य असत्य झूठ अहितकारी कल्पनाओं के समूहसे पापी बनकर मलिन हृदय होकर कुछ भी चेष्टा करे उसके निश्चय करके मृषानन्द नामका रौद्रध्यान कहा गया है। झूठको अच्छा बतानेमे, झूठका पक्ष करनेमे, झूठी गवाही गढनेमे आनन्द मानना ये सब मृषानन्द नामका रौद्रध्यान हैं। जब कभी कई लोगोंकी गोष्ठी बैठ जाती है, गप्पें चलती हैं, रात्रिके ११-१२ बज जाते है तो उन गप्पोमे जो मौज लिया जाता वह सब रौद्रध्यान है, और उन्हीं गप्पोमे कोई बात ऐसी मजाकमे निकल जाती कि कहो लड़ाई हो जाय। तो कितनी ही विडम्बनाएं सामने आती हैं। तो कुछ भी बोले—हित, मित, प्रिय बोले। झूठी बात बोलना, झूठी गवाही देकर किसीको फसाना, और-और भी बातें हैं उनसे इस जीवका कौनसा हित हो गया ? धर्मका लाभ होता हो तो बतावो। समस्त क्रियावोंका प्रयोजन है धर्मका लाभ होना, धर्मकी प्रभावना होना, स्वयमे धर्मका विकास हो। तो इस मृषानन्द नामके रौद्रध्यानसे इस जीवको कौनसे हितकी प्राप्ति है ? ऐसे असत्य कल्पनाओंके समूहसे जो चेष्टा की जाती है वह निश्चयसे मृषानन्द नामका रौद्रध्यान कहा गया है। मृषा मायने असत्य उसमे आनन्द मानना सो मृषानन्द नामका रौद्रध्यान है। विद्यार्थी अवस्थामें भी एक दूसरेको छकाना, धोखा देना और ऐसी बात बोलना जिससे दूसरेका नुक्सान हो और खुदका लाभ हो, ऐसी जो गप्पें चलती हैं वह मृषानन्द नामका रौद्रध्यान है। एक भाईने बताया कि एक बार ऐसा हुआ कि कोई एक छात्र लड्डू लेकर आया, उसे देखकर कई लड़कोंने कहा कि अमुक जगह आज एक हाथीको फासी दी जायगी, सो हम लोग देखने जा रहे हैं। उस लडडू लाने वाले लडकेने क्या किया कि लड्डू रखकर बड़ी जल्दी दौडकर उस दृश्यको देखने चला गया। इधर लडकोंने सारे लड्डू खा डाले। तो दूसरेको धोखा देकर अपना काम बना लेनेका जो परिणाम है यह परिणाम रौद्रध्यानी पुरुषके होता है। तो यह जो मृषानन्दकी प्रीति है वह मृषानन्द नामका रौद्रध्यान है।

विधाय वञ्चकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य निर्दयम् ।
प्रपात्य व्यसने लोकं भोक्ष्येऽहं वाञ्छितं सुखम् ॥१२३२॥

जो पुरुष इस जगतमें ठगिया शास्त्रोंको बनाकर निर्दय मार्गका उपदेश करके, लोगोंको आपत्तिमे डालकर चाहते हैं कि मैं वाञ्छित सुख भोगू यह मृषानन्द नामका रौद्रध्यान है। जैसे किसी समय ऐसे शास्त्र गढे गये कि यज्ञमे पशुवोंके होमनेसे पशुवोंको भी स्वर्ग मिलता है और यज्ञ करने वालोंको भी। चर्चा करते करतेमें पक्ष पड़ गया। वह पक्ष इतना कठिन बन गया कि जो शास्त्र रचनेमे उनको उतारू होना पड़ा। कितना बुरा हुआ, कितना अनर्थ हुआ, कितने ही प्राणियोंको विपत्तिमे डाला। वह शास्त्र रचने वाला पुरुष चाहे दो चार पुरुषोंको अपने हाथसे मार डालता तो दो चार ही तो मरते, पर ऐसे खोटे शास्त्र रचे जिनमें पशुवोंकी बलिका उपदेश दिया गया। अब उनके इस कुशास्त्रकी रचनासे कितने जीवोंका अनर्थ हुआ ? हजारों कह लो, लाखों भी कह लो। तो यह सब मृषानन्द रौद्रध्यान है। ऐसा करने वाले किस गतिमें गए होंगे ? क्या उनका भवतव्य होगा। सीधीसी बात है कि यदि अपनी भलाई करना है तो सरल बनें और शुद्ध तत्त्वज्ञान उत्पन्न करें, धर्मलाभ ले और चूंकि गृहस्थ हैं तो न्यायपूर्वक सच्चाई सहित अपनी आजीविका बनाये रहें। करना तो यो है और खोटे भाव बनाना, दूसरे जीवोंका अनर्थ सोचना—ये सब तो इस जीवको भयकर दुर्गतिके देने वाले परिणाम हैं।

असत्यचातुर्यबलेन लोकाद्वित्तं ग्रहीष्यामि बहुप्रकारं ।
तथाश्वमातङ्गपुराकराणि कन्यादिरत्नानि च बन्धुराणि ॥१२३३॥

असत्यकी चतुराईके बलसे मैं लोगोंसे बहुत प्रकारका धन ग्रहण कर लूंगा, ऐसा ध्यान रखना सो मृषानन्द नामका रौद्रध्यान है। बेईमानी, असत्य, ऐसी बोल बोलना जिससे दूसरेको विश्वास उत्पन्न करा दे, ऐसे असत्यकी चतुराईके बलसे मैं अमुकसे बहुत प्रकारका धन ग्रहण कर लूंगा इस प्रकारकी वासना

रखना सो मृषानन्द नामका रौद्र है। तथा घोडा, हाथी, नगर, रत्नोंके समूह, सुन्दर कन्या आदिक रत्नोंको ग्रहण करूंगा, असत्यकी चतुराईसे मनमाना धन वैभव ग्रहण करूंगा, इस प्रकारका चिन्तन रखना मृषानन्द नामक रौद्रध्यान है।

असत्यवाग्वञ्चनया नितान्तं प्रवर्तयत्यत्र जनं वराकम्।
सद्धर्ममार्गादतिवर्तनेन मदोद्धतो यः स हि रौद्रधामा ॥१२३४॥

असत्य वचनोंकी ठगाईसे निरन्तर जो इस अबुद्ध मनुष्यका प्रवर्तन करता है वह पुरुष समीचीन पदसे च्युत होनेके कारण वह रौद्रध्यान है। असत्य मार्गमें जो दूसरेको लगा दे ऐसा असत्य सम्भाषण भी रौद्रध्यान है। रौद्रध्यानमें चूंकि जीव आनन्द मानता है इस मौजके समयमें इस जीवको अपने आपकी सुध नहीं रहती कि मैं कोई पापकार्य कर रहा हूँ। तो रौद्रध्यान इतना खोटा ध्यान है तभी तो रौद्रध्यानी पुरुष नरकगामी होता है। तो दूसरेको समीचीन मार्गसे हटाकर असत्य मार्गमें लगा दे ऐसा सम्भाषण करे ऐसा पुरुष रौद्रध्यानी है।

असत्यसामर्थ्यवशादरातीन् नृपेण वान्येन च घातयामि।
अदोषिणां दोषचयं विधाय चिन्तेति रौद्राय मता मुनीन्द्रैः ॥१२३५॥

मैं देशको समूहको सिद्ध करके, अपनी चतुराईसे अमुकके द्वारा या राजाके द्वारा अमुकका घात कराऊंगा, इस प्रकारका चिन्तन करना सो रौद्रध्यान कहलाता है। सुदर्शन सेठके समयमें रानीने उससे दुर्व्यवहार करनेको कहा। सेठ सुदर्शनने कहा कि ऐ माँ! मैं तो शीलवान हूँ, इस प्रकारका खोटा कार्य मैं नहीं कर सकता। तब रानीको क्रोध जगा और झट उसके प्राणघातकी बात सोची। अपने कपडे फाड लिए और सेठ सुदर्शनपर झूठा आरोप लगाया। और जब वह फासीपर चढाया गया तो उस समय उसके पुण्यके प्रताप से उसकी देवोंने रक्षा की। लेकिन उस समय रानीको इतना विकट रौद्रध्यान रहा कि तो असत्य सम्भाषण करके दूसरेके प्राणघात करा देना यह रौद्रध्यान है। प्राय सभी मनुष्य करोड़ोंमें विरले ही एक दो लोगोंको छोडकर रौद्रध्यानी समाज मिलेगा। जिसको अपने स्वार्थकी गरज है, अपने विषयसाधनोंकी गरज है और दूसरेका कुछ भी हो, दूसरोका चाहे अहित हो जाय, पर कुछ परवाह नहीं रखते, ऐसे पुरुष विकट रौद्रध्यानी ही तो हैं। इसमें सार कुछ नहीं मिलता। जीवपर बात वह गुजरती है जैसा कि यह जीव परिणाम करता, है। खोटे परिणाम करनेका फल बादमें भी भोगेगा, किन्तु तत्काल भी भोग लेता है। खोटे परिणामोंसे शान्ति प्राप्त नहीं होती। तो अशान्तिका फल तो उसने तुरन्त भोग लिया। अब जो कर्मबध होगा उसके फलमें जो बात बीतेगी भविष्यमें उसे भोग लेगा। तो खोटे परिणाममें जीवको कुछ लाभ नहीं है। कुछ पैसा कम आता है तो इसमें कुछ आपत्ति आती है क्या? खोटे परिणाम न करना, यह तो अपने आप पर बहुत बड़ी दया है, इससे इतना विशेष पुण्यबध होगा कि कुछ ही काल बाद उसे मनोवाञ्छित विभूति प्राप्त हो सकती है।

रौद्रध्यान एक विकट बुरा ध्यान है उससे हम बचे रहें। ऐसा कार्य करें ऐसा सत्सग बनायें स्वाध्यायका, धर्मका, ज्ञान चर्चाका, पढ़ने पढ़ानेका अथवा दीन दुःखियोंके उपकारका तो यह अपने भलेकी बात है। जो लोकमें बड़े सुखी हैं, बड़े आरामसे ठाठसे रहते हैं, बहुत वैभव है, बडी कारें हैं, बहुत आराम है ऐसोंके सगमें रहनेसे लाभ क्या? और गरीब यदि किसी धनिककी मित्रता करे तो लुटेगा वही गरीब ही धनिक न लुटेगा। तो ऐसे पुरुषोका सग करनेसे लाभ क्या है? सग तो ऐसा करें, विश्वास तो ऐसोंके बीच रखें कि जिसमें प्रभुकी सुध रहे और अपने आत्माकी सुध रहे। बाहर चलते फिरतेमें जो दुःखी पशुवोंको देखते हैं, बड़ा बोझ लादते हैं, फिर भी बड़े चाबुक मारे जा रहे हैं आदिक अनेक ढग जो दिखते हैं उनको

देखकर भी आत्माको लाभ है, दया तो आती है, भीतरमे नम्रता तो जगती है और सुध तो होती है कि अज्ञान दशामें रहनेका यह फल होता है। यदि हम भी इन पशुवोंकी ही तरह अज्ञानी बने रहे तो ऐसे ही कष्ट भोगने पड़ेंगे। उन बड़े रईसोंके सगमे रहकर क्या करें जो ठीक तरहसे बात भी नहीं करते और अपने स्वार्थकी बात कुछ बन रही हो तो गरीबोंकी पूछ कर सकते हैं। ऐसे लोगोंके सगमे रहकर न तो धर्मका लाभ, न पुण्यका लाभ। उल्टा अशान्ति है और देख देखकर कायर वृत्तिसे रहना पड़ता है। उसके पाप और रहते हैं। तो सत्सग हो गुणियोंका, रोगियोंकी सेवामें आयें ऐसी-ऐसी बातें जो अपनेको सावधान बनाये रहें वह तो है लाभका सग, और जो ईर्ष्या बढ़ायें द्वेष बढायें, तृष्णा बढ़ायें, कायरता बढ़ायें ऐसे सग ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। तो मैं ऐसे असत्यकी सामर्थ्यका प्रभाव बताऊंगा कि इस दुश्मनको मैं राजाके द्वारा प्राणघात कराऊंगा या किसी दूसरेके द्वारा। एक नाई था उसने किसी सेठकी हजामत बनाई, हजामत बनाने में किसी एक जगह छुरा लग गया। जब हजामत बन चुकी तो सेठने पूछा कि कितनी जगह छुरा लगा। तो नाई डरते हुए कहता है कि एक जगह, नाईने सोचा कि कहो सेठजीने पैसे भी न दें। पर सेठजी उसे दो रुपये दिये। नाईने सोचा कि एक जगह छुरा लगा इसलिए दो रुपये मिले यदि दो जगह छुरा लगता तो चार रुपये मिलते। सोचा कि यह तो पैसा कमानेका अच्छा उपाय मिल गया। सेठने जो उसे इनाम दिया था वह अच्छे आशयसे नहीं बल्कि बुरे आशयसे दिया था। सेठजीका आशय था कि और किसीके अगर छुरा मारा तो इसे उसका बुरा फल मिलेगा। आखिर हुआ भी ऐसा ही। किसी बाबूजीकी हजामत बनाई तो दो जगह छुरा मार दिया। नाई तो सोचता था कि एक जगह छुरा मारनेसे २ रु० मिले थे तो दो जगह छुरा मारनेसे बाबूजी ४ रु० देंगे, पर हुआ क्या कि बाबूजीने उतारकर उसके चार छः जूते मारे। तो सेठका वह दान रौद्र-ध्यान कहलाया।

पातयामि जनं मूढं व्यसनेऽनर्थसंकटे।
वाक्कौशल्यप्रयोगेण वाञ्छितार्थप्रसिद्धये ॥१२३६॥

कोई इस प्रकार विचार करे कि मुझमें वचन बोलनेकी इतनी प्रवीणता है कि उसके प्रयोगसे मैं वाञ्छित प्रयोजनकी सिद्धिके लिए मूढ जनोंको अनर्थ सकटमें डाल दूं, ऐसा मैं चतुर हूँ, ऐसा अपने आपमें चतुराईका अभिमान रखकर मौज करना यह सब रौद्रध्यान है।

इमान् जडान् बोधविचारविच्युतान् प्रतारयाम्यद्य वचोभिरुन्नतैः।
अमी प्रवर्त्स्यन्ति मदीयकौशलादकार्यवर्गेष्विति नात्र संशयः ॥१२३७॥

ऐसा विचार करना कि यह तो ज्ञानरहित मूर्ख प्राणी है, इसको अपनी प्रबल चतुराईके बलसे देखो मैं अभी ठगे लेता हू। मैं ऐसा चतुर हूँ, ऐसी चतुराईका अपने मनमे सतोष करना यह सब है रौद्रध्यान। वस्तुतः देखो तो कोई दूसरेको यदि ठगता है तो उसने अपने आपको ही ठगा। दूसरेका तो पैसा ही कुछ गया होगा और कुछ नहीं बिगड़ा, लेकिन जो दूसरेको ठगता है उसका चूकि अभिप्राय दूषित है इसलिए वह स्वय अपने आपको दुर्गतिमे डालता है, पापबध करता है, अपने आपके भविष्यको वह अधेरेमे डालता है यदि कोई ऐसा चिन्तन करे कि मैं वचनोंकी प्रवीणतासे इन भोले जीवोंको अभी ठग लेता हूँ तो वह रौद्र ध्यान है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कुछ देहाती पुरुषोंको पाकर शहरी लोग उन्हें बेवकूफ बनाते हैं औ हर्ष मानते है, अपनेको बड़ा चतुर तथा उन देहातके लोगोंको बेवकूफ अनुभव करते है और उनमे अपनी कुछ चतुराई बगराकर मौज मानते हैं, यह रौद्रध्यान है। ये ज्ञानरहित मूर्ख प्राणी हैं इनमें मैं अपनी चतुरता दिखाकर कुछ पैसा कमा लूंगा, इस प्रकारकी भावना बनाना रौद्रध्यान है। बहुत पहिले जमानेमें शादियां छोटी उम्रमें हो जाया करती थीं। उस समय दूल्हेको बेवकूफ बनानेका रिवाज था। कहीं जूते छिपाकर रख दिया

और किसी चीजसे ढाक दिया और कह दिया कि इसके पैर छू लो, यह अमुक देव है। कहीं चक्कीके पाठको, कहीं मूसल आदिको बता दिया कि इसके पैर छू लो यह अमुक देव है। यों वेवकूफ बनानेका रिवाज था। वह पैर छू लेता था और सभी देखने वाले लोग हसने लगते थे, यह भी तो रौद्रध्यान है। दूसरे जीवका अनादर करना, अपनी चतुराई समझना और उसमे हर्ष मानना, यह रौद्रध्यान है।

अनेकासत्यसंकल्पैर्यः प्रमोदः प्रजायते।
मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं पुरातनं ॥१२३८॥

इसी प्रकार ऐसे भी अनेक प्रकारसे, जो हर्ष किए जाते उसे भी महर्षि जनोंने रौद्रध्यान कहा है। अभी मित्रगोष्ठीमें जब गप्पवाद होने लगता है, तो वहाँ आपसमे छींटाकसी, एक दूसरेका उपहास, एक दूसरेको वेवकूफ बनाना इसमें हर्ष माना जाता है। होलीके दिनोमे जो खेल रचा जाता फाग करनेका, कीचड उछालनेका तो उसमे कीचड़, रग, गुलाल आदि एक दूसरेपर डालकर लोग हर्ष मानते हैं। कोई मना भी करता है पर नहीं मानते हैं, और खुश होते जाते हैं, ये सब रौद्रध्यान हैं। रौद्रध्यानसे यह जीव अब तक इस ससारमें जन्म-मरणके चक्र लगता आ रहा है। कुछ उसमे परिवर्तन करना चाहिए। जगतमें कौनसा स्थान ऐसा है कि जहा हम अपनी साज सामान बना लें कि कहीं भी कुछ नहीं है। अपने आपका तो अपना परिणाम ही रक्षक है। दूसरा कोई रक्षा करने वाला नहीं है। किसी भी पुरुषका हम अनिष्ट चिन्तन न करें, कैसा ही कुछ हो, उपद्रव भी आया हो किसी दूसरेके द्वारा तो आया है उदय है कर्मका, बन गया, ऐसा मानकर उपद्रव भी सह लें, परन्तु किसी पुरुषका स्वप्नमे भी अनिष्ट चिन्तन न करें, ऐसा गम्भीर हृदय होना चाहिए। इसका परिणाम चाहे इस लोकमे न दिखे किन्तु आगे अवश्य अच्छा परिणाम मिलेगा। धर्मका, सुख शान्तिका वातावरण मिलेगा। सब जीव सुखी हों ऐसी भावनामे ही समय बितायें। ये सब बातें आगे जब धर्मध्यानका प्रकरण चलेगा वहा विस्तारपूर्वक आचार्यदेव वर्णन करेंगे, पर इस आर्तध्यान रौद्रध्यानके प्रकरणमें हमे यह शिक्षण लेना चाहिए कि हे प्रभो! मुझमें वह सामर्थ्य प्रकट हो कि मैं सबके उपद्रव तो सहलू पर किसीका बुरा न विचारू। प्रभुकी भक्ति करते समय लोग यह खूब प्रार्थना करते हैं कि हे नाथ! मुझपर कभी कोई विपत्ति न आये पर प्रभुसे ऐसा मागनेसे काम कुछ नहीं बनता है। जब विपदा आनेको होती है तो आती ही है। प्रभुसे तो ऐसी प्रार्थना कीजिए कि हे प्रभो! मुझमे ऐसा बल प्रकट हो कि सारे उपद्रव और बिपदावोंको मैं हस खेलकर सहलू। ऐसी भावना बनायें तो इससे कुछ लाभ भी है। विपदावोंसे बचनेकी प्रार्थना करनेमे लाभ कुछ नहीं है, क्योंकि वह एक कायरता भाव है और जब जो विपदा उदयमे आनेको है वह आती ही है। उससे तत्त्व कुछ नहीं निकलता। और यह ध्यान करे कि हे नाथ! मुझमें ऐसा बल आये कि समस्त विपदाओंको मैं समतासे सहन करलू तो इसमें लाभ यों है कि कुछ तो अपने आपके बल बढाने पर दृष्टि जगी। और दूसरी बात प्रभुसे मागी गई वह बात मुझमें ही मिल सकती है, इस कारण विपदामें मैं धीर रह सकू ऐसी प्रार्थना प्रभुसे करें तो इससे लाभ है। जो विपदासे बचनेकी प्रभुसे प्रार्थना करते हैं वह अज्ञानताका काम है। अज्ञानीको तो जगह-जगह विपदा है तो भावना ऐसी बने कि मुझपर कितने ही उपद्रव आयें पर मैं उनसे डरकर अपने शान्तिपथसे विचलित न हो सकूं, ऐसी भावना लाभकारी है। आर्तध्यान और रौद्रध्यानमे समय गुजारना, यह कल्याणकारी उपाय नहीं है।

चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि।
यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते ॥१२३९॥

अब रौद्रध्यानका तीसरा भेद चौर्यानन्द है, उसका वर्णन कर रहे हैं। चोरीके कार्योंके उपदेश

की अधिकता होती है अथवा उपदेश करना, चौर्य कर्ममे चतुरता होना, चोरीके कार्योंमे ही चित्त लगाये रहना, सो चौर्यानन्द नामका रौद्रध्यान है। खुद चोरी न भी करे और दूसरोंको चोरी करनेका उपाय बतावे वह सब चोरी है। चाहे सरकारी, सरकारी टैक्स वगैरहकी चोरी हो, चाहे जनताके कार्योंके लुके छिपे करनेकी चोरी हो, उनका करना अथवा उपदेश करना सो चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। चौर्य कर्ममे चतुराई मानना, तथा चोरी की विधियोंमें प्रवीणता अनुभव करना, मैं इन-इन विधियोंसे लोगोंको धोखा दे सकता हूँ, यों चौर्यकर्ममे चतुराई होना और उसका अहकार रखना यह सब चौर्यानन्द है। किसीसे चीज खरीदनेमे यह चीज मेरे पास ज्यादा आ जाय, ऐसा चिन्तन करना रौद्रध्यान कहलाता है।

यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते,
कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम्।
चौर्येणापि हृते परैः परधने यज्जायते संभ्रमम्—
तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दात्मकम् ॥१२४०॥

चोरीके कामके लिए निरन्तर चिन्ता बनी रहे, विचार चलता रहे, किसी तरहसे मैं अधिक धन प्राप्त करलूं चोरी करके भी हर्ष मानना, आनन्दित होना, किसीकी नजर बचाकर या कोई धोखा देकर कोई चीज विशेष ग्रहण कर लेवे तो उसमे आनन्द मानना कि देखो हमने कैसा धोखा दिया कि इतनी चीज अपने को विशेष मिल गयी। अथवा जैसे कोई रेलगाडीमे बिना टिकट चलता है तो कैसा वह टिकटचेकरको धोखा देकर नजर बचाकर आता है और लोगोंसे अपनी चतुराईको बात कहता है कि देखो कैसा मैंने टिकटचेकर को उल्लू बना दिया, यह सब चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। अन्य कोई अनुभवके द्वारा परधनको हर ले तो यह भी चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। कोई परधन चुरा लेनेकी बात बहुत सफाईसे कहे उसमे उसे स्यावासी देना, इसमे बडी कला है यह सब चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। यह ध्यान विशेषतया निन्दाका कारण है।

कृत्वा सहायं वरवीरसैन्यं तथाभ्युपायाश्च बहुप्रकारान्।
धनान्यलभ्यानि चिरार्जितानि सद्यो हरिष्यामि जनस्य धात्र्याम् ॥१२४१॥

चौर्यानन्द रौद्रध्यानका स्वरूप कहा जा रहा है। जीवके अनेक पापबधका कारण है यह चौर्यानन्द। हिंसानन्द और मृषानन्द इन दो का वर्णन किया ही जा चुका था, अब इस प्रसंगमे चौर्यानन्द नामक रौद्रध्यान कहा जा रहा है। कोई ऐसा चिन्तन करे कि मुझमे ऐसी कला है, ऐसा बल है कि मैं बड़े-बड़े सुभटोकी सहायतासे अनेक उपाय करके तत्काल ही दूसरेका धन हर सकता हूँ। यह धन इस पृथ्वीमे बडी मुश्किलसे मिलता है। बहुत कालसे जो सचित किया हुआ भी हो लेकिन मैं उस सब धनको बड़ी कला से सुभटोकी सहायतासे, राजासे, बलसे हर लाऊगा ऐसा मैं प्रवीण चोर हूँ। यों अपने मनमे चोरीकी कला का अभिमान रखना और उसमे प्रसन्नता अनुभव करना सो सब चौर्यानन्द नामक रौद्रध्यान है।

द्विपदचतुष्पदसारं धनधान्यवराङ्गनासमाकीर्णम्।
वस्तु परकीयमपि मे स्वाधीनं चौर्यसामर्थ्यात् ॥१२४२॥

द्विपद और चतुष्पदोंमे जो उत्तम है, चाहे घोडा हो, गाय हो, हाथी हो अथवा कोई भी उत्तम जानवर हो ये सब मेरे आधीन है ऐसा कोई विचार करे तो वह सब चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। लोग धनको प्राणकी तरह मानते हैं इसीलिए यह बडी प्रसिद्धि है कि धन ग्यारहवां प्राण है। १० प्राण तो सिद्धान्तमे माने गए हैं—५ इन्द्रिय, तीन मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छवास और आयु। परलोकमें इस धनको भी ग्यारहवां प्राण माना गया है। एक हितोपदेशमें कथानक आया है कि एक संन्यासी सत्त. माग लाता था

लोगोंसे और सत्तूकी पोटली वनाकर खूंटी पर टाग देता था। वहाँ एक वडा मोटा चूहा रहता था जो उस पोटलीको रोज-रोज कुछ काट देता था और कुछ सत्तू खा लेता था। सन्यासी उस चूहेसे बड़ा हैरान हो गया। एक दिन उसने सोचा कि मैं चूहेके रहनेकी जो जगह है, चूहेका जो घर है उसीको मैं नष्ट करदूं। चूहे तो विलमें रहा करते हैं। सो जब उस चूहेके विलको खोद रहा था तो उसमेसे निकला वहुतसा धन। अव वह चूहा उसी धनके इर्द-गिर्द फूलकर प्रसन्न रहा करता था इसलिए मोटा हो गया था, पर जब वह धन उस जगह न रहा तो उसकी चिन्तामे उसकी यह हालत हो गयी कि खाना-पीना तक न सुहाये। कुछ ही दिनोंमें वह चूहा सूखकर एकदम दुवला पतला हो गया था। तो इस कथानकमे वताया है कि देखो एक चूहेकी उस धनके पीछे यह हालत हो गयी तो फिर किसी मनुष्यका धन यदि नष्ट हो जाय, चोरी चला जाय तो उसकी क्या हालत होती होगी? वह तो उन्मत्तसा हो जाता है। तो यह धन लोकमे प्राणकी तरह माना गया है। इसके हरनेके लिए जो चिन्तन करता है समझ लीजिए कि वरावर वह पाप कर रहा है। कितना कष्ट होता है जिसका माल लुट जाय? इसलिए चोरीका पाप बड़ा विषम है और दुर्गतिका कारण है। फिर दूसरी वात यह है कि इससे कितना मिथ्यात्व पुष्ट होता है कि जरा भी दूसरेकी परवाह नहीं रख रहा। जीवके प्रति अनुकम्पा नहीं, जीवके स्वरूपका भान नहीं, अपने हितका कोई ख्याल नहीं तो समझ लीजिए कि मिथ्यात्व की कितनी अधिक पुष्टि की गई? इससे कितना अधिक पापका वध हुआ? तो परधनहरण करनेका चिन्तन भी एक वहुत खोटा पाप है। कमसे कम इतना तो सवके चित्तमें होना चाहिए कि जनताका, पडौसीका, किसीका भी हम अन्यायसे, छलसे किसी भी प्रकार हरण न करें, उचित ही वर्ताव रखें। किसीके चित्तको न सतायें। सवके मनमे ऐसी वात आना चाहिए कि जो परधन हरण करता है वह प्राणघात करनेके सामान पाप वाँधता है।

इत्थं चुरायां विविधप्रकारः शरीरिभिर्यः क्रियतेऽभिलाषः।
अपारदुःखार्णवहेतुभूतं रौद्रं तृतीयं तदिह प्रणीतम् ॥१२४३॥

इस प्रकार चोरीमें जीवोंके द्वारा जो अनेक प्रकारकी वाञ्छा की जाय सो रौद्रध्यान है। यह रौद्रध्यान अपार दुखरूपी समुद्रमे पटकनेका कारणभूत है। रुद्र अभिप्राय करके जो ध्यान वनता है सो रौद्रध्यान है। रुद्र मायने क्रूर। अपने विषयसाधन चाहिए, दूसरोंका कुछ भी हो इस प्रकारका परिणाम उसके होता है जो निर्दय है, करुणाहीन है। तो रुद्र आशय है यह। अपना विषय तो रुचे उसे और दूसरेकी परवाह न रहे। इस रौद्रध्यानके कारण जीवके एकदम प्राय नरकगतिका वध होता है। दुखमे तो यह जीव सम्हल भी सकता है, पर विषयोंके सुखमें और पाप करके, छल करके विषयोंमे या हिंसामे, झूठमे, चोरीमें, कुशील मे आनन्द माननेसे इतना तीव्र पापवध होता है कि उसे नरकगतिका वध होता है। परिणामोंकी निर्मलता रहे इससे वढकर और कुछ धन नहीं है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने कहा है कि यदि पाप रुक गया तो जगत की अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन? यदि पाप-कर्म रुक गया, पवित्र हृदय हो गया तो उसने सब कुछ वैभव पा लिया। अब जगतकी अन्य विभूतियोंसे उसे क्या प्रयोजन? यह तो विभूति कुछ भी चीज नहीं है, अपने परिणामोंकी पवित्रता ही एक उत्कृष्ट विभूति है। यदि पाप नहीं रुके पापका वध चल रहा है तो समझिये कि लोककी विभूति कितनी भी इकट्ठी हो जाय, उससे फायदा कुछ न निकलेगा, पापका उदय आयगा और उसके अनुसार इसे दुर्गति सहनी पड़ेगी। इस कारण यह निर्णय रखना चाहिए कि हमारा परिणाम पवित्र रहे, विषयकषायोंसे निवृत्त रहे, अपने सहजज्ञानस्वरूपकी दृष्टि वनी रहे। ससार शरीर भोगोंसे विरक्तिका परिणाम रहे, ऐसी पवित्रताके साथ जीवन गुजरे तो वह लाभकी वात है। अपनी पवित्रता नष्ट करके यदि लोककी कितनी भी सम्पदा मिले तो उस सम्पदासे अपने आत्माका कुछ भी लाभ नहीं है। यह चौर्यानन्द रौद्रध्यानकी वात कही जा रही है। वस्तुतः अध्यात्मपद्धतिसे देखो तो जो आत्मतत्त्व नहीं है ऐसे परभाव

को अगीकार करना, उसमें मौज मानना वह अध्यात्म विधिमे चोरी बतायी गई है। जैसे देह न्यारा है और आत्मा न्यारा है तो देह परवस्तु हुई ना। मेरे आत्माकी निजी वस्तु क्या है ? अपनी आत्माके गुण अपनी अपनी आत्माके विशुद्ध परिणमन। यह तो अपने आत्माकी वास्तविक चीज है। देह तो परचीज हुई ना, अपने आत्मस्वरूपको निरखकर बोलो, अब इस देह परचीजको अपना लेना यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह मेरा देह है, मैं भला चगा हूँ आदिकमे अपनी बुद्धि लगाना, देहको स्वीकार करना बस हो गयी चोरी। जैसे लोक व्यवहारमें भी होता क्या है ? चोरी करनेवाला अपने चित्तमे यह भाव तो भरता है कि लो अब यह धन मेरा हो गया। किसी दूसरेके घरसे धन उठाकर अपने घर कोई रखे तो वह यही तो सन्तोष करता है कि लो अब यह धन मेरा हो गया। परिणामके सिवाय चोरी भी करता है क्या सो बतावो। यह बात मिथ्यात्व मे हुई। परिणाम ही तो किया। यह देह मैं हू, यह देह मेरा है, बस चोरी हो गयी। अध्यात्मदृष्टिमे अपने आत्मस्वरूपको लखकर परस्वरूपमें लगना यह चोरी है। इस चोरीसे तो ससारमे कौन बचा है ? हाँ जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं, विवेकशील हैं, जिसके सम्यक्त्व जगा है वे ही अपने आशयमें यह समझ पाते हैं कि मेरे आत्माका तो मेरा ज्ञानस्वभाव ही सब कुछ है। अन्य कुछ विकार रागद्वेषभाव अथवा पुद्गल धर्म अधर्म ये सब मेरे नहीं हैं, यों सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी भी परतत्त्वको यह स्वीकार नहीं करता कि यह मेरा है, किसी परवस्तुको अपनी मानना यह अध्यात्म दृष्टिसे चोरी है। तो इतना निर्मल परिणाम बने, ऐसा तत्त्वज्ञान जगे कि यह भी निरखते रहें कि मेरे आत्माका तो केवल स्वभाव गुण ज्ञान आनन्द यही है, इसके अतिरिक्त जो भी विडम्बनाएं हैं वे सब परवस्तु हैं, उनका स्वीकार करना सो चोरी है। देखिये चोरी करने वाले लोग कभी धनिक नहीं हुए, डाका डालने वाले लोग कभी खुश नहीं रहे क्योंकि पापाकर्मसे उत्पन्न किया गया धन टिक नहीं सकता। चित्त उसका डगमग रहेगा यत्रतत्र डोलेगा, जमकर न रह सकेगा, फिर समृद्धि कैसे उत्पन्न हो ? जो पुरुष नीतिसे रहते हैं, न्याय नीतिसे धन कमाते हैं वे पुरुष अनाप-सनाप विषयकषायोमे खर्च नहीं करते और वे दान भी करेंगे तो बड़े भावसे करेंगे और उनका दिया हुआ थोडा भी द्रव्य पापके फलको नष्ट करता है। तो नीतिसे धन कमाना, नीतिसे रहना, किसीके चित्तको सतानेका भाव न रखना, मृषानन्द न करना, ये सब पवित्रताकी बातें हैं और पवित्र परिणामसे ही जीवका उद्धार सम्भव है। विषयकषायोंमे लीन होनेसे आत्माको कोई नफा नहीं है। देखिये अपने आपके स्वरूपकी बराबर भावना कीजिए। जो स्व है उसीको ही स्वीकार करे, जो पर है उसे स्वीकार न करे। तत्त्वज्ञानी पुरुषके कलह नहीं रहती। विषयोंकी ओरसे यों उपेक्षा रहती है कि धन उदयानुसार प्राप्त होता है फिर क्यों उसमे अनेक कल्पनाए बनें और क्यों अनेक प्रयास रचना ? अपने आपके स्वरूपकी भावना करके अपने ही स्वरूपको स्वीकारना चाहिए। यह मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, और रागद्वेष मोहममताके परिणाम तक भी मेरे नहीं हैं, ये हुआ करते है और मिट जाते हैं। जो मेरी चीज हो वह मिटेगी कैसे ? जो मिट जाती है, जो खराब हो जाती है वह मेरी चीज नहीं है। परिजनसे, धन वैभवसे, अपनी नामवरीसे इन सबसे मोह हटे, अपनेमे केवल ज्ञानस्वरूपका अनुभव जगे, यह ज्ञान यह अनुभव वेड़ा पार कर देगा। अनेक उपाय बनावे कि अपने परिणामोंमें पवित्रता रहे, अपवित्र हृदयसे जो चेष्टा बनती है वह खुदको भी दु ख देती है और अन्य पुरुषोंको भी दु ख देती है। तो ऐसा चित्त बने कि आध्यात्मिक चोरी तक भी न रहे, लौकिक चोरीकी बात तो दूर जाने दो, इतना सावधान रहें कि यह मैं हूँ, ज्ञानरूप हुँ, देह भी मैं नहीं, यह घर, यह वैभव, यह कुटुम्ब मेरा नहीं। जब शरीर तक भी मेरा नहीं तो और की तो बात क्या कहें। यों देहसे भी निराला अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करते जायें यही शान्तिका उपाय है और कल्याणका सही मार्ग है। मित्रता हो किसीसे तो इस ही प्रोग्राममें लगनेके लिए कि धर्ममे बराबर अग्रसर बने रहें, अन्य कुछ भी अगीकार करनेके लिए मित्रता न होना चाहिए। मित्र तो सच्चा वही है जो विपत्तियोंमें मदद दे और कल्याणमार्गमे लगाये। और जो विपत्तियोंमे लगाये, ससारके जन्ममरणमे फसाये वह मित्र नहीं है, इनसे कोई बचा सके ऐसा कोई निमित्त

बने वह है वास्तवमे मित्र। जो विषयसाधनोंमें लगावे, लोभ लालच परिग्रहमें जो लगाये वह वास्तविक मित्र नहीं है। यह तो अपने ही समान संसारमे रुलानेके साधन बना रहा है। अपने आप दुर्गतिमें गिरेगा और दूसरोंको भी दुर्गतिमें ढकेल रहा है। मित्र वह है जो ऐसा उपदेश करे, ऐसी दृष्टि बना दे कि यह अनुभव होने लगे कि मैं तो आनन्दस्वरूप ही हूँ। मेरेमे तो कहीं संकट ही नहीं है, फिर विकल्प क्या करना? यों अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप मात्र अनुभव करानेका जो निमित्त बने, उपदेश करे वह है सच्चा मित्र। और जो विषयोमे फंसाने, संसारमें रुलानेका उपदेश करे वह मित्र शत्रुरूप है। ऐसा जानकर एक प्रोग्राम अपने चित्तमे बनायें कि कैसी भी स्थिति आये उन सब परिस्थितियोंका मुकाबला तो कर लेंगे, पर अपने परिणामोमें कलुषता न उत्पन्न हो, ऐसा जो अपने आत्मध्यानक लिए दृढसंकल्प करता है वह संसारसे पार हो जाता है। यहाँके दुःख छोडें, और सुखमे मौज मानना छूटे, अपने स्वरूपकी निहारें, यही शान्तिका एक-मात्र उपाय है।

बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते,
यत्संकल्पपरम्परा वितनुते प्राणीह रौद्राशयः।
यच्चालम्ब्य महत्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते,
तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥१२४४॥

अब परिग्रहानन्द नामका चौथा रौद्रध्यान बतलाते है। यह प्राणी क्रूर चित्त होकर बहुत प्रकारके आरम्भ परिग्रहोंमे रक्षार्थ उद्यम करते है और उसमे ही संकल्पकी परम्पराका विस्तार बना है ऐसा परिग्रहके प्रति चिन्तन बनाया सो परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है। इसका पूर्ण विशुद्ध नाम है विषयसंरक्षणानन्द। ५ इन्द्रिय और मन इन ६ का जो विषय है उस विषयके संरक्षण करनेमे आनन्द मानना विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। जैसे कल्पना करो—कोई घरमे पति-पत्नी बड़े आनन्दसे रहते हैं। बहुत वैभव है, खूब मौजसे रहते हैं। न किसीका बुरा तकें, न किसीको सतायें, किसीसे कुछ भी काम नहीं है अपने घरमे मौजसे रहते हैं सभी प्रकारका आराम है तो यह बतलावो कि वहाँ भी पापका बंध हो रहा है या नहीं? चूंकि विषयोंके संरक्षणमे आनन्द मान रहे हैं और विषयोंमे मौज समझते हैं तो उनके पापका बंध बराबर चल रहा है। वे परस्परमें प्रेमसे, मोहसे रहते हैं तो मोहका, अज्ञानका, मिथ्यात्वका महापाप बराबर चल रहा है। यदि कोई यह सोचे कि मैं किसीको सताता नहीं, किसीकी हिंसा भी नहीं करता, झूठ भी नहीं बोलता, चोरी भी नहीं करता, केवल एक अपने परिग्रहमे आनन्द मानना, विषयोंके संरक्षणमे खुश होना, अपने वैभवको जोड जोडकर निरख निरखकर खुश हो रहे, ये सब विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान हैं। उनके संरक्षणमें मौज मानना रौद्रध्यान है। और मनका विषय है इज्जत, नामवरी, कीर्ति, प्रतिष्ठा, इनके भी संचयमे जो संकल्प करना है, उद्यम करना है वह रौद्रध्यान है। रौद्रचित्त होकर ही महत्ताका अवलम्बन करके कोई अपनेको महान उन्नत माने कि मैं राजा हूँ ऐसे परिणामको ऋषि संतोंने चतुर्थ रौद्रध्यान कहा है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनो आत्माके सम्मुख उपयोग लगानेके विरोधी हैं अतएव ये सब पाप हैं, शान्तिका मार्ग तो आत्मा अपने स्वरूपको निरखे उस ही मे मग्न रहनेका यत्न रखे शान्ति वहाँ मिलती है। यह तो एक वैज्ञानिक प्रयोग है। जिसका उत्सुकता हो वह परीक्षा करके निरख ले। जब परपदार्थोंका कहीं भी विकल्प न रखेगा और बड़े विश्रामसे अपने आपमे ही नम्र बन जायगा तो उसको विशिष्ट आनन्द प्राप्त होगा। और जब जानेगा कि शान्तिका उपाय तो यहीं है, यही है, जो मुझमें है शान्तिका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है उसरूप परिणति, उस कालमे रहे, थोडा अनुरागवश निर्बाध पुण्यका बंध होता है। धर्ममार्गमे कोई चले तो कर्मोंकी निर्जरा भी होती जाती और विशिष्ट पुण्यका बंध भी होता जाता है। धर्मकी महिमा कोई मुखसे कह नहीं सकता। आज हम आप मनुष्यभवमे हैं, श्रावककुलमें जैन शासनकी परम्परामे है तो समझ लीजिए कि यह किसी विशिष्ट पुण्यका

फल है। जो ऐसे अहिंसाके शासनमें हैं, जहा अपने आपके स्वरूपकी बहुत-बहुत सुध होती रहती है यह विशिष्ट धर्मका फल है। तो यह पुण्य इतना विशिष्ट मिलता है अथवा और भी विशेष धर्मसमाज सहित मनुष्यका होना मिलता है धर्मके प्रसादसे। धर्मका फल तत्काल प्राप्त होता है और पापका भी फल तत्काल प्राप्त होता है। धर्मका फल है शान्ति, पापका फल है अशान्ति। धर्म करनेसे लोग ऐसा सोचते हैं कि परभव मे इसका फल मिलेगा। इस पुण्यमें तो ऐसा हो सकता है कि पुण्य करनेका फल परभवमें मिले, किन्तु धर्मका फल तो जिस क्षण धर्म किया जा रहा है उसी क्षण उसका फल मिल रहा है। निर्मलता जगना, शान्त होना, निस्तरंग होना यह धर्मका फल है और ये ही धर्मके फल हैं और ये ही धर्मके स्वरूप हैं। इस धर्मसे विमुख करने वालों यह विषयसंरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यान है।

आरोप्य चापं निशितैः शरौघैर्निकृत्य वैरिव्रजमुद्धताशम्।
दग्ध्वा पुरग्रामवराकराणि प्राप्स्येऽहमैश्वर्यमनन्यसाध्यम् ॥१२४५॥

ऐसा विचार करना कि मैं तीक्ष्ण बाणोंके समूहोंसे उद्धत वैरियोंको नष्ट करके उनके नगर ग्राम खान वैभव आदिकको दग्ध करके दूसरोंके द्वारा साधनमें न आये ऐसा ऐश्वर्य व निष्कंटक राज्यको करूंगा। यह रौद्रध्यान ही तो है। मैं इसका अनर्थ करके, इसको मारकर इसे ठगकर मैं निष्कंटक राज्य करूंगा, वैभव भोगूंगा। राज्यके सुख भोगना यह भी रौद्रध्यान है। जैसे यह विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है वैसे ही कोई राजा-महाराजा ऐसा चिन्तन करे कि मैं अमुक राजाको मिटाकर फिर निष्कंटक राज्य भोगूंगा तो इससे वह आत्माके स्वरूपसे विमुख हुआ और परवस्तुवोंमे आसक्त होता है। ऐसा जीवन गुजारनेसे जीवको लाभ कुछ नहीं मिलता, समय गुजर जाता है और परिणाम खोटे करनेसे जो स्थितिबंधके बंधन हो जाते हैं उनका फल भोगना पड़ता है। तो ऐसा चिन्तन करते हुए भी विषयसंरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यान है। किसीसे कोई विरोध हो जाय तो ऐसा संकल्प करना कि मैं इसको बरबाद कर दूंगा, फिर आनन्दसे ऐश्वर्य भोगूंगा, ये सब विषयसंरक्षणानन्द नामके रौद्रध्यान हैं। अपने आपमे यह विरोध करना चाहिए कि हम आर्तरौद्रध्यानमें कितना समय बिताते हैं और आत्मस्वरूपकी दृष्टिमें प्रभुभक्तिमे अथवा व्रत आदिक पालनमें कितना समय बिताते हैं? आजकलके युगमे व्रत नियम तो उपहासकी चीज रह गयी। कोई व्रत करे, संयम करे, नियमसे रहे तो लोग उसकी हंसी उड़ाते हैं। कहते हैं कि यह तो पुराने दिमागका आदमी है। समय है ऐसा। एक साधारणसी बात जैसे रात्रिमें अन्न न खाना। कुछ भी इसमे तकलीफ नहीं है। दिनभर पड़ा है। कितना ही खायें आखिर पेटको भी तो छुट्टी मिलना चाहिए तब तो स्वास्थ्य रहेगा तो कोई कठिन चीज नहीं है, मगर कोई कोई रात्रिभोजनका त्याग करके रहे और बरातमें जो गोष्ठीमें रहे, न खाय तो उसकी हसी उड़ाई जाती है। कोई समय एक ऐसा था कि लोग उसकी प्रशंसा करते थे जो रात्रिभोजनका त्यागी होता था। अब तो ऐसे व्यक्तिकी लोग हसी उड़ाते हैं। तो इसमें उपहास करने वालोंका दोष क्या? स्वय ही सब लोगोंमे शिथिलता आ गयी जिससे वे हसीके पात्र बन बैठे। आज कल तो लोग धन-दौलतके संचयके पीछे होड़ लगा रहे हैं। चाहे क्लेश करना पड़ा, चाहे बेईमानीसे धन आवे पर धन मिलना चाहिए ऐसी भावनाए बनी रहा करती हैं। अरे यह धन वैभव तो जितना उदय मे है उतना आयगा। अन्याय करनेसे, बेईमानी करनेसे, धन आता हो ऐसी बात नहीं है, वह तो सब उदयाधीन है। इस ओर लोगोंकी दृष्टि नहीं है और अपने परिणाम बिगाड़कर धनसचयके होडमे आज दुनिया लग रही है, यह सब विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है।

आच्छिद्य गृह्णन्ति धरां मदीयां कन्यादिरत्नानि च दिव्यनारीम्।
ये शत्रवः संप्रति लुब्धचित्तास्तेषां करिष्ये कुलकक्षदाहम् ॥१२४६॥

जो वैरी मेरे पृथ्वीरत्नको अथवा कन्यारत्नको सुन्दर स्त्रीको लुब्ध चित्त होकर छीनकर ले जायगा उसके कुलरूपी वनको मैं दग्ध करूंगा। जो मुझपर दबाव देकर मेरा धन लूटता है अथवा लूटवाता

है अथवा कन्यारत्नको छीनता है उसके कुलको मैं समूल नष्ट करूंगा। पहिले समयमें स्वयंवर हुआ करते थे। तो कोई स्वयंवरकी अवहेलना करके यों ही किन्हीं उपायोंसे कन्यारत्नको छीनकर ले जाते थे और उस समय उनका भयकर युद्ध होता था। पहिले लोग कन्याकी सगाई करते थे। लोग कहते थे कि अपनी पुत्रीकी सगाई मेरे पुत्रसे कर दो, सगाई मायने अपनी बना लेना, बादमें विवाह होता था। तो पहिले समयमें कन्या आदिकको लोग रत्न मानते थे। तो कोई मेरे वैभवमें बाधा डाले, राज्यमें बाधा दे, कन्या आदिक रत्नोंको छीन ले जाय, ऐसे पुरुषको मैं निर्मूल नष्ट करूंगा—इस प्रकारका सकल्प करना यह विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। कुछ लोग सोचते होंगे कि इसमें क्या रौद्रध्यान है? यह तो कर्तव्य है कोई मेरे धनको छीन ले जाय और मैं उसके कुलके विनाशका यत्न करूं यह तो अपना कर्तव्य है इसमें क्यों रौद्रध्यान कहा? लेकिन यह देख लीजिए कि जहाँ धर्मध्यान नहीं, आत्मदृष्टि नहीं, शान्तिका रास्ता नहीं, परकी ओर ही दृष्टि है, विरोध है, पराधीन जिसकी वृत्ति है उस समय उसके भी रौद्रध्यान ही तो है। अपने आपके प्रभुकी ओर से क्रूर चित्त हो गया अतएव वह रौद्रध्यान है। इसके बचनेके लिए फिर क्या करे? गृहस्थीमें रहकर तो बचा नहीं जाता। यह रौद्रध्यान तो पंचम गुण स्थान तक पाया जाता है, मगर इस रौद्रध्यानकी ओरसे खेद रहना चाहिए, चित्त तो धर्मध्यानकी ओर होना चाहिए। गृहस्थीमें तो गृहस्थों जैसा ही काम निभेगा। आजीविका करना धन कमाना, कुटुम्बको पोषण करना, अपनेको सावधान बनाना, कहीं ठग न जायें, बहुतसे काम करने होते हैं पर आशय प्रोग्राम, लक्ष्य होना चाहिए धर्मध्यानका। अन्य सब कामोंको तो यों समझना चाहिए जैसे कि एक कहावतमे कहते हैं गले पड़े बजाय सरे। कुछ मित्र लोग आपसमें मजाक कर रहे थे, एक मित्रके गलेमें किसीने एक ढोल डाल दिया तो उसकी हसी हो गयी। अपनी हसी मिटानेके लिए उसने क्या किया झट दो लकडिया उठालीं और बजाना शुरू कर दिया। लो उसकी हसी मिट गयी। यों ही समझिये अपनको जो गृहस्थी मिली है, परिग्रहके बीच रहना पडता है तो इसे एक कला सहित सरक्षण करनेसे ही निपट पायेंगे लेकिन ध्यान यह रहना चाहिए कि यह जो कुछ किया जा रहा है यह अपने आपके प्रभुपर मजाक किया जा रहा है। इसमें प्रभुकी प्रभुताई नष्ट हो रही है। यथार्थ प्रकाश चित्तमें रहना चाहिए। तो विषय-संरक्षणानन्द रौद्रध्यान होता है पचमगुणस्थान तक, लेकिन आशयमें क्रूरता ज्ञानी जीवके नहीं रहा करती है।

सकलभुवनपूज्यं वीरवर्गोपसेव्यं, स्वजनधनसमृद्धं रत्नरामाभिरामम्।
अमितविभवसारं विश्वभोगाधिपत्यं, प्रबलरिपुकुलान्तं हन्त कृत्वा मयाप्तम् ॥१२४७॥

देखो जो समस्त भुवनोंके जीवोंसे पूज्यनीय है, बड़े-बड़े योद्धावोंके द्वारा जो सेवनीय हैं, कुटुम्बसे धान्य आदिकसे जो परिपूर्ण है वह रत्न आदिकसे सुन्दर है, अमर्यादिक विभवमे सारभूत है ऐसे समस्त वैभवको प्राप्त करके उसमें अहकार करे तो यह विषयसरक्षणानन्द रौद्रध्यानमें शामिल है। कुछ सुनकर ज्यादा बुरा न मालूम होता होगा, क्योंकि विषयसरक्षणानन्द गृहस्थ लोग रात दिन करते ही हैं और अन्य बातें भी होती रहती हैं लेकिन यह सब आशयका फर्क है। जिन्दगीका लक्ष्य क्या है? इसका जिसके भली प्रकार निर्णय नहीं हुआ वह तो कुपथपर गिर जाता है और जिसको अपने लक्ष्यका विशिष्ट निर्णय हुआ है, परिस्थितिवश रहना पड़ता है घरमें, फिर भी अपने परिणाम सावधान रखता है। तो ऐसे मौके आते हैं कि परिग्रह जोडनेके लिए, धन कमानेके लिए ऐसी बहुतसी क्रियाएं करनी पडती हैं लेकिन परपदार्थोंकी ओर दृष्टि लग कर अपने प्रभुको जो भूल जाते हैं इस बातपर कुछ खेद होना चाहिए।

भित्त्वा भुवं जन्तुकुलानि हत्वा प्रविश्य दुर्गाण्युदधिं विलङ्घ्य।
कृत्वा पदं मूर्ध्नि मदोद्धतानां मयाधिपत्यं कृतमत्युदारम् ॥१२४८॥

देखो पृथ्वी भी भेद डाला, जीवोंके समूह भी मार डाला और गणोंके प्रवेश किए किले जीता,

बड़े शत्रुपर पांव देकर मैंने बहुत ऊंचे स्वामीपनका राज्य पाया–यों एक अपने सुखपर अभिमान जगना। जैसे धनिक लोग धनवैभवके, ठाठबाटके समागममें अहकारसे भरे हुए रहते हैं अपनेको सबसे ऊंचा समझते हैं ऐसे ही शासनके प्रसगमें शत्रुवोंका विनाश करके, बड़ा पराक्रम करके, समुद्रको भी लाघ करके, पृथ्वीको भी भेद करके, समूल शत्रुका नाश करके जो राज्य पाया है उसपर अहकार बनाना, लो मैंने इस इस प्रकारसे इतना बड़ा साम्राज्य पाया है ऐसा चिन्तन करना भी विषयसरक्षणानन्द रौद्रध्तान है।

जलानलव्यालविषप्रयोगैर्विश्वासभेदप्रणिधिप्रपञ्चैः।
उत्साद्य निःशेषमरातिचक्रं स्फुरत्ययं मे प्रबलप्रतापः ॥१२४९॥

देखो जल, अग्नि, सर्प, विष आदिकके प्रयोगसे विश्वास दिलाना अथवा ऐसे प्रयत्नोंसे एक दूसरेकी मित्रतामें भग करना आदिक प्रपचोंमें शत्रुके समस्त समूहको नाश करके कैसा मेरा प्रबल प्रताप है कि मैं लोकमें प्रतापी जच रहा हूँ, यों अपनी बुद्धिका अभिमान करना—यह मनके विषयोंमे शामिल है और देखिये विषयोंका संरक्षण करके मौज मानना यह विषयसरक्षणानन्द रौद्रध्यान है।

इत्यादिसंरक्षणसन्निबन्धं सच्चिन्तनं यत्क्रियते मनुष्यैः।
संरक्षणानन्दभवं तदेतद्रौद्रं प्रणीतं जगदेकनाथैः ॥१२५०॥

विषयोंके संरक्षण बनाने वाले साधनोंका जो चिन्तन करे सो सब विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान बताया है। ये मनुष्योंके प्राण निरन्तर दुःखते हैं कि यह विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान बराबर चलता रहता है। रोजगार चल रहा, अन्य कार्य कर रहा, घरकी सफाई कर रहा, भींट बनवानेका काम चल रहा आदिक सभी काम विषयोंके साधन जुटाना, परिग्रह जोड़ना—इन सब कामोंमें विषयसरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। एक खलिहानमें किसानने देखा कि यह चूहा कहींसे रुपये लाता है और उनको इकट्ठा करता है और रुपयोंके ढेरके चारों तरफ घूमकर नाच करता और धीरे-धीरे सारे रुपयोंको वह अपने बिलमे ले जाता। दो एक बार देखा बड़े गौरसे और यह भी समझा कि यह दो ही रुपये लाता है और बिलमे रख देता है। उस चूहेको उन रुपयोंसे प्रेम हो गया। सो वह बाहरसे रुपये लाता और उन्हें देख देखकर खुश होता था। तो यह विषय-सरक्षणानन्द रौद्रध्यान मनुष्योंके ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियोंके बराबर चलता रहता है। पेड, पृथ्वी आदिक स्थावर जीवोंके भी चलता रहता है। तो जहाँ परिग्रह और विषयोंके साधन जोड़नमे आनन्द माना जाय वह विषयसरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। इससे हटकर विशुद्ध ज्ञानमात्र अपने स्वरूपकी ओर लगनेका यत्न करना चाहिए।

कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम्।
रौद्रमेतद्धि जीवानां स्यात्पञ्चगुणभूमिकम् ॥१२५१॥

रौद्रध्यानका चिन्ह क्या है? यह रौद्रध्यान कृष्णलेश्याके बलसे सयुक्त है। यह सामान्यतया कथन है। रौद्रध्यान कृष्णलेश्यामे भी हो सकता, नील, कपोत, पीत, पद्म इनमे भी हो सकता। जैसे पचम-गुणस्थानमे रौद्रध्यान होता है और वहाँ हुई शुभ लेश्या तो इससे शुभ लेश्याके होते हुए एक साधारण रौद्र-ध्यान होता है। चूकि गृहस्थी है, परिवारका सम्बध है, कुछ बात-बोत होती ही रहती है। इस प्रसंगमें कभी खेद होता है, कभी हर्ष। तो वहाँ भी रौद्रध्यान चलता है किन्तु वह साधारण। जो मिथ्यात्व करके सहित रौद्रध्यान है वह कृष्णलेश्याके फलसे ही संयुक्त है और रौद्रध्यानका फल है नरकमें जाना। यह भी एक प्रधानतासे वर्णन है। यों तो पचम गुणस्थानमें रौद्रध्यान भी है पर साथ ही धर्मध्यान भी है। तो मिथ्यात्व सहित जो रौद्रध्यान है उसका फल है नरकमें गमन। और यह पचम गुणस्थान पर्यन्त होता है। विशेषता पहिले गुणस्थानमे है। पचमगुणस्थानमे धर्मध्यानकी विशेपता है। पर आरम्भ परिग्रह संगमे

लगा हुआ है जिसके कारण कुछ कुछ रौद्रध्यान बन जाता है गृहस्थीमें।

क्रूरता दण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता।
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥१२५२॥

आचार्योंने रौद्रध्यानके ये चिन्ह कहे हैं—क्रूरता होना, चिन्तातुर होना। क्रूरताका अर्थ है दूसरोंपर कुछ भी बीते, दूसरोंका कुछ भी नुक्सान हो, पर अपने विषय स्वार्थसाधनाकी प्राप्ति रहे, ऐसा आशय रखकर जो वर्ताव बनता है वह क्रूरताका वर्ताव है। क्रूरता कहो, दुष्टता कहो, अपनी गरज निभाया और दूसरोंका चाहे कुछ भी हो ऐसे परिणामको कहते हैं क्रूरता। किसीपर कुछ अपराध बन जाय तो उसको कठोर दण्ड देना, यह रौद्रध्यानका चिन्ह है। क्षमाकी बात मनमें न आ सके, उसे कठोर दण्ड दे, यह रौद्रध्यानका चिन्ह है। वैसे नीतिमें यह कहा है कि दण्ड दिलावो तो गरीबके मुखसे कहलावो। और पहिले समयमें जो पंगत होती थी, दाल रोटीकी वह बड़ा महत्त्व रखती थी। कोई जातिसे बहिष्कृत पुरुष लड्डू पूडीकी पंगतमें खाले बैठकर तो लोग उस जातिमें मिला हुआ नहीं मानते थे, पर कच्ची रोटीकी पंगतमें यदि बैठ जाय तो उसका दोष माफ कर दिया जाता था, अथवा पंगतमें जब बैठते थे तो उनको घी खूब परोसा जाता था। तब की कहावत है कि घी परोसवावो तो बड़ेसे, दण्ड दिलावो तो छोटेसे। कोई जातिका मामला है, अपराध किया, इसको क्या दण्ड देना चाहिए? यदि किसी गरीबसे कहलाये तो थोडा दण्ड निपट जाय। अब देख लीजिए कि ज्यों-ज्यों सामग्री अच्छी मिलती हैं, ठाठ-बाट मिलते हैं, धन धान्य मिलते हैं और ऐश्वर्य बढ़ता है ऐसा पुरुष रौद्रध्यान अधिक कर सकता है। तो यह रौद्रध्यानका चिन्ह है कि कठोर दण्ड दे। तीसरा है ठगना, छल करना, विश्वासघात करना, दूसरेका कपटसे धन हर लेना यह सब है ठगाई। तो ठगना, वञ्चकपना यह रौद्रध्यानका चिन्ह है। चौथा बताया है कठोरता। चित्त नम्र न बन सके, ऐसा चिन्ह रौद्रध्यानमें होता है। एक चिन्ह बताया है अन्तिम निर्दयता। जो विषयोंका लोभी होता है, परिग्रहके, सचयकी तीव्र वासना रखता है उसमें दयाका वास नहीं हो पाता। कैसे दया करे? यहाँ तो लोभ सता रहा है। लोभमें दया कहाँ? तो रौद्रध्यानका चिन्ह बताया निर्दयता। ये सब चिन्ह रौद्रध्यानके आचार्यने कहे हैं।

विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृतिः।
कम्पः स्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥१२५३॥

इस प्राणीके ये बाहरी चिन्ह हैं रौद्रध्यानके। एक तो नेत्र ऐसे होना कि जैसे आगसे चिनगारिया निकल रही हों, अर्थात् क्रोध भरे नेत्र होना। रौद्रध्यानमें चूंकि अपने विषयोंके साधनोंके, सरक्षणकी प्रमुखता है तो उसमें जो बाधा दे, जो हमारी स्वार्थसिद्धिमें बाधक बने उसके प्रति इसे ऐसा क्रोध आता है रौद्रध्यान वालेको कि मानों आँखोंमें स्फुलगा बन रहे हों। प्रथम चिन्ह इस छदमें बताया है कि स्फुलगोंसे सहित नेत्र होना। दूसरा चिन्ह है भौंह टेढ़ी हो जाना। जब किसी दूसरेपर कृपा नहीं होती और अपने आपके विषयसाधनोंमें बाधा पहुच रही है तो भौंहें टेढी हो जाती हैं। यह रौद्रध्यानका चिन्ह है। फिर बताया है कि मुखका आकार भयानक हो जाता है। लौकिक सुन्दरता भी शान्तभावसे प्रकट होती है और आध्यात्मिक सुन्दरता तो निष्कषाय भावमें है ही। जैसे कोई पुरुष या महिला बहुत लोकमें माने जाने वाले रूपसहित हो, गौराग हो, सुन्दर जचे, ऐसा रूप हो, लेकिन आदत क्रोधकी है, दूसरेको दुःख देनेकी है, दूसरोंपर छल करनेकी है तो उसपर सुन्दरता नहीं आ सकती। कोई पुरुष अथवा महिला साधारण रूपवान हो, सावला हो, किसी भी प्रकारका हो और उसमें शान्ति है, कषाय नहीं है, परोपकारकी बुद्धि है, सबपर दयाभाव रखता है, गरीबोंपर उपकार करता है तो उसपर सुन्दरता झलकेगी। सुन्दरता उसका नाम है,

जिसको सभी लोग चाहने लगें। सभी लोग कामको, प्रेमको, विकारको चाहा करते हैं। इस रौद्रध्यानमें एक यह चिन्ह बताया कि उसका भयानक आकार बन जाय। शरीर कांपने लगे, हाथ-पैर कांपने लगें। जब किसी पर विशेष अन्याय किया जाय तो अन्याय होता है अपने विषयोंके साधनोंके लोभ होनेपर। तो उस समय इसके रौद्रध्यान होता है जिससे शरीर भी कप जाता है। और स्वेद पसीना आना ये बाहरी चिन्ह रौद्रध्यान के होते हैं। रौद्रध्यान यह क्रूर ध्यान है जिससे मनुष्यको इस भवमे भी भीतरमें क्लेश रहता है, पापका बध होता है, पश्चात् भी इसे बहुत क्लेश भोगना पड़ता है। तो यही है रौद्रध्यान।

क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तकः।
दुष्टाशयवशादप्रशादेतस्तावलम्बनम् ॥१२५४॥

यह रौद्रध्यान क्षायोपशमिक भावरूप है, अर्थात् कुछ ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो, कुछ अपने वीर्यान्तरायका भी क्षयोपशम हो तब यह भाव प्रकट होता है। यह अन्तर्मुहूत तक रहता है। सभी ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक रह पाते हैं और खोटा आशय होनेके कारण यह खोटी वस्तुका आलम्बन किया करता है अर्थात् रौद्रध्यान खोटे वस्तुपर ही होता है। क्रोधपर रौद्रध्यान हो, मान, माया, लोभ कषाय होनेसे रौद्र-ध्यान हो तो रौद्रध्यान खोटे विषयोंको ले करके हुआ करता है। आर्त और रौद्र ये पौद्गलिक वस्तुओंका विषय करके होते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये आत्माका आश्रय करके प्रकट होते हैं। अपने आपका जितना भी सहारा ले सकें उतना तो सारभूत काम है। अपने सहज ज्ञानस्वभावपर जितनी दृष्टि स्थिर रह सके उतना तो सारभूत पुरुषार्थ है, और इससे अतिरिक्त बाह्यपदार्थोंमे रागद्वेषकी बुद्धि जगे वह आत्माके कल्याणकी बात है और खोटी ही वस्तुका आश्रय करके हुआ करता है।

दहत्येव क्षणार्द्धेन देहिनामिदमुत्थितम्।
असद्ध्यानं त्रिलोकश्रीप्रसवं धर्मपादपम् ॥१२५५॥

जब ये प्रशान्तभाव जीवके होते हैं तब तीन लोककी लक्ष्मीके उत्पन्न करने वाले धर्मरूपी वृक्ष को ये आधे क्षणमे ही जला देता है अर्थात् रौद्रध्यान समस्त वैभवोका विनाश कर देता है। वैसे भी देखलो। जो लालचके वशीभूत है उसपर ऐसी घटनाए घटती हैं कि सारी जिन्दगीभर किए हुए लालचकी कसर सब एक दफेमें निकल आती है। लालच एक बुरी बला कही गई है। उसीमे यह रौद्रध्यान पनपता है। वहाँ धर्मध्यान नहीं ठहरता जहाँ कोई हिंसा करने कराने‌मे आनन्द माने, झूठ, बोलने बुलानेमें आनन्द माने, चोरी करने करानेमें मौज समझे, इसी प्रकार विषयसरक्षणानन्दमे जो मौज माने वह पुरुष अथवा वह ध्यान धर्मरूपी वृक्षको भस्म कर डालता, वहाँ धर्म नहीं ठहर सकता।

इत्यार्तरौद्रे गृहिणामजस्रं ध्याने सुनिन्द्ये भवतः स्वतोऽपि।
परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्कितेऽन्त:करणे विशङ्कम् ॥१२५६॥

इस प्रकार यह आर्तध्यान और रौद्रध्यान जो कहे गए है वे गृहस्थके परिग्रह आरम्भ और कषाय आदिक दोषोंसे मूल अन्त करणमें उत्पन्न होते हैं। जहाँ किसी परपदार्थमे रुचि है वहाँ उसके उपयोगमें आर्तध्यान होगा, अनिष्ट है तो उसके सयोगमे आर्तध्यान होगा और विषयोके सरक्षणमें जो आनन्द मानता है उसके उस कलकित हृदयमे यह रौद्रध्यान पनपता है, इसमे रच भी शका नहीं है। तो जिस चिन्तवनमे लोग मौज मानते वे समस्त चिन्तवन हेय हैं, ससारके कारणभूत हैं।

क्वचित् क्वचिदमी भावाः प्रवर्तन्ते मुनेरपि।
प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं प्रायः संसारकारणम् ॥१२५७॥

ये आर्तध्यान और रौद्रध्यान कभी-कभी किसी मुनिके भी हो जाते हैं। जब हो जाय रौद्रध्यान तो मुनिका गुणस्थान नहीं रहता, पर मुनि तो है बाह्य भेषमे और कुछ साधना भी ठीक चल रही है इतनेपर भी कोई पूर्वकृत कर्मका उदय होता है कि जहाँ अपनेको नहीं सम्हाल सकते, दूसरेका अनिष्ट कर देते। जैसे द्वीपायन मुनि इतने ऊंचे तपस्वी थे, सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी थे कि उनके तैजस ऋद्धि प्रकट हो गयी थी। तैजस ऋद्धिके मायने हैं कि जिसके प्रतापसे मुनि यदि किसीका भला विचार करले तो दाहिने कधेसे ऐसा तेज प्रकट होता कि उसका भला हो जाय, दुर्भिक्ष न पड़े, रोग व्याधि शान्त हो जाय और जब उस ही मुनिको किसीपर तीव्र क्रोध जग जाय, इसका अनिष्ट चिन्तन करने लगे तो कधेसे ऐसा तेज प्रकट होता था कि वहाँ के क्षेत्रको भी भस्म करदे, और लोग भी भस्म हो जायें और खुद भी भस्म हो जाय और नरकमें जाय। एक बल है उस बलका यदि उत्तम प्रयोग करे तो उसमें लाभ है और उसका अगर खोटा प्रयोग करे तो उससे बरबादी होती है तो ऐसी ऐसी भी ऊंची ऋद्धि प्रकट हो जाये, ऐसे मुनीश्वरोंको भी पूर्वकृत पापके उदयसे ऐसा आर्त और रौद्रध्यान हो जाया करता है। सो यह पूर्वकर्मके उदयकी विचित्रता है। ये दोनों ध्यान आर्त और रौद्र ये ससारके ही कारण हैं, जन्म-मरण बढाने वाले हैं।

स्वयमेव प्रजायन्ते विना यत्नेन देहिनाम्।
अनादिदृढसंस्कारादुर्ध्यानानि प्रतिक्षणम् ॥१२५८॥

ये जो खोटे ध्यान हैं सो जीवको अनादिकालसे सस्कारसे विना ही यत्नके स्वयमेव होते हैं। इष्टका वियोग हो जाय तो उसके फलमे स्वयं ही बडा दु ख मानते है, अनिष्टके सयोगमे दु ख मानते हैं। कोई बच्चेको सिखाता है चलना फिरना या विद्या पढ़ना आदिक क्या? अरे ये सब तो उसके अनादिके संस्कार हैं, होते हैं। विषयोंके अनुभवनमें मौज मानना उसे कोई सिखाता है क्या? तो यह आर्त और रौद्र ध्यान जीवोंको बिना सिखाये, बिना यत्नके अनादि कालके सस्कारोंसे ये सब चलते जाते हैं। पर धर्म-ध्यान शुक्लध्यान उत्कृष्ट विचार, सम्यक्त्वका लाभ ध्यानकी प्राप्ति इन सबमें उद्यम करना होता है। सिखाते हैं, गुरुजन बताते हैं तब इसकी सिद्धि होती है। यह आर्त और रौद्रध्यान बिना यत्नके ही जीवोंके साथ अनादिकालसे अपनी परम्परा बनाते चले जा रहे हैं, पर जो अनादिसे चला आया है वह अच्छा ही हो यह नियम तो नहीं। जैसे किसी काममे लोग कहने लगते हैं कि यह तो वर्षोंसे बात चल रही है। पर बात यदि ठीक है तो ठीक है अन्यथा कितनी ही पुरानी परम्परासे रुढि चली जाय उसमे भलाई नहीं है तो ठीक नहीं है। तो यों ही अनादिकालसे मिथ्यात्व, मोह, अज्ञान, दुर्ध्यान ये सब चले आ रहे हैं पर पुरानी परम्परासे चले आये इस कारण वह ठीक हो यह नियम नहीं है। तो ये अनादि वासनाके सस्कार ये जीवोंको बिना यत्नके ही प्राप्त होते रहते हैं। यह कठिन है, पर छोडना इसे जरूर होगा। तो उपयोग अपना निर्मल बनायें, अपने गुणोंका चिन्तन करें, ज्ञानप्रकाशके निकट रहें वहाँ तो इस जीवको धर्मलाभ है, शान्तिलाभ है और इसके अतिरिक्त किन्हीं बाह्यपदार्थोंके निकट बसे, राग करके अथवा द्वेष करके तो यह बात कब तक निभेगी? ये दुर्ध्यान त्यागने योग्य हैं।

इति विगतकलङ्कैर्वर्णित चित्ररूप, दुरितविपिनबीजं निन्द्यदुर्ध्यानयुग्मम्।
कटुकतरफलाढ्यं सम्यगालोच्य धीर, त्यज सपदि यदि त्वं मोक्षमार्गे प्रवृत्त ॥१२५९॥

आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे धीर वीर पुरुष यदि तू मोक्षमार्गमे प्रवृत्ति करना चाहता है तो निंद्यनीय दुर्ध्यान कलकको दूर कर। जो ध्यान नाना चित्र विचित्ररूप है। कोटि देखिये धर्मकी जाति एक है और व्यवहार धर्ममें भी धर्म त्मावोंकी प्रवृत्ति एक दूसरेसे मिल जायगी। परिणाम करीब-करीब एक हो सकता है पर आर्त और रौद्रध्यान इतने खोटे और विचित्र हैं कि इनकी जातिया, इनका बिस्तार नाना-

रूपोंमें होता है। तो ये दोनों दुर्ध्यान नाना चित्र-विचित्र रूप हैं और पापरूप वनके बीज हैं। जैसे बीजसे अंकुर उत्पन्न होता है ऐसे ही इन ध्यानोंसे पाप उत्पन्न होते हैं। ऐसे निंद्य दुर्ध्यानोंको जिसका कि अन्तमे खोटाफल है उसको हे धीर वीर पुरुष ! तू शीघ्र ही छोड़ दे। जब तक मनुष्यको भीतरमें आत्मकल्याणकी सच्ची रुचि नहीं जगती है तब तक यह धर्मध्यानका भली प्रकार पात्र नहीं हो सकता है। पहिले चित्तमे यह बात सोचना चाहिए कि ससारमे अनेक योनियोंमे भ्रमण करते करते आज बड़े सुयोगसे हम मनुष्य हुए हैं, युक्त समागम प्राप्त कर लिया है, अब इस जिन्दगीको धर्मसाधनामे व्यतीत करना चाहिए। धनवैभव या अन्य-अन्य विषयोंके संरक्षणभूत साधन ये इस मेरेको क्या हित कर सकते हैं ? इनका तो परिणाम ही क्लेशरूप है। इन समागमोंकी रुचिमे कुछ भी लाभ नहीं है। जिन्दगीसे जी रहे हैं और इन बाह्य समागमोंमें कुछ अपना महत्त्व जाना, अतिशय समझा तो है क्या ? एक दिन तो वह आयगा कि जब कि इस भवको छोड़-कर आगे जाना पड़ेगा। फिर क्या हालत गुजरेगी ? क्या इसी प्रकार ससारमे जन्ममरण करना, दु.खी होना ऐसी ही जिन्दगी बिताना अच्छा है ? भाई अतरङ्गमे शुद्ध हृदयसे यह भावना जगना चाहिए कि मुझे अपने आत्माका उद्धार करना है और इस ही शुद्ध भावनापर ऐसी परिणति बन जायगी कोई कि केवल शुद्ध ज्ञान-प्रकाशका ही अनुभव हो रहा होगा। तो इन दुर्ध्यानोको त्यागकर जो अच्छा ध्यान है, जो आत्मासे सम्बध रखनेवाला ध्यान है ऐसे ध्यानमें अपने आपका मोड लाना चाहिए। ससार, शरीर, भोगोंसे विरक्ति परिणाम होना चाहिए। मनुष्य सोचते हैं कि अब करीब १० वर्षका काम है, जब काम सम्हल जायगा तो खूब धर्म-ध्यानमें लगेंगे। वे सोचे हुए दिन भी धीरे-धीरे गुजर जाते, पर अभी भी तृष्णाका अन्त नहीं आता है, आकाक्षाएं वैसी ही बनी रहती हैं। यों ही सारा जीवन व्यर्थमे गुजर जाता है। अरे-पाया है यह दुर्लभ समागम तो इसका खूब लाभ उठावें। लाभ यही है कि आत्मस्वरूपका अधिकाधिक चिन्तन करलें, पर चेतन अचेतन पदार्थोंसे मोह रागद्वेष हटा लें, इन बाहरी विभूतियोंसे कुछ भी हित न होगा ऐसी दृढ़ता बनालें, ऐसे शुद्ध परिणामोंका करना हम आप सब कल्याणार्थियोंका कर्तव्य है। उससे ही ऐसी विचित्रता जगेगी कि आत्माका विशुद्ध ध्यान बन सकेगा जिससे ससारके सकट समस्त एक साथ छूट जायेंगे।

अथ प्रशममालम्ब्य विधाय स्ववशं मनः।
विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यानं निरूपय ॥१२६०॥

धर्मध्यानके स्वरूपमे आचार्यदेव कह रहे हैं कि शान्तिभावका आलम्बन करके अपने मनको जब वश करके काम और भोगोंसे विरक्ति परिणाम करके धर्मध्यानका निरूपण करो। निरूपण करनेका अर्थ कहना नहीं है, किन्तु भली प्रकारसे एक अपने आपमें लखे। निरूपण नाम है देखनेका। जो देखा हुआ कहा जाय इसलिए निरूपणकी रुढ़ि कहनेमे हो गयी, पर निरूपणका अर्थ है भली प्रकार अपने आपमें देखना। उस धर्म-ध्यानसे अपने आपमे देखनेकी बोलनेकी तरकीब क्या है ? तो सर्वप्रथम तो शान्ति चाहिए। जब चित्त ही शान्तिमें नहीं है तो धर्मध्यान बनेगा क्या ? सर्वप्रथम प्रथम भाव हुआ। जब शान्तचित्त होगा तो मन अपने आधीन होगा। फिर मनको अपने आधीन बनाना और इन सबका उपाय अथवा इन सबका फल क्या है ? काम और भोगमे विरक्ति जगना। देखिये चित्त जिसका भी गडबड़ होता है, दिमाग भी जिसका स्थिर नहीं रहता, चित्त चलित रहता उसका कारण है काम और भोगोंमे राग होना। जिसे धर्मधारण करना हो उसे चाहिए कि काम और भोगोमे विरक्त हो। कामका अर्थ है स्पर्शनइन्द्रिय और रसना इन्द्रियका विषय। इनसे विरक्ति हो तो धर्मध्यान बने। जिसका कुटुम्बमे, खाने-पीने, शृंगार साज, नामकीर्तिमे मन लगता हो ऐसा पुरुष धर्मध्यान करनेके लिए आवश्यक है कि आत्महितसे प्रयोजन रखने वाले कार्य करे। जैसे जिसे कमाई और धनसचय करनेकी धुन रहती है उसको खाना-पीना तक नहीं सुहाता, उसे तो एक उसीकी धुन है ऐसे ही यहा समझो जिसकी धर्मधारणकी धुन है उसको भी खाना-पीना, साजशृंगार, ससारके और करतब कु

सुहाते नहीं हैं। उसे तो केवल धर्मध्यानमे, केवल अपने आपको ज्ञानस्वरूप निहारनेकी धुन है। उसे तो अन्य किसी कार्यमें प्रसन्नता ही नहीं है।

तदेव प्रक्रमायातं सविकल्पं समासतः।
आरम्भफलपर्यन्तं प्रोच्यमानं विबुध्यताम् ॥१२६१॥

वही धर्मध्यान आचार्योंकी परिपाटीसे अर्थात् गुरुके आम्नायसे चला आया भेद सहित सक्षेपसे यहाँ वर्णन करेंगे। वास्तवमे जो ऊपर बात कही है वह धर्मध्यानके आदिसे अन्त तक होनी चाहिए। सक्षेपमें कहा गया है। मन अपने वश होना, इन्द्रियके विषयोंसे विरक्ति होना ये दो बातें बन सकें तो उसके धर्मध्यान बनता है। खूब खोज लो इन दोमेसे गल्ती क्या है? यह चित्त क्रोधमे रहा करता है तो वहाँ धर्मध्यान कहाँ बनेगा। मन वशमे नहीं रहता, विषयोंमे मन फसा रहता वहाँ धर्मध्यान कहाँसे बनेगा? ये विषयकषाय जिसके शिथिल हुए उसके धर्मध्यान भी नहीं है और धर्मध्यान भी यही है कि विषयकषायोंमें परिणति न जाय। अपने आपके स्वरूपकी प्रतीति रहा करे, वह धर्मधारण है।

ज्ञानवैराग्यसम्पन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो धाता धीरः प्रशस्यते ॥१२६२॥

कैसा ध्यान करनेवाला धीर पुरुष प्रशसनीय है उसका इस लोकमें वर्णन है, जो ज्ञान और वैराग्यसे युक्त हो। ज्ञान और वैराग्य ये कर्मोंकी निर्जराके कारण हैं। जैसे जो पुरुष मन्त्रवादी है तो वह विष भी खाता जाय पर विषका उसपर असर नहीं होता, इसी प्रकार आत्मविद्या वाला पुरुष तत्त्वज्ञानी पुरुष भी विषयसेवनका कार्य करता है और मिथ्यादृष्टि भी विषयसेवनका कार्य करता है तो भी तत्त्वज्ञानीका वह विषयसेवनका कार्य उसे ससारमे डुबानेवाला नहीं बनता है। उसका कारण क्या कि भीतरमें उसके यह आशय बना हुआ है कि मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानवृत्ति मेरा कार्य है। यह कर्मोंका दण्ड है ऐसी उसकी प्रतीति रहती है। भला बतलावो पापकार्य करते समय यह पापकार्य है, यह मेरा स्वरूप नहीं है, कर्मोंका दण्ड है--इस प्रकारकी प्रतीति किसके रह सकती है? तत्वज्ञानी हो वही यह ख्याल रख सकता है। भला कोई बहुत मिठाई भी खाता जाय और दो एक आसू भी गिराता जाय और यह ध्यान करता जाय कि मिठाई खाना मेरा स्वरूप नहीं है, कहाँ इसमे मेरा उपयोग फस रहा है? ऐसी बात तो तत्त्वज्ञानी पुरुषमे ही पायी जाती है। तो विषयकषायोंमे प्रवृत्ति करते हुए उसका खेद बना रहना, उससे हटा हुआसा रहना यह बात ज्ञानद्वारा प्राप्त होती है। जैसे सामने आग पडी है पीछेसे किसी पुरुषको धक्का दे दिया और ऐसा धक्का दिया कि वह वहाँ ठहर न सका, आगे उसे बढना पडा, कदम रखना पडा तो रखेगा तो जरूर और उस कदम में आग भी बीचमें है, आगपरसे भी जायगा किन्तु ऐसी सावधानीसे ऐसा हटा हुआ ऐसी शीघ्रतासे उसपर से जायगा कि वह कम जलेगा और किसी पुरुषको पता ही नहीं है कि कहाँ आग पडी है और ढकेल दिया, तो वह तो खूब जल जायगा क्योंकि उसे आगका कुछ पता ही नहीं है। तो इस ज्ञानका कुछ असर तो होता ही है प्रत्येक कार्योंमें। तो ज्ञानसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। जिसे तत्त्वज्ञान जगा है वह पुरुष धीर वीर ध्याता है। दूसरी बात है वह वैराग्यसम्पन्न होना चाहिए। वैराग्यका अर्थ है उसमे राग न हो। राग न होकर भी उसमें प्रवृत्ति करना पडता है तो बध वहां नहीं होता। आप सोचते होंगे कि ऐसा भी कोई काम है क्या कि जिसमे राग न हो और करना पड़े? हाँ है। जब किसीकी शादी होती है तो उसमे पडौसकी स्त्रिया गानेके लिए बुलाई जाती है। वे गाती हैं मेरा दूल्हा बना जैसे राम लखन। यह सब गाती हैं पर उनसे उस दूल्हासे कोई प्रयोजन है क्या? यदि दूल्हा घोड़ेसे गिर जाय और टांग टूट जाय तो उन पडौसकी स्त्रियोंको उससे कोई खेद होगा क्या? खेद तो उस दूल्हीकी माको होगा। वे स्त्रियां तो छटांकभर बताशों के लिए उस तरहसे गाती हैं। उस दूल्हामें उन्हें राग नहीं है। किसी फर्ममे मुनीम काम करता है। उसके

हाथमें सारा हिसाब है, तिजोरी रखता है, बैंकका भी हिसाब रखता है, लोगोंसे लेनदेन करता है, यह भी कहता है कि हमको तुमसे इतना मिलना है, तुमको हमसे इतना मिलना है, यों सारी बातें करता है, व्यवहार करता है पर उस सबमे उसे राग नहीं है कि यह सब वैभव मेरा है। तो यों ही अनेक प्रसंग ऐसे हैं, कि बिना रागके वे कार्य करने पडते हैं। कैदियोंसे चक्की पिसाई जाती है, स्त्रिया तो घरमें चक्की पीसते हुएमें खुश होती हैं, पर वह कैदी भी चक्की पीसते हुएमें खुश होता है क्या ? वह चाहता है क्या कि मुझे चक्की पीसनी पड़े ? वह तो यही चाहता है कि मुझे कब इससे अवकाश मिले ? ता अनेक काम ऐसे हैं जिनमें राग न होते हुए भी करने पडते हैं। तो इन पचेन्द्रियके विषयोमे जो अंतरगसे राग नहीं है ऐसा धीर वीर पुरुष ही उत्तम ध्याता माना गया है। तीसरी बात है सम्बृत आत्मा इन्द्रिय मन जिसके वश हो वह सम्बृत आत्मा है। वही धर्मका ध्याता प्रशसनीय माना गया है। जरा जरासी बात सुनकर जिसके क्रोध उत्पन्न हो जाय, अभिमान जग जाय, मायाचार की प्रवृत्ति हो, लोभ उत्पन्न हो जाय, ऐसा पुरुष धर्मधारण नहीं कर सकता है। जरा अपने आपसे पूछो कि हे आत्मन् ! तुम्हें चाहिए क्या ? अगर यह चाह बनी है कि मेरे खूब वैभव जुड जाय तो इस चाहसे फायदा क्या ? क्या मरण न होगा ? क्या यह पाया हुआ वैभव एक दिन छूटेगा नहीं ? अरे कौनसा ऐसा कार्य है जिसके कर लेनेसे इस आत्माका भला हो ? जरा सोचते जाइये, लोकमें इज्जत बना लेना, बहुतसे प्राणियोंमें अपना परिचय बना लेना, अरे इनसे इस आत्माको लाभ क्या ? यहाँके ठाठबाटोंसे, विषयकषायोसे इस आत्माको कुछ भी लाभ नहीं है। चाह तो यह होनी चाहिए कि मैं अपने आत्मामे मग्न होऊं। मैं रहूँ आपमे आप लीन ऐसी चाह हो भीतरमे ? एक ही लक्ष्य रखें अपने जीवनमें, मैं अपने आपके स्वरूपमे लीन होऊ ऐसी भावना भायें, यह चाहिए और कुछ न चाहिए। इसके अलावा कुछ भी बने बनने दो। चाह केवल यही है कि मैं अपने आपके स्वरूपमे लीन होऊं। देखो—यदि अपने आपमें सच्चाईके साथ यह चाह जगती है तो यह भी पूर्ण हो जायगी। इसी चाहका नाम है मुक्तिकी चाह। मैं इन समस्त विभावोंसे, मोह रागद्वेषोंसे छुटकारा पाऊ, ऐसा जो मुक्तिका इच्छुक पुरुष है वही उत्तम ध्याता होता है। वह आलस्यरहित हो, उद्यमी हो। प्रमादी पुरुष धर्मध्यान करने का अधिकारी नहीं है। इसीलिए प्रमादी पुरुषोको ऊनोदर तप बताया है। भूखसे कम खाना, शान्तपरिणामी हो उसकी प्रकृतिमे शान्ति हो। देखिये अनेक प्रकारके पुरुष मिलते हैं आजकल भी। किसी-किसीको जरा-जरासी बात भी सहन नहीं होती। और कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि उन बातोंकी उपेक्षा कर जाते हैं। जिनके भीतर कुछ शिथिलता है उन्हें किसीकी बात सहन नहीं होती और जिनके तत्त्वज्ञान जग रहा है उनके विरुद्ध भी कोई बात कहे तो वे उसे सहन कर लेते हैं। तो जो पुरुष शान्तस्वभावी होते हैं उनमे धर्मधारण करनेकी पात्रता होती है। जिनका चित्त अशान्त है वे पुरुष धर्मका पालन ही क्या करेंगे ? वह ध्यानी पुरुष प्रशसनीय है जो ज्ञानी हो, कष्टसहिष्णु हो। हम आपको भी चाहिए कि ऐसा तत्त्वज्ञान जगायें और भीतरमें ऐसी प्रेरणा बनायें कि आर्तध्यान और रौद्रध्यान न बन सके और धर्मध्यानसे अपने आत्माको प्रसन्न रखा जा सके। मोहमें, रागमे, द्वेषमे कुछ भी लाभ नहीं है। न शान्ति है और न कोई बाहरी पौद्गलिक लाभ है। आत्मा भी खिखे और नाना क्लेश भी सहने पडते हैं, इससे ज्ञान और वैराग्यसे प्रीति जगे, यही अपने आपको ससारसे निकालनेके लिए पुरुषार्थ करना चाहिए ?

चतस्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः ।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते ध्येया धर्मस्य सिद्धये ॥१२६३॥

धर्मध्यानकी सिद्धिके लिए चार प्रकारकी भावनाएं चित्तमें धारण करना चाहिए। वे चार भावनाए हैं—मैत्रीभाव, कारुण्य, प्रमोद और माध्यस्थ। ये चार भावनाए यथार्थ रूपसे सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानीके हुआ करती है और मद कषायमे कदाचित् मिथ्यादृष्टिके भी हो जाय, पर जो इसका यथार्थ स्वरूप है पूर्ण

सूक्ष्मरूप उस तरहसे यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके ही होता है। आगे बताया जायगा जिससे यह स्पष्ट होता जायगा कि तत्त्वज्ञानमें ही, किन्तु यथार्थरूपसे ये चार भावनाएं होती हैं प्रथम मैत्री भावनाको इन दो श्लोकोंमें कहते हैं।

क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु।
सुखदुःखाद्यवस्थासु संसृतेलेषु यथायथम् ॥१२६४॥
नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका।
साध्वी महत्त्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते ॥१२६५॥

सूक्ष्म और वादर दो भावोंरूप जीवोंमे, त्रस और स्थावर यों दो भावोंरूप जीवोंमें, यह जीव सुख-दु:ख आदिक वासनाओंमें जैसे-तैसे ठहरे हुए नाना भावयोनिर्गोमें, प्राप्त होने वाले जीवोंमे समानतासे न विराधना करने वाली ऐसी महत्त्वको प्राप्त समीचीन वुद्धि मैत्री भावना कही जाती है, अर्थात् ससारके समस्त जीवोंको उन्हें इस तरहसे निरखलो, कोई जीव सूक्ष्म है, कोई जीव वादर है। यद्यपि दो भेद एकेन्द्रिय में ही वताये हैं—सूक्ष्म पृथ्वीकाय, वादरपृथ्वीकाय। सूक्ष्म एकेन्द्रिय वादर एकेन्द्रिय इन दो इंद्रियोंमे भेद नहीं वताया। इसका कारण है दो, तीन, चार और पचइन्द्रिय जीव ये सब वादर ही होते हैं। तव सूक्ष्म और वादर कहनेमे सव जीव आगए। अथवा त्रस और स्थावर कहनेमें सब जीव आ गए। स्थावर एकेन्द्रिय और त्रस जीव दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पचइन्द्रिय। इन समस्त जीवोंमे विराधना न हो, ऐसी समता हो कि किसी भी पुरुषका अहित न विचारे। न अहितकी प्रवृत्ति करे ऐसी भावनाका नाम मैत्री भावना है। मैत्री शब्दका सही भाव यह है कि अनुत्पत्ति दु ख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा रखना, इसका नाम मैत्रीभाव है। जैसे लोग कहते हैं कि अमुक अमुकका घनिष्ट मित्र है तो मित्र होनेका अर्थ क्या हुआ कि उसके दु ख उत्पन्न होनेकी अभिलाषा नहीं रखता है। तो सब जीवोंमे किसी भी जीवको दु ख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा रखना इसका नाम है मैत्री। सर्व जीव केवल परिचय वाले ही नहीं किन्तु जिसका आमने सामनेका परिचय तो नहीं है परन्तु ज्ञानविधिसे और आगमविधिसे जाना सवको जा रहा है ऐसे सर्वससारी प्राणियों में किसी भी जीवकी विराधना न करनेका भाव हो जायगा। इसे मैत्री भावना कहते हैं। जैसे रामचन्द्रजीके समयकी प्रासंगिक घटना एक कविने कहा है। जिस समय रामचन्द्रजी लंकाको जीतकर घर आये और बड़े आरामसे बहुत समारोहकी सभा हो रही थी। तो सब लोगोंको राज्य वितरण कर चुके थे। तुम अमुक प्रदेश का राज्य सम्हालो। सबको राज्य सौंप दिया। लेकिन हनूमानको नहीं सौपा। तो हनूमान भरी सभामे हाथ जोड़कर कहते हैं कि हे महाराज! हमसे जो सेवा बनी है सो आप खुद जानते हैं, लोग भी समझते हैं। रामचन्द्रजीके समयमे सबसे अधिक सेवा हनूमानने की थी सीताका पता लगाना, युद्धमे वडी कुशलता दिखाना आदि। तो हनूमान कहते हैं कि आपने सव लोगोंको तो राज्य दिया पर मुझे कुछ भी नहीं दिया। चाहिए मुझे कुछ नहीं, पर चिन्ता यह है मुझे कि आपने मुझे भुला क्यों दिया? तो रामचन्द्रजी जवाब देते हैं— मय्येव जीर्णता यातु, यत्त्वयोपकृत कपे। नर प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिवाञ्छति। हे हनूमान जी! तुमने हमारा उपकार किया सो उस उपकारकी मुझे सुध भी न रहे यह मैंने तुम्हें दिया। लोग सुनकर आश्चर्य में पड़े, हनूमान भी आश्चर्यमे पड़े कि मुझे यह क्या दे रहे है? जो तुमने उपकार किया वह सब उपकार मैं भूल जाऊ, उसकी सुध न रहे यह दे रहा हूँ हनूमान तुमको। तो सव लोगोंको इसमें कुछ सन्देह हुआ कि यह क्या दिया जा रहा है? तो सन्देह मिटानेके लिए रामचन्द्रजी फिर कहते हैं— नर प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिवाञ्छति। हे हनूमान! यदि तुम्हारे उपकारका हमें ख्याल रहेगा तो चित्तमे यह बात आया करेगी कि मैं इनके उपकारका बदला चुकाऊं। तो बदला देनेका अर्थ यह है कि हनूमान! तुमपर विपत्ति आये और

फिर उस विरक्तिको दूर करके तुम्हारे उपकारका बदला चुका लूं। तो उपकारकी सुध रखनेमें प्रत्युपकारकी पुष्टि होती है। इनपर विपत्ति आये और तब मैं इनकी विपत्ति मेटूं ऐसा मैं नहीं चाहता। यहाँ मैत्री भावना में यह कह रहे है कि ससारके समस्त प्राणियोंमे किसीके प्रति भी विपत्ति न चाहे, इसका नाम है मैत्रीभाव।

जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिताः।
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ॥१२६६॥

इस मैत्री भावनामे यह ज्ञानी पुरुष यह भावना कर रहा है कि ये सब जीव कष्ट विपदावोंसे दूर होकर सुखपूवक जीव और वैर, पाप, अपमानको छोड़कर सुखको प्राप्त हों। इस प्रकारकी भावनाको मैत्री भावना कहते हैं। किसीको किसी प्रकारका कष्ट है, किसीको किसी प्रकारका। लौकिक पुरुष तो इसी बातमे कष्ट समझते हैं कि मेरे धन कम हो गया, मेरी आजीविका अच्छे ढगसे नहीं चल रही है। कोई लोग तो इसको ही कष्ट समझ लेते कि आज किसी वस्तुका सुबह कुछ भाव बढा हुआ सुना था शामको भाव कुछ घट गया है। चीज यद्यपि वहींकी वहीं घरमें रखी है, लेकिन कष्ट मानते है। तो जिसके जैसी बुद्धि है वैसे ही वह कष्ट समझता है। ज्ञानी जीव तो कष्ट इसको समझता है कि प्रभुकी तरह विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाववाले इस आत्मामे विषय और कषायोके भाव उत्पन्न होते हैं और इसी दृष्टिसे जीवोंको कष्टमें पड़ा हुआ देखता है। हाय! कितना बडा कष्ट है कि है तो आनन्दमय आत्मा और विषयकषायोके भाव हो रहे हैं जिससे निरन्तर क्षोभ चल रहा है। ज्ञानी पुरुष इन सब जीवोंके प्रति ऐसी भावना करता है कि इनके कष्ट विपत्ति ये दूर हों, शुद्ध ज्ञान प्रकाश हो और शुद्ध रूपसे ये जीवें। ज्ञान दर्शनकी प्राप्ति जिनके है उन पुरुषोंकी शुद्ध वर्तना रहती है। यों तत्त्वज्ञानी पुरुष समस्त जीवोंके प्रति ऐसी भावना करता है और फिर लौकिक पुरुष व्यवहारिक कष्टोंसे दूर हों इस प्रकारकी भावना करते हैं, और ज्ञानी भी चूंकि ये लौकिक कष्टमें रहेंगे तो इनमें धर्मध्यानकी योग्यता नहीं जग सकती, अत उन कष्टोंसे ये दूर रहें ऐसी भावना करता है। और ये सभी जीव वैर पाप और पराभवको छोडकर सुखी होवें। जब चित्तमें वैरभावकी दृष्टि रहती है तो चित्तमे चिंताएं रहती हैं। तो ये पुरुष इस वैरभावको छोड़ दें। ऐसी मैत्री भावनामें ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है। इसी प्रकार पापपरिणाम जब होता है तब भी चित्तमे चैन नहीं रहता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, लालच जब ये परिणाम पैदा होते हैं तो यह अशान्त रहता है। सो ज्ञानी जीव समस्त जीवोंके प्रति यह भावना करता है कि ये जीव पापपरिणामको छोड दें और सुखी हों। इसी प्रकार पराभवकी कल्पना जब चित्तमे रहती है तब शान्ति नहीं मिलती। मेरी पोजीशन मिट गयी, मेरा अपमान हो गया—इस प्रकारका भाव चित्त मे रहे तो बडा कष्ट है। तत्त्वज्ञानी पुरुष सब जीवोंके प्रति यह भावना कर रहा है कि जीवोंके पराभवके कष्ट भी न रहें। वस्तुत. किसी जीवका कोई पराभव कर नहीं पाता। स्वय पराभव मान ले तो लो पराभव हो गया, लेकिन कोई चेष्टा ही तो करेगा। कोई सम्मान करे अथवा अपमान, उससे किसी दूसरेका क्या बिगाड ? जगतके ये सब जीव हैं, अपने आपमे परिणाम रहे हैं, कोई जीव किसी दूसरेका कुछ भी करनेमे समथ नहीं। यहाँके ये सम्मान अपमान क्या है और यह मैं क्या हूँ, ये सम्मान अपमान करने वाले लो। क्या हैं ? इस पर भी तो कुछ विचार करना चाहिए। ये लोग सब मायारूप हैं, ससारमे जन्म मरण करते फिर रहे हैं, ये कोई मेरे अधिकारी नहीं। इनकी दृष्टिमें मैं भला जच गया तो इससे मेरा क्या सुधार और इनकी दृष्टिमे बुरा जच गया तो इससे मेरा क्या बिगाड ? यह मैं स्वय आत्मा भगवान हु, जो कुछ करूगा करता हूँ वह खुदमे ही होता है। इनके खुद जानकार रहते है, यह जीव यदि पराभव बनाता है, पाप बनाता है तो उससे इसका बिगाड है और अपनेमे यदि ज्ञान और वैराग्य बनाता है तो उससे इस जीवका सुधार है। तो पराभवकी कल्पना करनेमे स्वयको क्लेश है। इन पराभवकी कल्पनाओंका परित्याग करें और सुखी होवे। ऐसी भावना यह धमध्यानी पुरुष सब जीवोंके प्रति कर रहा है। मैत्री भावनाके बाद अब कारुण्य भावना कह रहे हैं।

दैन्यशोकसमुत्त्रासरोगपीडार्दितात्मसु ।
बधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम् ॥१२६७॥

क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च ।
अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम् ॥१२६८॥

मरणार्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकारवाञ्छया ।
अनुग्रहमतिः सेयं करुणेति प्रकीर्तिता ॥१२६९॥

जो जीव दीनतासे, शोकसे, भयसे दुःखी हैं उन पुरुषोंमे अनुग्रह बुद्धि होती है। इनका दुःख दूर हो—इस प्रकारकी बुद्धि होना कारुण्य भावना है। इसी प्रकार रागसे पीडित आत्मावोंके प्रति ये रागसे दूर हों—इस प्रकारका करुणाभाव लाना यह कारुण्य भावना है और जो वध बन्धनमे होते हैं, जो जीवोंका पालन करते हैं ऐसे पुरुषोंको भी अनुग्रह बुद्धि करना कारुण्य भावना है। कारुण्य भाव तब जगता है जब उनके समान अपनेको मान लिया जाय। इन चार भावनाओंमें कारुण्य भावनाकी बडी विशेषता है। मैत्री भावनामे सब जीवोंके प्रति मैत्री भावना कब जगे जब सबके समान अपनेको अपने समान सबको माने। मित्रता छोटे बड़ेमें नहीं हो सकती, बराबर वालेमे हुआ करती है। तो सभी जीवोंमे मित्रताका परिणाम तभी सम्भव है जब सबको और अपनेको एक समान निरख सकें। तो तत्त्वज्ञानी जीव एक समान निरख लेते हैं। केवल चित्स्वभावरूप आत्मा है वैसा ही मैं हूँ, वैसे ही ये सब हैं। सब जीवोंमे चैतन्यस्वभाव करके जब समता हमने धारण करली तो मैत्री भावना जगती है, इसी प्रकार यह कारुण्य भावना है। दया कब होती है? जिसके प्रति दया की जा रही है उसके समान अपनेको समझ सके तो दयाभाव जगता है। जैसे किसी भूखसे पीडित पुरुषको देखा तो उसे देखकर अपने आपमें भी एक यह आ जाता कि ऐसा भूखा मैं होता तब मुझपर क्या बीतती है? उस कष्टका वह अनुमान कर लेता है अपने आप पर घटाकर। करुणा की शैली यही है। चाहे कोई जीव ऐसा न बोल सके, ऐसा विश्लेषण न कर सके तब भी बात यह होती है कि सब दयासे भर जाते है। कभी रास्तेमें कोई जीव काटा छेदा भेदा जा रहा हो, सताया जा रहा हो तो उसे देखकर जो करुणा जगती है कि यह जीव भी मेरे ही समान है, इसपर जो विपत्ति आयी है ऐसी कभी मुझपर आये तो कैसी भीतरमें पीडा उत्पन्न होती है। ये सब बात देखते ही दूसरी सब बातें आ जाती हैं। कहनेमें तो देर लगती है किन्तु इस झलकमे देर नहीं लगती, तो जब उन दुःखी जीवोंके समान अपने आपमें उसे निरख लिया गया अन्तरमे तब यह कारुण्य जगा। कारुण्यका दूसरा नाम है अनुकम्पा। और अनुकम्पा का सीधा अर्थ है अनुसार कप जाना। जैसे कि कोई दुःखी पुरुष है जैसा दुःख है उसके अनुसार यहाँका दुःख अनुभवमें आये तब अनुकम्पाभाव जगता है। किसी पशुको बहुत अधिक पिटता हुआ देखकर जो मनमें दया उपजती है उस दयाका कारण यह है कि उसे पिटता देखकर तुरन्त ही अपने आपमें यह भीतर भावना बन जाती है कि मैं ही तो यह हू, जीव मैं हू, जीव यह है। जो बात इसपर बीत रही है वह मुझपर भी बीत रही है, वह मुझपर भी बीत सकती है, यों खुदमे बसी भावना बनी तब जाकर कारुण्य भाव बना और उन दुःखी जीवोंका दुःख दूर करनेके लिए सब खर्च भी करने लगा। इस मर्मको तो वे भिखारी तक भी जानते हैं जो जाड़ेके दिनोमें उघारे होकर कपती हुई भाषामे बड़े कार्त स्वरसे चिल्लाते हैं और धनिक लोग दया आ जानेके कारण उन्हें कपडा अन्न वगैरह दे डालते हैं। तो वे धनिक लोग पहिले उसके ही दुःखके समान अपनेमें दुःख बना डालते हैं तब अपने आपपर दया करके उनके प्रति करुणाका भाव लाते हैं। यदि खुदमें वैसे दुःखका अनुभव न बने तो उनपर दया नहीं आ सकती। जो पुरुष क्षुधा तृषा थकानसे पीडित हैं, जो बाधावोंसे व्यथित हैं उनमें अनुग्रह बुद्धि होना इसका नाम कारुण्य है। भूख सबको लगती है, क्या धनिक

भूखे नहीं रहते हैं लेकिन भूख उन्हें भी लगती है तब ही तो भोजन करते हैं और भूखका उन्हें अनुभव है। यद्यपि उन्हें प्यासकी वेदना नहीं सहनी पडती चिरकाल तक लेकिन पानी पीते हैं ये धनिक जन भी तो कोई प्याससे पीड़ित हो तो झट उसकी वेदनाको समझते हैं। तो भूख और प्यासकी वेदनाका अनुभव सभी जीवोंको है। तो ये दयालु पुरुष दूसरोंकी क्षुधा तृषा आदिक वेदनाओंको देखकर सब तुरन्त समझ लेते हैं कि यह कितना दु खी है? तो यह जो चित्तमें बात हुई उससे जो खुद दु खी हुआ उस दु खको दूर करने के लिए लोग उपकार करते हैं, दान करते है, दूसरोंका दु.ख छुटाते हैं। तो ऐसे कथित प्राणियोंमें अनुग्रह बुद्धि करना इसका नाम है कारुण्य भावना। जो पुरुष निर्दय पुरुषोंकी निर्दयताके कारण पीड़ित हैं और मरणके दु'खसे प्राप्त हैं उन दु खी जीवोंके दु'खको दूर करनेके उपायकी बुद्धि करना, भाव रखना इसका नाम कारुण्य भावना है। दूसरोंके दु.खको देखकर स्वयमे क्लेश होना, अनुकम्पा बनना यह कारुण्य भावना है। तत्त्वज्ञानी जीव विषयकषायोसे दु:खी जगतके जीवोंके प्रति यह भावना करता है कि इनके ये विषयकषायों के विकल्प दूर हों और ये वास्तवमें सुखी हों।

तपःश्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम्।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम् ॥१२७०॥
जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम्।
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदता मता ॥१२७१॥

जो गुणी पुरुष हैं उनमें हर्षभाव करना, हर्षभावकी भावना रखना सो प्रमोद भावना है। कैसे हैं वे गुणीजन जिनके गुणोंमें प्रमोद किया जाता है। वे तपश्चरणमे उद्यमी रहा करते हैं। तपश्चरण नाम है इच्छाका निरोध और जो पुरुष जगतके किसी भी विषयकी वाञ्छा न रखता हो ऐसा पुरुष लोकके द्वारा भीतरसे आदरणीय है और उसकी ओर लोगोका आकर्षण होता है और उसके प्रति हर्ष भावना हुआ करती है। यह तो एक साधारण बातकी बात है किन्तु जो मुमुक्षु जीव हैं जो इच्छा विभावोसे सर्वथा मुक्त होने की वाञ्छा रखते हैं ऐसे पुरुषोंको तपस्वी गुणी जन दिख जाय, इच्छा निरोध करके जिनका मन निर्मोह और पवित्र होता है ऐसे गुणी पुरुष दिख जायें तो उनमे प्रमोदभाव करते हैं, इसी प्रकार जो श्रुतमे बढ़े हैं, ज्ञान-दृढ है उनके ज्ञानगुणको निरखकर कैसा पवित्र चित्त है, रागद्वेष रहित है अतएव ज्ञानका बड़ा विकास है, पूर्वबद्ध ज्ञान है, अवधिज्ञान है, मन'पर्ययज्ञान है, विवेकशील हैं, शास्त्रका मर्म इन्होंने प्राप्त कर लिया है इस ही कारण ससार, शरीर, भोगोसे इनका प्रयोजन नहीं रहा है। केवल एक आत्मध्यानमें ही जिनकी उमग रहती है ऐसे ये श्रुत अन्तरङ्ग तत्त्वज्ञानी जीवोंके प्रति गुणोंका अनुराग होना सो प्रमोदभावना है। इसी प्रकार जो यम और नियममें उद्यमी पुरुष हैं, जिनका चित्त ऐसा विरक्त है कि किसी भी व्रत सयमको आजीवन धारण करनेका संकल्प करनेमे विलम्ब नहीं होता। जो उचित कतव्यको जीवनभर निभानेके लिए प्रतिज्ञा और समय समयपर अनेक आवश्यक कर्तव्योंका पालन करते हैं ऐसे यमनियमसहित गुणी पुरुष हों तो उनको देखकर मुमुक्षुवोंके प्रमोदभावना जगती है। जिस पुरुषके सम्बधमे यह विदित हो जाय कि यह बहुत आसक्त लम्पटी है, खाने पीनेका बहुत प्रेमी है, अपने गुजारा स्वार्थसाधनाके लिए तत्पर रहता है ऐसी बात जिसके सम्बधमें विदित हो तो लोगोंका उसके प्रति प्रमोदभाव नही रहता, और जो निर्मोह हैं, तत्त्व-ज्ञानी हैं, व्रत नियमका भली-भाति पालन करते हैं ऐसे महतोंके प्रति अनेक पुरुषोका सम्मान हो जाता है और उनके गुणोंमे प्रमोदभाव जग जाता है। फिर यहा ये मुमुक्षु जन जिनमे ससारके सकटोंसे मुक्त होनेका साधन व्रत, नियम, सयम, ध्यान, ज्ञान माना है और जो इन ही बातोंमे बढे हुए हैं तो उनको देखकर निष्कपट प्रेमभाव जगता है और हर्षभाव होता है और ज्ञान ही है जिनका नेत्र ऐसे पुरुषोंके गुणोंमे प्रमाद करना सो सज्जनोंने प्रमोद भावना माना है। एक विशेषता इनमें विषयकषायों विजय करनेकी होती है।

आतमका अहित करने वाले भाव हैं विषय और कषाय। जिन्होंने इन विषयकषायोंको जीत लिया है वे पुरुष लोगोंकी निगाहमें पवित्र माने जाते हैं। सो सब समझते ही हैं। भले ही कभी गुणी जनों पर विपदा आये तो लोग उन्हें बेचारा कहकर उनका आदर करते हैं। बेचारेको देखो कैसा कर्म सता रहे हैं, यों उस गुणी जनोंके प्रति लोगोंकी आस्था होती है। फिर जो मुक्तिके चाहने वाले हैं, जिन्होंने विषय कषायोंके विजयको मोक्षका साधन समझ लिया है वे इन विषय कषायोंके विजय करने वाले पुरुषोंको निरखकर बहुत हर्ष मानते हैं, यह है उनकी प्रमोद भावना और य सत जन निज तत्त्वके अभ्यास करनेमे चतुर हैं। निज तत्त्व है विशुद्ध सहजज्ञानानन्द स्वभाव। मेरा शाश्वत तत्त्व मेरा सहजस्वरूप है, उस ज्ञानानन्दस्वरूपके उपयोगका अभ्यास रखने वाले पुरुष कितने पवित्र हैं कि देखो इनको ससारके विषयोंसे कोई वास्ता नहीं रहा। इन्हें किसी भी स्वार्थसे, कषायसे रुचि नहीं रही। ऐसे इस अपने अन्त तत्त्वकी धुन रखने वाले ज्ञानी जीवोंके प्रति मुमुक्षु जीवोंका ऐसा अपूर्व प्रमोद होता जो प्रमाद प्रियसे प्रिय कुटुम्ब और मित्रजनोंमें भी नहीं हो सकता। विशुद्ध प्रमोद यों जगता है कि ज्ञानी जीव शुद्ध हृदयका है, निर्दोष है, निष्कपट है, और कुटुम्बी जनोंमें, मित्रजनोमे यों वैसा प्रमोदभाव नहीं जगता है कि वे अपराधी हैं, दोषी हैं मोही हैं। तो जो निज तत्त्वका अभ्यास करने वाले हैं, जिनकी धुन केवल आत्माके ध्यानकी रहती है उनके प्रति साधारण लौकिक जनोंका भी आकर्षण होता है, और जो मुमुक्षुजन हैं, मोक्षकी इच्छा करने वाले पुरुष हैं वे तो ऐसे सत जनोंको निरखकर विशेषतया प्रमुदित होते हैं। जिनका आचरण इतना उत्कृष्ट है कि लोगोंके चित्तमें एक चमत्कार उत्पन्न करने वाले उनके गुणोंमे प्रमोद होना प्रमोदभावना है। प्रत्येक मनुष्यको अन्तरगसे सदाचार और न्यायके प्रति अनुराग रहता है। जीवका स्वरूप है विशुद्ध ज्ञान और विशुद्ध पथकी रुचि होना। कर्मोदयवश न चल सके, लेकिन फिर भी ऋषि पुरुषोंके मनमे सदाचार और न्यायके प्रति आस्था रहती है। तो जो पुरुष ऐसे आचरणके अधिकारी हैं जो सामान्य जनोंसे भी न किया जा सके, पचमहाव्रत, पच समिति, तीन गुप्ति रूप आचरण और भी उत्कृष्ट ध्यान तपश्चरण ऐसे इन आचरणों को करने वाले पुरुषोंके गुणोंमे अनुराग होना सो प्रमोदभावना है। धर्मध्यानके प्रसगमें सर्वप्रथम उन चार भावनाओंको कहा जा रहा है जिनके भानेसे मनुष्य इस लोकमे आदर्शरूप होता ही है, किन्तु परलोकमे भी वह निष्कटकरूप विशुद्ध जीवन-यापन करता है।

क्रोधविद्धेषु सत्त्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ॥१२७२॥
देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्तिता ॥१२७३॥

अब माध्यस्थ भावना कह रहे हैं। जो पुरुष विपरीत वृत्ति वाले हैं- उनमे उपेक्षा भाव रखना सो माध्यस्थ भाव है। जो पुरुष क्रोधसे विद्ध हों, क्रोधी हों उनके प्रति न राग भाव रखना, क्योंकि क्रोधी पुरुषसे यदि अनुराग रखा तो क्रोधीके रागका भी फल अच्छा न होगा। वह क्रोधी पुरुष उस राग करने वाले पर भी झुझलाता है। जैसे जब कभी क्रोध आता है तो उस क्रोधमें बच्चेसे बडा प्रेम करने वाली मा भी उस बच्चेको पटक देती है, ऐसे ही क्रोधी पुरुषके द्वारा भी उससे राग करने वालेका अनर्थ हो जाता है। कोई लड़ रहा हो दूसरेसे और यह जानकर कि यह जो क्रोधी पुरुष है, लड़ रहा है, मार खा जायगा—इस प्रेमसे अगर कोई उसे बचाने पहुच जाय तो वह क्रोधी उसीसे झगडने लगता है। तो यह तो एक साधारण सी बात है, पर नीति यह कहती है कि जिसके क्रोध करनेका स्वभाव पड गया है ऐसे पुरुषसे राग करके भी लाभ नहीं और द्वेष करनेमे भी लाभ नहीं। वहाँ उपेक्षाभाव धारण करना चाहिए। जो पुरुष निर्दय और क्रूर कर्म करने वाले हैं उन पुरुषोंमे भी उपेक्षाभाव रखनेसे ही लाभ है। रागका प्रयोजन क्या, और

बड़े क्लेश ध्वस्त हो जाते हैं। क्लेशमात्र इतना ही है। सबके क्लेश हो रहे हैं किसी न किसी रूपमें। उन सब क्लेशोंमें यही बात पायी गयी है कि किसी पदार्थमे राग है तब यह क्लेश बना। जैसे तत्त्वज्ञान विशुद्ध दृढ़ हो जाय, किसी भी परपदार्थमें राग न रहे तो उसको क्लेश क्या ? समग्र परवस्तुवोंको पर जान लिया जाय तो फिर क्लेश किसका नाम है यहाँके वैभवको अपना मानो तो न रहेगा, न मानो तो न रहेगा। यदि सत्य बात समझमें आ जाय कि यह वैभव मेरेसे अत्यन्त भिन्न है, अहित रूप है तो फिर उसमें क्लेशकी क्या बात रही ? इष्टका वियोग होना, मनोवाञ्छित कार्योंकी सिद्धि न होना इनको ही लोग क्लेश की बात मानते हैं। ज्ञानी जीव ज्ञानीबलसे अपने आपको उनसे हटा लें और निज सहज ज्ञानस्वरूपमें उपयोग रमा लें तो फिर बतावो कि उस समय उसके क्लेश है क्या ? रागादिक भावोंका उत्पन्न होना यही महान क्लेश है। इन चार भावनाओंके प्रसादसे रागादिकके क्लेश समस्त ध्वस्त हो जाते हैं। ये चार भावनाएं लोगोंको आगे-आगे अग्रपथको दिखानेमे दीपिकाके समान हैं। जैसे कोई दीपक लेकर चले तो आगे-आगे पथ दिखता जाता है और तब चलने वाला नि शक होकर आगे बढ़ता चला जाता है। ऐसे ही जो मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ--इन चार भावनाओंको करता है और इन भावनाओंके अनुरूप अपनी प्रवृत्ति रखता है वह पुरुष क्लेशसे रहित है और ये भावनायें उसे आगे-आगे कल्याणपथ दिखाती जाती हैं। फिर यह पुरुष उस ही रास्तेमें प्रवृत्ति करता है ऐसे ही ये चार भावनायें आगे-आगे शान्तिके पथको दिखाती जाती हैं और आत्मा उनपर चलकर सदाके लिए सकटोंसे मुक्त हो जाता है। इन चार भावनाओंको तत्त्वज्ञानी पुरुष भाते हैं और अपने दुष्कृतोंका उच्छेद करते हैं।

एताभिरनिशं योगी क्रीडन्नत्यन्तनिर्भरम् ।
सुखमात्मोत्थमत्यक्षमिहैवास्कन्दति ध्रुवम् ॥१२७५॥

मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थक—इन चार भावनाओंसे यह योगी सातिशय आत्मासे उत्पन्न हुए शुद्ध सुखको प्राप्त करता है। विषय और कषायकी वासनामें तो जीवको अशान्ति होती है। कदाचित किसी भी विषयमे खाने-पीनेमें, सुगध लेनेमें, सुन्दर रूप देखनेमे, राग रागनी सुननेमे किस ही प्रकारके विषयको कभी यह जीव सुख भी मानता है, लोकमें सुख माननेकी दशामे भी अशान्ति ही वर्त रही है। जसे जिसका फोडा अच्छा हो जाय वह मलहम पट्टी क्यों करे ? जिसका ज्वर शान्त हो गया वह बहुतसी रजाई ओढकर पसीना क्यों लेगा ? इसी प्रकार जिसके विशुद्ध आनन्द है, शान्ति है वह विषयोंकी प्रवृत्ति क्यों करेगा ? विषयोंमें तब लगता है जीव जब कोई वेदना हो। खाता कब है मनुष्य जब क्षुधाकी वेदना होती है। तो खानेसे पहिले भी दु ख है कि नहीं। और खाते समय वहाँ भी अशान्ति है। अब क्या खा रहे हैं, अब क्या खायेंगे यों मनमें सोच रहे हैं, ये सब अशान्तिके लक्षण हैं। और फिर खानेके लिए लोग स्वय अनुभूति कर सकते हैं कि जिस समय बडी रुचिसे स्वादिष्ट भोजन खाते हैं तो फिर कहाँ अपने आत्माराम की सुध रहती कहाँके भगवान, कहाँका आत्मस्वरूप ? तो क्या ये शान्तिके लक्षण हैं ? तो विषयकषायोंमें जो प्रवृत्ति होती है वह अशान्तिसे होती है। तो विषयकषायकी वासनासे जीवको अशान्ति रहती है किन्तु ये चार भावनाएं जगें, सब जीवोंमें मित्रताका भाव हो, गुणी जनोंको देखकर हृदयमे अधिक हर्ष उत्पन्न हो, दु खी जीवोंको देखकर कारुण्य भाव जगे, उद्दण्ड, गुन्डा आदि मनुष्योंको देखकर माध्यस्थ भाव जगे, उनमें राग अथवा द्वेष न करें, इन भावनाओंका बडा प्रताप है, इसके प्रसादसे योगीजन शुद्ध आत्मीय आनन्दका अनुभव करते हैं। ससारके सब जीवोंमें से दो चार जीवोंको तो अपना सवस्व मान लें और गैरके सब जीवोंको 'ये न्यारे हैं' ऐसा गैर समझ लें, ऐसा अज्ञान इन सम्यग्दृष्टिजनोंमे नहीं बसा है। भले ही परिस्थितिवश करना यों पडता है कि घरके चार छ जीवोंकी फिकर रखनी होती है, उनकी सेवा शुश्रूषा में धनका व्यय भी किया जाता है, इतना सब होनेपर भी सम्यग्दृष्टि पुरुष इतना अनुदार नहीं है कि वह

इनके लिए ही अपना जीवन समझे। समस्त प्राणियोंका स्वरूप उसके निर्णयमें है और उस स्वरूपकी अपेक्षा सब जीव बराबर हैं। बने तो ऐसा हृदय कि सब जीव एक समान हैं, देखो इसमे अद्भुत शान्ति और आनन्द प्रकट होता कि नहीं। आखिर थोड़े समयका जीवन है, इन सबका वियोग अवश्य होगा। इनमे आसक्ति रखनेका आखिर परिणाम क्या होगा ? वियोगके समयमें अधीर होना पड़ेगा। कितने ही लोग तो अपना जीवन भी खो देते है ऐसे तो काम न चलेगा, आत्माका विशुद्ध आनन्द तब बनता है जब सब जीवों को अपने समान शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें समझ लें। यह तो बधनरहित होनेकी बात है कि अन्य किसी जीवमे मोह ममताका बन्धन न रहे। समस्त जीवोंसे मोह हटे, विकल्प हटे, केवल अपने आपके स्वरूपमें अपनी प्रतीति बनायें। यों देखो आनन्द कितना विलक्षण अनुपम होता है ? आत्मोद्धारकी बहुत कुछ चिन्तना करना चाहिए, अन्य सब बाहरी बातोंकी चिन्तना करनेसे लाभ क्या ? यहाँ की मोह ममता, ये सब चिन्तनाएं स्वप्नवत हैं। जसे स्वप्नमे मिलता कुछ नहीं ऐसे ही मोहकी नींदमें कोई तत्त्व नहीं मिलता। दुर्लभ जिन्दगी पाकर उसे यों ही पापोंमे गवा देना पड़ता है। तो उन सब संकटोके मिटानेका उपाय इस धर्मध्यानके प्रसंग मे कह रहे हैं कि मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ—ये चार प्रकारकी भावनाएं हैं। इनके प्रसादसे एक अद्भुत शान्ति और आनन्दकी जागृति होती है।

भावनास्वासु संलीनः करोत्यध्यात्मनिश्चयम्।
अवगम्य जगद्वृत्तं विषयेषु न मुह्यति ॥१२७६॥

इन चार भावनाओंमें लीन हुए योगी अपने अध्यात्मका निश्चय करते हैं। आत्माकी दृष्टि आत्मा के स्वभावपर रहे और यह अनुभव करते रहें कि मैं सबसे न्यारा ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। ऐसे महान पुरुषार्थका अवसर मिले, आत्मा सिवाय भावोंके और कुछ नहीं करता। पाप करे तो वहाँ भी भाव ही तो बनाया कि परद्रव्यका कुछ किया। इसी प्रकार धर्म करे तो वहाँ भी भाव ही बनाया। यह जीव परद्रव्योंका कुछ भी करनमे समर्थ नहीं है। तो जब यह जीव मात्र भाव ही बना सकता है तो खोटे भाव न बनाकर उत्तम भाव बनायें। सब जीवोंका स्वरूप अपने ही स्वरूपके समान समझना और ऐसे उस सामान्य चित्स्वरूपका ध्यान करना जिस ध्यानमें यह एक रस हो जाता। जगतके जीवोंको अपने ही स्वरूपके समान समझता। इस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूपकी भावनामें जो लीन होता है वही अध्यात्ममर्मका परिचयी बन सकता है। यही सारभूत है ऐसा ही करनेसे जीवका उद्धार है। ये दिखने वाले पदार्थ इन्द्रियके विषयभूत पदार्थ हैं क्या ? एक स्कध हैं। अनेक परमाणुवोंका मिलकर पिण्ड बनता है और देहरूपी पिण्ड तो ऐसा अपवित्र है कि जिसमें सारका कोई नाम नहीं है। ऐसा जो शरीरके प्रति भली भांति जानता है वह विषयोंमे मुग्ध नहीं होता। जिन जगतके जीवोंमे लोग कीर्ति चाहते हैं, मान चाहते हैं, यश चाहते हैं वे लोग हैं क्या चीज ? यहाँ वहाँसे अनेक गतियोंसे मरण करके आज इस भवमे आये हैं, कर्मोंके प्रेरे हैं, जन्म मरणका चक्कर लगा है, स्वय अशरण हैं, ऐसे इन अशरण पुरुषोंमे क्या मुग्ध होना ? जो ज्ञानी पुरुष हैं वे इन जीवोंमे मुग्ध नहीं होते। तो चार प्रकारकी भावनावोंका पालन करनेके लिए उपदेश किया गया है ऐसी भावना भावें कि हे नाथ! मेरा आत्मा सब जीवोंमें मित्रताको धारण करे। मेरा कोई विरोधी नहीं। मैं किसीका विरोधी नहीं। कोई भी मेरे प्रतिकूल चले, अन्याय करे, अपनेको न भी जचे तो भी स्वरूपको समझकर उसका कल्याण ही चाहें। उसके प्रति यदि अपना वर्ताव भला रख तो फिर उसका विरोधी कहाँ रहा ? किसी भी विरोधीका घात करके मिटानेसे समझना कि मेरा विरोध मिट गया तो यह भूलभरी बात है।

अपने ही स्वरूपके समान उनके स्वरूपका स्मरण रखकर उनमे मित्रता धारण करें। जो गुणी पुरुष हैं, सम्यग्दृष्टि हैं उनके सम्यक्त्वमे प्रमोद जगना, हर्ष मानना यह भी तत्त्वज्ञानी जीव कर पाते हैं। जिसे सम्यक्त्व जगा है वही दूसरे पुरुषोंके सम्यक्त्व गुणमे रुचि करेगा। जिसे सम्यग्ज्ञान जगा है वह पुरु

दूसरोंके ज्ञानगुणमें अनुराग करेगा। जिसे स्वयमे प्रेम है, व्रत, तप, नियमका जो पालन करता है, वह ही पुरुष दूसरोंके यम नियम आचरणको देखकर उनमे हर्ष मानेगा। हे प्रभो! मेरा आत्मा गुणी पुरुषोंको देखकर हर्षभावको धारण करे, ऐसे ही कोई क्षुधासे, तृषासे या ठड गर्मीसे अनेक प्रकारसे दुखी हो उनको देखकर चित्तमे दयाभाव हो जाना सो कारुण्य है। दया जब उत्पन्न होती है तो उससे रहा नहीं जाता उसका दुख दूर करनेका यत्न करता है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि शास्त्रमे लिखा है कि दुखियोको देखकर दयाका परिणाम कर लेंगे स्वर्ग मिल जायगा। यों दयाका परिणाम कोई मुहसे कहले तो उसमे दयाका परिणाम नहीं बन गया। जब दूसरेके दुःखको देखकर खुदका हृदय दुखी हो जाता तब उसमें दयाका भाव आता है, उस समय अपने दुखको शान्त करनेके लिए यह उपाय है कि उसका दुख दूर करलें। यों एक प्रसिद्ध उलहना है कि कोई बुढ़िया गोबरसे अपना घर लीप रही थी, उसे रूढिवश कुछ धर्मसे प्रेम था। तो वह यह कहती जाय कि चींटी चींटी चढ़ो पहाड़, तुमपर आयो गोबरकी धार। तुम न चढ़ो तो तुमपर पाप, हम न कहें तो हम पर पाप। तो यह दयाका कोई भाव नहीं है। तो ऐसी ही कोई जाप्ताकी कार्यवाही किसी दुखीको देखकर दयाका परिणाम कर लेना यह तो दयाका सच्चा भाव नहीं है। जैसे लोग धर्मका पाठ एक जाप्तेसे कर लेते है तो धर्म नहीं लगता। आत्मदृष्टि बने, ज्ञानस्वभावसे प्रेम जगे और इस ही ज्ञानमे लीन होनेकी उत्सुकता बने तो धर्मका पालन होता है। यों जाप्तेकी कार्यवाहीसे धर्मका लाभ नहीं मिलता। तो ऐसे ही दुखी जीवोंको देखकर हृदयमें करुणा जग जाय। जैसे शास्त्रमे लिखा है कि मनुष्योंको दान देनेमें पुण्य होता है और दान कोई कर रहा है उसका अनुमोदन करनेसे पुण्य होता है. तो दान दो तो उतना ही पुण्य और अनुमोदना करो तो वही पुण्य, इसलिए रोज अनुमोदना करते जावो तो यह कोई सही करुणा नहीं है। यद्यपि अनुमोदना करनेसे पुण्यका कुछ न कुछ लाभ होता ही है पर दान पुण्य स्वय कर सके तो उससे विशेष लाभ है। ऐसे ही दुखी जीवोंको देखकर मनमें दयाका भाव उत्पन्न करना उन्हीं पुरुषोंमें सम्भव है जो दूसरोंके दुखको मिटानेका यत्न करते हैं। हे प्रभो! मेरा आत्मा दुखी जीवोंको देखकर दयासे भर जाय, यों ही जो प्रतिकूल हैं, उद्दण्ड हैं ऐसे पुरुषोंमे उपेक्षाभाव धारण करें। इस प्रकार जो भावनामें लीन होते हैं, जगतकी वृत्तिको जानते हैं वे अपने आत्मामे अध्यात्म निश्चय करते हैं और विषयोंमे मुग्ध नहीं होते।

योगनिद्रा स्थिति धत्ते मोहनिद्रापसर्पति।
आसु सम्यक् प्रणीतासु स्यान्मुनेस्तत्त्वनिश्चयः ॥१२७७॥

इन भावनाओंको जो भली प्रकार भाते हैं, अभ्यास करते हैं उन मनुष्योंके मोहनिद्रा तो नष्ट होती है और योगनिद्रा प्रकट होती है। जैसे मोहनिद्रामें किसी अन्यका भान नहीं रहता, जिस धुनका मोह हुआ केवल वह भानमे रहता है इसी प्रकार ध्याननिद्रामे किसी भी परतत्त्वका ध्यान नहीं रहता। केवल एक विशुद्ध ज्ञानका अनुभव करने रूप आनन्द ही लूटा जाता है। तो इन भावनाओंका फल बता रहे हैं कि मोह रहता नहीं और योगनिद्रा प्रकट होती है और इसी कारण उनके तत्त्वका यथार्थ निश्चय होता है।

आभिर्यदानिशं विश्वं भावयत्यखिलं वशी।
तदौदासीन्यमापन्नश्चरत्यत्रैव मुक्तवत् ॥१२७८॥

जिस समय मुनि इन भावनाओंमे लीन होकर समस्त जगतको भाता है उस समय जिसका जैसा स्वरूप है उस स्वरूपमें लीन होकर इस लोकमें ही मुक्तिके समान वृत्ति रखता है अर्थात् सबसे हटा हुआ बना रहता है। देखिये किसीका कोई दूसरा साथी नहीं है। खुद ही खुदका रक्षक है। यहा थोड़ेसे जीवन में परजीवोंके प्रति, वैभव आदिकके प्रति आसक्त हो गए तो उससे लाभ क्या होगा? उन सबसे हटे रहनेमें और अपने स्वरूपकी ओर ही लगनेमे आत्माको शान्ति प्राप्त होती है, सदाके लिए ससारके सकट कट सकते हैं। यह एक निर्णीत तत्त्व है। विषय कषायोंसे लाभ होता है इस बातको तिलाञ्जलि दे दें। केवल आत्म-

दर्शनसे आत्मरमण से आत्मपरिचयसे ही कल्याणकी प्राप्ति होती है।

रागादिवागुराजालं निकृत्यचिन्त्यविक्रमः।
स्थानमाश्रयते धन्यो विविक्तं ध्यानसिद्धये ॥१२७९॥

तत्त्वज्ञानी योगी रागादिककी फासीके जालको काट कर ध्यानकी सिद्धिके लिए विवक्त स्थानका आश्रय करते है। विविक्त स्थान वह है जहा लौकिक परिचयके लोगोंका सग न रहे। ऐसे विविक्त एकान्त स्थानमे रहते हैं और उस ही स्थानमे निवास करते हैं, ऐसे स्थानका आश्रय तभी किया जा सकता है जब रागादिक की फासीको टाल दिया जाय। अब ध्यानके इस प्रायोगिक प्रकरणमे सर्वप्रथम स्थानोंका वर्णन किया जा रहा है कि ध्यानकी सिद्धिके लिए कौनसे स्थान उत्तम हैं और कौनसें स्थान निषिद्ध है? उन स्थानों का ध्यानार्थी पुरुष क्यों आश्रय करते है कि विविक्त स्थानमे रागके आश्रयभूत परपदार्थ न मिलेंगे। जब रागादिकी उत्पत्ति न हो तो आत्माका ध्यान बनता है। इस आत्मध्यानमे करना क्या है कि ज्ञानमें ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप लिए रहना है। मैं ज्ञानमात्र हूँ— ऐसा ज्ञान निरन्तर बनाये रहना इसीका नाम ध्यान है।

कानिचित्तत्र शस्यन्ते दूष्यन्ते कानिचित्पुनः।
ध्यानाध्ययनसिद्धचर्थं स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥१२८०॥

ध्यानकी और शास्त्र अध्ययनकी सिद्धिके लिए आचार्योंने अनेक स्थान तो सराहे हैं और अनेक स्थान दूषित बताये हैं। कोई स्थान ऐसे हैं जहां ध्यानकी सिद्धि बनती है और कोई ऐसे दोषयुक्त स्थान हैं कि जहां ध्यानकी सिद्धि नहीं बनती है। आत्मा है ज्ञानमात्र और धर्म पाया जा सकता है ज्ञानसे ही और ज्ञानके ये दो साधन हैं—ध्यान और अध्ययन। ध्यानमें भी ज्ञानकी ही विशुद्धि है और आन्तरिक वृद्धि है और अध्ययनमे ज्ञानकी प्रगतिरूप वृद्धि है? तो ध्यान और अध्ययनकी सिद्धिके लिए कौनसे स्थान उत्तम है और कौनसे स्थान खोटे हैं। इसका वर्णन किया जायगा। तो मुनिजनोंने कुछ स्थान योग्य बताये और कुछ स्थान अयोग्य बताये। इसका कारण क्या है उसे इस श्लोकमे कहते हैं।

विकीर्यते मनः सद्यः स्थानदोषेण देहिनाम्।
तदेव स्वस्थतां धत्ते स्थानमासाद्य बन्धुरम् ॥१२८१॥

अगर सदोष स्थान मिले तो प्राणियोंका मन शीघ्र विकारको प्राप्त हो जाता है। जिसका मन विकार न चाहे वह विकारकी अवस्थामें क्यों रहेगा और जो रहता है विकारके वातावरणमें, सदोष स्थानमे तो समझना चाहिए कि इसके चित्तमे खुद भी दोषका लगाव है। तो पुरुषोंका मन सदोष स्थानमें रहकर शीघ्र विकारको प्राप्त हो जाता है और उत्तम स्थानको प्राप्त करके मन स्वस्थताको धारण कर लेता है। स्वस्थ होना अभीष्ट है। सर्वप्रथम दूषित स्थानोंका उपदेश है कि ध्यानकी अध्ययनकी सिद्धि करने वाले पुरुषोंको ऐसे स्थानमें रहना चाहिए।

म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम्।
पाषण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम् ॥१२८१॥
कौलकापालिकावासं रुद्रक्षुद्रादिसन्दिरम्।
उद्भ्रान्तभूतवेतालं चण्डिकाभवनाजिरम् ॥१२८२॥
पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम्।
क्रूरकर्माभिचाराढ्यं कुशास्त्राभ्यासवञ्चितम् ॥१२८३॥

क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम् ।
मिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम् ॥१२८५॥
द्यूतकारसुरापानविटवन्दिव्रजान्वितम् ।
पापिसत्त्वसमाक्रान्तं नास्तिकासारसेवितम् ॥१२८६॥
क्रव्यादकामुकाकीर्णं व्याधविध्वस्तश्वापदम् ।
शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीवजनाश्रितम् ॥१२८७॥
प्रतिपक्षशिरःशूले प्रत्यनीकावलम्बितम् ।
आत्रेयीखण्डितव्यङ्गसंसृतं च परित्यजेत् ॥१२८८॥

जिस स्थानमे म्लेच्छ अधम जन रहा करते हैं ऐसे स्थानमे ध्यानार्थी पुरुष नहीं रहते, क्योंकि वहाँ ध्यानके योग्य वातावरण नहीं है। जो दुष्ट राजासे पाला गया स्थान हो वह स्थान ध्यानार्थीके योग्य नहीं है, क्योंकि दुष्ट राजाके कारण कुछ बात न हो तब भी विचित्र उपसर्ग आ सकते हैं। हाँ उपसर्ग यदि आ जायें तो उनको समतासे सहा जाता है पर जानबूझकर ऐसे उपसर्ग वाले स्थानमें धर्मध्यानकी सिद्धि नहीं होती है। अतः धर्मार्थीको ऐसे स्थानमें रहना योग्य नहीं है। जो स्थान पाखण्डी साधुवोंके समूहसे आक्रान्त हो, वह स्थान भी ध्यानके योग्य नहीं है। जिसके ज्ञान नहीं, वैराग्य नहीं और ऐसे ही किसी प्रयोजनसे भेष धारण कर लिया है, जो प्रकट भी कुमत हैं और अन्तरङ्गमें भी विरक्त नहीं हैं ऐसे पाखण्डियोंके समूहसे भरा हुआ जो स्थान है वह ध्यानके योग्य नहीं है, क्योंकि उनकी चर्या और भांतिकी है और धर्मार्थीकी चर्या है और प्रकारकी, इस कारण ध्यानार्थी पुरुष पाखण्डी साधु जनोंके बीचमें नहीं रह सकते, अतएव पाखण्डियोंके समूहसे भरा हुआ स्थान ध्यानके योग्य नहीं कहा गया है। और जो स्थान महामिथ्यात्वसे वासित हो, जहाँ मिथ्यात्वका सचार हो, प्रचार हो ऐसे स्थान भी ध्यानके योग्य नहीं बताये गए। चाहे वह जैन स्थान भी हो, जिन मंदिरकी भी जगह हो लेकिन जहाँ लोग अपने स्वार्थके लिए, विषयसाधनोंके लिए जाया करते हों, बोली बोलकर मुकदमेकी जीत हो, मेरे धन अधिक बढ़े आदि, ऐसे स्थानमे भी ध्यानार्थीका ध्यान नहीं बनता। चाहे वह जैन मंदिरके नामसे भी हो लेकिन जहाँ आवागमन केवल विषयवासनाके साधनोंके लिए ही होता हो वह स्थान भी मिथ्या मार्गसे वासित है, और मिथ्यामार्गसे वासित स्थानमें ध्यानार्थीको ध्यानकी सिद्धि नहीं हो पाती। अतः ध्यानार्थीको ऐसे स्थानमें रहना योग्य नहीं है। इसी प्रकार जहाँ मौलिक आपालिक रहा करता हो, कुलदेवता अथवा योगिनियोंका जो स्थान हो वह भी ध्यानके योग्य नहीं है। कुलदेवता उसे कहते हैं जिसके कुलमें किसी व्याह सस्कार आदि कामके लिए जिस देवताकी मान्यता बना रखी हो वह कुल देवता कहलाता है। जैसे भिन्न-भिन्न लोगोंके भिन्न-भिन्न स्थान ऐसे निश्चित हैं कि विवाह शादी आदिक प्रसगोंमें मीठा, पत्तल आदिक चढाने जाते हैं। वे सारे कुलदेवता हैं। ऐसे कुलदेवताका स्थान ध्यानार्थीकी ध्यानसाधनाके लिए योग्य नहीं है। इसी प्रकार जो चण्डिकाका, मण्डिकाका चौक हो जहाँ पशु बध करके मनौती मनायी जाती हो ऐसा स्थान भी ध्यानार्थीके ध्यानके योग्य नहीं है। जिस स्थान पर वेश्याएं रह रही हों, जहाँ उनका आवागमन हो वह स्थान भी ध्यानार्थीके ध्यानके योग्य नहीं कहा गया है। जो छुटपुट देवताओंके मंदिर हैं, जहाँ वीतरागताका कोई पता नहीं मिलता, जिसकी मुद्रा भी राग और द्वेषका संकेत करने वाली है ऐसा स्थान भी ध्यानार्थी पुरुषोंके ध्यानके योग्य नहीं कहा गया। जहाँ किसी प्रकारका गृहीत मिथ्यात्वका बसा हुआ है, जहाँ गृहीत मिथ्यात्वका पोषण होता है वह स्थान भी ध्यानार्थीके ध्यानके योग्य नहीं है।

जहाँ वीतरागका पता मिले वह ही स्थान ध्यानके योग्य है। चाहे वह वीतराग प्रभुका मंदिर हो,

चाहे वह जगल हो, कोईसा भी स्थान हो, जहाँ वीतरागताका शिक्षण मिले, रागका शिक्षण न हो ऐसा स्थान ही ध्यानके योग्य कहा गया है। जो स्थान निश्चरित्रोंका घर हो वह घर भी ध्यानार्थीके ध्यान करने योग्य नहीं है, जहाँ चारित्रहीन पुरुषोंका निवास हो वह स्थान भी ध्यान करने योग्य नहीं है क्योंकि वहाँ की चर्चा, वहाँ का वातावरण कुछ और ही तरहका है। ध्यान करना है इस अद्भुत ज्ञानस्वरूप आत्मामें। यह ज्ञान समा जाय, कोई विकल्प न रहे और एक ज्ञानप्रकाशके अनुभवका ही आनन्द लेते रहें ऐसा चाहिए ध्यान ध्यानार्थीको. पर ऐसा ध्यान वहाँ बनेगा जहाँ सयमशील पुरुष रहते हैं, जहाँ मंद चारित्र वाले पुरुष रहते हैं ऐसे स्थानमें ध्यानकी सिद्धि नहीं बनती। ध्यानकी सिद्धि करना है अपने आपमे, अर्थात् मैं सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसी भावनामें अन्तरलीन होना है। उस ध्यानकी सिद्धि वहाँ नहीं होती जहाँ चारित्र-हीन लोग रहते हैं और चारित्रग्राह्यताकी चर्या बनती है ऐसा स्थान जहाँ क्रूर कर्म करने वालोंका व्यवहार चलता हो वह स्थान भी ध्यानके योग्य नहीं कहा गया। जहाँ रौद्र आशय है, जहाँ हिंसा विषय आदिक प्रवर्तन जहाँ हैं ऐसे पुरुषोंका जहाँ निवास है, वह स्थान भी ध्यानके योग्य नहीं कहा है। जहाँ खोटे शास्त्रों का अध्ययन चलता है, खोटे शास्त्रोंके अध्ययनसे ठगाई चलती है वह स्थान भी ध्यानार्थीके योग्य नहीं है। जहाँ पापोंकी शिक्षा दी जाय, रागद्वेष वढनेका शिक्षण दिया जाय वह स्थान धर्मार्थीके योग्य नहीं है। जगत में कोई भी पदार्थ इस आत्माकी प्राप्ति करनेके योग्य नहीं है। सभी पदार्थ भिन्न हैं, आत्मासे पृथक हैं, अस्पष्टभूत हैं, हितका उनमें नाम नहीं है प्रत्युत हानि ही हानि है। तो ऐसा स्थान जहां घर खोटी वातका शिक्षण हो, परिग्रहके जुटानेकी वात कही जाय, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदिकमे लगानेकी वात कही जाय, अथवा धर्मका रूप देकर खोटे पापोंमे लगानेकी प्रेरणा दी जाय ऐसा स्थान ध्यानार्थीके योग्य नहीं है।

देखिये आत्माका हित है मुक्तिमे, और मुक्ति मिलती है तब जब पहिले यह श्रद्धामे बसा हो कि मैं स्वभावत उन समस्त परआपदावोंसे छूटा हुआ ही हूँ, अपने मुक्त स्वरूपकी श्रद्धा न हो तो मुक्तिके मार्गमे लग नहीं सकता। जो मुक्तिका स्वरूप है ऐसा मैं यह हो सकता हूँ क्योंकि ऐसा ही मेरा स्वरूप है, स्वभाव है। मैं अपने ही स्वरूपमे तन्मय हूँ समस्त परपदार्थोंसे न्यारा हूँ ऐसी बात पहिले समझमे न आये, जब मुक्त स्वरूप अपनेको विदित न हो तो मुक्तिके मार्गमे लगा नहीं जा सकता। मैं परमात्मा हूँ, योग्य हूँ ऐसा अपनेको विश्वास न हो तो बनेगा क्या ? तो जहाँ पापोंमे लगनेकी बात न कही जाती हो, रागद्वेष मोहसे हटानेका निवास हो वह ही स्थान ध्यानके योग्य कहा गया है। जो स्थान किसी अहकारयुक्त पुरुषके आध-कारके पोषणसे पूरित हो वह स्थान भी धर्मार्थीके योग्य नहीं है। किसीकी जिम्मदारी है, किसीके कुलका प्रताप है, और किसीको उत्तम जाति मिली है, किसीको इज्जत पोजीशन बडा मिला है, उन सब बातोंके कारण जिसके ऐसा गर्व बढ गया, जिस स्थानमें अपनी शक्तिका दवाव करता है लोगोंको अपना वल दिखाता है, ऐसे घमडीके वातावरण वाला स्थान ध्यानार्थीके योग्य नहीं है। जहाँ पर अनेक शील रहित पुरुषोंसे मिल-कर कोई अपनी अचिन्त्य महिमाका प्रभाव बना रखे हो, ढोंग किए हुए हो वह ध्यान भी ध्यानार्थीके योग्य नहीं है। ध्यानार्थी तो उस स्थानमे जाना चाहेगा जहाँ किसी भी प्रकारसे अपने आपको विकल्पोमे लगाने का भाव नहीं वनाता। ध्यानार्थीको तो अचिन्त्य वीतरागताके वातावरण वाला स्थान चाहिए निवासके लिए। जिस स्थानमें जुवा खेलने वाले, मदिरापान करने वाले अथवा खोटे कार्य करने वाले लोग रह रहे हों वह स्थान ध्यानके योग्य नहीं है। जो पुरुष स्वय विषयकषायोंसे जुदे रहकर एकान्तमें निवास करते हैं उनके सगमें उसी स्थानमे रहना ध्यानार्थीको योग्य है। जो पुरुष स्वय रागद्वेषसे मलिन है उनके सगमे रहना योग्य नहीं है। जहाँ नास्तिक लोगोंका निवास हो, जिनको आत्मा परमात्मा आदिमें श्रद्धा नहीं है जो जन्म मरणको नहीं मानते ऐसे पुरुषोंके बीच निवास करना योग्य नहीं है। जैसे कोई स्वस्थ पुरुष ही है और लोग आ आकर उससे यों ही कहें कि आप बड़े दुर्वल हो गये, आपका शरीर अव कुछ नहीं रहा, आप उदास हैं, आप कुछ पीलेसे पड गये हैं, लगता है कि आपके कोई रोग है, ऐसी ही बातें कोई स्वस्थ-पुरुष जब कई

पुरुषोंके द्वारा सुनता है तो वह अपने आपको वैसा ही अनुभव कर लेता और वह वैसा ही रोगी बन जाता है, ऐसे ही नास्तिक पुरुषोंके बीचमे रहने वाला व्यक्ति भी वैसा ही अपनेको अनुभव करके वैसा ही बन जाता है। तो नास्तिक पुरुषोंका जहाँ निवास हो उस स्थानमे ध्यानार्थीको रहना योग्य नहीं है। ध्यानार्थीको तो श्रद्धा और चारित्र बढ़ाने वाली बात ही चाहिए। श्रद्धा और चारित्र ये दो गुण ऐसे पवित्र हैं कि जिनके विकासके द्वारा समस्त सकटोंका विनाश होता है। अत ध्यानार्थी पुरुषको उत्तम स्थानमे ध्यान करना चाहिए।

ध्यानार्थी पुरुषको किस स्थानसे दूर रहना चाहिए ? उसका यह वर्णन चल रहा है। जहां शिकारी लोग रहते हों, शिकारियोंका आवागमन हो, शिकारियोंने जहाँ जीववध किया हो वह स्थान ध्यानके साधक पुरुषोंको योग्य नहीं है। जहाँ कारीगर मोची आदिकका स्थान हो, वे जहाँ रह गए हों, जहाँ लोहार ठठेर आदिक रहते हों वह स्थान ध्यान साधनाके योग्य नहीं है क्योंकि ऐसी स्थितियोंमें शोरगुल और अशुद्ध वातावरण रहता है। जहाँ सेना हो, समृद्धि हो अथवा शत्रुकी सेनाका स्थान हो, भ्रष्ट चारित्र वाले विरूप-जन जहाँ रहते हों वह स्थान भी ध्यान करने वालोंके योग्य नहीं है।

विद्रवन्ति जनाः पापाः सञ्चरन्त्यभिसारिकाः ।
क्षोभयन्तीङ्गिताकारैर्यत्र नार्योपशङ्किताः ॥१२८९॥

जहाँ पापीजन उपद्रव करते हों, जहाँ अभिसारिका स्त्री विचरती हों, जहाँ स्त्री निशक होकर अपने कटाक्षभावसे क्षोभ उत्पन्न करती हों ऐसा स्थान ज्ञानी मुनिके बसने योग्य नहीं है। पापी लोग, गुंडा, उद्दण्ड पुरुष जहाँ उपद्रव किया करते हों, जहाँ व्यभिचारिणी स्त्री बाजार करती हों, वह स्थान ध्यान साधक पुरुषोंके योग्य नहीं है, क्योंकि उन स्थानोंमे उपद्रवकी शका और व्यर्थका ऊधम वादविवादकी सम्भावना रहती है और जहां वेश्यायें विचरती हैं वहाँ कामविकार आदिकके अशुद्ध वातावरण रहते हैं इस कारण ऐसा अयोग्य स्थान ध्यानके योग्य नहीं है। जहां अंगहीन भिखारी आदिक रहते हों वह भी स्थान योग्य नहीं है। और जहा शत्रुका आवागमन विशेष हो, जो अपनी सेवा आदिकसे क्षोभ उत्पन्न करता हो वह स्थान ध्यान सिद्धिके योग्य नहीं है।

किं च क्षोभाय मोहाय यद्विकाराय जायते ।
स्थान तदपि मोक्तव्यं ध्यानविध्वंसशंकितैः ॥१२९०॥

जो मुनि ध्यानविध्वंसके भयसे भयभीत हैं उनको क्षोभकारक तथा विकार करने वाला स्थान भी छोड देना चाहिए। जिन स्थानोंमें शोरगुलसे या वध आदिक क्रियावोंसे या जुवा आदिक खेले जाते हों, जहा लडने-भिडनेवाले पशुवोंका आवागमन हो अथवा पशु पक्षियोंका झुंड रहता हो वे सब क्षोभ करने स्थान हैं। इसी प्रकार जो मोह उत्पन्न करे, जहां अविसारिकाका निवास हो, उनका आवागमन हो वह स्थान एक सम्मोहको उत्पन्न करता है। जहां अनेक तरहके विकारोंका योग जुड़ता हो वह भी स्थान योग्य नहीं है।

तृणकण्टकवल्मीकविषमोपलकर्दमैः ।
भस्मोच्छिष्टास्थिरक्ताद्यैर्दूषितां संत्यजेद्भुवम् ॥१२९१॥

ऐसी भी जगह जहां त्रण वहत रहते हों, त्रणके नीचे कोई कीड़े भी रह सकते हैं उस पर आवा-गमन करनेसे उनकी हिंसा है, अथवा उन त्रणोंके नीचेके स्थानमें विषैले सर्प पक्षी आदिक भी रहते हैं, वह प्रासुप स्थान नहीं है, विषैले जानवरोंका स्थान है ऐसी जगह रहनेसे क्षोभका अवसर न आ सके, अतएव जहा त्रणका स्थान हो वह ध्यानके योग्य नहीं है। जहां कटक बहुत रहते हों, वैठनेमें भी कटक चुभा करते हैं, चलने फिरनेमें भी काटे चुभते हैं वह थान भी ध्यानीके योग्य नहीं है। ध्यानमें आनेपर फिर उपद्रव

उपसर्ग आयें तो उन पर विजय करें, सहनशील बनें, पर पहिलेसे ही जानबूझकर ऐसे स्थानमें रहना योग्य नहीं है। जहां बामियां रहती हैं जिनमें सर्पोंका निवास होता है ऐसा स्थान भी ध्यानीके योग्य नहीं है, क्योंकि मन है उसमें शल्य और शंका रह सकती है। नि:शकतासे वहां ध्यान नहीं बन पाता। स्थान होना चाहिए साफ-सुथरा, कुछ ऊंचा, कुछ अच्छी कडी जगहका और जहां अधम पुरुष न रहते हों, पापी जनोंका निवास न हो ऐसा विशुद्ध स्थान ध्यानी पुरुषोंके ध्यानके योग्य है, इसके विपरीत जिस स्थानमें भय हो, शंका हो, मोह उत्पन्न हो, विकार हो वह स्थान ध्यानके योग्य नहीं है। जहां ऊंचा-नीचा अधिक स्थान हो, ऊबड-खाबड हो, कीचड हो, भस्म राख हो, जहां जूठा भोजन डाला जाय, कूडा करकट डाला जाय ऐसा स्थान भी ध्यानीके योग्य नहीं है, जिस स्थानमें रहकर मन भी प्रसन्न न हो सके उस स्थानमें चित्तकी एकाग्रता क्या बनेगी, क्षोभ ही रहेगा, अतएव ऐसा क्षोभकारक स्थान ध्यानीके योग्य नहीं कहा गया है। ऐसे ही जहां हाड, खून, मांस आदिक निन्द्य वस्तुयें हों उस दूषित स्थान को ध्यान करने वाला छोड़ दे। कषायीखाना पास बस रहा हो, जहां दुर्गन्ध फैल रही हो, हाड, खून, मांस भी जगह-जगह पाये जाते हों, गिद्ध आदिक पक्षी जहां हड्डी-मांस आदिक चूंटनेके लिए उड रहे हों वह स्थान ध्यानीके योग्य नहीं है। ध्यानसाधना करना है एक आत्माका। आत्मविशुद्धि उस ज्ञानीके होती है जिसका उपयोग आत्माके विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपको ग्रहण करता है और ऐसा उपयोग बनानेके लिए स्थान वह हो सकता है जहां वीतरागताका कोई आदर्श हो अथवा वीतरागतामें बाधा देने वाले बाह्य पदार्थ न हों। ऐसा स्थान जिसमें मोह विकार, ग्लानि, घृणा, शंका, भय, उत्पन्न हों वह स्थान ध्यानी साधु पुरुषोंके योग्य नहीं है।

काककौशिकमार्जारखरगोमायुमण्डलैः ।
अवघुष्टं हि विघ्नाय ध्यातुकामस्य योगिनः ॥१२६२॥

जिस स्थानमे कौवा, उल्लू आदिक रहते हों, जिनकी आवाज, जिनका स्वरूप विडरूप है वह स्थान भी ध्यानसाधनाके योग्य नहीं है। भले ही किसी योग्य स्थानपर ये पक्षी आ जायें तो इससे कहीं वह छोड देनेकी बात नहीं है, पर जिन पेडोंपर, जिन खडहरोंमें कौवा उल्लू आदिक बसते हों, वह स्थान उनके शब्दोंके आवागमनसे क्षुब्ध रहता है वह स्थान ध्यानके योग्य नहीं है, और बिलाव, गधे, कुत्ते स्याल आदिक जहां बोला करते हैं वह स्थान भी ध्यानीके योग्य नहीं है। प्रथम तो ये सब जानवर हिंसक हैं, इनका आवागमन सुनकर इनकी हिंसापर ध्यान पहुच जाता है और फिर इनकी आवाज चूंकि हिंसक जानवर हैं सो उस आवाजको सुनते ही बुरी मालूम होती है और फिर शब्दोंमें क्षोभ है अतएव जहा कुत्ता, बिल्ली, स्याल आदिक हों, वे जहाँ बोला करते हों वह स्थान ध्यानसिद्धिका कारण नहीं बन पाता। जो योगी मुनि ध्यान करनेकी इच्छा करते हों उन्हें चाहिए कि इन हिंसक पशुपक्षियों और जो खोटे शब्द बोलने वाले हैं उनके रहनेके स्थानको छोड़ दें।

ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यपि भूतले ।
न हि स्वप्नेऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥१२६३॥

जो जो पूर्वोक्त स्थान कहे उसी प्रकार अन्य स्थान भी जो ध्यानके विघ्नकारक हों वे सभी स्थान ध्यानसाधक मुनिराजको छोड देने चाहिएं। जिस समय आत्माके स्वरूपका ध्यान बनता है तो चूंकि समस्त विकल्प उसके टूट जाते हैं उस निर्विकल्प वातावरणमे जो आनन्द उत्पन्न होता है वह आनन्द तीन लोकके वैभवको भोगनेपर भी नहीं हो सकता। उस ही आनन्दमे यह सामर्थ्य है कि भव भवके बाधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाया करते हैं। ऐसे उत्कृष्ट सारभूत आत्माकी सिद्धि करने वाले पुरुषोंका कितना त्याग-भाव होना चाहिए, कितनी उदारता होनी चाहिए उसका अदाज कर लीजिए कि जब लौकिक असारभूत वैभव

के लिए यह मनुष्य सर्वस्व बलि करना चाहता है तो फिर जो लोकोत्तम है जिससे संसारके सर्व संकट दूर हो जाते हैं ऐसा ध्यान करनेके लिए सब कुछ त्याग देना चाहिए। उसमे योग्य स्थान भी आ गए। धर्मध्यानी पुरुषको ऐसे ऐसे सब स्थान जो मोह बढायें क्षोभ करें वे सब त्याग देने चाहिए। जिसमें जिसके लिए लगन होती है वह उसकी साधनाके लिए सवस्व समर्पण करनेको तैयार रहा करता है। जब तक आत्म कल्याणकी धुन नहीं बनती तब तक आत्म-उद्धारके लिए बाह्य वैभवोंका परित्याग नहीं कर सकते, आराम और विश्रामको छोड़ नहीं सकते। तो ये विशुद्ध ध्यानके इच्छुक योगी संत ऐसे दूषित स्थानोंका परित्याग कर देते हैं। ध्यानसाधना चाहिए ना तो सबसे पहिले मन प्रसन्न हो तब तो मनकी एकान्तता बने। मन प्रसन्न होनेका साधन है ज्ञानतत्त्व, वैराग्य। जिसका चित्त वैराग्यमे वासित है, तत्त्वज्ञानमे अनुरक्त है वह पुरुष अपने मनको प्रसन्न रख सकता है और व्यवहारमें संयमकी आवश्यकता है, ऐसे विशुद्ध वातावरणकी जहा मन प्रसन्न रह सकता है, फिर मनकी एकान्तता बने, आत्माका ध्यान करे ऐसे स्थानोंमे रहकर ध्यानकी सिद्धि होती है। क्षोभकारी स्थानोंमे ध्यानकी सिद्धि नहीं है, इस प्रकार यह प्रकरण समाप्त हुआ।

ज्ञानार्णवप्रवचन पञ्चदशभाग

(प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी)

अब ध्यानके योग्य स्थानोंको कहकर आसनका विधान करते हैं। ध्यानार्थी पुरुषको कैसे आसन में स्थिरता होनी चाहिए जिससे ध्यानकी सिद्धि बने। आसन बतानेसे पहिले उन स्थानोंका वर्णन करते हैं जो स्थान ध्यानसाधनाके योग्य हैं। किस जगह बैठकर ध्यान जमायें ? वे स्थान कौन-कौन हो सकते हैं उसे कुछ श्लोकोंमें कहेंगे।

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥१२६४॥

जो सिद्धक्षेत्र है, जिस स्थानसे अनेक महापुरुष अष्टकर्मोंको नष्ट करके सिद्ध परमात्मा हुए हैं ऐसे स्थानमें आसन मारकर ध्यान करने वाला पुरुष, अतस्तत्त्वका उपयोग रखने वाला पुरुष एक विलक्षण विशुद्ध आनन्द आनन्दको प्राप्त होता है, जिस स्थानपर रहकर चित्तमें उन साधुसंतोंकी महिमा बसी रहती है उन्होंने जिस उपायसे शान्ति प्राप्त की, कर्मोंसे मुक्ति प्राप्त की वह उपाय इसके चित्तमे बसा करता है जिससे हृदय विशुद्ध रहता है और विशुद्ध हृदयमें आत्मतत्त्वकी बात समाई जाती है। अतएव सिद्धक्षेत्र जिस स्थान से साधु संतोंने तपश्चरण करके परमात्मपद प्राप्त किया है ऐसे स्थानमें ध्यानकी सिद्धि होती है। जिस स्थान में बड़े-बड़े तीर्थंकर रहते हैं योगी सतपुरुषोंने जहा निवास किया है ऐसा महातीर्थंकरोंका स्थान ध्यानकी सिद्धिके योग्य है। उन स्थानोंमें रहकर चित्तमें यह ख्याल बना रह सकता है कि यहा ऐसे-ऐसे महापुरुष हुए, यहा यह भगवान हुए थे, यहाँ इन महापुरुषोंका, तीर्थंकरोंका और और भी बलभद्र आदिक महान सतजनोंका निवास रहा है उनका ख्याल चित्तमे रहेगा तो चित शुद्ध होगा। उस चित्तमें फिर आत्मध्यानकी सिद्धि होती है। जो पुराण पुरुषोंके द्वारा आश्रित है, जहा आदर्श पुरुष रहा करते हैं उन स्थानोंमे रहनेसे भी चित्तकी विशुद्धि जगती है, ध्यानकी सिद्धि होती है। जहाँ तीर्थंकरोंके कल्याणक हुए गर्भकल्याण, तपकल्याणक, दीक्षाकल्याक मोक्षकल्याण आदि ऐसे स्थानोंमें ध्यानकी सिद्धि होती है। तो ध्यानार्थी पुरुषोंको ऐसे पुराणरूप पवित्र स्थानोंमे अपने आसनको जमाना चाहिए। उस आसनकी बात कुछ श्लोकोंके बाद आगे बतावेंगे। अभी तो ध्यान योग्य स्थानोंको बताया जा रहा है और कौन-कौनसे स्थान हैं, जो ध्यानके योग्य हैं जिनका ध्यान करना चाहिए ?

सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्गान्तरेऽथवा।
पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसङ्कटे ॥१२६५॥

समुद्रके तट पर ध्यान किया जा सकता है क्योंकि वहां जलाशय बडी गम्भीर स्थितिमें रहता है और गम्भीर जलाशयके समीप रहनेसे गम्भीर आशयकी सिद्धि वाले पुरुष गम्भीरताका शिक्षण लेते है और चूंकि ऐसे उस विशाल गम्भीर जलाशयके निकट रहनेसे चित्त बड़े विशाल भावोंको लेकर रहता है तो वहां रागद्वेष वैर ईर्ष्या आदिक विकल्पोंका अवकाश नहीं रहता, वह ध्यानकी सिद्धिका स्थान है। यों ही वनके निकटका स्थान भी ध्यानसिद्धिके योग्य है। वहाँ एकान्त स्थान है, लोगोंका आवागमन नहीं है, रागद्वेषके साधन वहां नहीं हैं अतएव वनके बीच भी, वनके निकट भी ध्यानके योग्य स्थान है। जो पर्वतोंकी गुफायें हैं, प्रासुप स्थान है, गिरिकंदरा आदिक भी ध्यानके योग्य स्थान माने गए हैं। जिसे आत्माके स्वरूपकी धुन बनी है वह बाहरमे शरीरका कोई विश्राम नहीं चाहता। उसके तो ऐसे स्थानमें ही मन रहता है जो स्थान रागद्वेषकी बाधावोंसे दूर रखता हो। तो ऐसा यह स्थान जहा निजनता है, पक्ष नहीं, रागद्वेषके साधन नहीं वह स्थान ध्यानके लिए आसन जमाने योग्य है। अथवा नदियोंके किनारेपर, पुलके आस-पास कमल वनोंके निकट, नदियोंके किनारे, साल वृक्षोके समूहमें, बड़े-बड़े दुर्ग, किला प्राकारके निकट ध्यानके योग्य स्थान होते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्माका उद्धार आत्माके स्वरूपके ध्यानसे ही सम्भव है, अन्य कोई वैभव परिग्रहका सचय कर लेना आत्म उद्धारका उपाय नहीं है तो ऐसे आत्माके ध्यानकी सिद्धि उन्हीं स्थानोंमे सम्भव है जिन स्थानोमें रागद्वेषके कोई साधन नहीं प्राप्त होते। जो पुरुष जहा जन्मा है उसका निवास स्थान ध्यानसिद्धका कारण नहीं बन पाता। वासनाए, रागद्वेष मोहके सस्कार उसके उखड़ते रहते हैं। यों ही अन्य-अन्य एसे परिचित स्थान ध्यानसाधनाके योग्य नहीं माने गए हैं। केवल अपने आपका परिचय किया जा सके, परिचित पुरुषोंपर अपनी दृष्टि न फसे वसा हो स्थान इस ध्यानार्थी पुरुषके योग्य हुआ करता है। जिसे आत्मउद्धारकी वाञ्छा है वह जिस किसी भी प्रकार सब ओरके विकल्पोंसे हटकर केवल आत्मस्वरूपके उपयोगमें लगायें उनको ही ध्यानकी सिद्धिया हुआ करती हैं। आत्मध्यानसे बढ़कर और कुछ पुरुषाथ नहीं है। आत्माका स्वरूप जो ज्ञानमय है वह ज्ञानमे बना रहा करे इससे बढ़कर और कुछ पुरुषाथ भी नहीं है इनके सत्सगस, स्वाध्यायसे, अनेक उपायोंसे योग मिलाना चाहिए ताकि आत्मा अतरङ्गमे प्रसन्न रहे और शाघ्र ही समस्त विपदावोंसे मुक्त हो सके।

सरितां सङ्गमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे।
जीर्णोद्याने श्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥१२९६॥

ध्यान करने योग्य स्थान कौन-कौन हैं, उसके प्रसंगमे कहा जा रहा है कि ध्यानार्थी योगी पुरुष को ऐसे स्थानोंमें ध्यान करना चाहिए। ध्यान नाम है बाह्य पदार्थोंमे चित्त न जाय, मोह रागद्वेष न उपजे, उसमे कल्पनाएं न जगें, केवल अपने आपका जो सहज विशुद्ध स्वरूप है उसमे मग्नता हो उसे कहते हैं ध्यान। सारभूत कर्तव्य तो यही है ऐसा ध्यान किन स्थानोंमे बनता है? जहा नदियोका सगम हो। कोई नदी किसी दिशासे आये कोई किसी दिशासे, जहा दोनोंका मिलाप हो वह स्थान अद्भुत होता है। ऐसा स्थान जैन तीर्थमें एक सिद्धकूट है। तो जहाँ नदियोंका सगम हो ऐसे स्थानमें मन कुछ ऐसा अन्य पदार्थोंसे हटा हुआ रहता है कि स्वय ही आत्माके ध्यान करनेकी पात्रता जगती है और यों कह लीजिये कि जिसको ध्यान करनेकी उत्सुकता नहीं वह नदियोंके सगमपर रहेगा ही क्यों? जहाँ समुद्रोंके बीच कोई टापू हो ऐसा प्रशस्त द्वीप हो, एकान्त हो, कोई आने जानेका रास्ता न हो, ऐसा स्थान हो जहाँ सुगमतासे कोई आ न सके। सीधीसी बात यह है, और वह स्थान होता है निर्जन। वह स्थान जब रागद्वेषके आश्रयभूत बाह्य जीव और परिकर न मिले तो अपने आप आत्माकी ओर उपयोग झुकता है। ऐसी वृक्षकी खोल हो जो किसी बड़े मोटे पेडमे बनी हो, जो एक तरफसे खुली हो, तीन तरफसे घिरी हो, जिस जगह जीव-जतु न हो ऐसे स्थानमे ध्यान करना चाहिए। ऐसा खोल सड़कके पास नहीं हो। आवागमन जहाँ न हो वहाँ ध्यान करना

चाहिए। जीर्ण उद्यान हो, बहुत बढ़िया सजा हुआ नहीं, वहाँ तो आरामके लिए लोग उद्यान बनवाते हैं, मालिक नौकर आदि सभी रहते हैं। ऐसा उद्यान हो जो जीर्ण शीर्ण सा हो, जिसमें किसीका आवास न हो ऐसा स्थान ध्यानीके योग्य है। आत्मध्यान करे श्मशानमें। वहाँ कोई पहुंचेगा ही क्यों? हां कोई मरकर वहाँ पहुंचेगा तो उसके संगमें बरात पहुंचेगी। वैसे वहाँ कौन जायगा? तो ऐसे श्मशानके स्थानपर ध्यान करना ध्यानीके लिए योग्य है। वहाँ कुछ ख्याल रहता है कि एक दिन हमारा भी मरण होगा, ऐसी ही स्थिति सबकी आती है। इस संसारमें अन्यायसे रहकर लाभ क्या है? न्यायनीतिसे रहना, सदाचारसे रहना ये सब बातें प्रेरणामें आती हैं, सो वहां भावनाएं अच्छी बनती हैं। तो जीर्ण श्मशानमें, खोलोंके बीच, प्रासुक स्थानमें ध्यानार्थीको ध्यान करना योग्य है।

सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा।
महर्द्धिकमहाधीरयोगिसंसिद्धवाञ्छिते ॥१२६७॥

सिद्धकूटमें कोई ऐसा स्थान हो जहा से सिद्ध हुए हों अथवा सिद्धकी जहा मान्यता हो, कुछ स्थल बना हुआ हो मंदिर आदिक ऐसे स्थानोंमें कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयोंमें जाकर ध्यान करे, जो स्थान बड़े-बड़े ऋद्धिधारी महाधीर योगीपुरुष चाहा करते हैं वह स्थान ध्यानार्थीको ध्यानके योग्य कहा गया है। इस लोकमें आत्माके ध्यान और उपयोगके सिवाय है क्या शरण जीवका? बाहरमें कौनसा पदार्थ है? ऐसा जिसका शरण गहें तो आत्माको शान्ति प्राप्त हो? कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है। जो चाहिए उससे भी बढ़ जायें तो उसमें भी शान्ति नहीं है। इज्जत, प्रतिष्ठा, नेतागिरी, देश विदेशके सम्मान ये भी बढ़ जायें तो उसमें भी शान्ति नहीं है। बाहरमें कोई पदार्थ ऐसा हो ही नहीं सकता जिससे शान्तिकी प्राप्ति हो। सभी बाह्य पदार्थ अपने स्वरूपसे हैं, हमारे स्वरूपसे नहीं। दूसरी बात वे बाह्य पदार्थ भी अनित्य हैं, पर्यायरूप ही तो हैं। जो दिख रहे हैं नष्ट हो जायेंगे। उनका क्या विश्वास? किस संयोगमें हर्ष मानते हो? संयोगमें जो सुख माना है वह उस कालमें तो मूढ है ही, पर इसके बादमें उसे बड़ा क्लेश भी होता है। ज्ञानभावका शरण गहो तो वह स्वाधीन है, सुगम है, आत्महित करने वाला है।

मनःप्रीतिप्रदे शस्ते शङ्कोलाहलच्युते।
सर्वर्तुसुखदे रम्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥१२६८॥

ऐसे स्थानमें ध्यान करना जो मनको प्रसन्न रखे। मनकी प्रसन्नता, विशुद्ध... के सुखोंमें मन प्रसन्न तो रहता नहीं। मौज और बात है, प्रसन्नता रहना और बात है। मौज क्षोभको लिए हुए होती है और प्रसन्नता शान्तिका वातावरण लेकर होती है। जो प्रसन्नता उत्पन्न करना चाहे वह कोलाहलसे रहित जो स्थान है उसमें ध्यान करे। मुझे कोई यहाँसे भगा देगा, उठा देगा ऐसी भी शंका हो तो वहा ध्यान क्या हो सकता है? जिस स्थानपर किसीका स्वामित्व नहीं, कोई कोलाहल नहीं ऐसे स्थानमें ध्यानार्थी पुरुष ध्यान किया करते हैं। जब कभी बड़ा संकटसा मालूम पड़े, रोगका संकट हो या अन्य प्रकारकी चिन्तावोंका संकट हो, कोई विपदा विडम्बना आये तो एक बार उपेक्षा करके तो देख लो, समस्त बाह्य पदार्थोंका ख्याल छोड़कर, जो होता हो तो, कैसी भी स्थिति गुजरे, सबकी ममता त्यागकर ऐसा अपने भीतर बैठ जायें। लो यह विपदा नहीं छोड़ती मत छोड़ो, जिस बातपर विपदा आयी उस बातको छोड़ दो और अपने आपके स्वरूपमें बैठ जावो, जो गुजरता हो गुजारो, मुझे कोई प्रयोजन नहीं। यह मैं तो अपने स्वरूपमें इतना ही मात्र हूँ। यों भीतरमें प्रेरणा करके सबसे हटकर अपने आपमें ठहर जाय तो वहा सारे संकट दूर हो सकते हैं। सबको इसी घाट आना पड़ेगा अगर सुख शान्ति चाहिए हो तो। चाहे जिन्दगीमें इस घाट लग जाय चाहे मर मरकर किसी और जिन्दगीमें, पर एक इस विशुद्ध ज्ञानके घाटपर आये बिना शान्ति नहीं हो सकती। ऐसे रम्य स्थान पर रहें जो सर्व ऋतुवोंमें सुख दे, जाड़ेमें न ज्यादा जाड़े, न गर्मीमें अधिक

गर्मी। ऐसा स्थान बहुत आगे दक्षिणमें है, ऐसा सुनते हैं। आस-पास भी कहीं ऐसा रम्य स्थान मिले तो वह स्थान ध्यानके योग्य बताया है। जिसके धर्मध्यानकी धुन बन जाती है वह तो अपने मनके ध्यानके प्रोग्राम से चलेगा। और कितने ही लोग तो ऐसे भी होते हैं कि जानबूझकर ऐसी कोई बात गढ देते कि जिससे लोकमें हमारी बुराई फैल जाय, जिससे लोग फिर हमारे पास न आयें। कोई ऐसा कौतूहल पैदा कर देते हैं वह अनेक झंझटोंसे बच जाता है। एक गुरु शिष्य थे, वे एक छोटीसी पहाडीपर रहते थे। वह गुरु एक सन्यासी था, इधर उधरसे मांगकर भिक्षा लावे और खा ले। उनकी गाँवोंमें बडी महिमा पहुची। राजाको भी खबर हुई तो एक दिन हजारों आदमियोंके साथ सज-धजकर चल दिया। जब वह संन्यासी देखता है कि राजा आ रहा है तो झट उसे ध्यान आया कि अगर राजा मुझे मान लेगा तो फिर दिनभर मेरे पास लोगोंका ठट्ठ जमा रहा करेगा। जब राजा आयगा तो प्रजाके लोग भी बहुत आया करेंगे। सो संन्यासीने सोचा कि कोई ऐसी बात रच दें कि राजाको हमसे घृणा हो जाय। तो शिष्यको समझाया—देखो बेटा यह राजा आ रहा है, इसको अपने लोगोंसे घृणा हो जाय ऐसा काम करता हूँ। "अच्छा बतलावो महाराज क्या करें?" देखो जब वह राजा पास आ जायगा तो हम तुम दोनो खाने-पीनेकी बात करने लगेंगे। जब राजा पास आया तो शिष्यसे गुरु कहता है कि बेटा आज तुमने कितनी रोटिया खाई? "महाराज! १० खाई, "हमने तो ८ ही खाई, "महाराज! कल तुमने १० खाई थीं हमने ८ ही खाई थीं। इस प्रकारकी बातें सुनकर राजा चला गया, सोचता है कि यह सन्यासी तो खाने-पीनेके लिए लडता है। लो सन्यासी बहुतसी झंझटोंसे बच गया और ध्यान स्वाध्याय आदि खूब करने लगा। अरे यश हो चाहे अपयश, साधुजनोंको क्या परवाह? उनके लिए तो यश अपयश सब बराबर हैं, हाँ अपने आपमे अपना उपयोग ऐसा निर्मल बने कि जिससे अपनी रास्ता बराबर सही मिलता रहे। यह ध्यानार्थी पुरुषोंके चित्तकी एक बात कह रहे हैं।

शून्यवेश्मन्यथ ग्रामे भूगर्भे कदलीगृहे।
पूरोपवनवेद्यन्ते मण्डपे चैत्यपादपे ॥१२९९॥

सूने घरमे, जगलमें या गाँवके बहुत अन्तमे जहाँसे गाव हट आया है वहाँ कोई सूना घर मिले तो उस घरमे, जिसका अब कोई मालिक नहीं रहा, कोई उसका रखवाला भी नहीं रहा ऐसे घरमे रहकर ध्यानी पुरुष ध्यान करें। ये ध्यानार्थी छुप छुपकर अपना आत्मीय आनन्दरस लूटते रहते हैं। उन्हें लोकमे रहनेका चित्त नहीं चाहता, अपने एक आत्मारामेमें ही रमकर सुखी रहते हैं। गृहमे जो तलघरा बने होते हैं उनमे ध्यानार्थी पुरुष ध्यान करते हैं। पहिले जमानेमें लोग कदली गृहोंमें अर्थात् केलोंके बीचमे बैठकर ध्यान किया करते थे। पुर उपवन, बागबगीचाके अन्तमे जहाँसे बाग शुरु होता, जहां निर्जनता रहती वहाँ भी ध्यानी पुरुष ध्यान करते हैं और चैत्य वृक्षोंमें, मण्डपोंके स्थानोंमे भी ध्यान करते हैं।

वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते।
स्थाने जागर्त्यविश्रान्तं यमी जन्मार्तिशान्तये ॥१३००॥

वर्षा, गर्मी, हिम, ठंड प्रचण्ड ग्रीष्म आदिक उपद्रवोंसे रहित स्थानमे ध्यानार्थी पुरुष निरन्तर ठहरें। मोही जनोंको उनके इस एकान्त निवासके सम्बधमे यह शका होती है कि इनके दिमागमे क्या फितूर आया। ये गावमे नहीं रहते, महलोंमे नहीं रहते, सुखमें नहीं रहते, भूख प्यास ठंड गर्मी आदि की बडी वेदनाएं सहते, क्या हो गया इनके, कुछ समझमे नहीं आता। जिस स्थानमे कोई नहीं रहता, निर्जन स्थान है, पासमे एक पैसा भी नहीं रखते हैं, ये कैसे रहते होंगे, ऐसा मोही जनोंको आश्चर्य हुआ करता है। लेकिन उन तत्त्वज्ञानी धर्मार्थी योगी पुरुषोंको भी एक ऐसा शरण मिल गया, अपने आपके आत्मासे ही बातें करते रहते हैं। अनुभवमें आ गया जब चाहे झट अपने स्वरूपमें मग्न होकर सुखी रहते हैं। गुण विकसित हो

जायें तो उससे भी अधिक विकासकी समार्थ्यसे बातें करके प्रसन्न रहते हैं। कोई पाप हो जाय तो अपने आपके इस परमपिताके निकट बैठकर खूब रोकर पछता कर यों दुःखदर्द निकालकर भाररहित बन जाते हैं। ऐसी शरण अपने आपको छोड़कर बाहरमें कहाँ मिलेगी? कौन है ऐसा रक्षक शरण समर्थ प्रभु जो इन दीन पुरुषोंको हस्तावलम्बन दे सके। ध्यानार्थी पुरुषोंको ऐसे ध्यान योग्य निर्जन स्थानमें ठहरना चाहिए।

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसति साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥१३०१॥

जिस स्थानमें रागादिक दोष हल्के हो जायें उस ही स्थानमे साधुको बसना चाहिए और ध्यान के समयमें तो विशेष करके ऐसे ही योग्य स्थानको ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् जब किसी ध्यानार्थी योगी पुरुषके यह सकल्प दृढ़ बन जाय कि मुझे तो ध्यानकी साधना करना है तो उसका प्रोग्राम ध्यानके लिए ही रहा करता है। अन्य काम करना पड़े तो उसके लिए समय निकालकर करता है। काम तो मेरा केवल विशुद्ध ध्यानकी साधनासे है, इस प्रकार किस स्थानमे बैठकर ध्यानार्थीको ध्यान करना चाहिए? इसका वर्णन किया। *अब उन स्थानोंमे किस तरहसे बैठना चाहिए, उन बैठनेके प्रकारोंका अथवा आसनोंका वर्णन करते हैं।*

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥१३०२॥

धीर वीर पुरुष समाधिकी सिद्धिके लिए काठके तख्तोंपर भली प्रकार अपने लिए स्थल आमन बनायें। बढईके बनाये तखत नहीं कारीगरसे बनाये तखत नहीं, किन्तु जगलमे कोई पडा हो उस पट्ट पर बैठकर ध्यानार्थी पुरुप ध्यान करें। जितनी अपेक्षा रहेगी बैठने, उठने, सोने, रहनेमे उतनी ही ध्यानमें बाधा आ सकती है। ध्यानार्थी पुरुष धनके लिए क्या-क्या कष्ट नहीं सह सकता? देश विदेश घूमे, सर्दी गर्मीमें घूमे, भूखा प्यासा रहे, बीसों आदमियोंकी बात सुने, धर्मशाला वगैरहमें छोटेसे चपरासी द्वारा कितने ही प्रकारकी बातें सुननेको मिले, यो कितनी ही प्रकारके कष्ट सहता है वह धनार्थी पुरुष। तो ध्यानार्थी पुरुष भी अपने ध्यानकी सिद्धिके लिए जगह-जगह घूमते हैं, उनका सर्वत्र विहार है। जहाँ मन चाहा तहाँ चल गए, जितने दिन चाहे रहे निजन स्थानमे और अपनी जरूरी सामान पुस्तक आदिकी पोटला लकर किसी निजन स्थानको चले जाते हैं। उनके पास सामान इतना अल्प है कि उन्हें दूसरोंकी अपेक्षा नहीं रहती। ऐसी स्थिति वाले योगी पुरुष ध्यानकी साधना करते हैं। तो ये धीर वीर पुरुष शिलापट्टपर अथवा भूमिपर या रेतीले स्थानमें समाधिकी सिद्धिके लिए अपना आसन बनायें, यह बात कैसे हो? इसका वर्णन अब आगे होगा।

पर्यङ्कमर्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१३०३॥

ध्यान करनेके सम्बन्धमें कितने आसनका विधान है, उसका इस श्लोकमें वर्णन है। पर्यंक आसन जिसका दूसरा नाम पद्मासन है। बायें पैरको दाहिने पैर पर रखना, फिर दाहिने पैरको बायें पर रखना और पीठ छाती बिल्कुल सीधी करके बैठना यह है पर्यंक आसन। आसनमे भी कुछ प्रभाव है। जैसे सामायिक करनेके लिए पद्मासन लगाकर बिल्कुल सीधे बैठ जाय तो इस आसनके कारण भी थोडा बहुत चित्तपर प्रभाव होता है कुछ बाहरी विकल्प कम होते हैं और साथ ही यदि मोटे स्वरसे धीमी हल्की आवाजसे ॐ शब्दका देर तक उच्चारण करे तो उसका भी प्रभाव होता है। उस समय ऐसी स्थिति सही बनती है कि सब जगह से बाहरसे हटकर हम अपनेमें प्रवेश करनेका कार्य कर रहे हैं। तो आसनमें भी प्रभाव हुआ करता है। दूसरा आसन है अर्द्धपर्यंककी बात। दाहिने पैरको बायें पैर पर रखना, यही है अर्द्धपर्यंक। एक पैर ही रखा

गया, वांया पैर नीचे ही रहा, इस अर्द्ध पर्यंक आसनमें कई जगह मूर्तिया पायी जाती हैं। दक्षिणमें जैनवद्री की तरफ ऐसी कुछ मूर्तिया हैं जो अर्द्ध पर्यंक आसनमे पायी जाती हैं। तो अर्द्ध पर्यंक भी एक आसन होता है जिसमे ध्यानकी सिद्धि की जाती है। तीसरा है वज्रासन। दोनों पैरों पर बैठना यह है वज्रासन। चौथा बताया है बीरासन। बायें पैर पर तो वज्रासनकी तरह बैठना और दाहिने पैर पर खड़े रहना जैसे बीर पुरुष बैठते है और जब चौकन्ना होनेके लिए बैठते है तो इस तरह बैठते हैं। इसके बाद बताया है सुखासन। जैसे आप सब लोग सुखपूर्वक बैठे हैं वह सुखासन है। आप लोग दोनों पैर नीचे किए हुए हैं और पर्यंक के आसन जैसी मुद्रामे आप बैठे हुए हैं तो यह हुआ सुखासन। और कायोत्सर्ग भी एक आसन है। एकदम खड़े हो गए और हाथको ढीला करके छोड दिया वह है कायोत्सर्ग आसन। तो इस आसनमे ध्यानकी विशेषता लानेका कुछ प्रभाव है। कायोत्सर्गमे खड़े होकर भी देख लोजिए, हाथको ढीला करके अथवा हाथ को कड़ा करके कोई खड़ा रहे कई दिन तो ध्यान जैसी बात नहीं आती है और कोई सोचते होंगे कि बहुत देर तक खड़े रहनेमे ध्यान यदि जम जाय किसी एक ओर और शरीरकी दृष्टि न रखे तो कहीं गिर न जायें। तो ध्यानसे नहीं गिरता, मगर नींद आ जाय तो गिर जाय, पर कायोत्सर्गसे ध्यान करे तो ध्यानमे नहीं गिरता। यों अनेक बातें आसनके योग्य बतायी गई हैं।

येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः ।

तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥१३०४॥

जिस जिस आसनसे सुख रूप भी बैठे हुए मुनि अपने मनको चलित न कर सकें, बाह्यपदार्थोंमे अपना मन न फसे, यों निश्चल बन सकें वे सभी सुन्दर आसन मुनियोको स्वय करना चाहिए। पद्मासनमे यदि कठिनाई पड़ती हो तो उन आसनोंमे भी ध्यान नहीं बनता। इसका जिसे अभ्यास हो, घटों बैठ सके और रंच कष्टका अनुभव न हो तो वह आसन ध्यानके योग्य है, इस दृष्टिसे सभी सुखासन हो जाते हैं। सुख-पूर्वक जो आसन है, जिस आसनमे आकुलता न हो वह आसन ध्यानके योग्य माना गया है।

कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम् ।

देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण संप्रति ॥१३०५॥

तथा इस समय कालदोषसे जीवोंकी शक्तिकी विकलता है, सामर्थ्यकी कमी है, इस कारण आचार्योंने दो आसन ही प्रशस्त कहे हैं। पद्मासन और कायोत्सर्ग। लगता होगा ऐसा कि इन सब आसनोमे ये-दो ही तो कठिन हैं और बताया है ऐसा कि सामर्थ्यमे कमी है तो ये दो बात प्रशस्त बताया है, लेकिन अन्य आसनसे बैठकर देखलो उनमें भी कष्ट मालूम करने लगेंगे। यह सुख आसन ही देख लो—पैरके नीचे की गुट्ठी जब जमीनमे गड़ने लगती है तो उस पैरको भी बदल लेते है कि नहीं। तो पद्मासनमे तो पैरकी गुट्ठी जमीनमे गडनेका सवाल ही नहीं है। वह आसन अच्छा है, आरामसे बैठ सकते हैं, हॉ अगर अभ्यास न हो तो यह आसन कठिन मालूम होता है। कायोत्सर्गका आसन इन सबसे सरल है। पद्मासनमे खड़े हो तो रहना है। चलना है और पीछे ही बैठा रहे, खड़े होनेको न मिले तो उनकी श्वास खराब हो जाय तो ये आसन पद्मासन और कायोत्सर्ग प्रशस्त माने गए हैं।

वज्रकाया महासत्त्वा निःकम्पाः सुस्थिरासनाः ।

सर्वावस्थास्वलं ध्यात्वा गताः प्राग्योगिनः शिवम् ॥१३०६॥

जो वज्रकाय है, जिसका शरीर वज्रकी तरह दृढ़ है, वज्रवृषभनाराचसंहननके जो धारक थे, बड़े पराक्रमी धीर वीर स्थिर आसन वाले वे योगी सब अवस्थावोंमे ध्यान करके पहिले समयमें मोक्षको प्राप्त हुए हैं, जिस किसी भी आसनसे ध्यान विशुद्धि बन जाय तो किसी भी आसनके बाद वे मुक्तिको प्राप्त हुए हैं,

अधिकतर कथन ऐसा है कि उसके बाद अरहत हुए, पर वे बहुत समय रहते हैं तो उनके निसर्गसे पद्मासन या कायोत्सर्ग होता है, पर ध्यानके आसन कोई भी हो सकते हैं।

उपसर्गैरपि स्फीतैर्देवदैत्यारिकल्पितैः ।
स्वरूपालम्बितं येषां न चेतश्चाल्यते क्वचित् ॥१३०७॥

जो पूर्वकालमें महापराक्रमी थे, उनका स्वरूप उन देव दैत्य आदिकसे बढ़े हुए उपसर्गोंसे कदापि चलित न होता था। मुख्य बात है चित्तका स्वरूपमें आलम्बन लना। उसमें ऐसा महान बल है कि उपसर्गों के होनेपर भी चलित नहीं होते, और भीतरमे चित्तकी, मग्नताकी स्थिति न हो तो कितना ही कोई पहलवान हो पर उपसर्गोंसे चलित हो जायगा। उपसर्गोंसे चलित होनेमें मुख्य कारण तो मन है। खूब दृढ हैं, हट्टे-कट्टे हैं, पर किसी मनुष्यका कुछ थोडासा भी काम करनेको मन नहीं चाहता और उस समय किसी विवश स्थितिमे करना पड़े तो वह उसे भी उपद्रव समझता है। यदि मन नियन्त्रित न हो तो उपसर्ग उपद्रव अधिक मालूम होते हैं और जिसका मन नियन्त्रित हो और वज्रकाय हो उसे वह बल प्रकट होता कि ऐसे-ऐसे उपसर्ग जो देव, दैत्य, शत्रु आदिक द्वारा किए गए हों, उन उपसर्गोंसे भी वह कभी आत्मध्यानसे विचलित नहीं होता। परिणामोंकी बडी विचित्रता है। एक मुनिराज पूर्वकालमें ऐसे हुए जो कि छोटी उम्रके थे, राज-घरानेमें सबसे बड़े प्रिय थे, वनमें जाकर साधु हो गए। तो राजाने कुछ सैंकड़ा सेनाके लोग ऐसे भेज दिये वनमें कि बहुत दूर तक तुम पहरा देते रहना, इसपर कोई उपद्रव न कर सके। खर्च करनेके लिए खर्च बाध दिया और सैंकडों सुभट वहाँ लगा दिया इसलिए कि कोई उसे सता न सके। कुछ दिन चलते रहे और कुछ ही समय बाद राजाका ऐसा चित्त बिगडा कि सेनाको तो हटा ही दिया और फिर ऐसा उपसर्ग किया उसपर कि जिसे सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। चाकूसे उसके शरीरका चमडा छीला और उसपर नमक छिडकवाया। पर जिनका चित्त स्वरूपमें अवलम्बित हो जाता उनको उपसर्ग नहीं जंचते। स्वरूपकी ऐसी पकड है कि उन्हें यह शरीर भी इस तरह लगता कि जैसे दूसरेके शरीर। एक साधना है, वास्तविकता है, बैठती नहीं बात मनमें। जैसे कजूसको कई करोड़का दान करने वाला धनिक हो तो उसके चित्तमे उसकी बात नहीं बैठती। अजी गप्पे हैं, लिखा है शास्त्रोंमें, ऐसी बात हो कैसे सकती ? तो जैसे कजूसोंके चित्तमे धनिक दानी कुबेरोंकी बातें घर नहीं करतीं और कभी समझ भी लें कि हा होते भी हैं ऐसे तो उन्हें बेवकूफ समझेंगे। उनकी बुद्धिमें यह बैठ ही नहीं सकता कि उन लोगोंने यह अच्छा किया। ऐसे ही मोही पुरुषोंके चित्तमें यह बात बैठ नहीं पाती कि ऐसे भी ज्ञानी विरक्त सत होते हैं कि जिनके शरीरको चाकूसे छीलकर नमक छिडकें, ऐसी दारुण वेदना करें तिसपर भी वे अपने स्वरूपसे चलित नहीं होते। स्यालिनियोंने खाया तीन दिन सुकुमालका शरीर, यह तो प्रसिद्ध कथा है। सुकौशलकी माताका जीव शेरनी बनकर सुकौशलके शरीरका भक्षण किया यह भी प्रसिद्ध बात है। अनेक मुनियोंको राजाने कोल्हूमें पेला, दण्डक वनकी बात थी, यह भी कथाओंमे प्रसिद्ध है। ऐसे ऐसे दारुण उपसर्ग हुए और उनसे चलित नहीं हुए, तो सोचो ऐसी स्थिति बननेके लिए भीतरमे कितनी ऊ ची तैयारी होना चाहिए ? तो उनको आत्महित की धुन थी और समझ लिया था कि हित इसमें है। जिसमें हित है उससे विचलित न होना चाहिए। उन्होंने हित समझा था इस ज्ञानस्वरूप आत्मामें अपने ज्ञानको लगाये रहनेमें, और इस स्थितिमें जो अद्भुत आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दके सामने फिर ये शरीर आदिक कैसे उपेक्ष्य न बन जायेंगे ?

जैसे कोई व्यापारी बडा लाभ होनेके प्रसगमे छोटे लाभकी उपेक्षा कर देता है, उस ओर ध्यान भी नहीं देता, ऐसे ही जिसको विशुद्ध आनन्दके लाभका अवसर मिला है वह इस बड़े लाभके सामने शरीर आदिकका कुछ ख्याल नहीं करता, वचनालापकी छोटी-छोटी बातोंका ख्याल नहीं करता। यह बात जब बन जाती है तब ये सब सुगम हो जाते हैं। यहा की भी कुछ वर्ष पहिलेकी कहानी है कि देशकी स्वतन्त्रताके

आन्दोलनके समय कुछ क्रान्तिकारी लोगोंको उस समयकी सरकारने बहुत वेदना दी, और बहुत वेदना देकर पूछा कि तुम्हारे इस क्रान्तिमे कौन-कौन सम्मिलित है ? और यहा तक कि उनकी अगुली आगसे जलायी, बहुत बड़ी मोमबत्ती जला दी और उसी आगपर उनकी अगुली रख दी, अंगुली आगमें जलकर गिरने लगी, इतनी वेदनाको सहकर भी वे आनन्दमे ही थे, जो उनका लक्ष्य था उसी बातपर वे डटे रहे। तो फिर इस विशुद्ध ज्ञानानन्द लाभके होनेपर तो फिर ये बातें सह लेना सब एक बहुत छोटीसी बातें हो जाती हैं। अभी यहाँ देख लो, अच्छा जितने भी मनुष्य हैं ये सब मरेंगे या नहीं ? अरे मरण तो सभीका होगा। तो उनमे से कुछ ऐसे भी होंगे जो मरणसे घबड़ाने वाले होंगे, कुछ हिम्मत करने वाले होंगे और कुछ ऐसे दृढ़ होंगे कि क्या है, कल मरण होना हो तो आज हो जाय। हुए नहीं क्या ऐसे लोग ? अभी निकट पूर्वमे जो आन्दोलनोंमे गोलीके सामने छाती करके हसी खुशी गुजरते हैं उनके क्या ऐसी दृढता न थी कि मरना तो है ही कल मरना है तो आज ही सही। तो जैसे यहां भी लोग मृत्युका नाम सुनकर या मृत्युकी सम्भावनाके समय दृढ रहते हैं तो कोई भीतरमें विशेषता तो है, बल तो है काइ ऐसा जिसके कारण व धीर रहा करते हैं। तो जिनका चित्त आत्मस्वरूपमें अवलम्बित हुआ है वे कहीं भी किसी भी उपसर्गोंसे चलायमान नही होते।

श्रूयन्ते संवृतस्वान्ता स्वतत्त्वकृतनिश्चयाः।
विसह्योग्रोपसर्गाग्नि ध्यानसिद्धि समाश्रिताः ॥१३०८॥

जिन्होंने अपने मनको सम्वररूप किया, मनको रोका, संकल्पोका द्वार बन्द किया, स्वतत्त्वमें निश्चय किया ऐसे ही पूर्व पुरुष तीव्र उपसर्गोंको सहकर ध्यान करते सुने गए हैं और अनेक तो ऐसे हुए कि उपसर्गोंके कारण उनकी जल्दी सिद्धि हो गयी, उपसर्ग उन्हें वरदान हो गए। तो उपसर्ग जैसे वेदनाको सह लेनेका कारण है स्वतत्त्वमे निश्चय। मैं यह हूँ। जो कोई यह मानले कि यह मेरा घर है तो सामनेके घर चाहे बरषातमे गिर जायें पर उतनी वेदना न जगेगी जितनी कि अपना माना हुआ धर गिर जानेपर जगेगी। ता जिसे मान लिया कि यह मेरा वैभव है, उसके अतिरिक्त जो कुछ भी हो बाह्यमे वह सब किसी भी स्थिति को प्राप्त हो उसमे वेदना नहीं मानता यह जीव। तो जिन्होंने अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूपको माना कि यह मैं हूँ। यह मेरा सब कुछ है। उसको इस स्वरूपसे अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ बाह्य नजर आते। उसीमे यह शरीर भी बाह्य है। तो बाह्यकी कुछ भी परिस्थिति हो उस परिस्थितिमें विह्वलता नहीं हुआ करती। तो बड़े-बड़े उपसर्ग अग्निको उन्होंने सहा जिन्होंने अपना मन नियत्रणमे किया और निज अन्तस्तत्त्वका निश्चय बनाया। वे उपसर्ग अग्निको सहकर ध्यानसिद्धिको प्राप्त हुए। ज्ञानवस्तुत वह कहलाता है जो ज्ञान ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान करता रहे। जैसे कोई जड़को जाने तो कहते हैं क्या जड़में उपयोग देकर जड़ बनते हो ? तो जो जिसमे उपयोग दे वह अपनेको वही अनुभवने लगता है। जैसे कोई लडका अपने बारेमें ऐसा सोचने लगे कि मैं तो घोडा हूँ। दोनों पैर और दोनों हाथ जमीनपर धरकर चले और पीठपर किसीको बैठाल ले, यह मेरा सवार है और मुंहमे एक रस्सी दाब ले, यह मेरा लगाम है, सवारको पकड़ा दे, वह घोड़ा बनकर चलता है, अपनेको घोडा मान लेता है और सामनेसे ऐसे ही बने हुए लड़केका एक घोडा और आया। आमने-सामने आनेपर कुछ हाथ मारनेसे लगे, उस समय वे भूल जायेंगे कि मै तो बालक हूँ। वे तो घोड़े बन गए अपने-अपने ज्ञानमें, थोडी उनमे आपसमें ठुकाई पिटाई हुई और ठुक पिटकर वे अपने अपने घर चले जाते हैं। तो जिस ओर ज्ञान हुआ उसको वही कह देते हैं। जो ज्ञान अज्ञानकको विषय कर रहा हो वह ज्ञान भी जड है, जो ज्ञान परको भी विषय कर रहा हो वह ज्ञान भी पर है। यों चलने-चलने अन्तरमे देखने लगे कि जो ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको जानता हो वह ज्ञान है। जो असली सोनेका पारखी हो उसके पास कोई जरा भी खोटा सोना लाये तो वह फेंककर कहता कि यह क्या पीतल लाये, उसको सोनेकी सुध छूट गयी। यो ही जो ज्ञान अपने स्वरूपको विषय न करके जड़को विषय करे तो तत्त्वज्ञानकी दृष्टिमे वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं

कहलाता, वह अज्ञानभाव है। ऐसा ज्ञानमें जिसके निश्चय बना हुआ है 'यह मैं हूँ' वे कठिनसे कठिन उपसर्गों में भी चलित नहीं होते और उन्हें सहकर ध्यानकी सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं।

केचिज्ज्वालावलीढा हरिशरभगजव्यालविध्वस्तदेहाः,
केचित्क्रूरादिदैत्यैरदयमतिहताश्चक्रशूलासिदण्डैः ।
भूकम्पोत्पातवातप्रबलपविघनत्रासरुद्धास्तथान्ये,
कृत्वा स्थैर्यं समाधौ सपदि शिवपद निःप्रपञ्च प्रपन्नाः १३०६॥

जिनका चित्त वशमें है उनको बड़े-बड़े कठिन उपसर्ग भी आ जायें तब भी वे अपने पथसे विचलित नहीं होते हैं। सुना गया है कि पूर्वकालमे अनेक महामुनि अग्निकी ज्वालाकी पक्तिसे जलकर समाधिमें दृढ़ रहनेसे तत्काल मोक्षको प्राप्त हो गए। जलती हुई अग्निमे उन्हें पटक दिया, पर ध्यान उनके विशुद्ध रहा, भेदविज्ञान रहा, समस्त विश्वसे निराला, शरीरसे भी निराला केवल ज्ञानस्वरूपमात्र मैं हूँ इस प्रकारका उनके यथार्थ सकल्प रहा, उसके प्रतापसे वे इतने बड़े उपसर्गमें शीघ्र मोक्षको प्राप्त हुए। कोई मुनि ऐसे हुए जिनको सिंहादिक क्रूर जानवरोंने भखा लेकिन वे अपने स्वरूपसे विचलित नहीं हुए और वे समतापरिणाम धारण करके तत्काल मोक्षको प्राप्त हुए। तथा कितने ही मुनि क्रूर, वीर, दैत्य, देव, चक्र, शूल, तलवार दण्डसे निर्दयताके साथ मारे गए लेकिन समाधिमे लीन रहनेके कारण तत्काल मोक्षको प्राप्त हुए, ऐसे ही कितने ही मुनि भूमि कम्पनके उत्पातसे, प्रचण्ड आंधीके चलनेसे, वडा वज्रपात होनेसे और वड़े उपसर्गोको जीत करके मोक्ष को गए। ऐसे-ऐसे कठिन उपसर्गोको जीतनेका कारण था अपने स्वरूपकी खवर। जव केवल ज्ञानस्वरूपमे ही अपने आपका अनुभव किया तो फिर उपद्रव क्या रहा? उपसर्ग क्या रहो? वे तो अपने आनन्द रसमें तृप्त रहते थे। ऐसे भी अनेक मुनि नानाप्रकारके उपसर्गोको सहकर प्रपचरहित मोक्षपदको प्राप्त हुए, ऐसे उत्तम संघनन वालेके आसनका नियम नहीं है यह बात बता रहे थे कि ध्यानके लिए आसन कैसा लगाना चाहिए? सो आसनका विधान तो बताया पर जिनके वज्रवृषभनाराचसघनन है, जिनका शरीर अद्भुत, वज्र की कीली, ऐसा वज्रमय जिनका शरीर है, तत्त्वज्ञानी हैं, विरक्त हैं उनके आसनका कोई नियम ही नहीं रहा। किसीको आगमे पटका होगा तो क्या आसन मारकर पटका होगा? एकदम उठाया और पटक दिया। ध्यान की खूबी है कि उन्होंने ऐसा विशुद्ध ध्यान किया कि वे अटपट आसनमें रहकर ही मोक्षको प्राप्त हुए। किसी को पानीमें पटक दिया, छेद दिया, कोल्हूमें पेल दिया। वहाँ कोई आसन है क्या, पर वे मोक्षको प्राप्त हुए। अत वज्रकाय पुरुषोंके आसनका कोई नियम नहीं है। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि पूर्वकालमें मनुष्यका जो धैर्य, वल वीर्य था वह इस कालमें नहीं है। इसी तरह पहिले जैसी स्थिरता वर्तमान कालके मनुष्य स्वप्न में भी करनेमें असमर्थ हैं। और जितना जो कुछ जो लोग इस समय करते हैं वे धन्य हैं। जैसे आजकल साधुवोंकी हर एक कोई चर्चा निन्दा करने लगता है—अजी साधुवोंको तो वनमें रहना चाहिए, उन्हें नगर में रहनेसे क्या मतलब? यों अनेक प्रकारकी जो आलोचना करते हैं सो वे स्वय तो साधु होनेकी मनमें उमग नहीं रखते और तब फिर उन्हें पता क्या है कि कैसे क्या निभता है? यहां आचार्यदेव कह रहे हैं कि पहिले जैसी स्थिरता, पहिले जैसा उपसर्ग विजय आजकल सम्भव नहीं है फिर भी, उस दिशामें जो जितना प्रयत्न करते हैं वे मुनि धन्य हैं। देखो मूल तत्त्व यह बताया कि जिसके तत्त्वज्ञान है और तत्त्वज्ञानके कारण वैराग्य उपजा है ऐसे मुनीश्वरोको उपसर्गके बीचमें सफलता प्राप्त होती है और जो यों ही अपने गुजारेके लिए अथवा बचावके लिए भेप बना लेते हैं उनको तो उस भेषका निभाना ही कठिन है, उपसर्गोपर विजय प्राप्त करनेकी बात तो दूर रही। सम्यग्ज्ञान जगे बिना, अपने आपके मनको वशमें किए बिना वह आत्मस्फूर्ति उत्पन्न नहीं हो सकती।

तद्धैर्यं यमिना मन्ये न संप्रति पुरातनम् ।
अथ स्वप्नेऽपि नामास्था प्राचीनां कर्तुमक्षमाः ॥१३१०॥

जो पुरुष इन्द्रियके विषयोंसे उत्तीर्ण है अर्थात् रहित हैं, ससारके परिभ्रमणसे जिनका चित्त विरक्त हो गया है, जिनका मन स्वयके अपने आधीन है ऐसे पुरुष ध्यानके योग्य हो गए हैं। जो इन्द्रियके विषयोमे चित्त लगाये हों वे पुरुष ध्यान क्या कर सकते हैं ? जो पुरुष ससारभ्रमणसे विरक्त नहीं हैं उनके अभी आत्मस्वरूपमे दृष्टि नहीं जगी है। तो ऐसे पुरुष जो अभी संसारसे विरक्त नहीं हैं वे ध्यानके योग्य कैसे हो सकते हैं। जिनका मन अपने आपके आत्माके वशमे नहीं, ऐसा मनके आधीन रहने वाले पुरुष क्या ध्यान कर सकेंगे ? यों आत्मध्यानका पात्र वही है जो विषयोंसे विरक्त चित्त हो, जिसका मन अपने आत्माके अधीन हो।

निःशेषविषयोत्तीर्णो निर्विण्णो जन्मसंक्रमात् ।
आत्माधीनमनाः शश्वत्सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥१३११॥

जिस समय मुनिका चित्त क्षोभरहित हो, आत्मस्वरूपके सम्मुख हो उस काल ही ध्यानकी सिद्धि निर्विघ्न होती है। जब चित्तमे किसी प्रकारका क्षोभ है, किसीके प्रति राग है, किसीके प्रति द्वेष है, अपने आत्माके स्वरूपके सम्मुख नहीं होता, मैं वास्तवमे क्या हू ऐसे अपने आपके विशुद्ध स्वरूपकी जिसे खबर नहीं वह पुरुष ध्यानसिद्धि क्या करेगा ? जो आत्मस्वरूपके अभिमुख है वह ही पुरुष ध्यानकी साधना करता है।

अविक्षिप्तं यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत् ।
मुनेस्तदैव निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिरुदाहृता ॥१३१२॥

ध्यानकी सिद्धिका कारण स्थान और आसनका सही होना है। ये दो बातें सर्वप्रथम चाहिए। ध्यानार्थीके लिए प्रथम तो ध्यान करनेका स्थान योग्य हो जैसा कि पहिले बताया जा चुका है। वीतरागताका वातावरण हो, जहाँ किसी असयमीजनोंका आवागमन न हो ऐसा विशुद्ध निर्जन एकान्त स्थान ध्यानार्थीके योग्य होता है। इस प्रकार योग्य स्थानपर पहुचनपर फिर विशुद्ध आसनसे रहे, पद्मासन, कायोत्सर्ग आदिक आसनोंसे रहे तो उससे ध्यानकी सिद्धि होती। यो ध्यान सिद्धिके लिए दो बातें खास आवश्यक हैं, जिस मुनिके इन दोनोमेसे एक भी बात नहीं होती उसका चित्त विक्षेपरहित नहीं बन पाता। स्थान यद्वा तद्वा हो और आसनमे भी कोई बल न हो। शरीरके सुखियापनके कारण शरीरके मोहके कारण बराबर मिनट-मिनटमे आसन बदलता रहता हो ऐसा शरीरका अनुरागी पुरुष ध्यानके योग्य नहीं होता।

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम् ।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥१३१३॥

यह जो एक आसनका विधान बताया है यह साधारणजनोंके लिए जो ध्यानमें अभ्यस्त नहीं हैं किन्तु ध्यान चाहते हैं ऐसे पुरुषोंको कहा गया है। वस्तुत तो जो यथार्थमें तत्त्वज्ञानी हैं, विरक्तचित्त पुरुष हैं, सम्वेग परिणामसे युक्त हैं अर्थात् धर्ममें अनुराग होना और ससार शरीर योगोंसे विरक्त होना ऐसा धर्मानुराग और वैराग्यसे युक्त हैं वे पुरुष तो सभी अवस्थावोंमे ध्यान कर सकते है। जिसके चित्तमे वस्तुका यथार्थस्वरूप प्रतिभासता है वह पडा हुआ बैठा हुआ कैसे भी हो, उसका चित्त ध्यानमे बना रहता है। हां साधारण जनोंके लिए अभ्यासका धुन बताया है। स्थान उत्तम हो और आसन भी स्थिर हो लेकिन बड़े बड़े भी तत्त्वज्ञानी पुरुष करते सब विधिका ही कार्य है। योग्य स्थानमे रहना और दृढ आसन करके रहना, जो अभ्यस्त योगीश्वर हैं वे किसी आसनमे भी न हों। यथा तथा बैठे हों तो भी उनके ध्यान बन जाता

ध्यान तो मनकी वृत्तिके अनुसार बनता है। मन चलित न हो, मन वश हो तो लो ध्यान बन गया और ध्यान भी क्या उत्तम ध्यान वही है जिस ध्यानमें केवल यह अनुभव चलता हो—ज्ञान ज्योतिमात्रको निरखकर कि मैं तो यह ज्ञानमात्र हूँ। इस प्रकार केवल ज्ञानानुभूति जिसके चलती हो उनके ध्यान है। ध्यानमें और चाहिए क्या ? एक यह अनुभव चाहिए। जैसा है, आत्माका सहजस्वरूप है उस स्वरूपमात्र अनुभव चाहिए। केवल एक ही बात चाहिए धर्मके लिए, अनेक झगड़े नहीं हैं। जैसा मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ वैसा मैं अपनेको प्रतीतिमें ले लूं, यह हूँ मैं। ऐसी प्रतीति अनुभूति आत्माके ध्यानका विशेष स्थान पाती है। जो पुरुष सम्वृत है, अपने इन्द्रिय और मनको वश किए हुए है, धीर है, स्थिर चित्त वाला है, जिसको आशयमे निर्मलता है वह पुरुष आत्मध्यानको कर लेता है। निर्मल आशयमे अपने लिए तो एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूपके अनुभवकी बात होना, मुझे चाहिए क्या—इसके उत्तरमे जिसको केवल यह आता है कि मैं सहजस्वरूपसे जैसा हूँ ऐसा ही रहू, और कुछ चाहिए ही नहीं। जो रागद्वेष मोहकी विडम्बनाएं बखेड़े उत्पन्न हुए थे वे सब दूर हों, जो पुरुष निर्मल आशय हों उनके तो एक ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि रहती है और दूसरोंके प्रति निर्मल आशय होने का भाव यह है कि समस्त जीव सुखी हों ऐसी भावना दूसरे लोगोंके प्रति जगना और अपने आपको सर्व वैभवोंसे, परिग्रहोसे निर्मल मानना, केवल ज्ञानस्वरूप अनुभवना यह ही निर्मल आशय कहलाता है। सदोष आशय यह है कि बाह्य पदार्थोंमे ममता होना, आत्मीयता होना, यह ही मैं हूँ, इससे ही मेरी जिन्दगी है, यों वस्तुस्वरूपके प्रतिकूल भाव बनाना यह सदोष आशय कहलाता है। अपनी रक्षा केवल एक इस अनुभव में है कि मैं तो मात्र ज्ञानस्वरूप एक स्वतत्र पदार्थ हूँ। दूसरे जीवोंसे या वैभव आदिकसे मुझ आत्मामे कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता। किसी भी परपदार्थसे मुझमें कोई परिणति नहीं होती। यह मैं भी जो कुछ कर पाता हूँ अपने आपके प्रदेशोंमे ही, जो कुछ ज्ञानमय भाव करता है सो ही कर पाता हूँ। ऐसा विशुद्ध सत्र विविक्त ज्ञानमात्र अपने आपको निरखना यही निर्मल आशय है। सो ऐसे धीर वीर पुरुष निर्मल चित्त वाले समस्त अवस्थावोंमे सब जगह सब समय ध्यान करनेके योग्य बनते हैं।

संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः।

सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥१३१४॥

कैसा स्थान हो जहा मनुष्योंका आवागमन नहीं, जनतासे रहित क्षेत्र है अथवा जनसकीर्ण क्षेत्र हो, बहुतसे पुरुष जहा निवास करते हैं, आते है, जाते हैं ऐसा कोई क्षेत्र हो, अथवा कोई योगी अच्छी प्रकार बैठा हो आसनसे, ढगसे अथवा कोई खोटे प्रकार बैठा हो, यदि चित्त स्थिरताको धारण करता है तो समझिये कि उसके आत्मामे ध्यानकी पात्रता है। ध्यानोंमें ध्यान एक है आत्मध्यान। ध्यानके बिना यद्यपि कोई पुरुष रह नहीं सकता। प्रत्येक जीवके ध्यान निरन्तर चलता रहता है लेकिन वे सब ध्यान तो ससारमें रुलानेके ही कारण बन रहे हैं। तो वह ध्यान ध्यान नहीं है किन्तु अपने आपके आत्माका ध्यान ही वास्तविक ध्यान है। जैसे ज्ञानोंमें ज्ञान ज्ञानका ज्ञान करते हैं ऐसे ही ध्यानोंमे ध्यानी ध्यानका आधारभूत अन्तस्तत्त्वक आश्रय लेते हैं। तो किसी भी स्थितिमे हो, कैसी भी जगहमे हो, कैसे ही आसनमें हो यदि चित्त स्थिरताको प्राप्त है, मन जिसका चलित नहीं है ऐसे पुरुषको ध्यानकी सिद्धि होती है, उसका निषेध नहीं है।

विजने जनसकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा।

यदि धत्ते स्थिरं चित्तं न तदास्ति निषेधनम् ॥१३१५॥

ध्यानी मुनि ध्यानके समय प्रसन्न मुख होकर या तो सीधा पूर्व दिशामें ही मुख करते हैं अथवा उत्तर दिशामें भी मुख करके ध्यान करते हैं। पूर्व दिशामे ध्यान करनेकी बात अधिकतर क्यों कही गई है कि उस दिशामें मन प्रसन्न रहता है, सूर्यका उदय पूर्व दिशामे होता है उसकी सुध बनी रहती है। और अपने आपमें इस प्रकार घटता है जैसे सूर्यका उदय पूर्व दिशासे होता ऐसे ही ध्यानके फलमें जो कुछ भी

विशुद्ध वृत्ति होगी, वह आत्मासे होगी पर बाह्य साधनोंमें पूर्व दिशा कुछ शुभकारी दिशा है ध्यान जमाने वाली और स्वास्थ्यकी दृष्टिसे प्रात:काल पूर्व दिशामें बैठकर पूर्व दिशाको मुख करके जितना अधिक सूर्यकी किरणोंका सेवन किया जाय तो उसमे ज्ञानबलकी भी विशेषता आ जाती है। यों पूर्व दिशाके सम्मुख होकर ध्यानी पुरुष ध्यान करते है और उत्तरकी तरफ मुख करके ध्यान किया जाता है उसका कारण है कि उत्तर दिशामे विदेह क्षेत्र है जहां हमेशा तीर्थंकर रहा करते हैं। तो उत्तर दिशामे मुख करके बैठनेसे सामने देखा नजरमें विचारमे कि यह तीर्थंकर देव हैं, ये धर्मात्मा साधु-सत ऋषिजन विराजे हैं, विदेह क्षेत्रका दृश्य देखनेमे आ जाय ऐसी थोडीसी सुध रहती है तो उत्तर दिशामे मुख करनेसे उन 'धर्मयोनियों'का ध्यान रहता है। इस कारण उत्तर दिशामे मुख करके अथवा पूर्व दिशामें मुख करके ध्यान करनेकी बात आचार्यदेवने बतायी है। वैसे ही कोई किसी भी दिशामें मुख करके ध्यान करने बैठ जाय, तत्त्वज्ञानी है, विरक्त है तो क्या उसके ध्यान न बनेगा ? बनेगा, लेकिन एक आम रीतिकी बात है। तत्त्वज्ञानी विरक्त पुरुष तो किसी भी दिशामे मुख करके ध्यान करे, किसी भी आसनसे ध्यान करे तो सिद्धि हो सकती है। नियम नहीं है कि ऐसा आसन लगाये तब ही वह धर्मका मुक्तिका पात्र होगा। अपने आपमे कोई दोष न हो, ऐब न हो, दूसरेका अकल्याण न विचारे, जो इस प्रकार शुद्ध आशयसे अपने आपके दर्शनमे लगता है ऐसा पुरुष ध्यानका उत्तम पात्र माना गया है। ध्यान करना हो तो एक ता यह ज्ञान रखना कि मैं ज्ञानस्वरूप हू और फिर परके विकल्प न होना, अवश्यमेव ध्यानकी सिद्धि होगी।

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ।।१६१६।।

ऐसे योगी जो चारित्र और ज्ञानसे सम्पन्न हैं, जिन्होंने इन्द्रियोंको जीत लिया है, जिनमे दूसरोके प्रति मात्सर्य और द्वेष नहीं है ऐसे योगीश्वर अनेक अवस्थावोंमें रहकर भी मोक्षको प्राप्त हुए हैं। यहाँ आसनका प्रसग चल रहा है। आसन स्थिर लगानेसे चित्तमे एकाग्रता होती है। ध्यानका कारण है कि आसन स्थिर रहे। पद्मासनसे बैठे तो, कायोत्सर्गसे बैठे तो, चित्तकी एकाग्रता रहे तो ध्यानकी सिद्धि है और उस ध्यानसे मुक्तिकी प्राप्ति है। लेकिन जो बड़े तत्त्वज्ञानी हैं, वज्र जैसा जिनका शरीर है, विषयोंको जिन्होने जीत लिया है ऐसे योगीश्वर किसी भी स्थितिमे बैठे हों, एक पैर ऊंचा कर एक नीचा कर किसी भी बैठकमें हों, ध्यानके आसनमे न भी हो लेकिन ऐसे अनेक योगीश्वरोंने किसी अन्य आसनमें रहकर ध्यानके बलसे मुक्तिकी प्राप्ति की है। एक अपना चित्त अपने वश है तो उसको सब समृद्धि मिल गयी और जब चित्त वश नहीं रहता तो दूसरोंसे आशा रखता है, उनके वश बनता है और आशा बना बनाकर अपनेको दुःखी बनाया जाता है। मन वश हो गया तो संकट दूर हो गए समझिये। एक कहावत है कि मन चगा तो कठौतीमे गगा। इसका तात्पर्य क्या है ? एक कथा है कि एक चमार अपने द्वार पर बैठा जूते बना रहा था। सामनेसे निकला एक ब्राह्मण। चमारने कहा राम राम। आप कहाँ जा रहे है ? तो ब्राह्मण बोला कि हम गगा नदी नहानके लिए हरिद्वार जा रहे हैं। ·· किसलिए ? ···गगामाईको फूल चढ़ानेके लिए। ·· अच्छा ये दो पैसे हमारे भी ले लो, इन्हें गगामाईमे चढ़ा देना, लेकिन गगामाई जब अपने हाथ बाहर निकाले तब चढ़ाना। यों ही न चढा देना। सस्ते जमानेकी बात है। उस समय दो पैसेमे पेट भी भर लिया जाता था। ब्राह्मण सोचता है कि वे दोनों पैसे अपने पास रख लेंगे और वापिस आकर चमारसे कह देंगे कि तुम्हारे दोनों पैसे चढ़ा दिया। ब्राह्मण तो चला गया और उन दोनों पैसोंको अपने खर्चमे ले लिया। जब ब्राह्मण लौटकर आया तो चमारने पूछा कि क्या आपने हमारे दो पैसे गगामाईको चढ़ा दिये थे ? तो ब्राह्मण कहता है—हां हां चढ़ा दिये थे। ··तो क्या गगामाईने अपने हाथ बाहर निकाला था ? · अरे बेवकूफ कहीं गगामाई नदीसे हाथ भी बाहर निकाला करती है। तो चमार बोला कि तुम्हारी श्रद्धामे, भक्तिमे अभी कमी है। अरे हम तो वहां.

न जायेंगे, गंगामाई हमारी इस कठौतीमें ही हाथ निकाल लेगी। कुछ लोग यह देखनेके लिए खड़े हो गए कि देखें तो सही कि यह चमार कैसे गगामाईके हाथ अपनी इस कठौतीमे निकल पाता है। आखिर हुआ क्या कि ये जो कौतूहलप्रिय व्यतरदेव घूमा करते हैं वे आये उस कौतूहलको देखनेके लिए। वह भी एक कौतूहल की बात थी। जब वह चमार गंगामाईका ध्यान करने बैठा तो एक व्यतरदेवने उस कठौतीमेसे अपना हाथ निकाल दिया। तबसे यह बात प्रसिद्ध हो गयी कि मन चगा तो कठौतीमे गगा। तो सारी बातें इस मनके नियत्रणपर निर्भर हैं। आज मनुष्य इतना दु खी क्यों हो रहे हैं कि मनपर नियत्रण नहीं है। तो जिनका मन नियंत्रित है उन्हें उसका अच्छा फल मिलना है और जब मन नियत्रित नहीं है तो चाहे कितना ही भरपेट हो—मनने एक चाह करली कि अमुक चीज खानी है तो जब मन नियत्रणमें नहीं रहता तब सकट सामने आ जाते हैं। तो जिन योगियोंका मन वशमें है, विषयोंको जिन्होंने जीत लिया है, ध्यान, ज्ञान, तत्त्वज्ञानसे जो सम्पन्न हैं ऐसे योगीश्वर किसी भी स्थितिमे रहें तो ऐसे योगीश्वर पूर्वकालमें विना किसी विशेष आसनके मोक्षको प्राप्त हुए हैं। तो ध्यानके लिए सही बात यद्यपि बताया है अच्छे स्थान पर रहना, स्थिर आसन लगाना, प्राणायाम आदिक करना, पर जिनके तत्त्वज्ञान विशाल है ऐसे पुरुषोंको अपने ज्ञान वैराग्य बलसे विना ही प्राणायाम, विना ही आसन आदिकसे मुक्तिकी प्राप्ति हो गयी।

चरणज्ञानसम्पन्ना जिताक्षा वीतमत्सराः।
प्रागनेकास्ववस्थासु संप्राप्ता यमिनः शिवम् ॥१३१७॥

अब ध्यानके स्वामी कौन हैं? इस सम्बधमें बता रहे हैं। मुख्य रूपसे तो प्रमत्त मुनि जिनमे प्रमाद नहीं रहा, छठे और ७ वें गुणस्थानसे ऊपरके मुनिराज तो मुख्य रूपसे ध्यानके स्वामी हैं और उससे नीचे प्रमत्त जिनके प्रमाद हैं, अभी कषाय जीवित हैं ऐसे प्रमादी, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उपचारसे स्वामी कहे गए हैं। प्रमाद नाम है आत्माके हितमे उत्साह न जगनेका। जैसे यहां अनेक लोग बहुत अधिक श्रम करते हैं, रात दिवस अधिक परिश्रम किया करते हैं, रोजिगारके लिए, कृषिके लिए और अनेक अपनी आजीविकाके लिए श्रम किया करते हैं लेकिन क्या वे निष्प्रमाद हैं? नहीं। प्रमादका अर्थ है आत्माकी भलाईमें उत्साह न जगना। मेरे आत्माका कैसे कल्याण हो, कल्याणका क्या स्वरूप है ऐसी आत्मकल्याणके लिए इच्छा जगना सो निष्प्रमाद है और आत्महितमें प्रमाद रहना सो प्रमाद है। जो जीव ज्ञानी तो हो गए पर प्रमाद नहीं निकला, तीव्र उत्साह नहीं जगा धर्मके लिए ऐसे ज्ञानी प्रमत्त पुरुष उपचारसे ध्यानके स्वामी हैं और जिनके निष्प्रमादता उत्पन्न हुई है ऐसे तत्त्वज्ञानी जीव मुख्यरूपसे ध्यानके स्वामी हो गए।

मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ।
अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम् ॥१३१८॥

जो प्रमत्त हैं आत्महितमें जिनका उत्साह नहीं जगा है ऐसे ज्ञानी पुरुष भी ध्याता तो माने गए हैं परन्तु वे उत्कृष्ट ध्याता नहीं हैं। जो विकल्प रखते हैं, घरमे रहते हैं, किन्तु हैं ज्ञानी, यथार्थ निर्णय उनके हो गया है ऐसे जन अधिकसे अधिक पचम गुणस्थान तकके होते हैं और प्रमाद तो छठे गुणस्थान तक होता है, तहाँ तक तो यह जीव एक साधारण ध्याता है और जब प्रमाद भी मिट गया और आत्माके दर्शन में निरन्तर सावधानी रहती है तो वह अप्रमत्त है, वह ध्यानका मुख्यरूपसे स्वामी है और जो प्रमत्तविरत हैं वे ध्यानके उपचारसे स्वामी कहे गए हैं। हम आप भी गृहस्थावस्थामे रहकर मुख्यतया ध्याता नहीं हो सकते। अनेक विकल्प अनेक शिथिलताएं बसी हुई हैं तो मुख्यरूपसे ध्याता अप्रमत्त पुरुष ही होता है। तो जो अप्रमत्त हो, जिसका सस्थान उत्तम हो और शरीर भी वज्रवत् हो, अपनी इन्द्रियको वश रखने वाला हो, और ज्ञान भी बहुत अधिक बढ़ा चढ़ा हो, जो अपने आपके मनको रोक सकते हैं ऐसे स्वरक्षित आत्मा उत्कृष्ट ध्यानके ध्याता कहे गए हैं। ध्यानमे असलमे बाधा तो आती है विषयकषायोंके भावोंसे। रच भी किसी भी

विषयमें अनुराग हो तो धर्ममें ध्यान कहाँसे जमेगा ? परिग्रह वैभवमें अनुराग हो वहाँ मन्दिरमें कब तक बैठा जा सकेगा ? तो जो समृद्ध आत्मा है, अपने मनको वशमे रखने वाला है वह पुरुष उत्तम ध्यानका ध्याता होता है जिसके प्रसादसे मुक्ति प्राप्त होती है। तो जो अप्रकाय हों, स्थिर चित्त वाले हों, पूर्वके ज्ञाता हों, अपनेको सम्वररूप जिन्होंने कर लिया हो ऐसे पुरुष धीर बीर सम्पूर्ण लक्षण वाले ध्याता माने गए हैं। ध्यान का सम्बंध ज्ञानसे है, जिसने अपने आपके स्वरूपका परिचय पा लिया है वह ज्ञानी पुरुष निराकुल रहा करता है। आकुलता है किसी परपदार्थमे चित्त लगानेमें। सब जगह निर्णय करलो, सभी परिस्थितियोंमें देख लो।

सर्व समय देखलो, जब भी कभी कोई आकुलता होती है तो वह आकुलता किसी न किसी पर-पदार्थमें इच्छा, आशा, वासना बनाये रहनेके कारण है। तो आकुलता है अज्ञानकी भ्रमकी। भ्रम मिटा कि आकुलता मिटी, झट वहाँ सुखी हो गए। परपदार्थोंमें ममताका परिणाम करनेका कितना कठिन भ्रम जीवोंको लगा है, पर हैं अपने प्रदेशोंसे अत्यन्त भिन्न। मेरे सोचनेसे किसी भी परपदार्थमे कोई परिणमन होता नहीं है, ऐसे अत्यन्त भिन्न हैं समस्त पदार्थ मेरे आत्मासे, फिर भी उस ही ममताकी ओर अपनेको ले जायें तो स्वयं दुःखी होते हैं। जीवको सुखी अथवा दुःखी करने वाला कोई बाहरमें नहीं है, भ्रम मिटा कि वे सब दुःख मिट जाते है। जैसे स्वप्नमे कोई गड़बड बात देख लिया, बनमें फंस गए, कोई शेर आ रहा है, वह मुझपर पंजा मारने वाला है, ऐसी खोटी बात स्वप्नमे कोई देखले तो उस समय यह कितना दुःखी रहता है ? स्वप्नमें यह मालूम नहीं होता कि मैं स्वप्न देख रहा हू, फिर स्वप्न ही क्या रहा, तो जैसे स्वप्नमे देखी हुई बात मायारूप है, परमार्थभूत नहीं है इसी प्रकार ये सब अज्ञान, ये सब मायारूप हैं, ये मेरे नहीं हैं, यों सबसे निराले अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करना सो धर्मपालन है, और इस धर्मके होते सन्ते अशान्ति नहीं हो सकती। अशान्ति तो परपदार्थोंमें ममत्व करनेसे है। ममता छोड दें अभी अशान्ति मिट गयी। तो अशान्ति दूर करनेके लिए यत्न होना चाहिए तत्त्वज्ञानके अर्जनका। तत्त्वज्ञानका मतलब संक्षेपमें इस प्रकार समझिये जगतमे जितने भी पदार्थ है वे सब पदार्थ अपने अपने स्वरूपको लिए हुए हैं। जैसे यहाँ हम आप सब जीव हैं हम सुखी हों, खुश हो जायें तो सब कहां सुखी हो पाते हैं ? इससे जाना जाता है कि वे भिन्न हैं। यों सब पदार्थोंसे अपनी भिन्नता निरखना यही है तत्त्वज्ञान। जब कभी कोई संकटकी स्थिति आये तो तुरन्त ख्याल बदल लें। संकट है क्या ? बाह्य पदार्थोंमें, जड़ अथवा चेतन पदार्थोंमें किसी प्रकारका कुछ परिणमन हो तो वह मेरा स्वरूप है। ऐसे ही समस्त पदार्थ अपने आपके स्वरूपमे परिणमन करते हैं। मेरा किसी भी परपदार्थसे संबध नहीं। जो कुछ करता हू उसका फल स्वयं भोगता हू। मैं तो केवल अपने आपके इस चैतन्य स्वरूपमे रमा करता हु, ऐसी दृष्टि कोई बनाये तो उसका संकट क्षण भरमें दूर हो जाता है।

अप्रमत्तः सुसंस्थानो वज्रकायो वशी स्थिरः ।
पूर्ववित्संवृतो धीरो ध्याता संपूर्णलक्षणः ॥१३१९॥

अभी पहिले श्लोकमें बताया है कि जो अग पूर्वोका ध्याता हो वह शुद्ध ध्यानका वास्तविक दृष्टिमे पात्र होता है। यहाँ अब यह बतला रहे हैं कि चाहे ज्ञान सम्पूर्ण न हो, श्रुत विकल हो अथवा शास्त्रका ज्ञान न हो वह भी यदि सम्यग्दृष्टि है, मिथ्यात्वसे दूर है तो वह इस अपनी नीची श्रेणीमें अपनी योग्यतानुसार इन सब साधनोंको छोड़कर आत्मध्यानका पात्र होता है, ऐसा शास्त्रमें कहा गया है। ध्यान है ज्ञानपर निर्भर। ज्ञान ही न हो आत्माका तो ध्यान किसका करें ? तो जो कम श्रुतका धारी हो वह पुरुष भी ध्यानका स्वामी तो है किन्तु वह एक नीची श्रेणीके ध्यानका स्वामी माना गया है। ध्यानविशुद्धि हो तो यही सच्चे धर्मकी कमाई है। और जिसका मन छल प्रपचोंसे परिपूर्ण है उसके ध्यानकी कहाँ सिद्धि है ?

श्रुतेन विकलेनापि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तितः ।
अधःश्रेण्यां प्रवृत्तात्मा धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥१३२०॥

कितने ही आचार्योंने यह बताया है कि धर्मध्यानके ध्यानी ४ प्रकारके जीव होते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त विरत, और अप्रमत्त विरत। असंयत सम्यग्दृष्टि तो वह श्रावक है जिसके व्रत तो नहीं हो पाता, पर सम्यक्त्व जग गया है। जिसके सम्यक्त्व जग जाता है उसे व्रत धारण करनेकी ओर प्रीति जगती है। यद्यपि यह बात है और सम्यक्त्व जग जानेपर जब तक सयम नहीं बना तब तक वह अविरत सम्यग्दृष्टि जीव कहलाता है। तो ध्यानके ये भी स्वामी हैं तत्त्वज्ञानी पुरुष और इससे ऊचे स्वामी हैं पचम गुण स्थान वाले जीव। उनके मन है, चर्चायें करते हैं और ज्ञानावरणका ऐसा क्षयोपशम है कि उनके ज्ञान जग रहा, विवेक जग रहा, पर सयम नहीं है, पर उसके सम्यग्ज्ञान हो जाय, वह कहलाता है अविरत सम्यग्दृष्टि जीव। ध्यान उसके भी होता है। तो यहा असंयत सम्यग्दृष्टि जीव ध्यानी पुरुषोंमें एक छोटी श्रेणीके ध्यानी हैं और उससे बढ़कर ध्यानी हैं देशविरत, जिसको सयमासयम प्रकट हो गया है, सम्यग्दर्शन भी हो गया है वह जीव देशविरत गुणस्थान वाला कहलाता है। इसके त्रस जीवकी हिंसाका सर्वथा त्याग है और प्रयोजन बिना स्थावर हिंसा भी नहीं करता। झूठ, चोरी कुशील आदिका भी त्याग है। ऐसे पुरुष कहलाते हैं देशविरत वाले जीव। ये असयत सम्यग्दृष्टियोंसे बढ़कर है। तीसरी पदवी है प्रमत्तविरतकी। मुनि हो गए पर अभी प्रमाद है, धर्मके धारणका उत्साह नहीं है, ऐसे जो प्रमादी जीव हैं किन्तु तत्त्वज्ञान जगनेके कारण उनके भीतरमें वैराग्यता है, तो जो ज्ञानी हैं, विरक्त हैं और कर्मोदयके कारण उनके सयम प्रकट नहीं हो सका है अथवा सयम हो भी गया है किन्तु प्रमाद नहीं हटा, ऐसे योगीश्वर प्रमत्त गुणस्थान वाले जीव कहलाते हैं, उनके भी ध्यान होता है। और अतिम हैं अप्रमत्त जीव, सप्तम गुणस्थान वाले जीव। यह ध्यान सप्तम गुणस्थानके अधिकारी जीवोंको माना गया है। ये जितने भी ध्याता जीव हैं सबके मूलमें एक कला बराबर पडी रहती है। तो ये ४ प्रकारके जीव ध्यानके अधिकारी बताये गए हैं और जब तत्त्वज्ञान जग जाता है किसीको तब वे ध्यानके अधिकारी होते हैं। प्रमाद न रहे तो वह उत्कृष्ट ध्याता है। सब कुछ गाड़ी ध्यानपर चल रही है। खोटे ध्यान हैं तो ससार चलता है, कुछ विशुद्ध ध्यान है तो ससारकी अच्छी-अच्छी पदवियां प्राप्त होती हैं, पूर्ण विशुद्ध ध्यान हो तो उससे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। यों ध्यानके ध्याता पुरुष ४ तरहके बताये गए हैं। सयमशील, सम्यग्दृष्टि पचम गुणस्थान वाले सम्यग्दृष्टि। जो प्रमादरहित योगीश्वर हैं ऐसे अप्रमत्तविरत ये सब ध्यानके अधिकारी कहे गए हैं।

किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः।
सदृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥१३२१॥

ध्यानी पुरुष तीन तरहके बताये गए हैं उत्तम, मध्यम और जघन्य। तो जैसे विशुद्ध ध्यान होता है, अपने आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि जगे वहाँ ही वे बलवान ध्यानी होते हैं और फल भी उन्हें उत्कृष्ट ध्यानका मिलता है। बस करने योग्य काम यही है कि अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको पहिचानें और ऐसे ही शुद्ध स्वरूपके निरखते रहनेमें अपना उपयोग लगायें। बीच-बीचमें यह उपयोग टूटता है, अन्य प्रकारके परिणाम होते हैं। फिर भी तत्त्वज्ञानमें अपना चित्त बसाये रहें, अपने आपको सबसे निराला समझते रहें, तो किसी प्रकारके भी सकट नहीं आ सकते। एतदर्थ कर्तव्य है कि हम अपने आपको अमूर्त ज्ञानस्वरूप मात्र ही मानते रहें, चाहे बाहरमें कुछ भी स्थिति हो, तत्त्वज्ञानसे जिन्हें प्रेम है उनको मुक्तिकी अवश्य प्राप्ति होती है।

ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषा ध्यानान्यपि त्रिधा।
लेश्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धिरुदाहृता ॥१३२२॥

योगी पुरुषोंके लिए शिक्षा द रहे हैं कि इन्द्रियको जीतकर वे आसनका विजय प्राप्त करें क्योंकि

जिनका आसन स्थिर होता है वे समाधिभावमे खेदको प्राप्त नहीं होते। आसन विजय करनेके लिए जितेन्द्रिय होनेका गुण जरूरी है। जो इन्द्रियके विषयोमें इच्छा रखते हैं, और शरीरके आराममे जिनकी रुचि रहती है वे आसनस्थिर नहीं रख सकते। और जब स्थिर आसन नहीं होता है तब सामायिकमे समतामे, समाधिमे वे खेद मानते है। जिनका आसन स्थिर हो उन्हें समाधिमे खेद नहीं प्राप्त होता। आसनको जीतनेसे ध्यान में चलायमान नहीं हो सकते। अभी प्रयोग करके देखलो, ठीक पद्मासन मारकर शरीरका एकदम सीधा रखकर और कुछ भीतरमें मीठी मधुर ध्वनिसे ओम् बोलें तो चित्तमे कितनी प्रसन्नता जगती है ? ता स्थिर आसन में होना ध्यानार्थीके लिए आवश्यक है।

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥१३२३॥

जिस पुरुषको आसनका अभ्यास है उसको तो खेद नहीं होता, पर जिसे आसनका अभ्यास नहीं है उसके शरीरकी स्थिरता नहीं रहती और समाधिके समय शरीरकी विकलतासे भी निश्चयसे वह खेदरूप हो जाता है। आसनका अभ्यास न होनेसे शरीरमे भी खेद बना रहता है और सीधी बात तो यह है कि जिसने अपने आत्माके सहजस्वरूपका निर्णय किया है और अपनेको जिसने चिदानन्दस्वरूप निरखा है उसके शरीरमे खेद नहीं होता अथवा वह खेदरूप अपनेको अनुभव नहीं करता। तब उस आत्मतत्त्वमें अपना उपयोग स्थिर रखनेके लिए बाह्यसाधन है आसन मारकर ध्यान करना।

आसनाभ्यासवैकल्याद्वपुःस्थैर्यं न विद्यते।
खिद्यते त्वङ्गवैकल्यात्समाधिसमये ध्रुवम् ॥१३२४॥

जिन्होंने आसनको जीत लिया है अर्थात् स्थिरतासे अपना आसन लगा सकते हैं ऐसे योगी पुरुष उपद्रवोंसे भी पड़ित हो जायें तो भी खेदरूप अनुभव नहीं करते और वहाँ भी थोड़ा अदाज कर लेते हैं कि सामायिकमें यदि ढीले ढाले बैठे हों तो उस समय मच्छरोंसे बाधा ज्यादा मालूम पड़ेगी और जब आसन स्थिर करके सुदृढ होकर बैठ जायें तो मच्छरोंसे बाधा ज्यादा मालूम होती है, मच्छर वही हैं, उनकी वृत्ति वही हैं पर अपना-अपना मन बदल जाता है। तो स्थिर आसन होनेपर बहुतसे उपसर्ग सह लेनेमें सुगमता हो जाती है। जिनका आसन स्थिर है ऐसे योगियोंको वायुसे भी ज्यादा बाधा नहीं पहुचती। वह योगी पद्माशन मारकर देहको बिल्कुल दृढ़ करके बैठा रहता है, और जब देहको ढीला-ढाला करके बैठता है तो उसे वायुसे भी बाधा मालूम होती है। इसी प्रकार गर्मीका आताप, सूर्यकी गर्मी स्थिर आसन वालेको कम महसूस होती है। किसी गर्म जगहपर भी वह योगी बैठा हो; पर देहको स्थिर करके सुदृढ़ होकर यदि बैठ जाय तो उसके लिए वही जगह ठडी बन जायगी। पसीनेसे, पानीसे, किसीसे भी स्थिर आसनसे बैठने वाले योगीको बाधा नहीं मालूम होती। इसी प्रकार तुषारसे भी उस स्थिर आसन वाले योगीको बाधा नहीं मालूम होती। बहुतसे जंतु समूहके द्वारा भी पीड़ित हो जाय तो भी स्थिर आसनका करने वाला योगी पुरुष पीड़ित नहीं होता। ध्यानका साधन स्थिर आसनसे रहता है। उस स्थिर आसनमे ऐसा गुण है कि सुगमतया चित्त बाह्य पदार्थोंमे जानेसे रुक जाता है और अपने आपके जाननेमें, अनुभवनमें वह विशेष उत्सुक रहता है और सफल भी होता है। तो यों जिसने आसनको जीत लिया ऐसे साधु पुरुष अनेक उपद्रव और उपसर्गोंसे पीडित होने पर भी खेदरूप नहीं बनते हैं।

वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकशः।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते ॥१३२५॥

सर्वप्रथम तो चित्तको प्रसन्न करने वाले रमणीक स्थानमें जाना चाहिए और फिर उस स्थानमें

बड़े हर्षके साथ एक प्रभुभक्तिका यत्न रखकर आत्मस्मरणका पुरुषार्थ करके जो प्रदीप्यमान रहता है ऐसा श्रीमान योगी वैभववान पर्यंक आसनका आश्रय लेता है। सुरमणीक स्थान हो और चित्तमें प्रसन्नता हो, आसन स्थिर हो तो आत्माके अनुभव होनेमें उसे विलम्ब नहीं लगता। तो योगी पुरुषोंको इन दो बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिए कि एक तो रमणीक स्थान हो, अनेक दोषोंसे रहित हो, चित्तमें प्रसन्नता देवे ऐसा स्थान हो, फिर वहाँ बड़ा हर्ष मानते हुए—मैं इस समय अपने आपके कारणपरमात्मतत्त्वका अवलम्बन ले रहा हूँ, उसमें बड़ा हर्ष मानते हुए पद्मासनको स्थिरतासे मारें, ऐसा आचार्यदेव योगी जनोंको उपदेश कर रहे हैं।

आसाद्याभिमतं रम्यं स्थानं चित्तप्रसत्तिदम्।
उद्भिन्नपुलकः श्रीमान्पर्यंङ्कमधितिष्ठति ॥१३२६॥

अब पद्मासनसे बैठनेका यह तरीका है कि प्रथम तो बायां पैर दाहिने पैर पर रखे, फिर दाहिना पैर बायें पैर पर रखें और उस पद्मासनके बीचमें दोनों हाथोंको विकसित कमलकी तरह निश्चल रखें। न मुट्ठी बांधकर बैठें और न सीधा हाथ करके, किन्तु जैसे विकसित कमलकी मुद्रा होती है उसमें अपने हाथ हथेलीको बनायें, और पहिले बायां हाथ रखें और ऊपर दाहिना हाथ रखें, यों उत्तम रमणीक देशमें जाकर उस स्थानमें अपने आसनको स्थिर बनाकर उस आसनके बीच पद्मासनके बीच दोनों हाथोंको कमलकी तरह विकसित मुद्रामें रखकर निश्चलतासे बैठे। दोनों हाथ अपनी गोदीमें विकसित कमलकी तरह निश्चल रूपसे स्थापे, यह ध्यानकी मुद्रा है। ये सब आसन अनन्त योगीश्वरोंके द्वारा अनुभूत हुए हैं। इस आत्मध्यानके आसनमें एक प्रभाव है कि बाहरी पदार्थोंमें दृष्टि कम रहती है और अपने अंत परमात्मतत्त्वकी दृष्टि अधिक रहती है।

पर्यङ्कदेशमध्यस्थे प्रोत्ताने करकुड्मले।
करोत्युत्फुल्लराजीवसन्निभे च्युतचापले ॥१३२७॥

अत्यन्त निश्चल सौम्यभावको लिए स्पदरहित हैं मद तारे जिसमें, ऐसे दोनों नेत्रोंको ध्यानार्थी योगी नासिकाके अग्रभागपर ठहरते हैं। पद्मासन पहिले तो वीरोंका आसन बताया है, फिर हाथ किस तरह रखे यह दिखाया, अब मुख मुद्रा कैसी हो यह बात इस श्लोकमें बता रहे हैं। दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर हो और वह एक सौम्य मुद्राको लिए हो। क्रोध, मान आदिकी मुद्रा न हो किन्तु सुगम सौम्य मुद्रा हो और फिर आकाशकी जो तारायें हैं वे स्पदरहित हों अर्थात् अगल-बगल ऊंचे नीचे जोरसे न चलें किन्तु चलें तो बिल्कुल मद, वहींके वहीं, थोडासा स्थान बदलकर चलें ऐसे निष्पद तारावोंसे सहित नासिकाके अग्र भाग पर दृष्टि रहती है ध्यान अवस्थामें। वहाँ ध्यान साधनाके लिए लोग अनेक उपाय करते हैं अथवा एक बात यह भी है कि सामने भींतपर कोई एक बिन्दु देखले और दृष्टिसे उस मुद्राको ही बहुत देर तक देखते रहें तो इस प्रक्रियामें मनपर ऐसा असर होता है कि वह मन बाहरी पदार्थोंमे नहीं अटकता। विकल्प उसके दूर हो जाते हैं। और जो नासिकाके अग्रभागपर एक सुगम रीतिसे दृष्टि रखा, उसमें भी यह गुण तो है कि बाहरी पदार्थोंके विकल्प कम होते, पर साथ ही एक ऊंची बात यह भी है कि इससे कोई नया चिन्ह नहीं बनाना है। नाक तो अपने पास रहती है, उसपर दृष्टि रहे तो वह गुण आ जाता है, जो २० हाथ दूर भींतपर कोई चिन्ह बनाकर उसे देखता रहता है। एक जगह दृष्टि लगाये रहनेसे बाहरकी सुध यह छोड देता है और अपने आपके अन्तरमे प्रवेश करना हो इस तरह उसका यत्न होता है। तो ध्यानकी मुद्रामें तीसरी बात यह कही है कि ध्यानार्थी पुरुष अपनी दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर रखें और प्रसन्न होकर सौम्य मुद्रासे जहाँ आँखोंका कटाक्ष न हो, यहाँ वहाँ चलाना न हो और आँखोंका जो मूल खास तारा है उस तारेमें भी मद मद ही स्पद हो, चलन हो, ऐसी ध्यानकी मुद्रा बताई गई है।

नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले ।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके ॥१३२८॥

ध्यानार्थी पुरुष मुखको इस प्रकार करें कि भौहें तो विकाररहित हों, शान्त मुद्रामें रहें। जब कभी किसीको गुस्सा आती है तो लगता है कि भौहें कुछ चढ़ीसी दिखती हैं और जो शान्त रहता है उसकी भौहें गिरी हुई होती हैं। तो ध्यानमें प्रथम बात तो यह चाहिए कि भौहें विकाररहित हों, दूसरी बात—जो मुखके ओंठ हैं ये न बहुत खुले हों और न बहुत मिले हों। जैसे जब किसीको गुस्सा आता है तो ओंठ परस्परमें बहुत तेज भिडते हैं, ऐसी मुद्रा ध्यानके योग्य नहीं है और मुख खुला भी नहीं रहता। केवल ओठोंसे यह विदित होता है कि कुछ खुला मुख है। तो ओंठ न बहुत खुले हों और न ज्यादा मिले ही हों। और सोते हुए मच्छके हृदयकी तरह जिनका मुख कमल हो, धीर हो, गम्भीर हो, शान्त हो, ऐसी मुद्रा ध्यानके योग्य कही गई है।

भ्रूवल्लीविक्रियाहीनं सुश्लिष्टाधरपल्लवम् ।
सुप्तमत्स्यहृदप्रायं विदध्यान्मुखपङ्कजम् ॥१३२९॥

योगी साधुवोंको चाहिए कि अपने शरीर को अगाध दयाके समुद्रमें मग्न हो गया है सम्वेद सहित मन जिनका, ऐसा सीधा और लम्बा रखें। जैसे दीवारपर चित्र उकेरे जाते हैं तो वे खड़े स्थिर होते हैं, इस ही प्रकार अपने मनको ऐसा सीधा धर्मानुरागी दयासे भीगा हुआ बनायें तो ऐसे हृदयमें ध्यानकी साधनाका विशेष अवसर होता है।

अगाधकरुणाम्भोधौ मग्नः संविग्नमानसः ।
ऋज्वायतं वपुर्धत्ते प्रशस्तं पुस्तमूर्तिवत् ॥१३३०॥

मुनि जब ध्यानका आसन जमाकर बैठता है तब उसे ऐसा होना चाहिए कि प्रथम तो भेद-विज्ञानरूप समुद्रकी लहरोंसे निर्मल हुआ मन बने। सर्वसुखोंका आधार भेदविज्ञान है। ससारसे छुटकारा पानेका उपाय भेदविज्ञान है। ध्यानार्थी पुरुषको प्रथम तो भेदविज्ञानरूप समुद्रकी कल्लोलोंसे निर्मल मन वाला बनना चाहिए, फिर ज्ञानरूप मत्रसे निकाल दिया है समस्त रागादिक विषम गृह पिशाच जिसने, ऐसे हों। प्रथम तो तत्त्वज्ञान हो, भेदविज्ञान हो और फिर वह ज्ञान भेदको छोड़कर अभेदस्वरूप अपने आत्मामें लगे। बहुत देरमें सब पदार्थोंको निरखकर यह ज्ञान किया कि प्रत्येक पदार्थ एक दूसरेसे अत्यन्त जुदे हैं। इस भेदविज्ञानके प्रतापसे आकुलता-व्याकुलता नहीं रहती। जहां यह निर्णय हो गया कि मैं तो अकेला अपने ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ। जब यों निर्णय कर लिया गया तो फिर उसे विह्वलता किस बातको? विह्वल तो लोग परपदार्थोंमें आत्मीयता और ममताका भाव बनाकर होते हैं। मान लो किसी प्रकार अन्याय से या अपने आपमें ममता आदिक विकारोंके कारण कुछ उद्यम हो, सो इस कारण थोड़ा बहुत वैभव इकट्ठा हो गया या अपना थोडा यश हो गया, पर उससे लाभ क्या? योगी पुरुषको चाहिए कि वह सर्वप्रथम सर्व-पदार्थोंका परस्परमें भेद निर्णय करें और फिर दूसरे पदार्थोंको भूल ही जायें, जिनसे न्यारा अपने आपके आत्माको जाना जा रहा था। अब तो आखिरी सीधी उस अपने आपके स्वरूपकी भावना रखें, इस उपासना के प्रतापसे सर्व लौकिक संकट दूर हो जाते हैं। तो ये ध्यानार्थी पुरुष इस ज्ञानरूपी मत्रके द्वारा समस्त रागादिक विभावोंको दूर कर देते हैं, इसी कारण रागादिक विषम गृह, दैत्य, राक्षस, पिशाच ये पीछा छोड़ देते हैं, ऐसे पुरुष भी आत्माके ध्यानमें सफल होते हैं।

विवेकवार्द्धिकल्लोलैर्निर्मलीकृतमानसः ।
ज्ञानमन्त्रोद्धृताशेषरागादिविषमग्रहः ॥१३३१॥

रत्नाकरकी तरह तो अगाध हो, जैसे समुद्र बड़ा गम्भीर है इसी प्रकार ध्यानार्थी पुरुषका हृदय बड़ा गम्भीर रहता है। उसके चित्तमे यों ही साधारण साधनोंके द्वारा क्षोभ नहीं होता। जो समुद्रकी तरह अगाध हो, गम्भीर हो और मेरुपर्वतकी तरह निश्चल हो, जैसे मेरुपर्वत सीधा निश्चल रहता है, उसका नाम ही इसी कारण यह पडा है तो जैसे मेरुपर्वत निश्चल है इसी प्रकार ध्यानी योगीका मन भी निश्चल रहना चाहिए। जैसे सभी कार्योंमें, दान आदिक कार्योंमें चित्त लगाया जा रहा है वैसे ही यह बात भी मुख्यतासे रखनी चाहिए कि यह आत्मस्वरूप स्वय निश्चल है और गम्भीर है और प्रशान्तमे समस्त विश्व है, उसके स्पंदनसे रहित होकर सारा भ्रम जिनका दूर हो गया है, ऐसा निश्चल मन मेरुपर्वतकी तरह अगाध बने।

रत्नाकर इवागाधः सुराद्रिरिव निश्चलः।
प्रशान्तविश्वविस्पन्दप्रणष्टसकलभ्रमः ॥१३३२॥

क्या यह लोक निश्चल है अथवा पाषाणकी मूर्ति है ? इस प्रकार स्थिर आसनसे रहकर योगी पुरुष विषयकषायोंपर विजय प्राप्त करते हैं। यदि यों ध्यानी पुरुष स्थिर आसनको लगायें और जैसे उस ध्यानकी साधना करते हैं उन छोटे-छोटे साधनोंका भी उपयोग करें तो फिर समीपमे रहने वाले पुरुषोंके द्वारा वे चित्तमें प्रशान्त रहते हैं। जो ध्यानी पुरुष हैं उन्हें निरखकर दूसरे लोग ऐसा चिन्तन करें कि क्या यह पत्थर की मूर्ति है, क्या यह चित्राम है ? इस तरह दृढ आसनमे बैठकर फिर प्रभुभक्ति आत्मचिन्तन सहित धर्म-ध्यानको करना चाहिए।

किमयं लोष्ठनिष्पन्नः किं वा पुस्तप्रकल्पितः।
समीपस्थैरपि प्रायः प्राज्ञैर्ध्यानीति लक्ष्यते ॥१३३३॥

जिन्होंने सिद्धान्तका निर्णय किया है ऐसे मुनिजनोंने ध्यानकी सिद्धिके लिए, चित्तकी स्थिरताके लिए, अन्तरात्मामें उपयोग स्थिर बना रहे इसके लिए प्राणायामकी प्रशसा की है। प्राणायाम श्वासको अन्दर लेकर उसे अन्दर बनाये रहना और फिर धीरे-धीरे नाकसे छोड़ना इसका नाम है प्राणायाम। जिनका जितना अभ्यास होवे उतनी देर तक करते हैं। अनेक लोग घंटों तक प्राणायाम कर लेते हैं। सो प्राणायाम ध्यानकी सिद्धिमें साधन तो है, पर प्राणायाम कोई मुख्य साधन नहीं है। मुख्य साधन तो ज्ञान है। तत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो तो उस आत्माको ध्यानसाधनामें, मनकी स्थिरतामें प्राणायाम साधक बनता है, पर मुख्यता है ज्ञानकी, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रकी।

सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते।
मुनिभिर्ध्यानसिद्धयर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ॥१३३४॥

इस कारण बुद्धिमानीसे इस प्राणायामको सीधा कुछ समझ लेना चाहिए, अन्यथा चित्तका वश करना थोडा भी शक्य नहीं है। एक तो जिसके तत्त्वज्ञान है वैराग्य जगा है, बाह्य विषयोंमे प्रीति नहीं है अपने अतस्तत्त्वकी ओर ही झुकाव रहता है उनके प्राणायाम भी स्वयमेव बनता है। जैसे हम आप किसी एक ध्यानमें लग जायें चाहे, वह दूकानका ध्यान हो या अन्य किसी व्यापारका हो, सासारिक हो तो ध्यानमे लगनेसे यह श्वासका आना-जाना जल्दी नहीं होता अर्थात् रुककर श्वास होता है। तो जो आत्माके ध्यानमे लग रहा हो, आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान चल रहा हो उसके प्राणायाम सुगम बन जाता है। जो अज्ञानी जन हैं वे तो विधिसे प्राणायामकी सिद्धि करते है। श्वासको रोकना, फिर भरना ये सब अभ्यास करते हैं लेकिन ज्ञानी पुरुषोंके जब कि एक आत्मस्वरूपकी धुन बन जाता है तो प्राणायाम स्वयमेव बनता है तो प्राणायामकी भी साधना कुछ-कुछ होना चाहिए इससे चित्त स्थिर रहता है। पहिले तो रमणीक स्थान हो, फिर आसनपर

विजय हो। किसी एक विशुद्ध आसनसे बैठ सकें, फिर प्राणायामकी साधना हो तो इससे ध्यानसाधनामें बहुत बल मिलता है। अब प्राणायाम किन विधियोंसे किया जाता है ? उसका प्रारम्भ करते हैं।

अतः साक्षात्स विज्ञेयः पूर्वमेव मनीषिभिः ।
मनागप्यन्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जयः ।।१३३५।।

पूर्वाचार्योंने प्राणायामको तीन भागोंमें बांटा है—एक पूरक, दूसरा कुम्भक और तीसरा रेचक। पूरकका अर्थ है हवासे पूरना अर्थात् श्वासमे हवाको खींचना, कम्भकका अर्थ है—कुम्भ मायने घडा। जैसे घड़ेमे जल भरा जाता है इसी तरह पेटके नाभि स्थानमे हवाको रोकना—इसका नाम है कुम्भक। और फिर धीरे धीरे नासिकासे हवा छोडना इसका नाम है रेचक। इन तीन प्रकारकी क्रियावोंका क्रमसे वर्णन कर रहे हैं।

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः ।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ।।१३३६।।

ऐसे श्वाससे जो १२ अगुल दूर से हवा खिंच रुके इस रफ्तारसे श्वासको लेना अथवा ऐसी शान्तमुद्रामें श्वासका ग्रहण करना कि जिससे यह प्रतीति हो कि नासिकासे श्वास ली जा रही है और शिर के बीचमें जो तालू स्थान है उससे भी कुछ कुछ ध्वनि आती रहती है। यों द्वादश अगुल बाहरसे, इसका नाम पूरक है। श्वासमे पूर्वाकी भी कुछ विधिया हैं। प्राणायामकी बातमे जैसे बाईं नाकसे श्वासको खींचना और फिर भीतर हवाका भरना, फिर दाहिनी नासिका छिद्रसे हवाका निकालना, फिर दाहिनी नासिकासे हवाका खींचना भरना, फिर बायेंसे निकालना। फिर दोनोंसे खींचना भरना और दोनोंसे निकालना। इसके अलावा और ऐसी त्वरित क्रियाएं होती हैं। तो इससे प्रथम तो हृदयकी शुद्धि होती है, शारीरिक शुद्धि होती है और शारीरिक शुद्धिके साथ सम्बध है आत्मशुद्धिका। यदि कुछ तत्त्वज्ञान है, वैराग्य है, जैसे स्नान करने का गृहस्थ जनोंको क्यों विधान है कि स्नान करनेसे शरीरमें कुछ हल्कापन हो जाता है शरीरमें हल्कापन होनेकी स्थितिमें विशुद्ध ध्यानका अवसर होता है। जैसे किसी समय बालगगाधर तिलकने अपने भाषणमें यह कहा था कि जो लोग मानते हैं कि गंगास्नान करनेसे मुक्ति होती है उसका मर्म क्या है ? लोग तो उन शब्दोंके पीछे पड गए, पर उसका मर्म यह है कि वह गगाजल अनेक औषधियोंके बीचसे आता है, ठडा होता है। वह जल मलशोधक है, उसके स्नान करनेसे शरीरमे हल्कापन होता है, मन भी प्रसन्न रहता है और ऐसे समयमें आत्माका ध्यान बन जाता है, अतएव ध्यानमे साधक वह गगास्नान है। यह मर्म न जानकर लोग शब्दोको ही पकडकर रह गए। तो जैसे गृहस्थजनोंको स्नान करना एक मनशुद्धिका कारण बताया है ऐसे ही यह प्राणायामकी विधि भी मनकी शुद्धिका कारण है। तो यहॉ पूरक प्राणायामका विधान कहा गया है कि ऐसी मद चालसे श्वास लेवे जिसमे द्वादशाङ्गसे हवा खिंच सके। उसका नाम है पूरक।

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते ।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ।।१३३७।।

फिर नाभिरूप कमलमे श्वासको स्थिर करके रोकना अर्थात् घड़ेकी तरह जलसे उसे निर्भर बनाना, पूरित बनाना यह कुम्भक प्राणायाम कहलाता है। कुम्भकमे दो बातोंका समावेश है। प्रथम तो हवाका शरीरमे रोकना, दूसरे नाभिके स्थान पर ही रोकना, उस स्थानसे अन्यत्र न चलने देना ऐसी, विधि को कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। इस क्रियामे उपयोग कुछ विलक्षण बन जाता है और बाहरी साधनोंमे विषयोंमें चित्त नहीं फसता है। यह है कुम्भक नामक प्राणायाम। अब रेचक प्राणायामका वर्णन करते हैं।

निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे ।
कुम्भवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः परिकीर्तितः ॥१३३८॥

अपने कोष्ठसे पवनको अति यत्नसे मदरूप बाहर निकाले उसका नाम है रेचक प्राणायाम । यों प्राय' करके लोग जल्दी ही तो श्वास ले लेते हैं और जल्दी ही उसे निकाल लेते हैं, पर प्राणायाममें श्वास भी बहुत धीरे-धीरे लेते जाते हैं । श्वास लेते रहनेमे समय अधिक लगे और फिर उस पवनको नाभिस्थान पर रोकना और छोड देना, धीरे-धीरे छोडना, ताकि छोडनेमें समय अधिक लगे, यह है प्राणायामका विधान, पर लोग जल्दी ही श्वास लेते और जल्दी ही उसे छोड देते हैं । उसमें उपयोगकी विशेषता नहीं हो पाती । तो उस कुम्भकमे भरे हुए पवनको बड़े यत्नसे धीरे-धीरे अपने उदर कोष्ठसे बाहर निकालना इसका नाम रेचक बताया है ।

निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छ्वसनं शनैः ।
स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे ॥१३३९॥

अभी कुम्भकमे जो वायुको नाभिस्थानपर रोक रखा था उस वायुको नाभिके स्थानसे निकाले और हृदयकमलके मध्य भागसे उसे निकाले, फिर तालूके स्थानपर उसे कुछ विश्राम दे और उस तालू भागसे श्वास निकाले ऐसी स्थिति बने तो प्राणायामकी सिद्धि अथवा समाधिकी सिद्धि समझियेगा । तालूके स्थानको देखा होगा बीचके शिरपर । जहाँ शिरके ऊपर बीचमें बहुत कोमल स्थान है, अगुलीसे दबावो तो कुछ दब भी जाता है, और वह स्थान ऊचा-नीचा बराबर उठता रहता है । वहाँसे पवनका गमनागमन होता है । जब यह योगी अपने नाभिमे रोकी हुई हवाको हृदयके मार्गसे लेकर तालूके स्थान तक तो विश्राम कराता है और फिर जब उस ही स्थानसे धीरे-धीरे वह पवन निकलने लगती है तो वह प्राणायामकी स्थिति समझियेगा । विदित नहीं हो पाता कि जैसे नाकसे श्वास निकलती है ऐसे ही शिरके ऊपर मध्यभागसे भी श्वास निकली ऐसा विदित नहीं होता, लेकिन तालू स्थानपर ऐसा प्रभाव होता है कि वहाँसे श्वास कुछ-कुछ आती है । ऐसा जब होने लगता है तब उस योगीको विलक्षण अनुभव होता है, अनहाध्वनि विदित होती है । जो कुछ न समझा हो, न जाना हो ऐसी बातें भी ज्ञानमें आने लगती हैं । उस समय योगीके प्राणायामकी सिद्धि समझना चाहिए ।

नाभिस्कन्धाद्धि निष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम् ॥१३४०॥

अब प्राणायामकी साधनामें कुछ लौकिक चमत्कार भी होते हैं । उस पवनमें चलनेकी गतिको जानकर और उसके रोकनेको समझकर उस वायुके प्रकारोंसे आयु समय भवितव्य शुभ अशुभ ये सब जान लिए जाते हैं, इसका वर्णन इसी ग्रन्थमें आगे आयगा । प्रथम तो प्राणायामके विधानमे एक प्राकृतिक मर्म यह है कि यह जीव जब श्वास लेता है तो स्व की आवाज आती है और जब श्वास छोडता है तो ह की आवाज आती है । इस बातको आप इस समय भी प्रयोग करके देख लीजिए । श्वासका खींचना और बाहर निकालना यह है सोहकी प्रक्रिया । अब सोहका अर्थ क्या है ? सोहका अर्थ है जो वह है सो मैं हूँ । वह कौन ? परमात्मा, प्रभु, जो प्रभु, है सो मैं हूँ । जब श्वास ले रहे हों उस कालमें स्वकी आवाज आती है । जितनी देर श्वास लेते हैं उतनी देर प्रभुका ध्यान रहता । वह प्रभु किस स्वरूप वाला है ? निष्कलंक है, ज्ञानानन्दका पिण्ड है, वे सब बातें विचारमें लायें और जब श्वास बाहर निकलती है तो उस समय हं का शब्द निकलता है । तो उस समय हम अपने स्वरूपका ध्यान करने लगें, तो श्वासकी प्रक्रियामें अपने ज्ञान की प्रक्रिया मिला दें तो इस मेलसे एक आत्मामें विकास उत्पन्न होता है । अशान्ति सकट सब समाप्त हो

जाते हैं। तो पवनकी जो गति है उस गतिकी परखसे शुभ अशुभ जान लिया जाता है और इसमें एक सीधी यह भी बात है कि ध्यानके समय शुभ अशुभ जानने के समय किसीका भविष्य साधारण तथा उत्तम मध्यम जघन्य होता है, इस प्रकार निर्णय करनेके समय जो एक सर्वप्रथम कुछ बिन्दुसा दिखता है, आँखें बन्द करने के बाद जब आँखें खोलनेकी तैयारी करते हैं उस समय कुछ बिन्दु, कुछ रूप नजर आता है। वह रूप यदि पीला, नीला आदि नजर आया तो इन रंगोंकी नजरसे शुभ और अशुभका विभाग किया गया है। और भी किसी प्रकारसे हम इन पवनोंके द्वारा शुभ अशुभका निर्णय करें वह बात भी संक्षेपसे इस ग्रन्थमें आयगी। तो प्राणायामसे एक मुख्य प्रयोजन तो यह निकलता है कि आत्माका ध्यान बन जाय, एक आत्मस्वरूपमें ही चित्त लग जाय, एक तो यह लाभ है ही, मगर लौकिक लाभ भी है। प्राणायामकी साधना वाले अपने उन पवनोंकी परखसे शुभ अथवा अशुभको जान लिया करते हैं। कैसा काल होगा, कैसी आयु है, क्या शुभ फल है, क्या अशुभ फल है—ये सब बातें बता दी जाती हैं। कोई रोगी आकर प्रश्न करे तो उसका भविष्य भी इस प्राणायाम वालेको कुछ-कुछ अनुमानमें आने रहते हैं। यों प्राणायामसे लौकिक चमत्कारोंकी भी सिद्धि होती है और वह चमत्कार है ज्ञान कर लेना, शुभ अशुभ जान लेना।

अत्राभ्यासं प्रयत्नेन प्रास्ततन्द्रः प्रतिक्षणम्
कुर्वन् योगी विजानाति यन्त्रनाथस्य चेष्टितम् ॥१३४२॥

इस पवनका अभ्यास बड़े यत्नसे निष्प्रमाद होकर जो निरन्तर करते हैं वे योगी जीवकी समस्त चेष्टावोंको जान लेते हैं। देखिये जीवमे ज्ञान स्वभाव है और स्वभाव अपने हदमें तो रहता है, पर वह अपेक्षित नहीं होता। स्वभाव किसी दूसरेकी अपेक्षा करके सदा बनाये, ऐसा नहीं होता। प्रत्येक पदार्थमें स्वभाव स्वरसतः होता है अथवा पदार्थ ही स्वभावमय है। स्वभाव कुछ पदार्थसे जुदी चीज नहीं है। यों ऐसे यत्नसे मन रुकता है, उपयोग स्थिर होता है जिससे स्वयं ज्ञानका विकास होने लगता है। पवनके प्राणायाम बड़े यत्नसे निष्प्रमाद होकर जो निरन्तर करते हैं वे योगी जीवकी समस्त चेष्टावों को जानने लगते हैं। मनःपर्ययज्ञानी पुरुष तो प्रत्यक्ष दूसरेके मनकी बात जान लेते हैं। वह है एक स्पष्ट प्रत्यक्षज्ञान। लेकिन यह प्राणायामका साधक पुरुष भी हवाकी साधनासे जो शरीरमें उसे विशुद्धि जगती है, उसके प्रतापसे वह यंत्रनाथके मनकी बातको जान लेता है। यंत्रनाथका अर्थ है यह जीव। यंत्र मायने शरीर। ये देहधारी प्राणी इस शरीर यत्रको लादे हुए जा रहे हैं, इस शरीर यत्रके ये नाथ हैं और उन यत्रनाथके मनकी बातको ये प्राणायामके सिद्ध करने वाले पुरुष सुगमतया पहिचान लेते हैं। यों तो बहुतसे अनुभवी पुरुष ऐसे हैं कि दूसरे मनुष्यका चेहरा निरखकर, उसकी चाल-गति देखकर उसके जीवनका वृत्तान्त बता देते हैं। देखो अब यह हुआ और अब यह होगा। तो एक प्राणायाममें जो आत्मसाधनाकी है, शरीरकी चेष्टा त्यागकर केवल एक चिदानन्द घन आत्मतत्त्वमें ही जो रमते हैं उन पुरुषोंके ज्ञानका एक अतुल विकास होता है। यह भी लाभ लेते हैं। इसको क्या है, किस चिन्तामें है? यह आराम करना चाहता है अथवा नहीं, इस प्रसंग में इसका चित्त जमता है अथवा नहीं—ये सब बातें एक प्राणायामके साधनसे की जानली जाती हैं और फिर ध्यानसाधनासे तो प्राणायामकी आवश्यकता है, चाहे वह सम्यक् हो जाय, चाहे उसके विधि मिलानसे कुछ कार्य प्रयोगसे सिद्धि हो जायें, पर प्राणायामकी साधना शरीरको भी लाभदायक है और आत्माको भी लाभदायक है। अतएव इस ध्यानके प्रकरणमें प्राणायामका वर्णन करने वाला परिच्छेद चल रहा है। प्राणायामका सही अर्थ तो प्राणोंका आयाम करना है। प्राण है हवा, पवन—जैसे लोग कहते हैं कि खानेके बिना चल जाय, पानीके बिना भी चल जाय पर हवाके बिना नहीं चलता। जैसे दो दिन बिना खानेके चल जाय, एक दिन बिना पानीके चल जाय, पर हवा बिना तो एक दो घंटा भी नहीं चल पाते। अब उन सबका जो एक विशुद्ध प्रयोग है हवा का वह है प्राणायाम और प्राणायामसे आत्माके उपयोगमे बहुत सहयोग होता है

कोई नुक्सान न था। यदि जैसा चाहता है वैसा हो जाता इसके वशका होता, चाहता है यह इज्जत, लेकिन और लोग भी तो कुछ दम रखने वाले हैं, उससे हीन-दीन नहीं बनना चाहते। कोई इज्जत न करेगा तो मानकषाय करने वाला दुःखी होता है।

मायाचार कब प्रकट होता है? किसी पदार्थकी प्राप्तिकी इच्छा रखना और उसके मिलनेमें अड़चन है तो हम लोगोंसे मायाचार करते हैं। मायाचार का भी साधन ममता है और लोभका भी कारण स्पष्ट मानो कि ममता है। यों कषाय जगती है उसके जिसके तत्त्वज्ञान नहीं है। तो कषाय दूर करनेके लिए तत्त्वज्ञान चाहिए और इन ज्ञानप्रकाशके अनुभवका साधन मनकी एकाग्रता है और मनकी एकाग्रताका साधन प्राणायाम है। इस कारण कुछ न कुछ प्राणायामका अभ्यास करें और स्वयमेव हो अभ्यास, कुछ यत्न भी न करें, जैसे सामायिक करते, ध्यान करते तो उस समय शान्त बैठ जायें तो श्वास धीरे-धीरे चलेगी। कोई क्रोध करता हो तो उसका श्वास जल्दी-जल्दी निकलेगा। जब श्वास जल्दी चलता है तो ध्यान टिक नहीं पाता। जैसे जिसके श्वास रोग हो तो जब वह ध्यानमें बैठेगा तो ध्यान क्या कर पायगा? ऐसी ही यहां भी बात है कि हम यदि पवनको वश नहीं कर पाते तो मन हमारा वश नहीं होता, फिर ज्ञानप्रकाश नहीं होता, फिर कषायें दूर नहीं होतीं। तो कषायें दूर करनेके लिए चाहिए ज्ञान। ज्ञानके लिए चाहिए मनन। उसके लिए चाहिए चित्तकी एकाग्रता। और चित्तकी एकाग्रताका साधन है प्राणायाम। धीरेसे हवा को खींचना और अपने नाभिकमल पर उसे स्थिर करना और बादमें धीरे-धीरे छोड़ना, यही है साधन एक ध्यानमें।

कुत्र श्वसनविश्रामः का नाड्यः संक्रमः कथम्।
का मण्डलगतिः केयं प्रवृत्तिरिति बुद्धचते ॥१३४८॥

अब इस पवनके साधनसे ऐसा ज्ञात होता है कि इस श्वासरूपी पवनका कहाँ तो विश्राम है और नाडियां कितनी और कौन कौन हैं? उन नाडियोंका पलटना इस प्रकार होता है जैसे मण्डल गति कहाँ है, इसकी प्रगति कहां है, ये सब बातें प्राणायामके साधनोंसे विदित होती हैं। जैसे आँखें मींचकर अथवा अँधेरेमें हाथसे टटोलकर चीजोंका परिज्ञान करते हैं, यह चौकी है, यह दरी है यों निरखते हैं इसी तरह जिसकी साधना अच्छी बन जाती है वह हवासे शरीरके अन्दर नाड़ियोंको छू छू कर जान लेता है। यह हमारी पसुली है, नाडी है, यों प्राणायामकी साधना करने वाले लोग जान जाते हैं। वे समझते हैं कि इस श्वासरूपी पवनका कहा विश्राम है, कहाँ रह जाती है वायु? किस जगह उसके रहनेका स्थान है? देहमें कितनी नाडिया हैं और उनकी पलटन किस प्रकार होती है? एक आसन है कि हवा भरकर बैठ जाय, नाडियोंको नसोंको चलाता फिरे, इस प्रकारका जो आसन करता हूँ उसका साधन प्राणायाम है, हवा है। तो शरीरमे बसने वाली हवामें तो इतनी शक्ति है कि अपने ही शरीरके अन्दरकी नसाजालोंको कहींसे कहीं पहुंचा दे, घुमा दे, इतना तक पवनका काम है। श्वासका काम, हवाका काम ऐसे रोगोंको पैदा कर देता है जिसे उदर शूल बोलते। पेटमें एक ऐसा दर्द हो जाता कि उसे रोगी सम्हाल न सके तो वह रोग उत्पन्न होता है वायुकी रुकावटसे, वायुके अनुचित जगहमें पहुचा जानेसे। जब वायु बिगडती है तो अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और जब वायु शुद्ध रहती है उसका सही सञ्चार किया जाता है तो उससे अनेक चमत्कार सिद्ध हो जाते हैं। तो ये भी सब ज्ञान हो जाते हैं प्राणायामसे कि नाड़िया कितनी हैं और उन नाड़ियोंको कैसे पलट लिया जाता है तथा इसकी मण्डलगति कौनसी है? एक रुक करके रूपमे हकर गोल-गोल चलकर इस वायुकी गति कहां-कहा होती है? ये फोड़ा फुंसी जो विशेष हो जाते हैं उसका कारण भी वायुका किसी जगह रुक जाना है। शरीरमें हवा भीतर-भीतर चलती रहती है, और वह चलती हुई हवा बाहरमें एक छोटे से स्थानपर रुक जाय तो वहा फोड़ा-फुंसी आदिक हो जाते हैं। तो जब हवामें रोग उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है तो उस ही हवामें बड़ी-बड़ी समृद्धिया भी उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है।

स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम् ।
जगद्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ॥१३४९॥

प्राणायामका आलम्बन लेने वाले मुनियोंका चित्त स्थिर हो जाता है। चित्तके स्थिर होनेसे ज्ञान विकास प्रकट होता है, फिर उसके द्वारा ज्ञानके प्रकट वृत्तान्त प्रत्यक्षके समान जान लिए जाते हैं। यह जीव अनादिकालसे विषयकषायोंके विकल्पोंमे उलझता हुआ चला आ रहा है। ऐसा पुरुष यदि कुछ साधन मिल जाय और इस ही आत्मतत्त्वमे स्थिर होनेका भीतरमे यत्न बन जाय तो उसके ज्ञानमें भूत भविष्य वर्तमानकी अनेक बातें पर्यायें प्रकट हो जाती हैं। तो प्राणायामका आलम्बन करनेसे इतना तक हो जाता कि पीठ पीछेका, पहिले समयका, अगले समयका जो कुछ होनहार है वह बहुत कुछ जान लिया जाता है।

यः प्राणायाममध्यास्ते स मंडलचतुष्टयम् ।
निश्चिनोतु यतः साध्वी ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥१३५०॥

जो योगीश्वर प्राणायामको स्वाधीन कर लेते हैं अर्थात् इतनी साधना करते हैं ऐसे मुनि मत्र तत्रके चतुष्टयका निश्चय करें जिससे समीचीन ध्यानकी सिद्धि होती है। ध्यानमें पृथ्वी जल, अग्नि, वायुके तत्त्व उत्पन्न होते है। जिससे जान लिया जाता है कि हमारा पृथ्वीमण्डलका श्वास चल रहा या जल मण्डलका या अग्निमण्डलका या वायुमण्डलका। और जब यह जान लिया जाता तो उससे भविष्यका निणय कर लेता है। जैसे पृथ्वीका रंग पीला माना है, जलका रंग सफेद माना है, अग्निका रंग लाल और वायुका रंग नीला काला आदि माना है। तो इस श्वास लेने वालेको आखोंके बद करनेकी हालतमे कुछ विन्दु दिखता है, वह बिन्दु किस रगमे दीखा करता है उस रंगसे फिर शुभ अशुभ भविष्यका निर्णय कर लिया जाता है कि कैसा भविष्य है भला अथवा बुरा। तो प्राणायामके साधनोंमे इन चार प्रकारके पवनोंका अभ्यास होता है, ठहरना होता है। इसका वर्णन बहुत कुछ आगे किया गया और अपने शरीरकी स्थितिसे कि मेरी हवा किस तरह चल रही है, उससे शुभ अशुभका निर्णय कर सकते हैं। एक सामान्य रूपसे कोई चलते-फिरते कामकी बावत पूछे और अपना स्वर चल रहा हो दाहिना तो कह देना चाहिए कि सफलता मिलेगी और किस स्थिर कार्यके लिए कोई पूछता है और चले बांया स्वर तो वह भी कार्य सिद्ध होने वाला माना जाता है। यह मत्र वायु शास्त्रके जानने वाले लोग समझते हैं। भोजन परोसने वालेका स्वर दाहिना चलता हो तब भोजन परोसना इस पवनशास्त्रमे अच्छा माना है और न चलता हो दाहिना स्वर, बांया चलता हो तो अच्छा नहीं माना जाता है। बांये हाथसे भोजन परोसना अशुभ माना है, इसीसे दाहिने हाथसे भोजन परोसनेका रिवाज है। तो पवनशास्त्रके जानने वाले ये सब शुभ अशुभ समझते हैं। ऐसे ही अनेक प्रकारकी बातोंके निर्णय केवल एक इस श्वासपर जान लिए जाते हैं। पूछने वालेका स्वर जिस तरफका चलता हो जिससे पूछा जा रहा है उसका भी स्वर उसी तरह चलता हो और उस ही ओर से आकर पूछे तो सगुनशास्त्र समझने वाले लोग कह देते हैं कि तुम्हारा काम सिद्ध है, ऐसे ही बहुत-सी बातोंके शुभ अशुभका निणय कर लिया जाता है। तो प्राणायामसे लौकिक ज्ञान भी बढता है और परमार्थ पथमे लगनेके लिए विशुद्ध ज्ञानका प्रकाश होता है। यों यहा प्राणायामका करना ध्यानकी साधनामें एक साधनभूत अंग बताया गया है। हम सामायिकके समय तो कमसे कम ऐसा करें कि श्वासको धीरे-धीरे लें और फिर अन्दर रोककर उसे धीरे-धीरे बाहर निकालें। श्वासको धीरे-धीरे न लेना ध्यानसाधनामे उतना बाधक नहीं है जितना बाधक श्वासको जल्दी छोड देना है। इस श्वासके रोकनेसे शरीरकी शुद्धि बना ली जाती है, शरीरकी शुद्धिसे मनकी एकाग्रता होती है। तो इस प्राणायामकी ओर यथाशक्ति अपनी दृष्टि और अपना यत्न रहना चाहिए।

घोणाविवरमध्यास्य स्थितं पुरचतुष्टयम् ।
पृथक् पवनसंवीतं लक्ष्यलक्षणभेदतः ॥१३५१॥

प्राणायाममें चार प्रकारकी पवनोंका वर्णन है। नासिकाके छिद्रका आश्रय करके जो चार प्रकार के मण्डलरूप वायु निकलती है सो लक्ष्य लक्षणके भेदसे वे चार प्रकारसे माने गए हैं। एक निमित्त ज्ञानका यह विषय है कि अपने श्वासकी वायुकी पहिचानसे इष्ट और अनिष्टका ज्ञान कर लिया जाता है। और वह वायु जो इष्ट अनिष्टके ज्ञानसे वनी है वह चार रूपोंमे वैठती है। पृथ्वीमण्डल, जलमण्डल, अग्निमण्डल और वायुमण्डल। उनका ही अब माहात्म्य और लक्षण आगे कहेंगे।

अचिन्त्यमतिदुर्लक्ष्यं तन्मण्डलचतुष्टयम् ।
स्वसंवेद्यं प्रजायेत महाभ्यासात्कथंचन ॥१३५२॥

यह जो चार प्रकारका मण्डल है वह अचिन्त्य है, कठिनाईसे लक्ष्यमे आने वाला है। इस वायु को हर एक कोई पहिचानता है कि निकल रही है किन्तु वह किस स्वरूपसे निकल रही है जिससे यह जान लिया जाय कि अमुक कार्य सिद्ध होगा, क्लेश न होगा, ऐसी बात समझना एक बहुत कठिनसा है, किन्तु अभ्यास उसका महान बन जाय तो वह स्वय अपने आपके द्वारा समझमे आ जाता है। वह चार प्रकारका वायुमण्डल है, समस्त निमित्त ज्ञानोंका एक आधार है, जिससे रोगीका रोग किस प्रकारका है, ठीक होगा अथवा न होगा और वह जीवन-मरणजन्य सभी प्रकारके प्रश्नोंका समाधान इस मण्डलका सही अभ्यास करने वाला पुरुष दे दिया करता है।

तत्रादौ पार्थिवं ज्ञेयं वारुणं तदनन्तरम् ।
मरुत्पुरं ततः स्फीतं पर्यन्ते वह्निमण्डलम् ॥१३५३॥

उन चार प्रकारके वायुमण्डलोंमें प्रथम तो है पृथ्वीमण्डल, द्वितीय है जलमण्डल, तृतीय है पवनमण्डल और चतुर्थ है अग्निमण्डल। इस प्रकार चारके नाम कहे—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। ये सब श्वासोंके ही नाम हैं। जो मुख नासिकासे श्वास निकलती है तो वह किस ओर वहती है, कितनी दूर तक उसका प्रवाह है और वह वायु कुछ ऊपरकी लैन रखकर वह रही है या सीधी लैन रखकर वह रही है, और कितनी तेजीसे वह रही है? इन वातोंको पहिचानकर मण्डलकी पहिचान होती है, यह एक विज्ञानका प्रमाण है। अध्यात्म शास्त्रमें तो इस मण्डलकी सिद्धि तो होती है, पर उससे प्रयोजन कुछ नहीं है। प्राणायामसे तो अध्यात्म रुचि वाले मुमुक्षु पुरुषको केवल उसे चित्त स्थिर रखनेका प्रयोजन है, जिससे विषयकषायों मे अन्य वातोंमें यह चित्त न जाय। तो ये चार प्रकारके मण्डल क्रमसे वताये गए हैं।

क्षितिबीजसमाक्रान्त द्रुतहेमसमप्रभम् ।
स्याद्वज्रलाञ्छनोपेत चतुरस्र धरापुरम् ॥१३५४॥

अब इस मण्डलका क्रमसे स्वरूप कहेंगे। सर्वप्रथम पृथ्वीमण्डलका स्वरूप कह रहे हैं, यह सिद्धि बीजसे आक्रान्त है अर्थात् पृथ्वीके बीज अक्षरसे सहित और गले हुए स्वर्णके समान वीतरक्त है जिनका और वज्रके चिन्हसे सयुक्त चौकोर पृथ्वीमण्डल है। यह जो पृथ्वीमण्डल है यह पृथ्वी बीजके अक्षरोंसे सहित है। पृथ्वी तत्त्व, पृथ्वी देवता आदिक रूपमे जो कुछ माना गया है उसमें इसका जो बीचका अक्षर है, कमसे कम एक ही अक्षरमे जो पृथ्वीका परिचय कराये ऐसा जो बीजाक्षर है, क्षाम क्षीम आदिक उन बीजाक्षरोंसे जो सहित है और जिसकी तपाये गए स्वर्णकी तरह है यह पृथ्वीका स्वरूप कहा जा रहा है। जो उत्तम पृथ्वी है वह पृथ्वी तप्तायमान स्वणके समान रूप वाली है और पृथ्वी चूंकि खडी हुई है अतएव वह वज्र चिन्ह वाली मानी गयी है और उसका स्वरूप चौकोर है, इस स्वरूपकी दृष्टिसे इस नासिकासे बहने

वाली हवामें पहुचा तो कुछ इस रूपसे पहिचाननेमे आगया कि जिसकी वायु वांधकर न निकलती हो। नासिकासे जो वायु निकलती है, श्वास निकलती है वह कभी फैली हुईसी निकलती है, कभी एक कोनेसे बधी हुईसी निकलती है। तो जो वायु एक कोनेसे बधी हुई न निकलकर एक-एक फैली हुई चतुरस्र निकला करे तो वह पृथ्वीमण्डलकी वायु कहलाती है और उसकी वायुके साथ-साथ यदि आंखोंको बन्द करके नासिकाके अग्रिम स्थान पर कुछ निरखे तो पीत रूपका विन्दु ज्ञात हुआ ? ऐसा उस पृथ्वीमण्डलकी वायुके निकलनेके समयका सम्बन्ध है। जैसे अव भी आप आंखोंको बन्द करके आखोंके सधिस्थानमें निरखें तो वहां किसी न किसी रंगका बिन्दु ध्यानमें आयगा। पृथ्वीमण्डलके समय एक पीताकार विन्दु नजर आता है। यह पृथ्वीमण्डल है। आगे यह वतावेंगे कि पृथ्वीमण्डलकी वायुके समय माना, क्या इष्ट समझें और क्या अनिष्ट समझें ? यह एक सामान्यस्वरूप कहा जा रहा है। प्रमाणमें कहीं-कहीं स्थलोंमे उसका बिशेष स्वरूप कहा जायगा।

अर्द्धचन्द्रसमाकारं वारुणाक्षरलक्षितम् ।
स्फुरत्सुधाम्बुसंसिक्तं चन्द्राभं वारुणं पुरम् ॥१३५५॥

अब यह वारुणमण्डल जलमण्डलका स्वरूप कहा जा रहा है कि आकार तो अर्द्धचन्द्रके समान है। जलकी जो एक स्वरूपकी मुद्रा वनाई जाती है वह अर्द्धचन्द्राकार बनायी जाती है और इसका यह मेल यों बैठाया गया है कि जलका मित्र चन्द्रमा है सूय नहीं। सूर्य तो जलका एक वैरी जैसा काम करता है। उसे सुखाये, तपाये, किन्तु चन्द्रकिरणें जलको बढ़ाती हैं अतएव जलकी मुद्रामें अर्द्धचन्द्रकी उपमा दी गई है। आकार जिसका अर्द्धचन्द्र हो और जिसमे स्फुरायमान अमृत हो, जलसे सींचा हुआ चन्द्रमा शुक्ल वर्णकी तरह जिसकी आभा हो वह वरुणमण्डल है। अब इस वरुणमण्डलका विस्तार कैसे वायु निकली, कितने अगुल प्रमाण प्रभाव हुआ और किस ढगसे हुआ ? ये सब बातें आगे कही जायगी। यह तो वरुणमण्डलका एक सामान्यस्वरूप कहा गया है।

सुवृत्तं बिंदुसंकीर्णं नीलाञ्जनघनप्रभम् ।
चंचलं पवनोपेतं दुर्लक्ष्य वायुमंडलम् ॥१३५६॥

जो सुव्रत कहो गोलाकार है तथा बिन्दुवों सहित है, नीले घनके समान है वर्ण जिसका तथा वहता हुआ पवन, चूकि वायु वहती है गोल रूपसे, एकदम सीधी नहीं वहती। कुछ न कुछ उसका पशु आकार होता है अतएव उसे चचल कहा गया है। गोलाकार विन्दुवों सहित जिसका वर्ण नीले घनके समान है, नीला रग वायुका बताया है, ऐसे पवन अक्षर सहित जो नासिकासे निकलने वाली वायु है वह वायुमण्डल कहा जाता है।

स्फुलिङ्गपिङ्गलं भीममूर्ध्वज्वालाशतार्चितम् ।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बीजं वह्निमण्डलम् ॥१३५७॥

अबअग्नि मण्डलका स्वरूप कहते हैं अर्थात् अपनी ही नासिकासे जो श्वास निकलती है, इस प्रकारकी जो श्वास निकली उसे अग्निमण्डल कहते हैं। वह किस प्रकारका होता ? जिसका वर्ण अग्निके समान लाल हो, रौद्रगमन और अर्द्धगमनस्वरूप ज्वालोंके त्रिकोण सहित अग्नि बीजका मण्डल अग्निमण्डल समझियेगा। अग्निका स्वरूप चूंकि रक्त है तो अग्निमण्डल जैसे वायुके निकलते समय वह पुरुष यदि अपनी आखोंको बन्द करके आख और नाकके सधि स्थानपर दृष्टि भीतरसे लगाकर सुनियेगा तो वहा जो रक्त वर्ण जिसका बिन्दु विदित होगा उससे भी पहिचान लिया जाता है कि इस समय यह पुरुष अग्निमण्डलकी श्वासमे चल रहा है, वह रौद्ररूप है, अर्द्धगमनस्वरूप है। जिसमेंसे सैकडों ज्वालायें चल रही हों

वह अग्नि बीजसे मंडित है ऐसा यह अग्नि मण्डलका स्वरूप कहा गया है।

ततस्तेषु क्रमाद्वायुः संचरत्यविलम्बितम्।
स विज्ञेयो यथाकालं प्रणिधानपरैर्नरैः ॥१३५८॥

यह चार प्रकारसे श्वासकी वायु निकलती है इसका स्वरूप बताया है। उसके अनन्तर यह बताया जायगा अथवा जान लीजिए संक्षेपमें कि उन मण्डलोंके क्रमसे निरन्तर जो हवा चलती है उसे यथा समय उस ही कालमें चिन्तनमे तत्पर ऐसे पुरुषोंको जानना चाहिए। निमित्तोंमें प्रधान निमित्त विज्ञान स्वरज्ञान है। कैसा स्वर चल रहा हो जिसमे हम समझ जाते कि अब क्या इष्ट अनिष्ट होगा? इन सब बातोंका आचार्य परमेष्ठीको बहुत विज्ञान होता है और वे निमित्त ज्ञानसे अथवा आत्मज्ञानसे, अवधिज्ञानसे विदित कर लिया करते हैं कि इस देशमें इस स्थानमे हमको रहना उचित है अथवा नहीं है। कोई उपद्रव आयगा अथवा न आयगा, इन सबके ज्ञानके लिए यह स्वरविज्ञान बहुत सहायक है। कैसे सहायक है? वे सब बातें इसी ग्रन्थमे आगे कहेंगे।

घोणाविवरमापूर्य किञ्चिदुष्णः पुरन्दरः।
वहत्यष्टाङ्गुलः स्वस्थः पीतवर्णः शनैः शनैः ॥१३५९॥

अब विशेष रूपसे पृथ्वी मण्डलकी वायुका स्वरूप कह रहे हैं। नासिकाके छिद्रको भरपूर भरकर कुछ गर्म लेकिन ८ अंगुल दूर निकलवाले वह पृथ्वीमण्डलकी वायु कहलाती है। श्वास कभी गर्म मालूम होती है कभी गर्म नहीं मालूम होती है तो श्वास तेज गर्म तो न विदित हो, किन्तु साधारण रूपसे कुछ गर्म विदित हो और जिसका बहाव ८ अंगुलका हो अर्थात् नासिकासे ८ अंगुल दूर पर उल्टा-उल्टा रखकर उस श्वासको निरखा जाय कि वहाँ तक इसका प्रभाव है या नहीं अथवा इसके आगे प्रभाव नहीं है ऐसी ८ अंगुल तक बहने वाली वायु पृथ्वीमण्डलकी वायु कहलाती है। यह स्वस्थ है, चंचलतासे रहित है, मंद-मंद बहने वाली है ऐसी यह पृथ्वीमण्डलकी वायु है जिसका कि इन्द्र स्वामी है। एक स्वरविज्ञानमे वायुके स्वरूपका अनुमान करानेमे ऐसे ऐसे विशेषण कुछ मदद करते हैं अतएव इन विशेषणोंसे मण्डलका स्वरूप कहा जा रहा है। पहिचाननेके लिए हम मोटे रूपमे इस बातको समझें जो वायु कुछ साधारणरूपसे गर्म हो और ८ अंगुल तक जिसका प्रभाव हो, धीरे-धीरे बहती हो, जिसमें चंचलता न नजर आये अर्थात् जल्दी बहना, श्वास लेना आदिक जिसमें न हो वह पृथ्वीमण्डलकी वायु कहलाती है।

त्वरितः शीतलोऽधस्तात्सितरुक् द्वादशाङ्गुलः।
वरुणः पवनस्तज्ज्ञैर्वहनेनावसीयते ॥१३६०॥

अब जलमण्डलकी वायुका विशेष स्वरूप कहा जा रहा है। जो शीघ्र बहने वाली वायु है और कुछ नीची बहती है, जब कभी देखा होगा कि नासिका छिद्रसे कभी वायु ऊपरसे बहती है, कभी नीचेसे बहती है तो जो वायु कुछ नीलाईको लिए हुए बहती हो, शीतलसे, शीघ्र बहने वाली हो, उज्ज्वल हो, शुक्ल वर्ण उस वायुको माना है और जिसके बहावका प्रभाव १२ अंगुल तक पड़ता हो ऐसे पवनको पवन के जानने वालोंने "वरुण पवन" निश्चित किया है। इन चिन्हों से पहिचानना चाहिए कि यह जलमण्डल है। इसकी मुख्य पहिचानके लिए कुछ ये बातें बताई गई हैं कि जो जरा शीघ्र बहता हो, जो पवन कुछ सच्चाईको लिए बहता हो, जिसका प्रभाव १२ अंगुल तक हो अर्थात् नासिकासे १२ अंगुल तक दूर कुछ-कुछ विदित होता है कि यहा तक उस हवा का प्रभाव है वह जलमण्डलकी वायु कहलाती है।

तिर्यग्वहत्यविश्रान्तः पवनाख्यः षडङ्गुलः।
पवनः कृष्णवर्णोऽसौ उष्णः शीतश्च लक्ष्यते ॥१३६१॥

जो पवन सब तरफ तिर्यक बहता हो, विश्राम न लेकर निरन्त बहता ही रहे, ६ अगुल दूर आये, शीत हो वह पवनमण्डल वायु कहलाती है। जैसे हवा सब तरफसे बहती है इसी तरह नासिकाके छिद्रमें केवल एक जगहसे श्वास नहीं निकलती हो, किन्तु समस्त जगहोंसे अथवा जल्दी-जल्दी बदल बदल कर सब ओर से वायु निकलती हो तो वह वायु पवनमण्डलकी वायु कहलाती है। इसमें शीघ्र पहिचाननेके लिए कुछ पहिचान यह है कि प्रथम तो यह बात है कि नासिकाके छिद्रसे वायु तिरछी बहती हो, सर्व ओर से बहती हो। दूसरी बात यह है कि विश्राम न लेकर निरन्तर बहती रहती हो। तीसरी पहिचान है कि जिसका प्रभाव तीन काल तक हो। वर्ण इसका कृष्ण कहा गया है, स्पर्श इसका शुक्ल भी होता है। ऐसी जो श्वास है वह पवनमण्डलकी श्वास कहलाती है।

बालार्कसन्निभश्चोर्ध्वं सावर्तश्चतुरङ्गुलः।

अत्युष्णो ज्वलनाभिख्यः पवनः कीर्तितो बुधैः ।।१३६२।।

अब इसमे अग्निमण्डलका स्वरूप कहा जा रहा है। जिसका वर्ण उगते हुए सूर्यके समान लाल वर्ण हो, जो वायु ऊचेसे चलती हो। ठीक नासिकाकी सीधमें वायु न चलकर कुछ ऊपरकी ओर से हवा चलती हो, श्वास चलती हो जो आवर्तोसहित भिडती हुई चले। जैसे आगकी लपटें कुछ भिड़ती हुईसी जलती हैं, इसी प्रकार जो नासिकासे श्वास भिडती हुई चलती है वह अग्निमण्डलकी वायु कहलाती है। चार अगुल तक जिसका प्रभाव हो और जिसका स्पर्श अत्यन्त उष्ण हो वह अग्निमण्डलकी वायु कहलाती है। वैसे भी उन्हीं आधारोंपर लोकमें यह प्रसिद्ध है कि यह शरीर चार तत्त्वोंका बना है, पर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—इन चार तत्त्वोंका यह प्रभाव है कि नासिकासे जो श्वास निकलती है उस श्वासमे उनकी पहि-चान बन जाती है कि इसमें पृथ्वीतत्त्वकी प्रधानता है अथवा जलतत्त्वकी प्रधानता है या अग्नि या वायु तत्त्व की प्रधानता है। कुछ लोग तो ऐसा भी मानते हैं कि इन चार तत्त्वोंमे से जो प्रभाव बनता है तो अग्नि तत्त्वसे तो चक्षुइन्द्रियका निर्माण हुआ, वायुतत्त्वसे श्रोत्रका निर्माण हुआ, पृथ्वीतत्त्वसे समस्त शरीर पिण्ड का निर्माण हुआ और उसमे भी प्रधान नासिका इन्द्रिय और जलतत्त्वसे रसना इन्द्रियका निर्माण हुआ। यह भी एक समानता निरखकर कथन है। और एक स्वर अथवा कुछ परिचयकी बातें पहिचाननेके लिए कहा गया है। यहा स्वरविज्ञानके प्रकरणमे जिसमे शुभ अशुभका निणय होगा, उसके लिए इस मण्डलका स्वरूप कहा गया है। किस प्रकारकी वायु किस समय चली, किस मुद्रामें चली, उस सबका निर्णय करके शुभ होगा अथवा अशुभ होगा यह सब अनुमान किया जायेगा, इसका वर्णन अब इसीको लेते हुए वर्णन किया जायगा। उसमें यह सब विदित होगा कि किस प्रकारकी अपनी श्वास चले तो हम परखलें कि हमपर क्या बीतेगी अथवा अन्य लोगोंपर क्या बीतेगी? यह एक स्वरविज्ञान है, इसके पहिचानने वाले पुरुष बिरले हैं, पर थोडा-थोड़ा ज्ञान करके उसमे हम चतुर हैं ऐसा जानकर उसका अर्थ लगाया करें और वैसा घटित न हो तो यह उसकी कुछ चालबाजी है, पर इस सम्बधमे जो कुछ विशेष परिचय रखते हैं उनका वह विज्ञान प्राय' करके सही उतरता है। वह शुभ क्या अशुभ होगा, जो प्रभाव बनेगा उसको वह सब समझ लेता है। यहां तक सक्षेप मे मण्डलका स्वरूप कहा गया है। अब आगे किसी मण्डलकी श्वास चलनेके समयमे क्या शुभ अथवा अशुभ होते हैं, क्या सगुन अथवा असगुन होते हैं, उसका वर्णन किया जायगा।

स्तम्भादिके महेन्द्रो वरुणः शस्तेषु सर्वकार्येषु।

चलमलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वह्निरुद्देश्यः ।।१३६३।।

चार प्रकारके पवन मण्डल हैं—पृथ्वीमण्डल, वरुणमण्डल और अग्निमण्डल, जिनका कि स्वरूप बहुत कह चुके हैं कि नासिकासे जब श्वास बारह अगुल दूरसे आयी और निकलने पर प्रभाव हुआ - जो सीधी समान रेखापर चले, ऐसी वायुको पथ्वीमण्डलकी वायु कहते हैं। और जो कुछ शीतलता लिए हुए--

नासिकाके किसी कोणसे चन्द्ररेखाकी तरह साधारण तिरछी वायु चले वह वरुणमण्डलकी वायु है। यह नाकसे जो श्वास निकलती है उसका वर्णन चल रहा है। उस श्वासकी परखसे मनुष्य दूसरोंके शुभ अशुभ और भविष्यको, अपने भी शुभ अशुभ और भविष्यको जान लेते हैं। वायुमण्डलमें एकदम तिरछी गोल हवा निकलती है और वह चार ही अगुल प्रमाण बाहर अपना प्रभाव दिखाती है। ऐसी वायुमण्डलकी पवन है। अग्निमण्डलकी पवन अति उष्ण होती है और तिरछी लपट और चचलता लिए हुए होती है। यों चार प्रकारके जो श्वासमण्डल हैं उनमें किस मण्डलका प्रभाव किस रूप पडता है? इन कार्योंमे कौनसा मण्डल शुभ माना गया है और कौनसा मण्डल किस कार्यको करनेकी प्रेरणा देता है? तो पुरुषके जो स्तम्भन आदिक कार्य करना हो तो पृथ्वीमण्डलकी पवनमें वह शुभ है, स्थिर कार्य करना हो तो ऐसे कार्य पृथ्वीमण्डलमे करना चाहिए। और जितने भी समस्त शुभ कार्य हैं उन सबमे वरुणमण्डल श्रेष्ठ है। जैसे जलमण्डलको पवन कहा है और जितने चलित कार्य हों, मलिन कार्य हों उनमें वायुमण्डलकी पवन श्रेष्ठ है और किसी को वश करना हो, किसीको वैरीका मुकाबला करना हो ऐसे अवसरमे अग्निमण्डल ठीक माना गया है।

छत्रगजतुरगचामररामाराज्यादिसकलकल्याणम्।
माहेन्द्रो वदति फलं मनोगतं सर्वकार्येषु ॥१३६४॥

पृथ्वी मण्डलकी वायु बड़े-बड़े वैभवोंके स्वामित्वका सकेत करती है। छत्र, हाथी, घोडा, चामर स्त्री, राज्य आदिक जितने भी वैभव हैं, समृद्धिया हैं, कल्याण हैं उन सब कल्याणोंका अथवा सर्व कार्योंमे जो भी मनमे विचार लिया है ऐसे मनोगत फलको पृथ्वीमण्डल कहते हैं। प्राणायामकी साधना वाले लोग इन पवनोंकी विभिन्नतावोंसे शुभ अशुभ सगुन असगुन भविष्यका विचार कर लेते हैं। यहा श्वासके निकलनेके ढगोंसे शुभ अशुभ भविष्यका विचार कर लेनेकी बात चल रही है। वहा तो एक साधारण रूपसे वायें नाकसे जब श्वास चलती हो उस समयमे स्थिर कार्य करना चाहिए और जब दाहिनी नासिकासे श्वास चलती हो तो उस समय चलित कार्य, जाने आनेके कार्य, व्यापार आदिकके कार्य करने चाहिए। इसी प्रकार जो स्वर-विज्ञानके अनुसार चलते हैं वे यत्न करते हैं कि जब दाहिनी नाक बिन्दुसे श्वास चले तो भोजन करते हैं और वे इन श्वासोंके बदलनेकी क्रियाको करते हैं। बाया स्वर चल रहा है और बदलकर दाहिना स्वर बना हो, तो सुननेमें ऐसा लगेगा कुछ कि क्या यह अपने वशकी बात है कि अभी तो दाहिनी श्वास चल रही थी और अब बदलकर बायीं श्वास चला दे। पर जो प्राणायामके तत्र हैं उनमें इसकी क्रिया बतायी गयी है। यह सारा शरीर तिरछी नसोंसे जकडा है। दाहिने तरफके अगको जकड़ने वाली नसें बाईं तरफ मिलती हैं और बायें तरफके अगको जकडने वाली नसें दाहिनी तरफ मिलती हैं। तो बायें स्वरसे दाया स्वर बदलने वाले योगी दाहिनी काखको दबाते हैं। कांखमे कोई वस्त्र आदिक रखकर उसे दबानेसे थोड़े ही समय बाद यह बाया स्वर बदलकर दाहिने स्वरमे आता है। जब भोजन आदिकका अवसर होता है उस समय स्वर विज्ञानके जाननहार योगी इस क्रियाको करते हैं। उनका मतव्य है कि दाहिने स्वरमे सूर्यस्वरमें किया हुआ भोजन सपच होता है और शरीरको लाभ देता है। कुछ अनुभवमे ऐसा लगता होगा भी कि जब वामस्वर चलता है तब शान्ति सन्तोष ये सब बनेसे रहते हैं और जब सूर्य स्वर चलता है तो आशान्ति असतोष कुछ क्षोभ विकल्पोंका विस्तार इनकी रचना होती है। इस ध्यानके प्रकरणमें इन स्वरोंका और प्राणायामका विधान क्यों बताया जा रहा कि इन सबका सम्बध उपचारसे निमित्त रूपमे होता है। तो जितनी भी ये ऋद्धिया सिद्धिया हों सर्व कार्योंमे मनोगत फल यह सब पृथ्वी मण्डलकी पवनसे चलता है। वैसे आगे कहीं बताया जायगा कृष्ण पक्षके शुरूके तीन दिनमे प्रातकाल सुबह उठनेपर अपने स्वरकी परख करें। यदि वामस्वर चल रहा है उस समय तो वह यह निर्धारण करता है कि हमारा यह दिन अच्छा बीतेगा, शातिमे बीतेगा। इसके बादके तीन दिन चौथ, पाचे छठेको प्रातकाल यदि दक्षिण स्वर चलता है तो वह दिन ठीक

है पर तीन दिन सप्तमी, अष्टमी, नवमीको यदि वामस्वर चलता है तो वह ठीक निर्णय रखता है। इसके बाद फिर तीन दिन दशमी, एकादशी, द्वादशी इन दिनोंमे सूर्यस्वर चलता है याने दक्षिण नासिकासे श्वास चलती है तो वह शुभ निर्णय रखता है। फिर त्रयोदशी, चतुर्दशी और अमावस्याके दिनोंमे यदि बाम स्वर चलता है तो वे जाननहार शुभ मानते हैं। शुक्लपक्षमें इससे उल्टी बात है। कृष्णपक्षमे शुरूके तीन दिनोंमें सूर्यस्वर चले, फिर यो तीन दिन बदलकर यह प्रातःकाल इन स्वरोंका निर्णय रखे, उससे दिन भरका शुभ अशुभ अथवा भविष्यका वे अनुमान करते हैं। यद्यपि ये बातें ज्ञानदृष्टिसे, प्राणायामदृष्टिसे बेहूदी लग रही हैं लेकिन जब इस छद्मस्थ अवस्थामें, दुर्बल अवस्थामें ज्ञान ही पराधीन बन रहा है, शरीरके अग इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होता है तब उन्हीं इन्द्रियोंकी नासिकाके स्वर आदिकके भेदसे ज्ञानमे शुभ अशुभका निर्णय कर लिया जाय तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। तो जब महेन्द्र अथवा पृथ्वी नामक पवन-मण्डल चलता है तो वह शुभ माना गया है।

अभिमतफलनिकुरम्बं विद्यावीर्यादिभूतिसंकीर्णम् ।
सुतयुवतिवस्तुसारं वरुणो योजयति जन्तूनाम् ॥१३६५॥

वरुणमण्डल अर्थात् जलतत्त्वमे चलने वाली श्वास इष्ट बलको प्रदान करती है। विद्याशक्ति आदिक विभूतियोंसे सहित तथा पुत्र स्त्री आदिकमे जो सारभूत वस्तु है। मनोवाञ्छित तत्त्व है उन सबको यह वरुणमण्डल प्राप्त कराता है। जब श्वास गर्मीको लिए हुए न हो, इसीको कहते हैं शीतल श्वास। इस शीतल स्वरमे जो बात सोची जाय अथवा इष्ट माना जाय उस सब कार्यकी सिद्धि होती है।

भयशोकदुःखपीड़ा-विघ्नौघपरम्परां विनाशं च ।
व्याचष्टे देहभृतां दहनो दाहस्वभावोऽयम् ॥१३६६॥

अब तीसरा मण्डल है अग्निमण्डल। अग्निमण्डलका पवन दाहस्वभावरूप है। वह पवन जीवोंके भय, शोक, दुःख, पीड़ा तथा विपयसमूहोंकी परम्परा और विनाश आदिक कार्योंको प्रकट करता है। जब अग्नितत्त्वकी श्वास निकली जिसका स्वरूप पहिले बताया है कि जो कुछ तिर्यक रूपसे श्वास निकले, कभी नासिकाके मिले हुए स्थानसे, कभी बाहरके स्थानसे यो जिस चाहे स्थानसे नासिकासे श्वास निकली तो उसे अग्निमण्डलकी श्वास कहते हैं और इस अग्निमण्डलकी श्वासका फल उत्तम नहीं कहा गया है। तो अग्नि-मण्डलकी पवन श्वास जब निकल रही हो तो उस समय यह निर्णय करना चाहिए कि कोई आपत्ति, कोई चिन्ता दुःख पीडा ये आने वाले हैं ऐसी सूचना देती है।

सिद्धमपि याति विलयं सेवा कृष्यादिकं समस्तमपि चैव ।
मृत्युभयकलहवैरं पवने त्रासादिकं च स्यात् ॥१३६७॥

यह एक स्वर विज्ञानकी बात चल रही है। अपने ही स्वरकी परखसे अपने शुभ और अशुभ कार्य जाने जाते हैं। जब वायुमण्डलका पवन चल रहा हो तो सिद्ध भी कार्य नष्ट हो जाते हैं। जिन कार्यों मे प्रयत्न करनेसे बहुत कुछ सफलता भी मिलने वाली है तब भी पवनमण्डलमे उन कार्योंको किया जाय तो वे सब धोखा दे देते हैं तो पवनमण्डलमे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। सेवा कृषि आदिक समस्त कार्य सिद्ध होते हुए भी विलीन हो जाते हैं और मृत्युका भय कलह वैर त्रास आदिक उस ध्यानसाधना वाले पुरुषके हुआ करती है, उससे बाहरके जीवोंके कुछ शुभ अशुभ जान लिए जाते हैं।

सर्वं प्रवेशकाले कथयन्ति मनोगतं फलं पुंसाम् ।
अहितमतिदुःखनिचितं त एव निःसरणवेलायाम् ॥१३६८॥

अब मेरे कार्योंमे शुभ अशुभ आना, अब इसके प्रवेश और निकलनेके विषयमें कह रहे हैं। जब

श्वास भीतरसे ली जा रही हो उस समय पुरुषोंके समस्त फल सिद्ध होते हैं और जिस समय श्वास बाहरसे निकल रही हो उस समयमें कोई पूछे अथवा कुछ अपना विचार चले तो समाधान होगा कि वह सिद्धि न होगी। समस्त मण्डलोंकी वायु प्रवेशके कालमे तो शुभ फल देने वाली है और निकलनेके समयमें स्वयको भी और पूछने वालेको भी अनिष्ट और अहितका संकेत करती है। ये सब प्राणायामकी सिद्धिकी बातें हैं। इनमें तत्त्वज्ञानी पुरुष नहीं फसता, उसे तो एक आत्महितकी ओर दृष्टि लगी है। ध्यानार्थी पुरुष अपना अच्छा ध्यान बना लेते हैं, अपने श्वास पवनको भी हृदयमे नाभिमण्डलमें रोक लेते हैं तो वे सब श्वास किस प्रकारके हैं और उससे कैसा फल मिला करता है ? इसका वर्णन इस समय चल रहा है।

सर्वेऽपि प्रविशन्तो रविशशिमार्गेण वायवः सततम्।
विदधति परां सुखास्थां निर्गच्छन्तो विपर्यस्ताम् ॥१३६९॥

उसी बातको पुन ···दे रहे हैं कि वे चार पवन जो चन्द्रमाके से निरन्तर प्रवेश उत्कृष्ट सुखकी कल्पनाको करते हैं और ये निकलते समय दु खकी अवस्थाको प्रकट करते हैं। यह विधि बतलायी जा रही है कि किसी भी मण्डलकी वायु हो और किसी भी नासिकाके छिद्रमे चलती हुई हो जिस समय श्वास खींची जा रही है उस समय उपेक्षामे कार्य सिद्ध हुआ और जब श्वास खींची जा रही है तो उस समय प्रश्नकर्ताका प्रश्न सिद्ध नहीं हुआ उसके सम्बधमें बता रहे हैं। वैसे भी तो लगता है कि श्वास निकलते समय कुछ भावमे कुछ हीनता होती है अथवा किसी किसी योगी पुरुषके क्रूरता जगती है और श्वास अन्दर लेते समय कुछ भावोंमे विशुद्धि बनती है। जैसे लोग कहते हैं कि कभी क्रोध आये तो पानी पी लो, एक आध गिलास पानी पी लेनेसे जैसे क्रोधमें अन्तर कुछ आता है। कोई पूछे कि उस क्रोधका पानीसे क्या सम्बध है ? तो सम्बध क्या है इसे क्या सिद्ध करें ? खुद देख लो और जैसे गुस्सा होने वाले पुरुषको किसी प्रकार मनाकर कोई भोजन खिलाये तो भोजन करनेके बाद उतनी गुस्सा नहीं रहती, शान्त हो जाता है, उस गुस्सासे भोजनका सम्बध क्या ? लेकिन ऐसा देखा जाता है। जब श्वास अन्दर खींची जा रही हो उस समय विचारा गया कार्य सिद्ध होता है और जब श्वास बाहर निकल रही हो उस समय विचारे गए पूछे गये कार्य सिद्ध नहीं होते।

वामेन प्रविशन्तौ वरुणमहेन्द्रौ समस्तसिद्धिकरौ।
इतरेण निःसरन्तौ हुतभुक्पवनौ विनाशाय ॥१३७०॥

यह तो एक सामान्य कथन किया है। अब विशेषतामे यो समझिये कि धीमे स्वरसे, चन्द्रस्वरसे नासिकाके बायें छिद्रसे जब श्वास प्रवेश कर रहे हों, हवा भीतर जा रही हो और मिल जाय पृथ्वीतत्त्व और जलतत्त्वकी वायु तो साधारण कार्यके समान सिद्धिको उत्पन्न करने वाली वायु है और जहा दाहिने स्वरसे अग्नि और वायुतत्त्वकी वायु निकल रही हो तब समझना चाहिए कि यह विनाशके लिए है, आपत्तिके लिए है। प्रथम तो यह सामान्य वणन किया था कि श्वास लेते समय कोई प्रश्न पूछता है तो उसकी सिद्धि बताया और अब उसीकी एक विशेषता बतायी जा रही है कि बायें स्वरसे पृथ्वीतत्व और जलतत्त्वकी श्वास निकली तो वह सिद्धि करती है। ऐसे ही जलतत्त्वकी वायु यदि छिद्रसे प्रवेश करती है तो वह भी सिद्धि करने वाली है लेकिन दाहिने स्वरसे और अग्नि वायुकी पवन यदि निकल रही हो तो समझिये कि वह विनाश करनेके लिए है। इस सम्बधमे कुछ ऐसा तो अनुभव होता ही होगा या दृष्टि जाय तो अनुभव कर लीजिए कि सुगम रीतिसे बनावट न करके यदि इस प्रकारकी श्वास होती है तो उनका फल कैसा होता है। प्रथम बताया गया था कि जो स्थिर काय हो उन्हें वाम स्वर शुभ बताता है। और जो चलने के काय हों उन्हें दक्षिण स्वर ठीक कहता है। इस कारण लोग रात्रिको जगनेपर सुबह उठनेके लिए सर्वप्रथम दाहिना पैर नीचे रखते हैं, दाहिने पैरका ध्यान प्रारम्भ करते हैं, फिर चलनेमे दोनों आते हैं, पर दक्षिण

स्वरका वाम अंगका सम्बंध चलना फिरना आदि चलित क्रियाके लिए हैं। और कोई स्थिर कार्यकी बात सोची जाय तो वह चलतत्त्व उस सोचनेपर सिद्धि प्रदान करता है। इस प्रकार चार-मण्डलोंका शुभ और अशुभ संक्षेपसे यह कहा गया है। अब इसी सम्बंधमे कुछ और विशेष बात चलेगी, जिससे एक स्वरकी पहिचानसे अपने और निकट परके शुभ अशुभ भविष्यको हम जान सकें।

अथ मण्डलेषु वायोः प्रवेशनिःसरणकालमवगम्य।
उपदिशति भुवनवस्तुषु विचेष्टितं सर्वथा सर्वम् ॥१३७१॥

प्राणायाम साधन करनेसे चित्तमे एकाग्रता होती है, एकाग्र चित्तमे ध्यानकी सिद्धि होती है, अत ध्यानके अगमे साधारणरूपसे प्राणायाम भी बताया है। अब प्राणायामके फलमें स्वरज्ञानका जो एक लौकिक लाभ है उसका वर्णन यहा चल रहा है। नासिकासे जो स्वर निकलता है, श्वास आती जाती है उस श्वासकी परीक्षा करके बहुतसी बातें आगे पीछेकी निकट दूरकी जान ली जाती है। उसी सिलसिलेमें यहाँ बता रहे हैं कि दूसरी प्रकारके मण्डलमें वायुके प्रवेश निकलनेके सम्बधका निश्चय करके अनेक ध्यानी पुरुष इस जगतमें जो पदार्थ हैं उन सबकी चेष्टावोंका उपदेश करते है। केवल एक नाकसे निकलने वाली श्वासकी परीक्षा करके अनेक ध्यानी जगतके पदार्थोंके सम्बंध बता देते हैं कि अमुक समय अमुक बात बनेगी। उसी के विस्तारमे आगे वर्णन किया जा रहा है।

वामायां विचरन्तौ दहनसमीरौ तु मध्यमौ कथितौ।
वरुणेन्द्राविलरस्यां तथाविधावेव निर्दिष्टौ ॥१३७२॥

चार प्रकारके मण्डल होते है—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन श्वासोंका स्वरूप पहिले बताया है। पृथ्वीमण्डलकी श्वास कुछ साधारण गर्म होती है। जलमण्डलकी श्वास शीतल होती है, अग्निमण्डकी श्वास अति गर्म होती है और वायुमण्डलकी श्वास नाभिके किसी एक जगहसे नहीं निकलती, किन्तु घूमकर कभी किसी किनारेसे, कभी किसी किनारेसे यों बहती हुई श्वास निकलती है। उन चार प्रकारके मण्डलोंमे यह बात बतला रहे हैं कि जब अग्निमण्डल और वायुमण्डलकी श्वास नाकसे निकले तब उसका फल मध्यम है। नासिकाके बाईं ओरसे श्वास शीतल शान्त सन्तोष उत्पन्न करने वाली बताया है और दाहिनी ओरसे निकली हुई श्वास एक चल कार्यको और क्रूरता आदिकको भी बताती है। तो अग्निमण्डल और वायुमण्डल स्वभावसे क्रूर हैं। वे यदि इस शान्त चन्द्र स्वरसे निकलते हैं तो उनकी क्रूरताका प्रभाव कम हो जाता है। इसी कारण उनका फल मध्यम रह जाता है और जल तथा पृथ्वीमण्डल यदि दाहिने स्वरसे निकलते है तो उनका भी फल मध्यम है। अब इसके बाद एक साधारण बात कहेंगे, जो बिना मण्डल परीक्षाके भी अपनी श्वाससे लोग शुभ अशुभ फल जान सकेंगे।

उदये वामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुनः कृष्णे।
त्रीणि त्रीणि दिनानि तु शशिसूर्यस्योदयः श्लाध्यः ॥१३७३॥

शुक्ल पक्षके दिनोंमें सवप्रथम दिन और द्वितीया और तृतीयाके दिन प्रात काल यदि बायें ओर से श्वास निकले, श्वास आये जाये तो वह शुभ माना गया है। शुक्लपक्ष भी चन्द्रमाका माना गया है, और बायें अगसे श्वास निकलना भी चन्द्रस्वर माना गया है, इसी कारण शुक्ल पक्षके पहिले दिन प्रात काल बायें स्वरसे श्वास आये तो वह शुभमण्डल बताने वाली मानी गयी है, और इसी तरह द्वितीया और तृतीयाके दिन भी। इसके पश्चात् शुक्ल पक्षकी चौथी, पाचवी और छठीके दिन प्रात काल सूर्यस्वरसे अर्थात् दाहिनी ओरसे स्वर आता जाता प्रतीत हो तो उसका भी शुभ मगल फल है। इस तरह तीन तीन दिन बदल बदल-कर स्वरका होना शुभ बताया गया है और कृष्णपक्षके दिनोंमे शुरुके तीन दिनोंमे प्रतिपदा, द्वितीया और

तृतीयाके दिन प्रात.काल दाहिने सूर्यसे सूर्यस्तरसे श्वास आये तो वह सगुन माना गया है। कृष्णपक्ष चन्द्रमा का पक्ष नहीं है, उसे सूर्यपक्ष कह लीजिए परिरोस न्यायमें और नासिकाका दाहिना स्वर भी सूर्यस्वर कहलाता है, अत. प्रथम तीन दिनोंमें दाहिनी ओरसे श्वासका निकलना आना जाना शुभ माना गया है। इसी प्रकार अब आगे तीन-तीन दिन परिवर्तित करके शुभ माना है अर्थात् कृष्णपक्षमें चौथी, पांचवी, छठवींकी तिथिमें बामस्वरसे श्वास आये जाये तो शुभ माना है। इस तरह परिवर्तित कर तीन-तीन दिनकी बात समझना चाहिए। इसका तो जो कोई भी अपने आप अदाज लगा सकता है। जैसे आजकल कृष्णपक्ष चल रहा है, और आज पंचमीका दिन है, कल षष्ठीका दिन होगा तो इस कथनके अनुसार षष्ठीके दिन वामस्वरसे श्वासका आना जाना प्रात काल हो तो समझना कि हमारा आजका दिन अच्छा व्यतीत होगा। यह प्राणायामके शास्त्रोंके अनुसार बात कही जा रही है। यद्यपि ये बातें मोक्षमार्गमे कोई उपकारी नहीं हैं। स्वर देखना, शुभ अशुभ परखना, इसका क्या प्रयोजन है—अभ्युक्त पुरुषको लौकिक प्राणायामकी साधनामें क्या-क्या और चमत्कार होते हैं, परिज्ञान होते हैं उनको बताया जा रहा है। जो ध्यानी पुरुष हैं उनको ये सब स्वरविज्ञान खूब हो भी जाते हैं लेकिन उनके प्रयोग करनेकी भावना नहीं रहती। वे तो संसारके संकटोंसे छूटनेके उद्यममें ही रहा करते हैं।

उदयश्चन्द्रेण हितः सूर्येणास्तं प्रशस्यते वायोः ।
रविणोदये तु शशिना शिवमस्तमनं सदा नृणाम् ॥१३७४॥

चन्द्रस्वरसे श्वासका उदय होना शुभ है तब अ त सूर्य स्वरसे होना प्रशस्त कहा है। अब उन तिथियोंका सम्बध न रखकर सामान्यतया यह कहते हैं कि चन्द्रस्वरसे तो प्रकट होवे श्वास और सूर्य स्वरसे अस्त हो और जब सूर्यको उदय हो तो चन्द्रस्वरसे अस्त होवे यह कल्याणकारी शुभ है। जैसे तिथिके हिसाबसे बताया गया था कि इन दिनोंमे श्वास बाम नासिकासे निकले तो शभ है तो जहा बाम स्वरसे निकलनेको कहा है तो उस दिन, दिन अस्त होते समय सूर्यस्वरसे अर्थात् उसके विरुद्ध स्वरसे अस्त होना चाहिए। इतना तो हर एक कोई अनुभव करने लगेगा कि जब मन प्रसन्न रहता है, शान्ति और सन्तोषमें चित्त रहता है उस समय प्राय स्वर बाईं ओरसे निकलता होगा और जब क्षोभ है, क्रोध है, चलितपना है चंचलता है, व्यग्रता है उन समयोंमें दाहिने स्वरसे श्वास निकलती होगी। एक सामुद्रिक शास्त्रकी तरह एक स्वरविज्ञानका भी प्रभाव है। सामुद्रिक शास्त्रमे हस्तरेखायें तिल मसा आदि चिन्होंसे जो परिज्ञान किया जाता है उसका आधार है सुन्दरता। पुण्योदयसे शरीर जैसा सुभम सुन्दर होना चाहिए उस सुन्दरताकी रेखायें और अन्य-अन्य निशानोंसे उसका शुभ अशुभ बता दिया जाता है। तो स्वरविज्ञानमें एक भावोंके निमित्तसे सम्बध है। शान्ति और तृप्ति भावोंसे अवस्थित पुरुषके स्वरकी क्या स्थिति होती है? यह सब स्वरविज्ञानके जाननहार योगी समझते हैं और वे फलित रूपमें उसको इस प्रकार वर्णन कर रहे हैं।

सितपक्षे रव्युदये प्रतिपद्दिवसे समीक्ष्यते सम्यक् ।
शस्तेतरप्रचारौ वायोर्यत्नेन विज्ञानी ॥१३७५॥

श्वासका चलना शक्लपक्षमे सूर्योदयके दिन विज्ञानी भली प्रकार यत्नसे शुभ और अशुभको देखें। खासकर सुदी पक्ष जब लगे तो प्रथम दिन श्वासका परीक्षण करें और उससे शुभ अशुभका निर्णय करें। तो उस समय परीक्षामें क्या क्या बात यह जानेगा, उन सब परीक्षणोंको आगेके दो श्लोकोंमे कह रहे हैं।

व्यस्तप्रथमे दिवसे चित्तोद्वेगाय जायते पवनः ।
धनहानिकृद्द्वितीये प्रवासदः स्यात्तृतीयेऽह्नि ॥१३७६॥

इष्टार्थनाशविभ्रमस्वपदभ्रंशास्तथामहायुद्धम् ।
दुःखं च पञ्च दिवसैः क्रमशः संजायते त्वपरैः ॥१३७७॥

प्रथम दिनमें अर्थात् शुक्ल पक्षके प्रतिपदाके दिन उस दिन विपरीत श्वास चले अर्थात् चलना चाहिये बायें स्वरसे उदयकालमें और चलती हो दाहिने स्वरसे तो चित्तको उद्वेग होगा। यह उसका फल है। अब शुक्ल पक्षके दूसरे दिन विपरीत श्वास चले अर्थात् चलना तो चाहिए बामस्वरसे और चले दाहिने स्वरसे तो धनकी हानिको सूचित करता है। शुक्ल पक्षके तृतीयाके दिन यदि श्वास विपरीत चले अर्थात् चलना तो चाहिए बामस्वरसे प्रातःकाल और चले दाहिने स्वरसे तो परदेशगमन होगा। इस प्रकारकी सूचना समझना चाहिए। इसके पश्चात् ५ दिन तक विपरीत चले तो क्रमसे इष्टप्रयोजनका नाश विभ्रम होना, अपने पदसे भ्रष्ट होना, महान युद्ध होना, दुःख होना ये ५ फल होते हैं, इसी प्रकार अगले ५ दिनका फल विपरीत अर्थात् अशुभ जानना। ये सब बातें बताई जा रही हैं, पर इनका प्रयोग मुमुक्षु ज्ञानी पुरुष किया नहीं करते हैं। जो होना है सो होता है। जो होना है वह क्या उसके जान लेनेसे टल जाता है? जैसे पुराणोंमें बहुतसी घटनाएं ऐसी आयी हैं कि नेमिनाथ स्वामीके सम्बंधमें यह बात जाहिर हुई थीं कि १२ वर्षमें द्वारिकापुरी भस्म होगी, जरतकुमारके द्वारा श्रीकृष्णकी मृत्यु होगी। जो जो कुछ बातें कही गई थीं उन सब बातोंको मिटानेके लिए लोगोंने तरकीब सब बनाये। जरतकुमार उस नगरसे भाग गए। न मैं यहाँ रहूंगा और न मेरे निमित्तसे नारायणकी मृत्यु होगी। भाग गया किसी अपरिचित जगलमे। और द्वीपायन मुनिके द्वारा यह द्वारिकापुरी भस्म होगी, ऐसा सुननेपर द्वीपायनमुनि भी १२ वर्षके लिए नगरसे चले गए पर हुआ क्या कि द्वीपायन मुनि आ गए, लौंधका महीना न गिन सके और हुआ वही जो कहा था। जरतकुमार जिस जगलमें था वहाँ नारायण पहुचे। सभी लोग बताते हैं कि जरतकुमारके हाथसे श्रीकृष्णकी मृत्यु हुई। तो हुआ क्या जो होना था। तो इस स्वर विज्ञानमें पड़नेसे लाभ क्या? इसी तरह बहुतसे लोग दिशाशूलसे बचना या अन्य अन्य बातें करते हैं, उनकी ओर चित्त देना ही ठीक नहीं है। अब कहो मुकदमा हो इलाहाबादका सोमवार को और मान लेवे कि शनिवारको दिशाशूलके कारण न जायें तब तो मुकदमा रह जायगा ना, तो यह तो एक विरुद्ध बात हो जायगी। बल्कि दिशाशूलके दिन चलनेसे फायदा यह है कि बहुतसे लोगोंके रेलमें न जाने से जगह अच्छी मिल जाती है। यह सब सोचना चित्तको परेशानी देना भर है। जो बात है उसका थोड़ा वर्णन चल रहा है। भारी फूक फूककर कोई चले इन बातोंको सोच सोचकर तो उसका दिमाग तो इसीमे परेशान रहेगा। चित्त प्रसन्न होना, निर्मल होना और फिर उस निर्मल चित्तकी दशामें जो बात जिस समय करनेकी है करें तो वह एक उचित कर्तव्य है, लेकिन कोई इस प्रकारसे परीक्षण करे तो ये भी बातें हैं जिनको यहाँ प्रकरणवश कहा जा रहा है।

वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम् ।
संहर्त्री दक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका ॥१३७८॥

जीवों की बाईं नाडी चन्द्रस्वर बाया स्वर अमृतमय और हितकारी समझना। यह एक सामान्यतया बताया जा रहा है। विशेष प्रसगमें तो और-और तरहके नियम हैं पर एक साधारणसी बात कही जा रही है और दाहिनी नाड़ी नासिकाके दाहिने छिद्रसे श्वासका आना-जाना अहितके करने वाली है। इस प्रसगमे एक बात यह समझना है कि जब कोई योगी ध्यानी पुरुष ध्यानमे निर्विकल्प तल्लीन होता है उस समय उसके स्वर दोनों ओरसे समान हो जाते हैं। उसे समस्वर कहते हैं और वह समस्वर भी कुछ विलक्षणताको लिए हुए होता है। इसका वर्णन सम्भवत कहीं आगेके श्लोकोंमे आयगा तो इस स्थानमें योगी ध्यानी पुरुषकी बात कही जा रही है कि उस समय स्वरका श्वासका क्या प्रभाव होता है?

अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणयति शरीरिणां ध्रुवं वामा ।
क्षपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाडी ॥१३७९॥

वायें स्वरसे श्वास वाई नाडी यदि निरन्तर बहती रहे तो जीवोंके समस्त शरीरको अमृतके समान तृप्त करती है । और दाहिनी नाडी यदि लगातार, निरन्तर बहती रहे तो वह शरीरको क्षीण करती है । शारीरिक स्वास्थ्यपर इन श्वासोंका क्या प्रभाव पड़ता है, उसकी बात यहाँ कहीं जा रही है । वायें स्वरसे श्वासका निकलना शरीरके लिए लाभदायक बताया है । अधिकतर निकला करे तो और दाहिने स्वरसे लगातर घटो श्वास निकले तो वह शरीरको क्षीण करने वाली कही गई है । दाहिना स्वर एक क्रूरता और आताप भरा है और बाया स्वर एक शान्ति और शीतलताको प्रकट करने वाला कहा गया है । स्वर १०-१५ मिनट भी किसीका एक ही स्वरसे नहीं चलता, बदलता रहता है, कभी दाहिने नाकसे निकलता है तो कभी बाम नाकसे स्वर निकलता है । उसी सिलसिलेमें यह कहा जा रहा है कि यदि दाहिने स्वरसे बहुत देर तक निकलती ही रहे श्वास तो उसका प्रभाव शरीरपर अच्छा नहीं होता । और कदाचित बाम श्वास बहुत देर तक निकलती रहे तो उसका शरीरपर प्रभाव अच्छा रहता है ।

संग्रामसुरतभोजनविरुद्धकार्येषु दक्षिणेष्टा स्यात् ।
अभ्युदयहृदयवाञ्छितसमस्तशस्तेषु वामैव ॥१३८०॥

कहीं युद्धके लिए जाना हो, सग्रामकी कोई बात हो तो दक्षिण स्वरसे श्वास निकले वह शुभ और इष्ट माना गया है । चलित और क्रूर कार्योके लिए दक्षिण स्वर ठीक माना है, इसी प्रकार स्वरत कालमें भोजन आदिक कालमें दाहिनी नाडी शुभ मानी गयी है । भोजन करते समय यदि दाहिनी ओरसे श्वास निकलती हो तो उसका प्रभाव अच्छा होता है । भोजनको स्वपचं बनता है और शरीरमे स्वास्थ्य उत्पन्न करे इसका वह कारण है । तो जो कोई थोडा स्वरविज्ञान जानता है वह इसी बाटपर बैठा रहे कि हमें ६ बजे भोजन करना है, देखा कि अभी दाहिना स्वर नहीं निकल रहा तो कहो दाहिने स्वरकी बाट हेरे, घटों बैठा ही रहे । कुछ लोग तो प्रयोग करके स्वर बदलनेकी चेष्टा करते हैं । जैसे वायें स्वरसे निकल रही हो श्वास तो वायें हाथकी मुट्ठी बाँधकर दाहिनी काखमे लगाकर जोरसे बैठ जाते हैं और कुछ ही देर बाद दाहिना स्वर आ जाता है, इसी प्रकार दाहिने स्वरसे बदलनेका भी यत्न है कि दाहिने हाथ मुट्ठी बायें कांखमें दबाकर बैठे तो बाया स्वर आ जाता है । ये कुछ साधन हैं तो किन स्वरोंमे कौनसा कार्य करें यह स्वरविज्ञानी लोग जिस प्रकार करते हैं उसकी बात यहाँ कही जा रही है । युद्ध भोजन आदिक विरुद्ध कार्योंमे और कोई विपरीत कार्योंमे दाहिने स्वरको शुभ कहा है और मनोवाञ्छित समस्त शुभ कार्योमे वामस्वरको शुभ कहा गया है । यह एक साधक पुरुषकी ऐसी घटनाएं बनती हैं और उनका यह विज्ञान बताया जा रहा है । कोई परीक्षण करे तो कर भी सकता है, पर परीक्षण करनेमे उसका विशेष समय बरबाद होता है और एक संदेहकी बात बन जाती है । इसलिए न करना ही ठीक है, पर उसका यह प्रयोग वैज्ञानिक रूपमें बताया गया है । इससे तत्त्व इतना ही लेना कि मोक्षके लिए उद्यम करने वाले योगी ज्ञानी ध्यानी पुरुष प्राणायामकी साधनामें क्या-क्या और चमत्कार पा लेते हैं उन चमत्कारोंका इसमें वर्णन है ।

नेष्टघटनेऽसमर्था राहुग्रहकालचन्द्रसूर्याद्याः ।
क्षितिवरुणौ त्वमृतगतौ समस्तकल्याणदौ ज्ञेयौ ॥१३८१॥

नासिकासे श्वास निकलनेके ४ मण्डल बताये हैं—पृथ्वीमण्डल, जलमण्डल, तेजोमण्डल और वायुमण्डल । इनकी पहिचान करना बहुत कठिन है । बहुत दिनोंके अभ्याससे ही पहिचान हो पाती है कि हमारी श्वास किस मण्डलकी निकल रही है ? मोटे रूपमे यो समझिये कि जो कुछ उष्ण श्वास हो और

जिसका प्रभाव नासिकासे ८ अंगुल तक पड़े, जो चतुरस्र हो. अर्थात् श्वास जो निकली वह चौकोर विदित हो वह तो पृथ्वीमण्डल है। जो शीतल हो और अर्द्ध चन्द्राकार श्वास निकलती हो अर्थात् उल्टी उल्टी करके उस श्वासके प्रभावको देखो तो वह प्रभाव अर्द्ध चन्द्रके आकार जैसा पड़े तथा जिसका प्रभाव नासिकासे १२ अंगुल तक पड़े अर्थात् श्वास इतनी दूर तक जाय वह जलमण्डल है। जो श्वास चचल हो, क्षणभरमें नासिकाके एक कोनेसे हवा वहे, क्षणभरमें दूसरी ओरसे वहे इस तरह जो सब ओर वहता हो, कभी किसी कोनेसे कभी किसी कोनेसे, श्वास निकली हो, जो कुछ उष्ण हो अथवा शीत भी हो, जिसका प्रभाव नासिका से ६ अंगुल तक पड़े उसका नाम है वायुमण्डल और जो अति उष्ण हो, त्रिकोण बहती हो, जिसका प्रभाव ४ अगुल तक पड़े, जो श्वास कभी ऊंचेकी ओर चले कभी नीचेकी ओर चले इस प्रकारकी श्वास अग्निमण्डल कहलाती है। इन चारमे से पृथ्वीमण्डल और जलमण्डलकी श्वास प्राय शुभ कार्योमे शुभ मानी जाती है। जब कभी पृथ्वीमण्डल और जलमण्डलकी श्वास निकली और वह भी नासिकाके बायें ओरसे निकली तो समझिये कि उसको समस्त कल्याण होने वाले हैं और उसपर राहु ग्रहकाल चन्द्र, सूर्य गृह आदिकका उसपर प्रभाव न होगा। उसके इष्ट आदिकका विघात न कर सकेगा। यह स्थिति एक कल्याणप्रद स्थितिकी सूचना देती है। यद्यपि मुमुक्षु पुरुषोंको इन वातोंसे कोई प्रयोजन नहीं है, किन्हीं ऋद्धिधारी योगीश्वरोंको अपनी ऋद्धिसे कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु जैसे अपने तपश्चरणमें वढने वाले योगियोंकी वीच वीच में सब ऋद्धियां पैदा होती हैं इसी प्रकार ध्यानका अभ्यास करने वाले पुरुषोको प्राणायामकी साधनाकी विधिके माध्यमसे यह सब स्वरविज्ञान उत्पन्न होता है, पर मुमुक्षुको इससे प्रयोजन कुछ नहीं, पर जो एक कला और विद्या है। उसका वर्णन किया है। कदाचित दूसरोंके फलके वास्ते कोई इसका प्रयोग भी कर सकता है। जैसे ऋद्धिधारी मुनीश्वर धर्मात्मावोंके उपकारके लिए सिद्धियोंका प्रयोग करते हैं ऐसे ही स्वरविज्ञानसे जो तत्त्व जाना है उसके उपकारकी अपेक्षासे प्रयोग कर सकते हैं पर मुख्यतया मुमुक्षुको इससे कोई प्रयोजन नहीं है।

पूर्णे पूर्वस्य जयो रिक्ते त्वितरस्य कथ्यते तज्ज्ञैः।
उभयोर्युद्धनिमित्ते दूतेनाशंसिते प्रश्ने ॥१३८२॥

अब उस स्वरविज्ञानके सहारे प्रश्न समाधानके रूपमे वर्णन कर रहे हैं। कभी कोई दूत आकर युद्धके निमित्त कोई प्रश्न करे तो जिसके विजयके लिए प्रश्न किया है उसके विजयकी सूचना तब समझिये जब जिस ओर से आकर प्रश्न करे अथवा प्रश्नकर्ताका जो स्वर चलता हो, वायां अथवा दाहिना कोई स्वर हो और स्वर चलता हो वह स्वर इस वताने वालेका भी चल रहा हो तो वह इस वातका सूचक है कि पहिले जिसको पूछा गया उसकी जीत है और यदि रिक्तस्वरमे पूछा वह स्वर न चलता हो, विपरीत चलता हो तो उसमें प्रतिपक्षीकी विजय होगी और यदि दोनों स्वर चल रहे हों तो उसमे दोनोंका ही विजय हो ऐसी उसकी सूचना है। एक स्वरविज्ञान भी एक निमित्त ज्ञान है। जैसे अन्य कुछ चीजोंको देखकर कोई शुभ अशुभ बता दिया जाता है तो स्वरविज्ञानमे उससे भी अधिक दृढता है कि स्वरके परिचयसे दूसरोंको शुभ अथवा अशुभ बताया जा सकता है।

ज्ञातुर्नाम प्रथमं पश्चाद्यद्यातुरस्य गृह्णाति।
दूतस्तदेष्टसिद्धिस्तद्व्यस्ते स्याद्विपर्यस्ता ॥१३८३॥

यह वहुत काम वाली बात कही जा रही है। कोई पुरुष जो वातचीत करने वाला हो वह यदि किसी विपरीत रोगी दु.खीके बावतमें कुछ पूछे तो उसके पूछनेका ढग यदि ऐसा हो कि पहिले तो इस ज्ञानीका नाम ले, पीछे फिर उस आत्माका नाम ले उसमे इष्टकी सिद्धि होती है। जैसे कोई किसी वड़ेके प्रति पूछे वैद्य जी अमारे अमुकको अमुक रोग है तो ठीक होगा या नहीं तो उत्तर उसका भला आयगा और कोई यों पूछे कि मेरा मुन्ना वीमार है वतावो वैद्यजी ठीक होगा कि नहीं ? तो उसमे वताया है कि नहीं ठीक

होगा। पहिले उस बड़े पुरुषका नाम लेकर पूछना चाहिए तो यह एक स्वरविधिसे एक उपाय बताया है। इसके विपरीत रोगका नाम पहिले ले और उस बड़े आदमीका नाम पीछे ले तो उसमे इष्टकी सिद्धि नहीं कहा है। जैसे लोकव्यवहारमें भी सम्भवत यही विधि है कि पहिले बड़ेका नाम ले, पीछे बात रखे, इसमें यद्यपि अभी स्वरविज्ञानकी वात नहीं आयी लेकिन उसीसे सम्बधित केवल स्वरविज्ञानका अग इस छन्दमें कह रहे हैं।

जयति समाक्षरनामा वामावाहस्थितेन दूतेन।
विषमाक्षरस्तु दक्षिणदिक्संस्थेनास्त्रसंपाते ॥१३८४॥

पूछने वाला पुरुष उसीका नाम रखा है दूत। यद्यपि दूत नाम बुरेका नहीं है लेकिन रूढिमें दूत शब्द बुरे नाममें लोग मानते हैं। जो यहाँका वहाँ भिडाये उसे कहते हैं तुम दूती क्यों करते हो? लेकिन दूतका अर्थ बुरा नहीं है। उसे तो दोगला या चुगला कहना चाहिए। दोगला चौगला होना और वात है दूत होना और वात है। दूत होते हैं बुद्धिमान पुरुष, विवेकी जन और चुगल होते हैं ऊधमी पुरुष। जिसके दो गले हों सो दोगला। एक वात उससे कहा, दूसरी वात दूसरेसे, उसने अपने दो गले बना लिया, चौगला तो उससे भी बुरा है, उसने चार गले बना लिए। जैसे तिगड्ड होता है ऐसे ही चार जगह फिरना सो चौगड्ड। दूत नाम है किसी संदेशको भली प्रकार युक्तिपूर्वक विधिसे उपस्थित करे उसका नाम है दूत। कोई दूत आकर जैसे किसी विषयमें पूछे, उसके नामके अक्षर यदि समान हैं, २, ४, ६, ८ इन संख्यावोंमें है और वह प्रश्नकर्ताके बाईं तरफ खडा होकर पूछे और वायां ही स्वर समाधानकर्ताके चल रहा हो तो उसका समाधान यह है कि चाहे कितनी भी कठिन विपदा आये वह जीतेगा ही, और किसी ऐसे व्यक्तिके बारेमें पूछे जिसके अक्षर १, ३, ५, ७, ६ ऐसे विषम हों वह समाधानकर्ताके दाहिनी तरफ आकर पूछे और दाहिना स्वर चल रहा हो तो भी वही उत्तर है जीतेगा, जो पहिलेका उत्तर है, और इसके विरुद्ध बात हो तो उसमें पराजयका समाधान है। यह सब स्वरविज्ञानमें जो बात ज्ञानके परिचयकी है वह बात कही जा रही है, पर जिसकी धुन केवल एक अध्यात्म आनन्दकी है, केवल ज्ञानस्वरूपके अनुभवकी है ऐसे पुरुषको इन बातोंमें रुचि नहीं जगती, उसकी एक ध्यानसाधनामे प्राणायामसाधनामे अथवा उस एकाग्र चित्त होनेकी स्थितिमें जो श्वास निरोध चिरकाल तक होता रहा है उस परिस्थितिमे ऐसी साधना बन जाती है, स्वरविज्ञान हो जाता है कि जिससे दूसरोका शुभ अशुभ भी बताया जा सकता है।

भूतादिगृहीतानां रोगार्तानां च सर्पदष्टानां।
पूर्वोक्त एव च विधिर्बोद्धव्यो मान्त्रिकावश्यम् ॥१३८५॥

जो बात अभी युद्धके जय पराजयके सम्बधमें बताई गयी है ठीक वैसी ही बात उन पुरुषोंकी भी है जो भूत आदिकसे पीडित हैं, रोगसे दुःखी है, सर्पसे डसे हैं, किसी विपत्तिमें फसे हैं। उनका भी समाधान इस ही प्रकार होगा, उस पीडित पुरुषके नामके अक्षर समान हों और वह समाधानकर्ताके बायें ओर चले तो समझिये कि सिद्धि है और नामके अक्षर विषम हों और दाहिनी ओर आकर पूछे और दाहिना स्वर समाधानकर्ताका चल रहा हो तो वह शुभ है, इससे विपरीत शुभ नहीं है।

पूर्णे वरुणे प्रविशति यदि वामा जायते क्वचित्पुण्यैः।
सिद्ध्यन्त्यचिन्तितान्यपि कार्याण्यारभ्यमाणानि ॥१३८६॥

इस स्वरविधिमे मण्डलका ज्ञान करना कठिन है। इतना तो हर एक कोई देख लेगा कि हमारी श्वास दाहिनी चल रही है या बाईं, लेकिन मण्डलका ज्ञान करना कठिन है। यह श्वास पृथ्वीमण्डल की है अथवा किस मण्डलकी है? इसका पता नहीं होता, परन्तु अभ्यास करने वाले पुरुष जो १०-२० दिन श्वास परीक्षा करते रहें तो उनको इस बातका अभ्यास बन जाता है। यदि वरुणमण्डलका पवन अर्थात् जल-

मण्डलकी वायु पूर्ण होकर प्रवाहित हो रही हो अर्थात् श्वास निकालकर श्वास ली जा रही हो, उस समय जिसका वायुस्वर चल रहा हो तो उसको अनेक कार्योंकी सिद्धि बताई गयी है। स्वर कभी बहुत देर तक किसी एक ओरसे नहीं चलता। सुबह किसी ओर से श्वास निकली, दोपहरको किसी ओर से। कदाचित बहुत देर तक भी श्वास निकले और बायें ओरसे निकले तो ठीक है। दाहिनी ओर से यदि बहुत देर तक निकलती रहे तो वह रोग अनिष्ट आपत्ति आदिका सूचक है। अध्यात्म मार्गमें प्रवेश करने वाले अपने आपके आत्मतत्त्वमें बहुत कुछ हितकी बात परखने वाले पुरुष ऐसे कलावान होते हैं कि जिसमे अन्य अन्य परिज्ञात सम्बंधी कलायें हुआ करती हैं। स्वरविज्ञान एक महानिमित्त विज्ञान है। श्रुत ज्ञानमें जो महानिमित्तोंका वर्णन है, जिससे देशका व्यक्तिका शुभ अथवा अशुभ परख लिया जाता है उन निमित्तोंमें स्वरविज्ञानका बहुत ऊंचा स्थान है। जैसें ग्रह विज्ञान, चंद्र सूर्य आदिक नवग्रह आदिक इनके विज्ञानसे दृढ़ विज्ञान है सामुद्रिक शास्त्रका विज्ञान- क्योंकि शरीरमें कुछ विशेष चिन्ह होंगे वे शुभ और स्वलक्षण सुन्दर रचनावान होंगे तो वे उसके पुण्यभावसे, पुण्यकर्मसे विशेष सम्बंध रखने वाले होते हैं तो जैसे ग्रहविज्ञानसे सामुद्रिक शास्त्रका विज्ञान एक दृढ़परिचय वाला है ऐसे ही स्वरविज्ञान भी एक दृढ परिचय वाला है। उस स्वरविज्ञान से ये सब शुभ और अशुभकी बातें बतायी जा रही हैं।

जयजीवितलाभाद्या येऽर्थाः पूर्वं तु सूचिताः शास्त्रे।

स्युस्ते सर्वेऽप्यफला मृत्युस्थे मरुति लोकानाम् ॥१३८७॥

जो पदार्थ पहिले बताये गए हैं लाभके पक्षके जीवनके वे सब यदि श्वास टूटते समयमें पूछे जायें तो सब निष्फल हैं। एक खास बात जाननेकी यह है कि जब उत्कृष्ट निर्विकल्प उच्च ध्यान होता है योगीका तो उच्च ध्यानके समयमे उस योगीके किसी एक स्वरसे श्वास नहीं चलती। न बायें स्वरसे और न दाहिनेसे, किन्तु मंद-मद रूपमे दोनों ही स्वरोंसे श्वास निकलती है और प्राय नाकके मल स्थानमे जो दोनो नाकके बीच है वहाँ उस श्वासका विश्राम होता है, ऐसी स्थितिमे समतापरिणाम, समाधिभाव, विशुद्ध ध्यान ठहरता है। यह भी एक शरीरकी स्थितिसे आत्माके भावोका एक निमित्त संबंध है और प्राय ऐसी आप कभी परीक्षा भी कर सकेंगे कि जिस समय बहुत शान्त चित्त होगा कोई व्यग्रता न हो, उदारता हो, समता हो रागद्वेषकी लहरें न उठ रही हों, पर पदार्थोंमें मोह राग न बसाया जा रहा हो, ऐसी स्थितिमे स्वर एक सम चलेगा, मद चलेगा और किसी भी एक स्वरका जब पक्ष न होगा। ऐसी स्थिति योगीश्वरोंकी होती है जब कि निर्विकल्प ध्यान कर रहे हों। ऐसे स्वरके समयमे ध्यानकी उत्कृष्टता बनती है यों कह लीजिए। जैसे मन प्रसन्न न हो, चिन्ता-रहित न हो तो ध्यानकी सिद्धि नहीं बनती, ऐसे ही जब स्वर सम न हो तो उस समय ध्यानकी उत्कृष्टता नहीं बनती। ऐसे स्वर और ध्यानका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध बन जाता है। ऐसे ध्यानका जो अभ्यास करता है वह पुरुष पद्मासनसे परीक्षा कर बडी दृढतासे बैठकर और अपने शरीरको सीधा रखकर जो श्वासको प्राणायामसे भरकर धीरे-धीरे छोडी जाती है उस परिस्थितिमे इस ध्यानी पुरुषकी श्वास नाडिका एकदम सीधी होनेसे एक तो लौकिक लाभ यह है कि शरीर स्वस्थ होता है, रोगादिक सब भाग जाते हैं फिर उस समय श्वाससे यह श्वास जब निकलती है तब वह श्वास अगले भागकी नाडीमे न जाकर तालूके भाग तक वह श्वास आती है, फिर तालूके बहुत पतले-पतले छिद्रसे वह श्वास थोडी-थोडी निकलती है। ऐसी भी स्थिति योगी पुरुषोंकी होती है। इसीसे कहते हैं कि अब यह योगी मूर्छा स्थानमें पहुच गया है। ये सब बातें ध्यानके सयय स्वयमेव होती हैं। कोई प्राणायाम करता है, अभ्यास करता है, परिश्रम करता है तब उसका प्रभाव प्रकट होता है पर तत्त्वज्ञानी पुरुषको जिसका ज्ञान वैराग्य विशुद्ध है उसके वह प्रभाव स्वयमेव प्रकट होता है। तत्त्वज्ञान होनेसे रागद्वेषकी वासना न रहनेसे स्वय ही ऐसी समतामे स्वर चलता है और उस श्वाससे शरीरका भी लाभ होना है और अध्यात्म लाभ भी होता है। उस ही लाभके मार्गमें चलने वाले

योगी कैसे स्वरविज्ञान प्राप्त कर लेते हैं उसकी बात यहाँ चल रही है। जो स्थिर कार्य हैं, शुभ कार्य हैं उन कार्योंको वाम स्वरके समय करे तो उसमे कुछ विशेष अनुरोध ऐसा होता है कि जिससे कार्य सिद्धि हो, और जो चलित कार्य हैं, क्षणिक कार्य हैं, भोजन आदिक जैसे कार्य हैं वे दाहिने स्वरसे किए जाये तो वे भी अपना अच्छा प्रभाव दिखाते हैं। मूलमें बात समझनेकी इतनी ही है। फिर इसमें पूर्ण नियम कुछ नहीं है, अतएव उसकी और और भी सूक्ष्मतासे बातें बतायी जा रही हैं। यह सब वर्णन उसी सिलसिलेमे चल रहा है कि किसीके इष्टकी सिद्धि होगी या नहीं, यह एक स्वरविज्ञानसे बता दिया जाता है। यों कुछ प्रश्न और उनके उत्तर समाधान दिए गए हैं। जैसे मेघ आदिकका बरसना या कुछ पूछना—इन सबके उत्तर इस स्वरविज्ञानमें आ जाते हैं।

अनिलमवबुध्य सम्यक्पुष्पं हस्तात्प्रपातयेज्ज्ञानी।
मृतजीवितविज्ञाने ततः स्वयं निश्चयं कुरुते ॥१३८८॥

अब जीवन और मरणका निश्चय करनेका वर्णन किया जा रहा है। पवनसे भली प्रकारसे निश्चय करके ज्ञानी पुरुष अपने हाथसे पुष्प डाले उससे मृतका जीवितका ज्ञान किया जाता है। चार प्रकारके जो श्वास बताये हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु पहिले तो इसका निश्चय करें अथवा पवनोंके निश्चय करने का एक साधन पुष्पका रग भी है, अथवा एक विश्रामसे रहकर एक और अनेकके केन्द्र स्थानपर ध्यान लानेसे जो रग विन्दु प्रतीत होता है उससे उन मण्डलोंका निश्चय होता कि कौन-श्वास किस मण्डलकी निकलती है। तो रंगोंसे और वायुके स्वरूपसे पहिले मडलका निश्चय करें, फिर उसमें इस प्रकारसे मृत और जीवितका परिज्ञान करें।

वरुणे त्वरितो लाभश्चिरेण भौमे तदर्थिने वाच्यम्।
तुच्छतरः पवनाख्ये सिद्धोऽपि विनश्यते वह्नौ ॥१३८९॥

जलमण्डलका पवन होनेपर तो शीघ्र ही लाभ कहो। अपनी श्वास यदि जलमण्डलकी चल रही है और उससे कोई किसी असाध्य रोगकी बात पूछे कि इसको लाभ होगा क्या? तो उत्तर दो कि शीघ्र लाभ होगा और पृथ्वीका पवन हो तो कहो कि बहुत कालमे लाभ होगा, कुछ समय लगेगा और पवनमण्डलका श्वास हो तो लाभ नहीं होता, बल्कि बिगाड होता है। यह चार श्वासोंकी पहिचान कुछ मुश्किल है, किन्तु पहिचान हो जाय तो यह सब शुभ अशुभ लाभकी बातको भी सुगमतया बता सकता है। पृथ्वीमण्डलकी श्वासका प्रभाव अष्ट अगुल तक बताया है, जलमण्डलका प्रभाव १२ अगुल तक बताया है और पवनमण्डल का प्रभाव ८ अगुल तक और अग्निमण्डलका प्रभाव ४ अगुल तक अर्थात् नाकसे ४, ६, ८, १२ अगुल दूर तक श्वास आये तो उससे उन मण्डलोंकी पहिचान होती है, साथ ही वह श्वास किस विधिसे वह रही है, किस ओर जा रही है, इससे भी इस मण्डलका निश्चय होता है। तो जब जलमण्डलका श्वास वह रहा हो उस समय कोई पूछे तो कहना चाहिए कि इसको शीघ्र लाभ होगा और अग्निमण्डलका श्वास जो चार अगुल दूर तक बहता है और तितरबितर कभी किसी कोनेसे, कभी किसी कोनेसे तो उस समय पूछे हुए प्रश्नका उत्तर होगा कि लाभ नहीं है।

आयाति गतो वरुणे भौमे तत्रैव तिष्ठति सुखेन।
यात्यन्यत्र श्वसने मृति इति वह्नौ समादेश्यम् ॥१३९०॥

कोई पुरुष परदेश गया हुआ हो और उसका कोई प्रश्न करे तो प्रकार उत्तर होगा—प्रश्न करने वाला यदि जलमण्डल पवनमें प्रश्न करे याने प्रश्नका श्वास शीतल जलमण्डलकी मुद्राका निकलता हो तो उत्तर होगा कि गया हुआ मनुष्य आता ही है। यदि पृथ्वीतत्त्वमे प्रश्न किया, प्रश्न करने वाला श्वासकी परीक्षा ले—यदि वह पृथ्वीतत्त्वमे पूछ रहा है तो यह उत्तर होगा कि वह वहाँ ही रह रहा है जहाँ परदेशमें

गया है। यह उत्तर होगा। और कोई वायुमण्डल तत्त्वकी श्वासमें प्रश्न पूछे तो उसका उत्तर होगा कि जहाँ रहता था वहाँसे कहीं अन्यत्र चला गया है और अग्नितत्त्वमें कोई प्रश्न करे तो उसका अशुभ उत्तर होगा।

घोरतरः संग्रामो हुताशने मरुति भङ्ग एव स्यात्।
गगने सैन्यविनाशं मृत्युर्वा युद्धपृच्छायाम् ॥१३६१॥

कोई युद्धके सम्बंधमें बात पूछे—अमुक युद्धमे हमारा कोई गया है, युद्धके सम्बधमे पूछे तो अग्नितत्त्वमें तो यह उत्तर आयगा कि तीव्र सग्राम हो रहा है और वायुतत्त्वमें भग होना कहेंगे। और आकाशतत्त्वमें सेनाके विनाशका उत्तर होगा। यद्यपि अभी तक कोई आकाशमण्डलका श्वास नहीं कहा है तव संगति वैठालनेके लिए तो यह उचित था कि युद्धतत्त्वमें प्रश्न करे तव तो सग्राम अग्नितत्त्वमे विनाश और पृथ्वीतत्त्वमे संग्रामका भंग होना वताया जा सकता है।

ऐन्द्रे विजयः समरे ततोऽधिको वाञ्छितश्च वरुणे स्यात्।
सन्धिर्वा रिपुभङ्गात्स्वसिद्धिसंसूचनोपेतः ॥१३६२॥

इस प्रकरणमे सामान्यतया ऐसा निर्णय कर लेना चाहिए कि सभी जगह प्राय ४ मडल होते हैं। जिनमे सवसे उत्तम जलमण्डलका श्वास है, जो श्वास शान्त शीतल वहती हो और साथ ही यदि श्वास वाम स्वरसे चलती हो तो वह और भी उत्तम हो, ऐसी श्वासमे प्रश्नकर्त्ता हो और साथ ही समाधानकर्त्ता भी इसी जलमण्डलकी श्वासमे हो तो शुभ ही उत्तर होगा। प्रत्येक दृष्टियोंमे लाभ होगा। पृथ्वीमण्डलमें उससे कम लाभकी वात है। वायुमण्डलमे उससे कम लाभकी अथवा समझिये कि हानिकी वात है और अग्निमण्डलमे पूर्णतया हानिकी वात है।

अभ्यास करनेसे श्वासका परिज्ञान हो सकता है। इन लक्षणोंको मिलाकर अपनी श्वासका मिलान करें और प्रश्नकर्तावोंको उसका उत्तर दें तो इस प्रयोगसे श्वासमण्डलका सही परिज्ञान हो जाता है। पृथ्वीतत्त्वमे कोई प्रश्न करे अथवा समाधानकर्ता हो तो सग्राममे विजयका उत्तर देवे। युद्धमें विजय होगा। कोई पूछे कि इस युद्धमे इसका क्या होगा? तो अपने श्वासका परिचय करें और प्रश्नकर्ताके श्वास भी देख। यदि पृथ्वीमण्डलकी श्वास चल रही हो जो कि एक साधारण उष्ण होगी, जिसका प्रभाव करीब ८ अगुल तक चलेगा जो सीध श्वास वनेगी यहाँ वहाँ घूमकर नहीं। ऐसी श्वासके समय युद्धकी वार्ता पूछनेपर उत्तर होगा कि सग्राममें विजय होगी, और वरुणपवनमे कोई प्रश्न करे, जलमण्डलका श्वास हो जो शीतल और शान्त श्वास होगा तो उसका उत्तर होगा कि जितने विजयकी आशा कोई करता हो उससे भी अधिक विजय होगा। यह श्वासोंका परिज्ञान एक लौकिक लाभको वताता है जिससे मुमुक्षुजनोका कुछ प्रयोजन नहीं है। किन्तु यह एक विद्या है, विज्ञान है, इस श्वासके परीक्षणसे दूसरोंका लाभ अलाभ वता सकते हैं। इससे साधारणतया यह समझना कि नाकके वाये स्वरमे वहना स्वास्थ्यके लिए लाभ देने वाली है और वाहरमें शुभ कार्योंको भी वताने वाली है, और दाहिने स्वरसे चलित कार्योंकी सिद्धि वतायी गई और स्थिरताके कार्यों मे असिद्धि वतायी गई। यह तो एक स्वरविज्ञानमे प्रथम मूल आधार है, फिर इससे भी विशेष ठीक उत्तर जानना हो तो इसमें मण्डलकी परीक्षा करें, जैसा कि अभी वहुत वार इसका स्वरूप आया है। उनमेसे जलमण्डलमे जो प्रश्न करें, तो उसका फल उत्तम है, पृथ्वीमण्डलमे करे तो कम लाभ, वायुमण्डलमे करे तो उससे कम लाभ अथवा हानि। वायुमण्डलमे हानि वताना चाहिए। इनका सम्वध कषाय और शान्तिसे भी है। मनुष्यको तीव्र क्रोधके समय परख लेते कि दाहिने स्वरसे वायु निकली होगी और समतासे शान्तिसे कोई वैठा हो तो उसकी श्वास वायें स्वरसे निकलती होगी।

वर्षति भौमे मघवान्वरुणेऽभिमतो मतस्तथाजस्रम्।
दुर्दिनघनाश्च पवने वह्नौ वृष्टिः कियन्माला ॥१३६३॥

पृथ्वीतत्त्वमें तो मेघका बरसना कहा। कोई प्रश्न करे कि मेघ बरसेगा या नहीं ? तो श्वास यदि पृथ्वीतत्त्वसे चलती हो, श्वास चौकोर निकलती हो, जो चारों ओरसे फैली हुईसी निकलती हो, जैसे बैट्रीकी लाइटमें जो केन्द्र स्थान रहता है वहाँ तो थोड़ा प्रकाश और बाहरमे फैला हुआ चारों ओर प्रकाश रहता है, इसी प्रकार जो वायु चौकोर फैली हुईसी है, जिसमें कहीं तेज टक्करसी नहीं लगती, ऐसी श्वास हो उसे पृथ्वीमण्डलकी श्वास कहते हैं। ऐसी श्वासमें कोई मेघ बरसनेकी बात पूछे तो स्वरविज्ञानके शास्त्र यह उत्तर देते हैं कि वर्षा होगी। तो जितनी वर्षा चाहिए उतनी बरषेगा ऐसा वरुणकी श्वासमें उत्तर आयगा। वरुणमण्डल मायने जलमण्डल। जिसकी पहिचान है कि श्वास निकलती है उसके बाहरमें आकार अर्द्धचन्द्रकी तरह बनता है। यदि नाकके सामने उल्टा हाथ लगाया जाय तो बीचमें तेज प्रभाव पड़ेगा और अगल बगल कम प्रभाव पड़ेगा, उसका आकार अर्द्ध चन्द्रकी तरह बन जाता है और इसका प्रभाव दो अंगुल तक चलता है, ऐसे जलमण्डलमें कोई प्रश्न करे अथवा समाधानकर्ताका यह स्वर हो तो उसका उत्तर होगा कि अच्छी वर्षा होगी। कोई पवनतत्त्वमें पूछे तो यह कहना चाहिए कि दुर्दिन होगा। दुर्दिन ऐसा कि जिस दिन बादल छाये रहें, पानी न बरसे अथवा कभी-कभी थोड़ी बूंदाबांदी भी हो जाय। और अग्नितत्त्वमें कोई प्रश्न करे तो थोड़ी वृष्टि होगी कहो जिससे न कृषकोंको तृप्ति होती और न किसीको बेचैनी मिलती, ऐसा उत्तर आयगा।

सस्यानां निष्पत्तिः स्याद्वरुणे पार्थिवे च सुश्लाघ्या।
स्वल्पापि न चाग्नेये वायव्याकाशे तु मध्यस्था ॥१३९४॥

कोई मनुष्य धान्यकी उत्पत्तिका प्रश्न करे कैसा अनाज पैदा होगा, तो उसका भी उत्तर भिन्न-भिन्न स्वरोंमें भिन्न प्रकार होगा। कोई वरुणतत्त्वमें प्रश्न करे अथवा पृथ्वीमण्डलमें प्रश्न करे तो धान्यकी उत्पत्ति ठीक होगी, यह उत्तर आयगा। और अग्नि तथा वायु तत्त्वमें कोई प्रश्न करे तो अग्निमण्डलमें तो यह कहे कि स्वल्प भी न होगा, वायुतत्त्वमें प्रश्न हो तो उत्तर होगा कि मध्यस्थ होगा। न बिल्कुल नष्ट होगा और न बहुत होगा, इस प्रकार बताया जा सकता है।

नृपतिगुरुबन्धुवृद्धा अपरेऽप्यभिलषितसिद्धये लोकाः।
पूर्णाङ्गे कर्तव्या विदुषा वीतप्रपञ्चेन ॥१३९५॥

यह वशीकरण प्रयोग है। राजा, गुरु, बंधु अन्य लोग भी अपने मनोवाञ्छित कार्योंके लिए वश करना हो तो भरे स्वरमें प्रपञ्चरहित, छलरहित पंडित पुरुषोंको चाहिए कि वे इष्टदेवकी आराधना करें, अर्थात् भरा स्वर चलता हो उस समय किसीसे बात करनेसे वह प्रभावित हो जाया करता है। यद्यपि स्वर श्वास एक मनुष्यमें उत्पन्न हुई है और वह है मुद्राकी पर्याय, शरीरका परिणमन, लेकिन जब शरीरसे यह आत्मा बंधा पड़ा हुआ है तो इसके भावोंका और शरीरके प्रभावोंका कुछ निमित्त सम्बंध भी रहता है। जैसे कि जब कोई मनुष्य क्रोध करता है तो उसकी आँखें लाल हो जाती हैं, ओठ फड़कने लगते हैं, तो भाई बतावो कि आत्माने तो क्रोध किया और शरीरमें यह क्या बन रहा है ? तो जब शरीर और जीव एक बन्धनमें पड़े हों तो शरीरकी हरकत होनेपर जीवमें कुछ हरकत होती है, विकार होता है। कोई पुरुष माया-चार करने वाला हो, छल चुगली, यहाँकी बात वहाँ फैलाये, वहाँकी बात यहाँ फैलाये तो उसकी मुद्रा डरपोकपन जैसी होगी। एक शूरवीरता रहित होगा तो किया तो जीवने अपराध और शरीरपर प्रभाव पड़ता है। तो जीव जैसे परिणाम करता है उसके अनुकूल असर पड़ता है शरीरपर। इसी तरह कोई शुभ बात गुजरना हो अथवा अशुभ बात गुजरना हो उसके अनुकूल उसका संकेत करने वाली पवन चलती है, श्वास निकलती है, और जो इस स्वरविज्ञानके जानकार हैं उन स्वरोंसे इन सबका परिचय प्राप्त कर लेते हैं कि क्या होगा। ये अष्टाङ्ग जो महानिमित्त हैं उन निमित्तोंमेंसे एक निमित्त है यह भी श्रुतज्ञानका विषय है। यद्यपि शान्तिके अभिलाषी

मुमुक्षु पुरुषको इन लौकिक चमत्कारोंसे कोई प्रयोजन नहीं है, लेकिन चमत्कार भी तो आत्माकी विशुद्धिसे प्रकट होते है। जब आत्मा निर्मल बनता है, ध्यानमें अधिक बढता है तो उसमें लौकिक चमत्कार भी अपने आप प्रकट होते हैं। तो ध्यानकी साधनामें एक यह साधन प्राणायामको बताया जा रहा है। इस प्राणायाम की साधनासे आत्मामे एक ऐसे विज्ञानकी स्फूर्ति होती है कि वह स्वरोंको निरखकर दूसरोंका शुभ अथवा अशुभ बता सकता है। इस सम्बंधमें अब तक ध्यान देने योग्य बात इतनी कही गई है कि प्राणायाममे ३ प्रयोग होते हैं—पूरक, कुम्भक, रेचक। जिसे अपने शरीरकी साधना हो वह इन तीन प्रयोगोंको करे और फिर उसे नाभिस्थानमें भीतर रोके। जितना रोका जा सके, रोकनेके बाद फिर धीरे धीरे श्वाससे उस हवाको छोड़े तो यह है प्राणायामकी विधि। इससे जितना अधिक वायुको रोकनेकी प्रकृति बनेगी उतनी ही मनकी एकाग्रता होगी। तो विधिविधानमें फिर इस प्राणायामको सुनिये कि साधना तो हुई, पर साधना होनेपर भी इस विषयका परिचय न होनेसे शुभ अशुभ न बताया जा सकेगा। अब इससे शुभ और अशुभ बात बतानेके स्वरोंका भी संकेत समझ लेना चाहिए। स्थिर कार्योंमें, शान्तिके कार्योंमें, बहुत बड़े कार्योंमे जो शान्तिपूर्वक बनना चाहिए उनमे वाम स्वरका श्वास निकलना शुभ माना है और जितने भी चल सम्पत्तिके कार्य हैं—लौकिक, अर्थ, इज्जत, प्रतिष्ठा आदिक जितने भी ये कुछ समयके लिए कार्य हैं वे कार्य सिद्ध करना चाहिए। यदि दक्षिण स्वरसे श्वास निकलती हो इसमें भी चारों मण्डलोंकी परीक्षा करें, फिर उन मण्डलोंके हिसाबसे शुभ अशुभ सगुन असगुनकी बात बतायें। इस प्रकार स्वरविज्ञानमें कुछ भूतकी, कुछ भविष्यकी बातोंका शुभ अथवा अशुभ है इस प्रकारसे बतला सकते हैं। सीधा लाभ तो प्राणायामसे यह है कि मनकी चचलता मिट जाती है और ध्यानोपयोग ज्ञानस्वभावमें लगता है। मुमुक्षुका प्राणायामकी साधना में इसी कारण उपयोग चला करता है।

(इसके बादके १०४ श्लोकोंके प्रवचनोंकी कापी गुम गई है, अत १४९५ श्लोकसे प्रवचन प्रकाशित हो रहे हैं)

यदज्ञानाज्जन्मी भ्रमति नियतं जन्मगहने,
विदित्वा यं सद्यस्त्रिदशगुरुतो याति गुरुताम्।
स विज्ञेयः साक्षात्सकलभुवनानन्दनिलयः,
परं ज्योतिस्त्राता परमपुरुषोऽचिन्त्यचरितः ॥१४९५॥

जिस पुरुषने अपने आत्माका स्वरूप नहीं जाना उस पुरुषने परमात्मतत्त्वको भी नहीं जाना। कारण यह है कि परमात्मा हो या निज आत्मा हो आत्मा है, चैतन्यस्वरूप है। जब तक उस चैतन्यस्वरूपकी सुध नहीं होती है तब तक न उसने न परमात्मा जाना, न आत्मा जाना। इस कारणसे निज आत्मतत्त्वको जानना चूंकि सरल है, खुदके ही निकट है, खुद है, अपने आपकी पहिचान सकता है। अत आत्मतत्त्वको जाने जिससे कि परमात्माका तत्त्व भी समझमें आये। आत्मा तीन अवस्थावोंमें रहता है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। अपने आपके स्वरूपसे बाहर जो परतत्त्व हैं, देह हैं, रागादिक भाव हैं उनमें जो आत्मारूपसे प्रतीति करे उस जीवको बहिरात्मा कहते हैं। और जो बाहरके तत्त्वोंमे आत्मप्रतीति न करके अपने ही अन्तःस्वरूपमें 'यह मैं हूं' इस प्रकार आत्मप्रतीति करे उसे अन्तरात्मा कहते हैं। और अन्तरात्मा बनकर अपने ही अन्त विराजमान परमब्रह्मस्वरूपकी आराधना करके जो समस्त कर्ममलोंका क्षय कर देते हैं, घातिया कर्मोंका विनाश कर देते हैं और जो अष्ट कर्मोंका भी नाश कर देते हैं वे परमात्मा कहलाते हैं। तो बहिरात्मा हो या अन्तरात्मा हो या परमात्मा हो चैतन्यस्वरूप सबका है। उस चिदानन्दस्वरूपके नाते वे सब एक ही चैतन्य जातिके हैं। मैं चेतन हूं, ज्ञानदर्शनात्मक हूं, आनन्दस्वरूप हूं, इस प्रकार अपने आपकी सुध आये तो परमात्माका भी ज्ञान हुआ समझिये। अपने आपमें अपने आपका बोध नहीं है, तो वह भी परमात्माका क्या चिन्तन करे? यों तो दुनियाके सभी लोग कहते हैं—भगवान है। जब दुःख आता है तो

सभी लोग भगवानका स्मरण करते हैं। कुछ कल्याणकी इच्छा होती है तो भगवानकी उपासनामे जुटते हैं, लेकिन भगवानको समझा किसने ? जिससे आत्माके सहजस्वरूपको नहीं जाना उसने परमात्माको समझा ही नहीं है। आत्मतत्त्वके जाने बिना जो लोग परमात्माकी, भगवानकी चर्चा करते हैं उनके उपयोगमें भगवान या तो मनुष्यके रूपमें या मनुष्यसे बडा विलक्षण चार हाथ हो गए हों, कई मुंह हो गए हों, भयकर सर्प भी लिपटे रहते हैं, बड़े विचित्र वेष-भूषामे निरखते रहते हैं। जैसे बरात बहुतसी हैं उसमें दूल्हेका भेष विलक्षण होता है। और इतना विलक्षण कर देते हैं कि खजूरके पत्ते सिर पर लदे हैं और पत्तियोंसे कसे हुए हैं। कुछ भेष विलक्षण कर दिया जाता है ताकि लोकमे यह पहिचान हो कि यह दूल्हा है। यों ही लोगोंकी कल्पनामें कोई विलक्षण भेष वाला भगवान है। जो मनुष्योंसे कुछ निराला दीखे, सर्प लपेटे हों, भस्म लपेटे हो, खप्पर बाँधे हो, डमरु, त्रिशूल, चक्र कोई विलक्षणता ऐसी थोपी गई है कि जिससे मालूम पड़े कि यह मनुष्योंसे निराला कोई खास व्यक्ति है।

भगवान उनके उपयोगमें रहता है जिन्होंने अपने आत्माके सहजस्वरूपका परिचय किया है। वे पुरुष सशरीर परमात्मामे भी, अरहत परमेष्ठीमे भी, जिनका कि समवशरणके रूपमे, मध्य गध कुटीमें विराजमान मनुष्यवत् किन्तु परमौदायिक शरीरमे बस रहे हैं उस परमात्मामे भी न तो शरीरको निरखते हैं, किन्तु आत्मामे जो निर्दोषता है, सर्वज्ञता है, बडाईका विकास है उसको परमात्मा निरखते हैं। जिसने अपने आत्माका परिचय किया है वह ही परमात्माको जानता है, इस कारण आत्मा जैसा है तैसा प्रथम निश्चयको करो। क्या इस आत्माका सहजस्वरूप नरक निर्यञ्च मनुष्य देव रूप भ्रमण करते रहनेका है। ये तो विकार हैं, माया है, यह एक विचित्र औपाधिक परिणमन है, उस रूप मैं नहीं हू। क्या मुझमें जो कषायें उत्पन्न होती है, रागादिक भाव मन मोह किया करते हैं—क्या इस रूपमैं हू ? अरे ये तो मलिन भाव हैं, औपाधिक भाव हैं, ये तो होते हैं और क्षणभरमे नष्ट हो जाते हैं। भले ही होते हैं, ये भी नष्ट होते हैं। इनके होनेकी परम्परा बनती रहती है, यह तो अकल्याणकी बात है। पर पर्यायके स्वरूपको निरखा जाय तो कोई भी परिणमन रागद्वेष ईर्ष्या विचार मनन चिन्तन किसी भी प्रकारका परिणमन उत्पन्न होनेके बाद दूसरे समयमें खतम होते हैं, वे मैं नहीं हू, मैं देह नहीं। यह एक असमानजातीय व्यञ्जन पर्याय है। मैं रागादिक भाव नहीं। मैं तो एक सहज चैतन्यशक्ति मात्र हू, एक मेरा स्वरूप है, स्वभाव है, इस प्रकार जिसने अपने आपके आत्मस्वरूपका निर्णय किया है वह ही परमात्मामे यह तत्त्व निरख सकता है। यही स्वरूप जहाँ पूर्ण निर्दोष होता है, पूर्ण विकासको लिए हुए होता है वही परमात्मतत्त्व है। यह आत्मा परमात्मा बन सकता है या नहीं इस सबधमें विचार करें तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि जब आत्मामे रागादिक बढते हुए, घटते हुए लोक में पाये जाते हैं, किसी आत्मामे रागभाव कम हैं, किसीमे और कम हैं, और वे रागादिक स्वरूप नहीं हैं, विभाव हैं, पराश्रयज हैं, परका आलम्बन लिए बिना नहीं बनते हैं। तो जो पराश्रित हैं, जिनमे घटा बढी देखी जाती है तो यह अवश्य सम्भव है कि कोई आत्मा ऐसा भी बन सकता है कि रागादिक भाव उसमे बिल्कुल नहीं रहे। जब हम देखते हैं कि आत्मावोंमें यह ज्ञान और आनन्द किसीमें कम है, किसीमे अधिक है, जितना-जितना परका सम्बध हटाया जाय उतना-उतना आनन्द बढता है। तो घरके सम्बध बिना जो चीज बढती है वह स्वभावरूप है। जब ज्ञानकी वृद्धि हम अनेक आत्मावोंमें निरखते हैं तो यह भी है कि ऐसे भी आत्मा हो जाते हैं कि जिनमें ज्ञानका पूर्ण विकास है। यह सब निर्णय वह ज्ञानी करता है जिसने अपने आपके सहज चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी प्रतीति की है। अपने शुद्ध स्वरूपके बोध बिना परमात्माका निर्णय हो नहीं सकता। कोई आत्माको जानता न हो, परमात्माका निर्णय करने जाय तो वह परमात्माको कर्ताके रूपमे, अवतार लेनेके रूपमें, नाना चरित्र दिखानेके रूपमें परमात्माको ग्रहण करता है। पर भला बतलावो कि परमात्माको नाना चरित्र दिखानेकी क्यो इच्छा हुई ? यहाँ जब इच्छासे दुःखी हैं तो इच्छाका जो काम है, स्वरूप है, इच्छाका जो प्रभाव है वह तो रहेगा हो। तो जैसे हम यहाँ दुःखी हैं वैसे ही पर-

मात्मा भी दुःखी हो गया। जैसे हम यहाँ दुःखोंके कारण नाना चरित्र करते हैं, यों ही दुःखके कारण उन दुःखोंकी शान्तिके लिए उसने भी चरित्र किया। भले ही इतना अन्तर रहे कि हम छोटे कार्य कर सकते हैं, उसने कोई बड़ा काय किया हो, पर परमात्मत्व क्या हुआ? जिसने आत्माके स्वरूपको न जाना वह परमात्माको नाना भेषोंमे निरखा करता है और ऐसा निरखनेसे उन्हे अशान्ति ही रहती है। चूंकि आत्मस्वरूप के जाने बिना परमात्माके स्वरूपका निर्णय नहीं होता, अत आत्मस्वरूप अवश्य जानना चाहिए।

आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य न स्यादात्मन्यवस्थितिः।
मुह्यत्यन्त. पृथक् कर्तु स्वरूपं देहदेहिनोः ॥१४९६॥

जिन्होंने आत्मतत्त्वको नहीं जाना ऐसे पुरुषोंके अपने आत्मामे स्थिति न बनेगी। जब अपने आत्मामें स्थिति न बनेगी, उस सत्त्व स्वास्थ्यका परिचय न होगा तो वह आनन्दानुभूति, वह आत्मानुभव न प्राप्त हो सकेगा जिसके बलपर परमात्माके स्वरूपको जान सकते है। जो आत्मतत्त्वको नहीं जानता वह कैसे बाह्य पदार्थोंसे हटकर आत्मामे अवस्थित रह सकता है? इस देहमे जितने विविध प्रकार पाये जाते हैं उनमे यह अज्ञानी पुरुष फस जाता है। प्रथम तो यह जीव अपने शरीरको ही मानता कि यही मैं सब कुछ हूं और इसी मान्यताके कारण लोकमे यह अपनी पोजीशन चाहता है क्योंकि इसने इस देहको ही आत्मा माना। तो जितने देह बीतते हैं उनकी मानता है ये परजीव हैं। जब इस देहमे यह मैं जीव हू तो बाह्यमे जितने हैं वे सब परजीव हैं। जीवका जो असली स्वरूप है वह अपनेको न जाननेसे न अपनेमे भान कर सके और न परमें। इन इन्द्रिय रूप ही यह अपनेको जान लेता है। इस देहको ही 'यह मैं हू' ऐसा समझ लेनेसे ये सारे ऐब आ जाते हैं। और जो जानते हैं कि यह मैं आत्मा तो केवल एक चैतन्यमात्र हू, करता भी कुछ नहीं, किसी बाहरी चीजको भोगता भी मैं नहीं। मेरा परिणमन होता है, इतना मात्र तो मेरा कर्तापन है और जो मेरा परिणमन होता है वही मात्र मेरा अनुभवन है। इतना ही मेरा भोक्तापन है। तत्त्वत मैं अपने आपके स्वरूपमें अपने गुणोरूप परिणमू इसके सिवाय मै अन्य कुछ करने वाला नहीं हू, कर नहीं सकता। बाकी जो दुनियामे दिखता है वह सब एक निमित्तनैमित्तिक भावकी परम्परामे सब बना हुआ दिखता है। वहाँ पर भी स्वरूप दृष्टि करें तो प्रत्येक जीवका परिणमन उनका उनमे ही होता है। इससे बढ़कर और क्या दृष्टान्त रखा जाय? लोग बोल रहे हैं। कितने ही ढगोंसे लगातार शब्द बोले जा रहे हैं। लोग तो यह ख्याल करते है कि इन्होने बोला, पर यह बोल भी आत्माकी करतूत नहीं है। अब इसका निकट सम्बध देखने जायें तो विदित हो जायगा। वचन रूप कौन परिणमा? जीव नहीं परिणमा। कोई सूक्ष्म एक ऐसा झारके योग्य पदार्थ है जिसमे शब्दरूप परिणमा। जब हम बोलते हैं तो शब्दका घात होता है। घात वह कर सकता है जो स्थूल हो। जोरसे बोले तो कानमे ठोकर लगेगी। हाथ बाँधकर बोले तो हाथमे महसूस होगा। यह सब कोई घात कर सकने वाला स्थूल पदार्थ है। यद्यपि आँखोंसे नहीं दिखता, पर आवरण न होता तो यह घात न होता। ये वचन तो रिकार्डमे भी रोक दिये जाते हैं। अब वे वचन रिकार्डमे किस रूप आ गये? वहाँ यद्यपि वचन नहीं है लेकिन यन्त्रमे वचनरूप परिणमन बनता है। फिर भी वे वचन पकड़े तो गए हैं। ये वचन यन्त्रोंमे रोक भी तो दिये जाते है। तो ये वचन आत्माके कायके कार्य नहीं है किन्तु ये मूर्त पदार्थके कार्य हैं।

जैनसिद्धान्तमे भाषावर्गणा जातिके पुद्गलोंका परिणमन बताया गया है। अब उसके निकट वाली बात देखो। भाषावर्गणाका यो वचनरूप परिणमन कैसे बना? वह बना जिह्वा तालू मूर्धा कठ आदिक के निमित्तसे। इन साधनोंके निमित्तसे यह वचन बोलनेकी क्रिया बनी। वह किस निमित्तपर बनी? क्यों बनी? ये तालू तो चलते रहते हैं, इसमे क्रिया क्यों हुई? इसके मायने है कि ये जिह्वा तालू आदि अग हैं। इनमे वायुकी प्रेरणा हुई। वायुकी प्रेरणासे ये चल उठे। इन अगोंमे वायुकी प्रेरणा क्यो हो गई? उसका उत्तर

गई—इन समस्त अंगोंमें आत्मा वसा हुआ है। यद्यपि आत्मा अमूर्त है, फिर भी निमित्तनैमित्तिक बन्धनमें यह पडा हुआ है। और उस आत्मामें जब योग होता है, प्रदेश परिस्पन्द होता है तो उस योगकी प्रेरणा पाकर उसका निमित्त पाकर शरीरमे उस प्रकारकी वायु चल उठती है। जिस किसी पुरुषको लकवा मार जाता है उसके अग क्यों नहीं चलते ? तो निमित्त भी चाहिए और उपादानकी योग्यता भी चाहिए। अब कोई एक यह प्रश्न कर सकता है कि अंग इसी तरह क्यों चलते हैं ? अरे इस प्रकारके योग होते हैं अत. चलते हैं। उस ही प्रकारके योग क्यों होते है.? उसका कारण है इच्छा। जिस प्रकारकी आत्मामें इच्छापरिणति होती है उसके अनुकूल आत्मामें योग परिस्पद होते हैं। अब देखिये—योगसे शुद्ध होता है आत्मपरिणमन। इसके आगे जो कुछ कहा गया वह सब पौद्गलिक परिणमन हैं। अब इच्छा हुई जिस प्रकारकी उस प्रकारका योग हुआ। उसका निमित्त पाकर शरीरमें वायुका सचार हुआ। वायुसे शरीरके यत्र चलते है। उसके चलनेसे भाषा-वर्गणासे शब्दका परिणमन हुआ। यहाँ हम बोलने तकके भी कर्ता नहीं हैं। केवल एक योग बना, इच्छा बनी. उपयोग बना, इतने मात्रके कर्ता है, इसके आगे हम करने वाले नहीं हैं, यह बात चित्तमें बैठ जाय तो यह परीक्षा करके निर्णयमें आने वाली बात है। ऐसा यह तत्त्व विभक्त अतस्तत्त्व अपनी दृष्टिमें आये तो यह आत्मा अपने आपमें स्थित हो सकता है। समस्त परतत्त्वोसे उपेक्षा करके केवल एक अपने इस शुद्ध चैतन्य भावमें रह सके और जिन्होने आत्माकी ऐसी स्थितिको प्राप्त कर लिया उन पुरुषोंने ही परमात्मतत्त्वको जाना, उन्होंने ही परमात्मतत्त्वका मर्म समझ पाया, और ऐसे ही पुरुष उस परमात्मतत्त्वकी आराधना करके परमात्मा बन जाते हैं। छहढालामें पं० दौलतरामजी कैसा बोलते हैं कि 'बहिरातमको हेय जानकर अन्तरआत्मा हूजे। परमातमको ध्येय निरन्तर जो नित आनन्द लीजे॥' यों परमात्माका स्वरूप जाननेके लिए अपने आपको अपने आनन्दस्वरूपमे प्रतिष्ठित करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम अपने आत्माके स्वरूपको जानें और यह जानना सुगम है चूंकि हम स्वय आत्मा हैं, स्वय ज्ञानमय हैं। जैसे हम इस आत्माका प्रयोग बाह्य पदार्थोंपर करते हैं और जब हम बाह्य पदार्थोंपर उपयोग न करें, अपने आपपर जानते रहें तो हम अपने आपको जान सकते हैं। अपने आपका निर्णय करनेपर हमारा सारा भविष्य निर्भर है। हम क्या बनें, क्या न बनें, सुखी रहें अथवा दु खी रहें, यह सब सृष्टि एक हमारे आपके आत्मतत्त्वके निर्णयपर निभर है।

तयोर्भेदापरिज्ञानान्नात्मलाभ. प्रजायते।
तदभावात्स्वविज्ञानसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥१४९७॥

शरीर और आत्माका जब तक भेदविज्ञान नहीं होता तब तक आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मा ज्ञानमे आनेका ही नाम आत्माकी प्राप्ति है। आत्मा कहीं मूर्तिक तो है नहीं, जो ढेला पत्थरकी तरह कहीं पा लिया जाय। आत्मा तो लक्ष्यमे आया, उपयोगमे आया, परिचयमें आया जैसा कि यह सच्चिदानन्दस्वरूप सहजस्वभावसे है उसी स्वरूप आत्माकी प्राप्ति है। तो ऐसी आत्मप्राप्ति देह और आत्माका भेदविज्ञान जब तक नहीं हो सकता है तब तक नहीं हो सकता है। इस जीवके देहम अनादि परम्परासे आत्मबुद्धि लगी आयी है। जब देहसे आत्मबुद्धि छूटे तब ही यह सम्भव है कि अपने आत्माकी प्राप्ति होगी और आत्मबुद्धि कब छूटे, जब यह सुविदित हो जाय कि देह जुदा है और आत्मा जुदा है। जब कभी ऐसी बुद्धि बने तो समझिये कि हम अपनी रक्षा कर रहे हैं। और जब अपने आपसे चिगकर किसी परमें उपयोग लगाया तो समझना चाहिए कि हम आत्मघात कर रहे है। परपदार्थोंमे उपयोग लगा रहे यह तो है आत्मघात और अपने आपके स्वरूप मे उपयोग लगे यही है आत्मरक्षा। अब विचार करें कि आत्मघातमे हमारा कितना समय व्यतीत होता है और आत्मरक्षामे कितना समय व्यतीत होता है ? जहाँ परपदार्थोंमें उपयोग बसा वह तो आत्मघात है और जहाँ परपदार्थोंमे उपयोग न जाय वह आत्मरक्षा है। जहाँ आत्मघात है वहाँ विह्वलता है और जहाँ आत्मघात नहीं है वहाँ विह्वलता नहीं है। जब कभी भी दु खी हों, समझना चाहिए कि हम अपने आत्मदेवपर प्रहार कर रहे हैं तब दु खी हो रहे हैं। कल्पनाए करता है जीव और जिस चाहे स्थितिमें अपनेको दु खी

अनुभव करने लगता है। विषयभोगोमें स्थित हो तो उसमे भी यह जीव शांतिकी बात नही ढूंढ निकाल पाता ? किसीके पास बडा मौज हो, आयका जरिया भी अच्छा बना हा, बडा धन है, लेकिन वहाँ भी वह ऐसी बात ढूढ निकालता है कि जिससे उसमें दु खकी वेदना हो जाती है। भय लगा ले, शका कर ले, पर करोडपतियोंपर दृष्टि देकर वह अपनेको दीन अनुभव करेगा। कोई न कोई ऐसी बात वह ढूढ निकालता है कि जिससे दु खी होता रहता है। जिसके गुस्सा करनेकी आदत पड़ी है तो कुछ भी न हो तो अपने बच्चों पर घरपर, किसी न किसीपर अपनी गुस्सा निकाल लेता है। तो इस जीवकी आदत दु खकी वेदनाकी पड़ी हुई है और इसलिए यह सदा दु खी रहता है। जो शान्तिका आधार है, जहाँ शान्तिका परिणमन हो सकता है वह मैं स्वय हूँ। इस अपनी बातको पकड़ता ही नहीं। हालांकि कभी धर्मके भावसे यह पूजन करता, यात्रा करता, पर यात्रा करते हुएमे यह भान रहे कि जिन्होंने ज्ञानदृष्टि करके ससारसे मुक्ति पायी उनके हम उन चिन्होंको देखने जा रहे हैं ताकि उनकी सुध आये और हम उससे अपने लिए सबक सीखे, हम ज्ञानदृष्टि बनायें, अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करें, आत्मतत्त्वकी प्राप्ति करें और सुखी हों।

ज्ञानदृष्टिका ध्येय इस जीवको धर्मपालनमे अवश्य होना चाहिए। तो जब शरीर और आत्मामें यह जीव भेदविज्ञान कर लेता है तो शरीरको निरखता है कि यह शरीर मैं नहीं हूँ, यह मैं तो केवल एक ज्ञानप्रकाश हूँ। यद्यपि जब कभी चिंताए या अन्यमनस्क हो जाते हैं ता आत्माकी सुध लेना कठिन है, लेकिन जिनका पक्का निर्णय है कि आत्माकी सुध लेनेसे ही कल्याण है वे बना बनाकर बडी कठिनतासे अपने उपयोगको उस ओर ले जाते हैं जहाँ यह अनुभव बने कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानको ही करता हूँ, ज्ञानको ही भोगता हूँ। ज्ञानके सिवाय न किसीका कर्ता हूँ और न भोक्ता हूँ। भीतरमे दृष्टि देकर देखे शरीरका भी भान छोडकर, अपने आपके अन्दर देखें, शरीरका भी भान छूट जाय, यह बात हो सकती है और ऐसा भान करनेके लिए जो आसन बताये गए हैं। उन आसनोंमें सब अग भिन्न-भिन्न पड़े हुए रहते हैं। अर्थात् एक अगसे एक अगका स्पर्श करलें। जैसे एक हाथसे दूसरा हाथ छूकर बैठे या जघावों पर अपने हाथका आधार बनाकर बैठें तो वह भी एक देहके ख्याल बनानका एक कारण बन जाता है। तो ध्यानके आसन ऐसी पद्धतिके होते हैं कि जहाँ एक अगको दूसरा अग छुवे जैसी बात चित्तमें नहीं रहती और उस स्थितिमें इस देहका भी भान नहीं रहता। भीतर ही केवल एक अपने आपको ज्ञानरूपसे अनुभव करें तो वहाँ देहकी कुछ सुध नहीं है। एक आत्मज्योतिका ही विकास है, उसका ही उपयोग है ऐसे आत्मा की प्राप्ति होना यह भेदविज्ञानपर ही निर्भर है। यदि भेदविज्ञान नहीं है तो आत्माका लाभ भी नहीं है। जैसे चावल सोध रहे हों तो चावल अलग है और कूडा करकट अलग है। चावलका ज्ञान है तब भेदविज्ञान है। भेदका विज्ञान है तब चावलका ज्ञान है। जहाँ यह मालूम है कि यह कूडा है, यह मिट्टी है, वहाँ चावल का ग्रहण है, जहाँ यह विदित हुआ कि यह चावल है तो उसके सिवाय शेष कूडा है। तो भेदविज्ञानसे लक्ष्यभूतका परिचय होता है और लक्ष्यभूतका परिचय होनेसे भेदविज्ञान होता है। ये दोनो परस्पर साथी हैं। जब आत्माका लक्ष्य न हो यो भेदविज्ञानकी उत्पत्ति भी न हो सकेगी। अनेक-अनेक प्रयत्न करके कुछ समय तो यह अनुभव आना ही चाहिए कि सब समागम मेरे लिए अहितरूप हैं, मेरा हित मेरे आत्माकी साधनामे ही है। जिन जिनमे राग पड रहा है, जिन जिनमें हम बसा करते हैं वे सब हमसे भिन्न हैं।

अतः प्रागेव निश्चेयः सम्यगात्मा मुमुक्षुभि ।
अशेषपरपर्यायकल्पनाजालवर्जित ॥१४९८॥

इस कारण जो मुमुक्षु लोग हैं, जिन्हें ससारके सकटोसे छुटकारा प्रिय है उनको यह सर्वप्रथम निश्चय करना चाहिए कि सामान्य परद्रव्योकी कल्पनासे रहित यह मैं आत्मा हूं, अपने स्वरूपका उपादेय करके परिणमता रहता हू। मैं अपने ही प्रदेशोमें व्यापकर अपने ही गुणोरूप परिणमन करता हू। शेष अन्य

द्रव्य वे अपने ही प्रदेश और गुणोंके आधार में परिणमा करते हैं। मैं आत्मा ज्ञान ज्योतिमात्र हूं। मेरा कोई नाम ही नहीं है जो हमें एक सम्मान और अपमान करनेका कारण बने। वास्तविकता यह है कि जो अपने आपमें नामकी कल्पना करता है वह सर्वप्रथम तो इस पुद्गल पिण्डको निरखता है। इस पुद्गल पिण्डको निरखे बिना नामकी कल्पना नहीं बनती। सहज चैतन्य स्वभावमात्र जीवका कोई नाम नहीं लिया करता, क्योंकि वह खुद नामरहित है और जब परिचयमें आता तब नाम लेनेकी प्रवृत्ति ही नहीं रहती। तो नामकी कल्पना एक मूर्तिक पर्यायमें है, और जहाँ इस देहमें आत्मबुद्धि लगाया तो परदेह ये अन्य अन्य जीव हैं ऐसी बुद्धि लग जाती है और फिर पोजीशनकी पड जाती है। तभी ये क्रोधादिक कषायें उत्पन्न होने लगती हैं, उसका जीवन दूभर हो जाता है। अपने आपमे 'मैं निर्नाम हू' ऐसा अनुभव जगना चाहिए। मैं वह हू जो सबमें है। रागादिक भाव एक स्वरूप तो नहीं हैं। अत रागादिक मैं नहीं हू। जो मैं हू वही सब जीव कुछ-कुछ एक स्वरूप हैं। फिर नाम क्या ? जब सभी एक समान हो गए तो अब कौन रहा अलग ? किसकी जीत रही ? वहाँ सब नामरहित हैं, जिनका नाम भी नहीं। केवल ज्ञान और आनन्दभाव रूप है वह मैं आत्मा हू। ज्ञानभाव और आनन्दभाव और उन दोनोंमें भी मात्र ज्ञानभाव मैं आत्मा हू। उस ज्ञानभावका अनादिसे सम्बध है। अनादिका अविनाभावी है, क्योंकि जो कुछ भी हममे अनुभव होता है वह एक ज्ञानके द्वारा ही अनुभव होता है। तो इस दृष्टिमे यदि यह कह दिया जाय कि सुख भी ज्ञान है, दु ख भी ज्ञान है तो कुछ अत्युक्ति नहीं है, क्योंकि जिस समय सुख हो रहा है उस समय इस जीवके ऐसी कल्पनारूप परिणति चलती रहती है ज्ञानमे कि यह कल्पनामे सुखी हुआ करता है।

जब कभी दु ख हो तो वहाँ भी यह देखना चाहिए कि कोई कल्पना हो की गई है जो दु ख रूपसे अनुभवी जा रही है। अन्य बातसे सुख और दु ख नहीं है। वह सुख दु ख परिणमन भी एक ज्ञानका विशिष्ट परिणमन है। मैं ज्ञानमात्र हूँ। ससार अवस्थामे भा उस ज्ञानको कर रहा हूँ, मुक्त अवस्थामें भी उस ज्ञानको करू गा, दु ख अवस्थामे भी मैं उस ज्ञानको कर रहा हूँ। शान्ति समताकी स्थितिमे भी उस ज्ञानका ही किया करता हू। ज्ञान उसका अविनाभावी गुण है, वह गुण छूट नहीं सकता। मेरा जो कुछ जाननरूप परिणमन है उसमे ही अनेक कलायें बसी हुई हैं, कल्पनाए चल रही हैं किन्तु हम कभी सुखका और कभी दु खका अनुभवन करते हैं। ज्ञानके सिवाय और किसीपर मेरा अधिकार नहीं, करतूत नहीं, कोई वश नहीं चलता। मैं एक ज्ञानमात्र हू—इस प्रकारका परिचय हो तो आत्माकी प्राप्ति है। इस स्थितिमे किसी भी परसे या परकी पर्यायसे इसका सम्बध नहीं है। सबसे निराला एक ज्ञानमात्र मैं आत्मतत्त्व हू यह बराबर लक्ष्य में रहना चाहिए, जिससे अशान्ति दूर हो और आनन्द प्रकट हो और एक ऐसा रास्ता मिले जो ससारके सकटोंसे हमें छुटा दे। हम आत्माका ग्रहण करें, ध्यान करें, चिन्तन करें, उपयोग न लगे तो भी मैं हू, ऐसा मनमे बोल बोलकर उपयोग लगानेका यत्न करें। जैसे कभी कोई निबध लिखनेका मनमें हो और दिमागमें कुछ भी बात न उपजे, मैं क्या लखू, तो उस समय अपनी कलम दवात लेकर कागजपर कुछ लिखने बैठे तो कुछ समय बाद दिमागमें उपज जाता है और वह लिखने लगता है। तो ऐसे ही हमे आत्मानुभव दुस्तर लग रहा है, लेकिन आत्माकी उपासना है, आराधना है तो हम प्रयत्न करके उस आत्माकी चर्चा करने लगेंगे, उसपर कुछ बोलने लगेंगे। तो हमें उस प्रसगमे आत्माकी सुध आ सकती है। हमारा कर्तव्य है कि हम यदि ससारके दु खोसे छूटना चाहते हैं तो समस्त परतत्त्वोंसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपने आपको निरखें।

त्रिप्रकार स भूतेषु सर्वेष्वात्मा व्यवस्थित ।
बहिरन्त परश्चेति विकल्पैर्वक्ष्यमाणकै ॥१४६६॥

यह आत्मा समस्त देहधारियोंमे बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा -ये तीन भावोंसे व्यवस्थित

जगतमें जितने आत्मा हैं उन आत्मावोंमें वे तीन तरहके मिलेंगे कोई बहिरात्मा है, कोई अन्तरात्मा है और कोई परमात्मा है। अरहंत और सिद्ध भगवान ये तो परमात्मा हैं और मिथ्यादृष्टि जीव और दूसरे गुणस्थानके भी जीव और तीसरे गुणस्थानके भी, क्योंकि वे भी सम्यक्मिथ्यादृष्टि होते हैं। ये बहिरात्मा हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि उन्हें कहते हैं जिनकी मिश्रदशा है। जैसे कोई मित्र कुदेवकी पूजा अपने घरमें करता आ रहा है, उसे कुछ उपदेश मिले, श्रद्धा पलटे, सच्चे देवको मानने लगे, पर उसने अपने घरसे अभी उस देवको हटाया नहीं है, ऐसी जो मिश्र हालत है, वे सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं। ये तो हुए बहिरात्मा जीव। चौथे गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तक अन्तरात्मा है। इसमें गृहस्थ भी आ गए, ध्यानी मुनि भी आ गए। तो तीन प्रकारके आत्मा लोकमें मिलते हैं। बहिरात्मा तो वे कहलाते हैं जिनको शरीर आदिक बाह्य पदार्थोंमें आत्मबुद्धि हुई कि यह मैं हूँ। यह शरीर है, सोही मैं हूँ, शरीरमें जो इन्द्रियां हैं सो ही मैं हूँ, शरीरका सुख ही मेरा सुख है, सब कुछ नाता शरीरसे मानते हैं वे बहिरात्मा हैं। कोई घरके धनसे नाता मानते कि मेरा है। तो वे तो बहिरात्मा हैं ही, क्योंकि वे तो बिल्कुल ही भिन्न क्षेत्रमें स्थित हैं। अन्तरात्मा कौन कहलाते हैं? उसका स्वरूप इस श्लोकमें कहते हैं कि जो पुरुष बाह्य भावोंका उल्लंघन करें और आत्मामें आत्माका निश्चय करें वे अन्तरात्मा कहलाते हैं। सो वह अन्तरात्मा विभ्रमरूपी अंधकारको दूर करनेके लिए सूर्यकी किरणोंके समान है। जिस प्रकार घनान्धकारको सूर्यकी किरणें मिटा देती हैं, इसी प्रकार विभ्रमांधकारको ये अन्तरात्मा पुरुष अपनी स्वरूपदृष्टिसे मिटा देते हैं।

ऐसे परमसूर्यकी तरह ज्ञानी पुरुषोंको बताया है कि जो अपने आपमें अपने आपका निश्चय करें सो अन्तरात्मा है। सब ओर से हटकर केवल अपने आपमें अपनेको निरख ले तो वे जीव सब दुःखोंसे छूट जाते हैं। तो दुःख तो इतना ही है कि किसी बाहरी पदार्थकी कुछ हालत देखकर खुद दुःखी हो जाते। इतना ही तो दुःख है। धन कम हुआ जानकर दुःखी हो जाय अथवा इष्टवियोग हो गया, अनिष्टसंयोग हो गया तो उसमें दुःखी किसने किया? अरे वह दुःख केवल कल्पनाभरका है। जब यह विश्वास हो जाता कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ, मेरा अन्यसे कोई सम्बंध नहीं, अन्य पदार्थ चाहे किसी भी प्रकार परिणमें, मैं उनसे बिल्कुल स्वतंत्र हूँ, ऐसा अपने आप, मैं अपने आपमें विराजमान रहता हूँ, ऐसा जब भान होता है तब फिर दुःख नहीं होता, क्योंकि बाहरी पदार्थ चाहे जैसे परिणमें, वे तो बाह्य हैं, उनसे मेरा कोई सुधार-बिगाड़ नहीं है। यह दृष्टि ज्ञानी पुरुषकी हो जाती है। तो अन्तरात्मा वह है जो बाह्य पदार्थोंका लगाव न रखे और ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपको पहिचाने वह अन्तरात्मा है।

निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः ॥१५०२॥

परमात्मा कौन है जो निर्लेप हो, जिसमें कोई मल कलंकका लेप न हो। शरीररहित है, कलंकरहित है, सिद्ध है संसारके दुःखोंसे अत्यंत परे हो गया है। जिसके कोई प्रकारका विकल्प तरंग न हो, ऐसा जो सिद्ध आत्मा है वह परमात्मा कहलाता है। शरीरसहित परमात्मा अरहंत भगवान हैं और शरीररहित परमात्मा सिद्ध भगवान हैं। अब उस परमात्माका अनुभव करनेके लिए ऐसा सोचें कि जो कुछ भी आत्मा है उस आत्माके साथ एक तो शरीरका सम्बंध चिपटा है, रागादिक भाव लगे हैं। ये सब हट जायें, कर्मकलंक दूर हों, रागादिकभाव दूर हों, उस समय यह आत्मा किस स्थितिमें रहता है उस स्थितिका अनुमान करके परमात्माका स्वरूप जाना जाता है। परमात्माका अर्थ है जो परम अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा हो। उत्कृष्टता दो बातोंसे होती है—एक तो जितने गुण हों वे सब गुण पूरे प्रकट हों। और दूसरे दोष एक न हो। जहाँ गुण भी हों और दोष भी हों वहाँ उत्कृष्टता नहीं है। अरहंतभगवान और सिद्धमें ज्ञानादिक गुण भी पूरे हैं और रागादिक दोष रंच नहीं हैं। उनको अगर संक्षेपमें समझना है तो यों कहो कि वीतरागसर्वज्ञ है, इससे परमात्माकी सब विशेषता एक साथ झलक जाती है। प्रभु वीतराग है, रागरहित है। जहाँ राग नहीं

वहाँ द्वेष कैसे रह सकता है ? क्योंकि जितने द्वेष हैं वे सब रागके आधारपर हैं। किसीका घर वैभव आदिकमें राग है, उसके प्रति कोई बाधक बने तो उससे वह द्वेष करने लगता है। तो रागके आधारपर द्वेष है। मूलमें राग ही इस जीवका कलक है और रागकी पीड़ा बनी हुई है मोहसे। मोह न हो तो यह राग रहेगा और फिर अपने आप दूर ही जायगा। जैसे पेड़मे जड न रहे तो वह पेड सूख जायगा, इसी प्रकार जिस जीवमें मोह न रहेगा उसमे राग भी न रहेगा, वह भी सूख जायगा। तो द्वेषकी जड़ हुआ राग और रागकी जड हुआ मोह। भगवान सर्वज्ञ वीतराग हैं, रागद्वेषमोह आदिकसे अलग हैं, कोई कलंक नहीं है, सर्वज्ञ है। लोकालोकमे जितने भी सत् है वे सब सर्वज्ञके द्वारा ज्ञेय हैं।

अब सर्वज्ञ क्यों सबको जानते हैं इस विषयमें सोचे। एक तो यह बात समझना है। दूसरे यह बात समझना है कि जब उन सर्वज्ञदेवके इन्द्रियाँ ही नहीं रहीं तो वे जानें कैसे लेते हैं ? पहिली बात का तो उत्तर यह है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। आत्माका स्वरूप ही ऐसा है कि वह निरन्तर जानता रहे। जाननेसे कभी यह आत्मा विराम नहीं लेता। अर्थात् जिसका जाननेका काम है और जाननका कोई आवरण है नहीं तो उस जाननकी सीमा नहीं रह सकती। जैसे हम आँखोंसे देखते हैं, जानते हैं चार छ मीलकी। आगेकी नहीं जान पाते, क्योकि इन्द्रियोंका आवरण लगा हुआ है। जितनी सामर्थ्य प्रकट है वहाँ तक तो ज्ञान हुआ और जितनी सामर्थ्य दबी है उतनीका फिर ज्ञान नहीं होता। जिसके इन्द्रियां ही नहीं रहीं वह तो समस्त विश्वको जान लेगा। जैसे एक कमरेमे पुरुष बैठा है, उसमे चार-छ खिड़की लगी है तो वह बाहर की बात खिड़कियोंसे देख सकेगा, यों न देख सकेगा, क्योंकि भीतका आवरण पड़ा हुआ है। खिड़कियोसे बाहरकी बात देखली जाती है। कदाचित वह यह कल्पनाएं करने लगे कि यह मकान गिर जायगा तो ये खिडकिया भी गिर जायेंगी, फिर हम कैसे देखेंगे, ऐसा कोई पुरुष सोचने लगे तो क्या यह ठीक है ? अभी हम खिडकियोंसे देख रहें हैं और यह भीत ही गिर जाय फिर हम कैसे देख सकेंगे, ऐसा कोई कहे तो इसे कौन ठीक कहेगा ? अरे खिडकियां खत्म हो जायेंगी तब तो फिर और ज्यादा दीखेगा। ये इन्द्रिया खिडकिया हैं, यह सब शरीर भींतकी तरह है इसके अन्दर रहने वाला जो दृष्टा है वह इन खिडकियोंके द्वारा बाहरी बातें देखता है। खिडकियोंसे बाहर ही तो दिख रहा है। इन इन्द्रियोंसे कोई भीतरकी बात तो नहीं देख सकता। बाहरमे ये इन्द्रिया ही न रहें, यह शरीर ही न रहे, कर्मकलक ही न रहे तो क्या उसे अडचन आयगी कि मैं नहीं देख सकता ? वह तो सर्वचक्षु हो जाता है। जब शरीर है तो दो चक्षु वाला है और जब सर्वज्ञ है तो वह सर्वचक्षु वाला हो जाता है। उस केवलज्ञानके द्वारा जगतके चराचर समस्त पदार्थोको जान लेते हैं और एक साथ जान लेते हैं। वीतराग हो, सर्वज्ञ हो वह परमात्मा है। जो निष्कलंक हो और परिपूर्ण गुण वाला हो वह हमारा भगवान है। ऐसा परमात्मा बनना इस आत्माका ही काम है। जो आज छोटी स्थितिमें है आत्मा वह अपना उपाय बनाये और ऐसी स्थिति वीतराग सर्वज्ञकी स्थितिमे आ जाय तो इसमे कोई सदेह नहीं है। यो तीन प्रकारके लोकमें आत्मा होते हैं। अपूर्व सुखी है परमात्मा सुखके मार्गमे आंशिक सुखी हैं, अन्तरात्मा और बहिरात्मा सुखी नहीं है। उनका जो भी इन्द्रियजन्य सुख है वह भी दुःख ही है। लोकमें जो सुख माने जाते हैं—धन, धाम तथा खानपान आदिकके, वे सब अशान्तिसे भरे हुए हैं। इन सुखोंकि भोगनेसे शान्ति नहीं प्राप्त होती है। कोई भी पुरुष शान्तचित्त होकर भोजन नहीं करता, अशांत हो बनी रहती है। पूर्ण शान्त तो भगवान अरहत सिद्ध हैं। जो शान्तिके मार्गमें लगे हुए हैं ऐसे होते हैं अन्तरात्मा। और जिन्हे शान्तिसे भेंट नहीं है, बाह्यपदार्थोंमे ही अपना उपयोग फसाये रहते हैं वे कहलाते हैं बहिरात्मा।

कथ तर्हि पृथक् कृत्वा देहाद्यर्थकदम्बकात् ।
आत्मानमभ्यसेद्योगी निर्विकल्पमतीन्द्रियम् ॥१५०३॥

अब यहाँ कोई शंकाकार प्रश्न करता है कि यदि आत्मा ऐसा है कि निर्लेप है, निष्कलंक है तो आत्माको देहादिकके समूहसे पृथक करें और ऐसे आत्माको इन देहादिक बाह्य वस्तुवोंसे पृथक करके ये इन्द्रियां हैं ऐसा ध्यान कैसे करें यह प्रश्न किया है। इस देहसे भी निराला करके मैं अपने आपमें बसे हुए परमात्माको जानूं तो उसके ध्यानका उपाय क्या है ? जो शंका कर रहे हैं उसका निवारण और सिद्धि करने की आराधना है। तब प्रश्न क्या है कि जो भेदभाव विकल्प तरंग आदिसे रहित है ऐसा अतीन्द्रिय आत्मा मेरे ध्यानमें कैसे आये ? इसका उत्तर दीजिए।

अपास्य बहिरात्मानं सुस्थिरेणान्तरात्मना ।
ध्यायेद्विशुद्धमत्यन्तं परमात्मानमव्ययम् ॥१५०४॥

जो योगी मुनि बहिरात्मापनको छोड़कर स्थिरचित्त होकर अपने आपकी ओर झुककर अन्तरात्मा होकर अपनेमें विश्राम करता है वह पुरुष अत्यन्त विशुद्ध परमात्माका ध्यान करता है। इस परमात्मतत्त्वके ध्यानके लिए बाह्य पदार्थोंसे ममता छोड़नी पड़ेगी। बाह्य पदार्थोंसे ममता बनी रहे और परमात्माका ध्यान बना रहे—ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। पहिले तो बाह्य पदार्थोंमें ममत्व बुद्धिका परित्याग करे फिर अपने आपमें स्थिर होकर अपने आपमें अपनेका ध्यान करें तो वे पुरुष निर्विकल्प शान्त स्वरूप परमात्मतत्त्वका दर्शन कर सकते हैं।

संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः ।
बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम् ॥१५०५॥

जो बहिरात्मा है सो तो चैतन्यस्वरूप आत्माको देहके साथ जोड़ता है जिसके देहमें आत्मबुद्धि है वह बहिरात्मा कहलाता है। अर्थात् जो देह और आत्माको एक मानते हैं वे तो हैं अज्ञानी। जो ज्ञानी है सो अन्तरात्मा है और जो देहमें आपा बुद्धि करता है वह है बहिरात्मा। ये बहिरात्मा और अन्तरात्माके भेद हैं। एक मोडका अन्तर है। ज्ञानी पुरुष तो अपने उपयोगकी अपनी तरफ लक्ष्य बनाता है और अज्ञानी पुरुष बाहरकी ओर अपनी दृष्टि लगाये है—ये पुत्र मित्रादिक मेरे हैं, ये धन सम्पदा मेरे हैं। इस प्रकार बाह्य पदार्थोंमें ममत्व बुद्धि है। यह बहिरात्मा और अन्तरात्मामें भेद है। जरासी मोडसे इतना बड़ा अन्तर आ जाता है। यह बिल्कुल भिन्न मोड है। अपनी ओर मुड़े तो परमात्माका दर्शन है और परकी ओर मुड़े तो बहिरात्मापन है। बहिरात्मा पुरुष बाह्य पदार्थोंमें अपना सम्बन्ध जोड़ता है। ज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंसे अपना सम्बंध दूर करता है।

अक्षद्वारैरविश्रान्तं स्वतत्त्वविमुखैर्भृशम् ।
व्यावृतो बहिरात्माथ वपुरात्मेति मन्यते ॥१५०६॥

यह बहिरात्मा इन इन्द्रियोंके द्वारसे व्यापार करता है, चेष्टा करता है, देखनेका, सुननेका, सूंघनेका, खानेका प्रयत्न करता है, शरीरको ही आत्मा मानता है। पर होता क्या है ? ये सब इन्द्रियां आत्मस्वरूपसे विमुख हैं। आँखोंसे हम आँखोंकी बात नहीं जान पाते और बाहरकी बातें जान लेते हैं। आँखमें कीचड लगा हो या काजल लगा हो या रोम आया हो तो आँख उसी आँखको देख नहीं पाती। तो यह आँख आँखकी ही चीजको नहीं देखती है, बाहरकी चीजको ही देखती है। इसी प्रकार नासिका भी बाहरकी चीजोंका ज्ञान करती है। यह जिह्वा भी जिह्वाका स्वाद नहीं लेता, बाहरी पदार्थोंका स्वाद लेता है। कान भी बाहरकी बात सुनते हैं भीतरकी बात नहीं जानते। जैसे किसीके बुखार चढ़ा है तो उसके कितना बुखार है यह सारा शरीर नहीं जान पाता, एक हाथसे दूसरे हाथको पकड़कर मालूम कर पाता है। ये इन्द्रिया तो आत्माके स्वरूपसे विमुख हैं, वे बाह्य पदार्थोंको जानती हैं, आत्मतत्त्वको नहीं जानती। तो इन

इन्द्रियोंके द्वारा व्यापार करने वाला बहिरात्मा है, और यह बाहरी-बाहरी प्रयत्न करता है। अपने आपको यह नहीं जान पाता कि मैं क्या हूँ। अपने आपको तो तब जानें जब इन इन्द्रियोंका सयोग न चाहें। अपनी ही ज्ञानकलासे अपने ही बसे हुए ज्ञानस्वरूपको जानें तो जान सकते हैं, पर इन्द्रियोंकी मदद करके हम आत्माको जानना चाहें तो कभी नहीं जान सकते हैं। कितना ही कान लगाये कि आत्माकी बात सुन लें तो नहीं सुने जाते हैं। कितनी ही तीक्ष्ण दृष्टि लगाकर देखें कि इस आत्माका दु ख कैसा है तो इन आँखों द्वारा नहीं देखा जा सकता है। यों ही इन समस्त इन्द्रियोंकी बात है। इन समस्त इन्द्रियोंसे मुख मोडकर स्थिर-चित्त होकर अपने आपमे निहारें, बाहरमे निहारनेका उद्यम न करें, तो यह आत्मतत्त्व परमात्मस्वरूप अपने आपके अनुभवमे आ सकता है। तो ज्ञानी पुरुष अपने आपकी ओर मुख मोडता है और अपने आप आत्म-स्वरूपका चिन्तन करके परमआनन्द रसमे तृप्त रहा करता है। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुषपर कोई आपत्ति आये तो उसके मनमे रच भी खेद नहीं होता। यो लोकमे तीन प्रकारके आत्मा हैं, उनमेसे हमे यह शिक्षा लेना है कि बहिरात्मापन तो छोड़ने योग्य है और अन्तरात्मापन ग्रहण करने योग्य है और परमात्मपद सर्वथा उपादेय है। सर्वोच्च उन्नतिपद परमात्मपद है। उस पदके प्राप्त करनेके बाद अनन्तकाल तक वैसा ही आनन्द प्राप्त होता रहेगा, ऐसा निर्णय करना चाहिए और अपने आपको अनन्तरात्मा बनानेका यत्न करना चाहिए।

सुर त्रिदशपर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम्।
तिर्यञ्चं च तदङ्गे स्व नारकाङ्गे च नारकम् ॥१५०७॥

वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तन्न पुनस्तथा।
किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्य तद्रूप परिकीर्तितम् ॥१५०८॥

यह जीव मिथ्याज्ञानसे खेद खिन्न होकर बहिरात्मापनमें देवपर्याय सहित देवोंको देव मानता है, मनुष्य पर्याय सहित अपनेको मनुष्य मानता है। तिर्यञ्चके शरीरमे रहते हुए को तिर्यञ्च और नारकीके शरीरमें रहते हुए को नारकी मानता है। जो शरीर है हम आपका दृश्यमान शरीर; आत्मा तथा कर्म इन तीन का यह पिण्ड है जो लोगोंको दिख रहा है। जो एक दूसरेसे वार्तालाप करता है वह इन तीनका पिण्ड है। अज्ञानी जीव इन तीनमे से जो आत्मा है उसे नहीं समझता, किन्तु इन तीनका जो समूह है उसे आत्मा मानता है। जब मनुष्यपर्यायमें आया तो इस मनुष्यपर्यायको यह मैं हु, इस प्रकार मानता है। जब तियञ्च पशु पक्षीकी देहमे रहा तो यह मैं आत्मा हूँ यों उस देहको मानता है। जिस-जिस पर्यायमे जाता है उस उस पर्यायको यह आत्मा मानता है। तो यों अविद्यासे खेदखिन्न होकर अपने आपकी सुध तो खो बैठता है और बाह्य देहपर्यायको आत्मारूपसे मानता है, लेकिन आत्मा तो इस पर्यायरूप नहीं है। वह तो अमूर्त है, सुसम्वेद्य है। केवल ज्ञानानन्दस्वरूप है। देखिये आत्माका स्वभाव ही आनन्दमय है, इसे कहीं कष्ट नहीं है। यह व्यर्थ ही अपनेको दु खी समझता है पर दुःख इसको रच मात्र भी नहीं है। बाह्य पदार्थों से सम्बध जुडा तो बाह्य पदार्थ हमारी इच्छाके माफिक परिणम जाये यह तो हो ही नहीं सकता है। तब यह खेदखिन्न होता है। इच्छा न हो तो फिर किसी बातका खेद हो तो बतावो। जितने जीव हैं सब इच्छासे दु खी हैं और इच्छा बेकारकी है, क्योंकि इच्छासे होता क्या है? इच्छानुसार होता तो है नहीं परिणमन परपदार्थका। कदाचित मेल भी बैठ जाय कि यहाँ इच्छा हुई और वह परका परिणमन भी वैसा ही हो जाय, पर वहाँ शान्ति तो न मिलेगी। जब अज्ञानका पर्दा छाया है और यह जीव अपने आपको नहीं समझ पाता है तब यह बाह्य पदार्थोंको अपनाता है, इच्छा करता है, और दु खी होता है। किसी भी समय ऐसा ध्यान करलें कि मैं देहसे भी निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ मैं नहीं करता हूँ, न भोगता हूँ, केवल ज्ञानस्वरूप सबसे निराला हू। मेरा किसीसे कुछ सम्बध नहीं है। मैं हूँ और मैं अपने

आपमें परिणमता रहता हूँ। ऐसी दृष्टि अन्तरमें जगे अपने आपके आत्माकी सुध हो, फिर वहाँ कोई खेद हो तो बतलावो। हम परका नाता जोडते, इच्छा करते और दु खी होते। नाता जोडना भी बेकार, इच्छा करना भी बेकार। जब परका हमसे कुछ सम्बध ही नहीं तो इच्छा व्यर्थ है। जिन सतोंने मुनियोंने इस तपश्चरणको किया अर्थात् इच्छावोंका निरोध किया वे संसारसे मुक्त हुए और उनके नामपर बनायी हुई मूर्ति भी पुज रही है और दूर दूरके लोग उस मूर्तिको देखनेके लिए यात्रा करते हैं। है क्या वहाँ? बात यह है कि जिन जीवोंने इच्छाका निरोध करके अपने आपको ससारसे मुक्त कर लिया है उनकी वहाँ हम याद करते हैं, अमूर्त निरखकर उस स्वरूपका हम ध्यान करते हैं। इसीके लिए तो यात्रा है और फिर केवल एक दर्शनीय स्थानसा समझकर दर्शन कर रहे तो वह एक दिलका बहलावा है। हमे तो यह शिक्षा लना है कि हे प्रभो! तुम्हारी मुद्रा निरखकर मेरे अन्दर यह निर्णय हुआ है कि मोक्षका माग तो यह है। आपने ज्ञान किया, इच्छावोंका निरोध किया, अपने आपको जगजजालसे मुक्त कर लिया, अब अनन्त आनन्दमय हो गए। यही उपाय मेरेको करना योग्य है। मेरा भी ममतासे पिण्ड छूटे, केवल अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपको देखें ऐसी दृढ भावना रहती है ज्ञानी पुरुषकी। और उसीको ही अपने आपके आत्माकी सुध होती है कि मैं आत्मा अमूर्त हूँ, सुसम्वेद्य हू, ज्ञानानानन्दस्वरूप हू, सबसे निराला हूं, खुद आनन्दस्वरूप हू। इस तत्त्वको जो नहीं जानते वे बहिरात्मा जीव देहमे आपा बुद्धि करते हैं। यह देह ही मैं सब कुछ हू, ऐसा मानते हैं।

स्वशरीरमिवान्विष्य पराङ्गं च्युतचेतनम्।
परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याध्यवस्यति ॥१५०९॥

ये अज्ञानी जीव जैसे अपने शरीरको निरखकर 'यह मैं हू' ऐसा मानते हैं ऐसे ही दूसरेके देहको निरखकर ये दूसरे जीव हैं यों समझते हैं। देखिये दूसरे जीव हैं, अन्य जीव हैं ऐसा जानना बुरा नहीं है पर देहको ही यह मानते है कि ये ही अन्य जीव हैं। जैसे अपने देहको माना था कि यह मैं जीव हू, ऐसे ही दूसरेके देहको देखकर मानते हैं कि ये दूसरे जीव हैं। सो हो मिथ्यात्व है। अपने देहको माना कि यह मैं हू, वहाँ भी देहको अपनाया, परके देहको माना कि ये परजीव हैं वहाँ भी परको कहा तो यह मिथ्याज्ञान है।

स्वात्मतरविकल्पैस्तैः शरीरेष्ववलम्बितम्।
प्रवृत्तैर्वञ्चितं विश्वमनात्मन्यात्मदर्शिभिः ॥१५१०॥

अपने शरीरमे तो अपना आत्मा माना और परके शरीरमे परको आत्मा माना, इस तरह शरीर मे अवलम्बन रूप प्रवर्ते हुए विकल्पोंसे जो अनादि अनात्मतत्त्व है ऐसे अज्ञानी जनोंने इस लोकमे वचित कर दिया। लोकमे जो होड मच रही है नामवरी नेतागिरीकी इसमे और मम क्या है? सिवा इसके कि वे समझते हैं कि वे सब जीव हैं, मैं यह हू, मेरी लोकमे इज्जत रहे, पोजीशन रहे, इस प्रकारसे परतत्त्वोंमें वे आत्मबुद्धि करते हैं और पापबध करते हैं। अन्यथा तो लोग हाथ जोडकर कैसे आप हमारे रक्षक बनें, मेम्बर बनें तो ठीक है। यहाँ तो इच्छा प्रकट करने, उसके लिए खर्च करते, लोगोंसे वोटकी भीख मागते, यह उनका कोई बडप्पन नहीं है। बडप्पन तो लोगोंके बनानेसे होता है, स्वय बनानेसे नहीं होता है। वहाँ खेद खिन्न होना पडता है। जीते तो हारे हारे तो जीते। दुनिया जो नामकी, धनकी होड लगा रही है, सतान परिवार आदिकसे अपना महत्त्व बता रहे हैं यह सब अज्ञानका माहात्म्य है। तो जिसे अपने आपकी नामवरी चाहिए उसे अनेक यत्न करने पडते हैं।

ततः सोऽत्यन्तभिन्नेषु पशुपुत्राङ्गनादिषु।
आत्मत्व मनुते शश्वदविद्याज्वरजिह्मितः ॥१५११॥

मूलमें इस जीवने ऐसा माना था कि यह मैं हू। जो देह है, पर्याय है उसको नजर रखकर माना

था कि यह मैं आत्मा हूँ। जब अपने देहको अपना आत्मा माना तो परके देहको परआत्मा मानता है। इसके बाद पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक जो अत्यन्त भिन्न हैं उनमे आत्मत्व मानता है कि ये मेरे है। अभी इस देह तक ही इसकी मान्यता थी जो छुडाये छूट नहीं सकती। इस पर्याय तक सदा साथ रहती है। अब इस देहसे भी अत्यन्त भिन्न, जिससे हमारा कोई सम्बध नहीं है, ऐसे पशु, पुत्र, स्त्री आदिकमे भी मानता है कि यह मेरा है। सो यह अज्ञान ज्वरका माहात्म्य है। पदार्थ ससारमे जितने हैं वे सब इकहरे हैं, केवल अपना-अपना स्वरूप अपनेमें रखते हैं अपने ही उत्पादव्ययध्रौव्यसे अपना परिणमन कर रहे हैं। किसी भी पदार्थसे कोई सम्बध नहीं है। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक भाव इतना घनिष्ठ है कि जिससे मालूम होता कि इस पदार्थने ही अमुकको यों कर दिया। यह गैस जल रही है, इसमे हवा भर दिया, लो प्रकाश बढ़ गया। लगता तो यह है कि देखो हवाने रोशनी बढा दिया, पर हवा हवामे है, रोशनी रोशनीमे है। निमित्त तो है पर हवाके उपादानसे रोशनी नहीं बढती। निमित्तनैमित्तिक भाव तो है पर एक दूसरेका कर्ता कर्म नहीं है। यों किसी भी पदार्थका किसी भी अन्य पदार्थके साथ सम्बध नहीं है। लेकिन यह अज्ञानी जीव अविद्या ज्वरसे पीडित होकर पशु मित्रादिकमे अपना आत्मत्व मानता है।

साक्षात्स्वानेव निश्चित्य पदार्थांश्चेतनेतराम् ।
स्वस्यैव मन्यते मूढस्तन्नाशोपचयादिकम् ॥१५१२॥

यह मूर्ख बहिरात्मा अपनेसे भिन्न चेतन अचेतन पदार्थोंको साक्षात् अपना ही निश्चय करके उनके नाश से अपना नाश और उनके भलेसे अपना भला मानते हैं। पहिले देहको आत्मा माननेपर देहको परजीव माना, फिर पशु पुत्र, स्त्री आदिकको अपना माना। अब जो अत्यन्त अचेतन पदार्थ हैं—धन, वैभव, सोना, चादी, रुपया, पैसा, जायदाद आदि, उनको भी मानते हैं कि ये मेरे हैं, और इतना ही नहीं—धन वैभवकी वृद्धिमे ही अपनी वृद्धि समझते हैं और धनवैभवके नाशमे ही अपना नाश समझते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी जीव बाह्यपदार्थोंमें इतना आसक्त हैं, यही दुःखका कारण है दुनिया होड़ मचा रही है। एक दूसरेसे बढकर धन मकानोंमें अपना महत्त्व समझ रहे हैं, लेकिन यहाँ शान्ति तो नहीं मिलती और एक भवका कुछ ठीक बना लेनेसे इस जीवका पूरा तो नहीं पड़ता। यह जीव तो सत् है, इसके बाद भी रहेगा और किसी न किसी शरीरमे रहेगा। यों अत्यन्त भिन्न पदार्थोंमे मानते हैं कि ये मेरे हैं और उनके नाशमे अपनेको बरबाद समझते हैं और वैभवके विकासमे ये अपना विकास समझते हैं।

अनादिप्रभवः सोयमविद्याविषमग्रहः ।
शरीरादीनि पश्यन्ति येन स्वमिति देहिनः ॥१५१३॥

यह पूर्व अनादिसे उत्पन्न हुई अविद्यारूप विषम आग्रह है जिसके द्वारा यह मूढ प्राणी शरीर आदिकको अपना मानता है। यह शरीर है सो मैं हू, इसके आगे और कुछ नहीं निरखता। यह सब अनादिकालसे जो अज्ञान बसा है वह अज्ञान अब तक काम कर रहा है। कीड़ा, मकोड़ा, पृथ्वी आदिक भवोंमे रहा वहाँ भी यह आता रहा। मिथ्यात्वकी ही जो भूल रहा है उस मिथ्यात्वसे हटनेके लिए भेदविज्ञानका अभ्यास चाहिए। अधिकसे अधिक समय ऐसी यह भावना बनाना चाहिए कि मैं समस्त परतत्त्वोंसे निराला केवल ज्ञानानन्दमात्र हू, और भीतरमे देखें भी ऐसा कि जो मात्र ज्ञानज्योति है, ज्ञान प्रकाश है, केवल आनन्दमात्र है वह मैं हू, इस प्रकार अपने आपको देखनेका यत्न करें और इस तरह मानकर रह जायें, आखिर दुःखोंसे छूटनेकी तो सबके इच्छा है। ससारके सभी जीव चाहते है कि हम ससारके दुःखोंसे छूट जाये। तो उन दुःखोसे छूटनेकी ही यह विधि बतायी जा रही है। इसमे क्यो रुचि नहीं होती? दुःखोंसे छूटनेके लिए अपनी मनो कल्पनाओंके अनुसार जब अनेक परिश्रम करते हैं, धनसचय करनेका, नाम इज्जत बढ़ानेका या नाना प्रकारसे जब हम उसका विशेष प्रयत्न करते हैं तो वह दुःख दूर करनेके लिए ही तो करते हैं

एक बार यह भी प्रयत्न करके देखलें। जहाँ सैकडों प्रयत्न करते हैं तो एक प्रयत्न और सही, वह-प्रयत्न है-अपनेको सबसे निराला निरखलें। मैं अकिञ्चन हू, मेरा कहीं कुछ नहीं है, किसीसे मेरा कुछ सम्बध नहीं है—इस प्रकार अपने आपको निरख लिया जाय। इतना यत्न करके देखिये फिर देखिये कि कैसा आनन्द प्रकट होता है?

वपुष्यात्मेति विज्ञानं वपुषा घटयत्यमून्।
स्वस्मिन्नात्मेति बोधस्तु भिनत्त्यङ्ग शरीरिणाम् ॥१५१४॥

जो शरीरमे 'यह मैं आत्मा हू', ऐसा विश्वास करता है वह तो शरीर पाता रहेगा, जन्म-मरण करता रहेगा और जो अपने आपमे बसे हुए इस आत्माको शरीरसे भिन्न निरखते हैं वे बहुत ही निकट काल में जीवको शरीरसे जुदा कर देते हैं। शरीर मैं हू ऐसा मानते रहनेसे जन्म मरणकी परम्परा बढ़ेगी, शरीर मिलते रहेंगे और 'शरीरसे न्यारा ज्ञानानन्दमात्र मैं हूँ' इस प्रकारसे अपने आपको निरखनेसे शरीरसे छुटकारा मिलेगा और शरीरसे छुटकारा मिलनेपर सब दु ख खतम है। आनन्द मानते हैं शरीरके सम्बधसे, इच्छा करता है यह जीव तो शरीरके सम्बधसे, नाम प्रतिष्ठा चाहता है तो शरीरके सम्बधसे, नाना प्रकारके रागद्वेष करता है तो इस शरीरके सम्बधसे। जितने क्लेश है जीवको, वे सब क्लेश शरीरके सम्बधसे होते हैं? इस शरीरसे सदाके लिए छुटकारा मिल जाय, केवल आत्मा ही आत्मा रह जाय, फिर उसको दु ख कहाँ है। केवल आत्मा ही आत्मा रह जाय इसका उपाय यह है कि अभीसे ही देखने लग कि मैं केवल आत्मा ही आत्मा क्या हूँ। जैसा उपाय करेंगे वैसी सिद्धि बनेगी। गेहू बोते हैं तो गेहू ही पैदा होता है। यह मैं सबसे न्यारा, शरीरसे भी न्यारा ज्ञानमात्र मैं हू, यों शरीरसे भिन्न अपनेको निरखें तो यह शरीरसे भिन्न बन जायगा और यदि शरीररूप ही अपनेको निरखता है तो शरीर ही शरीर मिलते जायेंगे, जन्म-मरणकी परम्परा बढ़ेगी। अब सोचिये किसमे हित है? शरीरको शरीररूप समझनेमें हित है या अमूर्त ज्ञानानन्दमात्र समजनेमें अपना हित है। अपना हित सबसे निराला ज्ञानानन्दमात्र अपनेको निरखनेमे है, अत भेदविज्ञान करके अनेक यत्न करके एक इस ज्ञानस्वरूप अपने आपके आत्माको जानना चाहिए।

वपुष्यात्ममतिः सूते बन्धुवित्तादिकल्पनम्।
स्वस्य संपन्मतेन मन्वान मुषितं जगत् ॥१५१५॥

इस ससारमे हम सब प्राणी अनादिसे जन्म मरण करते चले आ रहे हैं। जिस भवको धारण किया उस भवमें ही अनेक कष्ट भोगे। उन कष्टोंसे छुटकारा पानेके लिए भी बहुत बहुत प्रयत्न किया, लेकिन अब तक कष्टोंसे छुटकारा नहीं मिला। अब भी बहुत बहुत प्रयत्न करते है कि कष्टोंसे छुटकारा मिल जाय। कभी कभी धर्मभावनासे हम धर्म कार्य भी कर हैं, उसका भी उद्देश्य यही है कि हमे शान्ति मिले, कष्टोंसे छुट्टी मिले। किन्तु कष्टोंसे छुट्टी न मिली तब सोचना होगा बडी गम्भीरताके साथ कि आखिर हमारी वह कौनसी गलती है जिस गल्तीके कारण हमे कष्टोसे छुट्टी नहीं मिल सकी। तो पहिले तो यह ही सोचिये कि कष्ट है क्या? कष्ट नाम है किसका? कोई पुरुष बडा धनी हो, बहुत-बहुत उसके पास आरामके साधन हो, फिर भी चित्तमें परके प्रति स्नेह हो, राग हो, द्वेष हो कुछ चित्तमें विकल्प आयें तो सुखके साधनोंमे रहकर भी अशान्त रहता है और तपस्वीजन जिनका वदन करनेके लिए हम आप घर छोडकर आये है, जिनका गुण स्मरण करनेके लिए हम आप अनेक क्षेत्रों पर भ्रमण कर रहे हैं उन-तपस्वीजनोंने घरबार छोडकर निष्परिग्रह होकर एकाकी स्थितिमे रहकर वह आत्मीय आनन्द प्राप्त किया जिस आनन्दरसमें तृप्त होकर बडेसे बड़े तपश्चरणमे भी जिन्होंने आनन्द समझा। तब विचार करिये कि कष्ट नाम है किसका? कष्ट नाम है विकल्पोंका। जब तक विकल्प उमड रहे है तब तक जीवको शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जगतमें यद्यपि किसीका कुछ है नहीं, खूब गहरी दृष्टिसे विचारो—जिस मकानमें रहते हैं

वह मकान भी आपका नहीं है, जिस देहमे आप रह रहे हैं वह देह भी आपका नहीं है। इस जगतमे अनन्त जीव हैं, सभी यत्र-तत्र जन्म-मरण कर रहे हैं। कोई दो चार जोव आपके घरमे आ गए तो क्या वे आपके हैं ? अनन्तानन्त जीव है। जैसे सभी भिन्न है वैसे ही ये भी अपना अलग-अलग स्वरूप रखते हैं, सभी अपने-अपने कर्म लिए हुए हैं। क्या है इस जगतमे इस जीवका ? ये धन वैभव तो प्रकट भिन्न पड़े है ढेला पत्थरकी तरह। उनके प्रति आपके जो रागादिक भाव उठ रहे हैं ये भाव भी आपके बनकर नहीं रह पाते। ये भी मिटनेके लिए उत्पन्न होते। फिर आप सोचें कि इस जगतमे अपना है क्या ? है कुछ नहीं अपना, फिर भी रागद्वेषमोहके कारण नाना विकल्प मच रहे हैं और उससे नये विकल्पोंकी सृष्टि हो रही है। उन्हीं विकल्पोंके कारण कष्ट है और कोई कष्ट नहीं है। जिस किसी भी पुरुषके कष्टकी कहानी सुनो तो उनमे वह कष्ट विकल्पोंका कष्ट मालूम होगा और दूसरोंके कष्टकी कहानी सुनकर हम उसे मूर्ख समझ लेगे कि यह कितना हठी है। न करे इसकी रुचि, न करे इसका मोह, लेकिन अपने आप पर जो रागद्वेषमोह की वृत्ति बनी है उसपर कोई नहीं सोचता। यह कष्ट नाम है विकल्पोंका। विकल्प कैसे मिटें उसका उपाय हमारे अनुभवी आचार्योंने बताया है। यह हम आपका बहुत बडा सौभाग्य है कि तपस्वी जनोंने अपना अनुभव ग्रन्थोंमे लिख दिया तो आपको यों प्राप्त हो गया। जैसे कोई बना बनाया भोजन आपके सामने रख दे फिर भी आप उसे न खाना चाहें तो यह कितनी बडी मूढता की बात है ?

हम जरा देखें तो सही—स्पष्ट बताया है कि जगतमे प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना स्वरूप लिए हुए है, अपने ही उत्पादसे उत्पन्न होता है। किसी भी पदार्थका परिणमन किसी अन्यकी परिणतिसे नहीं बनता। तब स्वतत्र हुए न सब ये वचन बोले जा रहे है ये भी स्वतत्र पदार्थ है। यह मैं आत्मा जो यह इच्छा कर रहा हू वह भी स्वतत्र पदार्थ है। पर जगतमे पर पर निमित्तनैमित्तिक मेल ऐसा है कि किसी वस्तुका निमित्त पाकर अन्य पदार्थ अपनी योग्यता माफिक परिणमते हैं। तब प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना स्वतत्र रूप रख रहे हैं। तो देखिये सर्वप्रथम गल्ती तो यह है कि अपनी देहमे ऐसी आत्मबुद्धि लगाये हैं कि हम उससे पृथक अपनेको मान नहीं सकते। जो शरीर है सो मैं हूँ। शरीरको आराम चाहिए चाहे अपने आपकी कितनी भी हिंसा हो रही हो, जहाँ राग बढता है, जहाँ शरीरके आरामके लिए प्रमाद बसाये जाते हैं वहाँ आत्माका घात है। शरीरमे जो आत्मबुद्धि हुई है उस आत्मबुद्धिके कारण धन आदिककी कल्पनाए हो जाती हैं और उन कल्पनाओंसे ही यह जगत इस लोकको अपनी सम्पदा मानता है और खुद ठगाया गया है। देखिये गल्ती मूलमे हम आपकी कितनी है ? यही है कि शरीरको माना है कि यह मैं हूँ। केवल इतनी मान्यताकी गल्ती है पर इस गल्तीका फैलाव इतना भयकर है कि कितनी ही तरहके शरीर धारण करने पड़ते है। कितने जन्म मरणके कष्ट उठाने पडते हैं। यह सब एक गल्तीका परिणाम है कि हम जिस पर्यायको पाते हैं उस ही पर्यायमें आत्मबुद्धि कर लेते है और जब इस पर्यायमें आत्मबुद्धि की तो बाहरमे अन्य शरीरों मे यह बुद्धि करने लगा कि यह मेरा कुछ है। धन वैभव आदिक भी मेरे कुछ हैं। बस ममता और अहकार इन दोनों भावोंसे यह ससारी प्राणी ठगाया गया है। यद्यपि मोहमे ऐसा लगता है कि अपना घर है, बडा आराम है, खूब वैभव है, अच्छी तरह रहते हैं किन्तु इसकी खबर नहीं है कि शुद्ध ज्ञानरससे परिपूर्ण सबसे निराला अरहत सिद्ध आत्माकी तरह सर्वज्ञताकी शक्ति रखने वाला यह आत्मा अपने स्वरूपकी सुध खोकर दीन बना फिर रहा है। अपने आपके आत्माके निकट आयें और उस चैतन्यरसका पान करके तृप्त होवे। जगतमे तृप्तिके योग्य बाहरमे कुछ भी पदार्थ नहीं हैं। तृप्ति हो सकती है तो अपने आत्माके स्वरूपमे मग्न होनेसे हो सकती है। बाहरमे किन पदार्थोंको जोडकर हम तृप्त होना चाहते है। ये तो सब पुण्य पापके ठाठ हैं। उदय पुण्यका है तो लक्ष्मी आती है और जब पापका उदय आता है तो यह लक्ष्मी बिघट जाती है। जहाँ हमारा कोई हाथ नहीं उसके लिए तो हम रात-दिन विकल्प करें और मोक्षका मार्ग जहाँ हमारा हाथ है हम अपने स्वरूपको जानें, उसीके निकट रहें, परकी सुध भूलें, विकल्पजाल तोडें। यह काम मेरे ही

करनेका तो है। मैं ही तो कर सकूँगा। जो बात खुद कर सकनेका है उसे तो करें नहीं और जहाँ हमारा कोई हाथ नहीं, अधिकार नहीं उसमें हम विकल्प उठायें यह हम आप जड़में भूल कर रहे हैं। हम कुछ समय तो इस प्रकारका भाव लायें कि हमारा मनुष्य जन्म पाना, श्रावक कुल पाना सफल हो जाये।

तनावात्मेति यो भावः स स्याद्बीजं भवस्थितेः।
बहिर्वीताक्षविक्षेपस्तत्त्यक्त्वान्तर्विशेत्ततः ॥१५१६॥

आचार्यदेव कहते हैं कि यह मैं आत्मा हूँ—ऐसा इस शरीरको मानना संसारबंधनका बीज है। संसारमें हम रुलते रहें, ऐसे ऐसे देह पाते रहें इसका उपाय है इस शरीरको मानलें कि यह मैं हूँ। संसारमें जन्म-मरण धारण करनेका यह बहुत ही सुगम उपाय है। और यदि संसारके दुःखोंसे छूटना है, देह मिलते रहनेकी परम्पराको मिटाना है तो उसका मूल उपाय है कि संकटोंका मूल आधार जो देह है उससे निवृत्ति हो। यह श्रद्धा पहिले करनी होगी कि देहसे भी निराला ज्ञानानन्दमात्र मैं आत्मा हूँ, जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श इत्यादि नहीं हैं किन्तु केवल एक ज्ञानस्वरूप। जरा अपने आपको इस दृष्टिसे देखें तो कुछ समय तक कि यह मैं केवल ज्ञानप्रकाश स्वरूप हूँ। ज्ञान ज्ञान, केवल जानन, केवल प्रकाश, जहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, जहाँ कोई मूर्ति नहीं, जो ढेला पत्थरकी तरह नहीं, जहाँ कोई आकार नहीं, केवल ज्ञानप्रकाश मात्र यह मैं आत्मा हूँ, ऐसा ज्ञानमय अपने स्वरूपको निहारें, देहकी भी सुध छोड़ दें, देहकी भी सुध छोड़नेसे यह आत्मा ज्ञानका स्वरूप पायगा और ऐसे आनन्दका अनुभव करेगा कि जिस आनन्दसे तृप्त होकर फिर संसारके विषयोंके साधनोंकी ओर दृष्टि न जायगी। वही सत्य मार्ग है और वही आनन्दका सच्चा रास्ता है। इन इन्द्रियके साधनोंकी भी दृष्टि त्यागकर अपने अन्तरङ्गमें प्रवेश किया जाय ऐसा आचार्यदेवका उपदेश है। देखिये—धर्मपालनके लिए हम यात्राएँ भी करते हैं लेकिन कभी-कभी यह स्मरण भी तो करें कि इन तपस्वीजनोंने क्या कार्य किया था जिस मार्गसे चलकर सदाके लिए संकटोंसे छूट गए। हम परमात्मदेवकी क्यों पूजा करते हैं? इसलिए करते कि जो हमें इष्ट है केवल परमात्मदेवको प्राप्त करलें। इस कारण हम वहाँ अपनी दृष्टि लगाते हैं। उन्होंने क्या किया? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन आराधनाओंको करके, अपने आपको एक चिन्मात्र अनुभव करके अष्ट कर्मोंको उन्होंने नष्ट किया और शरीरसे रहित हुए। अब जैसा यह आत्मा केवल अपने आप है वह स्थिति उनकी हो गई। आवरण दूर होनेसे ज्ञानका प्रकाश इतना फैल गया कि लोकको ही नहीं अलोकको भी जान रहे हैं। जो भी सत् पदार्थ हैं उन सबको वे जानते हैं, निर्मलता इतनी बढ़ी चढ़ी है कि कोई वहाँ दोष नहीं रहा, जन्म मरण और रागद्वेष किसी भी प्रकारके दोष अब परमात्मामें नहीं रहे। वह तो निर्दोष हैं और गुणोंसे परिपूर्ण हैं इसी कारण हम उन पुरुषोंका स्मरण करते हैं। मेरा भी वैसा ही स्वरूप है। जो भगवानमें स्वभाव है वही स्वभाव मुझमें है, केवल अन्तर यह पड़ गया कि वे वीतराग हैं और यहाँ रागका फैलाव है। लेकिन जो अनन्त चतुष्टय उनमें प्रकट है, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द वे सब मुझमें भी हैं। मुझमें प्रकट नहीं हुए। क्यों प्रकट नहीं हुए? कि हम परद्रव्योंकी आशा कर करके भिखारी बन रहे हैं। दूसरे जीवोंसे अपने बारेमें कुछ चाहना यह भी एक भीख मांगना है। बाह्य वस्तुओंसे अपने आपको सुखी मानना यह भी वस्तुसे सुख की भीख मांगना है। अरे है तो स्वयं सुखमय और मान रहा है कि परवस्तुवोंसे मुझे सुख हो रहा है। जैसे कुत्ता जिस हड्डीको चबाता है उससे खून नहीं आता, खून तो उसके ही मसूड़ोंका है, पर वह मान रहा है कि मुझे हड्डीसे स्वाद आ रहा है। वह उस हड्डीको लिए फिरता है। कोई दूसरा कुत्ता छुड़ाने आ जाय तो वह उससे लड़ता है। यही बात अज्ञानी जीवोंकी है। ये विषय सुखोंके साधन जो बाह्यपदार्थ रूप, रस, गंध, स्पर्श बाह्य पुद्गल हैं उन पुद्गलोंको भोग भोगकर यह जीव मानता है कि इनसे सुख मिला, पर यह खबर नहीं है कि आनन्दगुण मेरा स्वरूप है जो विकृत था, ढका हुआ था वह स्वरूप मुझमें है। जो अब प्रकट हो रहा है तो उसके ही आनन्दगुणका परिणमन इस समय सुख रूपमें चल रहा है। इतना ज्ञान नहीं है, अतः

बाह्य पदार्थोंके संचयमें विकल्प मचाते रहते हैं और अपनेको कष्टोंमें डालते रहते हैं।

एक घरमें चार पांच भाई थे। गरीबी आई, खानेको भी न रहा तो उन्होंने सोचा कि चलो मौसी जी के यहाँ चलें, १०-१५ दिन वहाँ गुजारा करेंगे। पहुंच गए मौसीके यहाँ। वह मौसी भी बड़ी सयानी थी। देखते ही समझ लिया कि ये तो १०-१५ दिन अब यहाँ ही रहेंगे। मौसीने कहा कि तुम लोग क्या खावोगे? उन्होंने कहा कि जो कुछ घरमें हो सो खावेंगे। मौसीने दो चार मिठाइयोंका नाम लिया। मौसीने कहा अच्छा जावो तुम लोग कपड़े उतार कर रख दो, तालाबमें स्नान कर आवो, मंदिरमें पूजन कर आवो, तब तक हम खाना तैयार करती हैं। वे तो चले गए कपड़े उतारकर तालाबमें स्नान करने, १ घंटा वहाँ लगाया, स्नान करके मंदिरमें पहुंचे, १॥ घंटा वहाँ लगाया। इस २॥ घंटेके अन्दर मौसीने क्या किया कि उनके कपड़े वगैरह एक महाजनके यहाँ गिरवी रख दिया ५०) मे और आटा, घी, शक्कर वगैरह खरीदकर तुरन्त मिठाई बना ली। जब वे मंदिरसे आकर भोजन करने बैठे तो कहते जाते हैं वाह मौसीने कितना सुन्दर भोजन बनाया। तो मौसी कहे—खाते जावो बेटा, यह तुम्हारा ही तो माल है। वे समझे नहीं, वे तो जानते कि खिलाने वाला ऐसा कहता ही है। जब खूब खा चुके और बादमें कपड़े पहिनने गए तो कपड़े मिले नहीं। तो मौसी बोली, जब तुम लोग खा रहे थे तो, मैं तो कहती थी कि खाते रहो यह तुम्हारा ही तो माल है। इसका मतलब क्या? .... तुम्हारे कपडे मैंने महाजनके यहाँ ५०) मे गिरवी रखा, उससे घी, आटा, शक्कर वगैरह सब सामान लाकर तब भोजन बनाया। तो जैसे वे भाई खा तो अपना रहे थे, पर मान रहे थे कि हम मौसीका खा रहे हैं ऐसे ही ये संसारी प्राणी भोग तो रहे हैं अपने ही आनन्दगुणका परिणमन पर विषयसाधनों में अपना आनन्द मानते हैं। कोई कष्टकी बात आ पड़े तो विकल्प मचाते और दुःखी होते रहते हैं। इन कष्टोंसे छूटना हो तो भेदविज्ञानका सहारा लेना पड़ेगा। कोई किसीका भलाईजा करने वाला नहीं, कोई किसीका बिगाड़ करने वाला नहीं। सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें हैं, अपने अपने भावोंमें हैं। कोई किसीका सुधारक है, न बिगाड़क है, यह ध्यानमें रखकर कुछ इस ओर आयें कि हम अपनेको अधिकसे अधिक अकेला विचार करें। मैं अकेला ही हूँ। इसमें एकत्व भावना बहुत विशिष्ट भावना है और इसका मर्म बहुत अधिकसे अधिक गहरे तक पावोगे। इस संसारमें मैं अकेला ही हूं। कर्मबन्धन करता हूँ, वहाँ भी अकेला कर्मफल भोगता हूं, वहाँ भी अकेला संसारसे छूटूंगा तो वहाँ भी अकेला ही छूटूंगा, और इस अवस्थामें भी जो रागादिक मच रहे हैं, इस स्थितिमें भी यदि स्वरूपदृष्टि करें तो मैं एक अकेला केवल चैतन्यरससे परिपूर्ण परमब्रह्मतत्त्व हूं। उस एकाकीको तो विचारें। उस एकत्वस्वरूपको अपने उपयोगमें लें, किन्हीं भी परपदार्थोंसे हमारा गुजारा नहीं चलनेका है। हमारा पूरा पड़ेगा तो अपने आपके दर्शनसे पड़ेगा।

अपने आपमें जो परमात्मतत्त्व बसा हुआ है उसकी ओर दृष्टि तो करिये। यह परमात्मतत्त्व अनादिसे ही इस बातके लिए तैयार है कि यह जीव जरासा तो मेरी ओर उपयोग लगाये, फिर मैं इसे समस्त संकटोंसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुचा दूं। लेकिन इस उपयोगका अपने अन्दर बसे हुए इस सहजज्ञानस्वरूप कारण समयसार इस अंतस्तत्त्व परमात्माकी ओर दृष्टि ही नहीं होती तब, फिर बतलावो कष्टोंसे हम कैसे छूट सकते हैं? जरा अपनी ओर दृष्टिपात तो करियेगा आत्माकी रक्षा हो जायगी। विषयोंमें, कषायोंमें आत्माका घात हो रहा है। क्रोध करके क्या हम किसी दूसरेका बिगाड़ करते हैं? हम तो अपने ही आत्मा का बिगाड करते हैं। हम अपने ही आत्माके गुणोंको जला डालते हैं। किसी भी प्रसगमें अहंकार करके, दूसरेको तुच्छ समझकर अपने आपको बडा साबित करके हम क्या कुछ किसीका बिगाड कर रहे हैं? हम अपने आपका बिगाड कर रहे हैं। कर्मोंका बंध बाध रहे हैं। मायाचार करके, छल, कपट करके क्या हम किसी दूसरेका बिगाड़ कर रहे हैं? मैं तो अपना ही बिगाड़ कर रहा हूँ। जिस आत्मामें मायाचार रहता है, वह शल्य है और मायावी पुरुषके सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता। लोभ करते हैं, अपने घर वालोंपर तो सब कुछ खर्च कर देते हैं और परजीवोंके लिए तो जरा भी उदारता नहीं बरतते हैं, यही है लोभकी वृत्ति।

अपने घरमें हजारोंका खर्च करता हो और यह डींग मारे कि मेरे अन्दर लोभ नहीं है तो यह उसकी डींग सच्ची नहीं है। अपने पुत्र, स्त्री आदिक परिजनोंपर सर्वस्व समर्पित करें और दूसरे जीवोंके प्रति उदारता का भाव न जगे तो यह लोभ ही है। इन लोभ आदिक कषायोंमे वसकर, विषयसस्कारोंमे वसकर हम आपका कोई भी पूरा नहीं पडनेका। हम अपनी ओर आयें, जगतके सव जीवोंको अपने समान देखें, यह सव चैतन्यरससे परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाववान है। एक दोषवश कोई कीडा हुआ, पशु हुआ, पक्षी हुआ, यह भेद वास्तविक नहीं है।

वस्तु तो एक चैतन्यमात्र है। यह आत्मतत्त्व उसकी ओर दृष्टिपात करें, उसका पूजन करे। बाहरमे भी तीर्थोंमे हम आप जिनकी पूजा करते हैं उन महापुरुषोंमें भी हम यह देखते हैं कि केवल एक चैतन्यरसका विकास है और परमात्मा किसका नाम है ? जहाँ पूरा ज्ञान है, पूरा आनन्द है उसका नाम है परमात्मा। और परमात्माका क्या स्वरूप है इसके विवरणको छोड़ो, सक्षेपमे यह निणय रखें कि जिस आत्मा में ज्ञान तो परिपूर्ण है और आनन्द भी परिपूर्ण है, दोष उपाधि कुछ भी नहीं रहती है, केवल आत्मा ही आत्मा है, ज्ञानपुञ्ज है उसका नाम परमात्मा है। ऐसा मैं हो सकता हूँ। इस कारण मैं परमात्माको पूजता हू। अपने अन्तरङ्गमें ऐसा अवलोकन हो तो हम धर्मके निकट वहुत कुछ पहुचते हैं। और जीवनमें इस बातका अधिक यत्न करें कि कषायें न करें। ये कषायें मेरी वैरी हैं, इन कषायोंसे आत्माका घात है। कषायोंपर विजय पाना यही सच्ची विजय है।

एक राजा था तो उसने सब राजावोंको जीतकर वह सर्वजीत कहलाने लगा। सव राजा लोग उसे सर्वजीत कहें। तो वह राजपुत्र वोला कि मां सभी राजा मुझे सर्वजीत कहते हैं पर तू सर्वजीत नहीं कहती है तो मां कहती है कि वेटा! अभी तू सर्वजीत नहीं हुआ। ‥"अरे तो और कौनसा राजा जीतनेको रह गया ? जो रह गया हो उसे बतावो, मैं उसे अभी जीत लूगा। तो वह मा वोली, वेटा तुमने राजावोंको तो जीत लिया है, पर अपने आपमे अहकारको तूने नहीं जीता। जो तुझमे यह भाव लगा है कि मैंने सब राजावोंको जीत लिया है ऐसे अहकारको अभी तून नहीं जीता है। जब इस अहकारको जीत लेगा तब मैं समझूंगा कि अब तू सवजीत कहा जाने योग्य है और तभी मैं सवजीत कहूँगी। तो आप निर्णय रखें कि मैं अपनी कषायोंपर विजय करलू तो मैं सच्चा विजयी हूँ और मैं कषायोंके वश होकर अपने आपकी सुध खोकर मैं कुछ अपनेको वडा मानता रहूँ तो वह तो हमारी एक कल्पनाभर है। उससे कही मैं विशिष्ट तो न हो जाऊंगा। तो हमे यह चाहिए कि हम भेदविज्ञानका प्रयोग करें, सबसे निराला ज्ञानानन्दमात्र अपने आत्माके निकट बसनेका यत्न करें, यही वात सर्वत्र सीखें। यात्रामें, स्वाध्यायमे, अनेक प्रसगोंमे इस वातका चिन्तन करें कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानानन्दमात्र हूँ। यह भावना हमारे सभी दोषोंको बाहर निकाल कर फेंक देगी, इन कर्मशत्रुवोंको उखाड देगी, इन विकल्पजालोंको, कष्ट समूहोंको नष्ट कर देगी। हम ज्ञानभावनाकी ओर बढ़ें और अपनेको ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र माने और बाह्यवस्तुवोंमे ममता न रखें। राग होता है। सम्हाल करते हैं ठीक है फिर भी इस निश्चयसे अलग न हों कि मेरा बाहरमे कुछ नहीं है। मेरा मात्र मैं ही हू। यों ज्ञानानन्दमात्र अपने आपका अनुभव न करू, इसमे ही जीवनकी सफलता है।

अक्षद्वारैस्ततश्च्युत्वा निमग्नो गोचरेष्वहम्।
तानासाद्याहमित्येतन्न हि सम्यगवेविषम् ॥१५१७॥

ज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन करते हैं कि इन्द्रियोंके द्वारसे अपने स्वरूपसे च्युत होकर विषयोंम मग्न हो जाऊ और उन विषयोंको पाकर यह मैं अह रूपसे जानू, इस प्रकार आत्मस्वरूपको भली प्रकारसे देख नहीं सकता। ज्ञानी पुरुष ज्ञान होनेपर यह चिन्तन कर रहा है। यह चिन्तन धर्मध्यानसे सम्बधित है। अब तक अनादिसे लेकर अनन्तकाल इन्द्रियद्वारोंसे जानना और आनन्द मानना, यह एक भूल भरा कम किया। ज्ञान आत्माका स्वरूप है, उसे हम इन्द्रियोंसे ही जाने तब ज्ञान वने ऐसी बात नहीं है। ज्ञानसे भी ज्ञान

हो सकता है। इन्द्रियका आलम्बन न लें और जानें तो यह नहीं काम बन सकता है, किन्तु ये असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक नहीं बन सकते, एकेन्द्रिय जीव चाहते कि मैं इन्द्रियोंसे आनन्द न मानू, अपने ही ज्ञानसे अपने ही स्वरूपसे ज्ञान और आनन्द करूं, यह बात एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और असज्ञी पञ्चेन्द्रियमें भी नहीं हो सकती, क्योंकि सस्कार लगा है जिससे अपने उपयोगको मोड नहीं सकते। सज्ञी पञ्चेन्द्रियमें ही सामर्थ्य है कि वे अपने उपयोगकी धाराको मोड सकते हैं। सज्ञी पञ्चेन्द्रियमें ही सामर्थ्य है कि वे अपने उपयोगकी धाराको मोड सकते हैं। सज्ञी पचेन्द्रियमे भी अरबों खरबों में से कोई विरला ही सम्यग्दृष्टि है वह मोड सकता है। अनादिसे लेकर अब तक मैंने इन्द्रियद्वारोंसे ही जाना, इन्द्रियद्वारोंसे ही आनन्द माना और विषयोंको प्राप्त करके मैं अहंपदसे जान गया, ऐसा नहीं हुआ। परको जाना कि यह मैं हू, क्योंकि इन्द्रिय द्वारसे निरखते, अपने अन्तरङ्गमे नहीं देखते किन्तु निकट परको जानते है। जब इन्द्रियॉं खुदको भी नहीं जान सकतीं तो अतरङ्गको क्या जाने? आखोंसे आखोंको भी नहीं देख सकते। आखोंमे कीचड ल.ा हो तो हम आखोंको भी नहीं देख पाते हैं। दपण सामने लगाकर निरख लेते है। क्योंकि वह दर्पण पर हो गया नेत्र नहीं है, छाया है, उसे देखकर ही जान पाते है कि यह ऐब लगा है, पर नेत्रइन्द्रिय स्वयको नहीं जान पाती। ऐसे ही कर्णइन्द्रिय भी बाहरमे सबको जानती है। नासिका भी बाहरकी गधको जानती है, जिभ्या खुद अपना स्वाद नहीं जानती। स्पशन इन्द्रिय भी ऐसी ही है। कभी बुखार चढा हो तो बिना एक हाथसे दूसरे हाथको पकडकर देखे हुए बुखार जाना नहीं जा सकता है। जब एक हाथसे दूसरे हाथको छूते हैं तब समझ पाते हैं कि इसमे इतनी गर्मी है, तो स्पर्शन इन्द्रिय भी स्वतत्र अपने आपको नहीं जानती है। जब इन्द्रियमे खुदको भी जाननेकी सामर्थ्य नहीं है तो जो अमूर्त आत्मा है उसे जाननेमे क्या समथ होगी? तो इन्द्रियके द्वारोंसे मैं अपने ज्ञानसे च्युत हो गया और अब तक डोलता रहा। अपने आपकी समझ बने तो, जब एक ज्ञानप्रकाशमात्र स्वयका स्वरूप उपयोगमे रहता है तो वहॉं न विगाड है, न कष्ट है और एक विशुद्ध शान्तिका अनुभव है। वह चीज मैंने अब तक नहीं प्राप्त की थी, ऐसा ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है।

बाह्यात्मानमपास्यैवमन्तरात्मा ततस्त्यजेत् ।
प्रकाशयत्ययं योगः स्वरूपं परमेष्ठिनः ॥१५१८॥

इस प्रकार बाह्य शरीरमें आत्मबुद्धिको छोडकर अन्तरात्मा होता हुआ इन्द्रियके विषयोंमे आत्मबुद्धिको छोडूं। पहिले तो वैभवमें ममताका परित्याग करें। यह धनवैभव मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं है, फिर उनसे हटकर जो और चेतन कुटुम्ब आदिक द्रव्य हैं उनसे ममता बुद्धि त्यागें। फिर इस शरीरसे आत्मबुद्धि को छोड़ें कि यह देह मैं नहीं हूँ, यह देह पौद्गलिक है, रूप, रस, गध, स्पर्शवाली है और मैं आत्मा इस देहसे निराला एक ज्ञानमात्र हू ऐसा इसमे भेद जानें फिर इन्द्रियके विषयोंमे भी आत्मबुद्धि त्यागें। एक तो बाह्य होती है। बाह्यमे उसकी बात तो पहिले कह दी। जो रूप, रस, गध, स्पर्श वाले पुद्गल हैं जैसे—चखा, जाना, सूघा, देखा, वे विषय तो बाह्य विषय हैं। पर उन विषयोंके आलम्बनसे जो इन्द्रिया अपना अतः उपभोग करती हैं, मौज मानती हैं, जो अन्त विकल्प होते हैं वह इन्द्रियोंका अन्तर्विषय है। तो अब उस विषयको भी अपनेको हटाए अर्थात् इन्द्रिय द्वारा जो विकल्प बन रहे हैं उन विकल्पोंमे भी आत्मबुद्धि न करें। ये विकल्प भी पर हैं, इनसे निराला ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र मैं आत्मा हू। इस प्रकारसे परसे छूट-छूटकर अपने निकट आयें। यह एक अध्यात्मयोग है और यह परमेष्ठीके स्वरूपका प्रकाश करता है अर्थात् योगके द्वारा परमेष्ठित्व प्रकट होता है, परमात्मत्वका विकास होता है। जिसे भी शान्ति चाहिए हो वह अपनेसे भिन्न जितने भी पदार्थ हैं, तत्त्व हैं उनका ख्याल छोडकर अपने आपके स्वरूपमें मग्न होनेका यत्न करे। अध्यात्मयोगका हद पाने वाले अरहतदेवने बताया है असहयोग और सत्याग्रह। जो मेरे लिए नहीं है उनका तो असहयोग करलें, यथार्थ जान जायें, ममता न करें, किसीका कुछ भी परिणमन हो रहा हो जान जायें।

कुटुम्बमें कोई चिन्ता हो, शोक हो, शारीरिक वेदना हो उसमे इलाज तो करें, पर अन्त' ऐसी ममता न रखें कि हाय अब क्या होगा ? अरे जो होना है सो होगा। हमारा जितना कर्तव्य है सो करते रहें, अपने आपकी ओर आयें और अपनेको परसे हटायें—ये दो बातें चाहिए। यह तो हुआ असहयोग। कोई परपदार्थको हम सहयोग नहीं दे रहे। और असहयोग करके फिर जो अपनेमे चैतन्यस्वरूप है अथात अपने आपकी उपेक्षा न रखकर केवल सत्में जो बात होती है उसे सत्य कहते हैं। ऐसा सत्य क्या है ? एक चित्प्रकाश चैतन्य तत्त्व। उस चैतन्यभावका आग्रह करें, यह मैं हूँ, यही मेरा सर्वस्व है, ऐसा उस चैतन्यतत्त्वका आग्रह है।

यद्यदृश्यमिदं रूपं तत्तदन्यन्न चान्यथा।
ज्ञानवच्च व्यतीताक्षमतः केनाऽत्र वच्म्यहम् ॥१५१६॥

अब ज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन करता है कि जो रूप देखनेमे आ रहे हैं शरीरके अथवा और जड पदार्थोंके, जो जो भी दिखनेमे आ रहे हों सो तो अन्य है। मैं नहीं हूँ। आत्मा नहीं है और ज्ञानवान जो है वह हमारी तरह है नहीं। वह तो इन्द्रियसे अतीत जो दिख रहा है, यह तो अचेतन है और जो वास्तविक तत्त्व है वे वचनव्यवहार आदिक शब्दरहित हैं। किससे बोलू ? बोल भी रहा है इस रूपमे बता भी रहा है, पर इसे समझाया जा रहा है। उसको एक सब व्यवहारसे अतीत निर्विकल्प चैतन्यभावकी ओर ले जाया जा रहा है। दो ही चीज हैं—बीचकी चीजको ग्रहण नहीं कर रहा इस समय यह ज्ञानी जीव। दो चीजें कौन ? एक तो यह जडरूप पर्यायका पौद्गलिक रूप, एक अनादि अनन्त अहेतुक सनातन एक स्वरूप अचेतन स्वभाव। चैतन्यस्वभाव तो व्यवहारसे परे है। उससे तो क्या बोलें ? और जो पौद्गलिक रूप है वह कुछ जानता नहीं। न जानते हुएको क्या समझायें ? तब मैं किससे बोलू ? ऐसा चिन्तन करके वह अपने वचनव्यवहारको छोडकर अपने आपमें गुप्त होना चाहता है, अपने आपमे समाना चाहता है। मूर्तिक पदार्थ इन्द्रियोंसे ग्रहणमे आ रहे हैं वे जड हैं। कुछ भी नहीं जानते और मैं ज्ञानरूप हू, अमूर्तिक हू, इन्द्रिया उसे ग्रहण नहीं करतीं। इन्द्रिया उसे नहीं जान सकतीं। तब मैं किससे वार्तालाप करू ? दूसरे लोग जिस मुझको देख रहे है वह मैं नहीं हू। यह मैं तो वह हू जो इन्द्रियोंसे भी परे है। कोई मेरी बात सुनना चाहे, कुछ मेरी जिज्ञासा हो तब तो मैं बोलू। सो सुनने वालेमे वहाँ दो तत्त्व है। एक तो चैतन्यस्वभाव जो व्यवहारसे परे है उससे बोलना क्या ? एक पौद्गलिक रूप जो अचेतन है, उससे बोलना क्या ? एक परस्परका आकर्षण मिटा रहा है ज्ञानी जीव। वचनगुप्ति पालनेके लिए मैं मौजमे रहू और अपन आपमे अपनी साधना करू, इस बातके लिए दो तत्त्व निरख रहा है। एक अत्यन्त बिगडा रूप और एक अन्त शुद्ध चित्रूप। दोनों ही वचनालापके अयोग्य हैं इसलिए मैं किससे बोलू ? ज्ञानी पुरुष ऐसा विचारकर विषयोंकी बुद्धि छोडता है और अपने आपमे मग्न होना चाहता है।

जब जब चित्त विषयोंमे लगता है तब तब आकुलता होती है। जो दुनियामे बुरा नहीं माना जाता जैसे भोजन करना यह भी क्या क्षोभ मचाये बिना भोगते हैं ? अरे भोजन भी कोई शान्तिसे नहीं करता है। कुछ अशान्ति है तब तो भोजन किया। जो मुनिजन विरक्त हैं, ज्ञानी पुरुष हैं वे भी भोजनको क्यों जाते हैं ? अगर चित्तमे शान्ति होती तो भोजनको क्यों जाते ? भला बिना फोडा फुसीके कौन मलहम पट्टी करेगा ? ऐसे ही कुछ न कुछ अशान्ति हुई है तब भोजन करते हैं। बड़े-बड़े आचार्यजन, साधुजन, तीर्थङ्कर मुनिजनोंको भी चर्याके लिए जाना पडता है। लोग तो यों कहते है कि आहारकी प्रवृत्ति करनेके लिए तीर्थंकर चर्याको निकलते हैं याने उन्हे शान्ति नहीं है। ऐसा साधारणतया लोग कह देते हैं। परन्तु बात इतनी ही नहीं है। ऐसी असाता वेदनीयकी उदीरणा हुए बिना क्षुधा नहीं बनी। उस वेदनामे अशान्ति हुई तब वे चर्याको निकलते हैं। चाहे साधारण मुनिजनोंकी अपेक्षा उनके अशान्ति बहुत कम है लेकिन है अशान्ति। किसी न किसी अशमे तब वे भोजन ग्रहण करते हैं। केवल इतना ही मान जाय कि वे दुनियामें मुनिधर्मका आचारण बतानेके लिए और आहार कैसे लिया जाता है। यह प्रचार करनेके लिए-आहार लेते

हैं, वैसे तो और लोग भी कहते हैं कि भाई भगवानको अवतार लेने की क्या जरूरत थी ? भगवानने यह नटखट क्यों किया कि सीताको पहिले रावणसे हराया, फिर रावणसे लडाई की, क्योंकि करते तो सब भगवान ही है। नहीं तो वे भगवान थे उड़कर जाते और सीताजीको ले आते। यह नटखट क्यों किया ? तो उत्तर देते हैं कि दुनियामे न्याय नीति बनानेके लिए एक खडयन्त्र रचा। यों अनेक उत्तर हो सकते है। ऐसे ही यह समझें कि बडे-बडे तीर्थंकर भी आहार चर्याको निकलते है, आहार ग्रहण करते है तो किसी न किसी साधारण अशमे ही सही कोई अशान्ति होती है, उस वेदनाका प्रतिकार करनेके लिए निकलते है। यद्यपि पुद्गल आहारसे शान्ति नहीं मिलती, मगर शरीरमे जब कोई इस प्रकारकी वेदना होती है तो उस समय अशान्ति रहती है और जिस समय वेदना नहीं रहती उस समय शान्ति अनुभव करते है। वह शान्ति आहार में से निकलकर आत्मामे नहीं आयी। वेदनाका परिणमन शरीरमे न था, शरीरका परिणमन शरीरमे था, पर कुछ न कुछ निमित्तनैमित्तिक सम्बधवश इसने अपना उपयोग कुछ उस ओर किया, वेदना हुई। तो वेदनाके समय भी शरीरसे आत्मामें वेदनाएं आयी हों ऐसा नहीं है। भोजन करनेपर भोजनसे शान्ति निकलकर आत्मामे आती हो सो बात नहीं है। पहिले भी विकल्पोसे ही दुःखी था, अब भी अपने ही भावोसे सुखी हो रहे, पर निमित्तनैमित्तिक सम्बधकी यह बात देखी तो जा रही है। हम आप लोगोने यात्रा की, बडा परिश्रम किया, जलपान किया, शान्ति मिली—तो क्या उस जलपानमे से निकलकर शान्ति आई ? अरे ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि उस जलपानका निमित्त पाकर आत्मामे जो वेदनाका भार था वह शान्त हो गया। ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि ये विषय अचेतन है, इनसे मेरेमें कुछ बात नहीं आती, मेरा किसी चीजसे सुधार बिगाड नहीं, यह अपनेमे रहो, मैं अपनेमे रहूँ, और फिर मैं किससे बोलूं अचेतनसे क्या, चेतनसे क्या, अपना प्रसग बनाया है क्योंकि जो दिखता है वह सब अचेतन है। अचेतन अपने प्रसगमे आता नहीं, यों जानकर विषयोसे मुख मोड कर अपने आत्मस्वरूपमे मग्न होता है ज्ञानी।

यज्जनैरपि बोध्योऽहं यज्जनान्बोधयाम्यहम्।
तद्विभ्रमपदं यस्मादहं विधुतकल्मषः ॥५२०॥

लोगोंके द्वारा मैं सम्बोधने योग्य हू। लोगोंके द्वारा मैं समझाया जाने योग्य हू और मैं लोगोंको सम्बोधता हू ऐसा भी जो विकल्प है वह भी भ्रममात्र है क्योकि मैं पापसे रहित हू अर्थात् यह जो आत्म-तत्त्व सहज चैतन्यस्वरूप निष्कलक हूँ। इसे कौन सम्बोधे ? और यह किसको सम्बोधे ? इस प्रसगमे ज्ञानी पुरुषने अपने उपयोगमे जो आनन्दपद निर्पेक्ष सहजस्वरूप चैतन्यमात्रभावको लिए है और उसे ही मै मानता है, उसे ही उस रूप अनुभव है। ऐसी स्थितिमे ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि यह मैं न सम्बोधनरूप हूँ न सम्बोधनेवाला हू, वह तो निष्काम, निश्चल और स्वतत्र चैतन्यप्रकाशमात्र है। जब ऐसे सहजस्वरूपपर दृष्टि दृढ हो जाती है तब फिर इस जीवको कोई कलक अथवा कोई विकल्पकी बात नहीं रहती। जब आत्मा अपने आत्मस्वरूपमें मग्न हो गया फिर उसे कष्ट क्या ? जैसे एक भाईने शका की थी कि कोई पुरुष कच्ची गृहस्थीको छोडकर विरक्त हो जाय, अपनी चाहनेवाली मा स्त्री पुत्रादिकको छोडकर विरक्त हो जाय तो क्या उसे ऐसा करना चाहिए ? अरे उस विरक्त पुरुषको जब यह अनुभव हो गया कि मैं चैतन्यस्वरूपमात्र हू और इस ही आनन्दमे वह तृप्त है तो उसे कोई विकल्प उठता ही नहीं। जिसमे विकल्प उठे उसमे कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक होता है। थोडा दृष्टान्तके लिए ऐसा समझें कि जब किसीका विवाह होता है तो पति-पत्नीमे ७ प्रतिज्ञाएं हो जाती है जो कि उनके धर्म और जीवनसे सम्बधित हैं। उनमे मानो पतिने यह प्रतिज्ञा की कि मै आजीवन पत्नीकी रक्षा करूगा और पत्नीने मानो यह प्रतिज्ञा की कि मैं आजीवन अपने पतिके अतिरिक्त किसीमे चित्त न दूगी। दोनोमे बधन हो गया, पर पति मानो विरक्त हो जाय, पतिका मोह गल जाय, पति निर्ग्रन्थमुनि बन जाय तो क्या उसके नियम भग करनेमे दोष आता है ? नहीं, क्योंकि वह नियम मोहमे था, जब मोह गल गया तो वह नियम भी गल गया। इसी प्र.७

मुनिका नाम द्विज है। द्विज लोग ब्राह्मणको कहते हैं पर द्विजका अर्थ है जो दुवारा पैदा हुआ हो। जैसे कोई मनुष्य मरकर दूसरा भव पाये तो अव इस मनुष्यका कोई सम्वध तो नहीं रहा। कुछ भी नियम किया हो, प्रतिज्ञा की हो और अपने जीवनमें उसने पूरा न कर पाया हो तो कोई उसे दोप नहीं आया। दूसरा जन्म हो गया। ऐसे ही मुनि होनेके मायने दूसरा जन्म हुआ। जैसे यह मनुष्य मरकर कुछ वन जाय तो अब उसका शत्रु कहाँ रहा? ऐसे ही जव यह मुनि वन गया तो इसके अव गृहस्थी कहाँ रही, दोप क्या रहा? तो यह मोहमें किया गया नियम मोह तक ही है। जहाँ मोह टूटा वहाँ फिर आत्माका शुद्ध नियम चलता है। विकृत नियम फिर नहीं चलता। ज्ञानी पुरुप चिन्तन करता है कि मैं जो एक चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ वह न तो किसीको समझाता है और न किसीके द्वारा समझाया जाता है, वह तो जो है सो है। जान जाय तो अनुभव करले। जो न जाने, वाह्यपदार्थोंमे रस तो मैं लेकर दुःखी हो और वाह्यमें जन्ममरणकी परम्परा बढ़ो तो एक अभेदरूप मैं आत्मा हूँ चित्स्वरूपमात्र ऐसा सामान्यरूपका व्याख्यान सुनकर कुछ मतावलम्बियों ने यह मान लिया कि आत्मामे ज्ञान होता ही नहीं। ज्ञान तो प्रकृतिका धर्म है, पौद्‌गलिक तत्त्व है, भौतिक चीज है। उस ज्ञानका चेतनसे सम्वध होता है तो यह चेतन ज्ञानी कहलाता है अर्थात् वह चेतनसामान्य इस ज्ञानसे विलक्षण है। मैं चैतन्यमात्र आत्मा हूँ जिसे न कोई दूसरा समझाता और न किसी दूसरेको समझाता। जव मैं दूसरेको समझाता दूसरा मुझे समझाता है ऐसा मानना भ्रम है, विकल्प है। अव ज्ञानी ने समझा कि मैं आत्मा निष्कलक हूँ, ये वचनव्यवसारसे परे हैं, तव मैं किससे वोलू, किसको समझाऊं, मैं तो एक इस चैतन्यरसका ही स्वाद लूं।

यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरम्।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योस्मि केवलम् ॥१५२१॥

जगतमे जितने प्राणी हैं उन सबकी एक यह अभिलाषा है कि दुःखसे छूटें और शान्त रहें, आनन्द प्राप्त करें और जितने भी जो कोई भी प्राणी प्रयत्न करते हैं वह सव इस ही एक प्रयोजनसे करते हैं कि दुःख हमारा दूर हो और आनन्द प्राप्त हो। किन्तु अनेक प्रयत्न करनेपर भी कभी आनन्द नहीं मिल सका। तृप्ति नहीं मिल सकी। इसका क्या कारण है? इसपर विचार करना चाहिए और हम उसका निणय करके उस मार्गपर चलें ऐसा हमारा प्रयत्न होना चाहिए। प्रथम तो मोटे रूपसे यह ही विचार कीजिए कि जिस भवमे जो जो समागम मिला है उन समागमोंसे हमने लाभ क्या प्राप्त किया? भव-भवकी वात छोड कर एक इस ही भवकी वातका विचार कीजिए। जो भी समागम प्राप्त हुए हैं उन सबकी वृद्धिके लिए हमने ५०-६० वर्ष खोया है। अगर पूछें कि उन समागमोंसे अभी तक आपने क्या लाभ पाया है? तो सभीका हृदय यह बोल उठेगा कि मिला कुछ नहीं। इतने वर्ष खोया, घर गृहस्थी चलाया, कुटुम्ब भी वनाया, अनेक लोगोंसे परिचय भी वनाया किन्तु वह सव वेकार रहा। यहां ता सन्तोप मिला ही नहीं, आनन्द मिला ही नहीं। जव कुछ अपना उपयोग अपने आपपर दया करे तो वह अपने कल्याणके लिए वनेगा, यह निर्णय रखियेगा। जगतमे जितने भी जीव हैं वे सव अपना अपना अस्तित्व रखते हैं, उनके भावोंके अनुसार उनके साथ उनका कर्मबन्धन है। उनका सुख-दुख उनमे है, उनका पुण्य पाप उनके साथ है, उसीके अनुसार उनका वर्ताव होता है। हम उनकी जिम्मेदारी अपने आपपर क्यों अधिक मानें? साथ ही यह भी निर्णय रखें कि हम जितने भी प्रयत्न करते हैं कुटुम्बको सुखी रखनेके, परिजनोंमे, वन्धुवोंमे, मित्रजनोंमे तो ये सव वातें एक कल्पना भरकी हैं। आप ऐसा कुछ करनेमें समर्थ नहीं हैं। इसको निर्णयमें रखते हुए कुछ समागमोंसे विरक्ति धारण करें। घरमे रहकर भी यदि अपने आपके स्वरूपकी ओर दृष्टि चलती है तो वहाँ भी आप कल्याण मार्गपर चल रहे हैं। जब अपने आपके कल्याणकी इच्छा जगेगी तव सव वातें सहज ही स्पष्टरूपसे समझमे आने लगेंगी। प्रथम वात तो यह है कि हमे कल्याणकी इच्छा वलवती प्ररणाके साथ नहीं जगी है और जव तक हममे आत्महितकी भावना तीव्रताके साथ नहीं जगती है तो हमारा सव कुछ हाथ पैर शिर पीटना किसी भी मोडमे वेकार

चीज है। श्रोता किसे कहते हैं ? श्रोताके लक्षणमे सबसे पहिले यह बताया कि वह भव्य है, वास्तविक श्रोता है जिसके चित्तमें यह भावना जग रही हो कि मेरा हित क्या है ? मैं आत्महित कैसे करूं ? आत्महित करनेके लिए अपना सर्वस्व समर्पित करनेके लिए तैयार रहना चाहिए। इस मुक्त आत्माका अहित अभी तक भ्रममें हुआ है। जो पदार्थ जैसा है, जिस पदार्थका जो स्वरूप है उसको इस रूपमे न मानकर एक दूसरेमें मिलाकर परवस्तुवोंमे 'यह मैं हूँ' ऐसा भ्रम करके अपना अहित किया है। और ऐसा भ्रम होनेका कारण क्या बना कि अनादिकालसे निमित्तनैमित्तिक सम्बधके साथ जो परिणतिया चल रही थीं उन परिणतियोको हमने अपनाया और आपा माना। यह एक भ्रम था। ये भ्रम भी अटपट नहीं बने, कोई विधिपूर्वक बने थे। अब कोई विधि ऐसी भी है कि हम इस भ्रमको दूर कर सकते हैं और अपने आपमे अपने सहजस्वरूपके दर्शन कर सकते हैं। सर्वप्रथम तो यह ध्यान दीजिए कि मूलमे समस्त जीव एक समान है अथवा नहीं। उपाधि औपाधिक भाव इनकी ओर दृष्टि न देकर केवल एक अस्तित्वमात्रके द्वारसे निरखे तो सब जीवोमें वही एक चैतन्यभाव है अथवा नहीं। जिसके कारण अस्तित्व रहा करता है वह स्वरूप सब जीवोंमे एक समान है। सब जीवोंमें वह चिद्रूप एक समान हुआ करता है। जो आज परिणमनोमे विषमता देख रहे हैं वह विषमता क्यों हुई है ? उसका कारण अशुद्ध उपादान है। जो अशुद्ध परिणमन कर सके ऐसा निमित्त है, सन्निधान मिला है।

देखिये जब वस्तुका हम निर्णय करे तो हम केवल आत्महितका ध्यान रखकर निर्णय करें। किसी द्वन्द्व प्रतिद्वन्द्वमें किसी मंतव्यको ध्यानमे न रखा करें और जो हमारी आगम परम्परा चली आयी है उन वचनोंका सहारा लेकर निर्णय करें। यह तो प्रकट सिद्ध है कि प्रत्येक पदार्थ अपना अपना ही स्वरूप रखते हैं। कोई पदार्थ किसी दूसरेका स्वरूप नहीं ले सकता है। यदि कोई पदार्थ किसी दूसरेका स्वरूप स्वभाव ग्रहण कर लेता होता तो शंकरता होकर आज जगतमे कुछ न रहता। सब शून्य रहता। जगतमे इतने पदार्थ मौजूद हैं यह इसके बलपर कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही अपने स्वरूपको ग्रहण किए हुए हैं, कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके स्वरूपको नहीं ग्रहण करता। द्रव्यकी जातिया ६ है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये चार पदार्थ विभावरूप नहीं परिणमते। विभावरूप परिणमने वाले केवल एक जातिके ही द्रव्य है—जीव और पुद्गल। तो विभावरूप परिणमने की यह विधि है कि विभावरूप परिणमने वाले पदार्थ परिणमते तो हैं अपने ही परिणमनसे विभावरूप, पर अपने विभावरूप परिणमनमे जैसा खुद उपादान है ऐसा खुद ही निमित्त बन जाय तो यह विभावपरिणमन सदा काल रहा करे। सो किसी परनिमित्तको पाकर यह उपादान अपनी परिणतिसे विभावरूप परिणमता है। परिणमो, लेकिन हम अपनी एक ऐसी धुन रखें एकत्व भावना की कि उन समस्त सम्पर्कोंसे अपनेको हटा हटाकर केवल अपने आपके स्वरूपकी ओर लगायें अपने उपयोग को ऐसी हम अपनी धुन बनाये, ऐसी हम अपनी दृष्टि बनायें। जब वस्तुके परिणमनका निर्णय करना होता है तब तो निमित्त उपादानकी चर्चा चला करती है और जब केवल अपने आत्महितकी दृष्टि होती है तब वहां केवल एक अद्वैत निज अतस्तत्त्वकी दृष्टि लगायी जाया करती है ऐसे दो प्रयोजनोंमे दो विधियां हैं। निर्णयकी बात एक बार दृढ करली जाय तो आत्महितके अर्थ सबसे निराले केवल विविक्त इस आत्मतत्त्वकी दृष्टिका यत्न करना चाहिए। और इस दृष्टिमे रहकर जब हम निरखते हैं तो सर्वत्र यह देखते हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपकी परिणतिसे परिणमता है, किसी दूसरेकी परिणतिसे नहीं परिणमता है। इस निर्णयमें यह बात जरूर है कि जीव और पुद्गल ये दोनो जब विभावरूप परिणमते हैं तो किसी परनिमित्तको पाकर ही परिणम सकते हैं। निमित्त सन्निधान बिना विभाव नहीं होता लेकिन साथ ही साथ आत्मरक्षाकी भी बात सुनिये। आत्मरक्षा किसमें है, परदृष्टि बनाकर हम अपने आपकी रक्षा न कर सकेंगे, निजदृष्टि बनाकर ही हम अपने आपकी रक्षा कर सकेंगे।

अनादिकालसे हम परपदार्थोंकी ओर दृष्टि लगाकर, उनसे रागस्नेह लगाकर, उनमें मुग्ध हो,

अपने आपके जन्म मरणकी परम्परा बनाये बनाये चले आ रहे हैं। जब हम देहसे निराले केवल ज्ञानानन्द-स्वरूप निज अतस्तत्त्वकी दृष्टि बनाते हैं और वहाँ ही हम यह अनुभव करते हैं कि यह चित् चमत्कारमात्र मैं हू तो वहाँ जन्ममरणकी परम्परा हमारी मिट जायगी। और जन्म मरण ही इस ससारका सबसे बडा अनर्थ है। जितने भी क्लेश हैं वे सब केवल एक इस शरीरके लगे रहनेके कारण हैं। यद्यपि क्लेश मानता है यह आत्मा, उन सब क्लेशोंके होनेका एक आधार है यह शरीर। कल्पना करो कि यदि यह शरीर न होता, केवल मैं ही मैं होता तो मेरी क्या परिस्थिति होती ? मेरी वह परिस्थिति होती जो सिद्ध भगवानकी परिस्थिति है। सिद्ध भगवानके शरीर नहीं है, कर्म नहीं है, केवल वह आत्मा ही आत्मा है। तो उसकी यह परिस्थिति है कि गुण तो सब विकसित हैं और दोष सिद्ध प्रभुके अन्दर एक भी नहीं है। अर्थात् दोषोंसे रहित गुणोंसे परिपूर्ण स्थिति हमारी होती है, पर शरीरका सम्पर्क है तो उसका फल यह है कि जरा जरासी बातोंमें हम क्लेश मानते हैं। तो हम यह भावना करें कि हे प्रभो ! मैं शरीररहित स्वरूप वाला हूँ और मेरी ऐसी स्थिति बने कि शरीररहित केवल अपने आपके स्वरूपमे बस सकू। इस ही स्थितिमें हम आप सबका कल्याण है। देखिये जब जिस बातका वर्णन चलता हो उस नयको मुख्य करके, उस दृष्टिको मुख्य करके हमें उसका निर्णय लेना चाहिए और यह बात जब हम नहीं कर पाते है तो हमें विवाद मालूम होने लगता है। यह स्थिति आज करीब-करीब फैल रही है कि जो जिस नयसे बात करता है, जिस जो नय प्रिय है वह अपने उस नय को ही एकान्त करके चर्चा करता है और यह कुछ विवादका स्थान बन जाता है और जैनसिद्धान्तका प्रतिपादन करने वाले सभी लोग चाहे कोई निश्चयके पक्षका हो, चाहे व्यवहारके पक्षका हो, सबमें सबकी बात उन उनकी दृष्टिसे यथार्थ जंचती है लेकिन जब अपने नयके एक अभिनिवेशमे आकर अन्य नयकी बातको असत्य कहा तब वहाँ विवाद हो जाता है।

हम आप सबको ऐसे एक मध्य मार्गसे चलना चाहिए जिससे हमे कोई भी अपना विरोधी न जचे और वास्तवमें कोई किसीका विरोधी है भी नहीं। जैसे लौकिक कामोंमे हम किसीको अपना विरोधी मानलें तो दुखी हमको ही होना पडता है। कोई जीव किसीका विरोधी नहीं है - इस बातको पहिले इस तरह उतारिये। जगतमे जितने भी जीव है उन सबकी यह चाह नहीं है कि मैं किसीका विरोध करू। सभी के इन कषायोंसे जो वेदना उत्पन्न होती है वह वेदना शान्त हो जाय ऐसा चाहते हैं। तब प्रत्येक प्राणी अपनी कल्पनाके अनुसार जो कुछ भाव लिए हुए है और उसमे जो कुछ भी अशान्ति है, अपनी अशान्तिको शान्त करनेके लिए अपना प्रयत्न करता है।

किन्तु अन्य जन अपने साधनमें समर्थन न मिलनेके कारण उसे विरोधी मान लेते हैं। जगतमें कोई भी मेरा विरोधी नहीं है। कोई गाली गलौज भी देता हो तो उसका एक भाव है, अपने भावोंके अनुसार वह अपनी शान्तिके लिए अपनी चेष्टा करता है। मेरा कुछ नहीं कर रहा है। ऐसा अपनेमें निर्णय रखकर उसे अब विरोधी न समझिये। एक कथानक है कि एक राजा अपने शत्रुपर चढाई करने चला जा रहा था और उस ओरसे वह शत्रु भी अपनी सेना साथ लेकर उसकी ओर आ रहा था। रास्तेमे इस राजाको एक मुनिराजके दर्शन हुए, जगलमे मुनिराजके समीप बैठ गया। मुनिसे उपदेश सुनने लगा। इस बीचमे शत्रु सेना के शब्द सुनाई पडने लगे। राजा कुछ सावधानी सहित तलवारपर हाथ रखकर बैठ गया। कुछ और ज्यादा शब्द सुनाई देने लगे। तलवार उठाकर खडा हो गया। तो मुनिराज कहते हैं कि राजन् ! यह क्या करते हो ? तो राजा बोला—महाराज ! जैसे जैसे शत्रु सेना मेरे निकट आती जाती है वैसे ही वैसे मेरा क्रोध बढ रहा है कि मैं इस शत्रुका घात कर दू। तो मुनिराज बोलते हैं कि राजन् ! तुम बहुत अच्छा काम करते हो। शत्रु निकट आये तो उस शत्रुको ध्वस्त कर देना ही चाहिए। लेकिन एक शत्रु तुम्हारे बिल्कुल अन्दर आ चुका है उसको तो ध्वस्त करो। राजा बोला—महाराज वह कौन शत्रु है ? मुनिराज बोले कि तुम दूसरे राजाको अपना विरोधी मानते हो, उससे द्वेष करते हो, ऐसा जो द्वेषरूप परिणाम तुममे आया है, यह द्वेष-

रूप परिणाम तुम्हारा शत्रु है उसको ध्वस्त करो। राजाकी समझमें आ गया। वह झट निर्ग्रन्थ मुनिपद धारण करके बैठ गया। विरोधी सेनाके जितने भी लोग आये वे सब उसके पैरों पडकर वापिस लौट गए। हम सबको यह भाव रखना चाहिए कि इस जगतमें मेरा कोई विरोधी नहीं है। मेरा मात्र मैं ही विरोधी बन जाता और मैं ही अपना उद्धारक बन जाता। जैसा हम भाव करते हैं उस प्रकारका कर्मबन्धन होता है। उनका जैसा उदय होता है उस प्रकार यह विभाव परिणमन चलता है और इस बीच हम निमित्तसे अपना भेद नहीं कर पाते। आस्रवोंसे भिन्न हम अपनेको नहीं समझ पाते हैं। सबसे निराले चैतन्यस्वरूप अपनेको नहीं समझ पाते तो यह निमित्तनैमित्तिक सम्बधकी परम्परा चलती है और उसका फल होता है संसारमें क्लेश भोगना। तो अपने आपकी रक्षाके लिए यह जरूरी बात है कि अपने सहजस्वरूपका परिचय प्राप्त करें। अब इस दृष्टिमें आकरके इस प्रकरणको सुनिये जो इस श्लोकमे कहा जा रहा है।

मैं क्या हूँ ? जो हूँ सो हूँ। सीधा उत्तर तो यह है कि जब हम वचनोंका प्रतिपादन करते हैं तो यह करना होगा कि मै अपने चतुष्टयसे हू और परके चतुष्टयसे नहीं हूँ। स्याद्वादमे जो सप्तभग बताये गए है वे सप्तभग केवल एक ही किसी भी बातके बोलनेपर बन जाते हैं। जो कुछ आप कहते होंगे वह एक भंग हुआ, उसके विरुद्ध जो दूसरी बात है उसका निषेध हुआ, यह दूसरा भग हुआ और दोनों बातोंको एक साथ नहीं बोल सकते हैं तो यह एक तीसरा अवक्तव्य भग हुआ। जब यह एक स्वतत्र भग हो गया तो इसक प्रतिपक्षी धर्मोको मिला करके जो भग बनेगा वह दूसरा और बनेगा, तीनको दो-दो बनायेंगे तो तीन बनेंगे। जैसे तीन वस्तु हैं — सोंठ, पीपल और मिर्च। इनको ७ प्रकारसे खाया जा सकता है। केवल सोठ, केवल मिर्च, केवल पीपल, सोठ मिर्च, मिर्च पीपल, और इन सबको दो दो मिलाकर स्वाद लिया जा सकता है। इसमे मुख्य तीन पदार्थ हैं। केवल इस समय उन ३ पर दृष्टि रखिये। मैं हूं, अपने स्वरूपसे हूँ, परके स्वरूपसे नहीं हू। स्वरूपमे चार चीजें होती हैं - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। तब इसका अर्थ यह हुआ कि मैं अपने द्रव्यसे हूँ, अपने क्षेत्रसे हूँ, कालसे हू और भावसे हू। परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं हू। देखिए इस तरहकी दृष्टि बनाकर आप निरखियेगा। तो प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र समझमे आना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ अपने चतुष्टय से रहा करते हैं पर उस चतुष्टयके परिणमनमे यदि कोई विभावपरिणमन है तो उपादान अपनी कलासे विभावरूप परिणमता है, इससे कोई सदेह नहीं। पर उपादान अपनी कलाको विकसित करे ऐसे उसके वातावरण परिणमन अनुकूलपर निमित्त सन्निधान पाकर हुआ करता है। तो मूलमे तो प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हैं, तो मैं अपने द्रव्यसे हू, अपने गुणपर्याय वाला हूँ, अपने प्रदेशमे ही हू, अपने ही परिणमनमे हू और अपने ही गुणोंमे हू। ऐसा अपने आपका निणय करके देखा जाय तो यह मैं अपने स्वरूपको ही ग्रहण करता हूँ, मैं किसी परपदार्थका ग्रहण नहीं कर सकता। तब फिर हम अपने स्वरूपको देखें और परस्वरूपसे अपनेको निराला समझें तो यह मैं एक अभेद निर्विकल्प ही था, और ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व स्वसम्वेद्य हू। अपने आपके द्वारा ही मैं अनुभवमे आने योग्य हू।

देखिए एक आत्मरक्षाके प्रकरणमे आत्माके स्वतत्रताकी यह बात कही जा रही है। यद्यपि हम जब इस लोकपर दृष्टिपात करते है तो ये विभिन्नताएं कैसे बनीं ? ये विभिन्नताएं कैसे हुई ? तो वहाँ यह निर्णय है कि सब हम अनुकूल कर्मोंका सन्निधान पाते हैं तो उस उस प्रकार हम क्रोधादिक भाव रूप परिणम जाते हैं। फर्क यह है। पर जब हम आत्मरक्षाकी दृष्टिमे चलते हैं तो हमे इस और अपनी दृष्टि गडानी चाहिए कि जिससे विकल्प दूर हो और शान्ति प्राप्त हो। लोकव्यवहारमें भी जब हम अनेकोंसे परिचय बढा लेते हैं, अनेकोंके साथ स्नेहभाव रखते हैं तब हम बहुतसे विकल्पोंमे पड जाते और एक किंकर्तव्यविमूढ हो जाते। तब यह निर्णय करना है कि परिचय बढाना, स्नेह बढाना, मोह बढाना—ये हमारे हितके लिए ठीक नहीं हैं। मूल प्रयोजन यह है कि आत्मामे मोहभाव न रहे, जितने भी क्लेश हैं इन जीवोको वे मोह भावके क. है। माना कि यह मेरी स्त्री है, जहां ममताकी बस सब बोझ अपने पर आ गया, क्योंकि उसे अपना

लिया ना। माना कि यह मेरा वैभव है तो सब बोझ अपने आपपर आ गया। माना कि मेरी नामवरी है, मेरा यश है, लोग मुझे अच्छा कह दें यह आशा यदि बन गयी तो ऐसी आशा वालेको शान्ति कहाँसे आयगी? और एक बात इसके सम्बधमे यह देखिये कि लोग उसीको बुरा कहते हैं जो जगह जगह जाकर रोटीकी, पैसोंकी भीख माँगे। दूकानपर जाकर भिखारी पैसा मांगता है तो लोग उसे बुरी निगाहसे देखते हैं। यदि दो एक रोटी मागता है तो यह भिखारी दयाका पात्र है, मदभाग्य है, बेचारा कष्टमे है यों अनेक परिचयोंसे उसे देखते हैं। तो दूसरेसे कुछ मांगना यह एक भीख है और उसे हम अच्छे रूपमे नहीं निरखते। लेकिन कोई इस ओर ही दृष्टि की जाय, यदि हम यह चाह रहे हों कि ये लोग मुझे कुछ अच्छा कह दें, लोकमें मेरा नाम हो और मुझे अच्छी तरह समझें, मेरेको एक बात बोल दें ऐसी यदि लोगोंसे आशा बना रखी हो तो इसके मायने क्या यह नहीं है कि लोगोंसे हम कुछ मांग रहे हैं और मांगना ही भीख है। तो यह भीख उन भीखोंसे भी गदी है। यदि हम यह चाहते हैं कि लोकमे मेरा नाम हो, यश हो, लोग मुझे अच्छा कहें तो यह उस भीखसे भी गदी है जो भिखारी लोग मागते हैं। और रोटीसे तो पेट भरता है किन्तु इससे कहाँ पेट भरता है बल्कि एक अतृप्ति बढती है।

भीख बिल्कुल न मांगता हो ऐसा विरला ही पुरुष है। लोग बड़े धनिक बनना चाहते हैं, धनकी ओर अपनी धुन लगाये हुए हैं। ताकि लोग समझ जायें कि यह भी कुछ हैं और नाना प्रकारकी विद्याएं पढनेमें अपनी धुन बनाये हैं। लोग परिवार क्यों चाहते हैं? मेर घर सतान अच्छे हों, पुत्र हों, कुल चले ताकि लोग यह कह सकें कि यह कुल वाले हैं, अच्छे हैं, प्रशसा कर सकें। तो मुझे सतान चाहिए, धन चाहिए, विद्या चाहिए, नेतागिरी चाहिए। जो जो बातें यहाँ लोग दूसरोंसे चाह रहे हैं वे भीख नहीं है तो फिर और क्या है? अरे जरा अपने आपके आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि कीजिए, यह आत्मा स्वय ज्ञानानन्दस्वरूप है, हमारा ज्ञान परसे नहीं मिला, हमारा आनन्द परसे नहीं मिला। सब कुछ वैभव एक अपने आपमें है, अपनी ओरसे आया है, हम अपनी ओर आयें, अपनेको पहिचानें, मोहका परित्याग करें तो हम शान्तिको प्राप्त कर सकते हैं, दुःखसे छूट सकते हैं, अन्यथा दुःखसे छुटकारा पाने वाले हम कितना ही यत्न कर डालें पर दुःखसे नहीं छूट सकते हैं। अपने आपके स्वरूपको समझें और मुक्त होनेका प्रयत्न करें, मोह ममता अज्ञान मिथ्यात्वभावसे निवृत्ति पायें तो हम शान्ति पा सकते हैं, ऐसा बननेके लिए हमें स्वाध्यायमें, तत्त्वचर्चामें परस्परके वात्सल्यभावमें रहकर बढ़ना चाहिए और अपने स्वरूपके निकट पहुचकर हम अपना उद्धार करलें तो समझ लीजिए कि हमारा मनुष्य जन्म पाना सफल है। श्रावककुल, जैनधर्म जो जो कुछ प्राप्त हुआ है उसकी सफलता भी तभी समझें।

जातसर्पमतेर्यद्वच्छृङ्खलाया क्रियाभ्रमः।
तथैव मे क्रियाः पूर्वास्तन्वादौ स्वमिति भ्रमात् ॥१५२२॥

अतीत भ्रमपर ज्ञानीका चिन्तन—जैसे जिस पुरुषको रस्सीमे अथवा साँकरमे सर्पकी बुद्धि बनी है तो उसकी क्रियामे भी भ्रम हो जाता है अर्थात् विभ्रमरूप, मायारूप उसकी क्रिया होने लगती है। इसी प्रकार शरीर आदिकमे स्वका भ्रम हो गया उन भ्रमके कारण पहिले हमारी विभ्रमरूप क्रिया हुई थी। ज्ञानी पुरुष विचार कर रहे हैं, जब ज्ञान जग गया तब अपनी पहिलेकी अज्ञानदशापर एक पछतावा कर रहा है। यह पछतावा उसे क्लेशरूप नहीं हो रहा है, किन्तु आनन्दका ही प्रदाता हो रहा है। आप ऐसा सोचेंगे कि कोई पछतावा ऐसा भी होता है जो कुछ आनन्दसे भी सम्बध रखता है यह एक विलक्षण बात है। कोई पछतावा में शोकातुर हो जाता है, रजमें डूब जाता है, पर ज्ञानी जीवको अपनी अज्ञान दशापर पछतावा हो रहा है आनन्दको छूती हुई परिणतिके साथ।

दृष्टान्तपूर्वक अतीतभ्रमपर ज्ञानीके विचारका वर्णन—जैसे कोई पुरुषको स्वप्नमे ऐसा दृश्य दिख जाय कि हम जगलमे जा रहे हैं, जाते जाते कहीं एक तालाबमें गिर पड़े है। वहाँ कोई एक मगर झपट रहा है

उसने मेरी टागको पकड रक्खा है। मान लो ऐसा ही स्वप्न आ जाय तो उस स्वप्नमे उसकी कितनी बुरी दशा हो रही है ? दु.खी हो रहा है और कुछ हिम्मत बनाकर उस समय वह जग जाय तो इस जगनेपर झट वह ख्याल करता है कि हू मैं कहाँ क्योंकि पहिले मैं तालाबमे डूबा जा रहा था, मगरने पैर पकड रखा था। ओह ! मैं तो घरमे पडा हूँ, उसे बडी प्रसन्नता हुई। साथ ही यह पछतावा भी हुआ कि कैसा स्वप्न आया जो दु खी हुआ। यह पछतावा आनन्दसे सम्बध रखता है। वैसे ही यो समझिये कि आत्माको पहिले ज्ञान-दशामे, शरीर आदिकमे 'यह मैं हू' ऐसा भ्रम करके जो उसे क्लेश हुआ था, क्रिया भ्रम हुआ था उसके अब यह पछतावा हो रहा है। कब ? जब ज्ञानदशा प्रकट हुई है। आत्माको आत्मारूपसे जाना है, समझा है। यह तो कष्टरहित निराकुल निष्कम्प चेतन्यमात्र है ऐसा समझनेपर कुछ जब याद आता है ज्ञान ही तो है, पहिली बात। जब कुछ ख्यालमे आता है तो उनका जो पछतावा हो रहा है वह पछतावा शोकमे डुबाने वाला नहीं है, किन्तु भारसे हटा हुआ है। जिसको साकलमे सर्पकी बुद्धि हुई ऐसे पुरुषको क्रियाबुद्धि हुई उसी प्रकार उसके शरीर आदिकमे आत्मबुद्धि रूप भ्रमका भेदविज्ञान होनेसे पहिले भ्रमरूप कार्य अनेक हुए हैं ऐसा ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है। जरा अनेक लोगोको वर्तमानमे भी कुछ निरखना चाहिए कि हमारी क्रिया भ्रम-रूप है या नहीं। यदि हमारी भी समझमे आ जाय वास्तविक ढगसे कि हमारी क्रिया भ्रमरूप है तो उसका भ्रम हट गया, हट रहा, हटने ही वाला है ऐसा समझना चाहिए।

भ्रम वाले पुरुषको भ्रमका पता नहीं हुआ करता। जब भ्रमसे हटनेकी अवस्था होनेको होती है या भ्रमसे हटा हो तो उसे पता पडता है कि यह है भ्रम। तो अपने आपको निरखिये कि हम भ्रममे चल रहे है या नहीं। अपने अपने चित्तका सबको पता है। घरमें रहने वाले स्त्री पुत्रादिकको आप क्यों अपना मानते हैं ? यह भी क्या कोई ढग है ? आपको उनके प्रति यह सत्य वोट कैसे हैं कि जीव स्वतत्र है, यह भी पृथक है, मैं भी पृथक हू। यह अपनेमे परिपूर्ण है, मैं अपनेमे परिपूर्ण हूं, इस प्रकारकी परिपूर्णता चित्तमें है या नहीं ? सब बातें अपने आपके चित्तमें मिल जायेंगी और समाधान भी हो जायगा। यह बात किसीसे पूछकर उत्तर लेनेकी नहीं होती। खुद ही अपने आपमे निर्णय करलें। यदि परकी ओर आकर्षण है तो समझ लीजिए कि बहुत बडी विपत्तिमे हैं। सासारिक सुखोंके साधन मिलाकर विभाव छोडकर अपने शारीरिक आरामके साधन जुटाकर अपना सुख मान लिया तो इतनेसे इस जीवका क्या पूरा पड़ता है ? अजीव है, सत्भूत है। रहेगा यह, किसी न किसी पर्यायमें चलेगा। आगे की बात तो सोचिए एक भवके सुखसे पूरा न पड़ेगा। अपनेको अपने निकट बैठालकर समझायें। आत्माका उपयोग बाहरी पदार्थोंमे लग रहा है तो इससे बढकर विडम्बना और आपत्ति किसीको नहीं कहा जा सकता।

अणुव्रतमे एक परिग्रह परिमाण नामक अणुव्रत है, जिसमें इस श्रावकने यह नियम लिया है कि हम इतना परिग्रह रखेंगे। उस प्रमाणसे अधिक वाला कोई धनी पुरुष दिख जाय। जैसे उसने एक लाखका प्रमाण रखा है और करोडपति आँखों दिख जाय तो उस श्रावकके चित्तमे एक प्रकाश आता है। जो वास्तविक मायनेमें सम्यग्दृष्टि श्रावक परिग्रह प्रमाण वाला है उसके परिग्रहकी बात कह रहे हैं, यह कितना विपदामे फसा है, कितना परकी ओर फस गया है, कितना परमें लग गया है ? कृपापात्र है। इस प्रकाशके साथ बडे धनिकोंको देखता है परिग्रह परिमाण वाला, न कि यह हमसे बडा है, और मैं छोटा हूँ। यह कल्पना नहीं करता है सम्यग्दृष्टि श्रावक परिग्रह परिमाण अणुव्रती। तो आप समझिये कि बाह्य जड पदार्थ पत्थर ढेला जिनकी कोई कीमत नहीं उनमें दृष्टि लगाकर उन्हें सर्वस्व मानकर हम अपनी शान्ति भग करते हैं, अशान्ति बनी रहती है यह हमारा सन्मार्ग नहीं है, कुमार्ग है, इससे निवृत्त होकर अपनी ओर आयें।

देखिये व्यापारी लोग बोलते हैं कि सोनेका क्या भाव है, गेहूँका क्या भाव है ? जो बोलते हैं उसको उसी रूपमे कोई सुनना नहीं चाहता। वे बोल रहे हैं यह कि सोनेके सम्बधमे पब्लिकका क्या ख्याल है ? भाव मायने ख्याल, परिणाम। सोनेमे कुछ भाव नहीं रखा है। वे तो सब एक समान हैं, पत्थर हैं, धातु

हैं, सब एक चीज हैं। उस ओर से देखें तो। उसका पता तो ज्ञानी पुरुषको रहता है। लोग बहुत सही बोल रहे हैं, पर सुनने वाले दूसरा अर्थ लगाते और बोलने वाले दूसरा अर्थ लगाते। भाव पदार्थोंमे नहीं है पर गेहूँ, चावल, चाँदी, सोना आदिके प्रति लोगोंका क्या भाव है, क्या ख्याल है, ऐसा पूछा जा रहा है। तो एक मनुष्यने महत्त्वका भाव नहीं बनाया और एकमात्र उसे ज्ञेय कर लेता है। यह तो भाव बनायें अपना, अपने विभावोंका महत्त्व तौलें, अपने उस सहज ज्ञायकस्वरूपका दर्शन करें, उसमे ही तृप्त रहें तो यही है हमारा सन्मार्ग। जीवको विषयके साधनोंसे तृप्ति नहीं हुआ करती। जैसे अग्नि ईंधनसे तृप्ति नहीं पाती ऐसे ही इन विषयोंके साधनोंके मिलनेसे तृप्ति नहीं होती। तृप्तिका कारण तो एक निज चैतन्यरसका स्वाद है। अपने आपको ज्ञातामात्र बनाये बिना, ज्ञानानुभव किए बिना अपने आपका जैसा निर्णय विविक्त केवल चैतन्यमात्र स्वरूप है, जो सहजस्वभाव है ऐसा अपनेको ज्ञान करले तो तृप्ति होगी। बाहरमें दृष्टि रखकर कोई तृप्त होना चाहे तो तृप्त नहीं हो सकता। जैसे कोई यह सोचे कि आज हम पेटभर खा लें, फिर मस्त हो जायेंगे, सदाके लिए भोजनसे छूट जायेंगे तो क्या उसका यह ख्याल सच्चा है? किसी भी प्रकारका भोगोपभोग हो, ऐसा सोचियेगा कि इसे मन भर भोग लें, फिर बादमे यह कष्ट न रहेगा। तो जहाँ मनमे भोग भोगनेका भाव है वहाँ मनके भोग क्या सदा बने रहेंगे? वहाँ भी तृप्ति नहीं हो सकती है। और बडा दुर्लभ से दुर्लभ समागम मिला है—जैन शासनका पाना, अहिंसाका वातावरण मिलना जो दुर्लभसे दुर्लभ समागम है उनकी उपधारणाकी शक्ति और अपने आपके स्वरूप की ओर देखनेका बल जो कुछ यह प्राप्त हुआ है यह सब सफल हो जायगा यदि ज्ञान और वैराग्यका आदर किया जाता।

देखिये कि यदि इस जड़ वैभवका ही आदर रहा तो बहुत-बहुत श्रेष्ठ समागम पाकर भी समझियेगा कि हमने कुछ नहीं किया। जैसे एक अहानामे कहते हैं—कहाँ गए थे? दिल्ली। वहाँ क्या किया? भाड़ झोंका। अरे भाड ही झोंकना था तो गाँवमे क्यो नहीं रहे? यों ही कहाँ गए थे? मनुष्यभव में, श्रावक कुलमें, जैनशासनमे। क्या किया? विषयोंको भोगा। यदि विषयोंके भोगनेके लिए ही मनुष्यभव पाया था तो गधा, कुत्ता, बिल्ली आदिके भव कौनसे बुरे थे? वहाँ भी तो यही चीजें थीं। तब समझियेगा कि मनुष्यभव पाकर कोई विविक्त लाभ लेनेकी बात मनमें होना चाहिए। इस वैभवके पीछे मन परेशान हों, यह तो छायाकी तरह पीछे चलने वाला है। मेरा काम है कि सत्यका आग्रह करें, असत्यको सत्य नहीं समझते, मायाको परमार्थ नहीं जानते। सत्य समझना एक ही हमारा काम है। उसके ही लिए मेरा जीवन है ऐसा निर्णय करके चलिए और ससारमे फिर जो स्थितियां आयें, उन स्थितियोंको तुच्छ गिनकर उनमे रच भी घबडाहट न करें। क्या होगा मेरा इस लोकमे, मेरी आजीविका रहेगी या नहीं? अरे क्या शका करना, ज्यादा रहेगा तो वहाँ व्यवस्था रहेगी, कम रहेगा तो वहाँ व्यवस्था रहेगी। न रहेगा तो दो जगहसे रोटी माँगकर पेट भर लेंगे, किन्तु अपने आपका ज्ञानदर्शन रूप जो महान कार्य है हमारे लिए तो कर्तव्य वह है, अन्य नहीं है।

भैया! किस बातकी शका करना? जहाँ जितनी अपने आपके आत्मत्वकी दृढता है वहाँ पर लोकका क्या भय? परलोक क्या किसी दूसरेके हाथकी दी हुई चीज है? क्या किसी दूसरे कर्ताधर्ताके हाथ की बात है? परलोक क्या चीज है? हमारा आगेका परिणमन ही परलोक है और फिर एक खुले रूपमे इस मनुष्यपर्यायमें जो हमारा परिणमन है वह हमारा परलोक है। वह किसी दूसरेके हाथकी बात नहीं है। कोई ईश्वर करने नहीं आया है। कर्मोदयकी बात तो यह आयुकर्मके उदयसे होता है परलोक। इस मनुष्य पर्यायमे नवीन आयु कर्मका बध अपनी आयुके ६० वर्ष तक तो होता नहीं। मानलो जिसकी ९० वर्षकी आयु है, ६० वर्ष तक तो होता नहीं, शेष रहे ३० वर्ष तक नहीं होता। ३०-३० वर्षके तीन टुकडे करके ३ भागोंमें न होगा, १० वर्षके तीन भागोंमें न होगा। ऐसा ही होता है आयुबध। एक अपने आपमें बल बढानेके लिए यह समझ लीजिए कि अभी आयुका बध नहीं हुआ। अब शान्त रहें, अपने आत्माके दर्शन करें। वैभवका

मोह हटावें, सम्यग्ज्ञानका आदर करें। निश्चयसे परलोक अच्छा होगा। और जैसे यह बताया गया है करणानुयोग के शास्त्रोंमे कि जिसका नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य आयुका बंध होगा उस पुरुषके महाव्रतका परिणाम नहीं होता। यदि देव आयुका परिणाम हो तो अणुव्रत महाव्रत बन सकता है। उससे यह भी तो निष्कर्ष निकालें कि जो ज्ञानकी आराधनामें रहना चाहता है वह वस्तुके सम्यक स्वरूपकी जिज्ञासा रखता है जिसका उपयोग ऐसे मोक्षमार्गमे लगने वाले शुभ साधनोकी ओर है उस पुरुषका परलोक कोई बुरा नहीं होनेका। अपने चित्तमे दृढता रखें, मोक्षमार्गमे वढ़नेके लिए कदम पर कदम बढाते रहें। वह कदम है ज्ञानका कदम। पुरुषार्थ। जैसे व्यापारीवर्ग कमानेमें अब इतना कमाया, अभी इतना कमाना है ऐसी बाट जोहते हैं ऐसे ही ज्ञानी जन जिस दृष्टिमें आत्मदर्शन हो उसमें उत्साह बढाते हैं और आगे बढ़ते हैं। आगे क्या बढ़ना, अन्त. मग्न होना है। व्यवहारमें आगे बढ़नेका तरीका है बाहरमे आगे बढना और अध्यात्ममे आगे बढ़नेका तरीका है। अन्त मग्न होना। अपनेसे बाहर आगे बढ़ना या भीतर आगे बढना ? लौकिक बढनेमे और अध्यात्म बढनेमे एक विपरीत दिशा है। ज्ञानी पुरुष यहाँ चिन्तन कर रहा है, अहो ! मैंने जब परमे आत्मबुद्धि की थी तब हमारी क्रिया भ्रम हुआ था, लेकिन—

शृङ्खलाया यथा वृत्तिर्विनष्टे भुजगभ्रमे।
तन्वादौ मे तथा वृत्तिर्नष्टात्मविभ्रमस्य वै ॥१५२३॥

जैसे सांकलमें जब सर्पका भ्रम नष्ट हुआ तो साकलमे ऐसी यथावत प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार मेरे शरीर आदिकमे जब आत्मत्वका भ्रम नष्ट हुआ, अर्थात् जब भ्रमसे रहित हो गया तब मेरी शरीर आदिक में यथावत प्रवृत्ति हुई अर्थात् ममत्वका परिहार हुआ। शरीर आदिक ज्ञेयमात्र रहे। जैसे रस्सीमें भ्रम था वह पुरुष एक उत्साह बनाकर धीरे-धीरे आगे बढकर दृश्यमान पदार्थमें लक्षण निरखकर जब यह जानकर अरे यह तो रस्सी मालूम होती है तो और आगे बढ़ा। खूब उठा उठाकर देखा, ज्ञान हो गया कि यह रस्सी ही है। अब उस पुरुषसे कोई कहे कि हम तुमको १० हजार रुपया देते हैं, तुम जैसे पहिले व्याकुल हो रहे थे, घबड़ा रहे थे जरा वैसी ही फिर चेष्टा करना, तो ऐसा वह न कर सकेगा। हाँ भले ही लोभवश दिखावा में वह वैसी चेष्टा करे लेकिन अत' में न वह व्याकुलता है, न शका है, न डर है। ऐसे ही जिस ज्ञानी पुरुषने सुलक्षण पहिचानकर सबसे निराले चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव करले उस पुरुषको अब इन लौकिक बातोंमे भय नहीं होता। किसी भी लौकिक वैभवको देखकर उसके वह भ्रम नहीं है जो अज्ञानदशामे था। परपदार्थोंमे झुकने वाले बड़े-बड़े महाराजावोंने दयापात्रकर सन्तोषके, किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान— यह स्थिति दिखती है। यों भ्रम दूर हो गया ज्ञानीके तो आशा नहीं रही, अब वह प्रसन्न रहता है। साथ ही उसके यह श्रद्धा बन गयी है कि इच्छाएं करनेमे रखा क्या है, सार क्या है ? वहाँ भी सार नहीं है। यों परस्पर बन्धन है कि जब इच्छा की जाती है तब भोग नहीं रहते, जब भोग है तब उस जातिकी इच्छा नहीं रहती। बड़े-बड़े लोग जब कोई मनमे चाह उत्पन्न करते हैं वे चाहते है कि यह तुरन्त काम हो। छोटीछोटीसी बातमें मानलो किसीको इच्छा हुई कि हमें तो पापड खाना है तो कहता है कि हमें तुरन्त पापड़ बनाकर खिलावो। अरे तुरन्त कहाँ धरे हैं। कुछ तो समय लगता ही है। मामूलीसी बातमे भी जिसमे कुछ तत्त्व नहीं रखा है चाहते हैं कि जिस समय इच्छा हुई उसी समय पूर्ति हो, मगर स्वरूप तो देखिये, वास्तविकता देखिये—चक्रवर्ती तीर्थंकरके भी यह नहीं हो सकता है कि जिस समय इच्छा हुई उसी समय उस इच्छाकी पूर्ति हो जाय। थोडा सुननेमे कुछ कठिनसा लग रहा होगा कि ऐसे पुण्यवान चक्रवर्तीके भी यह बात नहीं होती कि जिस समय इच्छा हुई उसी समय उस इच्छाकी पूर्ति हो जाय। अरे यह तीर्थंकरोंने ही बताया है हम अपनी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु ऐसा होता है सो सुनिये। इच्छाका नाम है वेद्यभाव। हम आगमके शब्दपर कह रहे हैं और भोगका नाम है वेदकभाव। मान लो किसीको इच्छा हुई कि हमें २ हजार रु० का लाभ हो तो उसी समय दो हजार रु० धरे हैं क्या ?

अगर धरे हुए हैं ऐसा कोई सोचता है। मानो दो हजार मिल भी जाये तो उसी समय नहीं मिले जब कि दो हजार रुपयोंकी चाह हुई। इच्छाके समय इच्छाकी पूर्ति नहीं होती तब फिर ऐसी इच्छाका हम क्या करें ? जो इच्छा केवल सतानेका ही काम रखे, जिसका और कोई प्रयोजन नहीं, दुःखी करनेकी ही जिसकी वृत्ति है ऐसी इच्छाका हम क्या आदर करें ?

ज्ञानी पुरुषका चिन्तन एक अलौकिक चिन्तन होता है, जिसे लौकिक जन नहीं सोचते—उनकी चिन्ताएं और हैं, ज्ञानी पुरुषका चिन्तन और भाँति है। ज्ञानी पुरुषके साथ वर्तमानमे वैभव भी हो तो भी वह वैभवसे इतना हटा होता है श्रद्धामें, अन्तरङ्गमें जितना कि श्रद्धामे साधु हटा हुआ है। एक रागकी प्रेरणा है सो चारित्रमे नहीं उतर पाया है, पर श्रद्धामें ऐसा नहीं है कि गृहस्थ मानता हो कि घरवार सारा नहीं तो कुछ कुछ तो मेरा है, मेरे आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी परतत्त्व मेरा नहीं है ऐसा वार-वार सोचना चाहिए। इसी कारण वर्तमान परिग्रह मेरा परिग्रह नहीं। रागवश जितना बिगाड है वह रागका परिग्रह है, पर श्रद्धाका परिग्रह नहीं है, क्योंकि परिग्रह तीन प्रकारके होते हैं—अतीत, वर्तमान और भावी। अतीत तो गुजर ही गया, उसका क्या ममत्त्व करें ? भावी वर्तमानमें है ही नहीं, उसकी क्या आकांक्षा करें ? इतने लम्बे प्रोग्राम नहीं होते ज्ञानीके, और वर्तमान परिग्रहमें वह वियोगबुद्धि कर रहा है कि मैं इससे कव हट जाऊं, ऐसी निवृत्ति किया है तव समझ लीजिए कि सम्यक्त्वकी महिमा कितनी निर्लेपता, श्रद्धामें प्रकट हो जाती है। सारांश यह है कि हम आपका शरण तो आत्मा है, इसको हम परमात्माके स्मरणसे ही पुष्ट करते हैं। उस आत्माकी शरणमें जायें तो हम शान्त हो सकेंगे, मुक्त हो सकेंगे और परकी ओर लगे रहे तो जन्म मरणकी परम्परा है।

एतदेवैष एकं द्वे बहूनीति धियः पदम्।
नाहं यच्चात्मनात्मानं वेत्त्यात्मनि ब्रदस्म्यहम् ॥१५१४॥

जो किया हो उसके निर्णयपर हमारा सारा होनहार निर्भर है। हम आगे क्या बनेंगे, क्या करेंगे, क्या सहेंगे, किस स्थितिमे होंगे, यह सब बात केवल इसपर ही निर्भर है कि मैं अपने बारेमे अपनेको क्या समझ रहा हूँ ? अनादि से अव तक यह जीव अपनेको देहरूप समझता रहा। देहके ढगको निरखकर मैं काला हू, गोरा हूँ आदिक विकल्प करता है, देहके सस्थानको निरखकर मैं गोरा हूँ, लम्बा हू, मोटा हू—इस प्रकारकी प्रतीति रखता है और देहको ही निरखकर मैं पुरुष हूँ, नपु सक हूँ, स्त्री हूँ, इसी प्रकारकी प्रतीति रखता है। तो शरीरमें आत्माकी प्रतीति रखनेका फल है यह ससारका जाल वनते रहना। जन्म हो, मरण हो, सारे कष्ट उठाना ये सव वातें चलती रहती हैं। और जिस कालमें यह जीव अपने आपका ऐसा निर्णय रखता है कि मैं देहसे भी निराला, रागादिक भावोंसे भी निराला केवल ज्ञानमात्र आनन्दस्वरूपमे सद्भूत आत्मा हू। जव ऐसी दृष्टि करता है तो शरीर इसके ख्यालमें नहीं, वैभव इसके ध्यानमें नहीं, केवल एक विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा उपयोगमे रहता है ऐसी प्रतीति करने वाले जीव जन्म मरणकी शृंखलासे छूट जाते हैं। तो जैसे यह एक साधारण रूपसे नियम है तो विशेषरूपसे और भीतरी नियम है। जिन्हें एक अन्दाजसे समझा जा सकता है। कीडा, मकोडा, खटमल, विच्छू कितनी ही प्रकारके जीव पाये जाते हैं। ये भिन्न-भिन्न देह मिलनेके कारण कोई विशिष्ट परिणाम है। उन परिणामो को करके यह जीव भ्रमवश जन्म मरणके भारको ढोता चला आ रहा है। करना क्या है अव ? करना यह है कि अपने आपका जो सहजस्वरूप है, परके सम्वध विना अपने अस्तित्त्वके कारण अपने आपका जो स्वरूप है तन्मात्र अपने आपको प्रतीतिमे लेना यह काम पडा है। जगतमे ये सारे समागम ठाठवाठ जो प्राप्त हुए हैं ये कुछ भी शरणभूत नहीं हैं; शान्तिके कारणभूत नहीं हैं। प्रत्युत जगजाल भ्रमण करानेके कारण हैं। अपने आपको इस रूप मत समझिये। मैं सुखी हू, दु खी हू, गरीब हू, राजा हू, सुन्दर हू, कुरूप हूँ—ये सारे प्रत्यय समस्त विश्वास इस जीवके अनर्थके कारण हैं। मैं देहसे भी निराला केवल ज्ञानानन्दमात्र हूँ। मैं पुरुष

हूँ, स्त्री हूँ, नपुंसक हू इस रूप अपनेको अनुभव न करें। जब देह ही मैं नहीं हू। देहसे निराला एक चैतन्य-मात्र वस्तु हूँ तो फिर स्त्री कहाँसे? इस शरीरकृत सम्बधसे भी उपयोग हटाकर केवल ज्ञानस्वरूप अपनेको निरखें तो यही है धर्मपालन।

देखिये कुछ कल्याण बुद्धि जगी है, धर्मके लिए कुछ यत्न करना चाह रहे हैं ठीक है, मगर सही निर्णय करके सही ढगसे तो धर्मपालन करना कर्तव्य है। एक यह बात यदि प्रतीतिमे न आये तो धर्मपालन न होगा। चाहे कितना ही श्रम किया जाय। कौनसी बात? मैं देहादिक सर्वसे निराला केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ ऐसा दर्शन अनुभव र विश्वास अपनेको न हो सका तो धर्मपालन न होगा। यह मूलकी वात कही जा रही है। इसी प्रकार यह एक है, यह दो है, यह बहुत है ऐसी सख्याके विपयका स्थानभूत भी मैं नहीं हू। मैं एक चैतन्यस्वरूप हू। जिस स्वरूपसे हूं उस स्वरूपसे मैं जब निरखता हू तो मेरा कहीं कुछ नहीं है, मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा मात्र मैं हू। मैं परमे दृष्टि डालकर दुःखी होता हू। मै अपने ही द्वारा अपनेको अपनेसे जानने वाला हूँ। ऐसा मैं सुसम्वेद्य हू, अकेला हूँ। प्रत्येक पदार्थमे यह बात है कि पदार्थका जो परिणमन होगा वह उस पदार्थमे ही होगा, उस पदार्थसे बाहर न होगा। तो अब अपनी भी सुनिये। मैं आत्मा हू, जाननहार हू, यह जाननका जो काम है वह मेरे आत्मप्रदेशोंमे ही हुआ करता है बाहर न होगा। जिसे यह भ्रम है अथवा ख्याल है कि देखो मैं इस भींटको जानता हू, मैं इस पेडको जानता हू जो सामने खडा हुआ है, अरे जब मैं जाननहार आत्मा हूँ तो मेरे जाननेका काम मेरेमे होगा कि पेड़में या भींटमे होगा? लगता जरूर ऐसा है कि मैं वहाँ सीधे पेडको जान रहा हू, भींटको जान रहा हू पर जाननेका जो भी काम है वह जानने वालेमें हो रहा है, जाननेकी परिणतिसे हो रहा है, इससे बाहर नहीं हो रहा है, पर जानना एक ऐसा खासा काम है कि उसमे कुछ तो समझा जा रहा है। जो समझा जा रहा है उसे हम सीधा कह बैठते हैं। मैं पेड़को नहीं जानता, भींटको नहीं जानता, इतने मनुष्योंको मैं नहीं जानता, पुस्तक चौकी आदिकको नहीं जानता। मैं अपने आपको ही जान रहा हूँ। और मैं अपने आपको उस रूपसे जान रहा हूँ, उस ढगसे जान रहा हू, उस आकारसे जान रहा हू जिससे जाननेपर हमे यह समझ बैठती है कि यह पत्थर है, यह चौकी है, यह वृक्ष है। इसे एक दृष्टान्तसे यो समझिये कि जैसे एक दर्पण है और पीछे जो कुछ भी चीज है भींट, लड़के इत्यादि वे सब हमे दर्पणमे जाननेमे आ रहे हैं, मैं उनको सीधा नहीं जान रहा। देखता हू केवल दर्पणको और बताता हू उस सबको। वह भींट है, वह लडका है वह पेड है। जो जो कुछ भी बात कर रहा होगा वह सब बताते हैं और जान रहे हैं केवल दर्पणको ही, ऐसा भाव है ना, केवल दर्पणको ही देख-कर पीठ पीछेकी सारी बातोंको बताते रहते हैं। ऐसी ही बात अपने आत्माकी है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और उसमे ये सब कुछ पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, तो मैं इन प्रतिबिम्बित पदार्थोंको जान रहा हू, पर अपने आत्मामें इन सबका वर्णन करता रहता हू। यह भींट है, पेड है आदि।

अब सोचिये कि हमारा इन पदार्थोंमे जानने तकका भी ऐसा सम्बध नहीं है कि जो मैं उन पदार्थोंमें जाकर जानू। तब रागकी तो बात ही क्या कहें। लोग कहते हैं कि मेरा अमुकमें बडा राग है। अरे जो मैं करता हू, जो मेरा परिणमन है वह मुझमे ही रहेगा, मुझसे बाहर न रहेगा। एक यह सिद्धान्त है, हाथका जो परिणमन है वह हाथमे ही रहेगा, हाथसे बाहर न रहेगा। फोडा हो फुसी हो तो कहीं बाहर फोड़ा फुसी देखें। हाथमे जो कुछ बात है वह हाथमे रहेगी। जिस पदार्थमे जो कुछ बात है वह उस पदार्थमे रहेगी। आत्मामे यदि रागकी बात चल रही है, रागपरिणमन उठ रहा है तो वह आत्मामें ही रहेगा। यह कहना झूठ है कि मेरा राग इन बच्चोंमें है, मेरा राग इस वभवमे है, मेरा राग तो मेरे आत्मप्रदेशोंमे ही है, उससे बाहर राग नहीं है। हम कहते हैं कि इसम हमारा राग है, पर वस्तुत हमारा राग परपदार्थोंमे जा नहीं सकता। राग मेरा अपने प्रदेशोंमें ही रह जाता है। तब समझ लीजिए कि मेरा जगतसे क्या सम्बध है? मैं अपने आपमे ही बैठा हुआ कल्पनाए करके शेखचिल्ली बना करता हू। मैं तो सबसे निराला केवल

ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं। इसे दूसरा कोई नहीं जानता। व्यर्थका भ्रम न कीजिए कि मुझे जानने वाले इतने लोग हैं ये क्या कहेंगे ? अरे मुझे जानने वाला एक भी नहीं है। आप अपनेमे ऐसा सोचिये कि मुझे जानने वाला इतने लोकमे एक भी नहीं है। और यदि कोई जानने वाले मिल जायें तो मेरे जाननेमें मैं नहीं आया, चैतन्यस्वरूप आया जिसको सब जान जाते हैं। फिर किससे क्या चाहें ? अपने आपका ऐसा अनुभव करें कि मैं देहसे भी निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हू। इस अनुभवसे आपको मुक्तिका मार्ग मिलता है और बाह्य पदार्थोंको अपनानेसे ससारकी भटकना बनेगी। इस बातपर पहिले जोर दीजिए।

भैया ! अपने आपको समझिये वास्तविक रूपमे कि मैं क्या हू, क्योंकि धर्मपालन इस आत्मनिर्णयके ऊपर ही निर्भर है। धर्म किसमे किया जाय ? जब धमके आधारभूतका परिचय नहीं तो धर्म कहाँ किया जाय ? हमारे बाहरी जितने भी विभ्रम हैं वे सब इस निश्चय धर्मको प्राप्त करानेके लिए है। देवपूजा करते हैं तो देवका सही स्वरूप समझकर हम अपने आपमें अपने स्वरूपका अनुभव करना चाहते हैं। यदि कोई देवसे यों कहने लगे और यों श्रद्धा करने लगे कि हे देव ! मुझे आप सुखी करना, मेरा मुकद्मा जिताना, ऐसा कोई कहे तो उसने देवका स्वरूप नहीं जाना और न देवपूजा हुई। देवपूजा तो उस गुणस्मरणमे है जिस गुणस्मरणके होनेपर अपने आपके स्वरूपका भी स्पर्श होता जाता है। ऐसे ही गुरुवोंकी उपासना है। जैसे कोई किसी रिश्तेदार की सेवा करता है ऐसा केवल रिश्तेका या कुछ अपनी कुलपरम्पराको जानकर गुरु सेवा करे तो अभी धर्मका स्पर्श कराने वाली गुरुसेवा नहीं है। यह सम्यक्त्वके धारी, विशुद्ध निर्णय वाले, इस आत्माकी ही धुन बनाने वाले, ऐसे ये गुरु हैं, इन्हें आत्माकी धुन बनी हुई है, ऐसे विश्वास सहित गुरुवो की सेवा करे तो उसमे आत्माका भी स्पर्श होता जाता है और वही गुरुकी उपासना है। स्वाध्यायमे भी जो कुछ लिखा है वस्तुत बाचते चले जा रहे और ऐसा सतोष कर लिया जाता है कि हमने स्वाध्यायका नियम लिया, सो १०-१५ मिनट बैठ लें, हम अपनी प्रतिज्ञा निभा लें तो केवल प्रतिज्ञा निभा ल और वहाँ अपने आत्माका कुछ भी चिन्तन न बने तो समझिये कि अभी विधिपूर्वक स्वाध्याय नहीं है। जो बात ग्रन्थमे लिखी है उसे पढकर अपने आपमे घटायें, चाहे ४ लकीर ही पढा जाय, पर क्या कहा है इस वाक्यमे उसे अपनेपर घटाकर देखें तो इस विधिसे अपने आपमे अपना ज्ञानप्रकाश मिलता है और तब यह स्वाध्याय स्वका अध्ययन है। इसी प्रकार सयमकी बात है। बाहरमे अमुक चीज उठाना, अमुक प्रकारसे रहना यह नियम नहीं है, यह त्याग है, ठीक है, पर यह नियम यह त्याग ये सब कुछ बातें किस लिए की जा रही हैं ? एक अपने आप ज्ञानमात्र अनुभवने के लिए किया जा रहा है, ऐसा निर्णय नहीं होता, और मैं साधु हू त्यागी हू, मुझे तो ऐसा तप करना चाहिए, मुझे यों नियमसे रहना ही चाहिए यह तो विकल्प उठता है। इस विकल्पमे उपयोगको बसाये हैं तो वहाँ धर्मपालन नहीं हो सकता। जब तक आत्माके स्वभावका स्पर्श न हो, बोध न हो इसे दृष्टिमें न लिया जाय तब तक कितना भी तपश्चरण हो वह सम्यकविधि नहीं है। तभी तो लिखा है कि मुनिव्रतधार अनन्तवार ग्रैवक उपजावो। पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥ मुनिव्रत धार करके ग्रैवेयक तक अनेक बार उत्पन्न हुआ। देखिये स्वर्गोंसे ऊपर है ग्रैवेयक। ग्रैवेयकमे बहुत अच्छा सदाचारी तपस्वी साधु ही उत्पन्न हो सकता है। तो तपश्चरण तो किया, कषाय भी मद रखा, शत्रुको शत्रु नहीं समझा, इतना कठिन तपश्चरण भी किया, पर कौनसी बात ऐसी हो गई जिससे मोक्ष नहीं पा सके ? ग्रैवेयकमे गए तो वहाँसे आयु समाप्त कर फिर नीचे उतरना ही पडता है, कोई साधारण मनुष्य होना ही पडता है। कौन सी कमी रह गई ? वह कमी रह गयी अपने आपको एक चैतन्यमात्र प्रतीतिमे न लेना। लिया प्रतीतिमे कि यह मैं साधु हू। जैसे कोई सोचता कि यह मैं व्यापारी हू, मैं अमुक काय करता हू, इसी ढगसे इसने समझ लिया कि मैं साधु हू, त्यागी हू, मुनि हू, अपने आपको यों ही अनुभव कि मैं तो केवल चैतन्यमात्र हू, ज्ञानानन्दमात्र हू, पोजीशनसे नामवरीसे, देहके परिचयोंसे इन सब वातावरणोंसे निर्मल हू, ऐसा अपने आपका अमूर्त चैतन्यस्वरूपमात्र प्रतीतिमे नहीं लिया, जिसका फल यह हुआ कि मुनिपदधार अनन्तवार ग्रैवक उपजायो,

पर आतमके ज्ञान बिना शान्तिका लेश भी नहीं प्राप्त किया।

हम धर्म के लिए बहुत-बहुत श्रम भी करते हैं, पर वह मौलिक चीज, गाँठका वह दाम, गांठकी चीज मेरे पास है भी अथवा नहीं ? निर्णय तो करे। कोई सेठ किसी मिलमें गया और वहाँ से ५०-६० बोरा धान खरीद लिया और बेचकर लाभ उठाया। एक अज्ञानी सेठ उसके पीछे लग गया। सोचा कि आखिर देखें तो सही कि यह सेठ क्या करता है जिससे इतना धनी हो गया। उस पडोसीने धानके बोरे खरीदकर ले जाते हुए देखा था सो उसने भी वैसा ही किया। एक मिलमे धानोका छिलका पडा था जिसके अन्दर चावल न था, कुछ मिल ऐसे भी होते जिनमे धानमे से चावल निकल जाता, पर धानका छिलका साबुत बना रहता। तो उसने उसी रगकी चीज उसी भावमे ५०-६० बोरे भरवा लिया और ले जाकर बेचा तो टोटा आया। इससे यह जाने कि ज्ञान बिना सारे तपश्चरण व्यर्थ है। ज्ञानी पुरुषोंका भीतरमे क्या परिणाम रहता है, उनका क्या भाव रहता है—इस बातको तो कोई जाने नहीं और एक यों ही कि देखो इन साधु सतोने ऐसा भेष लिया था, ऐसा व्रत पाला था, ऐसा आहार करते थे, यों ही जानकर सारे काम करे, पर लौकिक बातोंका पता नहीं तो उन्हे वह फल नहीं प्राप्त हो पाता जो ज्ञानी साधुजनोंको प्राप्त होता है। एक गावके ४-५ बजाज घोडा लेकर कपडा खरीदनेके लिए गए। जब घरको लौट पड़े तो रास्तेमे रात हो गई। जाड़ेके दिन थे। रास्तेमे ही एक पेडके नीचे वे ठहर गए। इधर उधरसे बाड जरेठा आदि बीन-बानकर लाये, रातभर आग जलाकर खूब तापा। सबेरा होते ही अपने घर चले गए। इस बातको पेडपर बैठे हुए बन्दर देख रहे थे ? दूसरे दिन उन सब बदरोने परस्परमें सलाह की। सलाह यह हुई कि कल रात्रिको ४-५ मनुष्योंने आग-जलाकर खूब तापकर अपनी ठड मिटाया था। अपन भी तो वैसे ही हैं, अपन भी वैसा ही काम करें और अपनी ठड मिटायें। सो चारो तरफ सभी बदर दौड पड़े। इधर उधरसे बाड-जरेठा वगैरह लाकर पेडके नीचे इकट्ठा किया। बैठ गए सभी अपनी ठड मिटाने पर ठड न मिटी। उनमेसे एक बदर बोला कि अभी तो इसमे लाल-लाल चीज डाली ही नहीं। ठड कैसे मिटे ? तो वहाँ लाल-लाल खूब पटबीजना उड़ रहे थे सो उन्हे पकड़ पकडकर बाडमें झोकने लगे। इतनेपर भी ठंड न मिटी तो एक बदर बोला कि इस तरहसे हाथ-फैलाकर बैठो तो ठड मिटेगी। वे हाथ फैलाकर बैठ गए पर ठड न मिटी। फिर एक बन्दर बोला कि वे मनुष्य इसे यूं मुखसे फूंक रहे थे, अपन भी मुखसे फुके तो ठड मिटेगी। मुखसे फूका फिर भी ठड न मिटी। तो सारे उद्यम कर डाले पर ठड न मिटा सके। अरे ठड कैसे मिटे ? ठड मिटानेका कारण जो अग्नि है उसका तो परिज्ञान नहीं है। तो यो ही सही परिज्ञान हुए बिना कोई धर्म क्रियाए भी करे तो भी वे क्रियाए विडम्बनारूप बन जाती हैं। सर्वप्रयत्न करके एक अपने आत्मतत्त्वका परिज्ञान करें कि मैं क्या हूँ, यही एक अपना आवश्यक काम है। इससे अधिक आवश्यक और कोई भी काम नहीं है। तो ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है कि जब मैं देह ही नहीं तो पुरुष नपुंसक स्त्रीकी बात ही क्या ? सुभग कुरूप, सुख दुखकी बात ही क्या ? मैं तो केवल एक ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हू। इस ज्ञानानन्द स्वरूपका ही मै कर्ता एव भोक्ता हूं। अपने आपसे बाहर किसी भी तत्त्वका मैं कर्ता एव भोक्ता नहीं हू। अपना विशुद्ध चैतन्यस्वरूप विश्वासमें आये तो धर्मपालन होगा। अपने आपकी पकडके बिना, अनुभवके बिना धर्मपालन होता नहीं, इस कारण कष्ट तो इतना करते हैं, सब कुछ समय भी लगाते हैं पर एक मूल बात और उत्पन्न हुई कि मैं अपने आपके सही स्वरूपका अनुभव कर लूं कि मैं यह हू तो समझ लीजिए कि हमारा सारा प्रयास सफल हुआ।

यदबोधे यथा सुप्त योद्बोधे पुनरुत्थितम् ।
तद्रूपं मम प्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमहं किल ॥१५२५॥

जिसका ज्ञान नहीं हुआ तो मैं सोया हुआ हू और जिसका ज्ञान होनेपर मैं जग गया हू उस स्वरूपमय सुसम्वेद्य मैं आत्मतत्त्व हू। मैं चैतन्यमात्र हूँ इसकी सुध न हो तब मैं सोया हुआ हू। मैं अपनेको

नहीं पहिचान रहा हूं यही सोना कहलाता है। शान्तिके लिए मुझे क्या करना चाहिए, वह सब प्रकाश मेरेमें नहीं रहता। वह प्राणी जागा हुआ है जिसे अपने चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वकी सुध है। मैं आत्मा अपने आपके ज्ञानद्वारा प्रत्यक्ष हू। अपने आपके स्वरूपका दर्शन अपने आपको कठिन नहीं है। केवल आवश्यकता इस बातकी है कि यथार्थ पदार्थके स्वरूपकी समझ हो और समझ होनेपर समस्त परद्रव्योंसे उपेक्षाभाव आये, अपने आपके आत्माका दर्शन बहुत सुगम है, उसे कठिन न समझिये। जिस पुरुषका आत्मदर्शन हो गया उसने एक तिरनेका तीर्थ पा लिया। आत्मा तिर सकता है तो अपने आपके इस विशुद्ध चैतन्यतत्त्वके अवलम्बनसे तिर सकता है। इसको तिराने वाला न कोई बाहरमें क्षेत्र है, न कोई आत्मा है, न बाहरमें कोई अन्य पदार्थ है। हम बाहरमें जो अवलम्बन लेने की सोचते हैं तो बाहरमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो जिसका आलम्बन लेकर हम जब चाहे अपने आपका दर्शन कर सकें। यह आत्मा अष्टकर्मोंके बन्धनमें इतना विकट जकडा है कि इसको किसी भवमें चैन नहीं मिलती है। और विषयकषाय ऐसी तीव्रतासे जगत हैं कि यह अपने वश नहीं रहता। ऐसा हाल इस जीवका हो क्यों रहा है ? तत्त्व तो यों है कि जब कोई पदार्थ किसीका कुछ है ही नहीं, वास्तवमें सम्बध है ही नहीं फिर क्यों किसी पदार्थमें इतनी अनुरक्ति जग रही है ? जो अपनेको मिला, जो अपना बधु माना हो, जिससे अभिप्राय मिला वह तो अपना और बाकी दुनियाके जीव अपने नहीं हैं ऐसा जो द्वैतभाव हो गया है, चित्तमें ऐसी दुविधाकी बात जो बस गई है यह दुविधा की बात इस जीवको दुःख देने वाली है। जैसे स्वप्नमें जो कुछ दिखता है वह बडा परिचित मालूम होता है लेकिन परिचय वहाँ कुछ नहीं है, केवल कल्पना ही कल्पना है। जग जानेपर सब स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वह सब झूठ था। ऐसे ही अज्ञान दशामें इस जीवको ऐसा लगता है कि मेरा बडा परिचय है, मैं लोकमें कुछ हू, लोग मुझे जानते हैं, मैं लोगोंको जानता हू लेकिन ये सब बातें स्वप्नवत् हैं, असार हैं, असत्य हैं। ज्ञान होनेपर सत्यज्ञान होता है कि वह सब अज्ञानदशा थी। वास्तविकता तो यह है कि मेरा जो चैतन्य-स्वरूप है, मेरा जो शुद्ध आत्मतत्त्व है, यह मैं आत्मा अपने आपके द्वारा सम्वेदनके योग्य हू और यह स्वय ज्ञानानन्दमय है। किसी समय ऐसी हिम्मत बन तो पाये कि सब परद्रव्योंकी उपेक्षा करके, चित्तको अत्यन्त शान्त करके अपने आपमें विराजमान इस चैतन्यस्वरूपके दर्शन करके जरा अपने आपका अनुभव कर तो लें सब झंझट मिट जाते हैं। देखिये यह निर्णय अकाट्य होना चाहिए कि मेरा भला मेरे शुद्ध आत्मस्वरूपके दर्शनमें होगा। अब न बन सका, न सही। बनेगा, कभी बनेगा, पर निर्णय तो यही रहना चाहिए कि मेरा भला मेरे विशुद्ध स्वरूपके दर्शनसे, अनुभवसे होगा, इन समागमोंसे न होगा। तो जिस चैतन्यस्वरूपके न जाननेपर मैं विकारी हू, बेहोश हूँ सोया हुआ हू, न कुछ हू और जिस चैतन्यस्वरूपके दर्शन होनेपर मैं सफल हू, सही हूँ, सचेतन हू, झंझटोंसे मुक्त और आनन्दस्वरूपी हू। वह मैं चैतन्यस्वरूपी हू और वह मेरे द्वारा ही सम्वेदनके योग्य है। भला अपनी जेबमें कोई चीज रखी हो तो उसे बडी सुभव्यतासे जेबसे झट निकाल कर उसके दर्शन कर लेते हैं, देख लेते हैं, यह है चीज। और जो खुद ही है उसको अगर हम ज्ञाननेत्रसे अन्त देखे तो उससे भी स्पष्ट मेरा आत्मा दिख जाय, अनुभवमें आ जाय इसमें कौनसे संदेहकी बात है, इसप्रकार विचार करें मैं सबसे निराला, विशुद्ध चैतन्यज्योतिमात्र हूँ।

ज्योतिर्मय ममात्मान पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी।
क्षय रागादयस्तेन नारि: कोऽपि प्रियो न मे ॥१५२६॥

फिर यह विचार करें कि मैं अपनेको ज्योतिर्मय ज्ञानप्रकाशमात्र, विशुद्ध ज्ञानमात्र देख रहा हू ऐसा चिन्तन करें और ऐसा यत्न करें कि बाहरमें न तो नेत्रदृष्टि लगायें और न ज्ञानदृष्टि लगायें, अपने आपके अन्दरमें जो कुछ सहज भाव है उसका आलम्बन लेकर विचार करें मैं तो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र हू। मैं इस आत्मामें, इस सहजस्वरूपमें जो कि निरखा गया ज्ञानसे उसमें रागादिक रूप स्वभावत नहीं हैं, ये रागा-

ढिक क्षयको प्राप्त हों। जैसे समुद्रमे लहर उठी हो तो ज्ञानमे आ रहा है कि यह लहर उठ रही है और जब हवाका निमित्त न रहे और समुद्र शान्त हो जाय, तरंगरहित हो जाय तो आपसे यह पूछें कि लहर कहाँ गयी ? कोई तो उत्तर देगा कि लहर नष्ट हो गयी, और कोई उत्तर देगा कि लहर समुद्रमें मग्न हो गयी। यदि लहर नष्ट हो गई तो कहाँ नष्ट हो गई ? कहाँ बाहर चली गई ? और लहर समुद्रमें मग्न हो गयी तो समुद्रमे घुसकर देखो कहाँ पडी है ? वह लहर न समुद्रमे दिखेगी और न वह लहर समुद्रसे कहीं बाहर गई किन्तु उस समय तरगसहित अवस्थारूप पर्याय अब समुद्रकी निष्तरंग पर्यायमे बदल गयी। न तो बाहर जाकर नष्ट हुई और न भीतर जाकर वह लहर कहीं छिप गई। पर्याय एक होती है एक समयमे। तब थी तरग सहित पर्याय और अब रह गयी निष्तरग पर्याय। इसी प्रकार राग है आत्माकी तरग। जब राग भाव उठ रहा है तो आत्मा की तरग सहित परिणति हो रही है और जब रागभाव नही रहा तो राग होने ही क्षयको प्राप्त हो गयी अर्थात् अब सराग परिणति रागरहित परिणतिमें परिवर्तित हो गयी।

अदृष्टमत्स्वरूपोऽयं जनो नारिर्न मे प्रियः।

साक्षात्सुदृष्टरूपोऽपि जनो नारिः सुहृन्न मे ॥१५२७॥

ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि जगतमें न तो मेरा कोई शत्रु है और न कोई मित्र है, क्योंकि दूसरे ये लोग जिनमे शत्रु और मित्रकी कल्पनाएं की जा रही हैं उन लोगों ने मेरे स्वरूपको देखा है या नहीं। मेरा जो सहज चैतन्यस्वरूप है वह स्वरूप उन्हें ज्ञात हुआ है या नहीं। यदि यह स्वरूप उन्हें ज्ञात हुआ है तो वह मेरा मित्र और मेरा दुश्मन नहीं रह सकता, क्योंकि मेरा स्वरूप ज्ञात होते ही वह विशुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहेगा, मेरा शत्रु और मित्र न रह सकेगा। और यदि उन्होने मेरा स्वरूप नहीं जाना है तो जिसे जाना ही नहीं है वह मेरा शत्रु कैसे, मेरा मित्र कैसे ? इस जगतमे कोई भी जीव न मेरा मित्र है और न मेरा शत्रु है।

अतः प्रभृति निःशेषं पूर्वं पूर्वं विचेष्टितम्।

ममाद्यज्ञाततत्त्वस्य भाति स्वप्नेन्द्रजालवत् ॥१५२८॥

यहाँ से लेकर अथवा अबसे लेकर तत्त्वस्वरूपके जाननेसे पहिले मैंने जो जो चेष्टाएं कीं, अब स्वरूप जाननेके बाद उसे अब वे सब चेष्टाएं इन्द्रजालकी तरह असार प्रतिभात होती हैं। इतना तो अपने जीवनमें भी सब देख सकते हैं कि बचपनमे जो जो कार्य किया, जैसे जैसे रहे वे सब असार लग रही हैं। जवानीमे जो जो चेष्टाएं कीं वे सब चेष्टाएं अब असार जच रही हैं, इतना तो अब भी अपने आपको विदित होता है, फिर ज्ञान जग जानेपर यदि वह अज्ञानकी दशा जिस किसीसे भी मोह बढाते, जिस किसीसे भी स्नेह लगाते, जिस किसीको भी हृदयमे बसाते ये सब असार मालूम होती हैं कि वे सब चेष्टाएं हमारी अज्ञानदशा में थीं। जसे किसीने अपनी भूलभरी बातें पहिले कीं, भूल गलती होनेपर ऐसी जचती है कि परपदार्थोमे यह मैं हू, यह मेरा है, ऐसा भ्रम होनेपर जो चेष्टाएं इसे कुछ सार-सी जच रही हैं, अब भ्रमके मिट जानेपर वे सब चेष्टाएं असारवत प्रतीत हो रही हैं। कोई गल्ती हो जाय तो सही दिमाग बननेपर जैसी गल्ती एक मैं किसी अज्ञानसे कर गया, मैं किसी बेहोशीमे कर गया ऐसा प्रतीत होता है, ऐसे ही भ्रममे जो-जो मैंने चेष्टाएं कीं, वे सब चेष्टाएं इसे असार जच रही हैं। ये किस अज्ञानमे हो गई ? वह सब अविद्याका प्रताप है, इसे यह सब असार जचता है।

यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परं ज्योति सनातनः।

सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम् ॥१५२९॥

निर्मल है और प्रसिद्ध है आत्मस्वरूप जिसका, ऐसा परमज्योति सनातन जो सुननेमें आता है ऐसा मैं आत्मा हूँ, इस कारण मैं अपनेमे ही अविनाशी परमात्मस्वरूपको देखता हू। क्या हूँ, जरा सम्मुख

होनेका और विमुख होनेका इतना बडा भारी अन्तर होता है कि एक ओर तो रहती है शान्ति और एक ओर रहती है अशान्ति। यह जीव अब तक बाह्य पदार्थोंकी ओर ही रहा। पञ्चेन्द्रियके विषयभूत स्पर्श रस गंध रूप शब्द इनकी ओर ही उपयोग रहा और इसी कारण इसके बडी वेगकी तृष्णा उत्पन्न हुई और उस तृष्णा के वेगमें यह अपने आपको सम्हाल न सका और बेचैन रहा। इस जीवने अब तक भी अपने आपमें बसे हुए एकत्व विभक्त समयसार विशुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दमात्र अपने आपको नहीं देखा, इसीके कारण यह अब तक बेचैन रहा। लेकिन यह समय बड़े चेतनेका है। मनुष्य जन्म पाया, श्रावककुल पाया, इतना धार्मिक वातावरण पाया, बड़े-बडे तत्त्वकी बात जो ग्रन्थोंमें भरी हुई है उनके सुनने, जानने और निर्णय करनेकी शक्ति पायी, इससे बढकर और समागम क्या हो सकता है? इस भवका जैन शासन कितना उत्कृष्ट है लेकिन इस उत्कृष्ट साधनको भी इन्हीं विषयोंमें खो दिया जाता। इससे बडी गल्ती और क्या हो सकती है? मैं विशुद्धपरम ज्योतिर्मय आत्मतत्त्व हूं यों यत्न करें और अपने आपमें इस परमात्मस्वरूपको देखें।

बाह्यात्मानमपि त्यक्त्वा प्रसन्नेनान्तरात्मना।
विधूतकल्पनाजालं परमात्मानमामनेत् ॥१५३०॥

फिर बाह्य आत्माको भी छोडकर प्रसन्नरूप अन्तरात्माके द्वारा मिटे हैं कल्पनाजाल जिसके, ऐसे परमात्माको अपने आपमें देखें। आत्मामें अन्तरात्मा और बाह्य आत्मा—इन दो स्वरूपोंका जिकर किया है। बाह्य आत्मा तो है कल्पनाजाल। जो आत्माका सहजस्वरूप है, शरीरादिकका सम्बंध है, रागादिक भावका सम्पर्क है वह तो है बाह्यआत्मा और अन्त जो चैतन्तस्वरूप है वह है अन्त आत्मा। तो बाह्यआत्मको तो छोडें, बहिरात्माका त्याग करें। बाह्यमें यह मैं आत्मा हूँ -इस प्रकारकी कल्पनाओंका त्याग करें और अन्दरमें अपने आपके चैतन्यमात्र आत्मस्वरूपको देखें। एक यह शिक्षा दी है। जैसे किसी घोरखधंधेमें कोई छल्ला वगैरह छुटाना है तो छुटानेका सुगम काम है, वह फस गया है उसे छुटाना है ऐसे ही अपने आपको इस बाह्यस्वरूपसे छूटनेका है तो सुगम काम लेकिन बंधनमें, विडम्बनाओंमें यह फस गया है। जो आत्माका बाह्यस्वरूप है उस बाह्यस्वरूपमें यह फस गया है, इसी कारण अपने अन्त आत्माको प्रसन्न नहीं कर सका। और जब अपने अन्त आत्माको प्रसन्न न कर सका तो परमात्माका अभ्यास क्या कर सकता? यह उपयोग जैसे यह बाहर बाहर डोल रहा है, बाहरका डोलना छूटे और अपने आपमें उपयोग समाया देख करके ऐसी स्थिति बने तो परमात्माका दर्शन नियमसे होगा। परमात्मदर्शनमें बाधक है अहकारभाव। शरीर आदिकको मानना कि यह मैं हूँ ऐसी मान्यतासे ही इस परमात्माका दर्शन रुका हुआ है। लोग अहकारको घमड भी कहते और नाक भी कहते। यह अपनी बडी नाक बना रहा है। तो अहकारकी ओटमें परमात्माका दर्शन नहीं होता। एक गाँवमें एक पुरुष नकटा था तो लोग उसे बहुत चिढायें, नकटा नकटा कहा करें। वह बहुत घबड़ाया, बडा दुःखी हुआ। आखिर उसे एक उपाय मिला। जब किसीने कहा ऐ नकटा! तो वह बोला कि तुम्हें क्या पता कि नकटा होनेमें क्या लाभ है? जब तक मेरे नाक थी तब तक परमात्माका भगवानका हमें दर्शन न हो पाता था। जबसे मेरी नाक कट गयी तबसे मुझे साक्षात् भगवानके दर्शन हो रहे हैं। तो उसे बडी अच्छी बात लगी। कहा भाई हमारी भी नाक काट दो ताकि हम भी भगवानके साक्षात् दर्शन किया करें। तो उसकी नाक काट ली। अब वह ऊपर देखता है कि हमें कहीं भगवान नहीं दिखते। तो वह नकटा बोला कि अरे भाई, तुम्हारी तो नाक कट गई। अब तो तुम दुनियाको यही बतलावो कि हमें साक्षात् भगवानके दर्शन हो रहे हैं। जब तक नाक थी तब तक दर्शन न था। तुम भी दूसरेकी नाक काटो। उसने भी नाक काटना शुरू किया। सबको सिखा दिया कि तुम दूसरेको भी बतावो कि हमें साक्षात् भगवानके दर्शन होते हैं। यों सारे गाँवकी नाक कट गई। राजसभामें सभी लोग बैठे। राजा सोचता है कि सभी लोग तो कितना सुन्दर जच रहे हैं, मेरे यह क्या ऊचीसी लग रही है? सबने कहा – महाराज! जबसे हमारी

नाक कटी तबसे हमे भगवानके साक्षात् दर्शन हो रहे हैं। यदि आप भी भगवानके साक्षात् दर्शन करना चाहें तो आप भी अपनी नाक कटा दें। तो राजा बोला—अच्छा हमारी भी नाक काट दो। तो और लोगोंने कुछ नहीं कहा, पर पुराना नकटा एकान्तमे बुलाकर कहता है महाराज आप नाक न कटावो, लोग मुझे नकटा कह कहकर चिढ़ाते थे सो हमने यह जाल रचा जिससे सभी लोग नकटा हुए। कहीं नाक कटाने से भगवानके दर्शन नहीं होते। तो परपदार्थोंमे अहबुद्धि न जगे, आत्माका जो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है उसमें ही 'यह मैं आत्मा हू' ऐसी आत्मबुद्धि जगे तो नियमसे उस परमात्मतत्त्वके दर्शन होगे। और अपने आपमे विराजमान सनातन विशुद्ध परमात्मतत्त्वके दर्शन हुए तो समझलो कि हमारी ससारकी सारी फासी कट गयी। सब झझटोसे हम छूट गए। अपने आपमे बसे हुए परमात्मतत्त्वके दर्शनसे ही हमे सहारा है, वही वास्तवमे शरण है, उसमे ही हमारा कल्याण है, अन्य-अन्य पदार्थोंकी दृष्टिसे हमारा कल्याण नहीं है।

बन्धमोक्षावुभावेतौ भ्रमेतरनिबन्धनौ।
बन्धश्च परसंबंधाद् भेदाभ्यासात्ततः शिवम् ॥१५३१॥

बध और मोक्ष दो तत्त्व हैं। स्वद्रव्य मायने आत्मा और परद्रव्य मायने देहादिक पौद्गलिक।—इन दोनोंका एक मानना यही तो है बन्ध और स्व और परमे भ्रम न रहे, भिन्न-भिन्न ज्ञानसे आये कि आत्मा तो यह है, शेष सब कुछ पर है यों भ्रम समाप्त होनेसे मोक्ष होता है। सीधा साराश यह है कि जब तक परके साथ सम्बध बना रहेगा तब तक तो बन्ध है, कर्मबन्धन है, और जब भेदमे अभ्यास कर लेगा—यह भिन्न है, यह मैं आत्मतत्त्व जुदा हूँ—इस प्रकार भेदका अभ्यास करेगे तो उससे मोक्ष होता है।

अलौकिकमहो वृत्त ज्ञानिन. केन वर्ण्यते।
अज्ञानी बध्यते यत्र ज्ञानी तत्रैव मुच्यते ॥१५३२॥

कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषका बहुत अलोकिक चारित्र है। जिसका कौन वर्णन कर सकता है? जिस आचरणमें अज्ञानी कर्मोंसे बध जाता है उसी आचरणमें ज्ञानी बधसे छूट जाता है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है। जैसे भोग और उपभोगमे अज्ञानीको ममता है तो भोग और उपभोग करता हुआ यह अज्ञानी जीव बंध जाता है और ज्ञानीको भोग और उपभोगसे अरुचि है, वैराग्य है, चाहता नहीं है सो कदाचित भोगोपभोग आ जायें तो उसमे पूर्वकृत कर्म खिरते हैं, नवीन कर्म नहीं बधते हैं। चेष्टा एकसी है पर ज्ञानी पुरुष कर्मोंसे नहीं बधता है और अज्ञानी पुरुष कर्मोंसे बध जाता है। ज्ञानीने अपने आपका अनुभव किया है जिस अनुभवके प्रसादसे ज्ञानी जीव जागरूक रहता है, अपनेमे सावधान रहता है और कर्मोंसे नहीं बधता। यह सब सम्यक्त्वका प्रताप है। सम्यग्दर्शनके होनेपर सारा प्रोग्राम अलौकिक हो जाता है।

यज्जन्मगहने खिन्न प्राङ्मया दुःखसंकुले।
तदात्मेतरयोर्नूनमभेदेनावबोधतः ॥१५३३॥

ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि मैं दुखसे भरे हुए इस ससाररूपी भयकर बनमे जो खेद-खिन्न हो सो आत्मा और अनात्माका भेद न होनेके कारण दुखी होता हू। अब तक भी जितने क्लेश भोगे जा रहे हैं तो स्व और परका भेदविज्ञान न होनेसे भोगे जा रहे हैं। दुख और कोई चीज नहीं है। बस वस्तुस्वरूपके विपरीत चलते हैं और उन कल्पनाओंमे यह जीव चाहता है कि मैं परद्रव्यका अमुक प्रकारसे कुछ परिणमन करदू, पर वह परद्रव्य उसकी इच्छानुकूल परिणमन नहीं करता है। वह तो उसमे जैसा स्वभाव हुआ वैसा परिणमन करता है। इच्छानुकूल परिणमन न होनेसे यह जीव क्लेश मानता है। हाय! ऐसा क्यों न हुआ, इतना ही मात्र दुखका मर्म है।

मयि सत्यपि विज्ञानप्रदीपे विश्वदर्शिनि ।
किं निमज्जत्ययं लोको वराको जन्मकर्दमे ॥१५३४॥

मुझमें सूक्ष्मरूपसे दिखने वाले ज्ञानस्वरूप दीपकके होते हुए एक यह दीनवत संसाररूपी कीचड मे क्यों डूब रहा है ? ज्ञानीका यह चिन्तन है कि मेरा स्वरूप ऐसा है कि मैं सारे लोकालोकको स्पष्ट जान लूं। यों कहो कि जो भगवानका स्पष्ट है वही मेरा स्वरूप है। ऐसा महान स्वरूपवाला होकर भी मैं क्यों संसारके परद्रव्योंकी ओर खिंचा जा रहा हू ? यह बडी विपदाकी बात है। अरे अपने आत्माकी ओर क्यों नहीं देखते ? अपने आत्माकी ओर देख लिया तो फिर ससारकीचडमे न रुलेगा। सबसे निराला केवल ज्ञानप्रकाशमात्र, जिसके रच भी रागादिक दोप नहीं हैं ऐसा जो अपने आत्माका शुद्ध ज्ञानप्रकाश है उस ज्ञानप्रकाशको क्यों नहीं देखते हो ? उस ज्ञानमात्र आत्मामे क्यो लीन नहीं होता, ऐसा ज्ञानी पुरुष एक चिन्तन कर रहा है।

आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवानुभूयते ।
अतोऽन्यत्रैव मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यं निष्फलः ॥१५३५॥

यह आत्मा आत्माके द्वारा आत्मामे स्वय ही अनुभव किया जाता है। इसके बाहर जो आत्माके जाननेका खेद नहीं है वह सफल बात नहीं है। आत्मा कुछ न कुछ अनुभव करता रहता है। इसका परिणमन अनुभवके साथ है क्योंकि चेतना है ना तो यह निरन्तर कुछ न कुछ अनुभवता है, तो उस अनुभवमे कोई बाहरी पदार्थ नहीं अनुभवा जाता है। बात तो यह इतनी है, पर कल्पनामे जो यह मान रखा है कि मैं यह बाहरमें सब कुछ देख रहा हू, सब कुछ जान रहा हूँ, यो बाहर आत्माके जाननेका जो खेद है वह बिल्कुल निष्फल कार्य है, क्योंकि उससे कोई सिद्धि नहीं है। भ्रमरूप अपनी कल्पना बनाए तो उससे आत्माको न मोक्षमार्ग मिलता और न वर्तमानमे ही कोई शान्ति मिलती है।

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम् ।
वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥१५३६॥

तो जैसा अपने आत्माके बारेमे अभी तक कहा जा चुका है—मैं सबसे निराला हू, केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ, ज्ञानानन्दमात्र हू, चेतना स्वरूप जिसका प्रकाश है ऐसा मैं अलौकिक प्रकाशमय पदार्थ हू जैसा जो कुछ अभी वर्णन किया है उसमें जो निरखा है वही मैं हू, वही मैं हू, इस प्रकारका अभ्यास करें। मैं क्या हू ? इसके निर्णयपर सारा भविष्य निर्भर है। सो जब जैसा है यह मैं उस ही प्रकार अनुभवा तो यह पुरुष उस भावनाको दृढ करता हुआ अपने आत्मामें अपनेको अवस्थित करता है अर्थात् ठहरा लेता है। आत्मा आत्मामें ठहर जाय यही तो मोक्षका मार्ग है, यही शान्तिकी बात है। ये व्यर्थमे अज्ञानी जन बाह्यपदार्थोंमें कल्पनासे ठहरे रहते हैं। ठहरता कोई नहीं बाहरी पदार्थमे। जैसे घर-बारको कोई अपना माने तो क्या वह अपना हो जाता है ? वह अपना मान भर रहा है। और न माने तो अपना नहीं, 'माने तो अपना नहीं' अब माननेमे चूंकि मिथ्या बात मानेगा इसलिए क्लेश होगा और न माने तो क्लेश न होगा। चीज जहाँ की तहाँ पडी है। चीज न अपनेको मिले और न अपनेसे कई हाथ दूर हो जाय। चीज है, वह मेरेसे अत्यन्त भिन्न है। मैं अपने स्वरूपमे हू, बाह्यपदार्थ अपने स्वरूपसे हैं और बराबर पड़े हैं। और जो अपनाता है कि यह मेरा है उसको क्लेश होता है,*जो अपनाता नहीं है उसको क्लेश नहीं होता है।

स्याद्यद्यत्प्रीतयेऽज्ञस्य तत्तदेवापदास्पदम् ।
बिभेत्ययं पुनर्यस्मिस्तदेवानन्दमन्दिरम् ॥१५३७॥

देखो अज्ञानी पुरुष जिन-जिन विषयोंसे प्रीति करते है, जिन-जिन विषयोंमे प्रेम करते हैं वे सब बातें इसके अनर्थके कारण हैं, वे सब आपत्तिके साधन हैं, लेकिन ये अज्ञानी जीव जिस बातमे भय करते हैं; ज्ञानमे, तपश्चरणमें, वैराग्यमे भय करते है वही वास्तवमे आनन्दका निवास है। जो अज्ञानी पुरुष हैं वे अच्छेको बुरे रूपमे देखते हैं और बुरेको अच्छेके रूपमें देखते हैं। अब स्वय ही अनुभव करले कि इन समागमोंमे, विषयोंमे चेतन कुटुम्ब परिवार आदिकमे अचेतन वैभव आदिकमे प्रीति करते थे पर कही तृप्ति हुई है अथवा कहीं भय मिटा है? इन बाह्यपदार्थोमे प्रीति करनेसे न अब तक भय मिट सका और न तृप्ति हुई। खूब देख लो ज्योंके त्यों रीते हैं। क्या करना चाहिए, ये सब बाते सामने अब तक भी पडी हुई हैं। क्यो कि तृप्तिका साधन तो बाह्यपदार्थ है ही नहीं। बाह्यपदार्थोंसे सन्तोष हो ही नहीं सकता। सतोषका साधन तो आत्मतत्त्व है, स्वय है। स्वयकी रुचि हो, प्रीति हो तो आत्माको तृप्ति मिलेगी, पर अज्ञानी जीवकी उस ओर कहाँ दृष्टि जाती है? वह तो भ्रमसे विपरीत तत्त्व मानता है। अज्ञानीको, अज्ञानके कारण सब उल्टा ही भासता है।

सुसंवृतेन्द्रियग्रामे प्रसन्ने चान्तरात्मनि।
क्षणं स्फुरति यत्तत्त्वं तद्रूपं परमेष्ठिनः ॥१५३८॥

भली प्रकार इन्द्रिय समूहोंको जिसने वशमे कर रखा है ऐसा जो कोई प्रसन्न अन्तरात्मा पुरुष है उसमें ही जो एक क्षण स्थिर होकर जो तत्त्व स्फुरायमान होता है वह तो परमेष्ठीका स्वरूप है। क्या भला है, कौन तत्त्व शरण है, कौन चीज मगल है, हमारे दुःखोंको छुटानेमे कौनसा प्रकाश समर्थ है, वह कैसे अनुभवा जाता है? उसकी विधि इस श्लोकमें कही है। पहिले तो इन्द्रिय समूहोका सम्वरण किया जाय। ये इन्द्रिया जो कुछ चाहती है उनकी इस चाहको रोकिये। ईन्द्रियोंको वशमे करिये अर्थात् चाहको रोकिये। किसी भी प्रकारके विषयोंकी चाह है यों तो इन्द्रियोंको सम्हाला गया तब हुआ यह आत्मपरिणमन और परके मलसे रहित होकर निर्मल हुआ ऐसी अन्तरात्मामे, ऐसी निर्मलता रहने हुए, ऐसी निर्दोषता रहनेपर क्षणभरमे जो कुछ एक अनुभव होता है बस वही आत्माका सहजस्वरूप है, सत्यस्वरूप है। उस स्वरूपका अनुभव जिसे हुआ वह तो ससारसे तिर गया और जिसे अपने स्वरूपका अनुभव नहीं जगा वह बाह्यपदार्थों में ही रमता रहा बच्चोंकी तरह। जैसे बालक खेल-खेलमे रमते रहते है इसी प्रकार ये जीव रूप, रस, गंध, स्पर्शमें रमते रहते हैं। तत्त्व कहीं प्राप्त नहीं होता। तृप्तिका आधारभूत अथवा आनन्दका परमधाम तो यह सहज चैतन्यपदार्थ है केवल ज्ञानप्रकाश। पक्ष न होवे, रागद्वेप न उपजे, मात्र चैतन्यचमत्कार हो, वही वास्तविक शरण है और वही परमोत्कृष्ट पद है।

यः सिद्धात्मा परः सोऽहं योऽहं स परमेश्वरः।
मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन न चाप्यहम् ॥१५३९॥

ज्ञानी पुरुष विचार कर रहा है कि जो सिद्ध परमात्मा है, जो उत्कृष्ट परमात्मा है, परमेश्वर है वही तो मेरा रूप है, वही मैं हूँ। मेरा मेरे सिवाय अन्य कोई उपासनाके योग्य नहीं है। देखिये—अरहत भगवानने ऐसा यथार्थ निर्णय किया तो किसमे किया? इस ज्ञानमय स्वयमे किया। अरहत निर्दोप है, सर्वज्ञ है, परमपूज्य है, ये सब वातें निर्णयमें जो आ रही है वही तो ज्ञान अरहत है। हम जब गुणोंको, प्रभुकी उस विशुद्धताको अपने उपयोगमे लेते है तो आनन्दविभोर हो जाते हैं क्योंकि मेरा स्वरूप, सिद्धप्रभुका स्वरूप एक समान है। तो जब इस विशुद्ध स्वरूपका विशुद्ध स्मरण होता है तो परमात्माका उसमें स्मरण होता है और जब परमात्माके स्वरूपका यथार्थ स्मरण होता है तो वही आत्माका स्मरण है। कहाँ है भेद मुझमे और प्रभुमे? पर बीचमे इतना कठिन पर्दा डाल रखा है कि भेद पड गया है, लेकिन मुझमे और परमात्मामे भेद नहीं है। अर्थात् जब स्वरूपदृष्टि करते है तो जैसा चैतन्यस्वरूप मैं हू वैसा ही चैतन्यस्वरूप

परमात्मतत्त्व है। मुक्तमें और परमात्मस्वरूपमें अन्तर नहीं है। इसी प्रकार जो निरखता है वह ज्ञानी पुरुष है। और जो अपनेको अन्य-अन्य रूप देखता है वह अज्ञानी है। ज्ञानीको तो ससारसे छुटकारा है और अज्ञानीको ससारके क्लेश हैं। है कुछ नहीं वाहरकी चीज अपनी, वस ज्ञान और अज्ञानका सारा अन्तर है। चीज तो जहाँ है सो है। जब मनुष्य मर जाता तो कौनसी चीज साथ ले जाता है? जो है जहा है सो है। अज्ञानी जीव परवस्तुवोंको अपनी मानता है और उनके विछोहके समय क्लेश मानता है और ज्ञानी-पुरुष अपनी शुद्ध प्रतीतिके वलसे अपने आपमें प्रसन्न रहा करता है।

आकृष्य गोचरव्याघ्रमुखादात्मानमात्मना।
स्वस्मिन्नेव स्थिरीभूतश्चिदानन्दमये स्वयम् ॥१५४०॥

ज्ञानी पुरुष ऐसी भावना करता है कि मैं अपने आत्माको इन्द्रियके विषयरूपी व्याघ्रमें मुखको काढ़कर आत्माके द्वारा ही मैं चिदानन्दमय अपने आत्मामे स्थिररूप होता हू ऐसा देखकर चैतन्य और आनन्द में लीन होना चाहिए। अपना आत्मा इन्द्रियके विषयके व्याघ्रके मुखमे फसा हुआ वरबाद हो रहा है। जब इन्द्रियके कहनेमें अपन लग जाते हैं, इन्द्रिया जो चाहती हैं उस प्रकार अपन उसकी चाहकी पूर्तिमे लग जाते हैं तब तो यों समझिये कि मैं ऐसा असहाय हूँ। जैसे व्याघ्रके मुखमें पडा हुआ कोई मनुष्य असहाय है तो यों मैं आत्मा अनादिसे अब तक एकेन्द्रियके विषयरूपी व्याघ्रके मुखमें फसा हुआ था। अब वहाँसे अपनेको निकालकर मैं चिदानन्दस्वरूप अपने आत्मामें स्थिर हुआ हूँ। केवल एक शुद्ध दृष्टि रखें, वाहरी दृष्टि मोडें तो वहाँ केवल क्लेश ही होगा और अपने आपकी ओर दृष्टि दें तो वहाँ इसे शान्ति प्राप्त हुई। मैं अपने को यथार्थ अपने ही द्वारा तो अनुभव सकता हू सो मेरा शरण मेरेमें है और उस अपने उपयोगको मैं प्राप्त कर सकता हूँ। मैं चैतन्यमात्र हू—ऐसा विशिष्ट बारबार अनुभव होता हुआ प्रयत्न कर करके वह सब प्रकाश जो मोक्षका कारणभूत है, अनुभवमे आ जाता है। करें तो उपेक्षा। वैराग्य रखें तो वाह्य वस्तुवोंसे, लेकिन वाह्य वस्तुवोंमे यह जीव ऐसा उपयोगी हो रहा है कि जिन्हें मानता कि ये ही मेरे सब कुछ है। सो इस ज्ञानीने उस व्याघ्रके मुखसे अपनेको खींच लिया अर्थात् इन्द्रियके विषयोंमें फसनेसे अपनेको हटा लिया। तब वह निरख रहा है कि अहो! यह मैं आत्मा स्वय आनन्दस्वरूप हूँ। वाहरसे कहाँ आनन्द लेना है? वाहरसे आनन्द आता ही नहीं, किन्तु लोग एक भ्रम कर लेते हैं कि मुझे वाहरसे मेरा सब कुछ प्राप्त हुआ। सो ज्ञानी पुरुषोंको उपदेश दिया है आचार्योंने कि उस चैतन्य और आनन्दस्वरूपमे लीन होवें और उसके उपायमे यह भेदविज्ञान उनके वर्तता रहे।

पृथगित्थं न मा वेत्ति यस्तनोर्वीतविभ्रमः।
कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं न स मुच्येत बन्धनैः ॥१५४१॥

जो भ्रमरहित मुनि है सो आत्माको देहसे भिन्न यदि नहीं मानता, तो चाहे तपश्चरण कितना ही कर रहे, पर कर्मवन्धनसे नहीं छूट सकते। वाहरी पदार्थोंमे उपयोग लगे तो उससे वन्धन होता है। अब वन्धनका काम कर रहा है। मुनि तो वह चाहे कितना ही घोर तपश्चरण करले, उपवास, ऊनोदर, रसोंका छोडना आदिक बड़े कठिन तपश्चरण करले, धूपमे वैठकर अथवा नदी किनारे वैठकर तपश्चरण कर रहे, कितने ही कठिन तपश्चरण करे पर मोक्षका द्वार तो आत्माका आत्मदृष्टि करना है, वह हुई नहीं जिस साधु को वह साधु मुक्तिके पदको कहाँसे प्राप्त हो? ससारके बधनोंसे छुटकारा कैसे प्राप्त हो? अपने स्वरूपको जाने मुनि और यह भी निर्णय रखता हो कि मेरे आत्माका शरण, मेरे आत्मतत्त्वका अनुभव स्वय है तो समझिये कि मुझे कर्मबन्धनसे छुटकारा प्राप्त हुआ, क्योकि यह जीव एक ज्ञानकल्पनासे ही तो बधा है। छूटेगा तो ज्ञानकी उस प्रकारकी कल्पना मिटा दे तो छूटेगा और दूसरा इसके छूटनेका कोई उपाय नहीं है। वाहरी देहके तपश्चरणसे तो छुटकार नहीं मिलता, पर कर्मोंके आनेका तरीका तो योग है। आस्रव है

योग और आस्रव मिटाये नहीं, बाहरमे कितना ही खेदखिन्न हो, बड़े-बड़े तपश्चरण करके, फिर भी इस आत्माको मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु मुक्तिका उपाय है भेदविज्ञान। उस भेदविज्ञानका मार्ग इसे नहीं मिला। तो जिसे धर्मपालन करना हो, बहुत सुगम उपाय है, किसी भी जगह स्थित हों, अपनेमे आपके स्वरूपको देखें। बाह्यसाधनोंको अपना मानते हैं। आत्माका जो सत्य स्वरूप है उसे तो ग्रहण ही नहीं कर पाता। तो अज्ञानीकी वृत्ति है बाह्य तत्त्वको अपनाना। वह वृत्ति अपनी नहीं छोडता। गृहस्थ था तो गृहस्थीके समागमको अपनाया करता था। अब साधु हुआ है ता वहाँका जो भेप है, तपश्चरण है, व्रत ग्रहण है उनको अपनाता है और उनको अपनाकर मानता है कि यह मैं हू। मैं मुनि हू, तपस्वी हू, ज्ञानी हू, धर्मात्मा हूं, मैं मोक्षमार्गी हूँ—इस प्रकार मैं मैं लगाये रहता है धर्मके बाह्यसाधनोंसे, इस कारण धमके नामपर बाहरी तपश्चरण करते हुए भी यह जीव कर्मोसे मुक्त नहीं होता।

स्वपरान्तविज्ञानसुधास्पन्दाभिनन्दितः।
खिद्यते न तपः कुर्वन्नपि क्लेशैः शरीरजैः ॥१५४२॥

भेदविज्ञानी आत्मा और परके अन्तर्भेदरूप, विज्ञानरूप अमृतके वेगमे आनन्दरूप होता हुआ, तप करता हुआ भी शरीरसे उत्पन्न खेदसे खिन्न नहीं होता। तो ज्ञानी पुरुष बाहरमे कितना ही घोर तपश्चरण करे उस तपश्चरणसे इसे खेद नहीं होता क्योंकि अन्दरमे अपने आत्मस्वरूपमे लीन होकर अमृतका स्वाद लिया करते हैं। तो ऐसे अमूर्त तत्त्वमें निज तत्त्वको रच भी खेद नहीं होता है। खेद हो तो कोई खेदमयी कल्पना बने तो होता है। ज्ञानी पुरुषके अन्तरङ्गमे अमृतका स्पदन होता है, सुन्दर अमृत झडता रहता है उसीसे तृप्त है तो उस तृप्तिमें इतना मग्न है, ऐसा अपने आपके स्वरूपमें अभेद होता है कि बाह्यमे शरीर आदिकका घोर कष्ट भी हो रहा हो, बडा तपश्चरण चल रहा हो, जिसे अज्ञानी देखकर एक अपना धैर्य छोड दे, अहो! कितना कठिन क्लेश किया जा रहा है, पर ज्ञानीको तो क्लेशका अनुभव भी नहीं। वहां तो आनन्दरसमे तृप्त है क्योंकि उसकी दृष्टिमें कोई विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा है। यह मात्र मैं हू, सो उस आत्माके अनुभवके प्रसादसे ऐसे आनन्दरसमे छक रहे हैं कि बाह्यमे घोर तपश्चरण भी कर रहे हैं तो भी उनसे रंच मात्र भी खेद को प्राप्त नहीं होता। अब सोच लीजिए अज्ञानी जीव तो विभूतियोंके बीचमे रहकर, उन्हें अपनी मानकर अपनेको दुखी कर डालता है। यहां ज्ञानी जनोको देखो—बडे घोर तपश्चरण जो सामान्यजनोंसे न किये जायें, उन तपश्चरणोंको करके भी ये खेदखिन्न नहीं होते, किन्तु स्वात्मीय आनन्दके अनुभवरससे तृप्त होते हुए आनन्दविभोर रहते हैं। अज्ञानी जनोंको ऐसा लगता कि ये बड़ा कठिन परिश्रम कर रहे है, पर ज्ञानी जन तो अपने आत्मीय आनन्दरसमे तृप्त ही रहते हैं।

रागादिमल विश्लेषाद्यस्य चित्तं सुनिर्मलम्।
सम्यक् स्वं स हि जानाति नान्यः केनापि हेतुना ॥१५४३॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। आत्मा कहते ही उसे हैं जो निरन्तर जानता रहे। अतति सतत गच्छति इति आत्मा। जो निरन्तर जाने उसे आत्मा कहते हैं। इसके जाननेका काम निरन्तर है। सोई अवस्था हो, जगी अवस्था हो, कषाय सहित हो, कषाय रहित हो, सभी स्थितियोंमे आत्मा जानता ही रहता है। कितना जानता, कैसा जानता यह एक विशेष बात है, पर जाननेका काम कभी भी नहीं छूटता, क्योंकि जितना अनुभवन है जितनी वेदना है वह सब जाननके आधारपर है। सो जानता तो है ही निरन्तर कुछ न कुछ, पर जो जीव स्वको जानता है, निज अतस्तत्त्वको जानता है वह तो ससारके सकटोंसे छूट जाता है और जो स्वको नहीं जानता, परपदार्थोंमे दृष्टि देकर कितना ही जाने, वह ससारके संकटोंसे छूट नहीं पाता। स्वके जाननेका अद्भुत प्रताप है, सर्व क्लेश दूर होते है और जो यथार्थ बात है वैसा ज्ञाता द्रष्टा रहनेसे सकटों से छूट जाता है। तो अपने आपको भली प्रकार कौन पुरुप जान सकता है? उसका वर्णन इस श्लोकमें है।

जिस मनुष्यका चित्त रागादिक मलके अभावसे निर्मल हुआ है वही पुरुष भली प्रकार अपनेको जानता है और किसी कारणसे अपनेको भली प्रकार नहीं जानता। ज्ञान अमूर्त है और ज्ञानके द्वारा जिसे जान लेना चाहिए वह अमूर्त है। तो इस ज्ञानको अपने आपके ज्ञान करनेके लिए कोई बाधा न आनी चाहिए। मगर बाधा है। वह बाधा क्या है? रागादिक दोष। तो रागादिक दोषोंका जहा अभाव हो गया उसका चित्त निर्मल हुआ वही पुरुष अपने आपको जान सकता है। आवरण बीचमे से समाप्त हो गया। जैसे समुद्र भी है या उसके ऊपर एक पतली चादर ही वैठी हो तो समुद्रका लाभ नहीं लिया जा सकता। ऐसे ही ज्ञानके और ज्ञानके स्वय विषयके बीच रागादिक मलका पर्दा पडा है। इस तरह स्वका बोध भली प्रकार नहीं होता क्योंकि उपयोग रागवश बाहरकी ओर रम गया या ये रागादिक दोष ये आवरण जिस मुनिके समाप्त हुए हैं वह अपनेको भली प्रकार जानता है।

निर्विकल्पं मनस्तत्त्वं न विकल्पैरभिद्रुतम्।
निर्विकल्पमतः कार्यं सम्यक्तत्त्वस्य सिद्धये ॥१५४४॥

जो निर्विकल्प मन है वह तत्त्व है। यहाँ मन शब्दका अर्थ ज्ञानसे लेना चाहिए। विकल्परहित, झंझाफटोंरहित जो ज्ञानका परिणमन है, जो ज्ञान है, जो ज्योति है। वही तत्त्व है और विकल्पोंसे उत्सर्ग किया गया, घात किया गया जो मन है, विचार है, ज्ञान है वह तत्त्व नहीं है इस कारण तत्त्वकी सिद्धिके लिए भली प्रकार अपने चित्तको निर्विकल्प करना चाहिए। बाह्य पदार्थोंसे उपयोगको हटायें और अपनी ओर उपयोगको ले जायें तो बाह्यका आक्रमण न रहनेसे इसे सुविधा है, अपने आपके सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेमें। ससारमे शरण बस इतना ही है अपने लिए सहाय अपना जो सहजस्वरूप है उसका आलम्बन लेना यही मात्र शरण है, यही धर्म है। और चत्तारिदण्डकमे पहिले अरहतको, फिर सिद्धको, फिर साधुको, मगल, लोकोत्तम शरणभूत बताकर अन्तमें बताया है कि धर्म मगल है, धर्म लोकमे उत्तम है और धर्म शरणभूत है, जो भगवान केवली द्वारा प्रणीत है वही धर्म शरण है। वह धर्म निर्विकल्प है, अभेद है, सनातन है, आदि अन्तरहित है।

अज्ञानविप्लुतं चेतः स्वतत्त्वादपवर्तते।
विज्ञानवासितं तद्धि पश्यत्यन्तः पुरः प्रभुम् ॥१५४५॥

जो मन अज्ञानमे बिगडा हुआ है अर्थात् जहा अज्ञानका वास है वह तो निजस्वरूपसे छूट जाता है और जो मन विज्ञान है, सम्यग्ज्ञानसे वासित है वह अपने अन्तरङ्गमे प्रभु भगवान परमात्मतत्त्वको, निरखता है। परमात्मतत्त्वको निरखनेकी यही विधि है। ज्ञानान्धकार दूर करें और पमात्मतत्त्वपर दृष्टि दें, उसे ज्ञेय बनायें तो ऐसा एक तान होकर जब ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको जानने लगता है तो यह विधि है कि वह अपने आपमे बसे हुए परमात्मतत्त्वका साक्षात् अनुभव करता है। मूलमें सबका भेदविज्ञान शरण है। भेद-विज्ञान किए बिना धर्मकी कोई पीढी नहीं चलती। भेदविज्ञान होता है पदार्थोंके स्वलक्षणके परिचयसे। आनन्द भी भेदविज्ञानसे ही मिलता है, नहीं तो परपदार्थका कुछ थोडा बहुत जो कुछ अनुकूल और प्रतिकूल परिवर्तन हो रहा है अज्ञानके कारण उसीमें रमता है यह जीव। जब ज्ञान उत्पन्न हो तो सबसे उपेक्षा करके एक अपने आपके स्वरूपमे प्रवेश करता है। यह विधि है परमात्मतत्त्वके दर्शन की। एक उपयोगमे दो बातें नहीं समा सकतीं कि विषयोंसे प्रीतिभाव भी बना रहे और सर्व आनन्दका आधारभूत जो निज अतस्तत्त्व है उसका ज्ञान भी होता रहे। परमात्मतत्त्वमे देखना क्या है, दर्शन क्या चीज है? कहीं रूपी पदार्थोंकी तरह तो इसका दर्शन नहीं होता। जैसे हम आखोंसे देखते हैं, बताते हैं कि हमने यह देखा, इस तरह ज्ञानके द्वारा भीतर कोई नेत्रवत् नहीं देखा जाता, पर ज्ञानका काम जाननेका है, अनुभवनेका है, सो यह होता है ज्ञानी जीवोंमे।

मुनेर्यदि मनो मोहाद्रागाद्यैरभिभूयते ।
तन्नियोज्यात्मनस्तत्त्वे तान्येव क्षिप्यते क्षणात् ॥१५४६॥

मुनिका मन, ज्ञानीका मन यदि मोहके उदयसे रागादिकसे पीडित हो तो मुनि उस मनको आत्मस्वरूपमें लगाता है और रागादिक भावोंको क्षणमात्रमे दूर करता है। जहाँ रागरहित निर्विकार आत्मस्वभाव ज्ञानमें लिया, लो ये रागादिक झंझट दूर हो जाते हैं। अब देखिये एक ज्ञानको ग्रहण करनेकी ही बात है। जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला यंत्र शरीरपर पड़े हुए कपड़ेको छोड़कर हड्डीका फोटो ले लेता है, इसी प्रकार विकारपरिणमन चल रहा है, विरुद्ध बात समझी जा रही है और वातावरण भी अपनेपर ऐसा छाया है कि ज्ञानी पुरुष वहां सब चीजोंसे दृष्टि हटाकर अन्तःगुप्त स्वरक्षित जो आत्माका सहजस्वरूप है उसको लक्ष्य मे ले लेता है तब उस चित्तमे रागादिकभाव पीड़ा नहीं करते। मैं निर्विकार अतस्तत्त्व हूँ। विकार आते हैं तो वे पीडास्वरूप हैं, आस्रवरूप हैं और वे दु खके लिए ही आते हैं। मैं रागादिकसे भी रहित मात्र एक ज्ञानस्वरूप हूँ। ऐसी ज्ञानज्योतिको अपने चित्तमे लें तो इन रागादिकोंको क्षणमात्रमें यह ध्वस्त कर देता है।

यत्राज्ञात्मा रतः काये तस्माद्व्यावर्तितो धिया ।
चिदानन्दमये रूपे योजितः प्रीतिमुत्सृजेत् ॥१५४७॥

जिस कायमें अज्ञानी आत्मा रागी होता है उस कायसे बुद्धिपूर्वक भिन्न किया गया, चिदानन्दस्वरूपमे लीन हुआ मन उस कायमें प्रीतिको छोड देता है। जैसे पुराणोमे बड़े-बड़े महामुनियोंका चरित्र जहा बताया है उपसर्गके समयोंका तो आप समझ लीजिए कि देहसे कितनी प्रीति उनकी कम हुई ? सुकुमाल मुनि को सिंहनी खाती जाती थी, पर उनका उपयोग अपने आत्मस्वरूपमे ही टिका हुआ था। किसी उपलोंके घरमे जहाँ गोबरके उपले रखे हुए थे उस घरमे उन मुनिराजको वैरवश बद कर दिया और कमरेमे आग लगा दी। उस समय जरा विचार तो करो कि उन्हें क्या वेदना हुई होगी ? सुकुमाल मुनिकी सिंहनी खाती जाती थी, महामुनि कोल्हूमे पेले गए, समुद्रमे फेंक दिए गए, चाकूसे चाम छीलकर उसमे नमक भरा गया लेकिन चित्त एक आत्मतत्त्वकी ओर था। यह एक भीतरी सावधानीकी बात कही जा रही है। यहाँ तो लोग जरा जरासी बातोंमे अपने श्रद्धानको शिथिल कर लेते हैं और मैं कुछ नहीं कर सकता, इस प्रकारकी कायरता को चित्तमें बसाये रहते हैं, लेकिन भावोंसे जिस समय मन परपदार्थोंसे दूर हुआ उस समय यह जीव इस योग्य है कि वह अपनेमें परमात्मतत्त्वका दर्शन करता है। जब अज्ञान दशा थी तब यह जीव शरीरमे रागी था। रागी क्या था, शरीरको आत्मारूपसे मानता था। शरीरसे जीव भिन्न है यह उपयोगमे समाया ही नहीं जा सकता। जब यथार्थस्वरूपका बोध हुआ तब समझमे आया। ओह ! यह काय क्या है, अत्यन्त विलक्षण है, आत्मासे भिन्न है। उस कायासे फिर ज्ञानी पुरुषको प्रीति नहीं जगती। वह तो सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा मे ही लीन होनेका यत्न करता है।

स्वविभ्रमोद्भवं दुःख स्वज्ञानेनैव हीयते ।
तपसापि न तच्छेद्यमात्मविज्ञानवर्जितैः ॥१५४८॥

अपने विभ्रमसे उत्पन्न हुआ दु ख अपने ही ज्ञानसे दूर होता है। जैसे पडी तो रस्सी है और विभ्रम हो गया कि यह सांप है तो वह विभ्रमी पुरुष आकुलित होता है, और और साधन जुटाता है। फल यह होता है कि जब तक किसी भी प्रकारके साधन जुटाये, इस आत्माको शान्तिका पथ नहीं मिल सकता। कितने ही साधन लोग जुटाते अपने ऐश आरामके, अपनेको सुखी बनानेके लिए, लेकिन फल उल्टा ही होता है, क्षोभ बढता है विपदा बढ़ती है। दुःख नाम है किसका ? इसे बहुत-बहुत समझाया जाय तो दृष्टि जायगी कि इस दु खका सम्बध अन्य पदार्थसे है। जैसे रस्सीको सांप जाना तो वह काहे की घबड़ाहट थी ?

वह घवड़ाहट इसी वातकी थी कि रस्सीमे सर्पका विभ्रम हो गया है। विभ्रम होनेसे वह खेदखिन्न हो गया। वह खेद खिन्नता कैसे मिटे? कोई हजारों रुपये दे दे तो भी खेदखिन्नता न मिटेगी। वह खेद खिन्नता तो अज्ञानसे उत्पन्न हुई है। अज्ञानसे उत्पन्न हुई यह खिन्नता ज्ञान होने पर दूर हो जाती है। घवडाहट तव थी जव रस्सीको साप जान रहे थे, पर जव थोडीसी हिम्मत करके देखें कि यह तो रस्सी ही है तो यथार्थ जहा ज्ञान हुआ वहॉ विभ्रम सव समाप्त हो जाता है। तो अज्ञानसे दु ख उठाया जा रहा था वह दु ख ज्ञानसे दूर किया जा रहा है। जान लेवें कि मैं सवसे निराला ज्ञानमात्र हू। कैसी ही कठिन स्थिति हो, कितनी भी दु.खमयी स्थिति हो पर सम्यग्ज्ञानके होनेपर सव दु ख दूर हो जाते हैं। और फिर ज्ञानसे दूर हुआ भ्रम फिर उस भ्रमको उत्पन्न करनेमे एक साधन भी नहीं वन सकता। जैसे रस्सीको जान लिया कि यह रस्सी है, फिर कोई कितना ही वहकाये, कितनी ही कुछ भी आकुलताए प्रतिकूलताए करे, पर उसके चित्तमे भ्रमभरी वात नहीं रह सकती है। वह तो जान जाता है कि यह रस्सी ही है। ऐसे ही जिसने अपने आत्माके स्वरूपको जान लिया और खूव योग्यतानुसार उसने अपने चित्तमे वसा लिया भ्रम दूर हुआ, शुद्ध अतस्तत्त्व का वोध हुआ अव उसे कोई भी हटानेमे, उसको विभ्रमरहितसे च्युत करनेमे कोई समर्थ नहीं हो सकता। अज्ञानसे ही दु ख उठाया था, अज्ञान दूर हुआ कि दु ख दूर हुआ।

रूपादिर्वलवित्तादिसम्पत्ति स्वस्य वाञ्छति।
वहिरात्माथ विज्ञानी साक्षात्तेभ्योऽपि विच्युतिम् ॥१५४६॥

जो वहिरात्मा पुरुष हैं वे अपने लिए सुन्दर रूप, दीर्घ आयु, खूव वल, धन आदिक सम्पत्तिको चाहते हैं। अव देख लीजिए ऐसी चाह कहॉ-कहॉ कितनेमें है? अगर यह चाह वस रही है, उससे ही विराम नहीं मिल रहा है तो कैसे कहा जा सकता है कि धर्ममार्ग इसमे सम्भव है? एक तो होती है आवश्यकता के कारण चाह और एक होती है अपने आपके आरामके लिए चाह। आवश्यकतानुसार चाह कुछ दर्जेमें ज्ञानीके प्राक् पदवीमे हो जाय तव इसकी प्रमत्तदशा अथवा कुछ उत्कृष्ट वात इस ज्ञानीके हो तो ये आकाक्षाए रच भी नहीं रहतीं। कोई रूप चाहे सुन्दररूप देखकर अपने चित्तमे वड़ा खुश रहे और अपनेको भाग्यशाली समझे, यों कोई रूप, आयु, वल, धन आदिककी वाञ्छा करता है तो वह वहिरात्मा पुरुष है। जिसे अन्त वैभवकी पहिचान नहीं है तो वह वाहरसे कहॉ हटे? अपनेमे कहॉ लगे? तो जो वहिरात्मा पुरुष हैं वे ही अपने सुन्दर रूप, आयु, वल, धन आदिककी वाञ्छा करते हैं और जो ज्ञानी पुरुष हैं वे उनसे छूटना चाहते हैं। निकट दोनो हैं। अज्ञानी भी उन भोगोपभोगोंके साधनोंके निकट है और ज्ञानी भी उन पदार्थों के निकट है, पर अज्ञानी तो उन समस्त वैभवोंको अपनाता है और ज्ञानी उनसे छूटना चाहता है। प्रसग यद्यपि दोनोंमे लग रहा है, पर भीतरमें जो परिहार करनेका और ग्रहण करनेका स्वभाव पडा है उस स्वभावका यह अन्तर हो जाता है। अज्ञानीको तो ग्रहणमे अशान्ति मिलती है और ज्ञानी का परिहार करनेसे शान्तिका मार्ग मिलता है। अज्ञानीकी स्थिति होती है लोहवत। जैसे लोह जगको ग्रहण कर लेता है, लोहमे ऐसा ही स्वभाव पडा हुआ है। ऐसे ही अज्ञानी जीव परको मोहसे ग्रहण कर लेता है किन्तु ज्ञानी पुरुष स्वर्णकी तरह है जैसे स्वर्ण कीचडमे भी डाल दिया जाय तो वह भी कीचडसे हटा हुआ अपना स्वभाव वनाये रहता है। जो भेदविज्ञानी पुरुष है वह अपनेमे रूप आदिक विद्यमान हों, उनसे भी छुटकारा चाहता है, क्योंकि मुख्य कारण यह है कि ज्ञानीने अपने आपके आत्माको जाना। जो शान्तिका आधार है, धर्मका आधार है उस अपने आपकी ओर जो चला यह भेदविज्ञानी पुरुष तो उसके अनुभवके पश्चात् उसे विल्कुल प्रकट निर्णय होता है कि जीवादिक समस्त परपदार्थ परिहारके योग्य हैं। ज्ञानी जीव उनका परिहार करता है, अज्ञानी जीव उनका ग्रहण करता है, पर न अज्ञानीके पास आ जायगा और न ज्ञानी के पास। ज्ञान है तो रागका परिहारपूर्वक रहा करता है और अज्ञान है तो रागका ग्रहण करता हुआ रहा

करता है। यही अन्तर है कि अज्ञानी जीव कर्मोंका बन्धन करता है और ज्ञानी जीव कर्मोंसे छूटता है। भूल में उसकी पर्याय प्रकृतिमें भेद आ गया। परको ग्रहण करनेका भाव रहता है अज्ञानीके और परसे हटे रहने का भाव रहता है ज्ञानीके। छुटकारा जिससे पाना है उससे यह मालूम करलें कि मैं तो यह छूटा हुआ ही हू। मैं इस स्वरूपमे मिला हुआ नहीं, केवल जो परकी ओर आत्मा स्वय जा रहा है उससे निवृत्ति करना है।

कृत्वाहंमतिमन्यत्र बध्नाति स्वं स्वतश्च्युतः।
आत्मन्यात्ममतिं कृत्वा तस्माद् ज्ञानी विमुच्यते ॥१५५०॥

जो आत्मा स्वभावसे च्युत हो गया। ऐसा अज्ञानी पुरुष अन्य पदार्थोंमे अहबुद्धि करके अपने आपमें बधता है। देखिये अपने ही उपयोगसे, अपनी ही करतूतसे, अपनी ही विशिष्ट परिणतियोंसे उसने अपना बन्धन बनाया, इसके बाधने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। आत्माको कौन बाधे ? यह आत्मा ही स्वय कल्पनाएं करता है और बध जाता है। जैसे किसी भाईसे स्नेह न हो तो वहा कोई बधन नहीं है, और कोई बन्धन नहीं है तो वह बड़े मौजमें है, चाहे कितना ही कुछ चल रहा हो। ज्ञानी पुरुष जो है वह परपदार्थोंको अपनाता नहीं, उसे सुलक्ष्यका निर्णय है और जानता है कि इसमे हित क्या रखा ? किसी भी परको अपनाया तो उससे लाभ क्या मिला ? कदाचित मानलो थोडी बहुत सुखसाता हो गई तो थोड़ी देर से इस जीवका पूरा क्या पडता ? अज्ञानसे यह जीव परपदार्थोंका सचय करता और ज्ञान होनेपर सबसे उपेक्षाभाव करता है, फिर वधता नहीं। बन्धन तो स्नेहमे है। गायने बछडेसे स्नेह किया लो बध गई। जिधर बछडा जाता है उधर गाय भगती जाती है। ऐसे ही समझो इस मोही जीवने अज्ञानताके कारण अपने को परके बन्धनमें डाल रखा है। ज्ञानी जीव तो अपने आत्मस्वभावको दृष्टिमे लेकर झझटोंसे छूट जाता है, पर अज्ञानी जीव विषयोंके पकमे ही रमकर अपने आपके ससारको लम्बा करता है। हम आपका यह कर्त्तव्य है कि जहाँ तक बने, किसी जगह बने घरमे, दूकानपर किसी भी स्थानपर, अपने आपमे देखें तो सही कि इस मुझ आत्मामे तत्त्व क्या बसा है ? एक जाननेके लिए कमर कस लें, अवश्य जाननेमे आयगा, फिर उसके सिवाय अन्यको जाननेकी धुन न बनायें। राग न करें तो अपने आपके स्वरूपका बोध हो सकता है और वही स्वरूपस्मरण हमारे क्लेशोंको दूर कर देता है। आत्मस्वरूपका स्मरण ही तो शरण है, उसीके दर्शनसे ज्ञानी जीवने अपने आपमे कोई नवीन तत्त्व पाया है। तो ज्ञानी पुरुष तो दोषोसे छूटता है और अज्ञानी पुरुष दोषोसे वधता है यह बात एक निचोडकी आचार्यदेव लिखते हैं।

आत्मानं वेत्त्यविज्ञानी लिलिङ्गी सगतं वपुः।
सम्यग्वेदी पुनस्तत्त्वं लिङ्गसगतिवर्जितम् ॥१५५१॥

जो भेदविज्ञानसे रहित हो वह बहिरात्मा। जो पुरुषलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपु सकलिङ्गसे रहित अपनेको मानता है वह ज्ञानी पुरुष है। ज्ञानीपुरुष अपने आपके बारेमे ऐसा चिन्तन करता है कि मैं तो ज्ञान-मात्र हू, परिणमता हू बस अब इसीको बढा लीजिए जो कुछ बढाना हो। वैसे तो प्रति समय अभेद है और उसकी जो अवस्था है वह भी उस कालमे अभेद है, पर अपने आपकी स्वरूप सत्ताकी प्रतिष्ठा रखनेके लिए जो परिणमन चलता है वह तो है तन्मात्र अपनेको जाने सो ज्ञानी है और उस अतस्तत्त्वको भूलकर बाह्यमे किन्हींको भी अपनाए तो उसके सम्यक बोध नहीं है। अपने आपको जाने, अपने आपको माने, अपनेमे रत रहे यह बात जिस प्रकार बने, जैसे बने उसको बनायें और अपनेमे अपने आपको निरखकर प्रसन्न रहनेका प्रयत्न करे, इसमें ही अपना हित है।

समभ्यस्तं सुविज्ञातं निर्णीतमपि तत्त्वतः।
अनादिविभ्रमात्तत्त्व प्रस्खलत्येव योगिन ॥१५५२॥

जो प्राणी अपने आत्मस्वभावसे च्युत होकर अन्य पदार्थोंमें अहबुद्धि रखता है वह अपने आपको बांधता है। कर्मोंका आत्मासे बन्धन होनेमें आत्माका परिणाम निमित्त है। आत्माके रागद्वेष मोह आदिक भावोंका निमित्त पाकर लोकमें भरी हुई कार्माण वर्गणामें कर्मरूप परिणम जाती हैं। सो ऐसे कर्मों का बन्धन होनेमें निमित्त क्या है ? आत्माके विकल्प, आत्माके रागद्वेष मोह भाव। उन सबमे प्रधान है अहंकार। परद्रव्योंको अहरूप मानना सो अहकार है। यहां अहंकारका अर्थ घमड न लेना किन्तु परको अहं करना सो अहकार है। देह वैभव सब भिन्न पदार्थ हैं, उनमे मानना कि यह मैं हू—यह तो अहकार है और यह मेरा है, ऐसा मानना ममकार है। परद्रव्योंमें ममत्व बुद्धि हुई तो वह बध गया। वह अज्ञानी जीव है। है तो पर और मानता है कि यह मैं हू और ऐसी मान्यतामे मुख्य आधार है देहका सम्बध। जीव इस देहको निरखकर मानता है कि यह मैं हू। सो ऐसा जीव कर्मोंसे वधता है, अपने आपको बन्धनमे डालता है परन्तु जो ज्ञानी जीव हैं, आत्मामे आत्मबुद्धि करता है अतएव वह ज्ञानी जीव कर्मोंसे छूट जाता है। मैं किसको मानू इसपर सब बातोंकी समस्या है। देहको मैं माना तो यह मोह हुआ, अज्ञान हुआ, इससे कर्मों का बन्धन है और जैसा मैं हूँ ज्ञानज्योतिर्मय समस्त परपदार्थोंसे निराला अपने सहज ज्ञानस्वभावरूप, उसे मान लेना कि यह मैं हू सो कर्मोंसे छुटकारा हो जाता है। मैं क्या हू, इसका हल कर लेना धर्मपालनके लिए सर्वप्रथम बात है। जिसने अपने मैं का ही हल नहीं किया वह किसके लिए तपश्चरण करे, किसके लिए क्या करे ? मैं का निर्णय कर लेना बहुत जरूरी काम है। मैं धर्मका पालन करता हू तो वह मैं क्या ? यदि देहको ही मान लिया कि यह मैं हू और यह मैं धर्मका पालन करता हू तो वहा धर्मपालन नहीं है। जहा एक का आकडा ही नहीं रखा है तो सारी बिन्दियां काम न देंगी। एकका आकडा हो तो प्रत्येक बिन्दी दसगुना काम करती है। ऐसे ही यदि हमें अपने आपके आत्माका परिचय हो गया हो तो हमारे ये सब व्रत, सयम, तप, नियम उसमे १० गुना काम करते हैं अर्थात् हम अपने यथार्थ रत्नत्रयमे बढते हैं और इस एकका ही पता न हो तो किसके लिए क्या कर रहे, इसका कुछ निर्णय ही नहीं। तो जो पुरुष अन्य पदार्थोंमें मैं का निर्णय किए हुए है वह तो कर्मो से वधता है और जिसने अपने आत्मामे ही मैं का निर्णय किया है वह ज्ञानी कर्मो से छूटता है। यह मैं आत्मा ढेला-पत्थर आदिककी तरह पिण्डरूप तो हू नहीं, जो हाथसे छूकर दिख सकू कि यह मैं आत्मा हूँ अथवा रसनासे चखाकर, घ्राणसे सुंघाकर, चक्षुसे दिखाकर तथा कर्णसे सुनाकर कह सकू कि यह आत्मा है, ऐसा भी नहीं है, किन्तु यह तो मात्र ज्ञान द्वारा ज्ञानमे अनुभवा जाता है। इसके जाननेमें अन्य कोई पदार्थ नहीं। एक ज्ञानका प्रयोग ही उपाय है। सो वड़े स्वस्थचित्त होकर बाह्य पदार्थो से मोह हटाकर अपनी ओर अपने उपयोगको लेकर मैं का निर्णय करना, अनुभव करना सो महान पुरुषार्थ है। ऐसा जीव कर्मोंसे मुक्त होता है।

अचिद्दृश्यमिदं रूपं न चिद्दृश्यं ततो वृथा।
मम रागादयोऽर्थेषु स्वरूपं सश्रयाम्यहम् ॥१५५३॥

अज्ञानी लोग देहमें आत्माका अनुभव करते हैं और देहको इस रूपमे आत्माका अनुभव करते कि मैं पुरुष हू, स्त्री हू अथवा नपुंसक हूँ। इस प्रकार देहमे जो लिंग है उस लिङ्ग सहित शरीरको आपा मानता है। प्राय दुनियाके सभी लोग ऐसा ही मानकर एक दूसरेसे व्यवहार करते हैं, बोलचालकी भाषामे भी यही अनुभव दिख रहा है। स्त्री कहेगी कि मैं जाती हूँ, पुरुष कहेगा कि मैं जाता हू। तो वचनालाप तक मे भी वेदोंका सस्कार पडा हुआ है। तो लिङ्गसे सगतशरीरमे आत्मबुद्धि करना यही तो मोह है। सो अज्ञानी-जन स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग आदिक रूपमे इस देहको आपा मानते हैं, परन्तु जो सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं, लिङ्गकी सगतिसे रहित आत्मतत्त्वको जानते हैं। 'जहा देह अपनी नहीं वहा न अपना कोय।' जब कि देह भी अपना नहीं जो इतना निकट साथी बन रहा है, जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त जो जीवके साथ रह

रहा है और कितना निकट सम्बंध बना हुआ है जीवका देहका, इसको ज्यादा बतानेकी बात नहीं है। सदा साथ रह रहा है इतने काल। जब वह देह भी अपना नहीं तो फिर और अपना क्या है ? अपनेको अकिञ्चन अनुभव करना, मेरा कहीं कुछ नहीं है। हटाते जाये उपयोग बाह्य पदार्थोंसे, योग मारकर स्थिर बैठकर ऐसा उपयोग ले जाये, अन्दरमें यह भी मान न रहे कि यह देह भी पडा हुआ है। ऐसा अत्यंत अन्तरङ्गके उपयोगमें पहुचाने वाले ज्ञानीजन चैतन्यमात्र अपने आपके स्वरूपका अनुभव करते है। वहा ही वास्तवमें आनन्द है, तृप्ति भी वहा ही मिलती है। बाह्य पदार्थोंके सचयमे, धन वैभवकी रखवालीमे, धनवैभवके आदान-प्रदान व्यवहारमे इनमे शान्ति कहाँ है ? तृप्ति तो आत्मामे आत्मीय चैतन्यरसके अनुभवसे ही हो सकती है। बाह्य पदार्थोंको रखकर शान्ति तृप्ति नहीं हो सकती। जो ज्ञानी पुरुष अपने आपको देहरहित, लिङ्गरहित केवल चिदानन्दस्वरूपमात्र अनुभव करता है वह पुरुष तत्त्ववेदी है और ससारके झफ्टोंसे शीघ्र मुक्त होनेवाला है। अनुभव करना चाहिए अपने आपका कि मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हू। पर्यायमे सर्वोत्कृष्ट शुद्ध पर्याय हर प्रकार से है सिद्ध भगवानकी। और सिद्धका स्मरणके अनन्तर ही अपने आत्मस्वभावका स्मरण करें तो समझिये कि परमात्मदर्शनका अब लाभ पाया है। द्रव्यदृष्टिसे मैं वह हू जो भगवान हैं, जो भगवान है वह मैं हू। पर पर्याय दृष्टिमें अन्तर है। प्रभुमे और हममे। वे विराग है और यहाँ रागका फैलाव है। ज्ञानी जीव पर्यायदृष्टि का अन्तर निरखने के समयमे भी अपनेको रागस्वभावी नहीं अनुभव करता। रागका फैलाव है पर वह मेरा स्वरूप नहीं, स्वभाव नहीं, औपाधिक भाव है। अज्ञानी जीव स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग तथा नपु सकलिङ्ग रूप अपनेको अनुभव करते है।

करोत्यज्ञो ग्रहत्यागौ बहिरन्तस्तु तत्त्ववित्।
शुद्धात्मा न बहिर्वान्तस्तौ विदध्यात्कथचन ॥१५५४॥

ससारी जीवलोकने अब तक इन्द्रियके विषयोंका ही परिचय किया है, उसका ही अनुभव किया है, उसकी ही चर्चा की है। आत्मतत्त्वकी जो आत्मामे अनादि कालसे अथवा सत्त्वके साथ ही अतस्तत्त्व बस रहा है, परमात्मत्व बना हुआ है उसका न अनुभव किया, न चर्चा की, न परिचय किया। ज्ञानी जीवोंको अपने आपके स्वरूपमे अन्त प्रकाशमान नजर आता है वह परमात्मस्वरूप, किन्तु अज्ञानी जीवको इसकी सुध ही नहीं है, उनका उपयोग बाह्यकी ओर लग रहा है, अत उन्होंने इसका परिचय नहीं किया। किन्तु जहाँ रुचि है, जहाँ लग रहे हैं उन विषयसाधनोका ही परिचय किया है। कभी विवेक जगता है तो अपने आपके स्वरूपके निर्णयमें लगता है, वस्तुस्वरूप जानता है, पदार्थोंकी स्वतन्त्रताका भान करता है। और उस भान बलसे अपने आपमे बसे हुए कारणपरमात्मतत्त्वका भी परिचय करनेका यत्न करता है। करले परिचय, करले अनुभव, बहुत अभ्यास भी बनाले, ऐसा दृढ अभ्यास कि जब आत्माका अपने अनुभवमें लेना चाहे तो उस पर कुछ अपना बल चल सके, आत्मानुभव कर सके ऐसा सब कुछ परिचय निर्णय अभ्यास पा करके भी अनादि कालका विभ्रम इतना प्रबल है अथवा था कि वह समभ्यास सुनिर्णीत तत्त्वसे भी प्रस्खलित हो गया। सिखाये सिखाये भी यह जीव अपने तत्त्वसे स्खलित हो जाता है। अथवा यो समझिये कि जैसे सुवाको पढा दिया जाता है दोहे भी पढ लेता है, आत्माराम आदिक शब्द भी रटा दिये जाते और कोई चाहे तो सस्कृतके श्लोक भी रटा सकता है। तो ऐसा बोल लेता है तोता अपने अटपट बोलमे। उसे यह भी सिखा दो कि ऐ तोते यहाँसे भागकर वहीं ऐसे स्थानपर मत जाना जहाँ दाने पड़े हों। उस नलनीपर न बैठ जाना जहाँ सुवा पकडनेके लिए कुछ साधन बना हो। और कदाचित उडकर वहा पहुच जाना तो नलनी पर मत बैठना। नलनीपर बैठ जाना तो दाने चुगनेकी कोशिश न करना और दाने भी चुगना तो कहीं औंधे न उलट जाना, और औंधे उलट भी जाना तो पकडकर न रहना, नलनीको छोडकर उड जाना। इतना उपदेश भी तोतेको रटा दो तो तोता रट लेगा। शिकारी लोग तोता पकडनेके लिए एक ऐसा यन्त्रसा बनाते है—नलनी

गोल गोल कोई कडासा बनाते हैं, तोता उस पर बैठता है और बहुत नीचे रहता है तोता, सो उन दानोंको चुगनेकी कोशिश करता है। दाने नीचे पड़े रहते हैं, वह औंधा भी लटक जाता है। औंधा लटकनेके बाद सुवाके यह बुद्धि नहीं जगती कि मैं इसे छोड़कर उड जाऊं। वह उस नलनीको पकड़े ही रहता है, आखिर शिकारी आता है और उसे पकड लेता है। तो सुवाको कितना ही सिखा दो, रट लेगा, पर भावभासना नहीं कर पाता। अब कभी मौका मिला तो पिंजड़ेसे उडकर झट भग जाता है और कहीं ऐसा स्थान मिल जाय तो वहाँ जाकर नलनीपर बैठ जाता है। वहाँ भी यह बात रटेगा जो बात सिखाने और रटनेसे किया। दाने चुगनेकी वह कोशिश करता है, और उलट जाता है फिर उसे छोडता नहीं है। तो यों ही रट लिया कुछ आत्माका स्वरूप, कुछ आत्माकी चर्चा करली तो इतने मात्रसे क्या होगा इस आत्मानुभवका ? आत्मानुभवन चाहिए। ऐसा आत्मानुभव किसीको प्राप्त भी हो गया हो तब भी अनादिकालका विभ्रम संस्कार ऐसा लगा है जीवमें कि वह तत्त्वसे स्खलित हो जाता है। एक बार सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय और फिर उसकी भावना न रखी तो सम्यक्त्व छूट जाता है और मिथ्यात्वमें आता है।

किसी एक पजाबीने एक तोता पाल रखा था, वह बडा सुन्दर था। एक ब्राह्मणने उस तोतेको देखा तो वह बड़ा सुन्दर जचा। ब्राह्मणने कहा उस पजाबीसे कि यह तोता बेचोगे ? तो वह बोला 'हाँ बेचेंगे ?' कितनेमें दोगे ? '१००) में।' अरे तोते तो आने, १० आने अथवा १ रुपयामें मिल जाते हैं। ऐसी क्या बात जो इसकी १००) कीमत कहते हो ? तो पजाबी बोला कि इस तोतेसे ही पूछ लो कि तुम्हारी १००) कीमत है या नहीं। तो ब्राह्मणने तोतेसे पूछा कि कहो तोते तुम्हारी १००) कीमत है या नहीं ? तो तोता कहता है—इसमें क्या शक ! तोतेको इतना ही रटा दिया गया था। ब्राह्मणने उचित उत्तर सुनकर समझा कि यह तो बडा विद्वान तोता दिखता है। तो उसे १००) देकर वह तोता खरीद लिया। अपने घर ले गया। दो एक दिन बाद रामचरित्र लेकर बैठ गया वह पडित। सुनाने लगा उस तोतेको। बादमें पूछा—कहो तोते ठीक है ना ? तो तोता क्या कहता है ? इसमें क्या शक। ब्राह्मणने समझा कि यह तो बहुत ही अधिक विद्वान दिखता है। अब ब्रह्मस्वरूपकी चर्चा करने लगा। फिर पूछा कहो तोते ठीक है ना ? तो तोता फिर क्या कहता है ? इसमें क्या शक ? अब तो ब्राह्मणको कुछ शका हुई कि यह कुछ जानता नहीं है, सिर्फ इतना ही रट रखा है। बादमें पूछता है कि कहो तोते भाई ! क्या हमारे १००) पानीमें गये ? तो वह तोता क्या कहता है ? इसमें क्या शक ? तो भावभासना होना और बात है, शब्दोंको रटकर बोल देना और बात है। ज्ञानी पुरुषके अन्तरङ्गमें एक भावभासना रहती है तब वह वास्तविक मायनमें बड़े अन्तरङ्गमें भोग और उपभोगमें विरक्त रहता है। क्रोधादिक भावोंसे हटता हुआ रहता है। बाह्यपदार्थोंसे हटनेका ही परिणाम रहता है। दृढतापूर्वक निज आत्मतत्त्वका अध्ययन चिन्तन मनन करनेमें लगे तो समाधिभावमें स्थिरता बन सकती है और जहाँ अपने चैतन्यस्वरूपसे स्खलित हुए, दिल कमजोर किया अर्थात् समाधिभावमें शका करने लगे तो समाधिभावमें स्थिरता नहीं बन सकती है। यदि दिख रहे विषयसाधन, भोगोपभोगमें अपनी रुचि बढाली तो उसका फल यह होगा कि संसारमें जन्म-मरण करता रहता है। तो इसका अभ्यास करनेके लिए हम क्या भावना और क्या अवलम्बन करना चाहिए, इसे अब अगले श्लोकमें कह रहे हैं।

ये सब जो कि इसके सामने हैं, जिनमें इसका व्यवहार चलता है उस सबकी वृत्ति सोच रहा है यह ज्ञानी कि ये सब क्रोधादिक पदार्थ हैं, अचेतन हैं और इन्द्रिय द्वारा ग्रहणमें आते हैं किन्तु यह मैं आत्मतत्त्व चेतन हूँ, इन्द्रियद्वारा ग्रहणमें नहीं आता हूँ, इस कारण मेरे इन परपदार्थोंमें जो रागादिक भाव उठते हैं वे सब निष्फल हैं। जो दिखते हैं वे अचेतन हैं। उनमें राग करनेसे क्या लाभ है ? और जो अचेतन हैं वे इन्द्रियसे ग्राह्य नहीं हैं। सबका एक स्वरूप है। मेरे लिए वे कुछ नहीं हैं, फिर क्या राग किया जाय ? जो दिखता है उसमें रागसे लाभ क्या ? जो अदृश्य है उसमें राग किया ही किस प्रकार जाय ? यों जानकर

ज्ञानी पुरुष रागादिक भावोंसे विराम लेता है और अपने स्वरूपका आश्रय लेता है। आत्मभावनाके समान कुछ वैभव नहीं है जगतमे ? आत्मतत्त्वके भली प्रकार गुण पर्यायके निर्णय सहित स्वतन्त्रताके भान सहित यदि अपने आपकी ओर आता है यह जीव तो अनेक आरम्भोंसे छूटता है और अपने स्वरूपका आश्रय लेता है। जगतमे जीकर अन्य भवोंका ख्याल न हो, न सही, किन्तु इस भवमे ही बहुत कुछ देखलो। बचपनसे लेकर अब तककी उमर तक बहुत-बहुत विकल्प कर चुके। घर बसानेकी, घर सम्हालनेकी, सतान आदिकके बढ़नेकी ये सब बातें बहुत-बहुत की जा चुकी हैं लेकिन आज पूछा जाय कि इतना राग करके हाथ क्या लगा ? तो उत्तर मिलेगा कि हाथ कुछ नहीं लगा। आज भी रीतेके रीते हैं। तो अब उन समागमोसे उपेक्षा करलें, अपने आपके स्वरूपका आश्रय करले, यही मगल है, यही लोकोत्तम है, यही परमशरणभूत है। जिसने अनुभव किया चैतन्यरससे परिपूर्ण आत्मतत्त्वका उसके भावभासना होती है। बालकोंकी शिक्षाके कोर्समे बारह-भावनाओंका स्वरूप पढ़ाकर भावभासना करायी जाती है। किसी पुरुषमे ऐसी योग्यता हो कि किसी बच्चेके मुखसे उन शब्दोंको सुनकर सावधान हो जाय, भावभासना हो जाय तो उसमे किसी विद्यार्थीने भाव-भासना नहीं उत्पन्न किया, उस पुरुषने स्वय अपनी योग्यतासे भावभासना उत्पन्न कर लिया। वैसे तो उन्हीं शब्दोंको रटकर वे बालक भी उन्हीं शब्दोंको बोल सकते, कुछ चर्चा भी कर सकते हैं पर भावभासना बिना वे व्यर्थ हैं। इस असार दृश्यमान अचेतन रूपोंमे मुग्ध न होकर एक अपना जो स्वरूप है, जो सदा साथ रहता है, कहीं इन्द्रियां न जानें ऐसे स्वरूपकी ओर हम अभिमुख हों, उसके निकट रहे, भावभासना बनाये ऐसा अपना निष्पक्ष जीवन बनाये। न रागकी ओर ढलें, न द्वेषकी ओर बढ़े, ऐसे इस असाधारण सनातन ज्ञानप्रकाशरूप अपने आपका अनुभव करना यही है अमोघ कुञ्जी आत्मतत्त्वके अनुभवमें आनेकी। सा जानकर भी आत्माको सबसे निराला है केवल ज्ञानस्वरूप, ऐसा जानकर भी आत्माका यह जानना कहीं मिट न जाय इसके अर्थ ज्ञानका अभ्यास बराबर करते रहना चाहिए। मैं क्या हू ? इसका विशुद्ध निर्णय कर लेना चाहिए। यह तो बात पीछेकी है कि विभाव कैसे होते हैं, विभावमे निमित्त क्या है, कैसे बधते है कर्म और उनके उदयकालमे कैसी दुर्गति होती है—यह सब जानकर हम विषयोंमें रुचि न बढाये और उन सबको असार समझकर उनसे निवृत्त होकर अपने आत्मामें अनादिसे अनन्तकाल तक बसे हुए इस परमात्मतत्त्वका स्मरण करना चाहिए। अमृतरस पान करें गटागट। जैसा चैतन्यमात्र अपने आपका अनुभव करनेसे ऐसा अमृतपान करनेसे फिर विषयोंमें अटक नहीं रह सकती। विचार करें ऐसा कि ये दृश्यमान पदार्थ सब अचेतन हैं उनसे राग करना क्या ? जो चित्चेतन है वह अदृश्य है उससे राग किया जा सके क्या ? इसलिए मैं सब पदार्थोंमे रागको छोडकर अपने स्वरूपका ही आश्रय लेता हू। यों समस्त पर और परभावोसे हटकर अपने स्वरूपमें आना और यहा ही स्थिरतासे बैठकर विकल्प भुलाकर अपने आपके सहजस्वरूपका अनुभव कर लेना, यह इस जीवनमें ऐसी खास महत्त्वकी चीज होगी और अनादिसे लेकर अब तक अनेक प्रयत्नोंसे काम करके भी नहीं पाया जा सकता। उस तत्त्वकी भावभासना होने पर फिर उस भावभासनाकी रक्षा करना चाहिए और ऐसे योग्य आचरणोंसे रहकर अपना व्यवहार रखना चाहिए कि हम उस योग्यताके पात्र रह सकें।

करोत्यज्ञो ग्रहत्यागौ बहिरन्तस्तु तत्त्ववित् ।
शुद्धात्मा न बहिर्वान्तस्तौ विदध्यात्कथञ्चन ॥१५५४॥

लोकका सक्षिप्त परिचय—इसे लोक क्यों कहते हैं ? जो कुछ यह दिखता है जो यह दुनिया है उसका नाम लोक क्यों है ? लोक शब्द बना है लुक् धातुसे। लोक्यन्ते यत्र सर्वाणि द्रव्याणि स ल क। जिस जगह समस्त द्रव्य पाये जायें, देखे जायें उसे लोक कहते हैं। तो यहाँ अनन्त जीव हैं, उससे भी अनन्त गुणे पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असख्यात कालद्रव्य, ये पाये जा रहे हैं और आकाश तो एक

दीर्घकाय है, लोकमें भी है और अवलोकमें भी है। ये समस्त पदार्थ अनादिकालसे अब तक अपने-अपने एकत्व स्वरूपको लिए हुए बने हुए हैं। यह सब इस व्यवस्थाकी मेहरबानी है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही चतुष्टयसे अस्तित्व रखते हैं, पररूपसे कोई अपना अस्तित्व नहीं रखता। स्यादस्ति और स्यान्नास्ति अपने स्वरूप अपेक्षासे तो पदार्थ है, परके स्वरूपकी अपेक्षासे पदार्थ नहीं है। अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक पदार्थ स्वय के गुण रूप है, प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणतिसे, अपने ही कालसे परिणमता है, प्रत्येक पदार्थ अपने ही भावरूप है, अपने ही प्रदेशमें अपना अस्तित्व रखता है। ऐसा एक सर्व सामान्य स्वरूप होकर भी विभाव-परिणमन अर्थात् स्वभावके विरुद्ध परिणमन जीव और पुद्गलमें होता है।

विभाव परिणमनका आद्य परिचय— विभावपरिणमन अपनेसे विरुद्ध किन्तु विधिविधानमें अनुकूल निमित्तका सन्निधान पाकर होता है। जब जीवके दर्शन मोहका उदय होता है तो यहाँ जीव एक भ्रमरूप पड जाता है। बाह्य पदार्थोंको आत्मारूपमें मानता है, और बाह्यपदार्थोंको ये मेरे हैं ऐसी दृष्टिसे देखता है और इस प्रकार अपने आपमें ही गुन्तारा लगाकर कषाय करके बाह्यपदार्थोंको ग्रहण करता है, बाह्यको त्यागता है। अज्ञानी जीवकी बात कही जा रही है। अज्ञानी जीव बाहरमें बाहरी पदार्थोंको ग्रहण करता है और बाहरी पदार्थोंको छोडता है। ये सब कल्पना की बातें हैं। यद्यपि जीव बाहरी पदार्थोंको न ग्रहण कर सकता और न त्याग सकता, किन्तु अज्ञानी जीव कल्पनामें यह समझ रहे हैं कि मैं बाहरी पदार्थोंको ग्रहण करता हू और बाहरी पदार्थोंको छोडता हू।

वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें लोकव्यवस्था—देखिये यह दृश्यमान लोक न बनता यदि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध न होता। जिस प्रकारके परिणमनसे परिणम रहा है यह लोक वह सब निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धमें है, तिसपर भी यह लोक न बनता, यह लोक न रहता यदि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें है यह व्यवस्था न होती। स्वतन्त्रता और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध—ये दोनों अपने-अपने स्थानमें अपना बल रखते हैं तो बाह्य वस्तुवोंके सम्बधसे, कल्पनासे यह अज्ञानी जीव विकल्प करता है कि मैंने यह त्याग दिया, मैंने यह ग्रहण किया। उसे यह सुधि नहीं कि मैं तो केवल भावोंका ही करने वाला हूँ। बाह्य पदार्थ तो अपनेमें अपना अस्तित्व रखते हैं पर यह अज्ञानी जीव बाह्यमें ग्रहण और त्याग करता है। तत्त्व-ज्ञानी जीव तो अपने अन्तरङ्गमें ही कुछ त्यागता है और अन्तरङ्गमें ही ग्रहण करता है। ज्ञानीको यह खबर है कि मैं परपदार्थोंके प्रति कल्पनासे भावरूप ग्रहण बना रहा था और अब अपने ही ज्ञानबलसे उस ग्रहण के भावको त्याग रहा हू। बाह्य पदार्थ तो ज्योंके त्यों हैं, उन्हें मैं न ग्रहण करता हू और न त्यागता हूँ। कोई चीज मेरे निकट आ गयी तो उससे ग्रहण नहीं हो पाया, और जब ग्रहण नहीं तो त्याग नाम किसका? ज्ञानी पुरुष जानता है कि मैं अपने ही भावोंका ग्रहण करता हू और अपने ही भावोंको त्यागता हूँ। जो शुद्ध आत्मा हैं, कषाय रहित हैं, परमात्मा हैं वे न बाह्यमें कुछ ग्रहण त्याग करते और न अन्तरङ्गमें कुछ ग्रहण त्याग करते। वे कल्पनातीत हैं।

प्राकरणिक शिक्षण—यहाँ यह शिक्षा लेना है अपने आपके हितके लिए कि मैं केवल ज्ञानमात्र हू, ज्ञानको ही करता हूँ, ज्ञानको ही भोगता हू। किसी परपदार्थका भी भोगोपभोग करता हू तो उस प्रसगमें भी मैंने जसा अपना ज्ञान बनाया उसको करता हू और उसको भोगता हूँ। परके साथ करने और भोगनेका सम्बन्ध नहीं। किन्तु अपने आपमें ही अपनी ही कल्पनाओंमें करने और भोगनेका प्रसग है। यह बात एक वस्तुत्वकी कही जा रही है। इस विचारसे होगा क्या? मोह दूर होगा, और मोह ही इस जीवको दुःखी किए हुए है। हम आपको दुःखी करनेवाला कोई दूसरा जीव नहीं है, केवल एक मोहभाव ऐसा है कि जिसके कारण दुःखी होना पडता है। सभी जीवोंपर दृष्टि डालकर देखो तो सबके रागभाव लगा है पर वस्तुवोंके प्रति ये सोच बैठे हैं कि मुझे यह करना है, मुझे इस वस्तुको यों बनाना है इतना जोडना है ऐसा विकल्प बसाये हुए हैं। वह विकल्प दुःखी किए है। तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि बड़े बड़े सत पुरुषोंने

अन्तरङ्गमें उपेक्षा कर दी बाह्यकी और इसके फलमे देखो सर्व बाह्य पदार्थोंका त्याग किया। यदि संसारमें सुख होता तो तीर्थंकर आदिक जैसे महापुरुष इस परिग्रहको, राज्यको, वैभवोंको तजकर क्यों जाते ? और ये वैभव राज्य सब मनसे त्यागा। जिन्होंने अपने आपके स्वरूपको ग्रहण किया उन्होंने ही बाह्य पदार्थों को त्यागा।

अपना उचित विचार—भैया ! अपने आपमे यह विचार करें कि मेरी कब ऐसी स्थिति बने कि अपने आपको अपने आपमे देखूं। जो मेरा सहजस्वरूप है, अपने सत्त्वके कारण जो कुछ मेरा लक्षण है उतने रूप रहू, ऐसी मेरी कब स्थिति बने, ऐसा अपनेमे भाव होना चाहिए, और जो भी समागम हैं, जितने लोग घरमे आये हैं, वे हैं, उन्हें पालिये, उनकी बात पूछिये लेकिन श्रद्धा यह रखे कि सब जीवोंके साथ उनका अपना अपना कर्म लगा है और जब कभी मुक्त होंगे तो वे अपनी ही परिणतिसे, अपने ही शुद्ध आलम्बनसे मुक्त होंगे। उनका मैं कुछ करने वाला नहीं हू। जो कभी ऐसा मालूम भी होता है कि देखो यह दो एक वर्षका बालक है, हम इसे न खिलायें, इसकी रक्षा न करें तो कैसे यह जीवित रहेगा ? अरे भाई सबका अपना अपना उदय है। उनके पीछे पडकर तो अपने आपको बरबाद किया जा रहा है। जिनकी इतनी फिकर रखते हैं उनका इतना प्रबल पुण्य है कि उनके पीछे हमे रात दिन उनका नौकर बनकर रहना पड रहा है।

योग श्रद्धान और आचरणका उत्साह—कीजै शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना श्रद्धा धरे। द्यानत श्रद्धावान अजर अमरपद भोगोगे। जब कभी शक्तित त्याग शक्तित तपका वर्णन चलता है तो लोग झट यह अर्थ लगा लेते हैं कि देखो भाई ! शक्ति विचारकर तप त्याग करना, उससे ज्यादा न करना। किन्तु शक्तित तप त्याग का अर्थ है कि जितनी शक्ति पायी है उसे न छिपाकर तप त्याग करना। लेकिन जिसका जैसा आशय होता है उसकी उस प्रकारकी दृष्टि बन जाती है। देखना है अपने आपमे अपने आपके वैभवको। जो एक अलौकिक आनन्दमय है वह तब ही अपनी दृष्टिमे आयगा जब अपना एकत्वस्वरूप प्रतीतिमे हो। मैं केवल ज्ञान-मात्र हूं और ज्ञानमात्र ही निरन्तर परिणमता रहता हू। ज्ञानको ही करता हू, ज्ञानको ही भोगता हू। और जो ज्ञात हो रहा है बस इतनी ही मेरी दुनिया है। ज्ञान जो चल रहा है उतना ही मेरा धन है। ज्ञानके सिवाय और कुछ मेरी चीज नहीं। यों अपने एकत्व स्वरूपमे आये, ज्ञानमात्र चिन्तन करें तो सब समस्या सुलझ जायगी। शान्तिका क्या मार्ग है, हित किसमे है—ये सब बातें व्यवस्थित बन जायेंगी। जो वस्तुकी इस स्वतन्त्रताको नहीं समझता है वह पुरुष ही बाहरमे ग्रहण और त्याग करता है, किन्तु तत्त्वज्ञानी अन्तरङ्ग में ही ग्रहण और त्याग मानता है। और वीतराग निर्दोष सर्वज्ञ परमात्मा कषायरहित शुद्ध आत्मा न बाहरमे कुछ ग्रहण त्याग करता है और न अन्तरङ्गमे कुछ ग्रहण त्याग करता है।

निर्मोहताका उपायभूत विचार—इससे हमे यह शिक्षा लेनी है कि हम अपने आपमे यह निर्णय बनाये रहें कि मैं ज्ञानानन्दमात्र हू, इस स्वरूपका ही करने वाला हूँ और इस स्वरूपका ही भोगने वाला हू। मेरा किसी अन्य पदार्थसे कुछ सम्बध नहीं है। कोई मुझे कुछ बना नहीं लेता, मैं किसीको कुछ बना नहीं देता। भले ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें उपादान अपनी योग्यतासे, अपनी कलासे अपना कुछ परिणमन करे लेकिन सर्व परिस्थितियोंमे स्यादअस्ति, स्यादनास्ति वाला निर्णय अभेद्य है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप चतुष्टयसे है, परस्वरूप चतुष्टयसे नहीं है। अपना ही आत्मस्वरूप देखना है, उसे ही उपायदेय रूपसे जानना है, इसीमे आत्माका हित है। लेकिन निर्णयमे यह बात जरूर आती है कि अहितरूप जितनेमे भी परिणमन अब तक हुए, वे हुए मेरे ही परिणमनसे, किन्तु ये किसी परनिमित्त सन्निधानके बिना किसी परउपाधिके बिना होते तो ये मेरे रागादिकभाव कभी मिटते ही नहीं, क्योंकि अन्यथा माननेपर ये तो अपने स्वरूपसे ही हुए हैं, अपने ही कारणसे हुए हैं। तो है यह औपाधिकताका सम्बध लेकिन पदार्थ अपनी ही कलासे परिणमते हैं। इस बात जानकर हमे पर वस्तुवोंसे निर्मोह होनेकी शिक्षा लेनी चाहिए। मैं अकिञ्चन हू,

मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा मात्र मैं ही हूं। यों अपने आपके एकत्वस्वरूपकी ओर आयें और निर्मोह बनें। अनन्त भगवन्त सर्वज्ञ देवोंने यह ही किया था। अपने आपका अपनेमे अवलोकन किया, उसमें ही रमण किया और ससारके समस्त झंझटोंको सदाके लिए दूर कर दिया।

वाक्कायाभ्यां पृथक् कृत्वा मनसात्मानमभ्यसेत्।
वाक्तनुभ्यां प्रकुर्वीत कार्यमन्यन्न चेतसा॥१५५॥

आत्माकी विविक्तरूपता—अध्यात्म साधनाका साधक योगी कमसे कम इतना तो परिणाम करे ही करे कि मैं वचनसे और कायसे न्यारा हूँ। और मनसे अभ्यास करे जैसा कि अपने आपका स्वरूप है। और फिर इस दिशामे आगे वढता है तो मनका आलम्बन भी छूटता है। केवल ज्ञानके द्वारा केवल स्वका ही सम्वेदन करता रहता है। ज्ञानीपुरुष वचनसे और कायसे अपनेको पृथक् करके मनसे आत्माका अभ्यास करे और कदाचित कोई बाहरका कार्य करना पड़े तो उसे वचनसे और कायसे तो करले, पर मनसे न करे। ये दो बातें एक तुलनामे रखी जा रही हैं कि अन्तरङ्गका सम्वध तो मनसे वनाये, पर वचन और शरीरसे न बनाये, लेकिन बाह्यपदार्थोंका सम्बध कायसे और बचनसे तो चाहे वना डाले, पर मनसे सम्वध न बनाये। करना पडता है कुछ, बोलना पडता है कुछ, पर मनसे तो बोलनेका और करनेका काम न कीजिए। तन्मात्र न होइए और समझिये कि परिस्थिति है गृहस्थकी, ऐसा करना होता है, करना पडता है, पर यह मैं आत्मतत्त्व वचन और कायसे भी निराला हूँ।

ज्ञानीका अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग अवलोकन—पच परमेष्ठी और जिनेन्द्र भगवानकी भक्तिमे हम क्या निरखते हैं? उनकी पहिली साधनाए, बादकी साधनाए, निकटकी साधनाए, इन सबको भक्त निरखता है! हे प्रभो! आपने सबसे पहिले इन्द्रियोंपर विजय किया। कैसे विजय किया? यह जाना आपने अपने आपको कि यह मैं द्रव्येन्द्रियसे भी निराला, भावेन्द्रियसे भी निराला केवल ज्ञानस्वरूप हू। यों केवल ज्ञानस्वरूपका आलम्बन लिया, इन इन्द्रियोंपर विजय किया। हे प्रभो! आप फिर जितमोह बने। मोह विकल्प विचार इन सब तरगोंसे निराला केवलज्ञानमात्र अपने आपको अनुभवा। हे प्रभो! आप फिर क्षीणमोह हुए। इस ही अपने आपके स्वरूपके आलम्बनके सहारे आपका समस्त मोह गल गया। आप वीतराग और सर्वज्ञ हुए। यह गुणानुवाद, यह भगवत देवकी चर्चा अपने आपमें अपने आपको छूते हुए होना चाहिए। ऐसा मैं भी हो सकता हू, वही मेरा स्वरूप है। ऐसा अपने आपमे समन्वय कर जोडकर जिनेन्द्रदेवकी भक्ति करते हैं। वहा भी क्या किया कि मनसे आत्माका अभ्यास किया। अब बाहिरी बात देखिये—जब बाहरसे हमें कोई कार्य करना पडता है दूकानका, मकानका, कुटुम्बका, समाजका तो वचनसे करिये, कायसे करिये, पर भीतर में यही मेरा स्वरूप है ऐसी लगन लगाकर न करिये। विरक्त बुद्धि उन बाह्य कार्योंमे होना चाहिए और लगन आत्महितके कार्योंमे होना चाहिए।

अपनी सुध—भैया! अपने आपकी सुध जितनी वार आये, जितने क्षण आये उसमे अपनी भलाई है। गृहस्थ अथवा साधु दोनोंकी भलाई इसीमें है कि अधिकसे अधिक वार अपने निर्लेप स्वरूपकी सुध आती रहे। यही धर्मपालन है। धर्म ही जीवका शरण है। धर्म बिना इस जीवका कहीं कुछ भी पूरा नहीं पडता, क्योंकि ससारका स्वरूप ही ऐसा है। धर्मसे रहित हो, सकल्प विकल्प विषयकषायोंमे अपने आपको बसाये तो वहाँ नियमसे कर्मबन्धन है। जीवके मलिन परिणामोंका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणाय कर्मरूप स्वय परिणम जाती हैं। वहाँ यह बात न चलेगी कि मुझे कोई जानता नहीं, अकेला ही हू, मेरे कर्म कैसे वधेंगे? अरे लोग जानें अथवा न जानें, पर कर्मका तो ऐसा ही स्वभाव है कि जहाँ शुभ अशुभ सकल्प विकल्प, हर्ष-विषाद, रागद्वेषके परिणाम हुए वहाँ ये कर्म कर्मरूप बन जाते हैं।

विधान और स्वरूप—देखिये कर्मको कोई खबर नहीं है। कर्ममे कोई चेतना नहीं है, मगर ऐसा

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ही है कि विभावपरिणाम होनेसे कर्मबन्ध होता है और कर्मोदय होनेपर दु खी होते हैं। छतके ऊपरके पत्थर गर्म हो जाते हैं। न पत्थरको यह खबर है कि अब सूर्य चढ आया है, हमें गरम होना चाहिए और न इस सूर्यको। पृथ्वीकायके विमानको इतनी खबर है कि मेरे सामने अब यह पत्थर आया है। मुझे इसे गर्म कर देना चाहिए। लेकिन देख लो - कभी किसी बातमे कोई अन्तर नहीं आता। रोज रोज तकते हैं, ऐसा होने पर भी सूर्य सूर्यकी जगह है। पत्थर पत्थरकी जगह है। सूयका सन्निधान पाकर पत्थर गर्म होता है तो सूयकी परिणति लेकर नहीं, केवल अपने आपकी शीत परिणतिको त्यागकर उष्ण-परिणतिमें आया है। स्वतंत्रता भी देखिये पूरे तौरसे और निमित्तनैमित्तिक सम्बधका भी निर्णय कीजिए अच्छे ढगसे, इन दोनोंका विरोध नही है कि निमित्तनैमित्तिक सम्बध ज्ञात हो तो स्वतत्रता नष्ट हो जायगी। और ऐसा भी नहीं है कि अगर हम स्वतत्रता मानलें पदार्थमे तो निमित्तनैमित्तिक सम्बध नष्ट हो जायगा। और थोडी देरको यह समझ लीजिए कि एक बार निर्णयमे आगया निमित्तनैमित्तिक-भाव, पर उसे हमे हृदय मे बारबार अटकाना तो नहीं है। हमारा काम, हमारा मार्ग तो हमारे उपादानमें, हमारे आत्मामे, स्वतत्रता के अवलोकनमे, केवल एक चैतन्यस्वरूपके दर्शनमे है। आत्महितकी बात तो अपने आपके एकत्वमें है, द्वैतभावमें नहीं है, अद्वैतभावमे है। अपने आपको अपने आपमे एक अभेदरूपसे ग्रहण करिये।

परमे आत्माका अलाभ—मैं एक अकिञ्चन हू, मेरा कहीं कुछ नहीं है। यदि कुछ हो अपना तो बतावो। अपने आत्माको शान्ति देने लायक कोई भी परपदार्थ हो तो बतावो? आत्माको शान्ति तो अपने आपके विशुद्ध तत्त्व रससे हो सकती है। अपने एकत्व स्वरूपको देखो—सभी जीव असहाय हैं, सभी अपने अपने जिम्मेदार हैं। कोई किसीकी जिम्मेदारी नहीं ले सकता। कितना भी प्रेम हो पिता पुत्र आदिकका जैसा, फिर भी पदार्थ अपनी ही करनीसे, अपने ही भाग्यसे, अपने ही परिणामसे अपने आपमे सब कुछ पाता रहता है। सभी अपने आपमे-अपना परिणमन किया करते है। कोई किसीका सहाय नहीं है। और लोकमे कुछ सहाय भी समझते हैं तो है क्या बहाँ कि जब तक किसी जीवका किसी अन्य जीवके वर्तावके कारण कुछ सुख मिलता हो, कुछ स्वार्थ साधता हो, मनके अनुकूल बात बनती हो तो वह सेवा करनेमें प्रवृत्त होता है। वस्तुत तो सभी अपने अपने कषाय भावमे, ज्ञान भावमे परिणम रहे हैं। किसीका किसी अन्यके साथ सम्बध नहीं है।

निर्विकल्पताके आदरकी उपादेयता—हे आत्महितेच्छु, परसे निर्लेप असग केवल निज ज्ञानानन्दमात्र अपने आपको निरखिये और बिना घबडाहट, बिना सदेहके इस आत्मस्वरूपमे मग्न होइये। बीच-बीचमें बहुत ख्याल आयेंगे। अभी हमारी कच्ची गृहस्थी है, बच्चे छोटे हैं, सबको हम ही तो पालते हैं। यदि मैं निर्विकल्प बन जाऊगा तो क्या हाल होगा? यों दयासे क्या निर्विकल्प न बनना चाहिए? अरे बन न पायेंगे अभी गृहस्थावस्थामे, पर उत्साह यों रखना चाहिए कि यदि निर्विकल्पता आ जाय तो फिर हमारे लिए दु खका कोई काम न रहा दूसरे जीवका, परिवारका। फिर मेरा परिवार क्या? फिर मेरा सम्बध क्या? यो अनन्त जीव हैं और फिर वे अपने-अपने कर्मानुसार अपना अपना लाभ लेते ही हैं। यों जानकर धर्म पालनके समय परसे निर्लेप केवल ज्ञानानन्दरस निर्भर अपने आपके अतस्तत्त्वका निर्णय, इसका ही यत्न हर प्रसगमे करिये, यही धर्मका पालन है। और इस ही धर्मकी सिद्धिके लिए बाहरमे अपने अनेक कर्तव्य निभाये जाते हैं।

विश्वासानन्दयोः स्थानं स्याज्जगदज्ञचेतसाम्।
क्वानन्दः क्व च विश्वास स्वस्मिन्नेवात्मवेदिनाम् ॥१५५६॥

विश्वास कहा किया जाय और आनन्द कहा पाया जाय, ऐसी दो जिज्ञासायें और दो गवेशणायें जीवोंके अन्दर रहा करती है। इसके उत्तरमे अज्ञानीजन कहते हैं कि यह जगत, यह वैभव विषयसाध यही

तो विश्वासके योग्य है, यही तो आनन्दका साधन है। जिसका चित्त अज्ञानसे वासित है, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका भान नहीं है ऐसे प्राणियोंको यह जगत विश्वास और आनन्दका स्थान मालूम होता है। जो लोग घरमें सम्पन्न हैं, संतानसे सम्पन्न हैं, लडाई झगड़े भी घरमें नहीं हो रहे हैं और कुछ सत्यका भान भी नहीं किया है ऐसे पुरुष अब भी कहते हैं—सबको विदित है। वे मानते हैं कि यह मेरी घर गृहस्थी, यह मेरा परिवार, यह मेरा समागम, यह तो मेरा सब कुछ है, ऐसा विश्वास किए हुए हैं। और आनन्द यही तो है, अन्यत्र कहाँ है? ऐसी बुद्धि बहिरात्मा जनोंकी है। किन्तु जिन्होंने अपने आपके आत्मतत्त्वको जाना है, समझा है--यह मैं आत्मा अपने गुण पर्यायमें तन्मय हूँ, अन्य पदार्थोंसे अत्यन्त जुदा हू। परसे विविक्त अपने आपके एकत्वरूप निजजीवसत्वको जिन्होंने जाना है और ऐसे ज्ञानमय आत्मतत्त्वका अनुभव करके जिन्होंने आत्माका विलक्षण आनन्द प्राप्त किया है ऐसे तत्त्ववेदी पुरुष कह रहे हैं कि इस जगतमे कहाँ तो आनन्द है और कौनसी जगह विश्वासके योग्य है। आनन्द अपने आपमें है। और यह आत्मतत्त्व विश्वासके योग्य है। ये अज्ञानी पुरुष खूब भटके, जगह-जगह विश्वास करते फिरे। सब जगहसे इसे कोरा उत्तर मिलता रहा। फुटवालकी तरहसे यहाँ वहाँ डोलता रहा। अनादिकालसे इस जीवका यही हाल हो रहा है, पर हाय रे व्यामोही पुरुष! यह अज्ञान परिणाममे इतना दुःखी हुआ अब तक जगह-जगह ठोकरें खाता फिरा, पर बुद्धि में चेत न आया, ज्ञान और वैराग्यमें प्रीति न जगी। जो कर्मोंके सम्वरका कारण है ऐसे ज्ञानबलके निकट नहीं पहुच सका। जैसे कोई मोही बूढा अपने घरके नाती पोतोंसे ठुकता पिटता भी है और ममता भी बसाये रहता है ऐसी ही हालत इस अज्ञानी पुरुषकी है कि सब प्रकारके ज्ञेय पदार्थोंमें गया पर सभी जगह से कोरा जवाब मिला, सभी जगहसे आकुलता ही मिली, फिर भी यह अज्ञानी प्राणी उन ही विषयसाधनों में रुचि कर रहा है। जो अज्ञान बसा हुआ है वह कैसे छूटे? एक कथानक है कि एक बार शक्कर खाने वाली चींटी नमकके बोरोंमे रहने वाली चींटीके पास गई। पूछा—बहिन तुम यहाँ क्या खाती हो? तो उसने बताया—नमककी डली। ···अरी बहिन तुम हमारे साथ चलो, वहाँ तुम्हें बहुत मीठा भोजन मिलेगा। अनेक बार कहनेपर भी नमक वाली चींटीको विश्वास न हुआ, आखिर बडी प्रेरणा करनेपर वह नमक वाली चींटी गई। सोचा कि कहीं वहाँ उपवास न करना पड़े सो एक नमककी डली भी साथमे कलेवाके लिए लती गई। जब शक्कर चाटा तो शक्कर वाली चींटीने पूछा—बहिन कैसा स्वाद आया? तो वह बोली कि वही स्वाद आया जो हमारे घर आता है। अरी बहिन, मुखमें कुछ लिए तो नहीं है? हाँ हाँ एक दिनका कलेवा साथमें लायी हू, वह मेरे मुखमें है। अरी बहिन तू उस नमककी डलीको मुखसे निकालकर चख, फिर देख कि मीठा स्वाद आता है कि नहीं। उसने नमक की डली निकालकर रख दी और फिर चखा तो मीठा स्वाद मिला। यही हालत है यहाँके अज्ञानियोंकी, ये विषय सस्कार विषको छोडना नहीं चाहते, अपने उपयोगको बदलना नहीं चाहते, फिर कैसे आनन्दके धाम परमात्मतत्त्वकी ओर आयें? कष्ट भी सहते जाते हैं और उन ही विषयसाधनोंमें रमते जाते हैं।

इस जगतमे कौनसा स्थान ऐसा है जो विश्वासके योग्य हो? अनेक भव पाये, ऐसे ठाठ-बाठ, ऐसा वैभव अनेक बार पाया होगा, बल्कि इससे भी बढकर कई गुना विभूति पाया होगा, उनमें कितना ही विश्वास जमाया होगा, पक्की रजिस्ट्री भी करली होगी पर सब कुछ छोडकर जाना पडा। यही हाल इस भवका है। कहाँ भूल रहे हैं प्राणी? जैसे अनेक भवोंमे सब कुछ समागम छोडकर जाना पडा ऐसे ही इस भवमे भी ये सब समागम छोडकर जाना होगा। यहाँ कोई भी चीज विश्वासके योग्य नहीं है। विश्वासके योग्य तो अपना आत्मा है जो अपने साथ सदा रहता है। उसकी खबर पड़े, उसीकी दृष्टि जगे तो आत्माको विश्वासका धाम मिल जायगा, और यही आनन्दका धाम है। आत्मामे जो आनन्दानुभूति होती है वह किन्हीं परपदार्थोंसे निकलकर कहाँ आ सकती है? त्रिकाल भी किसी दूसरे पदार्थका परिणमन किसी दूसरे पदार्थमे नहीं आता। आनन्दका धाम भी यह आत्मा स्वयं है। जब यह

आत्मा अपने आपको मात्र आनन्दका धाम ज्ञानस्वरूप निरखता है तो जो स्रोत बहुत देरसे ढका हुआ था उसके खुलनेपर सारा आनन्दरस झरने लगता है। जैसे स्रोत जब तक किसी चीजसे ढका हुआ है तब तक जलका प्रवाह नहीं होता, पर स्रोतका ढक्कन हटा कि जलप्रवाह निकल पडता है। इसी प्रकार अपना जो सहज आनन्दका धाम है जब तक वह ढका रहता है तब तक उससे आनन्दरस नहीं उमडता, पर उसका ढकाव हटा कि आनन्द स्रोत झरने लगता है और आत्मीय आनन्दरस प्रवाह बड़े वेगसे बहने लगता है। अन्यत्र कहीं विश्वास न करें। कहीं अन्यत्र आनन्द मानता तो आकुलताका ही कारण है। अपने आपको ज्ञानानन्दमात्र अनुभव करना, यही तो स्वानुभव है, यही तो समस्त दुःखोंसे छुटानेका सच्चा उपाय है। जिस कालमें ऐसे विशुद्ध आत्माका अनुभव जगे उस कालमे तो क्लेश है ही नहीं। उपयोगमे क्लेश हो तो क्लेश है। हाँ इस उपयोगको छोडकर बाहरमें उपयोग देने लगे तो उसे क्लेश होने लगेगा। विश्वास और आनन्दका स्थान तो निज आत्मा ही है।

स्वबोधादधिकं किञ्चिन्न स्वान्ते विभृयात्क्षणम् ।
कुर्यात्कार्यवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामनादृत ॥१५५७॥

आत्महितका इच्छुक तत्त्वज्ञानी पुरुष आत्मबोधके सिवाय अन्यत्र अपना मन क्षणभरको भी नहीं रखता। एक आत्मामे ही मेरा उपयोग रहे ऐसी इच्छा तत्त्वज्ञानीकी रहती है। यह काम बहुत उत्कृष्ट है। साधुजन इस कार्यको कुछ-कुछ अथवा यथावत् कर सकते हैं। गृहस्थको कभी-कभी इसकी झलक जगती है। गृहस्थ भी जो अपने आपको ऐसा रिटायर बना लेता है, जिसमे सत्संगति, ज्ञानाभ्यास, तत्त्वचर्चा, वीतरागताकी रुचि —जिनकी संगतिमें रहकर यथासम्भव आत्मबोध बहुत-बहुत बार बना सके। आत्मोपयोग कर सके ऐसी स्थिति पा लेता है। आत्मबोधके सिवाय अन्य कोई काम जीवके हितका नहीं है। आत्महिताभिलाषीको आत्मज्ञानसे परे अन्यत्र कोई काम मनमें न रखना चाहिए। जिसका उपयोग विकाररहित, कुसंगरहित केवल विज्ञानघन आनन्दस्वरूपी अपने आपमे विराजमान होता ही उस उपयोगमे किसी भी प्रकारका क्लेश आना असम्भव बात है। जहाँ शान्तिके लिए, सुखके लिए अनेक उपाय रचते हैं वहाँ एक यह भी उपाय करके देखिये। जिस कुटुम्बके बीच आप रह रहे हैं वे सब यों ही फाल्तू हैं क्या? अरे वे अपने स्वरूपमे स्वरक्षित हैं और उनके अनेक प्रकारके कर्मोंका भार लदा हुआ है। अपने पुण्य पापके अनुसार वे अपनी स्थिति पायेंगे। कोई सोचे कि इस सारे घरमे एक मैं ही हू जो कमाता हू और इस घर भरको खिलाता हू तो उसका यह सोचना गलत है। अरे कमाने वाले! आपसे बढ़कर पुण्यका उदय उनका है जिनको कमाने की भी चिन्ता नहीं करनी पड रही है और बैठे बैठे आनन्द पाते हैं, विषयसाधन भोगते हैं। क्या अहंकार करना? घरमें जितने भी जीव हैं उनकी आप फिकर छोड़ दो, उनका अधिक भार आप अपने ऊपर न समझिये। आखिर उनमेसे किसीके पापका उदय आये और आप उसे सुभीता देना चाहें तो बन न सकेगा यह काम। उनमे किसीके प्रबल पुण्यका उदय हो और आपको अपने ही घर वालोंसे ईर्ष्या हो जाय। भाई बधुसे, और उनका बिगाड़ करनेकी चेष्टा करेंगे वैसे ही वैसे वे वैभव समृद्धि प्राप्त करने लगेंगे। छोड़िये उन सबको उनके भवितव्यपर, उनके भाग्यपर। आपपर किसीका बोझ नहीं है। आज चाहे कोई समझता हो कि हमारी स्थिति कमजोर है कच्ची गृहस्थी है, छोड नहीं सकते, सबकी रक्षा करनी पड रही है, कोई भी परिस्थिति आप महसूस करते हों लेकिन वहा तो पूर्ण परिस्थिति है, पूरे डटे हुए हैं। जैसे आप अपनेमे भरपूर हैं वैसे ही वे सब भी अपनेमे भरपूर हैं। यह बात इसलिए बतायी जा रही है कि अपने आपके दिलपर कल्पनाओंका, चिंताओंका शोकका बोझ न डाल। कदाचित कुछ वैभवकी हानि हो रही हो, कोई कठिनाई आ रही हो तो सोच लीजिए कि घर वालोंका भाग्य अभी अनुकूल नहीं है क्योंकि यह भागका बटवारा तो सभीको है ना, कौन क्या करे? कभी वृद्धि हो जाय वैभवमें तो सोचिये कि इसमे हम खुशी क्या मानें? इन

घर वालोंका ऐसा पुण्यका उदय है जो वैभव बढ रहा है, उसमें आनन्दमग्न मत होइये। ये सब लौकिक बात हैं, ये सब विपत्ति और विडम्बनाकी बातें हैं, ये मेरे हितमें नहीं हैं। मेरा हित तो आत्मबोधसे ही है। आत्मबोधके सिवाय और कोई भी कार्य अपने मनमे क्षणभर भी न धारण करें और कभी कर्मोदयवश तीव्र उदयकी प्रेरणापर समझिये ऐसी विकट परिस्थितिमें कुछ काय करना भी पड रहा हो तो कार्य बस वचन और कायसे कर लीजिए पर अनाद्रित होकर न कीजिए। उसमें यह विश्वास न रखिये कि ये सब कार्य मेरा भला करने वाले हैं। इनसे ही मेरा जीवन है, अस्तित्व है। एक आत्मबोध ही वास्तविक शरणभूत है। इसके लिए ही भगवत् जिनेन्द्रदेवको पूजा की जाती है, किस प्रयोजनसे कि अरहृतदेवके द्रव्य गुण पर्यायको जानकर हम आपमे एक विशदता आती है। उस विशदताको प्राप्तकर प्रभुके स्वरूपसे मिलाकर ऐसा अभेद बननेका यत्न कीजिए कि वहाँ केवल वह चिद्विलास ही उपयोगमें रहे। गुरुवोंकी सगति कीजिए ता ज्ञानके प्रयोजनसे। और भाव न रखिये। हमारा वैभव बढ़ जायगा, पुण्य बढ जायगा गुरुजनोंकी स ति सेवासे, यह भाव न रखिये। क्या करना है विभूति बढाकर? इसे जोडकर जाना होगा, यह भिन्न चीज है, आकुलतावों का हेतु है—ऐसा भाव रखिये, और भाव न रखिये। एक आत्मबोधके लिए ही गुरुसेवा कीजिए। ऐसी बात तो ज्ञानी जीवोंमें होती है। गुरुजनोंके प्रति उपासकोंकी यह श्रद्धा होती ही है कि ये आत्मज्ञानी हैं, आत्मध्यानमें ही रत रहा करते हैं। धन्य है इनके उपयोगको। ऐसी उनकी प्रशसामे गुण, स्मरणमे उपयाग जाता है तो उससे आत्मबोध ही होता है। गुरुवोकी सेवाका लक्ष्य भी आत्मबोधका होना चाहिए।

स्वाध्यायमे भी स्वका अध्ययन करें, जो भी विषय पढें उससे मेरा क्या सम्बध है, उससे हमे क्या शिक्षा लेना है ऐसा विवेक जरूर करना चाहिए। कुछ भी पढ रहे हों—कल्पना करो कि आप यह पढ रहे कि यह जम्बूद्वीप है, यह मेरु पर्वत है, ऐसे ऐसे असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, यह एक राजू भी नहीं पूरा हुआ। ऐसा भी कथन पढ रहे हो तो यह उससे शिक्षा लीजिए कि ऐसी विशाल जगहमे कोइ प्रदेश नहीं बचा जहाँ मैं अनन्त बार जन्मा मरा न होऊं। ऐसे अनन्त जन्मोंमे जब मैं तृप्त न हो सका, अज्ञानी भूखा रीता दीन ही रहा तो इस रफ्तारमे हम क्या हित पा लेंगे? आप मानो स्वाध्यायमें कुछ अतीतका इतिहास पढ रहे हों, पहिले चौथा काल था, चौबीस तीर्थंकर हुए। उससे पहिले तीसरा काल था, मनु आदिक हुए, वहा ऐसी ऐसी व्यवस्था हुई, यह पढ रहे हों तो उससे यह शिक्षा निकालें कि ऐसा ऐसा समय गुजरा, ऐसे ऐसे लोग हुए वे भी न रहे। हमने भी ऐसा ऐसा समय देखा, पर यहा हम भी न रह सकेंगे। जब वे पर्यायें न रहीं तो इस पर्यायका भी हम क्या विश्वास करें और इसको साधनामे क्या जागरूक रहना?

स्वाध्याय कर रहे हो तो उन सब वचनोंको आत्मबोधपर ले जाइये। आपके स्वाध्यायमें यदि यह आ रहा हो कि ऐसे ऐसे जीव हैं, ऐसी ऐसी पर्याय वाले हैं। पञ्चेन्द्रियमे सबसे बडा वह मगरमच्छ है जो स्वयभूरमण समुद्रमें हजार योजनका लम्बा, ५०० योजनका चौडा और २५० योजनका मोटा है। इसको सुनकर ऐसा लगता होगा कि यह तो कोरी बात है। लेकिन इसमे भी आत्महितकी शिक्षा लीजिए। जिस आत्मतत्त्वके बोध बिना इस जीवने ऐसे ऐसे शरीरोको धारण किया उस आत्मतत्त्वका श्रद्धान ही वास्तवमे शरण है। बाहरमें अन्य कुछ शरण नहीं है। स्वाध्यायमे आप कुछ भी पढ रहे हों, सभी विषयोंसे आप आत्मबोधका नाता लगा सकते हैं।

सयममें तो अधिक नम्रता आती है, अपने आपकी ओर झुकाव होता है, क्योंकि उपयोग बहुत कुछ बाहरसे हटा रखा है ना, सयत कर रखा है ना। तो आत्मबोध की तो प्रेरणा ही मिलती है। यही बात तपश्चरणमे है। इच्छावोंका निरोध किया तो यह जीव अपने आपके आत्मतत्त्वकी ओर बढेगा ही। दानमे भी आत्मबोधकी बात लगायें। यह वस्तु मेरी क्या है? कुछ भी नहीं। मैं तो इन रूप आदिकसे विलक्षण हूं, ये बाह्यतत्त्व हैं, पुद्गल हैं, समीप आये हैं, इनमें विकल्प रखकर मैं अपना अनर्थ कर रहा हू। इसको *त्याग* दें। त्यागना तो है ही, क्योंकि हमे अपनी रक्षा चाहिए। ये विकल्पोंके उत्पादक हैं। अतएव इन वैभवोंको

तो छोडना-ही पड़ेगा, छोड़े बिना गुजारा नहीं। छोडें तो ऐसी जगह छोडें कि जहाँ कुछ धर्मका सम्बंध तो बने, प्रचार तो हो, प्रभावना तो बने, और प्रभावना करने वाले इस धर्मका पोषण तो हो। बस यही आधार दानका है। जो कुछ भी हम कर्तव्य करें उन सबसे एक इस आत्मबोधकी शिक्षा लें। आत्मबोधके सिवाय अन्य कुछ करतूत तत्त्वज्ञानी पुरुष अपने मनमें क्षण भरको भी नहीं धारण करता। इसके विरुद्ध बनकर आप भी सोच लीजिए, आत्मबोध नहीं करते, हम तो घरमें ही चित्त लगायेंगे, वैभव रकमके गिननेमें ही चित्त लगायेंगे। वैभवके बढ़ानेमें ही चित्त लगायगे तो देख लो एक तो वह चित्त स्थिर नहीं रहता। विश्रान्त, अनाकुल नहीं रहता, और कभी कभी तो इस परवस्तुके प्रसगमे इसके बड़ा झंझट बढ जाता है कि यह खुद फिर उससे सुलझ नहीं सकता। तत्त्वज्ञानी पुरुष आत्मबोधके सिवाय अन्य कार्यको चित्तमे क्षण भर भी नहीं धारण करता और प्रयोजनवश किसी अन्य कार्यमे लगना पडता है तो वचन और कायसे लगता है, मनसे नहीं लगता। भीतरमे उन बाह्य कर्तव्योंके प्रति आदर नहीं है कि ये सब मेरे स्वरूप हैं, मेरा हित है, इससे मेरा भला है। ऐसी विरक्त बुद्धिपूर्वक तत्त्वज्ञानी पुरुष अपना जीवन व्यतीत करते हैं, इसमे ही सार है, हित है। हम भी उनके ही कदमोंके अनुसार कदम रखकर चलें तो हम भी अपने आपकी रक्षा कर सकते हैं।

यदक्षविषयं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणम् ।

आनन्दनिर्भरं रूपमन्तर्ज्योतिर्मयं मम ॥१५५८॥

जो कुछ इन्द्रियका विषयभूत रूप है, मूर्तिक पदार्थ हैं वे सब मेरे स्वरूपसे विलक्षण हैं। स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा स्पर्श विषयमे आता है। रसना इन्द्रियके द्वारा रस विषयमे आता है। देखिये कैसी विलक्षणता है, प्राकृतिकता है कि जैसे कोई फल चखा, आम चखा, तो आममे स्पर्श भी है, रस आदिक भी है और वे सब आममें हैं, एक तन्मयसे हैं अर्थात् जिस जगह रूप है उसी जगह रस है, मगर रसना इन्द्रिय रसको ग्रहण करती है, रूप, रस, गंध स्पर्श ये चार चीजें अलग अलग नहीं है कि आम किसी हिस्सेमें हो, रूप, रस आदि किसी हिस्सेमे हों। एक ही जगह चारों हैं, पर कैसा जुदा जुदा निमित्त है कि रसना इन्द्रियसे रस जाना जाता है, चक्षु इन्द्रियसे रूप जाना जाता है, घ्राण इन्द्रियसे गध जाना जाता है, स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्श समझा जाता है। चारों गुण एक ही जगह हैं, सर्वत्र प्रदेशोंमे हैं, पर भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न विषय जाने जाते हैं। शब्दोंको इतना इसलिए नहीं कहा कि जो कुछ होता है उसकी परिणति कोई न कोई प्रति समय रहती है, पर शब्दोंमें ऐसा नहीं पाया जाता कि शब्द बराबर प्रति समय रहे। जैसे रूप प्रति-समय रहता है पदार्थमे, पुद्गलमे इस प्रकार शब्द नहीं रहता। शब्दकी उत्पत्ति तो पदार्थके सघट्टन, संयोग वियोग आदि ऐसी परिस्थितियोंके समय होती है। इसलिए शब्द पर्याय है और वह द्रव्य पर्याय है, किसी गुणकी परिणति नहीं है। तो यह सब जो इन्द्रियोंके द्वारा विषयमे आता है यह मेरे स्वरूपसे विलक्षण है। मेरा स्वरूप तो अनादिसे निर्भर अन्त प्रकाशमय है। आत्मामें ज्ञान और आनन्द गुण है। ज्ञान आनन्द निकलकर फिर और कुछ आत्मामे देखो तो आत्मा कुछ वस्तु ही न रहेगा। और मात्र ज्ञानरूपसे, आनन्दरूप से आत्माको निरखने लगे तो आत्माका अस्तित्त्व मालूम पड़ेगा। जब तक ज्ञानमात्रपर दृष्टि नहीं होती तब तक न आत्माका परिचय है और न आत्माकी अनुभूति होती है। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हू, ज्ञान मेरा स्वरूप है। फिर ज्ञान बढाने की कोशिश क्यों की जाती किसी पदार्थपर दृष्टि रखकर ? मुझे अमुकसे ज्ञान मिलेगा यों पर-से ज्ञानकी भीख क्यो मागी जा रही है ? शायद यह कहो कि कुछ कुछ प्राप्ति होती तो है ज्ञानकी। जैसे कोई कथाकी किताब पढ़ने बैठ जायें तो वह नया ज्ञान होता तो है। कोई गुरु कुछ समझाये तो उसके वचनोंसे कुछ ज्ञान होता तो है, इस कारण हम परपदार्थोंसे ज्ञानकी भीख मागते हैं ? समाधानमें एक यह निर्णय रख दीजिए कि ऐसी भीख मागनेमें ऐसी जबरदस्ती करनेपे थोडा लाभ मिल भी जाय, तो भिखारियों को भी तो १०-५ पैसे मिल ही जाते हैं। मिल भी जाय ज्ञान तो बस जो मिला उतने तक ही है। लेकिन पर-

पदार्थों पर दृष्टि न रखें, परसे ज्ञानकी भाख न मागें। और मुझे बाहरका ज्ञान चाहिए ही नहीं। क्या करना है जान करके ? ऐसा निर्णय रखकर अपने आपके केन्द्रमे आकर स्वके ज्ञानका ही ज्ञान करें तो उस ज्ञानानुभूतिके प्रतापसे ज्ञानावरणकमका विशिष्ट क्षयोपशम होता है कि एक साथ ऐसा ज्ञान प्रकट होता कि लोक के समस्त पदार्थ उसके ज्ञानमे आ जाते हैं। आनन्दकी भी यही बात है। लोग मोहवश परपदार्थोंसे आनन्द की प्राप्ति मानकर चेतन और अचेतन परपदार्थोंसे आनन्दकी भीख मांगता है। कदाचित थोडा बहुत विकार रूपमें आनन्दका कुछ लाभ भी हो जाय, तो वह लाभ वहीं तक रहेगा, उससे कुछ भी तृप्ति न होगी, अतृप्ति चलेगी, और जब बाह्य पदार्थोंसे आनन्दकी धुन न रखे, मुझे न चाहिए मौज, क्या करना है, वह पराधीन है, नष्ट हो जायगा। यह मैं सुखकी क्यों चाह करू ? क्या रखा है सासारिक सुखोंमे ? मुझे ये सांसारिक सुख न चाहिए —ऐसा निर्णय बनाकर फिर आनन्दधाम निज जीवास्तिकायका ही आलम्बन लें तो इस अभेद अखण्ड अद्वैत निज अतस्तत्त्वके आनन्दसे ऐसा आनन्द उमडकर प्रकट होता है जो निर्दोष है, शाश्वत रहने वाला है, स्वाधीन है। यह आत्मा तो ज्ञान और आनन्दसे भरपूर है। कुछ चिंता शोक आदिमें हो तो अपनको अनुभव करता है और इस ज्ञान और आनन्दकी वजहसे सम्हल जाता है। ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानानन्द स्वरूपको निरखकर अन्तर डाल रहा है कि ये बाह्यके जितने मूर्तिक पदार्थ हैं ये मेरे स्वरूपसे अत्यन्त विलक्षण हैं। मैं तो आनन्द निर्भर अन्त चैतन्य ज्योतिस्वरूप हू, और ये मेरेसे अत्यन्त भिन्न जड हैं, जीर्ण शीर्ण होने वाले हैं। उन पदार्थोंमें मेरी आकर्षण बुद्धि क्यों हो ? ज्ञानी जीव अपने स्वरूपकी भक्तिमें चिंतन कर रहा है।

अन्तर्दुःखं बहिः सौख्यं योगाभ्यासोद्यतात्मनाम् ।
सुप्रतिष्ठितयोगाना विपर्यस्तमिदं पुन. ॥१५५६॥

संसारका कोई भी समागम मेरे लिए शरणभूत, सारभूत नहीं है सोच लीजिए खूब। जो जो समागम मिले उन सब समागमोंमे आपने पाया क्या, और उन समागमोंसे आपके हाथ आज रखा है क्या ? ज्योंके त्यों एकाकी अकेले परपदार्थोंसे न्यारे बने ही हुए हैं तो परपदार्थोंसे आत्माको कोई सारभूत बात कोई शरणकी बात नहीं मिलती। एक अपने आपके ज्ञानमे अपने ज्ञानस्वभावका स्वरूप समाया हो तो इसके प्रतापसे विकल्पजाल हटेंगे और निर्विकल्प परम चैतन्यधाममे विश्राम होगा। सुख, शरण, सार यही है। यही है योगका अभ्यास। अपने आपके उपयोगको अपने आपके स्वरूपमे लगाना यही एक शरणभूत है। याने अपना क्या स्वरूप है ? वह स्वरूप अपने ज्ञानमे बना रहे यह स्थिति है शरणकी। यही स्थिति है सारभूत। तब यह जानकर कल्याणार्थी पुरुष योगाभ्यासमें सुख समझता है। लेकिन जब योगाभ्यास करने बैठता है तो एक अन्तरङ्गमें क्यों कष्टसा जचता है ? क्योंकि बहुत कठिन बात है ना कि अपना ज्ञान अपने आपके आत्मामें समा जाय। ऐसा करनेके लिए अन्तमें बडा कठिन प्रतीत होता है। तो आचार्यदेव कह रहे हैं कि जो योगके अभ्यासमें उद्यमी हो रहे हैं ऐसे पुरुषोंको भीतरमें तो दुःखका अनुभव है और बाहरमें सुख मालूम कर रहे हैं। समाधिमें योगमें सुख जानकर इसके लिए बडा उद्यम करते हैं किन्तु कुछ उद्यम करनेके बाद या करते हुए बहुत कठिन पड रहा है कि यह ज्ञान अपने इस ज्ञानके स्वरूपमे आ जाय। तो फिर इस बातमें कष्ट होता है। नहीं बनता है काप, फिसल जाता है और श्रद्धा है ऐसी कि यह आत्ममग्नता हो ही जाना चाहिए। होती नहीं है तो अन्तरङ्गमें बडा कष्ट अनुभव करता है। तो यों योगके अभ्यासमें जिनका मन उद्यमी है उनको अन्तरङ्गमें तो दुःख होता है और बाहरमें सुख है तो योगके अभ्यासमें वे सुख समझते हैं और जिनको इस योगका अभ्यास हो गया है ऐसे योगी पुरुषोंको अन्तरङ्गमें तो सुख मालूम होता है और बाहरी स्थितिमें दुःख मालूम होता है। यह बात अपने आत्माकी चल रही है। आत्मा सब है। अपने आत्मा की अपने आपकी बात समझमें न आये, यह क्यों कठिन लग रही है ? समझमे तो आना चाहिए। कठिन

यों लग रही है कि विषयोंमें इसकी बुद्धि अटकी है। बाहरमें रागभाव जमा हुआ है तो चित्त तो उस ओर है, लगे कहाँसे अपने आत्मामें ? तो आत्माकी बात बड़ी कठिन मालूम होती है लेकिन आत्माकी बात तो स्वाधीन है, स्व की है। वह तो सरल लगना चाहिए और बाहरकी बातें जैसे वैभव जोडना, मकान बनाना, और-और भी व्यवस्थाएं बनाना ये परकी परिणतियां हैं। परकी परिणति मेरे आधीन नहीं हैं तो कठिन तो लगना चाहिए बाहरका काम, और अपने आपका काम तो अतीव सरल होना चाहिए। जब चाहे अपने आपके ज्ञानमें डुबकी लगा लें, लो सारे दु:ख समाप्त हो गए। जैसे नदीमें कोई कछुवा अपनी चोंच बाहर निकाले तैर रहा है तो चारों ओर से पक्षी उडकर उस कछुवाकी चोंचको पकडना चाहते हैं तो वह कछुवा यहाँ वहाँ अपनी चोंच करके दु:खसे बचना चाहता है। अरे भाई कोई उस कछुवेको समझा दे कि तू उन पक्षियोंके उस आक्रमणके भयसे चोंचको यहाँ वहाँ करके क्यों कष्ट पा रहा है ? तेरेमें तो एक कला है जिस कलाके बलसे तू उन दु:खोंसे छूट जायगा। याद कर। वह कला है तेरी यह कि तो चार छ: अंगुल पानीके नीचे चला जा, फिर तो क्या करेंगे वे पक्षी, वे तो सब भाग जायेंगे। ऐसे ही हे आत्मन् ! तू अपने ज्ञान-समुद्रसे बाहर अपने उपयोगको दौडाये चला जा रहा है, सो इस उपयोगचोंच पर अनेक शत्रु, मित्र, बन्धु, राजा, चोर, सभीके सभी तेरे ऊपर आक्रमण कर रहे हैं ? और तू उन सब बातोंसे घबडाकर अपना उपयोग बदलना चाहता है बाहरी बातोंमें। कितने कष्ट सह रहा है। और इस आत्माको कोई गुरु समझा देता है कि हे आत्मन ! तू क्यों बाहर ही बाहर उपयोगको डुलाकर कष्ट सह रहा है ? तेरेमें तो एक ऐसी कला है कि जिस कलाके बलसे तू संसारके सारे दु:खोंसे मुक्ति पा सकता है। वह तेरी कला है यह कि रे ज्ञान, तू अब अपने ज्ञानको स्वरूपको स्वभावको जान और अन्य बातोंकोको छोड दे। तो देख जब यह ज्ञान ज्ञान का ज्ञान करेगा तो ज्ञानानुभूति प्रकट होगी। और ज्ञानानुभूतिका ही अर्थ है आत्मानुभूति। तू अपने आपके ज्ञानसमुद्रमें डुबकी तो लगा। इस ज्ञानसमुद्रके भीतर तो आ। ये तेरे ऊपर आये हुए सारे आक्रमण विफल हो जायेंगे और तू अपने आपमें वैभवको पा सकेगा। यह है अध्यात्मयोगकी बात। जो इस आत्मध्यानके उद्यमी हैं उन्हें तत्काल तो बडा सुख होता है - हम ध्यान करने जा रहे हैं। जैसे कोई यात्राका विचार करे। यात्रासे जायगा तो पहिले बडा सुखी होता है पर जब प्रेक्टिकल चलना है तो अनेक कष्ट आ पडते हैं। यों ही समझिये कि आत्मानुभवकी, आत्मध्यानकी, आत्मयोगकी बात मनमें आती है कि आत्मयोग करेंगे, अपने आपकी सम्हाल करेंगे, आत्मधर्मका पालन करेंगे तो तत्काल तो बडा सुखरूप मालूम होता है, पर जब करते हैं, ज्ञानको सब ओर से सकोचकर समस्त बाह्यपदार्थोंसे हटाकर जब अपने आपके भीतरमें अपने ज्ञान को जमाना चाहते हैं तो जमता नहीं है, बडा कष्ट होता है। इच्छा यह है कि एक बार एक साथ मग्न हो जाये पर वहाँ फिट नहीं बैठ रहा, कष्ट प्रतीत होता है, लेकिन जिसका मन अपने अध्यात्ममें आ चुका, अपने ज्ञानमें आ चुका, ज्ञानानुभव हो गया, आत्मानुभवका दृढ अभ्यास हो गया उनको तो सुखदायी मालूम होता है और कदाचित् कोई हाथ झकोरकर कहे कि चलो रोटी खा लो तो यह भी बात बडी खराब लगती है। बाहरमें तो दु:ख प्रतीत होता है उस ध्यानाभ्यासीको, जिसने अपना स्वरूप अपने आपमें दृढ़तासे बसाया है और उसे अन्तरङ्गमें सुख प्रतीत होता है। कुछ लोग सोचते होंगे कि साधुजन गर्मीके दिनोंमें पर्वतपर, जाड़ेके दिनोंमें नदीके तट पर कैसे ध्यान जमाते होंगे और पैसा पास नहीं, नौकर पास नहीं, कोई राशन पास नहीं, बर्तन भी नहीं, क्षुधा तृषा आदि लगते ही हैं, ये कैसे जंगलमें रहते होंगे ? तो भाई उन्हें एक आत्मीय आनन्दका ऐसा उत्कृष्ट लाभ हुआ है जिस लाभमें वे ऐसा तृप्त हैं कि बाहरमें कोई कष्ट भी आये तो उन्हें कष्ट नहीं मालूम होता। तो यह है कमाई ऐसी जिसकी प्राप्ति होनेपर फिर संसारका कष्ट ही नहीं रहता। यह बात साधुजन निष्परिग्रही होनेके कारण बहुत जल्दी कर लेते हैं। पर गृहस्थजन चूंकि उनको अनेक काम पड़े हुए हैं। व्यापार पालन-पोषण तथा समाज आदिक, अतएव वे इस आत्मभावनामें विशेष सफल नहीं हो पाते। कदाचित् कभी-कभी झलक होती है, लेकिन यह थोडीसी भी झलक इस जीवन

में बहुत बडा काम देती है। गृहस्थावस्थामे करना क्या है? लक्ष्य तो वही बनाना है जो साधुवोंका है, पर विषय कषायोंके अनेक प्रसग लगे है जिससे देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, तप, दान, संयम आदिक सभी बातें गृहस्थोंको बतायी गई हैं। ये कार्य इसलिए बताये गए कि वे विषय कषायोंसे दूर रहकर आत्मानुभव करनेके पात्र बन सकें। जब आत्माका अनुभव अपने आप में समा जाता है तो उस पुरुषको बाहरमे कुछ भी नहीं सुहाता, मोहीजन उसपर आश्चर्य करते हैं कि क्या हो गया इसके? इसे न कोई काम सुहाये, न स्त्री बच्चे सुहायें, न धन वैभव सुहाये। जैसे कृपण लोग दानियोंकी चर्चापर अचरज करते हैं, कैसे ये दिए डाल रहे हैं इतना वैभव, इनका कुछ दिमाग तो नहीं उल्टा हो गया, ऐसे ही मोहीजन भी उस आत्मानुभवी पुरुषपर अचरज करते हैं। अज्ञानी मोही पुरुषोंको निर्मोही पुरुषोंके चरित्र सुनकर आश्चर्य होता है। कैसे छोड दिया सब घर-बार? कैसे अकेले जगलमें रहा करते थे? पर निर्मोही पुरुष जानता है कि जिन्होंने आत्मीय आनन्द प्राप्त किया उसमें वह विभोर रहकर सारे संकटोंको भुला दिया करता है। तो जो योगाभ्यासमें निपुण हो गए उनके लिए अन्तरङ्गमे तो सुख मालूम होता और बाहरमे क्लेश मालूम होता है।

तद्विज्ञेयं तदाख्येयं तच्छ्रव्यं चिन्त्यमेव वा।

येन भ्रान्तिमपास्योच्चैः स्यादात्मन्यात्मनः स्थितिः ॥१५६०॥

हर परिस्थितियोंमें उस ही आत्मतत्त्वकी बात सुनिये, उसका ही चिन्तन करिये जिससे भ्रम दूर हो और आत्माकी आत्मामें स्थिति हो। देखिये यह सम्बोधन यह उपदेश यद्यपि साधुजनोंके लिए दया गया है पर जो बात साधुवोंके लिए भली है वह बात हमें भी तो करनी है। हम इस बातको क्यों चावसे न सुनें? क्या बताया जा रहा है साधु पुरुषोंको? वही तो हमे भी करना है। यह दृष्टिमे रहे तो भिन्न पद में रहकर भी अनुकूल रह सकते हैं और प्रकाश पानेके कारण घबडाहटसे दूर रह सकते हैं। जिस किसी भी प्रकार बाह्यपदार्थोंके विकल्प छुटाकर जिस किसी भी समय केवल ज्ञानघन, ज्ञानानन्दका पुञ्ज केवल एक निज अंतस्तत्त्व आत्मानुभवमें आ जाय तो समझ लीजिए कि सारा भ्रम दूर हो गया। क्या है यह बाहरमे पडा हुआ पौद्गलिक ठाठ? यह मेरे स्वरूपसे बिल्कुल भिन्न है। इस पौद्गलिक ठाठकी प्रीतिमें कुछ मिलना तो दूर रहा, हम अपना कुछ खो ही देते हैं। बहुत-बहुत बार इन विषय भोगोंकी चर्चा सुनी, अनादिसे लेकर अब तक इन विषय भोगोंकी ही बात स्मरणमें रही, उनका ही परिचय रहा, लेकिन अपने आपके आत्मामें निरन्तर विराजमान जो कि द्रव्य दृष्टिके आलम्बनसे निरखा जाता ऐसा चैतन्यमात्रस्वरूप वही एक श्रवण करने योग्य है, वही पालने योग्य है और उसका ही चिन्तवन होना चाहिए। यद्यपि गृहस्थावस्थामें ऐसा लगता होगा कि ऊंची बातकी चर्चा की जा रही है। हमे तो छोटी बात चाहिए, पर भाई बडी बातके सुनने चिन्तवन मनन करनेसे छोटी बात तो आ ही जायगी। इस बड़े तत्त्वकी दृष्टि रखनेपर हम अपने कुछ थोड़े बहुत सही कर्तव्यमें, सही आचरणमें, सही चारित्रमे रह तो सकते हैं और फिर लक्ष्यके योग्य तो तत्त्व वही एक है। आचरण जरूर किसीके बडा होता है तो हम अपने अणु व्रतमें श्रावकके योग्य आचरणमें चलते रहें और लक्ष्यमें वही एक बात रखें कि शुद्ध चैतन्यमात्र जब मैं केवल एक अकेला रह जाऊंगा, परके सम्बधसे रहित रहूंगा तो यही परमात्म अवस्था होगी और सदाके लिए यह आत्मा समस्त ससारके सकटों से छूट जायगा—ऐसा जानकर हमारा उद्यम कुछ अपने आपके भीतर निरखनेका होना चाहिए। दोष दीखें उन्हें दूर करें। गुण नजर आयें तो उन्हें और बढानेकी कोशिश करें।

विषयेषु न यत्किञ्चित्स्याद्धितं यच्छरीरिणाम्।

तथाप्येष्वेव कुर्वन्ति प्रीतिमज्ञा न योगिनः ॥१५६१॥

इन्द्रियके ५ विषय हैं—स्पर्शन इन्द्रियका स्पर्श, रसना इन्द्रियका रस, घ्राण इन्द्रियका गध, चक्षु

इन्द्रियका रूप और कर्ण इन्द्रियका शब्द। जैसे कि कभी ठडा स्पर्श सुहाता है, कभी गर्म और कभी कोमल, ऐसे नाना तरहके स्पर्श सुहाये, वह तो इन्द्रियके विषयकी बात है। रसना इन्द्रियमें किसीको खट्टा सुहाता, कभी मीठा सुहाता है, कभी कडुवा भी सुहाता। करेला कडवा होता है पर उसका साग बनता है, मेथी कडुवी होती है उसका भी साग बनाते है। तो कडुवा भी सुहाता, कभी कषैला भी। चीज-चीजकी बात है। तो रस सुहाना यह रसना इन्द्रियकी बात है। कभी गध सुहाता, तो गध नाना तरहके हैं। कभी किसी प्रकारकी गध, कभी किसी प्रकारकी, ऐसी नाना तरहकी गध है, नाना तरहके इत्र हैं वे सुहाते हैं। तो घ्राण इन्द्रियके विषयकी बात है। रूप सुहाते। कभी कैसा ही रूप सुहाता, कभी कैसा ही। शब्द भी नाना हैं। कोई राग भरे शब्द, कोई मोह भरे शब्द। तो ये शब्द सुहाते हैं। यह कर्णेन्द्रियकी बात है। तो ये ५ इन्द्रियोंके जो ५ विषय हैं उनमे कोई भी विषय ऐसा नहीं जो इन प्राणियोंको हितरूप हो। किसीसे आत्मा का हित नहीं है। बहुत-बहुत विषयोंके साधन जुटे हों, खूब खाने-पीनेके मौज हों, हर तरहके आराम हों, उसमे भी जीवोंका हित तो नहीं है, क्योंकि सभी समागम क्षणभगुर हैं, भिन्न हैं, नष्ट होने वाले हैं, उनसे आत्माकी भलाई नहीं है, लेकिन जो ज्ञानीपुरुष हैं, मोहीजन हैं वे उनमे ही प्रीति करते हैं। रखा नहीं कुछ सार विषयोंमें, पर अज्ञानी जीवोंको वही सार नजर आते हैं। अत्र प्रयत्न करके उन विषयोंके साधनोंके जुटानेमें ही मग्न रहा करते हैं। हाँ जो योगीजन हैं, अध्यात्मरसके प्रेमी पुरुष हैं वे नहीं करते हैं विषयोंमे प्रीति। तात्पर्य यह है वे कि विषय प्रीतिके लायक नहीं हैं। जो विषयोंसे प्रीति रखते हैं वे धोखा खाते हैं इस भवमे भी और उनका अगिला भव भी बिगडता है। दुर्गतियोंमे जाना पडता है। वहाँ भी धोखा है। इससे विषयोंमे प्रीति नहीं करना है। प्रीति करें परमात्माके स्वरूपमें और परमात्माके स्वरूपकी तरह अपने आपका स्वरूप जानकर अपने आत्मामे प्रीति करें।

अनाख्यातमिवाख्यातमप्पि न प्रतिपद्यते।
आत्मानं जडधीस्तेन बन्ध्यस्तत्र ममोद्यमः ॥१५६२॥

ज्ञानी पुरुष चिरकाल तक अपने आत्माके ध्यानमे ही मग्न रहा करते हैं। वे लोगोंसे वचन-व्यवहार कम रखते हैं, बोलते कम है, अधिकतर मौनसे रहा करते हैं। वहीं बोलते हैं जहाँ कुछ आत्माके उद्धारकी बात निभतीसी हो। मूर्खोंमे जो अत्यन्त मूढ पुरुष हैं, विषयोंके व्यामोहीजन हैं उनमें वचन व्यवहार योगीजन नहीं करते हैं, क्योंकि अधिक मोही व्यामोही पुरुषोंमें बोलकर अपने आपके समयको बिगाडना और अपनी बुद्धि खराब करना, उसमे कुछ सार नहीं समझते। क्यों नहीं व्यामोही आसक्त पुरुषोंसे बोलते हैं, उसका कारण इस श्लोकमे दिखाया है कि जो अधिक मोही जीव हैं, जैसे वे बिना समझाये अपने मोहमें लग रहे हैं ऐसे ही उन्हें कितना ही समझावो तो भी वे अपनी उस मोहकी रीतिको नहीं छोड़ते। तो न समझाये की तरह समझाया जाने पर भी तो वे बातको नहीं मान सकते, इस कारणसे ज्ञानीजन सोचते हैं कि उन मूढ पुरुषोंमे कुछ भी समझाने करनेका उद्यम करना व्यर्थ है, ऐसा समझकर वे वचन प्रवृत्ति व्यामोही पुरुषोंसे नहीं करते। जो पुरुष आत्महितका इच्छुक है, मंदकषाय वाला है, जिसको अपने आपकी भलाईका कुछ मनमें बात जगी है, कुछ-कुछ धर्ममार्ग पर लगना चाहता है ऐसे पुरुषको तो ज्ञानीजन समझाते हैं। पर जो अति व्यासक्त हैं, मूढ है उनको समझानेके लिए वे समय नहीं रखते। जिसमे उनका उपयोग निर्मल रहे उनमे ही उनका प्रयत्न रहता है। बाह्य व्यवहार इसी कारण उनका कम रहता है।

तन्नाहं यन्मया किञ्चित्प्रज्ञापयितुमिष्यते।
योऽहं न स परग्राह्यस्तन्मुधा बोधनोद्यम ॥१५६३॥

ज्ञानी पुरुप और भी विचार करते हैं कि जो कुछ मैं परपदार्थोंको जानना चाहता हू, सो ऐसा

वह आत्मा नहीं हू और जैसा मैं हूँ वैसा दूसरे पुरुष मुझे ग्रहण नहीं कर सकते। इस कारण किसीको कुछ भी समझानेका उद्यम करना व्यर्थ है। ज्ञानीपुरुष अपने आपकी साधनामे अपनी धुन बनाये रहते है। जो पुरुष अति अज्ञान अधकारमे डूबे हैं, मोही हैं उनको समझानेकी चेष्टा ज्ञानीपुरुष नहीं करते। इसका कारण यह है कि उस चेष्टामे न वहाँ भलाई है और न खुदकी भलाई है। फिर प्रश्न हो सकता है—तो फिर अज्ञानियोंका उद्धार कैसे हो? तो कोई योगी अज्ञानियोंके उद्धारका ठेका लेकर नहीं उतरा है, वह तो अपने आपके परिणामोंको निर्मल रखनेकी धुनि बनाये है। और इस धुनिके बीच यदि किसी अज्ञानी पुरुषमे जो कि मद कषाय वाला हो, उसमे उपदेशका कुछ असर पहुच सकता है तो वह लाभ ले ही लेता है। ज्ञानीपुरुष अज्ञानियोंको देख देखकर, खोज खोजकर उन्हें समझाते फिरें इसके लिए उन्होंने अपना भेष या बाना नहीं लिया है। यदि वे ऐसा करते फिरें तो उनका वह भेष धारण करना व्यर्थ है। साधुजन तो अपने आत्माकी साधनाके लिए ही दीक्षा धारण करते हैं, परके उपकारके लिए रच भी ध्यान नहीं रखते। पर कषायें उनके भी हैं, करुणाबुद्धि उनके भी है इस कारण परका उपकार होता रहता है। पर कोई दीक्षा लेते समय ऐसी बुद्धि बनाये, ऐसा लक्ष्य रखे कि मुझे तो अज्ञानियोंका उपकार करना है तो उसने दीक्षा ही नहीं ली। आत्मा की साधना करनेका नाम है दीक्षा। उसीको कहते है साधु। तो जो ज्ञानी पुरुष हैं वे अज्ञानियोंमे नहीं रमते, न उनसे वचनव्यवहार करते है। इसके लिए इस श्लोकमे बहुत महत्त्वपूर्ण कारण बना रहे हैं कि बात यह है कि जो कुछ मैं परको जानना चाहता हू, परको जनाना चाहता हू ऐसा तो वह आत्मा मैं नहीं हू और जो मैं आत्मा हू सो परके द्वारा ग्रहणमे नहीं आ सकता। इस कारण उनको बोधनेका उद्यम करना व्यर्थ है, ऐसा जानकर परके बोधनके विकल्पसे दूर रहते हैं और अपना अधिक समय आत्माके सम्बोधनमे व्यतीत करते हैं।

निरुद्धज्योतिरज्ञोऽन्तः स्वतोऽन्यत्रैव तुष्यति।
तुष्यत्यात्मनि विज्ञानी बहिर्विगतविभ्रमः ॥१५६४॥

अज्ञानी तो अपनेसे भिन्न परवस्तुवोंमे ही खुश रहते हैं क्योंकि अज्ञानीका अन्तरङ्ग ज्ञानप्रकाश रुक गया है। लेकिन ज्ञानी पुरुष अपने आत्मामे ही सन्तुष्ट रहते है, क्योकि उनका बाह्यपदार्थविषयक भ्रम नष्ट हो चुका है। ज्ञानी और अज्ञानीके रमनेका अन्तर बताया जा रहा है। अज्ञानीको चूकि अपनेका कुछ पता नहीं है, जो परमविश्रामका स्थान है, आनन्दका धाम है, जहाँ उपयोग जाय और रमे तो एक विशुद्ध आनन्दका ही अनुभव मिले। ऐसे निज आत्मतत्त्वका उसे परिचय नहीं है तो वह रमे कहाँ? अनादिसे बाह्यवस्तुवोंका परिचय बना हुआ है और इन इन्द्रियोंके द्वारसे इन बाह्यवस्तुवोंके प्रसगमें यह सुख मानता चला आया है। इस कारण यह अज्ञानी जीव बाह्यपदार्थोंमे ही रमता है, वहाँ ही सन्तुष्ट होता है। सो देख लो—आजकलके मनुष्य लोगोंमे यह ही प्रवृत्ति देखी जा रही है—इन वैभवोंको बढाना, विषयसाधन बढाना, उनमें ही खुश रहना, उनमे ही सन्तुष्ट रहना। यह वृत्ति बना रखी है। किन्तु ज्ञानीपुरुषका बाह्यमे कहीं मन नहीं लगता, कहीं दिल ही नहीं थमता। कहाँ रमे? सब असार हैं, भिन्न हैं, उनमे अपना कुछ सम्बध नहीं है बल्कि उन बाह्यपदार्थोंको अपना विषय बनाकर यह जीव अपना अनर्थ कर रहा है। इसको वहाँ कोई तत्त्व नहीं नजर आता। अतएव ज्ञानी जीव बाह्यपदार्थोंमे नहीं रमता किन्तु वह अपना ही अन्तरङ्ग जो कारणपरमात्मस्वरूप है उस ही तत्त्वमें रमता है यह ज्ञानी। और अज्ञानी तो बाह्यपदार्थोंमें ही खुश रहता है। अज्ञानीका परिणाम तो उसका ससार बढाने वाला है और ज्ञानीका परिणाम उसका ससार घटाने वाला है। यों अज्ञानी और ज्ञानी पुरुषमें महान अन्तर है। एक कल्याणके मार्ग पर है और एक अकल्याण के मार्ग पर है।

यावदात्मेच्छया वत्ते वाक्चित्तवपुषां व्रजम् ।
जन्म तावदमीषां तु भेदज्ञानाद्भवच्युतिः ॥१५६५॥

यह प्राणी जब तक मन, वचन, कायके समूहको आत्माकी इच्छासे ग्रहण करता है, मन से कुछ सोचा, मानलो यह ही मैं हूं, यह ही मेरी करतूत है, ऐसा सोचना मेरा काम है और इस चिन्तनमे मेरी भलाई है, मुझे सुख होगा। उस मनकी क्रियासे बाहर अलग कुछ भी अपने आपके बारेमे नहीं विचार सकता अज्ञानी जीव। यह अज्ञानी जीव वचनोंका व्यवहार करता है। जिस कषायको लिए हुए बैठा है, जिसमें यह वचन निकाला है, स्वको नहीं छोड सकता, उसे ग्रहण किए हुए है, यह ही तो मेरा स्वरूप है, यही तो मेरी पोजीशन है, यही तो मेरा नाम है। उस कषायको नहीं छोडता, और उन कषायोंके कारण जो वचन बोलनेमें आ जाते हैं उन वचनोंको नहीं छोड़ सकते। मुझे ही तो कहा, मुझे ही तो लोग कह रहे हैं, यों वचनोंमें भी आत्मीयता लिए हुए है। अरे मेरी बात गिर जायगी क्या ? न गिरनी चाहिए। इससे ही वह अपनी बरबादी समझता है। पर बात किसीकी है भी क्या ? आत्मा तो वचनोंसे परे है, नाम किसी का है ही क्या ? लेकिन नाममें मरे जा रहे हैं। नामके पीछे अपना सर्वस्व अर्पण करनेके लिए तैयार रहते हैं। अरे इस आत्माका तो कुछ नाम ही नहीं है। जब तक उस निर्नाम आत्माका स्वरूप न समझेगा तब तक कल्याणका मार्ग न मिलेगा। तू अपने आपको नामरहित देख। ऐ ऐसा विशुद्ध चैतन्यमात्र हू जिसका कोई नाम ही नहीं है। जो मैं हू सो समस्त जीव हैं। जो प्रभु भगवत सिद्ध हैं सो ही मैं हूँ। सो ही सम त जीव हैं, हॉ पर्यायमे फर्क जरूर है। अरहत सिद्ध भगवत तो रागादिक दोषोंसे रहित है और हम लोगोंके परिणमनमें रागादिक चल रहे हैं, लेकिन चीज स्वरूप, स्वभाव वही है, जो अरहतका है सो मेरा है। कहॉ नाम है ? प्रभुका भी नाम नहीं है और अपना भी नाम नहीं है। प्रभु जो महावीर हैं, महावीर नाम जो ज्ञात होता है वह तो प्रभु नहीं। वह तो देहपिण्ड है। जो त्रिसलानन्दन है, सिद्धार्थका पुत्र है, इक्ष्वाकुवशका है, ७ हाथका शरीर है, स्वर्ण रगका देह है, यों जो जो उनके बारेमें जाना गया वह भगवान नहीं है, और जो भगवान हैं उनके उस आत्मामे जो विशुद्ध आत्मा है, परमात्मा है, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्दमय आत्मा है सो परमात्मा है। तो परमात्मा भी नामरहित है। जहाँ एक विशुद्ध चैतन्यपूर्ण ज्ञानविकास है वहा दोषोंका सवथा अभाव हो जाता है ऐसा विशुद्ध चैतन्य वह परमात्मा है। सो जो परमात्मा है सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो परमात्मा है। तो परमात्माकी उपासना तब तक नहीं हो सकती जब तक अपने आत्माके स्वरूपका परिचय न हो।

आत्मस्वरूपका भान है तो परमात्माका भी भान है और आत्मस्वरूपका भान नहीं है और जहॉ अपना भी भान नहीं, परमात्मस्वरूपका भी भान नहीं वहॉ यह जीव यदि प्रभुकी भक्ति भी करेगा तो इस रूप से करेगा कि तुम हमारा दुःख दूर कर दो, तुम हमारी नौकरी लगा दो, व्यापार बढा दो, सतान उत्पन्न करा दो, इस रूपसे प्रभुको भक्ति करेंगे। इस रूपमें प्रभुभक्ति वह नहीं कर सकता कि भगवानके उस विशुद्ध गुण को जानकर मैं अपने आपमे भी उस विशुद्ध स्वरूपका अनुभव करू। यह बात जब तक न बनेगी तब तक इस जीवका जन्म मरण बढता जाता है। जब तक अपने विशुद्ध स्वरूपका भान नहीं होता तब तक यह जीव मन, वचन, कायकी क्रियावोंका ही पोषण करता है। जब तक मन, वचन, कायको अपनी इच्छासे ग्रहण करता है तब तक इसका जन्म मरण लगा हुआ है। और जब भेदविज्ञान हो कि मन, वचन, काय ये अलग चीज हैं, मैं इनसे निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ। जब ऐसा भेदविज्ञान करते हैं तब उसका जन्म मरण दूर होता है, ससार दूर होता है। क्या करना है यमपालनके लिए ? अपने आपके निकट अपनेको देखो तो जरा, क्या मैं मन, वचन काय रूप हू ? मैं तो मन, वचन, काय—इन तीनोंसे परे एक विशुद्ध आत्म-तत्त्व हू। उस ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्माका अनुभव करें जो शरीरसे भी निराला है, वचनोंसे भी जुदा है,

मनसे भी परे है, ऐसे विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निज अतस्तत्त्वका अनुभव करें ।

जीर्णे रक्ते घने ध्वस्ते नात्मा जीर्णादिकः पटे ।
एवं वपुषि जीर्णादौ नात्मा जीर्णादिकस्तथा ॥१५६६॥

इस तरह अपने आत्माको देखो । जैसे वस्त्र पहिनते है ना लोग और किसीका वस्त्र फटा हो तो कोई आदमी यह अनुभव नहीं करता कि मैं फटा हूं । वस्त्र फटा है, मैं तो अनादिसे निराला हूं । हालाकि अज्ञान दशामे शरीरको माना कि यह मैं हू और शरीरको ही देख रहे वस्त्रसे न्यारा है तो मैं वस्त्रसे न्यारा हूँ इस प्रकार समझते है । यह एक दृष्टान्त दिया जा रहा है । इसी तरह समझो कि शरीर अगर जीर्ण शीर्ण हो गया, वृद्ध हो गया तो उसे निरखकर ज्ञानी जीव यह अनुभव नहीं करता कि मैं जीर्ण शीर्ण वृद्ध हो गया हूं । इसी प्रकार कोई मोटा कपडा पहिने हो तो वह यह अनुभव नहीं करता कि मैं मोटा हो गया हू, ऐसे ही इस मोटे शरीरको देखकर ज्ञानी पुरुष यह अनुभव नहीं करता कि मैं मोटा हूँ । इसी प्रकार यदि वस्त्र बिल्कुल नष्ट हो गया हो, जड हो गया हो, खाक हो गया हो तो वह यह अनुभव नहीं करता कि मैं खाक हो गया हू । जैसे कपड़े वाले लोग अपनेको कपड़ेसे भिन्न ही देखते हैं इसी प्रकार शरीरधारी भी ज्ञानी अपनेको शरीर से न्यारा ही देखता है । और ऐसा अपने आपको देहसे निराला समझ सकने वाला ही ज्ञानी योगी साधन कर सकता है, जिसको शरीरसे निराले अपने स्वरूपका भान ही नहीं है वह धर्मपालनका अधिकारी नहीं । मूलमें अधर्म है यह कि शरीरको माना कि यह मैं हूँ । एक बहुत बडा भारी पाप है मिथ्यात्व मोह अज्ञान । इससे बढकर और क्या, पूजा, यात्रा, स्वाध्याय सामायिक, तपश्चरण उपवास, ये सब काम मोक्षमार्गको सिद्ध नहीं कर पाते, क्योंकि जिसे मुक्त होना है उसका ही पता नहीं है कि मैं क्या हू । अपने आपकी पहिचान करना बहुत जरूरी बात है. और यो समझ लीजिए इस श्लोकके अनुसार कि जैसे फटे वस्त्रसे आत्मा न्यारा है ऐसे ही जीर्ण शरीरसे भी आत्मा न्यारा है । जैसे मोटा वस्त्र शरीरसे न्यारा है इसी प्रकार मोटे शरीरसे भी यह जीव अलग है । देहसे भिन्न केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अपने आपको देखो तो मैं केवल ज्ञानमात्र हू । जानने वाला भी ज्ञान है । जीवको निर्वाण परिणामोंसे मिलना है । इसलिए सब दुनिया भरके इतने काम बड़े बड़े श्रम करके किए जा रहे हैं तो एक यह भी काम करलें कि अपनेको यह अनुभव करलें कि यह मैं आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूपी देहसे निराला हू । देह मैं नहीं हू, नाम मैं नहीं हू । लोग नाम देह का रखते हैं । जब शरीर ही नहीं तो नाम किसका ? देहरहित नामरहित विशुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपका अनुभव कीजिए । अपना शरणभूत कारण समयसार परमात्मस्वरूप दर्शन देगा जिसके दर्शनसे कृतकृत्य हो जायगा यह जीव । ससारकी किसी वस्तुकी फिर वाञ्छा न रहेगी । ऐसे अपने आपमें अपने आपके उस कारणपरमात्मस्वरूपको देखिये और देहसे प्रीति न रखिये । देहसे प्रीति करनेमें कुछ नहीं रखा है । अपना शरण तो अपने आपमे ही मिलेगा ।

चलमप्यचलप्रख्यं जगद्यस्यावभासते ।
ज्ञानयोगक्रियाहीन स एवास्कन्दति ध्रुवम् ॥१५६७॥

योगी मुनि तत्त्ववेत्ताकी दृष्टि पदार्थोंमे ध्रुवस्वरूप देखनेकी होती है, तो जीवोंमे भी जो ध्रुव एकस्वरूप चैतन्यभाव है उसकी दृष्टि होती है, इस दृष्टिमे यह चलस्वरूप, जगत भी अचलसा मालूम देता है, और चलपना यो नजर आता है कि रागद्वेष कर रहे हैं । कोई वास्तविकता नहीं है, चीज तो समस्त अचल हैं । जिस समर्थ योगको यह चल जगत अचलके समान दीखता है वह मुनि इन्द्रियज्ञानसे रहित और योग परिस्पद कर्मोंसे रहित होनेसे वह ध्रुव स्थितिको प्राप्त करता है याने निर्वाणको प्राप्त होता है । जब और दृष्टिमे अपना परिणाम स्थिर होता है तो समस्त पदार्थ ज्ञानमे निश्चल प्रतिभास स्वरूप ही भासते हैं । जब दृष्टिमे

पदार्थका परमार्थस्वरूप ध्रुवस्वरूप दृष्टिमें होता है तो उसे सब अचल ही नजर आता है। जो चलायवान है, जो परिणमता रहता है वह सब पर्याय है, माया है। पदार्थोंमे परमार्थ तो एक ध्रुवस्वरूप है।

तनुत्रयावृतो देही ज्योतिर्मयवपुः स्वयम्।
न वेत्ति यावदात्मानं क्व तावद्बन्धविच्युति. ॥१५६८॥

यह आत्मा स्वयं तो ज्ञानज्योति प्रकाशमय है और देह सहित यह देही पुरुष तीन शरीरोंसे ढका हुआ है—आहारक, तैजस और कार्माण। देवगति और नरक गतिके जीव तीन शरीरोसे ढके हैं, आहारक, तैजस और कार्माण। यह आत्मा जब तक अपने ज्ञानमय आत्माको नहीं जानता तब तक बधका अभाव नहीं होता है। शरीर रूप जब तक मानता है यह जीव तब तक उसका बध नहीं होता। अब अपने देहका अधिक आराम चाहना और उसी आरामकी चाहमे साधर्मियोंसे लडना यह तो कोई ध्यानकी दिशा नहीं है। समय बीत जायगा। दो, चार, छ, दिनका समय है समाप्त हो जायगा और किया हुआ परिणाम, साधर्मीजनोंसे विद्रोह करना, शरीरका अधिक आराम चाहना, दूसरोंसे हिंसा रखना, इनसे मेरेको अधिक आराम हो—यह क्या है ? यह धर्मके विरुद्ध परिणाम है, मोह परिणाम है। और और भी अपने शरीरका लोभी होना, सामर्थ्य होते हुए भी किसी असमर्थका उपकार न कर सकना और यह ध्यानमे रखना कि हमे अपना तन क्यों झोंकना, यह सब मोहसे, अज्ञानसे भरा हुआ उपयोग है। यह शरीर तीन शरीरोंसे ढका हुआ है और यह ज्ञानमय अपने स्वरूपको नहीं जानता। सभी जीव प्राय करके ऐसे मिलते हैं। सभी अपने अपने शरीर का पिंडोला लिए हैं, शरीरमे आत्मबुद्धि बनी है, शरीरका आराम चाहते है, पर यह पता नहीं कि यह शरीर थोड़े दिनों बाद जला दिया जायगा। जिस शरीरमे इतनी ममता बस रही है उस शरीरसे बहुत परे भीतर मे आत्मा क्या हू ? ज्ञानमय हू। उसकी ओर दृष्टि नहीं जा रही है। शरीर शरीर ही सब कुछ हो रहा है तो यह शरीर तो नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। जब तक यह जीव शरीरमे आसक्त हो रहा है तब तक आत्माको नहीं जान सकता। और जब तक आत्माको नहीं जान सकता तब तक कर्मोंके बधसे छूट नहीं सकता।

गलन्मिलदणुव्रातसंनिवेशात्मकं वपुः।
वेत्ति मूढस्तदात्मानमनाद्युत्पन्नविभ्रमात् ॥१५६९॥

यह शरीर क्या है ? गिरने वाले और मिलने वाले पुद्गल पर्यायोंका स्कध है। उससे रचा हुआ यह शरीर है। उसे यह मूढ बहिरात्मा अनादिसे उत्पन्न हुए विभ्रमसे आत्मा जानता है। यही ससारका बीज है। है क्या यह शरीर ? मिलने और बिछुडने वाले पुद्गल परमाणवोंका पिण्ड है। उस शरीरको यह मोही जीव समझता है कि यह मैं आत्मा हूँ। ऐसे भ्रमके कारण यह पञ्चेन्द्रियके इन विषयोंका ही पोषण करता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाच इन्द्रियोंमें ही यह रत रहना है, इस शरीरसे निराला मैं एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हू, इस ओर इस जीवकी दृष्टि नहीं जाती। सो ऐसा भ्रम इस जीवका अनादिकालसे बना चला आ रहा है। बस यही भ्रम जन्म-मरणका बीज है। मरणके समय तो इस जीवको दुःख होता ही है पर जीवको जन्मके समयमे भी दुःख है। जैसा दुःख मरते समय होता है उससे भी कठिन दुःख गर्भसे निकलते समय होता है। देखा होगा कि जब कोई गाय बछडेको जन्माती है, बछड़ेका शरीर ठीक ढगसे जैसा निकलना चाहिए वैसा नहीं निकल रहा है तो उसे देख कर लोग दया करते हैं कि हाय ! यह बछडा नहीं निकल रहा, अब न जाने इसका क्या होगा ? अब जो बछडा निकल रहा है उसकी पीड़ा को कौन जाने ? यही हाल मरते समयका है। मरते समयमे क्या दुःख होता है जीवको सो उसका उदाहरण दिया है कविने कि जैसे चाँदीका तार पतला किया जाता है तो चाँदीकी पत्ती होती है जैसे छोटे बड़े अनेक छिद्र होते है तो छोटे छिद्रमे तार चलता है, जैसे उसे ताना जाता है इसी तरहसे जीवको मरते समय

तनाव होता है। और देखते हैं लोग कि पैरमें से जीव निकल गया, अब पेटमें रह गया, अब हाथमें रह गया, अब गलेमें जीव रह गया, अब लो यह जीव इस शरीरसे निकल गया। तो मरने समय भी बड़े क्लेश होते हैं। ये सब क्लेश इसी बातसे हैं कि इस शरीरमें ऐसी बुद्धि बनाली कि यह मैं हू। बस यही सबसे बड़ा पाप है। आप बताओ जो हमें छोड़ना है वह कितनी स्वाधीन बात है ? इसे मा-बाप, स्त्री, पुत्र, सास-स्वसुर किसीसे बाधा नहीं है। केवल अन्तरङ्ग परिणामोंको बदलने भरकी बात है। इस ससारमे जो भटकनाए बनी हैं उनका मूल कारण यही है कि इस शरीरमे ही आत्मीयताकी बुद्धि बनाली है।

मुक्तिरेव मुनेस्तस्य यस्यात्मन्यचलास्थितिः।
न तस्यास्ति ध्रुवं मुक्तिर्न यस्यात्मन्यवस्थितिः ॥१५७०॥

जिसकी आत्मामें निश्चल स्थिति होती है उसकी मुक्ति ही समझिये। जिसने अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको अपने उपयोगमे लिया है उस पुरुषकी मुक्ति ही समझिये। और जिसमे अपने आत्मामें उपयोग रमानेकी कला नहीं आयी उसको समझिये कि मुक्ति नहीं है। कोई लोग एक ज्ञानमात्रसे मुक्ति मानते हैं। ज्ञान हो गया, जानकारी हो गयी अपने स्वरूपकी तो इसीसे मुक्ति नहीं है। जान रहे और उल्टा चल रहे तो उससे मुक्ति नहीं है। जैसा स्वरूप है वैसा जाने और वैसा ही परिणाम स्थिर रहे तो मुक्ति होती है। जो आत्मामें स्थित है, उपयोग लग रहा है उसकी मुक्ति होती है, ऐसा कहमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही आ जाते हैं क्योंकि उपयोग वहाँ रमता है जहाँ इसकी श्रद्धा हो। विषयोंमें सुख की श्रद्धा है तो विषयोंमें चित्त रमेगा। अपने आत्मामें सुखकी श्रद्धा है तो आत्माने रमेगा चित्त। आत्मामें उपयोग रमाना इसीमे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये तीनों आ गए। इस ही रत्नत्रयमें मुक्ति प्राप्त होती है। इसे यों कहो कि अपने आत्मामें जिसकी अचल स्थिति होती है उसकी मुक्ति हो जाती है।

दृढः स्थूलः स्थिरो दीर्घो जीर्णः शीर्णो लघुर्गुरु।
वपुषैवमसबंधन् स्वं विन्द्याद्वेदनात्मकम् ॥१५७१॥

जो ज्ञानी पुरुष इस शरीरको निरखकर मैं जीर्ण हू, शीर्ण हू हल्का हूँ, भारी हूँ—इस प्रकार नहीं निरखता वही ज्ञानस्वरूपको जानता है। जरा अनुभव करो कि जिसका चित इसी बातमे बसा है कि मैं जीर्ण हो गया हूँ, मोटा हू, अमुक रूपका हूँ तो उसकी बुद्धि कहाँ पर है ? उसकी दृष्टि ज्ञानस्वरूप आत्मापर है क्या ? नहीं है। आत्मा न दुबला है, न मोटा है, न ठिगना है, न लम्बा है न गोरा है, न काला है, वह तो अमूर्त मात्र ज्ञानस्वरूप है। आत्माको अन्य-अन्य रूपोंमें मानना यही मिथ्यादर्शन है। जो अपनेको देहसे सम्बधित बातों रूप नहीं मानता है वही ज्ञानमात्र तत्त्वका अनुभव कर सकता है। और अपनेको ज्ञानरूप अनुभव करे यही सार है जिन्दगीमें और कोई सार नहीं है। न धन वैभवमें सार है, न परिजन मित्रजनों में सार है। ये सर्व दृश्यमान पदार्थ अचेतन हैं, पर हैं। यह शरीर भी अचेतन है, पर है। इसको अपनाए, इस रूप अपनेको अनुभव करे तो एक ब्रह्मस्वरूपका ख्याल हो। वह तो अमूर्त है, एक चित्प्रकाशमात्र है। जब ज्ञान ज्ञानकी स्थितिका ज्ञानस्वभावका अनुभव करता है तब आत्माका सम्वेदन होता है। ज्ञानी पुरुष इस शरीरके सम्बध रूप नहीं अनुभव करता, किन्तु शरीरसे भिन्न, शरीरकी सब बातोंसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्माका अनुभव करता है।

जनससर्गे वाक्चित्तपरिस्पन्दमनोभ्रमाः।
उत्तरोत्तरबीजानि ज्ञानी जनस्ततस्त्यजेत् ॥१५७२॥

जब मनुष्योंका समागम होता है, मिलन-जुलन होता है तो उनसे वचनव्यवहार बनता है,

नहीं तो वहाँ बैठते ही क्यो हैं ? कुछ तो वचन बोलने पड़ेंगे, कुछ तो मनका परिस्पन्द होता है और फिर उससे मनमे भ्रम होता, क्षोभ होता, हठ पैठा होती है, कुछ स्नेहका आग्रह है तो उससे फिर भ्रम बढ़ता ही जाता है और इस भ्रमसे फिर जन्म-मरणकी परम्परा चलती है। जब वचनोमें परिस्पन्द हुआ, चित्तमें परिस्पन्द हुआ तो मनमे भ्रम फैल गया और मनमे भ्रम फैला तो उसकी जिन्दगी बेकार है। वह तरीकेसे रह नहीं सकता, कोई बात जान समझ नहीं सकता। ज्ञानी पुरुष उन सब स्नेहोंका, मनुष्योंके संसर्गका परित्याग करते है। तो हम भी इन मनुष्योंका ससर्ग छोड़ें और एकान्तमे बसकर अपने आपकी धुनमे रहें।

नगग्रामादिषु स्वस्य निवासं वेत्त्यनात्मवित् ।
सर्वावस्थासु विज्ञानी स्वस्मिन्नेवास्तविभ्रमः ॥१५७३॥

जो अपने आपको नहीं जानता मैं आत्मा किस स्वरूप वाला हू, किस तत्त्वसे रचा गया है, किमात्मक है, जब अपने आत्माका ही पता नहीं रहता तो वह बाहरमे यों देखता है, यों समझता है कि मै नगरमे रहता हू, पवतमे रहता हूँ, जगलमे रहता हू। लेकिन जो ज्ञानी पुरुष है वह सभी अवस्थावोंमे खाते हुए, व्यापार करते हुए, जाते हुए सभी स्थितियोमे ऐसा समझता है कि मै तो अपने आत्मामे हू, और वास्तव मे आत्मा आत्मामे ही रह सकता, बाहर नही। अज्ञानी भी बाहर नहीं रह सकता। वह कल्पनामे मानता है कि मैं किसी बाहरको जानता हूँ, बाहरसे मेरा सबध है, एक कल्पनामे वह समझता है, वह जाने वह भी बाहरमे, अपनेमे बैठी चीज है। जैसे यह चौकी है तो चौकी अपनेमे रहती है, इसे चाहे जितने टुकड़ों मे काट दो पर यह तो अपनेमे ही रहती है इसी प्रकार यह आत्मा सब अवस्थावोंमे अपनेमें ही रहता है। चाहे सुख भोगे दुःख भोगे, जायगा कहाँ यह आत्मा ? कोई पदार्थ अपने स्वरूपसे बाहर नहीं जाता, परमे नहीं रमता। सभी पदार्थोंकी यही बात है कि वे सब पदार्थ अपने स्वरूपसे हैं। अपने प्रदेशोंसे हैं, अपने आप स्वयं रहा करते है। तो ज्ञानी पुरुष जानता है कि यह आत्मा अपने आपके आत्मामे रह रहा है। अगर रागद्वेष रूपसे ठहरना है तो यों समझते है कि यह विकारी बन रहा है और शुद्ध ज्ञानसे अपने ज्ञानमे लीन हुआ परिणमता है तो मोक्षमार्गके अनुकूल बात हो ही जाती है। ज्ञानी जीव परका आधार अथवा आधेय नहीं है परमार्थसे। यों तो यह चौकीपर घडी रखी है तो चौकीके औंधा देनेपर यह घडी नीचे हो गयी, चौकी ऊपर हो गयी, यह तो व्यवहारकी बात हो गया, मगर सूक्ष्मदृष्टिसे देखो तो घडीपर यह घडी स्वय है अन्य पदार्थ नहीं है। घडीका सस्थान, घडीका अस्तित्त्व घडीमे है, घडीसे बाहर नहीं। और इस दृष्टिसे जरा आकाश और आत्माकी भी बात देख लो। लोग कहते हैं और बात प्रचलित है कि आत्मा आकाशमे रहता है, पर आत्माका जो स्वरूप है उस स्वरूप दृष्टिसे आत्मा आत्मामें ही है, किसी परमे नहीं, क्योंकि आत्माका जो अस्तित्त्व है वह आत्मा ही रूप है, पररूप नहीं है, इसलिए परमार्थसे आत्मा आत्मामे ही है और व्यवहारसे आत्मा आकाशमे है। व्यवहार किसे कहा ? दो बातोंको सामने रखकर फिर उसका कोई निर्णय बने वह व्यवहार है। घडी और चौकी इन दो चीजोंको सामने रखकर व्यवहार बनता है, तो कहना होगा कि घडी आधेय है और चौकी आधार है। व्यवहारमे यह तक रख सकते हैं कि इस चौकीको झटका देकर हटालो तो घडी अपने आप गिर जायगी। गिर जाने दो घडी तिसपर भी घडी घडीमे है। वह अपने स्वरूपको छोडकर बाहर नहीं गई। स्वरूपदृष्टिसे प्रत्येक आत्मा अपने ही आपमे है। किसी पर-पदार्थमें नहीं है। लोक ऐसा जो मान लेते हैं, जिनकी दृष्टिमे यह बात समाती है वह ज्ञानी है, और जो अपनेको पर्यायमात्र मानते हैं वे अज्ञानी हैं। सभी जगह यह बात लगालो अपनी अपनी सबजगह। जैसे किसीके प्रति लोग कहते हैं कि यह ही सबको पाल रहा है, यह यदि न हो तो ये बच्चे, नाती, गोत सब बरबाद हो जायेगे। तो यह बात बाहरी व्यवहारकी है। अन्तरङ्ग व्यवहारसे देखो तो सभी जीवोंके साथ अपने-अपने कर्म लगे हैं।

कोई बड़े घरमें पैदा हो तो पैदा होते ही अच्छे बुलावा वाले आते, बडी बडी रकमें पेश की जाती हैं, बडी-बडी खुशिया मनायी जाती हैं, उसके लिए सजा हुआ बढ़िया मोतियोंका पालना लाया जाता है। अरे अभी वह बच्चा छोटा है, किसीका कुछ काम भी नहीं कर सकता मल मूत्र भी उसका उठाना पढता, फिर भी उसकी बडी-बडी सेवायें हो रही हैं। तो कुछ बात ता है वहाँ जिससे उसकी इतनी-इतनी सेवायें हो रही हैं। तो बात है उसका कर्मोदय। और जो ऐसा जानता है उसको अपनी जिन्दगीमें क्लेश नहीं होता। कभी कोई पुत्र अपने प्रतिकूल पड जाय, यथातथा बात बिगाडने लगे, सेवा शुश्रूषा न करे, तो भी ज्ञानीको कष्ट नहीं होता, जो यह समझता है कि मुझे इसके पुण्योदयके कारण इसके पढाने लिखाने तथा पालन पोषणकी सेवायें करनी पडी थीं। इसका पुण्य इतना प्रबल था कि मुझे इसकी नौकरी बजानी पडी थी। इसका पुण्यका प्रबल उदय था तो मैं इसकी सेवायें न करता तो मेरी जगहपर और किसीको इसकी सेवायें करनी पडतीं। एक घटना है कि राजा सत्यन्धरकी रानीके गर्भ था। उसी समय सत्यधरने अपना राज्य एक काष्ठ बेचने वालेको दे दिया था। क्यों दे दिया था कि उस राज्यकी वजहसे उसके आनन्दमें, मौजमें घरमें बाधा आती थी। काष्ठ बेचने वालेने सोचा कि जब तक सत्यन्धर राजा जीवित है तब तक दुनिया यही कहेगी कि यह इसका दिया हुआ राज्य है, सो सत्यन्धरपर उसने चढाई कर दी। राजा सत्यधरने अपनी गर्भवती रानीको एक विमानमें बिठाकर उडा दिया। वह विमान ऐसा था कि दो घटे तक उडकर कहीं भी गिर जाय। सो वह विमान बडी दूर पर एक मरघटमें जा गिरा। वहीं पर जीवन्धर नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। रानीने यह सोचा कि यदि इस लडकेका भाग्य है तो मनुष्य क्या, देवता भी इसकी रक्षा करेंगे और यदि भाग्य नहीं है तो हम चाहे गोदमें लिए रहें तो भी नहीं रह सकता है। सो रानी उसे वहीं मरघटमें छोडकर बहुत दूर जाकर छिप गयी। एक बडा भारी शेर उस मरघटमें आया, उसे वह बच्चा प्रिय लगा। उसे पाला-पोसा। तो जब पुण्योदय है तो घरका आदमी न हो तो और कोई नौकर बनेगा सेवा करनेके लिए। यह सोचना मिथ्या है कि मैं परिवारके सभी लोगोंको पालता हू। अरे उन्हें आप नहीं पालते। उनका उदय उनके साथ है। हाँ उनका यदि पुण्यका उदय है तो आपको उनकी नौकरी बजानी पड रहा है। यहाँ कोई किसीका कुछ नहीं करता। सभी अपने आपमें अपना परिणमन कर रहे हैं। ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि जीव जीवमें ही है, और जगह नहीं, आकाश आदिकमें जीव नहीं। जीवमें जीव है, यह परमार्थ दृष्टिकी बात है। आकाशमें जीव है—ऐसा सोचनेमें दो द्रव्योंपर दृष्टि है व्यवहार दृष्टि है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें ही रहता है। यह मर्म ज्ञानी जानता है कि सभी अवस्थाओंमें यह आत्मा अपने आत्मामें ही रहता है ऐसा अपनेको देखता है और ऐसा ही अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करता है। और जब अज्ञानका अनुभव प्रबल होता है तो इस आत्मामें आनन्दकी लहर ऐसी उत्कट वेगके साथ उठती है कि यह आत्मा उस समय उस आनन्दमें तृप्त हुआ अपने आपको पहिचानता है और सब क्लेशोंसे मुक्त होता है। जब यह आत्मा आत्मामें ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपसे ठहरता है तो इसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। सो हमें भी चाहिए कि अपने आपको जानें और अपने आपमें अपने उपयोगको रमानेका यत्न करें।

आत्मेति वपुषि ज्ञानं कारणं कायसन्तते:।
स्वस्मिन् स्वमिति विज्ञानं स्याच्छरीरान्तरच्युतेः ॥१५७४॥

जीवकी दो स्थितिया मुख्य हैं—एक तो शरीर सहित स्थिति और एक शरीररहित स्थिति। जीव दो स्थितियोंमें मिलेगा—या तो शरीरधारी या शरीरसे परे। जो शरीरसे परे है यह तो हैं सिद्ध भगवान और अरहत भगवान भी शरीरसे परे हैं। शरीरमें रहने हुए भी अरहत भगवान शरीरसे निवृत्त ही रहते हैं—क्योंकि शरीरसे प्रयोजन है जन्म मरण। सो अब उनका जन्म मरण न होगा। तो शरीररहितमें प्रभु आ गए

और शरीर सहितमें ये सब ससारी जीव आगए। इनमेंसे दो तरहके प्राणी होते हैं—एक तो मिथ्यादृष्टि जीव और दूसरे ज्ञानी जीव। जिनमे मिथ्यादृष्टि जीव तो आत्मामे आत्मतत्त्वको नहीं निहारते हैं। तो शरीर मे यह मैं आत्मा हू—इस प्रकारका जो ज्ञान है वह तो शरीर परम्परा मिलते रहनेका कारण है। और शरीरसे परे अपने आपके स्वरूपमे यह मैं आत्मा हू इस प्रकारकी जो दृष्टि है वह मुक्ति प्राप्त करानेका कारण है। मूल मे दो ही चीजें हैं। जिसे धर्म करना है उसे प्रारम्भमे क्या करना चाहिए, कैसा अनुभव करना चाहिए कि धर्म लगता रहे। अपने आपका ऐसा अनुभव करें कि मैं शरीरसे न्यारा केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र यह मैं आत्मतत्त्व हू—ऐसा ज्ञान करे, निर्णय करे और इसकी दृष्टि प्रबल बनायें। धर्मके लिए जो अनेक प्रकारके परिश्रम किए जाते वे सब परिश्रम भी सफल हो जायेंगे यदि एक यह दृष्टि अपनेको मिल सके। कौनसी दृष्टि? समस्त इन्द्रियोंका व्यापार रोककर शरीरसे और भीतर शरीरको छोडकर कुछ ऐसा देखें कि अपने आपमें केवल एक ज्ञानज्योतिका परिचय रहे, शरीरका भी भान न रहे, ऐसी परिस्थितिमे ज्ञानकी अनुभूति होगी, आत्माकी अनुभूति होगी और विशुद्ध आनन्दका अनुभव मिलेगा। फिर यह दृष्टि बनी रहे कि मैं शरीर नहीं हू, शरीरसे निराला ज्ञानानन्दका आश्रयभूत कोई जुदा तत्त्व हूँ। ऐसी दृष्टि बन जाय तो समझिये कि अब हम मोक्षमार्गमे चल रहे हैं, और जहा तक शरीरकी दृष्टि है, यह मैं हू इस मुझको आराम चाहिए। अरे ऐसी दृष्टि रहनेमें आराम सारा खतम होगा। जहाँ शरीरमे आत्मबुद्धि की, शरीरको विषयोंका आराम चाहिये तो आराम उसी समयसे खतम हो गया। यह जीव अनादिसे शरीरमें आत्मबुद्धि करके अपने आत्मीय आनन्दको नष्ट करता चला आ रहा है। जब यह जीव अपने आपमे अपने आपका अनुभव करता है तब उसे एक आराम मिलता है, क्योंकि आराम है अपने विकल्प और निर्विकल्पमे। जहाँ विकल्प हो वहाँ आराम कहाँ? जहाँ जहाँ क्षोभ नहीं वहाँ सब आराम है। इससे प्रथम यह निर्णय बनायें कि जिसे कोई जानता है वह तो मैं नहीं हूँ। जिससे कोई बोलता है वह मैं नहीं हू। लेकिन जिसे निरखकर लोग व्यवहार करते हैं भला या बुरा, वह मैं नहीं हू। मैं तो वह हू जिसे लोग जानते नहीं, अथवा कोई जानने वाला हो तो वह मेरे स्वरूप मे घुल जाता है, जो स्वरूप मेरा है वही स्वरूप उसका है। उसने उस स्वरूपको जान लिया। सो मैं सबसे परे निराला कोई ज्ञानमात्र तत्त्व हू ऐसी दृष्टि बने तो समझिये कि हमको मनुष्यभवका लाभ मिल गया। और यह दृष्टि जब तक न बने तो आप अनुभव करते होंगे कि अशान्ति ही अशान्ति है। चाहे वैभवपर दृष्टि हो, चाहे शरीरपर, सभी एक स्वार्थभरी बुद्धि हो जाती है। और जहाँ अपना व्यक्तित्व माना, अपनी स्वार्थभरी दृष्टि बनी वहाँ फिर सर्वत्र विपदा ही विपदा है।

भैया! अब तो धर्म करे मायने विपत्तिसे बचे, यह सीधा अर्थ है। धर्म करनेका अर्थ है कि शान्ति पावें, परमविश्राम पावें, अपनेमे आराम पायें तभी कल्याण भी हो सकता है। जो धर्म कर रहा है उसे शान्ति नहीं मिल रही, कषाय जग रही है तो समझिये कि वहाँ धर्म नहीं है। केवल नाममात्रका धर्म कर रहा है। तो धर्म वहा है जहाँ शान्ति है, जहाँ परमविश्राम है, और यह विश्राम कब हो सके जब आत्मा आत्माके सही स्वरूपको जाने और वहीं उपयोग लग जाय। बाहरमे सब ओरसे अपना मुख मोड़लें तो शान्ति आ सकती है। धर्मके लिए भीतरमे इतना महान पुरुषार्थ करना पडता है वह पुरुषार्थ कैसे मिलता, कैसे बनता, उसका प्राथमिक उपाय है देव शास्त्र गुरुकी सेवा। देवके सही स्वरूपको जानें। जो वीतराग है, सर्वज्ञ है वह देव है। जिसके जन्म जरा मरण आदिक कोई ऐब नहीं रहा, शरीरके सब दोषोंसे पृथक् हो गया है, अपने आपके विकासमे परिपूर्ण हो गया वह देव है और उसे उपयोगमे रखनेसे, उस देवकी भक्ति का परिणाम रखनेसे हम उसकी ओर बसे रहेंगे। हमारे चित्तमे वह देवस्वरूप बसा रहेगा जो मेरे स्वरूपके समान है। तो हमें अपने स्वरूपकी सुध रहेगी और उस भक्तिके कारण कभी कोई प्रतिकूलता भी आये तो चूकि हमे देवमे विनय है तो उसके कारण हम बहुतसी विपत्तियोंसे बचे रहेंगे। इस कारण देवभक्तिका आलम्बन इस मुमुक्षुको बहुत बड़े सहारेका आलम्बन है। इसी प्रकार शास्त्रका आलम्बन है। जो सर्वज्ञ देवको

दिव्यध्वनिमें प्रकट हैं वह शास्त्र हैं। आचार्यदेवोंने बडा परिश्रम करके इन शास्त्रोंको तैयार करके रख दिया है। जैसे बना बनाया भोजन रखा हो और कोई भोजन न करना चाहे तो कोई वश नहीं है इसी प्रकार सजा सजाया आत्मीय भोजन ग्रन्थोंमे लिखा पडा हुआ है, आचार्य देवोंने बड़े-बड़े अनुभवोंसे बडी कठिनाई से जाना है, उस सबका सब अनुभव आचार्योंने लिख दिया फिर भी हम उसका अध्ययन न करें, उसमें उपयोग न लगायें, उसका मर्म न पहिचानें, उसका मर्म जाननेके लिए गुरुजनोंका ससर्ग न बनायें तो वह कितनी मूढता भरी बात कही जाय?

ये ससारके सर्व समागम मिटेंगे। इन समागमोंमे कहाँ विश्वास बनायें? कौन चीज यहाँ ऐसी है चेतन अथवा अचेतन, घरके पुत्रादिक अथवा ये धन, वैभव, सोना, चाँदी व्यापार रोजगार आदि जो कि इस जीवका साथ निभा देंगे? सभी बिछुड जायेंगे। जीवका साथ कोई न निभा सकेगा। जब मेरा साथ निभाने वाला इस दुनियामें नहीं है तो मैं यहाँ किसकी भक्ति करूं? यहाँ रुचिके लायक कोई तत्त्व नहीं है। अरहत भगवतने जो उपदेश किया है, जो शास्त्रोंमे निबद्ध है, जिसे ऋषिजनोंने अपने आत्मामें उतारकर सही निर्णय किया है। तो आप समझिये कि यह शास्त्रोंका उपदेश कई जगहोंसे निर्माण होकर हमें मिला हुआ है। जैसे कहींसे पानी बहा, एक बार मशीनसे छना, फिर दूसरी जगह छना, फिर तीसरी जगह छना, कई जगहोंसे छनकर आया पानी जैसे वह निर्मल है इसी प्रकार यह तत्त्व पहिले निर्मल था लेकिन उस तत्त्व को सतोंने अपनी युक्ति और अनुभवसे उतारा है, अपने दिलमे छाना है, यों अनेक सतोंने, छाना, निर्णय किया, खोजा, फिर कितना छन-छन करके आया हुआ तत्त्व आज शास्त्रोंमें उपलब्ध है। उसे भी न समझें, उसके माध्यमसे हम अपने आपके स्वरूपको न जाने तो यह हमारी कितनी बडी भूल भरी गल्ती है? हम आप सबके ज्ञानका क्षयोपशम है, आत्माके मर्मकी बातको समझ सकते हैं, अच्छी तरह जान सकते हैं। जिसके इतना ज्ञान है कि बड़े-बड़े रोजिगार बनालें, बडी-बडी युक्तिया बनालें, हिसाब किताब बनाले अनेक तरहके पदार्थोंका निर्माण करलें, अनेक कलायें जानें, सगीत कला, लेखन कला भाषण कला, जहाँ इतना ज्ञान है, क्या यह ज्ञान अपने ज्ञानके स्रोतभूत एक अपने आपके आत्माका निर्णय न कर सके सो कठिनाई है क्या? केवल रुचि चाहिए। थोडा यह समझकर कि ससारका समागम मेरा साथी नहीं है इसलिए इनमें हीं दिमाग लगाना उचित नहीं है, ऐसा जानकर थोडा अपने आपके आत्माकी रुचि जगे, बाह्य समागमोंसे मुख मोडें। ज्ञानसाधनामें बढें तो इससे हम आपका भविष्य निर्भर है। इस श्लोकमे मूल बात इतनी कही जा रही है कि इस शरीरमें जो यह मैं आत्मा हू इस प्रकारका ज्ञान करना है वह तो शरीरके मूलकी परम्परा बढाता है। और कोई अपने आत्मस्वरूपको नजरमें रखकर अपने आपका ज्ञान करे अनुभव करे कि यह मैं ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हू तो यही विज्ञान शरीरोंसे निवृत्त होनेका कारण है। चाहिए क्या? निर्वाण। निर्वाण मायने सारे दुःख बुझ जायें, कोई कष्ट न रहे, परमशान्ति हो तो उसका उपाय है परमशान्तस्वरूप इस आत्मामे ही 'यह मैं हू' इस प्रकारका निर्णय रहे। तो यही धर्म है, यही मोक्षमार्ग है। इसीसे ही ऐसा दुर्लभ नर जन्म पाना, श्रावककुल, [illegible] जैन शासनका पाना सफल है।

विषय और [illegible] लाभ नहीं है। लोग तो कषायें करके कुछ लाभ मिल जाने पर समझते हैं कि इस कषायके [illegible] ला, पर यह उनका कोरा भ्रम है। कषायें करनेसे तो बुद्धि काम नहीं देती है। बुद्धि [illegible] अटपट व्यवहार करने लगता है। इससे कषायें करनेसे लाभ कुछ नहीं है। इस क्रो[illegible] पर क्रोध करना, कौन मेरा शत्रु? दुनियामें अनन्त जीव हैं, सर्व [illegible] [illegible] हैं, मेरा कोई बिगाड नहीं कर सकता। हाँ मेरे ही पाप [illegible] बन जायगा। तो किसपर क्रोध करना? मेरा बिगाड तो प[illegible] होता है। यहाँ कोई मुझपर क्रोध भी नहीं करता, क्रोध [illegible] है इस प्रकारका सही ज्ञान बने

तो आप यह समझ लीजिए कि हमने अपने आपमे अपना वैभव पाया।

क्रोध करना तो आसान है; भोग भोगना तो आसान है। क्रोध न जगे, भोग भोगनेकी बात भी मनमें न आये, इसमे बड़े पुरुषार्थकी जरूरत है, बडी गम्भीरताकी आवश्यकता है। पर हमें भोग न चाहिए, भोगोंका परिहार करदें, इसमे आवश्यकता है बड़े ज्ञानबलकी। तो प्रयत्न करें अपने आत्म-स्वरूपका निर्णय करके कि क्रोध न आये। अभिमान भी किस बातका? आज कोई राजा है, वह मरकर कीडा बन गया तो क्या रहा? और राजा भी है तो क्या हुआ? शान्ति और अशान्तिका निर्णय राज्य वैभवसे नहीं किन्तु सम्यग्ज्ञानसे होगा। सम्यग्ज्ञानी पुरुष अभिमान नहीं करता। अभिमान तो अहितकारी चीज है। अभिमान किस बातका? बडे बड़े चक्रवर्ती भी नहीं रहे। चक्रवर्ती जब ६ खण्ड पर विजय प्राप्त करके कई हजार मील पृथ्वीपर जब अपना नाम खोदने लगता है तो उसे अपना नाम खोदनेके लिए ऐसी जगह नहीं मिलती जहाँ पर दूसरे चक्रवर्तीका नाम न खुदा हो। तो कितने कितने चक्रवर्ती हो गए पर सभी मर गए। दूसरोंका सम्मान करनेका अपना परिणाम जगे, दूसरोंका बडप्पन रखनेकी वृत्ति जगे तो इसमे अपनी भलाई समझिये।

मायाचार किससे करना? मायाचार किया जाता है किसी चीजकी प्राप्तिके लिए। कोई इष्ट वस्तु प्राप्त करनेके लिए मायाचार करना पडता है तो ससारमे कौनसा ऐसा पदार्थ है जो परम इष्ट है, जो हमारा कल्याण करदे? मायाचार भी किस बातपर करना? ये सब विनाशीक बातें हैं। मायाचार भी किस बातपर करना? इसी तरह लोभ कषाय भी किस बात पर करना? यहाँ पर कोई भी चीज अपनी नहीं है। सभी परद्रव्य है, उदयके अनुसार प्राप्त हो जाते हैं। प्राप्त हो जानेके कालमे भी यह वैभव अपना नहीं है। और फिर लोभसे इस वैभवका सचय भी न होगा, बल्कि मिटता है। कषायोंसे पाप जगे तो इस आत्मामे पाप ही बढे, पुण्य घटा, वैभव दूर हो गया। तो लोभ भी न करना चाहिए। भोग विषयोंकी भी धुन न बने। शरीरकी रक्षाके लिए थोडेसे भोजनकी आवश्यकता है। यह शरीर धर्मसाधना करनेमे सहायक है इसलिए इसकी रक्षाके लिए भोजन करना भी आवश्यक है। तो शरीर स्थितिका कारण भोजन है। इससे भोजन किया जाता है, पर किसी भी प्रकार विषय कषायोंकी, भोगोंकी रुचि न रखे। और अपने आपमें अपने आत्माके स्वरूपकी सुध रखें तो समझिये कि हम धर्मका पालन कर रहे हैं। अपने आपकी सुध करें और बाहरी तत्त्वों मे अपने ज्ञानको न अटकायें तो समझिये कि हमने धर्म किया। शरीरको यदि माना कि यह मैं हू तो इससे तो शरीर मिलते रहनेकी परम्परा बनेगी और जब शरीरसे अत्यन्त भिन्न अपने आत्मतत्त्वको लगावो तो उससे ससारकी भटकना मिटेगी। जिसने इस शरीरको इष्ट माना है वह इस शरीरके वियोग कालमे दुःखी होता है। क्षुधा, तृषा, ठड-गरमी, फोडा-फुसी, रागादिक ये सबके सब इस शरीरके कारण होते हैं। शरीरका मिलते रहना तो अपने लिए एक कलककी बात मानना चाहिए। मैं तो इस शरीरसे रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आपका अनुभव करूं। इससे शरीरोंका मिलते रहना बद हो जायगा। शरीर मिलते रहना बद हो जाय तो यह हमारे भलेकी बात है। यह जीव जब यह अनुभव करले कि मैं शरीर नहीं हूँ। हमारा धर्म प्रकट हो, हमारे ज्ञानका पूर्ण विकास हो, यदि यह बात इष्ट है तो यह अनुभव करे कि मैं शरीरसे निराला केवल ज्ञानानन्दमात्र आत्मा हू। ऐसे अनुभवसे ही इस जीवको शान्ति प्राप्त होगी। जिसे अपना कल्याण चाहिए उसका यह कर्तव्य है कि इस शरीरसे भिन्न अपने आपको केवल चैतन्यप्रकाशमात्र निरखे।

आत्मात्मना भवं मोक्षमात्मन कुरुते यथा।
अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मन. ॥१५७५॥

इस शरीरको ही निज आत्मा मानकर शरीरोंकी सतति बढाना—इसीका नाम है अपना संसार बढाना। और शरीरसे आत्माका अनुभव न करके ज्ञानानन्दस्वरूप यह मैं आत्मा हूँ ऐसा अनुभव करनेके बल

दिव्यध्वनिमें प्रकट हैं वह शास्त्र हैं। आचार्यदेवोंने बडा परिश्रम करके इन शास्त्रोंको तैयार करके रख दिया है। जैसे बना बनाया भोजन रखा हो और कोई भोजन न करना चाहे तो कोई वश नहीं है इसी प्रकार सजा सजाया आत्मीय भोजन ग्रन्थोंमें लिखा पडा हुआ है, आचार्य देवोंने बड़े-बड़े अनुभवोंसे बडी कठिनाई से जाना है, उस सबका सब अनुभव आचार्योंने लिख दिया फिर भी हम उसका अध्ययन न करें, उसमें उपयोग न लगायें, उसका मर्म न पहिचानें, उसका मर्म जाननेके लिए गुरुजनोंका संसर्ग न बनायें तो वह कितनी मूढता भरी बात कही जाय?

ये ससारके सर्व समागम मिटेंगे। इन समागमोंमे कहाँ विश्वास बनायें? कौन चीज यहाँ ऐसी है चेतन अथवा अचेतन, घरके पुत्रादिक अथवा ये धन, वैभव, सोना, चाँदी व्यापार रोजगार आदि जो कि इस जीवका साथ निभा देंगे? सभी बिछुड जायेंगे। जीवका साथ कोई न निभा सकेगा। जब मेरा साथ निभाने वाला इस दुनियामें नहीं है तो मैं यहाँ किसकी भक्ति करू? यहाँ रुचिके लायक कोई तत्त्व नहीं है। अरहत भगवतने जो उपदेश किया है, जो शास्त्रोंमे निबद्ध है, जिसे ऋषिजनोंने अपने आत्मामे उतारकर सही निर्णय किया है। तो आप समझिये कि यह शास्त्रोंका उपदेश कई जगहोंसे निर्माण होकर हमें मिला हुआ है। जैसे कहींसे पानी बहा, एक बार मशीनसे छना, फिर दूसरी जगह छना, फिर तीसरी जगह छना, कई जगहोंसे छनकर आया पानी जैसे वह निर्मल है इसी प्रकार यह तत्त्व पहिले निर्मल था लेकिन उस तत्त्व को सतोंने अपनी युक्ति और अनुभवसे उतारा है, अपने दिलमें छाना है, यों अनेक संतोंने, छाना, निर्णय किया, खोजा, फिर कितना छन-छन करके आया हुआ तत्त्व आज शास्त्रोंमें उपलब्ध है। उसे भी न समझें, उसके माध्यमसे हम अपने आपके स्वरूपको न जानें तो यह हमारी कितनी बडी भूल भरी गल्ती है? हम आप सबके ज्ञानका क्षयोपशम है, आत्माके मर्मकी बातको समझ सकते हैं, अच्छी तरह जान सकते हैं। जिसके इतना ज्ञान है कि बड़े-बड़े रोजिगार बनालें, बडी-बडी युक्तिया बनालें, हिसाब किताब बनालें अनेक तरहके पदार्थोंका निर्माण करलें, अनेक कलायें जानें, सगीत कला, लेखन कला, भाषण कला, जहाँ इतना ज्ञान है, क्या यह ज्ञान अपने ज्ञानके स्रोतभूत एक अपने आपके आत्माका निर्णय न कर सके सो कठिनाई है क्या? केवल रुचि चाहिए। थोडा यह समझकर कि ससारका समागम मेरा साथी नहीं है इसलिए इनमें हाँ दिमाग लगाना उचित नहीं है, ऐसा जानकर थोडा अपने आपके आत्माकी रुचि जगे, बाह्य समागमोंसे मुख मोडें। ज्ञानसाधनामें बढें तो इससे हम आपका भविष्य निर्भर है। इस श्लोकमे मूल बात इतनी कही जा रही है कि इस शरीरमें जो यह मैं आत्मा हू इस प्रकारका ज्ञान करना है वह तो शरीरके मूलकी परम्परा बढाता है। और कोई अपने आत्मस्वरूपको नजरमें रखकर अपने आपका ज्ञान करे, अनुभव करें कि यह मैं ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हू तो यही विज्ञान शरीरोंसे निवृत्त होनेका कारण है। चाहिए क्या? निर्वाण। निर्वाण मायने सारे दुःख बुझ जायें, कोई कष्ट न रहे, परमशान्ति हो तो उसका उपाय है परमशान्तस्वरूप इस आत्मामे ही 'यह मैं हू' इस प्रकारका निर्णय रहे। तो यही धर्म है, यही मोक्षमार्ग है। इसीसे ही ऐसा दुर्लभ नर जन्म पाना, श्रावककुल पाना, जैन शासनका पाना सफल है।

विषय और कषायोंमें कोई तत्त्व लाभ नहीं है। लोग तो कषायें करके कुछ लाभ मिल जाने पर समझते हैं कि इस कषायके करनेसे मुझे लाभ मिला, पर यह उनका कोरा भ्रम है। कषायें करनेसे तो बुद्धि काम नहीं देती है। बुद्धि काम न देनेसे फिर वह अटपट व्यवहार करने लगता है। इससे कषायें करनेसे लाभ कुछ नहीं है। इस क्रोध कषायको भी छोडें। किस पर क्रोध करना, कौन मेरा शत्रु? दुनियामें अनन्त जीव हैं, सभी स्वतत्र-स्वतत्र हैं। सभीके अपने अपने कर्म लगे हैं, मेरा कोई बिगाड नहीं कर सकता। हाँ मेरे ही पापका उदय हो तो मेरे बिगाडका कोई न कोई कारण बन जायगा। तो किसपर क्रोध करना? मेरा बिगाड तो पापोदयसे होता है, मेरा बिगाड मेरे ही अज्ञानभावसे होता है। यहाँ कोई मुझपर क्रोध भी नहीं करता, क्रोध करने वाला अज्ञानभावसे अपने आपमें ही क्रोध करता है इस प्रकारका सही ज्ञान बने

है तो वह भी देहका त्यागी है। सबका आधार इतना है कि जो देहको मानता है कि यह मैं हू उसे तो देह मिलते रहेंगे अर्थात् जन्म-मरण चलता रहेगा और जो देहसे भिन्न ज्ञानमात्र अपनेको देखता है उसके देहकी परम्परा न रहेगी अर्थात् उसका निर्वाण होगा। तो उस देहसे ममता न रहे, देहसे विमुख बुद्धि रहे उसका यह विचार चल रहा है। तो उन विचारोंमें एक विचार यह भी है कि इस देहको लक्षणसे भिन्न जानें और देहको घृणास्पद जानें। इस देहमें रमने लायक कुछ चीज नहीं है। इस देहमे कितनी मोह बुद्धि है कि इसमें कुछ सार न रहते हुए भी इतनी तीव्र बुद्धि लगाये हैं। इस देहको ही सब कुछ समझते हैं। इस देहमे ऊपरसे लेकर नीचे तक भरा क्या है? खून, पीप, नाक, थूक, मल, मूत्रादिक अपवित्र वस्तुवें ही तो भरी हैं। यह देह प्रीति करने लायक नहीं है, ऐसा जानकर इस देहसे ममता त्यागें।

अन्तर्दृष्ट्वाऽऽत्मनस्तत्त्वं बहिर्दृष्ट्वा ततस्तनुम्।
उभयोर्भेदनिष्णातो न स्खलयात्मनिश्चये ॥१५७७॥

अब आत्माका लक्षण तकना चाहिए अन्तरङ्गमे और देहका लक्षण तकना चाहिए बहिरङ्गमें। जैसे देहका स्वरूप जानना हो तो आँखोंसे देखकर देहको जानें और आत्माका स्वरूप जानना हो तो आँखें बन्दकर भीतरमे उपयोगको लेजाकर जानें। ज्ञानी पुरुष आत्माके स्वरूपको अन्तरङ्गमें देखता है और देहको बाह्यमें देखता है। जब दोनोंके भेदमें वह प्रवीण होता है फिर आत्माके निश्चयमे नहीं रहता है। जब अपने आत्माका स्वरूप तकना हो तो बाह्य समस्त इन्द्रियोंका व्यापार रोककर जिसमें नेत्रइन्द्रिय प्रधान है सभीको रोकना चाहिए और नेत्रइन्द्रियको भी रोककर अर्थात् बाहरमें कुछ न निरख कर, देहका भान न रखकर केवल उस एक चैतन्यज्योति ज्ञानमात्र अपनेको तकता है तो वह सत्य सनातन आत्मतत्त्वको देखता है। जब आत्मा अपने आपके अन्दर पहुचता है तो इसे अद्भुत विशुद्ध आनन्द प्राप्त होता है। और उस आनन्दमें अनुभवके कारण ही यह ज्ञानी पुरुष अपनी श्रद्धाको दृढ रखता हुआ निभा लेता है इस बातसे कि बाह्यमे इसकी रुचि न हो और अपने अंतस्तत्त्वमें ही रमकर रहे। तो जो आत्मा और देहमें भली प्रकारसे भेद निरखता है वह अपने आत्माके निश्चयमे स्खलित नहीं होता।

तर्कयेज्जगदुन्मत्तं प्रागुत्पन्नात्मनिश्चयः।
पश्चाल्लोष्टमिवाचष्टे तद्दृढाभ्यासवासितः ॥१५७८॥

जब कोई पुरुष प्रथम ही प्रथम ज्ञानमार्गमे आया और उसमे आत्माके स्वरूपका निश्चय किया तो सबसे पहिले जब वह जगतपर दृष्टि डालता है तो सारा जगत उसे उन्मत्तकी तरह दिखता है क्योंकि उस आत्माके स्वरूपकी जानकारी की ना? मैं आत्मा तो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हू। जो आत्माको जाननेका अभ्यासी होता है उसको ये जगतके लोग उन्मत्त जैसे दीखते है। जब पहिले-पहल उसने जानना शुरू किया था आत्माके स्वरूपको उस समय यह जगत पागल दीख रहा था और जब यह आत्मतत्त्वका दृढ अभ्यास कर लेता है, उस चैतन्य ज्योतिके अभ्याससे खूब वासित हो जाता है तब फिर इसे सारा जगत लोहा पत्थरकी तरह निश्चल मालूम देता है। फिर तो यों लगता है कि आत्मा कैसा पागल है? आत्मा तो जो है सो है। यह तो सब पुद्गलका ठाठ है। इस चलायमान जगतमें पुद्गल देखता है और अन्तरमे जो आत्मस्वरूप है उसे निश्चल देखता है। जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो उत्पन्न होनेके समय चूंकि पहिली बार ज्ञान किया ना आत्मा का तो दूसरे लोग जो जगतमे भ्रमण करते हैं, नाना प्रकारकी प्रवृत्तिया करते हैं उन्हे यह जगत पागलकी तरह दीखता है। लेकिन जब उस तत्त्वस्वरूपका दृढ अभ्यास होता है तो ऐसा लगता है कि पागल कोई नहीं हो रहा। यह नृत्य तो पुद्गलका है। आत्मा तो निश्चल, स्वतन्त्र, निष्काम, शुद्ध अनादि सिद्ध विराजमान है।

से यह जीव ससारके आवागमनसे छुटकारा पा लेता है। यही परमशान्तिका स्थान है। अब हम यह विचार करें कि हमें शान्ति चाहिए अथवा अशान्ति, मोक्ष चाहिए या ससारका आवागमन ? इन दोनों ही बातोंकी प्राप्ति हमारे अपने आपके परिणामों पर निर्भर है। अपने ही द्वारा यह आत्मा अपना ससार बनाता है और अपने ही द्वारा यह आत्मा मुक्तिको प्राप्त करता है। मुक्ति प्राप्त करना भली बात है और ससारमें जन्म-मरण की परम्परा बढ़ाना यह बुरी बात है। यहाँ कौन किसका दुश्मन ? कौन किसका मित्र ? हमीं अपने आपके दुश्मन हैं, हमीं अपने आपके मित्र हैं। अगर अपनी जन्ममरणकी परम्परा बढाते हैं तो हमीं अपने दुश्मन हैं और अगर मुक्ति प्राप्त करते हैं तो हमीं अपने आपके मित्र हैं। जब अपनेमें अज्ञानभाव है, परपदार्थोंको अपनानेकी बुद्धि चलती है तो इस परिस्थितिमें यह आत्मा स्वय अपने आपका वैरी है और यह आत्मा जब दुर्विचारोंसे बचकर, बाह्य विकल्पोंसे छुट्टी पाकर, परपदार्थोंके ग्रहणसे विराम लेकर अपने आपमें आरूढ होता है तो इसीका नाम है मोक्ष। यही परम अतीत है। आत्माका हित मोक्ष ही है क्योंकि इसमें ही परम शान्ति है। तो ऐसे मोक्षका बनाने वाला कौन है ? साक्षात प्रभु भी मिल जायें उनका दर्शन हो, उनकी दिव्यध्वनि भी सुने, तिसपर भी मेरा मोक्ष प्रभु न कर देंगे। वह प्रभु हमारा रक्षक तो है पर वह मेरा मोक्ष करदे ऐसी स्वतत्रता नहीं है। उनकी दिव्यध्वनिको सुनकर उनके बताये हुए पथपर खुद चले तो मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञान भी यह खुद करे। अपने आपका श्रद्धान भी यह खुद करे और अपने आपमें मग्न होने का काम भी यह खुद करे। मोक्षका करने वाला भी यही आत्मा है। आत्माका अभीष्ट हुआ यह खुद आत्मा। किस परिस्थितिका आत्मा ? जहाँ विषयकषाय, माया, मिथ्या, निदान, सकल्पविकल्प—इन सबसे निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र, जिसका कि अनुभव करनेसे परम विशुद्ध आत्मीय आनन्द झरता है ऐसे ज्ञानस्वरूप को मानना कि यह मैं हूँ। यह मैं तो सबसे छूटा हुआ ही हूँ, सदासे मुक्त हू, इसी कारण इस आत्माको शिव कहते हैं। यह आत्मा अपने ही स्वभावसे कल्याणरूप है। सबसे निराला अपने स्वरूप अस्तित्वको रखने वाला केवल चैतन्यस्वभावमात्र यह मैं आत्मा हू—इस प्रकार सबसे मुक्त अपने स्वभावको देखेंगे तो कर्मोंसे मुक्ति होगी, शरीरसे मुक्ति होगी, सब विकल्प बधनोंसे मुक्ति होगी। इस कारण जो भी मुक्त हुए वे अपने आपके परिणामोंसे हुए, अतएव आत्माका मित्र स्वय यह आत्मा ही है। अन्यत्र दृष्टि इस प्रकार लगाना कि यह मेरा वैरी है, यह मित्र है, यह मेरी भूल भरी दृष्टि है। मेरे लिए तो मात्र मैं हू। यह जीव अपने आत्म-स्वरूपको भूलकर जब बाह्यविषयोंको अपनाता है, इन इन्द्रियोंको ही, इस शरीरको ही अपना सर्वस्व समझ लेता है तो समझ लीजिए कि वह खुद अपने आपका वैरी है। तो परिणामोंसे ही हम स्वय अपने आपके मित्र बन सकते हैं और हम ही अपने आपके शत्रु बन सकते हैं। तो मैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप अपना परिणाम बनाऊ, इसीसे अपने आत्माकी भलाई है।

पृथग्दृष्ट्वात्मनः कायं कायादात्मानमात्मवित् ।
तथा त्यजत्यशङ्कोऽङ्गं यथा वस्त्रं घृणास्पदम् ॥१५७६॥

आत्माके जानने वाले पुरुष देहको आत्मासे भिन्न देखें और आत्माको देहसे भिन्न देखें तभी वह नि शक होकर देहको त्यागता है। देहके त्यागनेका अर्थ यह है कि देहसे उपेक्षा बुद्धि हो। देहमें आसक्ति न हो, उसमें आत्मीयता न हो, यह देहका त्यागना कहलाता है। यदि ऐसा विरक्त परिणाम है तो देहमें रहते हुए भी देहका त्यागी है और जिसके ऐसा ज्ञानतत्त्वका परिणाम नहीं है वह देहको छोड़ता हुआ भी देह का त्यागी नहीं है। जैसे कोई पुरुष जब कभी किसीसे ग्लानि होती है तो वह उसे नि शक होकर त्याग देता है, इसी प्रकार ज्ञानी जीव इस देहको भी ग्लानिका स्थान समझकर इसको त्याग देता है, आशका नहीं रहती। जैसे घरमें रहते हुए भी घर वालोंसे मन न मिले और उपेक्षा ही रखे तो घरमें रहता हुआ भी घरके लोगोंका त्यागी है। इसी प्रकार देहमें रहता हुआ भी ज्ञानी पुरुष चूकि देहसे भिन्न अपने आत्माको जानता

है तो वह भी देहका त्यागी है। सबका आधार इतना है कि जो देहको मानता है कि यह मैं हूं उसे तो देह मिलते रहेंगे अर्थात् जन्म-मरण चलता रहेगा और जो देहसे भिन्न ज्ञानमात्र अपनेको देखता है उसके देहकी परम्परा न रहेगी अर्थात् उसका निर्वाण होगा। तो उस देहसे ममता न रहे, देहसे विमुख बुद्धि रहे उसका यह विचार चल रहा है। तो उन विचारोंमें एक विचार यह भी है कि इस देहको लक्षणसे भिन्न जानें और देहको घृणास्पद जानें। इस देहमे रमने लायक कुछ चीज नहीं है। इस देहमे कितनी मोह बुद्धि है कि इसमें कुछ सार न रहते हुए भी इतनी तीव्र बुद्धि लगाये हैं। इस देहको ही सब कुछ समझते हैं। इस देहमें ऊपरसे लेकर नीचे तक भरा क्या है? खून, पीप, नाक, थूक, मल, मूत्रादिक अपवित्र वस्तुवें ही तो भरी हैं। यह देह प्रीति करने लायक नहीं है, ऐसा जानकर इस देहसे ममता त्यागें।

अन्तर्दृष्ट्वाऽऽत्मनस्तत्त्वं बहिर्दृष्ट्वा ततस्तनुम्।
उभयोर्भेदनिष्णातो न स्खलयात्मनिश्चये ॥१५७७॥

अब आत्माका लक्षण तकना चाहिए अन्तरङ्गमे और देहका लक्षण तकना चाहिए बहिरङ्गमें। जैसे देहका स्वरूप जानना हो तो आँखोंसे देखकर देहको जानें और आत्माका स्वरूप जानना हो तो आँखें बन्दकर भीतरमे उपयोगको लेजाकर जानें। ज्ञानी पुरुष आत्माके स्वरूपको अन्तरङ्गमे देखता है और देहको बाह्यमे देखता है। जब दोनोंके भेदमें वह प्रवीण होता है फिर आत्माके निश्चयमें नहीं रहता है। जब अपने आत्माका स्वरूप तकना हो तो बाह्य समस्त इन्द्रियोंका व्यापार रोककर जिसमे नेत्रइन्द्रिय प्रधान है सभीको रोकना चाहिए और नेत्रइन्द्रियको भी रोककर अर्थात् बाहरमें कुछ न निरख कर, देहका भान न रखकर केवल उस एक चैतन्यज्योति ज्ञानमात्र अपनेको तकता है तो वह सत्य सनातन आत्मतत्त्वको देखता है। जब आत्मा अपने आपके अन्दर पहुचता है तो इसे अद्भुत विशुद्ध आनन्द प्राप्त होता है। और उस आनन्दमे अनुभवके कारण ही यह ज्ञानी पुरुष अपनी श्रद्धाको दृढ रखता हुआ निभा लेता है इस बातसे कि बाह्यमें इसकी रुचि न हो और अपने अतस्तत्त्वमें ही रमकर रहे। तो जो आत्मा और देहमे भली प्रकारसे भेद निरखता है वह अपने आत्माके निश्चयमे स्खलित नहीं होता।

तर्कयेज्जगदुन्मत्तं प्रागुत्पन्नात्मनिश्चयः।
पश्चाल्लोष्टमिवाचष्टे तद्दृढाभ्यासवासित ॥१५७८॥

जब कोई पुरुष प्रथम ही प्रथम ज्ञानमार्गमे आया और उसमे आत्माके स्वरूपका निश्चय किया तो सबसे पहिले जब वह जगतपर दृष्टि डालता है तो सारा जगत उसे उन्मत्तकी तरह दिखता है क्योंकि उस आत्माके स्वरूपकी जानकारी की ना? मैं आत्मा तो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हू। जो आत्माको जाननेका अभ्यासी होता है उसको ये जगतके लोग उन्मत्त जैसे दीखते हैं। जब पहिले-पहल उसने जानना शुरू किया था आत्माके स्वरूपको उस समय यह जगत पागल दीख रहा था और जब यह आत्मतत्त्वका दृढ अभ्यास कर लेता है, उस चैतन्य ज्योतिके अभ्याससे खूब वासित हो जाता है तब फिर इसे सारा जगत लोहा पत्थरकी तरह निश्चल मालूम देता है। फिर तो यों लगता है कि आत्मा कैसा पागल है? आत्मा तो जो है सो है। यह तो सब पुद्गलका ठाठ है। इस चलायमान जगतमें पुद्गल देखता है और अन्तरमे जो आत्मस्वरूप है उसे निश्चल देखता है। जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो उत्पन्न होनेके समय चूंकि पहिली बार ज्ञान किया ना आत्मा का तो दूसरे लोग जो जगतमे भ्रमण करते हैं, नाना प्रकारकी प्रवृत्तिया करते हैं उन्हें यह जगत पागलकी तरह दीखता है। लेकिन जब उस तत्त्वस्वरूपका दृढ अभ्यास होता है तो ऐसा लगता है कि पागल कोई नहीं हो रहा। यह नृत्य तो पुद्गलका है। आत्मा तो निश्चल, स्वतत्र, निष्काम, शुद्ध अनादि सिद्ध विराजमान है

शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि ।
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः ॥१५७९॥

कल्याणार्थी पुरुषको आत्मा और देहके भेदविज्ञानसे इतना निरूपण होना चाहिए, मेरे आत्मामें इतनी धुन होनी चाहिए कि ऐसी स्थिति बन जाय कि वह सुनता हुआ भी नहीं सुन रहा, बोलता हुआ भी नहीं बोल रहा। जैसे जब कभी किसी इष्ट बातमे ध्यान रहता है, किसी मनोज्ञ विषयमें प्रीति अधिक रहती है तब उसकी ऐसी स्थिति होती है कि दूसरा आदमी कोई बात सुना रहा है तो सुनता हुआ भी न सुननेकी तरह सुन रहा है और किसीसे कुछ बोलता है तो बोलता हुआ भी न बोलनेकी तरह बन रहा है। तो जब बाह्यपुद्गलमें कोई ध्यान विशेष जम जाय, जब यह स्थिति बन जाती है तो फिर आत्मामे जिसकी धुन बन जाय उसकी स्थिति तो इस प्रकार बन ही जाती है कि वह सुनता हुआ भी नहीं सुनता है और बोलता हुआ भी नहीं बोलता है। जब ऐसी स्थिति बन जाय तो समझिये कि अपने आत्माके दर्शनका, आत्माके रुचने का उसे दृढ अभ्यास बना है, और वह विशिष्ट तत्त्वाभ्यासी बन चुका है। जब तक अपनी ऐसी स्थिति नहीं बनती कि सुनते हुए भी कुछ नहीं सुन रहे, बोलते हुए भी कुछ नहीं बोल रहे, ध्यान उस एक चिदानन्दमय प्रभु परमेश्वरपर है तो समझिये कि अब हमारा कल्याण निकट है।

व्यतिरिक्तं तनोस्तद्वद्भाव्य आत्माऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।
स्वप्नेऽप्ययं यथाऽभ्येति पुनर्नाङ्गे सगतिम् ॥१५८०॥

आचार्य उपदेश करते हैं कि आत्माको आत्माके ही द्वारा आत्मामें रहकर शरीरसे भिन्न ऐसा विचार करें, ऐसा दृढ भेदाभ्यास करें कि जिससे फिर यह आत्मा स्वप्नमे भी शरीरकी स गतिको प्राप्त नहीं होता और स्वप्नमे भी शरीरमें आत्मबुद्धि न करे। इस प्रकार भेदविज्ञानका दृढ अभ्यासी बने। स्वप्नमें भी यह दृष्टि बन जाय कि जो शरीर है वह मैं हू ऐसा होता है जागृत अवस्थामे या जमी जिसने वासना बनाया है स्वप्नमें उस बासनाके अनुरूप स्वप्न आता है, कल्पनाए जगती हैं और कभी कभी जैसे जिसको यात्रामें बहुत चित्त है या मंदिरके दर्शनमें बहुत चित्त है उसे स्वप्नमे भी मन्दिर दीखते हैं, यात्रा दीखती है, क्षेत्र दिखते हैं और यहाँ तक कि जिसको अपने आत्माके अनुभवकी धुन लगी है और समय समयपर आत्माके अनुभव की दृष्टि बनती है उसे स्वप्नमें भी आत्माका अनुभव बन जाता है। तो स्वप्नमे भी इस शरीरसे भिन्न अपने आत्मतत्त्वका ही अनुभवन करे तो समझिये कि वह तत्त्वज्ञानी है और भेदविज्ञानका उसने दृढतम अभ्यास कर लिया है।

यतो व्रताव्रते पुंसां शुभाशुभनिबन्धने ।
तदभावात्पुनर्मोक्षो मुमुक्षुस्ते ततस्त्यजेत् ॥१५८१॥

व्रत और अव्रत, शुभ और अशुभ दो प्रकारके बन्धोंके कारण हैं, अर्थात् व्रत परिणामसे तो शुभ प्रकृतियोंका बध होता है और अव्रत परिणामसे अशुभ प्रकृतियोंका बध होता है, किन्तु मोक्ष शुभ अर्थात् पुण्य, अशुभ अर्थात् पाप दोनों प्रकारके कर्मोंका अभाव होनेसे होता है। इस कारण मुक्तिका इच्छुक मुनि इन व्रत और अव्रत दोनोंको ही त्यागता है अर्थात् इनमे करने न करनेका अभिमान नहीं करता। ज्ञानीपुरुष व्रत भी पाल रहा है, पर व्रतके करनेमे उसे ऐसा आग्रह नहीं है जैसा कि वह स्वरूपमें अपना आग्रह बनाये हुए है कि मैं चैतन्यस्वरूप हू। इस तरहका हठ नहीं है कि मेरा व्रत करना ही काम है, व्रत ही मेरा सर्वस्व है। वह तो परम्पराके कारण व्रत करता है पर व्रतमे आत्मीयताका आग्रह नहीं रखता है। और अव्रतमें तो रहेगा ही क्या ? तो ज्ञानी पुरुष पुण्य तथा पाप दोनों प्रकारके भावोंसे रहित केवल ज्ञानमात्र अपनेको निरखता है और उसही ज्ञानस्वरूपमें आत्मवैभवका आग्रह रखता है।

प्रागसंयममुत्सृज्य संयमैकरतो भवेत् ।
ततोऽपि विरमेत्प्राप्य सम्यगात्मन्यवस्थितिम् ॥१५८२॥

अब अव्रतका, असंयमका त्याग कर संयममे अनुरक्त होवे, पश्चात सम्यक् भली प्रकारसे जब आत्मामें अवस्थित बनने लगे तो उस संयमसे भी विरक्त हो जाय। त्यागमार्गकी ऐसी विधि है कि पहिले तो तत्त्वज्ञानी बने, फिर असंयमभावको त्यागे, संयमभावको ग्रहण करे और जब उस संयमी जीवके ऐसी दृढ़ अवस्थित हो जाय आत्मामे कि आत्मानुभव समय समयपर होता रहे। आत्मामें मग्नता बनने लगे तो फिर वह संयमको ही खोज कर संयम और असंयम दोनो प्रकारके विकल्पोंसे छुट्टी प्राप्त करे, त्यागकी विधि यह है, न कि कोई ऐसा सुनकर कि शुभ भावका भी छोडना बताया है, अशुभ भावका भी छोडना बताया है। तो कमसे कम पहिले एक से तो निपट ले याने शुभ भावसे निपट लें, बादमें अशुभ भावसे निपटनेकी कोशिश करेंगे। पहिले असंयमका अथात् अशुभ भावका त्याग बताया है। जब आत्मामे ऐसी स्थिति हो जाय कि आत्मामे मग्न रह सके तो फिर वह संयम भावका परित्याग करे, ऐसा परित्याग क्या करना है ? जब आत्मा की ऐसी उच्च स्थिति बन जाती है तो संयमके विकल्प भी उसके छूट जाया करते हैं।

जातिलिङ्गमिति द्वन्द्वमङ्गमाश्रित्य वर्तते ।
अङ्गात्मकश्च संसारस्तस्मात्तद्द्वितयं त्यजेत् ॥१५८३॥

अब लोकमे ये विकल्प भी हुआ करते हैं कि मैं इस जातिका हूं और अमुक लिङ्गका हूँ याने पुरुष हूं, स्त्री हूं आदिक विकल्प भी रहते हैं। और देखलो व्यवहारमें कि स्त्री लोग अपने चित्तमें कैसी बुद्धि बनाये कि मैं स्त्री हूं। बोल चाल, रंग-ढंग उठना-बैठना, व आदिक पहिनना सभी बातोंमे प्रति समय ऐसी वासना झलकती है कि इस जीवको ऐसी दृढ वासना है कि मैं स्त्री हूँ। यही बात पुरुषोंमे है। पुरुष भी अपनेको यही अनुभव करते कि मैं पुरुष हूं और वैसी ही उनकी प्रवृत्तियां हैं। ये सब प्रवृत्तियां देहमे आत्मीयताकी बुद्धि रखनेके कारण हैं। आचार्य देवोंने बताया है कि इस शरीरमे आत्मीयताकी बुद्धिको छोडना चाहिए। मैं अमुक जातिका हूं, वैश्य हूं ब्राह्मण हूं अग्रवाल हूँ खंडेलवाल हूँ, अमुक हूँ—इस प्रकारकी जो शरीरमे आत्मीयताकी बुद्धि रहती है, यह बुद्धि ही इस आत्माको उन्नतिसे रोकती है। और इस बुद्धिमे यह देखलो कि हर एक कोई कुछ प्रकृतिमे अपनी जातिको दूसरेसे कुछ उच्च मानता है। कुछ वासना ऐसी रहती है। बहुत कम लोग ऐसे हैं कि जो यह जानते हों कि और लोग भी मेरे ही समान हैं अथवा मेरेसे भी बढकर हैं। कुछ ही लोग ऐसा सोचते हैं। प्राय सभीके यह वासना बनी है कि जिस जातिमे हुआ है वह उसीको उच्च मानता है उसीको सबसे अच्छा और चतुर समझता है। एक बार मैं बराहपुरसे नैनागिरिमे पैदल जा रहा था कोई १८-२० मीलकी जगह थी। तो साथमे एक गाँवका एक हरिजन भी साथमे था। और उनमे भी कोई और छोटी जातिका था। तो रास्तेमे हमारी और उसकी खूब खुल खुलकर बात होने लगी। खूब दिल खोल-कर वह भी बातें करे और हम भी। समय तो काटना ही था। तो हमने सभी जातियोंके नाम लेकर उससे पूछा कि ये लोग कैसे होते, ये लोग कैसे होते ? उसने बहुत-बहुत बताया। आखिर निष्कर्ष यही था कि वह अपनेको सबसे चतुर ईमानदार बताने लगा। तो मनुष्योंमे प्राय करके प्रकृति ऐसी है कि जो जिस जातिमे उत्पन्न होता है वह अपनी जातिको महत्त्व देता है। तो जैसे लोग अपनी जातिका विकल्प रखते ऐसे ही मैं स्त्री हू, अथवा मैं पुरुष हूं—इस प्रकारकी शरीरमे आत्मीयताकी दृढ बुद्धि बनी हुई है। देहका आत्मा ममत्व रखे हैं। तो देहके आश्रयसे ही जाति है और लिङ्ग है, ऐसे ही मुनि होना श्रावक होना, अर्जिका होना त्यागी होना ये भी शरीरके आश्रित भेष हैं। जैसे जो चद्दर लगोटी पहिने सो क्षुल्लक है जो नग्नभेषधारी है वह मुनि है, यों ही उस मुनिको भी भेषमे आग्रह हो जाय कि यह मैं साधु हूं तो उसने क्या किया कि यह भेष तो था शरीरके आश्रयसे और उसने उस भेषमे ममता करके, आग्रह करके शरीरका ही आग्रह किया।

पुरुष शरीरका आग्रह करता है वही तो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी कहलाता है। तो ज्ञानी पुरुष जाति और लिङ्गके विकल्पका परित्याग करते हैं। अर्थात् ज्ञानियोंको न अपनी जातिपर अभिमान रहता है, न अपने भेषपर। वह तो अपने आपको वेषोंसे रहित विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप मानता है। यह बात जब तक चित्तमें नहीं समाती तब तक समझिये कि हम धर्मपालन नहीं कर रहे हैं। शरीरसे निराला ज्ञानानन्दस्वरूप मैं आत्मा हू, इस प्रकारकी बुद्धि जब तक नहीं बनती तब तक समझना चाहिए कि वह धर्मपालनमे नहीं है। यों लोकरूढिसे किसी भी बातमे धर्म मानकर उसके लिए प्रवृत्ति कर रहे हैं। कोईसा भी कार्य हो वह विधि सहित हुआ करता है। व्यापारका कार्य भी विधिपूर्वक होता है तो ढगसे चलता है। ऐसे ही धर्मकी बात भी विधिपूर्वक हो तो उसका निभाव होता है। धर्मकी विधि है कि सवप्रथम मूलमे अपना यह दृढ निर्णय होना चाहिए कि मैं शरीरसे निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूप अतन्तत्त्व हू, अमूर्त हू, जो छेदेसे छेदा नहीं जा सकता, भेदेसे भेदा नहीं जा सकता, ग्रहणमे नहीं आसकता, बधनमें नहीं आ सकता, ऐसा यह ज्ञानमात्र मैं आत्मतत्त्व हू, पहिले यह निर्णय हो तो समझिये कि हम धर्मपालन बराबर विधिसे कर रहे हैं। यह बात जिनके होती है वे शरीरमे आत्मबुद्धि नहीं करते, उनकी तो यह दृढ प्रतीति है कि मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अमूर्त आकाशवत् निर्लेप अन्तस्तत्त्व हूँ। जैसे कोई पुरुष ऐसी स्थितिमें आते हों कि अधेके कधेपर लगडा बैठा है तो उसे देखकर लोग ऐसा ख्याल करते कि देखो यह अधा ही तो चल रहा है। उस लगड़ेकी दृष्टिको अधेमे जोड देते हैं। इसी प्रकार जो अज्ञानी जीव हैं वे शरीरको ऐसा चलने फिरने देखकर ऐसा सोचने लगत हैं कि देखो यह शरीर कैसा चल रहा है, यह पिण्ड कैसा दिख रहा है? तो दिखाता तो आत्मा है, मगर आत्माके देखनेको शरीरमे जोड देते हैं। शरीर जो दिख रहा है, चल रहा है उसे ही चलता हुआ, देखता हुआ समझता है। उसे यह परख नहीं कि दिखने वाला यह आत्मा नहीं है, और ये जो क्रियाकलाप हो रहे है ये सब शरीरके आधारमे हो रहे हैं। तो ये अज्ञानीजन आत्मा और देहको भिन्न-भिन्न नहीं मान पाते। वे तो जो यह शरीर दिख रहा है उसीको सर्वस्व समझते है। तो इस शरीरमे ही आत्मीयताकी बुद्धि होनेमे सारे क्लेश लग रहे है। सम्मान और अपमान—ये दोनों भी इस देहमें आत्मीयताकी बुद्धि करनेमें होते हैं। जो ज्ञानी जीव होगा उसे शरीर और आत्मामे पूर्ण भिन्नता विदित है, अत वह जानता है कि इस मुझ ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माका न कोई सम्मान कर सकता है और न अपमान। उस ज्ञानी पुरुषमे ये व्यर्थके विकल्प नहीं उठते, अत वह सब विकल्पोंके बोझसे रहित हो जाता है।

> अभेदविद्यथापङ्गोर्वेत्ति चक्षुरचक्षुषि।
> अङ्गेपि च तथा वेत्ति सयोगाद्दृश्यमात्मनः ॥१५८४॥
> भेदविन्न यथा वेत्ति पङ्गोश्चक्षुरचक्षुषि।
> विज्ञातात्मा तथा वेत्ति न काये दृश्यमात्मन ॥१५८५॥

जैसे ऊपर उस अज्ञानकी वृत्ति समझानेके लिए अधे और लगड़ेका दृष्टान्त दिया है जाता कि लोग चलते हुए अधेको निरखकर दोनों ही बातें अधेमे मान बैठते हैं कि यह नेत्रोंसे देखता भी है और जानता भी है। लेकिन जिसे भेदविज्ञान हुआ है, लगड़े और अधेके स्वरूपमे जानकारी हुई है वह यह समझता है कि लगडा देखता है, रास्ता बता रहा है और अधा अपने शरीरसे चल रहा है, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष शरीरमें और आत्मामे भेदविज्ञान किए हुए है तो वह भली प्रकार जानता है कि देहकी क्रिया देहमे होती है और आत्माका भाव आत्मामे होता है। वह आत्माकी बातको देहमे नहीं लगाता, किन्तु यथार्थ समझता है कि जो जाननहार है सो तो आत्मा है और जो रूप, रस, गध स्पर्शका पिण्ड है वह सब अनात्मा है। ऐसा भेदविज्ञान किए हुए है, सो इस सम्बन्धमे भी नि शक होकर यथार्थ जानता है कि जानन देखनहार तो आत्मा है,

शरीर नहीं है। यों अपने-अपने स्वरूपकी दृष्टि अपने-अपने पदार्थमे है, ऐसा ज्ञानी पुरुष जानता है और ज्ञानी-पुरुष इसी सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे अन्तरङ्गमें प्रसन्न रहा करता है। हम आपको भी चाहिए कि धर्मके लिए इतना परिश्रम करते है तो यह भी समझलें कि हमारा धम क्या है, हम क्या है ? अपने स्वरूपका परिचय होगा तो धर्मपालन उनका सही होगा और सुगम होगा। हमें चाहिए कि भेदविज्ञानके प्रयत्नमे अधिकाधिक लगें, जिससे भिन्न वस्तुवोंको भिन्न जानकर अपने आपको शान्तिमे परिणमा सके।

मत्तोन्मत्तादिचेष्टासु यथाज्ञस्य स्वविभ्रमः ।
तथा सर्वास्ववस्थासु न क्वचित्तत्त्वदर्शिनः ॥१५८६॥

ज्ञानी जीवको सभी अवस्थावोंमे आत्माकी वेसुधी नहीं रहती। जैसे कितने हो लोग ऐसी शका रखते हैं कि जब मरणकाल आता है तो इन्द्रिया काम नहीं करतीं वेसुधी हो जाती है तो वहाँ आत्माका इसे चेत न हो सकता होगा, लेकिन ऐसी बात नहीं है। जैसा सस्कार है, जैसा भीतरमे ज्ञानप्रकाश है, वेसुधी इन्द्रियकी हो गई, ऊपरसे अचेत लग रहा है, लेकिन भीतरमे वही वासना है, वही ज्ञानप्रकाश है। ज्ञानी पुरुषके मरणके समय वेसुधी हो जाय तो भी ज्ञानका काम बराबर रहता है। तो यहाँ एक दृष्टान्त विरुद्धमे दे रहे हैं कि जैसे अज्ञानी पुरुषको आत्माका भ्रम आत्माकी अचेत तब होती है जब कोई पागल हो जाय या मदिरा पीकर वेहोश हो जाय तो लोग समझते हैं कि यह अचेत हो गया और जब जग जाता है तो लोग समझते हैं कि अब इसके चेत हो गया, लेकिन तत्त्वज्ञानी पुरुषकी बात सब अवस्थावोंमे अचेतकी रहती है। उसने अपने आपमे अपना ज्ञान, अपना अनन्त आनन्द पाया है। इस पुरुषके ऐसा चेत हुआ है कि कुछ भी अवस्थायें गुजर जाये पर उसे चेत रहता है। जैसे जिसके परिजनोंका सस्कार रहता है तो वह स्वप्नमे भी उन परिजनोंको ही अपने चित्तमे बसाये रहता है। गुरुजी सुनाते थे कि एक दफे स्वप्नमे हम गङ्गानदीमे, गिर गए और फिर ऐसे किनारे बहकर लगे जहाँ पर एक रागी देवताका मदिर था। वहाँ पहुचनेपर उस मदिर के मालीने मुझे उस देवताका नमस्कार करनेके लिए जोर दिया। उसने बहुत कहा पर हमने नमस्कार नहीं किया। यह स्वप्नकी बात है। तो ज्ञानी पुरुष सभी अवस्थावोंमे जागरूक रहता है। जैसा जिसका सस्कार होता है स्वप्नमे भी वही बात चलती है। और तो क्या, स्वप्नमे भी आत्मानुभव हो जाता है। जैसे स्वप्नमे जगल, शेर, हाथी, घोडा, तालाब आदि न होने पर भी दिख जाते है ऐसे ही आत्मस्वरूपके दर्शनाभिलाषीको स्वप्नमें भी आत्मस्वरूपके दर्शन हो सकते है और जो आनन्द जगनमे पाता था वही आनन्द वह स्वप्नमे भी पाता है। तत्त्वज्ञानी पुरुषका ऐसा दृढ श्रद्धान रहता है कि सोती हुई अवस्थामे भी जागरूक रहता है। जैसे स्वप्नमे अनेक चीजे सभी लोग प्राय देखा करते हैं ऐसे ही ज्ञानी पुरुष अपने आपके ही जाननेका काम करे यह बात असम्भव नहीं। जैसे स्वप्नमे देवदर्शन करते, मदिर देखते, मूर्ति देखते ऐसे ही आत्मज्ञानी पुरुष आत्माकी बात जानने लगे तो इसमे अचरजकी कोई बात नहीं है। और इस बातमे उसका ऐसा दृढ निश्चय है कि स्वप्नमे भी दुःखका अनुभव हो सकता है। तो तत्त्ववेदी पुरुपके सभी अवस्थावोंमे आत्माका विभ्रम नहीं होता। इसके फलमे सभी अवस्थावोंमे कर्मनिजरा चलती है। कभी कोई डाकू चोर उस तत्त्व-वेदी पुरुषको सताये भी, हथियारोंसे वेहोश भी करदें तो भी उसे अपने आत्मका प्रकाश मिलता है और उस वेहोशीमे भी उसके कर्म निर्जरा है।

देहात्मदृष्टिर्न मुच्येत कृज्जागर्ति पठत्यपि ।
सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्येत स्वस्मिन्नुत्पन्ननिश्चय ॥१५८७॥

जिस देहमें ही आत्माकी दृष्टि है वह पुरुष मिथ्यादृष्टि है। बहिरात्मा है, वह यदि जानता है, पढ़ता है तो भी कर्मोंसे नहीं छूटता। धर्मपालनके लिए सबसे बडी मूल बात यह है कि शरीरमे आत्म-बुद्धि न होना। शरीरसे भिन्न निराला ज्ञानानन्दस्वरूप मैं हू—यह बात अगर प्रतीतिमे आये तो धर्मपालन हुआ

समझिये। और यही बात प्रतीतिमें नहीं है तो धर्मपालन नहीं है। कभी किसी भावनासे श्रावकके योग्य तपश्चरण करे। साधुके योग्य तपश्चरण करे तो करे, पर भीतरमें जिसने आत्मस्वरूपका स्पर्श नहीं किया वह कितने ही व्रत, तप, उपवास आदि करे पर उसका मोक्षमार्ग नहीं बन सकता। कारण यह है कि कर्मोंकी निर्जरा होती है अपने आपके निर्लेप स्वरूपका अनुभव करनेसे। अपने उस ज्ञानानन्दमात्र स्वरूपका प्रत्यय करनेसे कर्म हटते हैं। जहाँ कर्मोंसे निराला केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको माना तो जब निर्लेप अपने उपयोगको कर लिया जाय तो कर्मनिर्जरा होती है, पर उपयोगमे ऐसा निर्लेप ज्ञान न कर सकनेसे उसकी देह पर बहुत दृष्टि रहती है। इस देहकी ममताके कारण अपने ही शरीरको आरामसे रखना चाहते हैं, दूसरेका उपकार करनेकी बात ही नहीं सोचते। इस देहमे कितनी आसक्ति है ? इन्द्रियके साधनोंमें ऐसी रुचि है कि चाहे सर्वस्व अर्पित हो जाय पर इन्द्रियके विषयोंको पूर्ति होना ही चाहिए ऐसी बुद्धि लगी है। वे पुरुष धर्मपालन नहीं कर सकते। धर्म नाम है आत्माके स्वभावका। स्वभाव है ज्ञान, किन्तु उसका पता नहीं है तो कर्मोंकी निर्जरा कहासे हो ? उन कर्मोंके निमित्तभूत पदार्थोंकी उपेक्षा कर देवे और अपने स्वभावकी आराधनामें लगे तो कर्मोंकी निर्जरा है। जिस पुरुषको देहमे आत्माकी बुद्धि है वह चाहे पढे, तपश्चरण करे, भजन पाठ करे, धर्मके नामपर बड़े अनशन आदिक भी करे तो भी उसकी मुक्ति नहीं हो सकती, किन्तु जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, जो अपने आपको जाने कि यह मैं आत्मा हू ऐसी बुद्धि जो रखता है वह सोया हुआ भी जागृत है। एक सम्यक्त्वकी महिमा बतायी है। यहाँ ऐसा जानना कि जिसे अपने आत्माके स्वभावका परिचय हुआ है वह सो भी रहा है तो इन्द्रियोंसे सो रहा है, पर भीतरमे ज्ञानप्रकाश बराबर बना है। यों समझिये कि जिसे जो चीज इष्ट है, जिसके मनमे जो बात समाई है, सुप्त अवस्थामे भी उस चीजका ज्ञान बना रहता है, उसे स्वप्नमें भी वह चीज दिखती है।

तत्त्वज्ञानी पुरुषको अपने आपका स्वरूप समाया है। उसकी धुन है अपनेको केवल ज्ञानरूप रखनेकी। जिसका ऐसा प्रयत्न है ऐसे पुरुषके भीतरमे तत्त्वका ज्ञानप्रकाश बराबर बना रहता है। क्योंकि उसकी धुन है ना ? तो उस ज्ञानप्रकाशके कारण वह मोक्षमार्गमे बराबर चलता रहता है। और यों समझिये कि भावनाकी दृष्टिमें क्षोभ होता है। जो तत्त्वज्ञानकी बात जिसके चित्तमे है वह समझो कि ससारके दुःखोंसे दूर हो गया और जिसके इस देहमे ही आत्मबुद्धि लगी है वह अच्छा खाना, अच्छा पहिनना, बड़ा बडा श्रृंगार करना, दूसरोंका दिल दुखाना, दूसरोंमे बड़ा कहलवाना, अपने आपको बड़ा जाहिर करना आदिक प्रवृत्तिया करता है। जिसे इस शरीरमें ही आत्माकी बुद्धि है वह धनी बननेकी अपनी धुन रखता है। पर पुण्यके उदयमें धन आता है। और पुण्यके उदयमें जो धन आता हो सो ठीक है, पर मैं इस लोकमे सबसे बडा वैभववान बनू, धनी बनू, ताकि लोग समझे कि यह बहुत बड़ा आदमी है। तो इस लक्ष्मीका आना यह कोई पाप नहीं, मगर उसकी धुनि बनाये, उसकी आशा रखे, अधिकाधिक धनी होनेक चाह करे तो वह पापका परिणाम है। पहिले तो यह देखिये कि धनकी चाह रखनेमें कुछ आनन्द आया क्या ? जब उस धन की चाह रखा तब आकुलित रहा और जब धन मिल गया तब भी आकुलता ही रही। जब धन आ गया तो और भी चाह बढ गयी। जो धन मिला है उसकी चाह नहीं रही बल्कि आगेकी चाह हो जाती है। चाहका होना और चीजका मिलना—ये दोनों ही बातें एक साथ कभी नहीं हो सकती हैं। जब चाह और चीज दोनों का मेल नहीं बनता तो उसका आनन्द ही क्या है ? तो चाहमें तो आकुलता ही रहा करती है। तो इन जीवों ने अपना लक्ष्य बिगाडा है। लक्ष्य होना चाहिए था यह कि मनुष्यभव जो पाया है चौरासीलाख योनियोंमें भ्रमण करके नाना देह पार करके यह मनुष्यभव पाया है ? आप सभीने कल हो शायद अजायबघरमे जाकर देखा होगा। कितनी कितनी तरहके जीव उसमे देखनेको मिले होंगे। उसको देखकर यह भाव आना चाहिए कि यह जीव कैसे कैसे शरीरोंमें बधा फिरता है ? इन नाना प्रकारकी देहोंमें बसनेका मूल कारण है अज्ञान।

एक इस मनुष्यभवमे अपनी सम्हाल न कर सका तो यह जीव इस प्रकारके विचित्र शरीरोंका

धारण करता फिरता रहेगा। तो मनुष्य जन्म जो पाया है वह किसलिए पाया है ? इसी लिए तो पाया है कि अपना मोक्षमार्ग बना लें। विषयसाधनोंसे इस जीवको मिलता क्या है ? वृद्ध हो जाते हैं और फिर पछतावा ही हाथ रहता है, मरणकाल आ जाता है और फिर पछताना पडता है। तो भोगों के जुटानेमें, धनके जुटानेमें, सतानोंके मिलानेमें आखिर इन सब समागमोमे इस जीवको अन्तमे मिलता क्या है, सो खूब सोच लो। इनके लिए ही मनुष्यकी जिन्दगी नहीं है, यह चित्तमे रहना चाहिए कि भोगोंके साधन जुटानेके लिए हमारा जीवन नहीं है। यह मनुष्यजीवन इस लिए है कि हम अपने स्वरूपको पहिचानें और उसकी ही दृष्टि रखकर धर्मपालन करें। लक्ष्य तो अपना यह होना चाहिए। फिर चूंकि गृहस्थी है सो आजीविका भी चाहिए तो उसका एक साधन बननेपर आजीविकाका साधन बनाकर मनमे यह लोभ न करें कि मुझे इतने खर्च बिना काम नहीं चलता। वहा तो यह विचार रखना चाहिए कि कैसा ही कितना ही धन आता है उसके अनुसार हम अपनी व्यवस्था बनायेंगे। हमें दूसरों मे अपना बडप्पन नहीं जताना है। उसमे कुछ भी तो तत्त्व नहीं रखा है। अपना लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि इस जीवनका लाभ उपयोग धर्मपालनके लिए करना है, भोगसाधनोंके लिए नहीं, ऐसा निर्णय हो और फिर जो आय हो उसके अनुसार अपनी आजीविका बनायें। यह सोचना भ्रम है कि मेरा इतने बिना काम नहीं चल सकता। जिनका चलता है उनको देखकर अपना भ्रम दूर कर लें, पर चित्तमे जो हठी बना है, लक्ष्य बिगाडा है, उससे आकुलता मची है। यदि यह लक्ष्य बन जाय कि हमारा मनुष्यजीवन तो जैन दर्शनकी सेवाके लिए है, अपने आत्मस्वरूप की उपासनाके लिए है ऐसी दृष्टि बन जाय तो सब सकट हमारे दूर हो जायेंगे। जब तक अपने कल्याणकी बुद्धि नहीं बनती तब तक उसे सब आकुलताए ही दिखती हैं। तो बतलाते हैं कि देहमे जब तक आत्मबुद्धि है तब तक यह जीव चाहे जगे, चाहे पढे, चाहे तपश्चरण करे, कुछ भी करे तो भी मुक्त नहीं होता। परन्तु तत्त्वज्ञानी पुरुषको सोई हुई अवस्थामे भी जागृतसा समझिये याने उसे अपने आत्मज्ञानका पूरा प्रकाश है, यह तो अपने-अपने उपादानकी बात है। जो जैसा उपादान लिए हुए है वह वैसा ही आगे परिणमता है, वह सोया हुआ हो चाहे जगा हुआ हो।

आत्मानं सिद्धमाराध्य प्राप्नोत्यात्मापि सिद्धताम्।
वर्ति: प्रदीपमासाद्य यथाभ्येति प्रदीपताम् ॥१५८८॥

एक व्यावहारिक उपायसे भी चलकर अपने आत्मकल्याणकी ओर यह कैसे प्रवृत्त होता है ? उस बातको इस श्लोकमे दिखाया है। जैसे दीपककी बत्ती जलती है तो दूसरा दीपक उसके निकट लेजाते हैं तो वह भी आग जलने लगती है, इसी प्रकार सिद्ध प्रभु जो नानानन्दरस निर्भर हैं, सर्व दोषोसे दूर हैं उन सिद्ध प्रभुकी जो उपासना करेगा वह आत्मा भी सिद्ध बन जायगा। यह एक व्यावहारिक उपायसे कथन किया गया है। उसमे भी मर्म यह समझना कि सिद्ध भगवानकी उपासना करनेके समयमें इसे अपने आपके स्वभावकी सुध होती है क्योंकि जिस उपयोगने निर्दोष ज्ञानमात्र आत्माकी उपासनाका काम किया है, कर रहा है तो चूकि ऐसा ही यह आत्मा है जिसका उपयोग उस निर्दोष ज्ञानपुञ्जमें लग रहा है तो निर्दोष ज्ञानपुञ्जमे उपयोग लगनेका नाम अपना निर्दोष ज्ञानस्वभाव है। वह मेरे लक्ष्यमे आ जाता है, इस कारण वह भी मुक्त बन जाता है, पर मर्म उसके अन्दर यह है कि जो सिद्ध प्रभुकी उपासना करेगा वह स्वय सिद्ध बन जायगा। यह तो बताया है एक व्यवहार साधन। अब एक अध्यात्म साधन बतला रहे हैं परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए।

आराध्यात्मानमेवात्मा परमात्मत्वमश्नुते।
यथा भवति वृक्ष: स्वं स्वेनोद्घृष्य हुताशन: ॥१५८९॥

जैसे कि बासोंका वन बासोंकी परस्परकी रगडसे जल उठता है इसी प्रकार यह आत्मा अपने

आपके आत्मस्वरूपकी उपासनासे स्वय प्रदीप्त हो जाता है, ज्ञानविकास उसका परिपूर्ण हो जाता है, परमात्म स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। कुछ तो थोडी बहुत ऐसी दृष्टि बनाकर अनुभव भी कर सकते कि जब य उपयोग सबको छोडकर केवल अपने आत्माके स्वरूपके जाननेमे लगता है तो कितना बोझ शिरपरसे ह जाता है ? और जब यह आत्माके स्वरूपमे नहीं लग पाता, वहां दृष्टि नहीं रहती तो परपदार्थोंमे दृष्टि रहत है, फिर कितने चिंता शोक आदिक बोझ अपने आपपर लद जाते हैं ? तो उन बोझोंके दूर होनेका ना मोक्ष है। सकटोंसे, क्लेशोंसे, जन्म मरणसे रहित हो जानेका नाम मोक्ष है। यह बात कैसे बनेगी ? पहिले अपने आपमें यह श्रद्धा हो कि मैं ऐसा हो सकता हू, मेरा यही स्वभाव है, कर्मोंसे, शरीरोंसे मैं दूर हो सकता हू, क्योंकि स्वरूप ही मेरा ऐसा है। इस आत्मस्वरूपमे ये कर्म ये शरीर नहीं बसे हैं। मेरा स्वरूप तो मात्र ज्ञानरूप है। तो क्या ऐसा बन नहीं सकता यह ? बन सकता है। न बन सकनेकी कोई बात नहीं। यदि यह श्रद्धा हो कि मैं आत्मा ऐसा हो सकता हूँ। अभी तो अपनी ही भूलसे मैं इन शरीरोंमे बधा रहा। बधा भी क्या रहा, इन शरीरोंमे बधा हुआ भी यह आत्मा शरीरोंसे बधा नहीं है। जैसे गायके गलेको लोग रस्सीसे बाध देते हैं तो वहा भी गला नहीं बाधा, रस्सीका एक छोर दूसरे छोरसे बाध दिया गया है। गाय का गला तो पूर्ण मुक्त है। ऐसे ही अपने आपमे देखे—कर्मोंमे कर्म बधे हैं, शरीरके परमाणु शरीरमें बधे हैं पर ऐसी हालतमे भी गायके गलेकी तरह यह आत्मा किसी चीजसे बधा नहीं है। जैसे हाथमे कोई रत्न लेकर मुट्ठीमें बाध लिया तो बन्धनमे तो मुट्ठी है हाथमे, रत्न तो उसके भीतर पूराका पूरा मौजूद है, वह बधा हुआ नहीं है। बराबर मुट्ठीसे अलग है। इसी तरह शरीर और कर्मसे यह आत्मा अवस्थित है, बहुत जकडा हुआ है इस पर भी स्वरूपमे दृष्टि लगावे तो आत्मा कुछ भी बधा नहीं है, जकडा नहीं है। यह स्वय अपनी स्वतन्त्रतासे जकड जाता है। जैसे किसीका किसीसे प्रेम बध बढ जाय तो यह खुद उससे बधा बधा फिरता है, एक पिता जो बडा समर्थ है, जवान है वह भी इस स्नेहके कारण एक छोटेसे बालकसे बधा-बधा फिरता है। तो उस बालकने उस जवान पिताको नहीं बाधा, वह पिता ही खुद अपनी कल्पनासे अपनी ही गल्ती से बध गया। ऐसे ही कर्मोंका बन्धन क्या बन्धन है, शरीरका बन्धन क्या बन्धन है ? शरीर और कर्म ये दोनों इस आत्मासे बिल्कुल भिन्न चीज हैं—है तो यह हालत पर यह आत्मा अपनी ही गल्तीसे इन शरीरोंमें बधा-बधा फिर रहा है। जैसे गाडियोंमें टिकेटचेकर लोग आते हैं। उन्होंने अगर किसीका सामान ज्यादा देखा और टिकेट वह कम का लिए है तो झट वह अपनी टिकेटको अपनी जेबमे धर लेता है। तो वह व्यक्ति क्या करता है कि जहा जहा भी टिकेटचेकर जाता है उसके पीछे-पीछे वह भी लगा फिरता है। चूकि उसका २०-२५ रुपयेका टिकेट है तो उन रुपयोंके स्नेहके कारण वह व्यक्ति उस टिकेटचेकरसे बधा-बंधा फिरता है। ऐसे ही यह आत्मा भी परवस्तुवोंके स्नेहके कारण इन कर्मोंसे शरीरोंसे बधा-बधा फिर रहा है। इन कर्मोंके बन्धनसे तथा शरीरोंके बन्धनसे छूटनेका उपाय है ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति। जिन अरहत और सिद्ध भगवानकी हम आप उपासना करते हैं वे कर्मोंसे और शरीरोंसे मुक्त हैं। वे हम आपकी मुक्ति न करा देंगे। उनकी उपासना करके हम आप उनके गुणोंको अपनेमे उतारकर मुक्तिका प्राप्त कर सकते हैं। जैसे सिद्धप्रभुने अपने आत्मस्वरूप की उपासना की वैसी ही उपासना हम आपको भी करनी होगी तब मुक्ति हो सकती है। अपने परिणाम खोटे बनाकर हम आप इस ससारमे रुल रहे हैं। इस ससारके आवागमनसे छुटकारा पानेका उपाय है एक आत्मज्ञान। हम आपको सोचना चाहिए कि अनादिकालसे इस ससारमे रुलते चले आ रहे हैं बडी मुश्किलमें यह मनुष्यभव मिला है। इस दुर्लभ मनुष्यभवको पाकर अपना लक्ष्य आत्म कल्याणका होना चाहिए। इस आत्मस्वरूपकी उपासना करें। इसीसे हम आपको परमात्मपद प्राप्त हो सकता है।

इत्थं वाग्गोचरातीतं भावयन्परमेष्ठिनम्।
आसादयति तद्यस्मान्न भूयो विनिवर्तते ॥१५६०॥

यह आत्मा वचनोंके विषयभूत नहीं है। कोई आत्मा वचनोंसे जानना चाहे तो अशक्य है। वचनोंसे जो कुछ बताया जाय उस तरहका कोई अपना प्रयत्न करे तो प्रयत्नसे आत्मा जाना जा सकता है, जिसे पूजन कहते है। आचार्य उपदेश करते हैं कि आत्मा ज्ञानमात्र है। तो जिसे आत्मानुभवकी इच्छा हो वह आत्माको इस प्रकार विचारे कि मैं ज्ञानमात्र हू। ज्ञान क्या ज्ञान करता है ? ज्ञानका काम जानना है। जाननेका क्या स्वरूप है ? जाननेके साथ रागद्वेष न हो तो जाननेका सही स्वरूप होता है। किसी पदार्थका विकल्प न हो, प्रेम न हो, द्वेष न हो, केवल जाननमात्र जो स्वरूप है। उसम अपने आपको अन्तरङ्गमे तकें, केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ, इस प्रकारसे अपने ज्ञानोपयोगका कोई प्रयत्न करे तो आत्माका अनुभव होगा। वह आत्मा वचनोंके विषयसे अतीत है। जैसे कोई मिश्रीका स्वाद जानना चाहें तो वचनोंसे कितना ही समझाया जाय पर स्वाद नहीं आ सकता। स्वाद तो खानेसे ही आयगा। इसी प्रकार आत्माका अनुभव वचनों से न आयगा। आचार्य भगवत कितना भी उपदेश करें उनके वचनोसे आत्माका अनुभव अतीत है। हा जो मार्ग उन्होंने बताया उस मार्गपर चलनेका प्रयत्न करें तो आत्माका अनुभव हो सकता है। ऐसा वचनों के विषयसे अतीत जो परमपद है सिद्ध अरहतके स्वरूप और यह सहज ज्ञानस्वभाव ज्ञानमात्र ऐसे परमतत्त्व की भावना इस प्रकार भाना चाहिए कि फिर कभी आत्माके अनुभवसे न छिगे, फिर आत्माका अनुभव न छूटे ऐसे सिद्धपदको प्राप्त होता है।

अयत्नजनितं मन्ये ज्ञानिना परमं पदम्।
यदात्मन्यात्मविज्ञानमात्रमेव समीहते ॥१५६१॥

यदि कोई आत्मा आत्मामे ही विज्ञानमात्र स्थितिको चाहता है मेरा आत्मा ज्ञानमात्र रहे, मेरा उपयोग केवल जाननमात्र रहे, ज्ञाताद्रष्टाकी मेरी स्थिति रहे। ऐसा यदि कोई चाहता है तो समझना चाहिए कि उस ज्ञानीके वह परमपद बिना किसी क्लेशके, बिना किसी परिश्रमके प्राप्त हो ही गया। ऐसा ज्ञानीजन कहते है कि हम तो यही समझते हैं, क्योंकि अन्तमे होना क्या है। कोई पुरुप यदि धर्मके मार्गमे चलता है तो चल रहा है। चल चलकर समृद्धि प्राप्त करके आत्मामें मग्न होकर आखिर उसे मिलेगा क्या ? मिलेगा यह कि वह आत्मा अपनेको केवल ज्ञानमात्र अनुभव करता रहे। तो इस तत्त्वको जो चाहता है भीतरसे रुचि पूर्वक उसकी ही धुनि बनाता है तो समझिये कि उसको परमपद प्राप्त हो गया। प्रत्येक व्यक्तिके चित्तमे कोई न कोई आखिरी अभिलापा रहती है कि मैं यह बनना चाहता हूँ। कोई कहेगा कि मैं ऐसा व्यापार बढाना चाहता हू। कोई कहेगा कि मैं ऐसा वैभववान बनना चाहता हू। यो कोई कुछ बनायेगा कोई कुछ। ज्ञानी पुरुषकी यह अभिलापा रहती है कि मै केवल ज्ञाता द्रष्टा बना रहू। इसके सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं चाहता। यदि किसीका इस प्रकारका उत्तर मिले तो समझलो कि उसको वह पद प्राप्त हो ही गया, इसमे कुछ सदेह नहीं रहा। ऐसा चाहने वाला अपनी उस चाहके अनुकूल प्रयत्न करेगा। मूर्छा हो जायगी पर उसकी उपेक्षा करेगा। अपने आपमे अपना ज्ञानरूप अवलोकन करनेकी धुन बनायेगा और ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिति बनायेगा, वह मुक्त भी हो जायगा। इससे यह शिक्षा लेना है कि अपनी ऐसी इच्छा बनाले कि मुझे तो आखिर निर्विकल्प ज्ञाता द्रष्टा होना है और कुछ न चाहिए। वैभवशील नहीं होना है। यह तो सब माया-रूप है इससे मेरी कोई सिद्धि नहीं है। लोगोमे मुझे अपनी महत्ता नहीं बताना है, मैं तो अपने आपमे यही चाहता हू कि मुझमे किसी परका उपयोग न रहे। मैं केवल ज्ञानमात्र, जाननदेखनहार रहूँ। मेरेमे कोई राग-द्वेप न रहे, ऐसी कोई अपनी इच्छा बनाये तो समझिये कि वह धर्मपालन कर रहा है।

स्वप्ने दृष्टविनाशेऽपि यथात्मा न विनश्यति।
जागरेऽपि तथा भ्रान्तेरुभयात्राविशेषतः ॥१५६२॥

यह आत्मा अमूर्त है, अविनाशी है, इसका कभी अभाव न होगा। सो यो समझिये कि कदाचित्—

भ्रान्तिसे कोई अपने मरा हुआ भी मानने (जैसे कि स्वप्नमें भी कभी-कभी अपनको मरा हुआ देख लिया जाता है, किसी सिंह द्वारा मारा गया, या किसी तालाबमें डूब गया, या किसी मगर द्वारा खाया गया) तो उससे कहीं उसका आत्मा नहीं नष्ट हो गया। वह जो जग जानेपर अपनेको जिन्दा पाता है। तो इसी तरह से समझलो जगते हुए भी विनाश नहीं होता। दोनों जगह विनाशका केवल भ्रम है। तो जैसे कोई घरके लोग या इष्ट जन सोचे कि मैं मर रहा हू, तो यह उन घरके लोगोंका या उन इष्टजनोंका कोरा भ्रम है कि यह मर रहा है, और उस मरने वालेका भी कोरा भ्रम है कि मैं मर रहा हू। अरे उस आत्माका तो कभी मरण होता ही नहीं। जो सद्भूत वस्तु है उसका कभी विनाश ही नहीं होता। जैसे पुद्गलमें एक-एक परमाणु सत् हैं, उनकी कैसी ही स्थिति हो जाये, पर परमाणु कभी नष्ट न होंगे। बहुतसे परमाणु मिलकर जला दिये जायें तो चाहे वे परमाणु जलकर राख रूपमे हो जायें, हवामें उड भी जाये पर वे परमाणु नष्ट नहीं होते। जितने परमाणु थे उतनेके उतने ही परमाणु बने रहते हैं। नवीन परमाणु उत्पन्न नहीं होते और पुराने परमाणु विनष्ट नहीं होते हैं, ऐसे ही जितने आत्मा हैं, अनन्त आत्मा हैं, वे सब अनन्त आत्मा कभी नष्ट नहीं होते। और जो कुछ भी नहीं है वह कोई चीज बन जाय तो ऐसा नहीं हुआ करता। जो है वह सदा रहेगा। अपने आपको कोई मरा हुआ भी समझले तो वह उसका कोरा भ्रम है। इष्टजन केवल अपने स्वार्थ को तकते है। न तो किसी परिजनकी अथवा इष्टजनकी उस शरीरसे प्रीति है और न आत्मासे। यथार्थ दृष्टि से सोचो तो यह बात बिल्कुल तथ्यकी कही जा रही है। शरीरसे तो वे कोई प्रीति करत नहीं, क्योंकि शरीरसे यदि प्रीति करते होते तो मरनेके बाद उस शरीरको अपने घरसे बाहर न जाने देत। पर मर जानेपर फिर सभीको जल्दी पडती है कि इसे यहा से जल्दी ले जावो। तो शरीरमे कोई प्रीति नहीं करते। और इस आत्मासे कोई प्रीति कर ही नहीं सकता। यदि किसीने इस आत्मासे प्रीति करली तो वह भी जैसा वह अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है वैसा ही वह भी रह गया। तो कोई पुरुष न इस शरीरसे प्रीति करता है और न इस आत्मासे प्रीति करता है। स्वयमे कषायकी वेदना जगती है तो उस वेदनाको शान्त करनेके लिए, उस पीडासे दूर होनेके लिए जो कुछ कल्पनामे बात बनती है बस रागभरी चेष्टा करता है, स्नेह बढाता है। लेकिन इस रागभरी चेष्टासे, स्नेहके रखनेसे कहीं शान्ति नहीं हो जाती। रागद्वेष करके यह जीव चैन मानता है। वास्तवमें कोई किसीसे प्रीति नहीं रखता। आत्मा मरता है नहीं, यह जीव इस शरीरको छोडकर अन्य शरीरको ग्रहण कर लेता है, मरता नहीं है, क्योंकि आत्मा एक अविनाशी तत्त्व है। तो जैसे स्वप्नमे अपना मरण दिखे तो वह कोरा भ्रम है, ऐसे ही यह निर्णय रखिये कि हर समय हम आपके शरीरका वियोग हो रहा है, आत्मा तो अमर है।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम्।
चिदानन्दमय विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥१५६३॥

हे आत्मन्! तू आत्माको आत्मामे ही अपने आपको ऐसा जान कि मैं अतीन्द्रिय हू। ऐसा जानने के लिए बाहरमे कोई साधन न चाहिए कि कहीं दीपक हो, उजेला हो तो मैं आत्माको जानू, या किसी घर में बैठा हुआ हो वह आत्मा तो मैं उसे जानू। ऐसी बात है नहीं। अपने आपमे अपने आप आत्माको जान लेना है। तो हे आत्मन्! अपने आपमे अपने ज्ञानबलसे अपनेको जानें। कैसे जाने कि मैं अतीन्द्रिय हूँ? कोई चाहे कि मैं कानसे सुनकर, हाथसे छूकर, जिह्वामे चखकर, नाकसे सूघकर, तथा नेत्रोंसे देखकर मैं आत्माको जानलू तो वह नहीं जान सकता है। यह आत्मा किसी भी इन्द्रियके द्वारा नहीं जाना जा सकता है। मनका भी विषयभूत यह आत्मा नहीं है। यद्यपि मनोबलसे बहुत कुछ प्रयत्न कर लिया जाता है आत्मा को समझनेके लिए। मन द्वारा इतना बडा भारी प्रयत्न हो सकता है आत्माके समझानेका कि आत्माके अतिनिकट इस उपयोगको यह मन पहुचादे। पर आत्मासे साक्षात मिलन नहीं करा सकता। निकट पहुचा दे

इतना तो किसी विशुद्ध मनका काम बन जायगा, पर अनुभव केवल ज्ञानबलसे अपने आपके आत्माको जानेगा। मनका काम है विकल्प करना, तो विकल्पकी स्थितिमें आत्मा नहीं जाना जा सकता है। यों समझो जैसे कोई द्वारपाल राजदरबारमे पहरेपर खडा है, कोई राजासे मिलने आये तो द्वारपाल इतना कर सकता है कि उसे राजाके निकट तक पहुचा दे और बता दे कि यह राजा है। पर राजासे मिलना, बात करना यह द्वारपालका काम नहीं है। इसी प्रकार यह मन इस आत्माके निकट पहुचानेके लिए द्वारपालका काम करता है। पर आत्माका अनुभव कराना यह मनका काम नहीं। वहाँ मन शान्त हो जाता है, एक निर्विकल्प स्थिति हो जाती है तब उस आत्माका अनुभव होता है। तो यह आत्मा इन्द्रिय और मनसे परे है। इसलिए कहा गया कि यह आत्मा कल्पनासे भी च्युत है। तो हे आत्मन्! तू अपने आपको अपने आपमे ऐसा ही समझ कि मैं अतीन्द्रिय हू, कल्पनासे बाहर ही, इसका कोई नाम नहीं, अर्थात् वचनों द्वारा आत्माको जान नहीं सकता, अत ये वचन अनिर्देश्य हैं और यह आत्मा अमूर्त है, रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्दसे रहित यह आत्मा है, इसलिए हे आत्मन्! अपने आपके उपयोगमे ऐसा अनुभव बना। केवल ज्ञानमात्र निर्लेप हू, किसी प्रकार का जहाँ विकल्प नहीं है. केवल जहाँ एक ज्ञानमात्रका अनुभवन है वहाँ पहिचान जाता है कि यह मैं आत्मा कैसा हू? यह मैं आत्मा अतीन्द्रिय हू, अनिर्देश्य हू, कल्पनासे परे हूँ, अमूर्तिक हूँ। फिर हूँ मैं क्या? इन्द्रिय द्वारा नहीं जाना जाता, किसी नामसे नहीं जाना जाता, रूप, रस, गध स्पर्शसे रहित हू। आचार्य महाराज कहते हैं कि हम अपने आत्माको इस प्रकार अनुभवे कि मैं चिदानन्दमय हू, ज्ञानदर्शन और आनन्दमय हू, ऐसे चैतन्यमात्र अपने आपका अनुभव करे, अर्थात् अपने आत्माको इस प्रकार जाने, और बहुत-बहुत कहने से क्या, समझानेसे बात नहीं आती। जिसमे योग्यता है, जिसमे सामर्थ्य है वह अपने आपका अनुभव कर लेता है। हम अपने आपमे ऐसा अनुभव करें कि मैं विशुद्ध चैतन्यमात्र हू। जिसमे कल्पना नहीं रहती, विकल्प नहीं रहता ऐसा शून्य केवल एक शुद्ध प्रकाशमात्र चिदानन्दस्वरूप अपने आत्माको जानें।

मुच्येताधीतशास्त्रोऽपि नात्मेति कल्पयन्वपुः।
आत्मन्यात्मानमन्विष्यन् श्रुतशून्योऽपि मुच्यते ॥१५६४॥

कोई पुरुष अपनी ऐसी ही प्रतीति बनाये हो कि शरीरको निरखकर शरीरमे ही 'यह ही मैं आत्मा हू' इस प्रकार कोई अपना अभ्यास बनाये हो ऐसा कोई अपनेको जानता हो तो उसे मिथ्याबुद्धि वाला कहो, बहिरात्मा कहो। ऐसा बहिरात्मा पुरुष यदि अनेक शास्त्र भी पढ जाय, अनेक शास्त्रोंका उसे परिज्ञान भी हो जाय तो भी वह मुक्त नहीं हो सकता। मुक्त तो मुक्तिकी पद्धतिसे ही हुआ जा सकता है। आत्माका ज्ञान करें और उस ही आत्मामे रम जायें। यही है मोक्षका उपाय। इसके विरुद्ध शरीरमे ही 'यह मैं हूँ' ऐसी दृढ प्रतीति बन जाय तो बाह्यमें कितने ही शास्त्रोंका अध्ययन करले, कितने ही मत-मतान्तर करलें तो भी वह कर्मोंसे नहीं छूटता। और एक ऐसा पुरुष जो शास्त्रोमे निष्णात नहीं है, विद्वान नहीं है लेकिन आत्मामे ही आत्माको जानता है, मानता है यह मैं आत्मा हू, यह निर्लेप है, अतीन्द्रिय है, कल्पनाओंसे परे है, विशुद्ध चैतन्यमात्र है। ऐसा यह मैं अमूर्त, निर्लेप, ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मा हूँ इस प्रकारका जिसने अपना ज्ञान कर लिया है वह मुक्त हो ही जाता है। इसका कारण यह है कि शास्त्रोंका नाना प्रकारका परिज्ञान तो आत्म-ज्ञानके लिए है। और यह आत्मज्ञान जिसने सहज प्राप्त कर लिया, विद्याओंका विशेष अभ्यास कर लिया तो उसने फल पा लिया। अब शास्त्र पढनेसे क्या फल रहा? तो जो आत्मतत्त्वका अनुभव करले उसकी तो मुक्ति अवश्य है। चाहे उसने शास्त्राभ्यास किया हो अथवा न भी किया हो, पर जो अपने आत्माके निजानन्द स्वरूपको नहीं जानता वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। इससे हमको यह शिक्षा लेनी है कि हम आत्मज्ञानसे शून्य रहेंगे तो हम कुछ भी धर्म नहीं कर सकते। उसका यत्न करें, और उस यत्नके लिए ऐसा निर्णय बनायें। दूसरा कोई भी आत्मा मेरा कुछ नहीं है, सब मायाजाल है। सभी मुझसे अत्यन्त—पृथक् हैं, ऐसा निर्णय

बनायें जिसके प्रतापसे परके विकल्प हटेंगे और आत्मा अपने आपमें अपने आपको जान जायगा।

पराधीनसुखास्वादनिर्वेदविशदस्य ते ।
आत्मैवामृतता गच्छन्नविच्छिन्न स्वमीक्षते ॥१५६५॥

हे आत्मन् ! यदि तू पराधीन सुखका स्वाद लेनेसे विरक्त हो गया है और इस वैराग्यके प्रसाद से तेरी बुद्धि निर्मल बन गई है तो समझले कि अब यह आत्मा अमूर्त पानेको प्राप्त होता हुआ निरन्तर बिना विच्छेदके अपने आपको देखता है, अपने आनन्दको भोग सकता है। प्रयोजन यह है कि आत्माकी विशुद्धि, आनन्दका अनुभव तब तक नहीं हो सकता जब तक इन्द्रियके विषयोंमें प्रीति बनी रहे, क्योंकि इन्द्रियके विषयोंमें प्रीतिमें उपयोग बाहरमें रहा करता है। बाहरमें दृष्टि गई तो अपनेमें क्या मिला ? खुद ज्ञानानन्द स्वरूप है लेकिन जब उपयोग अथवा दृष्टि बाहरमें चली जाय तो फिर खुद तो रीता हो गया। खुदमें अब वह क्या अनुभव करेगा ? और जो पुरुष इन बाह्यपदार्थोंमें सुख नहीं समझता, परवस्तुवोंके प्रति विरक्तिका परिणाम है, अपने आपको अमूर्त ज्ञानप्रकाश अनुभव कर चुका तो समझ लीजिए कि वह तो अमृत पी चुका, अर्थात् उसे यह दृढ प्रतीति हो गई कि मैं अविनाशी हूं मैं कभी नष्ट नहीं होता, सबसे निराला हूं। अब उसे काहेकी आकुलता ? वह अमृत तत्त्वको पी चुका है ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् वह अमर हो चुका है, जन्ममरणसे रहित हो चुका है। अभी नहीं जन्म मरणसे रहित हुआ पर जिसके जन्म मरणका विनाश नियम से होगा उसे यह कह दिया जाता कि वह तो जन्ममरण समाप्त कर चुका, इसमें कोई संदेह नहीं।

यदभ्यस्तं सुखाद् ज्ञानं तद्दुःखेनापसर्पति ।
दुःखैकशरणस्तस्माद् योगी तत्त्वं निरूपयेत् ॥१५६६॥

तत्वाभ्यासी पुरुष, ज्ञानाभ्यासी पुरुष ज्ञानका अभ्यास तो करे पर साथ ही यह बात न भूले कि हम कुछ साथ-साथ तपश्चरण भी करें। कुछ हमको कष्ट आयें, दुःख आयें उस मार्गमें तो उनके भी हम सहनशील बन जायें। इसके लिए जान-जानकर अनशन करें, ऊनोदर करें, तपश्चरण करें, सर्दी गर्मी सहें इष्ट वियोग अथवा अनिष्ट संयोगमें अपने ज्ञानबलको यथार्थ रखें, ऐसी बात यदि वह कर सकता है तो उसका प्राप्त हुआ ज्ञान आगे कायम बना रहेगा। यदि कभी बड़े आरामसे, बड़े सुखमें ज्ञानका अभ्यास बना हुआ है तो वह दुःख उसे घबडवा देगा। तो ज्ञानकी सम्हाल तो करें, मगर साथ-साथ तपश्चरण भी करें ताकि कभी विपत्ति आ जाय तो हम उस ज्ञानको न भूल सकें। ऐसा ज्ञानी विचारता है कि जो ज्ञान सुखका अभ्यास किए है वह ज्ञान प्राय दुःख आनेपर नष्ट हो जाया करता है। इस कारण योगी दुःखको अंगीकार करके तत्त्वका अनुभव करता है, तपश्चरण करता है, परीषह सहता है ताकि कभी-कभी तो मेरा यह ज्ञाना-वलोकन, मेरा यह ज्ञानाभ्यास बन जाय। तो ज्ञानको स्थिर बनानेका, ज्ञानानुभव करते रहनेका सम्बन्ध संयम से है। अपने आपके उपयोगको चारों ओर से हटाकर अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें संयत करें, यहाँसे कहीं बाहर न डुला सके ऐसा कोई भीतरमें यदि अभ्यास करता है तो उसका यह परमार्थ तपश्चरण है और जिसके बाह्य तपश्चरणमें ऊब आ जाती है, कुछ खेद होने लगता है, कुछ आकुलतासी बन जाती है वह। एक कठिनाई वाला काम है, ऐसा कुछ अनुभवमें रहता है। इस पकार कोई भीतरमें यह परमार्थ तपश्चरण कर रहा हो तो प्रथम ही प्रथम इस तपश्चरणका अभ्यास करने वाले ज्ञानीको कुछ खेद होने लगता है। इसकी भी यदि वह कुछ परवाह न करे, अपने उपयोगको बराबर चलाये जाय तो बस यह समझिये कि बहुत प्रयत्न तो वह कर चुका था, थोड़े समय और यत्न करनेका काम था सो उसने कर लिया, अब उसके बराबर आत्मानुभव जग गया, और अपने आपके आत्मामें वह अमृत तत्त्व पा चुका। इससे यह शिक्षा लेनी है कि हम परिषहों के सहनेका अभ्यास रखें और ज्ञानार्जन करें ताकि हम आने किसी क्लेशके आनेपर उससे घबडा न जायें और ज्ञानके अनुभवको छोड न दें। योगी पुरुष अपने आत्माको ही अपना शरण मानकर आत्मामें ही अपना

उपयोग लगाते हैं, ज्ञानाभ्यास करते हैं और बड़े-बड़े तपश्चरण करते हैं।

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं,
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम्।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूतं,
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ॥१५९७॥

हे आत्मन ! तू अपने आपको अपने आत्मासे ही इस प्रकार विशुद्ध अनुभव कर। अपने आत्मा को जो आत्माका स्वरूप है उस स्वरूपमें अनुभव करें जो बिगड़ गया रूप है, जो अनित्य स्वरूप है उस रूप अपनेको मत समझिये। यद्यपि यह भी एक परिणति है। कोई मनुष्य है, पशु है, पक्षी है, पेड़ पौधा है इस रूप विशुद्ध पर्यायें बन रही हैं तिसपर भी प्रत्येक द्रव्य जो निजस्वरूप होता है वह उसके कारण अपने आप होता है। उस स्वरूपमें अपनेको अनुभव करें।

इस नातेके बाहर कहीं भी कुछ भी सार और शरण तत्त्व नहीं है। बाहरमें जो भी धन वैभव हैं, जो जो भी समागम मिल रहे हैं उन सबमें कैसा उपयोग कर रहा है यह जीव? यह जीव लोगोंमें नामवरी चाहता है, लोगोंमें अनेक प्रकारकी आशायें कर रहा है। धन वैभवका उपयोग तो विषय साधनोंके लिए है। हमारे इन्द्रियके विषयोंकी खूब पूर्ति हो, इस शरीरको लक्ष्यमें रखकर वह कह रहा है—यह मैं आरामसे रहूं। साथ ही दुनियाके लोग मुझे समझ जायं कि मैं भी कुछ वैभववान व्यक्ति हूं। धन वैभवका ऐसा उपयोग करना चाहते हैं परन्तु जरा भली बुद्धि करके आत्महितकी दृष्टि करके निर्णय तो करिये। इस लोकमें मेरा क्या भला होनेका है? जिन लोगोंकी ऐसी उपासना कर रहे हैं कि भगवान न कुछ है। भगवानकी ऐसी उपासना नहीं करता यह मनुष्य जिस लीनताके साथ दुनियाके लोगोंकी उपासना करता है। इसका उदाहरण एक यह लो। कोई व्यक्ति मन्दिरमें पूजन-भजन कर रहा है तो जब तक कोई पासमें नहीं है तब तक जिस चाहे तरहसे वह पूजन करता है परन्तु मन्दिरमें जब कोई दो चार व्यक्ति आ जाते हैं और यह पुजारी उन लोगोंको देख लेता है तो उसके गान तानमें फर्क पड़ जाता है। तो यह गान-तान किसे सुनाया जा रहा है? यह गान तान तो उन चार लोगोंको सुना रहा है। लोगोंसे कुछ आशा बनाये है और कुछ नहीं तो ऐसी आशा बना ली है कि लोग मुझे कुछ समझें। मेरे बारेमें लोग अच्छी ही बात रखें तो क्या यह उनका भीख मांगनेकी तरह नहीं है? अरे इन बातोंसे कुछ भी सार न मिलेगा। जैसे स्वप्नमें कोई देखे कि मैं राजा हो गया, लोग मुझे नमस्कार कर रहे हैं, मेरी बड़ी मान्यता है तो स्वप्नका काल व्यतीत होनेके बाद फिर वह ज्योंका त्यों है। स्वप्नके समयकी वह एक कल्पना है इसी प्रकार मोह और रागके समयकी यह कल्पना है कि मैं कुछ हूं। अरे आत्मन ! जब तू शरीर ही नहीं है, शरीरसे निराला विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप तत्त्व है तो तू अपने इस चैतन्यस्वरूपकी सम्हाल कर धनवैभव कुटुम्ब परिजन मित्रजन इनकी सम्हाल करनेसे तो तुझे कुछ भी लाभ न मिलेगा। इस जीवनको चाहे आराममें गुजारो, चाहे कष्टमें, इस शरीरका आराम कोई आराम नहीं। आराम तो मनका है। आराम तो आत्माका है। विशुद्ध भावना रहे, अपने आत्मस्वरूपका लक्ष्य रहे तो आराम वहां है। यदि शरीरको आराममें रखा जाय तो [illegible] इसमें फर्क आता है। मनका दुःख हटता है सम्यग्ज्ञानसे। धन वैभवसे भी कुछ पूरा नहीं पड़नेका है। जब इन सबसे दृष्टि हटाकर यह तो पुण्यानुसार जैसा आता है आने दो उसके ज्ञाता दृष्टा रहें। इस धन वैभवके पीछे हैरान होकर कुछ भी आत्माकी बात न मिलेगी। इस [illegible] अपना [illegible] सम्यग्ज्ञान बना रहे तो तब समझिये कि हम मोक्षमार्गमें बढ़ रहे हैं, [illegible] नहीं है। [illegible]

देखिये जैन शासनकी उपासनाके लिए मूल मंत्र है णमोकार मंत्र। और णमोकार मन्त्रके बाद तुरन्त ही बोला जाता है विशुद्ध वातावरण बनानेके लिए एक दण्डक, जिसे चत्तारि मंगलसे शुरू करते हैं। चार चीजें मगल है। मगल शब्दका अर्थ है—म अर्थात् पाप, गल अर्थात् गला दे, जो पापोंको गला दे उसे मगल कहते हैं। दूसरा अर्थ - मग अर्थात् सुख, ल अर्थात् ला दे, जो सुख ला दे उसे मंगल कहते हैं। भला इस ससारमे ऐसा कौन है जो पापोंको गला दे अथवा सुखको उत्पन्न करा दे। निमित्तसे तो एक अरहत सिद्ध देव की उपासना ही अनेक भवोंके कमाये हुए पापोंको क्षणभरमे ध्वस्त कर देती है, जिनेन्द्र भक्ति अर्थात शुद्ध आत्मस्वरूपकी भक्ति। समवशरणमें चारों ओर से बड़े-बड़े देव और इन्द्र खिंचे आते हैं। आनन्दमे मग्न होकर बासुरी झाझ आदि अनेक प्रकारके बाजे बजाते हुए चले आते हैं। अरे वह आकर्षण किस बातका है ? वह आकर्षण है वीतरागताका। वह प्रभु रागद्वेष रहित निर्मल सर्वज्ञ हुए हैं। उसी सर्वज्ञताका यह प्रताप है कि वे सभीके सभी आकर्षित होकर चले आ रहे हैं। जैसे कभी किसी मनुष्यको देखकर करुणा उपजती है तो क्यों उपजती है ? उसको देखकर अपने आपमे भी ऐसी गुप्त रूपसे कुछ वासना बनती है कि ऐसा मैं भी तो हो सकता हू। उसकी तकलीफसे अपनी तकलीफकी तुलना करने लगते हैं यों दूसरेको देखकर दया आती है। तो एक तुलनाकी बात बतला रहे हैं पर अरहत प्रभुकी भी एक विशुद्ध तुलना है। वीतरागताका जो स्वरूप प्रकट है उसकी तुलना ज्ञानी पुरुष अपनेमे करता है। वह उत्कृष्ट है, वही मगल है, वही सुख शाति को उत्पन्न करने वाला है। उसी वीतरागताके कारण इन्द्र और देव खिंचे चले आ रहे हैं। जो कुछ नहीं चाहता, किसके किसीमें राग नहीं है, देखो उसपर ये तीनों लोकके इन्द्र खिंचे चले आते हैं। तो वह विशुद्ध स्वरूप प्रकट हुआ है वही मगल है। अरहत सिद्ध एक समान है, केवल घातिया कर्मोका अन्तर है। मगर स्वरूपमे सर्वज्ञता, अनन्त चतुष्टय उसी तरहके अरहतमे प्रकट है जैसा कि सिद्धमे। चू कि अरहत भगवान हमारे शासनके मूल आधार है। उनकी दिव्यध्वनिको गणधर देवोंने लिखा, अनेक आचार्योंने बादमे उसका प्रतिपादन किया। तो अरहत प्रभु ही हमारे इस जैन शासनके मूल आधार है।

तो देखो सबसे पहिले अरहत देवको मगल बताया है। अरहत प्रभुके बाद सिद्ध प्रभुको मगल कहा है। सिद्ध मायने जो पूर्ण आनन्दरससे तृप्त हो गए हों, ससारके आवागमनसे पूर्ण मुक्त हो गए हों। तीसरी बार कहते हैं कि साहू मगल। साधु मायने जो समताका पुञ्ज हो। जगतके जीवोंमे किसी जीवके प्रति यह वैरी है, ऐसी भावना न बने, यह मेरा मित्र है ऐसी भावना न बने, किन्तु सब जीवोंको एक स्वरूप में निरखता है ऐसा जो समताका पुञ्ज है और अपने इस समताके पुञ्ज आत्मतत्त्वके ध्यानमे जिसकी धुन बन गयी है ऐसा जो सत है वह साधु मगल है। फिर चौथे बारमे कहते हैं कि केवलीपरणत्तोधम्मो मगल। भगवानके द्वारा कहा गया जो धर्म है वह मगल है। इसे केवली भगवानने बताया है। हे आत्मन्! यदि तू बाह्य ससार जगतको असार जानकर किसी भी क्षण उनको भुला दे, उनकी उपेक्षा कर दे, उनमे कुछ सार नहीं है ऐसा जानकर उस ओरसे मुख मोड ले, परमविश्राममें आ जाय तो तू अपने आपमें ऐसा आनन्द पायगा, ऐसा विशुद्ध ज्ञान प्रकाश पायगा जिसके समान लोकमें कुछ भी मगल नहीं है। वह मगल क्या है ? हमारा हममे ही बसा हुआ स्वरूप मगल है। उसीको जान लें, उसीका अनुभव बनायें तो हमें वह मगल मिलेगा। अपने विशुद्ध आत्मतत्त्वका अवलोकन करें, रागद्वेष रहित विशुद्ध परिणाम रखें यही लोकम उत्तम है। प्रथम तो दुनियाकी चीजोंको देखना ही न चाहिए कि यहाँ क्या है क्या नहीं है ? यहाँ कुछ भी चीज देखें तो उसमें रूप, रस, गध, स्पर्शका पिण्ड ही मिलेगा। जो भी आकार बनावट सजावट होगी वह सब पौद्गलिक रूप है, बाहरमे कहीं कुछ भी सारकी बात नहीं है। कुछ सार नहीं है—इस निर्णयके लिए बाहरमे कहा क्या देखना, देख ही रहे हैं। यहा यदि कोई सार है तो एक अरहत प्रभुका शरण ही है। अरहत प्रभु हमें कुछ दे न देंगे। उनके पास हमें देनेके लिए कुछ है भी क्या ? वह तो हमे कुछ भी न देंगे। कोई पूछे कि अगर वह कुछ न देंगे तो फिर उनकी शरणमे क्यों पहुचते हो ? तो मैं उनकी शरणमे यों जाता हू कि

मुझे जो कुछ मिलना है वह मेरेसे मिलता है। मैंने भ्रमसे अनेक विकल्प मचा रखे हैं जिनके कारण मैं अशान्त हो रहा हू। तो अरहतस्वरूपकी शरणमें आकर, उन्हें निरखकर मैं अपने आप ही अपनेमें शान्ति प्राप्त कर लेता हूँ। इस कारण मैं अरहंतोंकी शरणको प्राप्त होता हू।

प्रभुके गुणोंमे जब खूब अनुराग जगे, अपना चित्त लगे तो सब कुछ मिल गया, अब उनसे क्या मागना ? लोग कहते हैं प्रभुको कि सुख देना दु ख मेटना यही तुम्हारी बान। पर यह भी कहना ठीक नहीं। अरहत प्रभुमें चित्त लग गया तो समझो सब कुछ मिल ही गया। धनजय कविने कहा है कि हे भगवन ! मैं आपकी स्तुति करके आपसे कुछ नहीं मागता। कहीं आप ऐसा न सोचने समझने लगना कि यह भक्त हमसे कुछ मांगनेके लिए हमारी शरणमे आया है, मैं जानता हू कि आप उपेक्षक हैं। आपका किसीके प्रति राग अथवा द्वेष है नहीं। आप तो अपने अनन्त आनन्दस्वरूपमे मग्न हो रहे हो। मैं जानता हू कि आप उपेक्षक हैं। तुमको किसीसे ममता नहीं रहीं। " तो भाई ! स्तुति क्यो करते हो ? " कहते हैं कि स्तुति हम इसलिए कर रहे हैं कि उस स्थितिमे हमे स्वय भी अपनेमे शान्ति मिलती है। क्योंकि आपके गुणानुरागसे हमें अपने गुणोंका स्पर्श हो जाता है। और फिर एक बात और सुनो ! यदि कोई पुरुष छाया वाले पेडके नीचे बैठा हुआ उस पेडसे प्रार्थना करे कि ऐ पेड तू मुझे छाया दे तो यह कितनी मूढताभरी बात होगी ? यदि कोई उसके मुखसे ऐसा सुन ले तो वह तो उसे पागल कहेगा। तो हे भगवन ! आपकी छत्रछायामे बैठकर मुझे आपसे कुछ न चाहिए। आपके गुणोंमे हमारा उपयोग रम रहा है, बस अब तो हमे सब कुछ मिला ही हुआ है। हे प्रभो ! मैं किसकी शरण जाऊ ? जहाँ बसा, जिसमे रहा, चाहे कितना ही प्रेमका वातावरण हो, मगर वहाँ से ठोकर ही मिली, अशान्ति ही मिली, विकल्प ही चले। मैं किसकी शरण जाऊं ? ढूंढता, ढूढता हे प्रभो ! मैं आपकी शरणमे आया तो मुझे आपसे परम शरण मिला। हे सिद्ध भगवत ! मैं तुम्हारी शरण को प्राप्त होता हू, हे सिद्ध परमेष्ठी, हे समताके उपासक, हे ज्ञानमात्र तत्त्वके लखनहारे, हे ससारसे विरक्त हुए साधु पुरुष ! मैं तुम्हारी शरणको प्राप्त होता हूँ। ये तीन शरण तो व्यावहारिक शरण हैं। आखिरी निचोड़ की बात अन्तमे कहते हैं कि मैं उस धर्मकी शरणको प्राप्त होता हू जिस धर्मको केवली भगवानने बताया, वह धर्म अपने आपमें ही है।

भाई अपने आपपर दया करो, अपनी रक्षा करो, अपनी सुध लो, अपनेमे शान्ति उत्पन्न करो। अपनेको ससारके दु खोंसे छुटा लो। एक यह बडा मौका मिला है। मनुष्य हुए हैं, श्रावक कुलमे आये हैं, जैन शासन मिला है, मन भी उत्तम मिला है। दूसरेके हृदयकी बात समझ सकते हैं, अपने हृदयकी बात दूसरोंको बता सकते हैं। इतना दुलभ समागम प्राप्त कर इसका पूर्ण सदुपयोग कर। वह सदुपयोग है अपने आपमें अपने धर्मकी दृष्टि कर लेना। हे आत्मन् ! तू अपने आपको ऐसा अनुभव कर कि यह आत्मा समस्त लोकके यथार्थ स्वरूपको प्रकट करने वाला एक अद्वितीय तत्त्व है। यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है, जाननेके अतिरिक्त इसमे और कुछ नहीं है। ज्ञानी पुरुष तो जाननसे आगे कुछ नहीं चाहता। जानना भी न चाहे, पर जानन स्वरूप है सो जानता रहता है। यह आत्मा कितना जाननेकी शक्ति वाला है ? अरे कितने का सवाल क्या ? इसका जाननेका स्वभाव है सो सब कुछ जाननेमे आ जाता है। समस्त द्रव्य अलग-अलग हैं, सबके यथाथ स्वरूपको प्रकट करने वाला एक अद्वितीय प्रतीक है। अपने आपको इस प्रकार अनुभव करें कि यह आत्मतत्त्व अलौकिक अनुपम सातिशय विशुद्ध सहज आनन्दकी काष्ठाको प्राप्त होवे अर्थात् यह आनन्दस्वरूप है। अपने आत्माको इस रूपमे निरखना है कि मैं ज्ञान स्वरूप हूँ आनन्दस्वरूप हूँ। मनुष्य चाहता क्या है ? मेरा ज्ञान बढे और मेरा आनन्द बढे। जो कुछ भी चाहता है वह इन दोनोंकी पूर्तिके लिए। बड़े-बड़े ऋषिसत जन बता गए हैं कि हे आत्मन ! तू अपने आत्माको ऐसा अनुभव कर कि मेरा जो एक विशुद्ध स्वरूप है, जो ज्ञानानन्दरस निर्भर आत्मतत्त्व है वही कल्याणरूप है। अन्य उपयोगमे, अन्य बुद्धि मे, अन्य विकल्पोंमे पडनेसे कल्याण नहीं है।

इति साधारणं ध्येयं ध्यानयोर्धर्मशुक्लयोः ।
विशुद्धि स्वामिभेदेन भेदः सूत्रे निरूपितः ॥१५६८॥

यहाँ इस अधिकारसे पहिले धर्मध्यानका और शुक्लध्यानका प्रकरण चल रहा था। ध्यान चार प्रकारके होते हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान। इष्टका वियोग होनेपर, अनिष्टका संयोग होनेपर, शारीरिक कोई पीडा होनेपर अथवा वैभवकी आशा बनानेसे जो कुछ अन्तरङ्गमें पीड़ा होती है उस पीडाके समयका जो ध्यान है उसे आर्तध्यान कहते हैं। यह ध्यान ससारबन्धनका कारण है, दु खोंसे भरा हुआ है। दूसरा है रौद्रध्यान। क्रूर आशय करके पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें आनन्द मानना, किसी जीवके घातसे आनन्द मानना, ये जो परिणाम हैं वे रौद्रध्यान हैं। यह भी ससारका बीज है। एक धर्मध्यान और दूसरा शुक्लध्यान, ये आत्माको उन्नतिके पथमे ले जाने वाले हैं। विशुद्ध ध्यानमें साधारण रूपसे बताया गया कि हम बहिरात्मापनको छोड दें, अन्तरात्मापनका अनुभव करें और परमात्मतत्त्वका ध्यान करें। यह एक उपदेश है। बीचमे अन्तरात्मा है अर्थात् यह बहिरात्माके परिहारका और परमात्मतत्त्वके ग्रहणका माध्यम है। एक सम्यग्ज्ञान बनानेसे बहिरात्मापन भी छूट जाता है और परमात्मतत्त्वका ग्रहण हो जाता है। जो धन वैभव-आदिक बाह्यपदार्थोंमे आत्मबुद्धि करे वह बहिरात्मा है और अपने अन्तरङ्गमें विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वरूप अपनी चेतनामें आत्मबुद्धि करे वह सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। और जो समस्त कर्मोंसे रहित है, गुणोंमें सम्पन्न है वह परमात्मा है। परमात्मतत्त्व अत्यन्त उपादेय है, उसकी प्राप्तिके लिए तू अपने आपमें बसे हुए सहज सिद्ध परमात्मस्वरूपका ध्यान कर। उसकी विधि इस अधिकारमें बताया है, उसको सक्षेपमे इतना कह लीजिए कि इन्द्रियके व्यापारको रोककर, मनके सकल्प विकल्पको दूर कर बड़े विश्रामके साथ जरा अपने आपमें पैठ तो जायें, एक विशुद्ध आनन्द जगेगा तब समझ लेगा कि मेरा विशुद्ध स्वरूप क्या है? फिर जो समझा उसे कभी भूलेगा नहीं। उस तत्त्वका स्मरण कर, उसकी शरण गहु, वही मगल है, वही लोकमे उत्तम है। ऐसे उस परमविविक्त अपने स्वरूपमे लगाना, सद्भूत ऐसे आत्मतत्त्वकी रक्षा करना, अपने आपमे परमात्मस्वरूपका निरखना, इन कार्योंमे अपने आत्माकी रक्षा हेतु अपनेको लगाना चाहिए। मन थोड़ा लगे तो कुछ जबरदस्ती हमे धर्मके कार्योंमे मन लगाना है क्योंकि धर्मकी शरण गहे बिना हमारा पूरा न पड़ेगा। एक धर्म ही हमारा रक्षक है। वह धर्म हमारा हममे है। जरा विषयोंसे दृष्टि हटे, अपने आपमे निरखें तो अपनेमें वह ज्ञान प्रकाश मिलेगा जिसकी शरण गहनेसे नियमसे ससारके सकट दूर होंगे।

ज्ञानार्णव प्रवचन सप्तदश भाग

अनादिविभ्रमान्मोहादनभ्यासाबसंग्रहात् ।
ज्ञातमप्यात्मनस्तत्त्वं प्रस्खलत्येव योगिनः ॥१५६९॥

योगी मुनि आत्माके स्वरूपको जानते हुए भी अनादिकालसे ऐसे भ्रममे लगे हैं कि उसकी वासना से तथा मोहके उदयसे, अभ्यास अभावसे तथा उस तत्त्वके परिचय करने अप्रयत्नसे यह जीव मार्गसे च्युत हो जाता है याने योगी मुनि एक बार यथार्थस्वरूपको जान भी ले तो भी कुछ कारण ऐसे बनते हैं कि जिनसे वे मार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं। यह कथन करके आचार्य महाराज इस बातके लिए सावधानी देते हैं कि किसी भी प्रकार तत्त्वका परिचय होनेपर फिर उस परिचयसे न गिर जायें। उस तत्त्वकी यादगारी बनी रहे, इसके लिए प्रयत्न बनाये रहना चाहिए और इसका प्रयत्न है यह कि जो जाना गया तत्त्व है उस तत्त्वका बराबर निर्णय बना रहे, मैं शरीरसे भी न्यारा, कर्मोंसे भी न्यारा, रागादिक भावोंसे भी जुदा ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य तत्त्व हूँ और फिर भेदविज्ञानके द्वारा यह निर्णय करके जो अनात्मतत्त्व है उसको छोड़े और जो आत्मस्वरूप है उसमे अपनी दृष्टि जमायें, ऐसा प्रयत्न बराबर जारी रखना चाहिए अन्यथा किसी भी समय मोहके वेगमें

ऐसी परिस्थिति बन जायगी कि बहुत कठिनाईसे कमाया हुआ तत्त्व इवारे उपयोगसे छूट जायगा। देखिये ससारमे धन वैभवकी कोई कीमत नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रकट भिन्न चीज है। इससे आत्माका कोई हित नहीं है, और फिर साथ ही यह भी एक अपना निर्णय रखिये जो कि यथार्थ तत्त्वकी बात है कि बाह्य धन वैभव सम्पदा आदिकका समागम जितना पुण्यका उदय है उसके अनुसार रहता है। यदि पुण्यका उदय है तो वह अपने आप सहज ही मलता है और यदि उदय प्रतिकूल है तो जिस चाहे बहाने वह चला जाता है। तो हिम्मत अपनी इतनी बनाना चाहिए कि यह धन वैभव आये अथवा न आये, उससे हमारे आत्माका कुछ भी हित नहीं है, मुझे तो तेरे अपने आत्माकी सुध बराबर बनी रहे, यही एक उत्कृष्ट वैभव है। यदि यह न प्राप्त किया जा सका तो तीन लोककी सम्पदा भी निकट मौजूद हो तो वह सब व्यर्थ है। ऐसा अपना निर्णय बनाकर परतत्त्वोंसे अपना उपयोग हटाए और अपने आपके स्वरूपमे अपना उपयोग जमायें। सो योगी पुरुष निरन्तर सावधान रहा करते हैं।

अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनाम् ।
योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम् ॥१६००॥

आत्माके स्वरूपको यथार्थ कोई जान भी लेता है और उस ज्ञानको अपनेमे जोडता भी रहता है, ध्यानको एकाग्र करता भी रहता है इतने पर भी अनादिकालसे जो अविद्या लगी आयी थी उस अविद्याके नष्ट होनेपर भी उसकी लगार वासनारूपमे एक ऐसी कठिनता उत्पन्न कर देती है कि एक बार प्राप्त किया हुआ तत्त्व भी अपने उपयोगसे निकल जाता है। लोकमे तत्त्व केवल इतना है कि समस्त परद्रव्योंसे अपना उपयोग हटे और एक परमविश्राम आए। वहाँ ही तत्त्व अपनेको विदित होता है। ससारमे जितने भी समागम मिले हुए हैं वे चेतन समागम हों अथवा अचेतन समागम हों, अर्थात् परिवार सम्बन्धी इष्ट मित्र जन हों, अथवा धन सम्पदा हो, सभी समागम अपनेसे भिन्न हैं और अपनेसे नियमसे जुदा होंगे। इसमे कोई सन्देह की बात नहीं। अतएव इसमे कोई भी सन्देह नहीं कि जो भी समागम अपनको प्राप्त होते हैं वे आकुलता उत्पन्न करनेके लिए प्राप्त होते हैं। तभी तो बड़े-बड़े तीर्थंकर चक्रवर्तीजन जिस क्षण उनके वैराग्य जगता है समस्त वैभवोंको तृणकी नाईं त्याग देते हैं, उन वैभवोंको अपने उपयोगमे स्थान नहीं देते। और ऐसा जो अपने हितमे सावधान रहते हैं उन्होने ही वास्तवमे तत्त्व पाया है, और वहाँ ही उनकी रक्षा होती है। यदि असावधानी की गई तो अपने आपको जो स्वरूप प्राप्त है वह भी नष्ट हो जाता है। यद्यपि यह सिद्धान्तका कथन है कि जिसे सम्यक्त्व एक बार उत्पन्न हो गया उसका नियमसे मोक्ष होगा ठीक है यह बात, लेकिन यह भी बात सिद्धान्तमे बताया है कि सम्यक्त्व प्राप्त होनेके बाद यदि सम्यक्त्व नष्ट हो जाय तो वह कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल एक ससारमे रुलता रहता है। इतने कालमे अनन्त भव हो जाते हैं। यों समझिये कि जैसे एक अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल आता है, अवसर्पिणी कालमे २४ तीर्थंकर होते हैं और उत्सर्पिणी कालमे भी २४ तीर्थंकर होते हैं चतुर्थ कालमे। ऐसे-ऐसे अनगिनतकाल व्यतीत हो जाते हैं, इतना अर्द्धपुद्गल परिवतन काल है। तो सम्यक्त्व छूटकर इतने काल तक तुम्हे रुलते रहना इष्ट है क्या? यदि इष्ट न हो तो कतव्य यह है कि सम्यक्त्व प्राप्त होने पर फिर उससे न च्युत हों और अपने ज्ञान और तत्त्वके अभ्यासमें लगे रहे।

साक्षात्कर्तुमतः क्षिप्रं विश्वतत्त्वं यथास्थितम् ।
विशुद्धि चात्मन शश्वद्वस्तुधर्मे स्थिरीभवेत् ॥१६०१॥

अपना परिणाम निर्मल बना रहे—इसके अर्थ यह कर्तव्य है कि जो ध्यानके लिए उत्तम तत्त्व निर्णीत होना है आत्माका सहज ज्ञान और आनन्दस्वरूप, जो सबसे निराला है उस ध्यानके विषयमे आत्मा के सहज ज्ञानस्वरूपमे मन एकाग्रतासे लगा रहे, यह आवश्यक है। उसमे विघ्नके अनेक कारण हैं। आते हैं

लेकिन विघ्नके कारण हम अपना ज्ञानाभ्यास ऐसा बनाये रहें कि वे कारण हमें झकोर न सकें। कारण आते हैं बहुत। एक तो रागादिक भाव उत्पन्न करनेमे निमित्तभूत बाह्यपदार्थ सामने आ जायें, कर्मोंका उस प्रकार का समय आ जाय, अपने भीतर बसी हुई वासना जागृत हो जाय, ऐसे अनेक कारण आते हैं जो हमारे ध्यानमे विघ्न रूप होते हैं, उनको दूर करनेके लिए कर्तव्य एक यह है कि जो हमने वस्तुका स्वरूप निर्णय किया है, आप लोग कुछ थोडासा ध्यान करें कि जो अपना घर छोडकर यात्रामें निकले हैं तो उसका लक्ष्य क्या है कि हमारे चित्तमें धर्मकी भावना आये, दर्शन करके, उन क्षेत्रोंकी वदना करके जहांसे मुनीश्वर मुक्त हुए हैं। हमारे चित्तमें धर्मकी भावना आये। वह धर्मकी भावना क्या है ऐसा विचार बन जाय, ऐसा उपयोग रहे कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हू। मेरा पहिचाननहार इस लोकमें कोई दूसरा नहीं है, इस कारण जगतमे किससे अपना सम्बध बढ़ाना, किससे राग अथवा किससे द्वेष करना? समस्त परद्रव्योंसे उपेक्षा रखें और अपने आपके इस ज्ञानानन्द स्वरूपमे स्थिर होनेका यत्न करें; यह धर्मध्यानकी सिद्धि का एक खासा उपाय है। देखिये इस क्षेत्रमें अथवा कर्मभूमिके जगतमें वियोग, दुःख, वेदना कष्ट, परीषह, विडम्बनाए अनेक आती हैं लेकिन इन सब विपत्तियोंका आगमन हमारे भलेके लिए है। जसे भोगभूमिमें स्वर्गोंमें इष्ट वियोग नहीं होता, कोई शारीरिक वेदना नहीं होती, किसी प्रकारका कष्ट नहीं रहता तो वे लोग मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकते। उनकी गति अति उच्च नहीं बन सकती। तो ये परीषह उपद्रव हमारे भलेके लिए हैं। अपने आपको नौले, परिचय करें, हम जिस तत्त्वकी हामी भरते चले आये हैं, मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हू, मेरा ज्ञाता द्रष्टा रहना स्वभाव है, जगतमें मेरा कहीं कुछ नहीं है। यहाँ पर अनेक प्रकारके कष्ट हैं, उन कष्टोंसे अज्ञानी पुरुष तो घबडा जाते हैं, पर सम्यग्दृष्टि जीव इन विपदावोंसे अपने स्वरूपसे चलित नहीं होता, सर्वत्र ज्ञाता द्रष्टा रहता है। इस प्रकारका जो अपना दृढ परिणाम बनाते हैं वे योगीश्वर ही धर्मध्यानके वास्तविक पात्र होते हैं।

अलक्ष्य लक्ष्यसम्बन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ॥१६०२॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष पहिले तो अपने लक्ष्यका निर्णय करे और वह लक्ष्य जैसा कि उसका जो ज्ञान और आनन्द स्वरूप है वह सही रूपमे विकसित हो जाय तो ज्ञान और आनन्द भावके साथ किसी विकार तरगका सम्बंध नहीं रहता। कोई रागद्वेष न आये, केवल ज्ञानका परिणमन होना यही लक्ष्यमें आता हो। यही लक्ष्यमे आये, देखनेमे आये, समझानेमे आये, पर इस लक्ष्यसे, इस समझसे इतनी और मजबूती बनायें कि लखा हुआ भी लक्ष्यमें न रहे, किन्तु उस लखेके द्वारा कोई अलौकिक अलखनिरञ्जन ज्ञानतत्त्व समझमें आये तो तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रथम तो लक्ष्यके सम्बधसे अलखको जाने और स्थूल पदार्थसे खिसककर सूक्ष्म चेतनका चिन्तन करे और फिर किसी ध्येयका आलम्बन जो ले रहे थे सो चलने दे, फिर ध्यानके आलम्बनको लेकर उससे फिर निरालम्ब वस्तुस्वरूपमे तन्मय हों, याने उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म यत्न करें। देखो जितना भी गहरा चिन्तन होगा जितना हमारे सूक्ष्म अन्तर्मग्न होनेका यत्न होगा उतनी ही हमारी परिणतिकी विशेषता होगी उतना ही हमारा अन्त परिश्रम विशेष होगा। और जब यह हमारा ज्ञायकभाव, ज्ञानस्वभाव परमात्मतत्त्व जो कि स्वय महन पहिलेसे ही सनातन मौजूद था वह एकदम प्रकट होगा। इसे कहते हैं टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभावकी परिणति।

जैसे छेनीसे उकेरी हुई प्रतिमा निश्चल रहती है, स्वय प्रकट होती है इसी प्रकार ज्ञानके अभ्यास से कभी निजी परमात्मतत्त्व सहज प्रगट होता है और निश्चल बनता है, उसे बनानेके लिए कहीं बाहरमें कुछ नहीं करना है। पत्थरमे जो मूर्ति प्रकट होगी वह मूर्ति उस ही पत्थरके अन्दर मौजूद है। उस मूर्तिको बनानेके लिए बाहरसे कुछ लाना नहीं पडता। कारीगरको वह मूर्ति उस पत्थरमे दिख गई जिसे प्रकट करना

है । अब वह कारीगर उस मूर्तिको ढकने वाले आवरण हटानेका प्रयत्न करता है । उस मूर्तिका आवरण करने वाले जो पत्थर हैं उनको मोटी छेनीसे हटाता है । यह उस कारीगरका प्रथम प्रयत्न है । फिर दूसरी बारके प्रयत्नमे बहुत छोटी छेनी लेकर मूर्तिके ऊपरके आवरणको हटाता है, फिर तीसरी बारके प्रयत्नमे अत्यन्त छोटी छेनी लेकर सूक्ष्मसे सूक्ष्म आवरणोंको हटाता है । इस बारके प्रयत्नमे उसकी अत्यन्त सावधानी रहती है जिसे देखकर लोग यह कह देंगे कि दो तीन दिनसे तो यह कुछ काम ही नहीं कर रहा है । लेकिन इस तीसरे बारके प्रयत्नमे उसे बडी बुद्धि लगानी पड रही है और बडी सावधानी करनी पड रही है । यों वह मूर्ति जो कि उस पत्थरके अन्दर मौजूद थी, तयार हो जाती है । तो उस मूर्तिको कारीगरने नहीं बनाया है । मूर्ति तो उस पत्थरके अन्दर पहिलेसे विराजमान है, उसने तो केवल उस मूर्तिके आवरण करने वाले पत्थरों के हटाने-हटानेका ही काम किया है । उस मूर्तिम कहीं बाहरसे लाकर लगाया कुछ नहीं । इसी तरह हम आप सबके अन्दर वह परमात्मतत्त्व जो सिद्धरूपमे कभी प्रकट होगा वह परमात्मतत्त्व सबके अन्दर विराजमान है. कोई आत्मा परमात्मतत्त्वको बनाता नहीं है किन्तु उस परमात्मतत्त्वका आवरक करने वाले जो विषयकषायके परिणाम है, शरीरका सम्बध है, कर्मोंका बध है उसे हटाया जाता है । कर्मबध हटा, शरीरका सम्बध हटा और रागादिकभाव हटे तो वह परमात्मतत्त्व स्वय अपने आप प्रकट हो जाता है ।

परमात्मकी दिशामे जो प्रयत्न चलेगा वह पहिले एक मोटेरूपमे प्रयत्न चलेगा । मोटे रूपमे यह ज्ञान जायगा कि लो ये समस्त पदार्थ धनवैभव सम्पदा आदिक अनित्य हैं, भिन्न हैं, इनसे मेरा कोई सम्बध नहीं है । देखो इस क्षण विभावोंको अपनेसे भिन्न बनानेका यह एक मोटा प्रयत्न है, अभी इसे और प्रयत्न करने होंगे। इस प्रयत्नमे इसे कुछ सफलता प्राप्त हुई । अब जरा और भीतर चले तो ऐसा विचारें कि मुझमे जो रागादिक भाव उत्पन्न होते है ये मेरी चीज नहीं हैं, इन स्वरूप मैं नहीं हू । जैसे कि दर्पणके सामने जो भी चीजें आ जाती हैं वे सब चीजें प्रतिबिम्बित हो जाती हैं, वे चीजें जो भी दर्पणमे प्रतिबिम्बित हुई वे दर्पणकी चीज नहीं हैं, यद्यपि वह प्रतिबिम्ब दर्पणका परिणमन है लेकिन सामने बाहरमे उपाधिका निमित्त पाकर वह प्रतिबिम्बित होता है, वह प्रतिबिम्ब दर्पणकी चीज नहीं है, इसी प्रकार उस-उस जातिकी कर्मप्रकृतियोंका उदय होनेपर आत्मामे रागद्वेषादिकका परिणमन होता है । यद्यपि यह परिणमन उस शरीरमे आत्माका है तथापि ये रागादिक विभाव आत्माकी निजी चीज नहीं है, आत्माके स्वभावसे आत्मामे बने रहते हों ये रागादिक विभाव ऐसा नहीं है । ये रागादिक परिणमन होते तो हैं आत्मामें, लेकिन कर्मोदयकी उपाधिका निमित्त पाकर होते हैं । तब यह ज्ञानी जीव दूसरे प्रयत्नका विचार कर रहा है कि ये रागद्वेष विभाव मेरे नहीं हैं, मैं इनसे निराला हू, मेरा स्वभाव तो आनन्दको प्रकट करने वाला है और यह रागादिक विभावोंकी प्रकृति आत्माको कष्टमे, उलझनमे डाल देने वाले हैं । कहाँ तो मेरा आनन्दस्वरूप और कहाँ ये दुःखस्वरूप रागादिकभाव, ये मैं नहीं हू । दूसरे प्रयत्नमे सम्यग्दृष्टि कारीगरने जो परमात्मतत्त्वका निर्णय करनेके लिए चला है रागादिक विभावोंसे अपनेको दूर करता है । तीसरे प्रयत्नमे यह सम्यग्दृष्टि जीव निरखता है कि मेरेमें जो विचार विकल्प छुट पुट जानकारी उत्पन्न होती है ये मेरे स्वरूप नहीं है, मैं तो एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ज्ञानस्वभावी इन सबसे निराला हू । अब देखिये तीसरे प्रयत्नमे सम्यग्दृष्टि पुरुष इन विकल्प विचारोंको छुटपुट ज्ञानोंको भी अपनेसे दूर करता है । इस प्रकारसे आत्मामे आवरण करने वाले समस्त रागादिक विभाव दूर हो जाते हैं । तो यह अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्दको लिए हुए यह परमात्मतत्त्व स्वय सहज प्रकट हो जाता है । और प्रकट होकर फिर निश्चल बना रहता है । तो यह परमात्मा टकोत्कीर्णवत प्रतिमाकी तरह पूर्ण निश्चल है और स्वय सिद्ध है ।

परमात्मतत्त्वका ध्यान करनेके लिए यह योगी पुरुष लक्ष्यसे अलक्ष्यमे पहुच रहा है । अभी तक जो परका आलम्बन ले रहा था उनसे हटकर अब निरालम्ब ज्ञानस्वरूपमे प्रवेश कर रहा है । यहाँ यह कहा गया है कि दृष्ट पदार्थके सम्बधसे अदृष्टका ध्यान करना । तो दृष्ट पदार्थ क्या हुआ ? जैसे हम

जानते, सिद्धको जानते, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीको जानते, इन्हें हम किसी प्रकार देख तो लेते हैं ना। तो यह सब अदृष्टका ध्यान है। अदृष्टका ध्यान करके अर्थात् अरहत और सिद्धका ध्यान करके कुछ और आगे उतरे और अपना जो सहज ज्ञानस्वरूप है जो कि अदृष्ट है उस अदृष्टमे कुछ आये, तो अदृष्टसे अदृष्टमे आये, और परमेष्ठीका आलम्बन लेकर जो हम अपना ध्यान बना रहे थे वह ध्यान तो एक आलम्बन सहित था। अब उस आलम्बनको छोडकर एक मात्र ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें उपयोग रहे। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषको उपदेश किया है आचार्यदेवोंने कि इन सबसे हटकर अपनी इस अदृष्टिमे आयें। देखिये हमारा जो दृष्टका आलम्बन होता है वह आलम्बन हमे चैनसे नहीं रहने देता। किसीमें हमारे प्रीति जगती है तो वह भी हमारे क्लेशके लिए है। चिंता करके करेंगे क्या ? कुछ बध जायेंगे, और बधकर हम अपना आराम खो देंगे और कल्पनामें हम दूसरेके आरामके लिए बहुत-बहुत कष्ट सहेंगे। रागमे फल मिला क्या, अपना आराम खो देंगे, दूसरोंके आरामके लिए बड़े-बड़े कष्ट सहेंगे। फल क्या मिला, अपना आराम खोया और परिश्रममे लगे, कष्टमे लगे।

किसी पुरुषसे द्वेष करनेमें भी लाभ क्या मिला ? द्वेष किया जाता है किसी रागके कारण, किसी विषयमें राग हो और उस विषयमें कोई दूसरा बाधा डाले अथवा बाधा तो नहीं डालता, वह तो अपने स्वार्थसे अपनी शान्तिके लिए अपनी चेष्टा करता है। अगर हम उसे वैरी समझ लेते हैं तो उस वैरीसे भी द्वेष करनेसे हमको तत्काल तो अशान्ति हुई, और फिर हमारी बुद्धि हरी गई। तो बुद्धिका कुछ सदुपयोग न कर सके। उससे भी हम कष्टमे ही आयेंगे। दूसरे जिसे अपना वैरी माना है उसकी ओर से भी विपत्तिकी बात आ सकती है, वह भी अपना बदला चुकानेकी सोचेगा। तो द्वेष करके भी हमने क्या लाभ उठाया ? देखते जाइये—ससारके किसी भी भावमें, किसी भी परिणाममे अपने आत्माकी भलाई नहीं है। एक जो अधिक हसीकी, मौजकी प्रवृत्ति रहा करती है उससे भी कुछ लाभकी बात नहीं मिलती। ये सब एक विकल्प हैं, बरबादीके ही परिणाम हैं, इनसे आत्माका कुछ भी हित नहीं होता बल्कि उन परिणामोसे अपनेमे कायरता आती है। उससे अपनी हानि ही हुई। अन्यथा तो यह विचार करना चाहिए कि हम अपने स्वरूप को जानें कि मेरा स्वरूप अमर है, अविनाशी है। मुझे यहा किसीका डर नहीं है, यथाशक्ति ऐसी भावना बनायें। किसी पदार्थसे ग्लानि करके भी आत्माने क्या लाभ पाया ? आत्मामें एक आकुलता ही मची। तो ससारके ये सभी भाव, ये सभी समागम आत्माके अहितके लिए हैं, इनसे अपनी बुद्धि हटाये और आत्माका जो सहज ज्ञानानन्द स्वरूप है उसमे रमनेका अधिकाधिक यत्न करें, इसमे ही हम आपकी भलाई है। यही धर्मका पालन है। यही हम आपका साथ निभायेगा इस ही परमात्मस्वरूपमें अनुराग करें और इसके लिए अरहत सिद्ध परमेष्ठीका ध्यान लगाकर धर्मध्यानमे अपना उपयोग लगायें।

आज्ञापायविपाकाना क्रमश सस्थितेस्तथा।
विचयो य· पृथक् तद्धि धर्मध्यान चतुर्विधम् ॥१६०३॥

ससारके प्राणी ध्यानके बिना नहीं रहते। प्रत्येक जीवका कोई न कोई ध्यान बना ही रहता है। जिन जीवोंके मन है वे तो मनके द्वारा ध्यान करते हैं और जिनके मन नहीं है असज्ञी जीव हैं उनकी वासना के ही द्वारा ध्यान होता रहता है। तो जो असज्ञी जीव हैं, जैसे एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय, इनके मन नहीं है इसलिए ये अच्छा ध्यान नहीं कर सकते। तो मनरहित जीवके तो रौद्रध्यान और आर्तध्यान ही रह सकता है। कोई मनसहित जीवके आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान चार प्रकारके ध्यान हो सकते हैं। उनमे दो ध्यान तो आर्त और रौद्र ये ससारके कारण हैं, इनसे कष्ट उत्पन्न होता है। और धर्मध्यान व शुक्लध्यान ये मोक्षके कारण हैं। उनमेसे प्रथम धर्मध्यान होता है। धर्मध्यानके ४ भेद हैं--आज्ञाविचय, अपायविचय, उपायविचय, सस्थानविचय, भगवानकी। आज्ञाको प्रधान करके चिन्तन करना सो आज्ञाविचय धर्मध्यान। जिस ज्ञानी पुरुषके आज्ञाविचय धर्मध्यान हो सो वह भगवानने

कहा है इसलिए माने सो नहीं, युक्ति भी उसके पास है, अनुभवन भी उसके पास है लेकिन कुछ इस ध्यानमे ऐसी विशेषता है कि भगवानकी आज्ञाकी प्रधानता हो आती है। जैसा कि ७ तत्त्वोंके बारेमें जो स्वरूप बताया है तो अपनी युक्तिसे भी समझते हैं। जीव अजीव ये दो मूल तत्त्व है उन ५ तत्त्वोंके बननेमें। यहाँ अजीवको माना कर्म। अजीवमे कर्म आये सो आस्रव। आस्रव कोई अपनेसे विरुद्ध चीज आये तो वह गडबड़ीका कारण बनता है। जीवमे अजीव बधे सो बध। जीवमे अजीव न आये सो सम्बर। जीवमें से अजीव आना कम निकलना सो निर्जरा और जब कर्मसमूह विनष्ट हो जाय तो मोक्ष होता है। युक्तिसे भी जानते हैं कि हाँ बिल्कुल ठीक है, जीव केवल एक अकेला रहता, इसमे अभाव नहीं आता तो इसको कोई प्रकार का कष्ट न था। पर जीवके साथ विरुद्ध चीज जो अजीवकी उपाधि लगी है उससे यह कष्टमे आ गया, यह अनुभव भी बताता, युक्ति भी बताता, इतने पर भी भगवानने यह बताया है, प्रभुने यह बताया है ऐसी प्रधानता रहती है चित्तमे इसलिए उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। अपायविचय धर्मध्यानमे अपायका चिन्तन होता है और उपायविचय धर्मध्यानमे उपायका चिन्तन होता है। अपाय मायने रागादिक विभाव। कब मेरे रागादिक खोटे परिणाम नष्ट हों, कब मैं विशुद्ध परिणाममे आऊ, इसका नाम अपायविचय धर्मध्यान है। दूसरा है विपाकविचय। विपाक नाम है कर्मफलका। कर्म कैसी प्रकृति रखते हैं, उनके उदय काल मे किस जीवको कर्मफल भोगना होता है, उनकी वस्तुवोंका वर्णन करना, चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान है। तीसरा है संस्थानविचय धर्मध्यान। इसका बहुत बडा विस्तार है। तीन लोक तीन कालमें जो जो बातें गुजर रही हैं, झलक रही है उन सबको संस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं। ये चार प्रकारके धर्मध्यान सम्यग्दृष्टि पुरुषके होते हैं। वैसे वर्तमान प्रणालीमे चल रहे चौबीस ठानामे बताया दूसरे गुणस्थानमे। उसके उपदेशका प्रयोजन है सम्यक्त्वकी प्राप्ति। उस समय इस जीवको भगवानकी आज्ञाकी प्रधानता हो जाती है। वस्तुत धर्मध्यानका सम्बध सम्यक्त्वके साथ है। सम्यक्त्वके बिना इस प्रकारका ध्यान करना एक प्रकारका शुभ भाव है, पुण्य बधका हेतु है, और सम्यक्त्वके साथ इस प्रकारका ध्यान होना यह ७ वे निर्जरा तत्त्वको लिए हुए है। इन चार प्रकारके धर्मध्यानोंमे प्रथम जो आज्ञाविचय धर्मध्यान है, उसका वर्णन करते हैं।

वस्तुतत्त्वं स्वसिद्धान्तं प्रसिद्ध यत्र चिन्तयेत्।
सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविचयो मत ॥१६०४॥

जिस धर्मध्यानमे अपन सिद्धान्तमें प्रसिद्ध वस्तुतत्त्वका चिन्तन सर्वज्ञकी आज्ञाकी प्रधानतासे किया जाय उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। तत्त्वके बारेमे गहराईसे विचार चल रहा है, वैज्ञानिक आधार पर भी चल रहा है और सब कुछ विचार करते हुए भी बराबर उपयोगमे यह बात समाया करे कि भगवान जिनेन्द्रदेवकी ऐसी आज्ञा है सो आज्ञाविचय धर्मध्यान बनता है। वस्तुस्वरूप कैसा है ? जो वस्तुमे अनादि-कालसे अनन्तकाल तक अपने आप अपने सत्त्वकी प्रतिष्ठा रखनेके लिए जो लक्षण पाया जाय उसे वस्तु-स्वरूप कहते हैं। जैसे जीवका स्वरूप चेतन, एक चेतना, ज्ञानदर्शनका प्रकाश, प्रतिभास होना, यह जीव-तत्त्वमे ही पाया जाता है, पुद्गलमें प्रतिभासकी योग्यता नहीं है, चेतनेकी योग्यता नहीं है, इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य इनमें भी चेतना नहीं है। चेतना मात्र एक जीवतत्त्वमे ही है। यह चैतन्य जीवमें अनादि सिद्ध है। यह ही स्वरूप चैतन्यात्मक ही जीव है। सो वह चैतन्य यद्यपि स्वरूपमे अनादि-कालसे अनन्तकाल तक एक रूप रहता है और पदार्थ कोई भी ऐसा नहीं है जिसमे उत्पादव्यय न हो, नवीन पर्याय न आये, पुरानी पर्याय नष्ट न हो और फिर भी वस्तु रहे ऐसा कोई वस्तु नहीं। पदार्थ है कोई तो उसका उत्पाद व्यय अवश्य है। ऐसा कोई तत्त्व कल्पनामे लावो तो सही कि जिसमे परिणति कुछ न हो, अवस्था कुछ न हो और वह रहे। ऐसी बात तो कभी कल्पनामे भी नहीं आ सकती। इतनेपर भी कोई अविकारी, अपरिणामी तत्त्वकी कल्पना करो—जैसे एक ब्रह्म है, वह अविकारी है, अगोचर है, सबसे परे है,

एक स्वरूप है, उसमे कुछ परिणमन हो नहीं है ऐसी कल्पना करलो, परन्तु जब उसे एक परीक्षाकी कसौटीपर कसते हैं तो अनुभवमे ऐसी बात नहीं उतरती है कि हा अनुभव स्पष्ट कर दे, हाँ यह पदार्थ है। ये दृष्टि-गोचर आने वाले स्कध मायारूप हैं, ये सही इस रूपको स्वभावत रखते हों ऐसा नहीं है। विनष्ट हो जाने वाले है, लेकिन नष्ट हो हो कर भी कुछ न कुछ नई रचना बनाते रहते हैं। यह कभी नहीं हो सकता कि पदार्थ नष्ट हो जाय और वह नई रचना न बनावे। जैसे घडा फूट गया तो खपरिया बन गई। घटके फूटने का नाम खपरियोंका बनना है। और वे खपरिया भी मानो चूर-चूर हो जायें तो रेत बन गया। रेतका उत्पाद और खपरियोंका व्यय एक ही बात है। कभी यह रेत वृक्ष भी बन जाय, वृक्षके अकुरमे आकर ये परमाणु कभी वृक्षरूप भी हो जायें तो भी ये परमाणु रहेंगे, चाहे इनकी कोई बदल हो। तो जो पदार्थ होते है उनकी बदल अवश्य होती है, परिणमन स्वयमेव चलता रहता है, तो परिणमन बिना कोई पदार्थ नहीं रहता। तो यह चैतन्यात्मक जीवतत्त्व यद्यपि एक स्वरूप है तो भी इसमें नवीन-नवीन अवस्थाए बनती हैं और पुरानी-पुरानी अवस्थाए विलीन होती जाती हैं। पुरानी होती हैं फिर भी नवीन बनती रहती हैं। तो यह चैतन्य जो सामान्यविशेषात्मक है और इसी कारण ज्ञान एव दर्शनके रूपमें विदित होता है, वह चैतन्यात्मक तत्त्व उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त है।

यद्यपि यह आत्मा उतना सूक्ष्म पदार्थ है जैसा कि आकाश। अथवा धर्म अधर्म, काल द्रव्य। इनकी तरह अमूर्त है, सूक्ष्म है, इन्द्रियसे परे है, इतने पर भी आत्माका जितना स्पष्ट ज्ञान अपनेको हो सकता है उतना स्पष्ट ज्ञान किसी पदार्थका नहीं हो सकता। बल्कि यों समझ लीजिए कि जिन पुद्गलोंको हम आखोंसे निरखते है और बहुत स्पष्ट समझते हैं वे भी उतना स्पष्ट नहीं हैं जितना स्पष्ट अपने आत्मा को अपने आत्माका ज्ञान हो सकता है, पर इसके लिए थोडा विधि की आवश्यकता है। वह विधि है कि सर्वप्रथम तो अपने आत्माको आत्माकी रुचि हो। ससारके किसी भी पदार्थमें कोई सार शरण तत्त्व नहीं है। जिस पदार्थका सहारा लेते उस ही पदार्थकी ओर से धोखा मिलता है। यहाँ किसकी शरण गहें, किसका विश्वास करें, कोई पदार्थ यहा ऐसा नहीं जो आत्माको शान्ति उत्पन्न करा दे। बाहरमें कोई भी पदार्थ हमारे हितके लायक नहीं है, अतएव बाह्य पदार्थोंकी उपेक्षा करें। इससे एक विशुद्ध ज्ञानकी जागृति होगी और एक अद्भुत आनन्द जगेगा। वही तो आत्मतत्त्व है। उस तत्त्वका अनुभव होने पर इस ज्ञानी जीवको अपने आपका आत्मा इतना स्पष्ट विदित होता है जितना स्पष्ट अन्य पदार्थ विदित नहीं हो सकते। जिस पुद्गलको हम कहते हैं कि हमने भली प्रकार जान लिया, खूब समझ लिया वह सब परोक्ष ज्ञान है। और अपने आपके आत्माका ज्ञान बने तो उसे स्वसम्वेदनप्रत्यक्ष मानें। तो ऐसा चैतन्यात्मक अतस्तत्त्व सबसे निराला और अपने आपके परिणमनमें स्वरूपमें रहने वाला है ऐसा जीवस्वरूपको जाना इस आज्ञाविचयी धर्मध्यानी पुरुषने। परन्तु साथमें ही एक ऐसा भक्तिपूर्ण वचन बना रहता है कि जिनेन्द्रदेवने ऐसा कहा है, जिनेन्द्रदेवकी परम्परासे यह तत्त्व प्राप्त हुआ है। जिनेन्द्रकी आज्ञाकी प्रधानता उसके उपयोगमे बसी है। ऐसा भक्तिप्रधान जीव है यह।

पुद्गलके स्वरूपका जब यह ज्ञानी चिन्तन करता है तो निर्णय बनाता है कि वास्तवमे पुद्गल तो एक-एक अणु है। सिद्धान्तमें जो पुद्गलके दो भेद किए हैं परमाणु और स्कध, यह एक स्थूल विधिसे किया है। पुद्गल तो एक ही है। अथवा यों समझ लीजिए कि जैसे जीवके दो भेद बताये गए हैं—मुक्त और ससारी, तो ऐसा कहनेका अभिप्राय है शुद्ध जीव और अशुद्ध जीव। वैसे जीवके कई प्रकार न होते, जीव तो एक चैतन्यमात्र है फिर भी शुद्ध और अशुद्ध अवस्था बतानेके लिए ये दो भेद किए गए हैं। इसी प्रकार पुद्गलको शुद्ध और अशुद्ध अवस्था बतानेके लिए दो भेद किए गए हैं—परमाणु और स्कध। परमाणु तो शुद्ध पुद्गल है क्योंकि वह एक ही अणुमात्र है, सयोगी पदार्थ नहीं है। और स्कध अनेक अणुवोंका मिलकर बना है, एक रूप है, वह मायारूप है, अशुद्ध रूप है, वह बिखर सकता है। तो पुद्गलके दो भेद

एक विवक्षासे किए गए हैं। वास्तवमें तो पुद्गल एक अणुमात्र है। जो पदार्थ अपने शुद्ध स्वरूपको तजकर अशुद्ध स्वरूपको ग्रहण करता है उस अशुद्ध स्वरूपको माया कहते हैं। मायाका अर्थ है जो मिट जाय, औपाधिक रहे, और प्रकार दिखे। जैसे जीव तो वास्तवमें एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानदर्शनमय है, पर नारक, तिर्यञ्च मनुष्य देव आदिक रूप जो ये नजर आते हैं या बन रहे हैं ये सब माया हैं। इसी प्रकार एक परमाणु तो विशुद्ध रूप है, एकाकी है, अपने स्वरूपको लिए हुए है, पर इसका जो स्कन्धरूप बनता है, अनेक परमाणुवोंका मिलकर एक पिण्ड बन जाता है यह सब माया है, क्योंकि ये विनष्ट होंगे, और असली रूपमें जैसा पुद्गलमें होना चाहिए वह यह रूप नहीं है। यह औपाधिक रूप है अर्थात् यह स्कंध मायारूप कहलाता है। वह परमाणु अपने आपमें रूप, रस, गंध, स्पर्श शक्तिको लिए हुए है। अतएव वह मूर्तिक है। आत्मा अमूर्त है, पुद्गल मूर्त है। इसमें भेद डालने वाला लक्षण यह है। जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाया जाय उसे मूर्त कहते हैं और जो रूप, रस, गंध स्पर्शसे रहित है उसे अमूर्त कहते हैं। अब देखिये इस देहमें और अपने आत्मामें कितना विशेष अन्तर है, अत्यन्त विलक्षण है यह देह। आत्मा चैतन्यमात्र है, ज्ञान दर्शन स्वरूप है तो यह देह जड है, ज्ञानदर्शनसे रहित है। यह देह रूप, रस, गंध, स्पर्शवान है, मूर्तिक है और यह आत्मा अमूर्त है। अत्यन्त भिन्नता है इस शरीरमें और इस आत्मामें, फिर भी यह जीव इस देहको अपनाता है, अपनी मानता है। तो पुद्गलका लक्षण असाधारण जो है वह पुद्गलमें अनादिसे लेकर अनन्तकाल तक रहता है।

यह पुद्गल अपने रूप, रस गंध, स्पर्श स्वरूपको नहीं छोडता, ये मिलकर स्कंध बन जाते हैं। पर ये बिछुड बिछुडकर कभी परमाणु भी बन जाते हैं पर वे परमाणु अपनी दृष्टिमें नहीं आते हैं। एक युक्ति बता देती है कि कोई एक ढेला है उसे तोड दिया जाय तो उसके हजारों टुकड़े हो गए तो वे हमारे किए से उस रूप नहीं बने। किन्तु उसमेंसे निकल कर एक एक अणुमात्र रह जाय तो वे रह सकते हैं लेकिन पुद्गल में अणु बन भी जाय, शुद्ध हो भी जाय, लेकिन वह शुद्ध होकर सदा काल शुद्ध ही बना रहे--यह बात पुद्गल में नहीं है। वह शुद्ध होकर अशुद्ध बन जाती है और इसी कारण पुद्गलकी विशेषता है। उसका नाम ही पुद्गल है। जो पूरे और गले उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गल अपना यह स्वरूप नहीं छोडता। कभी अणु बन जाय तो भी वह अणु रूप रहे ऐसी बात नहीं निभ पाती है पर जीवमें निभ जाती है क्योंकि जीवके बंधके कारण तो रागादिक भाव हैं, सो रागादिक भावोंका तो अभाव हो गया अतएव इस शुद्ध जीवके बंधका कोई कारण नहीं रहा, मगर पुद्गलमें दूसरे पुद्गलके बंधका कारण पुद्गलमें बंध जाने वाले स्निग्ध रूक्ष गुण हैं, वह स्निग्ध गुण पुद्गलकी परिणति है। स्निग्धमें कोई परमाणु अवश्य रहेगा। अब अगुरुलघुत्व गुणके परिणमनमें अथवा स्निग्ध रूक्ष गुणमें भी स्वभावत कुछ घटाबढी चलती रहती है। जब दो या एक अणुका परस्परमें योग होता है तो वह फिरसे स्निग्ध बन जाता है, स्कंध हो जाता है, अशुद्ध हो जाता है तो पुद्गल शुद्ध होकर भी अशुद्ध हो जाता है किन्तु जीव शुद्ध होकर फिर अशुद्ध नहीं होता। एक बार मुक्त हुआ, अष्टकर्मोंसे रहित हुआ, शरीररहित केवल अनन्तचतुष्टयसम्पन्न सदाकाल बना रहता है। यह जीव और पुद्गल विभावोंमें एक विशेषता है। ऐसा सब कुछ चिन्तन करते हुए भी यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानीपुरुष जिनेन्द्रदेवके उपकारको नहीं भूल सकता। जिनेन्द्रदेवके उपदेशका हमें सार न प्राप्त होता तो हम और जीवोंकी भांति अज्ञान अंधेरेमें ही रहते। कुछ तो निर्णय है, मैं सबमें निराला हूँ, मेरा कोई रक्षक सुधारक, बिगाडक इस संसारमें नहीं है। मैं केवल अपने आपमें अपना अस्तित्व रखता हूँ, फिर मोह किसका, राग किसका? किसको हम अपना समझें—यह सब उसका निर्णय है। लेकिन जिनेन्द्रदेवकी भक्तिसे फिर भी पहिचानता रहे हुए हैं। भगवानने ऐसा ही तो कहा है, युक्तिसे सिद्ध है, अनुभव भी है फिर भी भगवानकी आज्ञा नहीं भूलता।

तीसरा द्रव्य है धर्मद्रव्य। धर्मद्रव्यके बारेमें ये ज्ञानी जन कुछ युक्तियोंसे भी विचार कर लेते हैं कि पदार्थ गमन करते हैं तो इनके गमन करनेको कारण हुआ करता है। तो ही जब सहज ज्ञान होता है

तो पंक्तिके अनुसार गमन होता है। आकाश प्रदेशमें ऊपर से नीचे, पूरबसे पश्चिम, उत्तरसे दक्षिण सीधी-सीधी लाईन हैं। उन्हें श्रेणियां कहते हैं। तो जब जीव अपनी पर्याय छोड़ता है, अन्य पर्यायमें जाता है तो यों ही टेढा न चला जायगा। अगर पूरबसे मरकर उसे कुछ आगे चलकर दक्षिणमें उत्पन्न होना है तो जो सीध मिले इस तरफ न जायगा किन्तु जहा श्रेणियोकी सीध मिले उस तरफ जायगा। पूरबसे कुछ पश्चिमको आगे बढ़ जाता है उत्पन्न होने योग्य जगहका सामना कर जाय, फिर पश्चिमसे दक्षिणमें जायगा। मुक्त जीव लोकसे ऊपर जाकर विराजमान होते हैं। तो ढाई द्वीपके अन्दर जिस जगहसे जो मुनि मुक्त हुआ वह उस ही जगह सीधा सिद्ध भगवन्त हो जाता है। यह गमनागमनका विचार धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यकी सिद्धिके लिए चल रहा है। धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलके गमनका हेतु है सो उदीर्णाका विचार नहीं है, चाहे गोल गोल चला जावे, चाहे सीधा, वह तो गमनका निमित्त कारण है। धर्मद्रव्य चलते हुए जीवके ठहरानेका निमित्त कारण है, पर जीव पुद्गल शुद्ध होकर जब गमन करते हैं तो वे विदिशावोंमें भ्रमण नहीं कर पाते, किन्तु नीचे से ऊपर जायें तो उसी सीधमें, पूरबसे पश्चिम जाये तो उसी सीधमें, कुछ ऐसी रचनाएं आकाश प्रदेशोंमें, यद्यपि हैं आकाश प्रदेशपर। कुछ कल्पनाके लिए ऐसा ध्यान करिये कि जैसे बहुत बारीक अत्यन्त महीन कोई वस्तु हो तो जैसे उसमें ताना पूरे रहते हैं, तन्तुवोंकी एक रचना रहती है, इस तरहसे अमूर्त आकाशमें भी पूरबसे पश्चिम, ऊपरसे नीचे, उनमें भी आकाश प्रदेशकी एक पंक्ति होती है। तो शुद्ध जीव और शुद्ध पुद्गल उन पंक्तियोंके अनुसार गमन करता है, जो अणु एक समयमें १४ राजू गमन करता है वह नीचे आकाश प्रदेशोंमें ही गमन करता है वह धर्मद्रव्य है। कुछ आजकलके वैज्ञानिक लोग भी ऐसी तरंग मानते हैं जिनके आधार पर गमन होता है, शब्द कहते हैं, तो यह ज्ञानी जीव धर्मद्रव्यके बारेमें विचार कर लेता है तिस पर भी जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाकी वह प्रधानता चित्तमें बसाये है। जिनेन्द्रदेवकी ऐसी आज्ञा है, उनका यह उपदेश है। ऐसे ही धर्मद्रव्यके बारेमें आकाश द्रव्यके बारेमें जानिये।

यह आकाशद्रव्य सर्वव्यापक है, लोकमें भी है अलोकमें भी है। जहा तक समस्त द्रव्य पाये जाते वह लोक है, उससे बाहरमें आकाश अलग है, युक्तिसे भी समझ रहा है कि हा आकाश ऐसा सर्वव्यापी होना चाहिए कि जिसका कहीं अन्त न हो। उसके आगे कोई पिण्डरूप चीज है, पोल नहीं रहता है, तो पिण्डरूप जहाँ ठहरे हों उसके मायने आकाश। तो यह आकाश तत्त्वकी ७ युक्तियोंमें विचारता है, तिस पर भी आज्ञाविचय धर्मध्यानी सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवानकी आज्ञाकी प्रधानताका चिंतन कर रहा है। ३ कालद्रव्य हैं। कालद्रव्य लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालाणुके रूपमें है। अब देखिये कैसी प्राकृतिक बात है कि जहा वह कालद्रव्य है वहाँ जो पदार्थ हों उनके परिणमनका कारणभूत वह काल है इसलिए कालद्रव्य असंख्यात हुए। जिस प्रदेश पर जो पदार्थ ठहरा हुआ हो उसके परिणमनका हेतुभूत वह काल द्रव्य है। काल एक सनातन द्रव्य है, उसकी पर्याय समय और समय मिलकर सेकेण्ड मिनट आदि होते हैं, वह भी युक्तिमें आता है। इस प्रकार समस्त द्रव्योंका स्वरूप जानकर भी यह सम्यग्ज्ञानी पुरुष सर्वज्ञदेवकी आज्ञा की प्रधानताका बराबर चिन्तन बनाये है कि भगवान जिनेन्द्रका ऐसा उपदेश है, वह प्रमाणभूत है। इसलिए भगवानकी आज्ञाकी प्रधानतासे तत्त्वके स्वरूपका चिन्तन करना सो आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

अनन्तगुणपर्यायसंयुतं तत् त्रयात्मकम्।
त्रिकालविषयं साक्षाज्जिनाज्ञासिद्धमामनेत् ॥१६०५॥

मोक्षके कारणभूत दो प्रकारके ध्यान हैं—धर्मध्यान और शुक्लध्यान। उनमेंसे धर्मध्यानके चार भेदोंका वर्णन चल रहा है। प्रथम धर्मध्यानका नाम है आज्ञाविचयधर्मध्यान। भगवानकी आज्ञाको मुख्य करके जो ध्यान बनाया जाता है उसे आज्ञाविचयधर्मध्यान कहते हैं। इस ध्यानमें तत्त्वोंका भी विचार है पर विचार करके भी भगवानकी आज्ञाकी प्रधानता उसके रहती है। तत्त्व अनन्त गुण पर्यायुक्त है। पदार्थ

जितने भी हैं सब अनन्तगुणात्मक हैं अर्थात् प्रत्येक पदार्थमें अनन्त शक्तियां हैं, हैं सर्व अभेद स्वभावरूप, पर जब भेद करके जाना जाता तो अनेक हैं। जैसे एक आत्मा, उसका स्वभाव है एक चैतन्य, अथवा जो है सो है। अब उस आत्माके स्वभावको जब हम भिन्न-भिन्न कार्योंके रूपसे देखते हैं तो हमें उसमें अनन्त गुण नजर आते हैं। जैसे आत्मा जानता है तो एक ज्ञानगुण है। आत्मा सामान्य प्रतिभास करता है तो एक दर्शन गुण है, आत्मा आनन्द भी भोगता है तो एक आनन्द गुण है, इस प्रकार जितने भी काम समझमें आयें उतने इसमें गुण होते हैं। आत्मा सूक्ष्म रहता है तो सूक्ष्म गुण भी है, इस तरह अनन्त गुणोंसे युक्त आत्मा है। ऐसे ही पुद्गलमें वास्तविक पुद्गल अणु है—उसमें रूप हैं तो रूप गुण हो गया, रस है तो रस गुण हो गया, यों जितनी शक्तियां हैं वे सब गुण हो गये। तो यों पदार्थ अनन्त गुण करके सहित है, और जितने गुण हैं उतनी ही उसकी पर्यायें हैं। कोई भी गुण पर्यायरहित नहीं हो सकता। गुण है तो कोई न कोई अवस्था है। जैसे कि ज्ञान शक्ति है तो वह ज्ञान किसी न किसी अवस्थाको लिए हुए होगा। मतिज्ञान हो, श्रुतज्ञान हो, कोई भी हो, अवस्था उसकी जरूर होगी। इस प्रकार जितने भी गुण हैं उतनी ही उसमें पर्यायें हैं। अनन्त गुण हों तो अनन्त पर्यायें हुईं। उसका पिण्डभूत जो तत्त्व है उसे द्रव्य कहते हैं। तत्त्वार्थ सूत्रमें बताया है कि जो गुण पर्याय वाला हो सो द्रव्य है। द्रव्यमें यह खासियत है ही। इस कालद्रव्य भी ले लो। लोकाकाशके एक प्रदेशपर ठहरा है, ऐसे असंख्यात काल हैं। तो कालद्रव्य भी अपने अनन्त गुणोंसे युक्त है और अनन्त पर्यायोंसे युक्त है। प्रत्येक पदार्थ अनन्तगुणपर्याययुक्त है, इसलिए उसे भयात्मक बोलते हैं। कोई पदार्थ ऐसा नहीं कि जो बनता तो हो और विगडता न हो या बना न रहता हो। विगडता तो हो, पर न बनता हो और न बना रहता हो ऐसा कोई नहीं है। कोई पदार्थ बना तो रहता हो पर न बनता हो, न बिगडता हो ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं है। तो पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। कुछ एकान्ती लोग एक निर्विकारको ब्रह्म मानते हैं। तो जिसमें कोई अवस्था नहीं होती है ऐसा ब्रह्म क्या स्वरूप रखता होगा? वह कथन मात्र है अथवा यों समझिये जैसे द्रव्यदृष्टिमें जैन सिद्धान्तमें पर्यायको निरखकर केवल स्वभाव देखकर आत्मा चैतन्यप्रकाशमात्र कहा है, ऐसा ही उनका एक ब्रह्म है, पर यह द्रव्यदृष्टि एकान्त हो जाय तो उनका ब्रह्म है। अपने यहाँ एकान्त तो है नहीं। द्रव्यदृष्टिसे आत्मा एक चैतन्यस्वभावमात्र है। द्रव्यदृष्टिमें विकार नहीं है, द्रव्यदृष्टिमें अवस्था नहीं है, द्रव्यदृष्टिमें परिणमन नहीं है। जैसे दो भीट हैं, हम आगे की भीट देख रहे हैं तो पीछेकी भीट हमारी नजरमें नहीं है, तो हमारी नजरमें नहीं है तो इसके मायने यह नहीं कि भीट है ही नहीं। द्रव्यदृष्टिमें पर्याय नजर नहीं आती पर इसके मायने यह नहीं है कि पर्याय है ही नहीं। पर्यायदृष्टिमें गुण नहीं नजर आते तो इसके मायने यह नहीं है कि वह सनातन तत्त्व नहीं है। हाँ द्रव्यदृष्टिका विषय है कि पदार्थके स्वभावको जाने। दोनोंको स्याद्वादसे ले तो गुण और पर्याय दोनोंको जाने सो प्रमाण है। यों उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है और तीन कालमें रहता है। पदार्थ पहिले भी था, आज भी है आगे भी रहेगा। जो कुछ है ही नहीं, असत् है वह कभी सत् नहीं बन सकता। जो सत् है, अपना अस्तित्त्व रखता है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। तो सत् कभी नष्ट होता नहीं, असत् बनता नहीं तो ये जो सब कुछ बनते दीखते हैं ये सब परिणमन हैं। इससे सिद्ध है कि पदार्थ सनातन है और प्रति समय परिणमता रहता है। ऐसा सब कुछ तत्त्वको जानता हुआ भी यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष बीच बीचमें अपनी आज्ञाविचयता की पुट लगाता जाता है कि ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। जिनेन्द्रदेवकी ऐसी आज्ञा है कि पदार्थ द्रव्यगुणपर्यायात्मक है पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, त्रिकालवर्ती है, इस लिए यह सब चिन्तन आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है।

सूक्ष्म जिनेन्द्रवचनं हेतुभिर्यन्न हन्यते।
आज्ञासिद्धं च तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥१६०६॥

आज्ञाविचय धर्मध्यानी ज्ञानी सम्यग्दृष्टिके चिन्तनमें यह तत्त्व समाया है कि जिनेन्द्र भगवानका वचन सूक्ष्म है जो हेतुवोंके द्वारा खण्डित नहीं होता। अब आप देखें कि कैसी-कैसी कर्मरचनाएं बतायी हैं कि जीव किसी समय तीव्र अज्ञानमय मोह विभाव परिणाम करता है तो ७० कोड़ाकोड़ी तककी स्थितिका कर्म बन्धन हो सकता है। एक सागरमें जितनी स्थिति बंधी है मानो स्थिति सागरों पर्यन्त होती है तो इसके प्रत्येक समयमें इस समय इतने परमाणु उदयमें आयेंगे, इस समयमें इतने उदयमें आयेंगे, यह बटवारा भी हो जाता है। तो बन्धके समयमें वे स्थितियां पड़ गयीं, निषेक बन गए हैं। यह बन्धके समयका काम हुआ। यह सुनकर घबड़ायें नहीं, कहो भावी कालमें इसके परिणाम विशुद्ध हुए तो स्थिति तो उसमें पड़ी ही थी पर उनका अपकर्षण संक्रमण और आगेके निषेकोंका पहिलेकी स्थितिमें रह जाना और वहांके निषेकोंका खिर जाना—ये बातें सम्भव हैं इसलिए उनकी निर्जरा हो जाती है। कोई खोटे परिणामसे बड़ी लम्बी स्थिति बांध ले तो ऐसी स्थिति भोगनी पड़ेगी ऐसा नहीं है। कभी शुद्ध परिणाम हो तो वह स्थिति खिर जायगी, भीतरमें मिल जायगी। जैसे एक नक्शेसे यों समझिये कि एक फिट भर समयकी रचना बनायी तो पहिली लाइन पर जीव स्थित है, उसने कर्म बांधे तो वे पुद्गल स्कंध एक फिट तककी समस्त लाइनोंमें बट गए, ये समय हुए। अब करणानुयोगकी दृष्टिसे यह वर्णन चलेगा। तो आगे चलकर किसी भी समय जीव अगर परिणाम उज्ज्वल बनाता है, अध करण अपूर्वकरण आदिक परिणाम बनता है तो उन परिणामोंके कालमें ये कर्मबन्ध ध्वस्त हो जाते हैं। यहां पर एक शंका हो सकती है कि जब जीवने कर्म बांधा और उनका उदयकाल आयगा तो उस समय भी कर्म नचेंगे, फिर खोटे परिणाम होंगे तो फिर कर्म बंधेंगे। यों छूटना किस तरह होगा? तो सुनिये यह सूक्ष्म कथन है। जिस समयमें बंधे हुए कर्म उदयमें आते हैं उस समय तो टाला नहीं जा सकता। उस समय उसके अनुकूल परिणाम बनेंगे, पर उदयावलीमें कर्म आ जायें अथवा इससे भी पहिले उन्हें तो टाला जा सकता है, हां उदयक्षणमें कर्म आयें तो उन्हें नहीं टाला जा सकता। बहुत पहिले विशुद्ध परिणाम कोई करे तो बहुत आगेके कर्म घट जायें स्थिति दूर हो जाय, प्रकृतियां कम हो जायें, अनुभाग कम हो जाय, यह तो बहुत सम्भव है, पर समयपर विशुद्ध परिणाम हो और कर्म काट दिए जायें यह बात केवल उदयावली तक सम्भव है पर उदयके क्षणमें सम्भव नहीं है। उदयके होनेकी एक परम्परा होती है और निरन्तर उस उस जातिकी पर्यायोंका उदय चलकर उपयोगमें आये ऐसा बननेके लिए एक आवली तकमें परम्परा चलती है, उसे कहते हैं उदयावली। उस उदयावलीके मान लो एक हजार समय है, उस एक हजार समयमें भिन्न-भिन्न समयमें जुदी-जुदी कर्मवर्गणायें खिरती और दृष्टान्तमें मानो १००० समय तक उस उस जातिके कर्मोंका निरन्तर उदय चलता है इसलिए उसे उदयावली कहते हैं, पर उन एक हजार समयोंके भीतर जैसे मान लो ५०० नं० के समय पर जो प्रकृति उदयमें आयें, कार्माणवर्गणायें उदयमें आयी हैं वह है उदयक्षण और उसके सिलसिलेमें आना तो था ५०० समय और उदयमें, पर ५०० समयसे भी पहले वह उदयावली आ गयी तो उदयावलीमें आये हुए कर्म भी संक्रमणको प्राप्त हो सकते हैं उसे कहते हैं स्तिवुक संक्रमण, अर्थात् उनमें जो उदयका लग है उसने एक समय पहिले व प्रकृति बदले, याने जो उदयक्षणमें प्रकृति चल रही है उसरूप परिणम जाय और उदयमें आये, उसे कहते हैं स्तिवुक संक्रमण। यों स्तिवुक संक्रमणसे भी कर्म झड़ जाते हैं और स्तिवुक संक्रमण न होकर सीधा अपकर्षण और निर्जरण है, उस प्रकार भी कर्म झड़ जाते हैं। स्तिवुक संक्रमणसे जो कर्म खिरते हैं उसका महत्त्व भी है और नहीं भी है दोनों बातें हैं। जैसे इस समय मनुष्योंके चारों गतियोंके भी उदय चल सकते हैं पर फलमें केवल मनुष्यगति है, जन्मजन्मान्तरोंमें तिर्यञ्च गति भी बांधी होगी, अन्य गति बांधी होगी तो नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सभी गतियोंका उदय आ सकता है, पर होगा क्या कि जिस क्षण वह उदय आनेको होगा नरक आदिक गति, तो उदय क्षणसे एक समय पहिले मनुष्य गतिके रूपमें बनकर उदयमें आयगा, इसका नाम स्तिवुक संक्रमण है। अब इसमें कोई महत्त्व नहीं रहा। जीवोंमें प्रकृत्या यह धारा बनती है कि अनेक कर्मोंका उदय आ रहा है, पर भोगनेमें भवके अनुकूल

ही होगा तो उस समय बन बनकर परिणाम करके खिरेगा।

प्रकरण यह चल रहा है कि जिनेन्द्रका वचन अति सूक्ष्म है, इन्द्रियके अगोचर है। तो जिनेन्द्र का वचन जब हम इतना सूक्ष्म देखते है और एक आचार्यके वचनका दूसरे आचार्यके वचनमें विरोध नहीं पाते हैं, एक परम्परा चल रही है तो इससे सर्वज्ञताकी सिद्धि अवश्य होती है। तो आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष यह चिन्तन कर रहा है कि जिनेन्द्रका वचन इतना सूक्ष्म है जो इन्द्रियसे स्पष्ट नहीं हो सकता है। ज्ञानी पुरुष चिन्तनसे, युक्तिसे, अनुभवसे भी जानकर भी आप्त भगवानकी भक्ति इतनी तीव्र है कि सब तरह से निर्णीत तत्त्वको जानकर भी भगवान जिनेन्द्रदेवने ऐसा कहा है ऐसा प्रमाण रूपमें अपने आपमें जाहिर कर रहा है, यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें जो सूक्ष्म कथन बताया गया है, जिसमें कर्मोकी अपकर्षण स्थिति भागहार आदि बताये हैं उसमे कुछ युक्तिप्रयोग भी है। कर्मोका उत्कर्षण होनेके लिए सक्लेश परिणाम चाहिए, विशुद्ध परिणाम न चाहिए, शुभायुको छोडकर अन्यकी स्थिति बढनेके लिए विशुद्ध परिणाम न चाहिए, किन्तु आत्माके गिरे हुए परिणाम चाहिए। तो जो आत्माके गिरे हुए परिणाम हों उस कालमे उस परिणामके अनुकूल कर्मोकी स्थिति बढ जाती है। जैसे आयु कर्मकी स्थिति अपकर्ष काल में ही घटती बढती है। आयुकर्मका बंध, कर्मभूमिके मनुष्यमे तो सम्पूर्ण आयुके तीन भाग कीजिए। दो भाग व्यतीत होनेके पश्चात तृतीय भागमें आयु बंध होता है। उस दूसरे भागमे भी आयुका बन्ध न हो तो उसके भी तीन भाग करें। इस तरह ८ बार अपकर्ष काल आता है। किसीको आयुकर्मका बध पहिले अपकर्षमे मिला हो तो जब उसका द्वितीय तृतीय अपकर्ष काल आ जाय तो सम्भव है कि उस समय आयु कर्मकी स्थिति घट भी जाय और बढ भी जाय, सो यह आयुकर्मकी स्थितिका घटना बढना वध्यमानमें है, भुज्यमानमें नहीं है। आयु कर्मकी स्थिति तो अपकर्ष कालमे ही परिवर्तित होती है और अन्य कर्मका सक्लेश आदि परिणाम होने पर परिणामोंके अनुकूल जो कर्म बध सकते हैं केवल उन ही कर्मोकी स्थिति घट बढ सकती है। ऐसा नहीं हो सकता है कि साता वेदनीय बध रहा हो और असाताकी स्थिति बढ जाय, साता वेदनीयके कालमें पूर्व बद्ध सातावेदनीयकी स्थिति बढ सकती है। देखिये, जैनशासनमें आप्त देवने कैसी-कैसी एक-एक समयकी बात बतायी, कैसा-कैसा उत्कर्षण होता, कैसा अपकर्षण होता, कैसी स्थापना होती, आगेके कर्म कैसे पहिले निषेकमें आ सकते, यह समस्त कथन अत्यन्त सूक्ष्म है और जो हेतुवोंके द्वारा खण्डित नहीं हो सकता तो आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष विचार कर रहा है कि यह सब कथन जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा है, जो कि पूर्ण सत्य है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रमाणनयनिक्षेपैर्निर्णीतं तत्त्वमञ्जसा।
स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं चिदचिल्लक्षणं स्मरेत् ॥१६०७॥

आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष भगवानकी आज्ञाकी मुख्यता करता है, पर केवल भगवानने कहा है इससे ठीक मानता हो ऐसा नहीं है, अपनी बुद्धिका कुछ भी बल न लगाता हो यह बात नहीं है। बुद्धि बलका पूर्ण उपयोग है, तिस पर भी भगवानकी परम्पराको प्रधान लेकर कथन करता है और अपने धर्मका विचार बनाता है। तो विश्वासमे यद्यपि परीक्षाकी प्रधानता है, पर परीक्षा कर करके भी जब उसकी दृष्टिमें तत्त्व सही उतरता है तो एकदम जिनेन्द्रदेवकी भक्ति उमडती है कि धन्य हैं जिनेन्द्र प्रभुके वचन, कितने सत्य प्रभुके वचन निकलते हैं, अनुभवसिद्ध और युक्तिसिद्ध बातको जानकर भगवानके गुणस्मरणमे आज्ञाविचयधर्मध्यानीकी तीव्रता होती है कि भगवानके वचन कितने सत्य हैं, जो युक्तियोंसे बिल्कुल ठीक उतरे। इसके अलावा और भी देखिये जो कथन हमारी युक्ति और अनुभवमे उतरते हैं—वह बात जब हम पूर्ण सत्य पाते हैं तो जिनभगवानने और भी जो वचन कहे जो युक्तिमें नहीं भी उतरे हैं, तो उन वचनोंको भी सत्य मानता है। ७ तत्त्वोंका प्रतिपादन युक्ति और अनुभवसे भी जाना जाता है। आस्रव परिणाम क्रिया है उस

समय कर्मोंकी क्या स्थिति हो सकती है, सम्वरपरिणाम क्या है और सम्वर परिणामके समय कर्मोंमें क्या खलबली हो सकती है ? ये सब बातें हम युक्तिसे भी और अनुभवसे भी जान सकते हैं और हम युक्ति अनुभव से जानकर आज्ञासे भी जान सकते हैं, उसके अलावा जैसे स्वर्गोंकी रचना—इतने स्वर्गोंमें पटल है, इतने श्रेणीवद्ध विमान हैं आदिक कथन है युक्ति और अनुभवसे आगे निकला लेकिन जिन सर्वज्ञदेवने वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन यथार्थ किया है जिसे हम युक्ति और अनुभवसे जानते हैं, उनके समस्त वचन हैं इस विषयमे उसकी श्रद्धा जम जाती है। तो परोक्षभूत तत्त्वमे आज्ञा प्रधान रहा और अनुभव योग्य तत्त्वमे परीक्षा प्रधान रहा। परीक्षा प्रमाणके लिए जब-जब परीक्षामें आवें तो उस-उस समय इस तरह यह आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष परीक्षातत्त्वमे भी आज्ञाकी प्रधानता करता है, और जो परीक्ष्य नहीं है किन्तु सर्वज्ञदेव द्वारा निर्णीत है उस तत्त्वमें भी विश्वास करता है। यों आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष सर्वज्ञकी आज्ञाकी मुख्यतासे सर्वज्ञके स्वरूपका चिन्तन करता है। तो ये सूक्ष्म तत्त्व हुए परमाणु आदिक, आन्तरित तत्त्व हुए जो भूतकालमे हुए और दूरवर्ती तत्त्व हुए मेरु आदिक जो वहुत दर है। ये इन्द्रियके विषयभूत नहीं हैं लेकिन ये किसी न किसी के द्वारा प्रत्यक्षभूत अवश्य है, क्योकि किसी न किसीके अनुमानमे आते हैं। जैसे पर्वतमे धूम देखकर हम अग्निका अनुमान करते है तो हम तत्र अनुमान केवल कर पाते हैं, पर पवतके निकट जो बैठे हैं वे तो साक्षात् देख सकते है, इन सब बातोंमे आज्ञाकी प्रधानता होती है और भगवानकी आज्ञामे जो जो वचन कहे गए हैं और हमारे परोक्षभूत हैं, वे सत्य हैं ऐसा निर्णय करनेका प्रमाण हमारे पास यह ही है कि वस्तुस्वरूप जो कि हमारे तत्त्वमे, अनुभवमे, युक्तिमें उतर सकता है वह जब हममे यथार्थ उतरा तो उनका कथन जो भी है वह सब प्रमाणभूत है, इस तरह परीक्ष्य तत्त्वके माध्यमसे परोक्षभूतको भी तत्त्व माना है, यही आज्ञाविचय धर्मध्यानमें है।

तत्त्वका निर्णय प्रमाण नय निक्षेप इन तीनसे होता है। प्रमाणमें द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि निश्चयव्यवहार ऐसी दृष्टियोंका स्वभाव निर्णय करना उसे तो प्रमाण कहते हैं और प्रमाणसे ग्रहण किए हुए पदार्थमें एक अंशको मुख्य बना करके उसका मुख्य निर्णय करना सो नय है। प्रमाण और नयसे जिसका निर्णय किया जा चुका है ऐसे तत्त्वका निक्षेपसे व्यवहार करना यह भी निर्णयमे शामिल है, जिस नामनिक्षेपसे हम पदार्थको जानते रहते हैं। नामसे पहिले पदार्थका प्रतिपादन या उसका व्यवहार शुरू नहीं हो सकता। नाम किसीका धरा जाय तब तो उससे व्यवहार चला, इसलिए सबसे पहिले निक्षेपोंमे नामनिक्षेप कहा है। नाम बिना क्या व्यवहार करना, नाम बिना कुछ व्यवहार नहीं हो सकता इसलिए नामनिक्षेप सबसे प्रथम है। प्रमाण नय, निक्षेपसे निर्णय किए हुए तत्त्वमें यह स्मरण तो करता है आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष, मगर उसका इस ही ओर बराबर ख्याल बना रहता है कि कितना सत्य भगवान जिनेन्द्रदेवके वचन हैं ? उस आज्ञाविचय धर्मध्यानीके भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाकी प्रधानता है। युक्तिसे और अनुभवसे सब तरहसे निर्णय करके भी वह आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष इस प्रतीतिको नहीं छोडता कि भगवान जिनेन्द्रदेवके वचन बिल्कुल सत्य हैं। जब उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी बात प्रत्येक पदार्थमे निरखता है तो उसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्याय बनाता है, पूर्व पर्याय उसमें लीन हो जाती है और नवीन पर्याय उत्पन्न होकर पूर्वपर्याय होकर भी वह सनातन तत्त्व बना रहता है—यह बात उसे हर चीजमे नजर आती है, कंकड, पत्थर, जीव, देहादिकमे, क्योंकि यह बिल्कुल स्पष्ट बात है। घडा उत्पन्न हुआ तो मिट्टीका लोंदा बिलीन हो गया और मिट्टी उन सब अवस्थावोंमे बनी रही। तो यह स्थिति उत्पाद व्ययकी बराबर स्पष्ट नजर आती है। पर स्पष्ट नजर आकर भी भगवानकी आज्ञाका सम्बध बन्धा होता है। कितना स्पष्ट और प्रमाणसे निर्णीत तत्त्व है जो भगवान सर्वज्ञने बताया है, यों आज्ञाविचय धर्मध्यानीकी बात कही जा रही है। आज्ञाको मुख्य करके चिन्तन करना वह सब आज्ञाविचय धर्मध्यान है। फिर यह भी देख रहा है कि चेतन अचेतनमें जितना तत्त्व का निर्णय जिनेन्द्रदेवने किया है वह बिल्कुल यथार्थ है। अचेतनमें भी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और

काल जो द्रव्य जातिका निर्णय बताया है वह भी युक्तिमें उतरती हुई बात है। ऐसा चेतन अचेतन लक्षण वाले पदार्थ स्पष्ट हो रहे हैं और उनको स्पष्ट जानकर भगवानकी आज्ञामे प्रधानता रखता है—धन्य है वे जिनेन्द्र प्रभु जिनकी आज्ञाके शब्द एकदम सत्य निकलते हैं, जो सत्य है वह ही प्रभुका उपदेश है।

श्रीमत्सर्वज्ञदेवोक्तं श्रुतज्ञानं च निर्मलम् ।
शब्दार्थनिचितं चित्रमत्र चिन्त्यमविप्लुतम् ॥१६०८॥

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष आज्ञाविचय धर्मध्यानमे ऐसा चिन्तन करता है कि सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया निर्मल और शब्द अर्थसे परिपूर्ण नाना प्रकारका विधिश्रुत है। श्रुतज्ञान अग पूर्ण रूपमे जो आया है वह मूलमे तो भगवानकी दिव्यध्वनिसे निकला है, उस दिव्यध्वनिको सुनकर गणधर देवोंने उसका प्रतिपादन किया, फिर मुनिजनोंने, आचार्यजनोंने उसे सुनकर उसका प्रतिपादन किया। तो यह श्रुतज्ञान सर्वकल्याणभूत है, ऐसा ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है। अब श्रुतज्ञान क्या है ? उसका वर्णन करते हैं।

परिस्फुरति यत्रैतद् विश्वविद्याकदम्बकम् ।
द्रव्यभावभिदा तद्धि शब्दार्थज्योतिरग्रिमम् ॥१६०९॥

श्रुतज्ञान दो प्रकारका है द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। द्रव्यश्रुत अंगपूर्व रूप जो रचना है वह है। शास्त्र हैं अक्षर हैं ये भी द्रव्यश्रुत हैं, और इनका अध्ययन करके अथवा सुन करके जो ज्ञान बनता है वह भावश्रुत है अथवा अन्तरङ्गका जो ज्ञान है वह है भावश्रुत और जो शब्दोंकी रचना है वह है द्रव्यश्रुत। तो दो प्रकारका श्रुतज्ञान होता है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। द्रव्यश्रुतमें और भावश्रुतमे शब्दोंका प्रकाश है, शब्द और अर्थका प्रकाश है श्रुतज्ञान और समस्त प्रकारकी विद्यावोंका समूह है। जितनी विद्याएं हैं, जितने ज्ञान हैं सब श्रुतज्ञान हैं। जितने एकान्त मत हो गए हैं, जितने धर्म प्रचलित हो गए हैं उन सबकी पूरी-पूरी बात श्रुतज्ञानमे मिलेगी, पर मिलेगी दो ढगोसे। इस श्रुतज्ञानमें पापका, प्रमेयका, धर्मका, अधर्मका सभीका वर्णन है। ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो श्रुतज्ञानमें न आया हो। इसलिए श्रुतज्ञान और केवल ज्ञान को आचार्य बराबरका बताते हैं। किसी दृष्टिसे श्रुतज्ञान भी सकेतरूपमे समस्त विश्वको जान जाता है। जहाँ यह जान लिया कि समस्त विश्व उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, एक-एक द्रव्य जाने वह बात अलग है मगर चिन्ह रूपमे सारा विश्व जान लिया गया है। द्रव्यश्रुतमे शब्द है और भावश्रुतमे ज्ञान है। जो ज्ञान बना वह भावश्रुत है। जो द्रव्य है शब्द और शास्त्रादि वे द्रव्यश्रुत हैं। अक्षरोंको कागजमे लिख दिया तो वह भी द्रव्यश्रुत है। इस प्रकार द्रव्यका समस्त वर्णन, भावश्रुतका समस्त वर्णन जो मिला है वह सर्वज्ञदेवकी ध्वनिसे निकला है। तो सर्वज्ञदेवकी ऐसी आज्ञा है ऐसा चार अनुयोगोंमे माना है। यद्यपि यह ज्ञानी युक्ति और अनुभवसे विचारता है पर मानता वह यह है कि यह भी सर्वज्ञदेवकी आज्ञा है।

अपारमतिगम्भीरं पुण्यतीर्थं पुरातनम् ।
पूर्वापरविरोधादिकलङ्कपरिवर्जितम् ॥१६१०॥

यह श्रुतज्ञान कैसा है जिसका चिन्तन भगवानकी आज्ञाकी प्रमुखतासे यह ज्ञानी पुरुष कर रहा है। यह श्रुतज्ञान अपार है। जब सारी विद्याएं इस श्रुतज्ञानमें हैं तो इसका पार कौन पा सकता है ? व्याकरण, वेद, ज्योतिष आदिक समस्त विद्याएं इस श्रुतज्ञानमें गर्भित हैं। किसी भी विद्याका पारगामी पुरुष यहा कोई नहीं है। तो जब एक एक विद्या अपार है तो जहा असख्याते विद्याएं भरी हुई हैं ऐसा श्रुतज्ञान अपार है, क्योंकि जिसके शब्दोंका पार अल्पज्ञानी पा ही नहीं सकता है। श्रुतज्ञानसे जो कुछ जाना उसे सही रूपमे बतानेके लिए कोई नाम नहीं है। अभी आत्माका भी कोई नाम नहीं है। आत्मामे जो स्वरूप बसा है, जो स्वभाव है, गुण पर्याय है, जो कुछ है उसे आप किसी शब्दसे कह नहीं सकते। ज्ञान तो है, मगर शब्दोंसे नहीं कह

सकते, क्योंकि इसके जितने नाम हैं वे सब नाम एक एक बात बतलाते हैं। जैसे जीव कहा तो जो प्राणोंसे जीवे सो जीव, सारी बात नहीं आ सकती। आत्मा कहा तो जो निरन्तर जाने सो आत्मा। बहुत बात तो न कहेंगे। कोई दुःखी होता है तो पदार्थके कुछ अंशोंका नाम लेकर होता है। तो वह श्रुतज्ञान अपार है और गम्भीर है किन्तु उस श्रुतज्ञानके अर्थकी थाह कोई नहीं पा सकता। श्रुतज्ञानके शब्दोंमें कितना अर्थ बसा है, इसकी थाह कोई नहीं ले सकता। जब आजकलकी कविताओंमें कितने ही भाव भरे हुए हैं जिनको जानकर सुनने वाला हर्ष विभोर हो जाता है तब फिर श्रुतज्ञानके शब्दोंका कौन पार पा सकता है? इसलिए श्रुतज्ञान गम्भीर है और यह श्रुतज्ञान पवित्र तीर्थ है। इस श्रुतज्ञानका सहारा लेकर जीव संसारसे पार होता है। जो कोई भी साधु हों उन्हें केवलज्ञान पहिले हुआ मगर केवलज्ञानके पहिले श्रुतज्ञानका आलम्बन था। हर एक निर्वाण पाने वाले पुरुषको श्रुतज्ञानका सहारा रहता है, यह ऐसा पवित्र सहारा है कि जहाँ लग जाय तो संकट दूर ही जाये। यह श्रुतज्ञान पुण्य तीर्थ है। इसको श्रुतज्ञान कहते हैं क्योंकि इसमें पाप नहीं है, निर्दोष है, इस कारणसे जीवको तारने वाला है। भेदविज्ञानकी बात श्रुतज्ञानमें आये, पुद्गल आदिक परद्रव्योंसे अपनेको न्यारा समझे, निर्लेप समझे ऐसी प्रेरणा इस श्रुतज्ञानने दी। यदि श्रुतज्ञान न होता तो हम आप लोग कैसे मोक्षमार्गमें लग पाते? कौन दीपक दिखाने वाला था, इसलिए श्रुतज्ञान पुण्य तीर्थ है। इसके समान और पवित्र चीज क्या हो सकती है?

घरके लोग भी दगा दे जाते हैं, और वे परपदार्थ हैं, वे तो अपनेमें अपना परिणमन करेंगे। यहा किसीका किसीसे कोई सम्बध नहीं है। हमारा हित तो केवल यह श्रुतज्ञान कर सकता है। जिसने आत्मका स्वरूप सिखाया, आत्माके स्वरूपमें बसनेकी जिसमें प्रेरणा दी और हम श्रुतज्ञानके प्रतापसे समस्त संकल्प विकल्पोंसे हटकर अपने आत्मामें लीन हो सकते हैं। तो इस श्रुतज्ञानकी महिमाको कौन कहे? पवित्र तीर्थ है श्रुतज्ञान और यह पुरातन है, अनादि प्रवाहसे चला आया है। श्रुतज्ञान किसीने बनाया नहीं। श्रुतज्ञान किसीने बनाया हो ऐसा नहीं है, अनादि प्रवाहसे बराबर चला आया, इस भरत क्षेत्रमें चौथे कालसे तीर्थंकरकी परम्परासे आया है। इस भरत क्षेत्रमें अनन्त तीर्थंकर हो गए, उनके प्रवाहसे यह जैन धर्म अविच्छिन्न धारासे चला आ रहा है। थोडा बीचमें भोगोपभोगके समय धर्मका विच्छेद हो जाता है। चौथे कालमें तीर्थंकरने भी जो श्रुतज्ञान बताया है, दिव्यध्वनिमें उपदेश किया है वह भी नया नहीं है किन्तु वैसा ही उपदेश पहिलेके अनन्त तीर्थंकरोंने किया है, क्योंकि जैसी वस्तु है उस प्रकारका उपदेश है। प्रत्येक वस्तु अपना स्वरूप रखती है, जो उसका स्वरूप है सो ही स्वरूप भूतकालमें था, सो ही अब है, सो ही आगे रहेगा। और स्वरूपका व्याख्यान है दिव्यध्वनिमें इसलिए किसी भी समयके किसी तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि हो, सबका एकसा प्रतिपादन है। जो विश्वको उपदेश दे यह दिव्यध्वनिका काम है, तो यह श्रुतज्ञान पुरातन है, अनादिसे चला आया है। इसे किसीने अपनी बुद्धिसे बनाया नहीं है। अनन्त तीर्थंकरोंने इस प्रकार का वर्णन किया है। पूर्वापर विरोधसे यह रहित है। समस्त श्रुतज्ञानमें दृष्टि निराली है, पर किस दृष्टिसे यह कथन है, यह प्रतिपादन न्यारा न्यारा है, लेकिन विरोध नहीं है कि कभी कुछ कहा हो कभी कुछ कहा हो। जैसा कि अन्य जगह विरोध होता है—कहीं तो वर्णन कर दिया कि प्राणियोंका घात न करना चाहिए और कहीं वर्णन कर दिया कि देवताओंके लिये प्राणियोंको होम देवे तो उसमें हिंसा नहीं है। तो ऐसी बात आगमशास्त्रमें नहीं है किन्तु दृष्टि नहीं लगाते इसलिए विरोध जचता है। किसी दृष्टिसे कुछ भी कहा हो वैसी ही दृष्टि लगाकर उस सबका अर्थ लगा लेना चाहिए।

समन्तभद्राचार्यने शास्त्रके विषयमें बताया है कि जो आप्त द्वारा कहा गया हो वह शास्त्र है। आप्त मायने वीतरागसर्वज्ञ। जो वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा गया हो वह शास्त्र है। इसे कैसे निर्णय करें कि हमारा यह शास्त्र मूलमें सर्वज्ञके द्वारा कहा गया है। उसको हम विषय देखें, स्वरूप देखें, कहीं विरोध न आता हो, कहीं स्वरूपके विरुद्ध बात न हो तो समझना चाहिए कि यह कथन सर्वज्ञदेवकी परम्परासे चला

है, जो आप्त द्वारा कहा गया हो उसे शास्त्र कहा है । वही शास्त्रज्ञान है और वह अनुल्लंघ है, उसका कोई उल्लंघन, खण्डन नहीं कर सकता । कोई जबरदस्ती खण्डन करे तो उसकी बात और है, मगर कोई युक्तियां लगाकर सही ढंगसे इसका खण्डन कर सके ऐसा कोई नहीं है । जैसे एक कहावत है कि एक पंचायत हो रही थी । उस पंचायतमें एक सवाल आ गया कि ४० और ४० मिलकर कितने होते हैं ? तो गॉवका मुखिया बोल उठा कि ४० और ४० मिलकर ६० होते हैं । सभीने कहा—कहॉ ६० होते हैं, ८० होते हैं । तो मुखिया बोला कि अगर ४० और ४० मिलकर ६० न हो तो हमारे घर जो ४—६ भैंस हैं सो दे देंगे । यह बात उसकी स्त्रीको पता पड गई । स्त्री चिंतित हो गयी, सोचती है कि अब तो भैंस भी चली जायेंगी, कैसे गुजारा होगा ? जब मुखिया घर आया तो स्त्रीने कहा कि अब तो भैंसें भी चली जायगी, कैसे काम बनेगा ? तो मुखिया बोला—अरी बावली, जब हम यह कहेंगे कि ४० और ४० मिलकर ८० होते हैं तभी तो हमारी भैंस जावेंगी । हम तो ६० ही कहेंगे, फिर कोई कैसे हमारी भैंसें ले सकेगा ? तो आग्रहकी बात तो अलग है, मगर कोई युक्ति लगाकर जैनशास्त्रोंका खण्डन करदे ऐसा नहीं हो सकता । तो यह श्रुतज्ञान अनुल्लंघ है और यह सबका हित करने वाला है । इसमें सर्वत्र अहिंसाका उपदेश है, इससे मनुष्योंका लाभ होता ही है, क्योंकि उसको सुनकर वे अहिंसाको पालेंगे और मोक्षमार्गमें बढेंगे । यह श्रुतज्ञान समस्त कुनयोंका खण्डन करने वाला है ऐसा यह श्रुतज्ञान है जिसका चिन्तन आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष कर रहा है । वह ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है कि भगवान सर्वज्ञदेवने जो वचन कहे हैं वे सब बिल्कुल सत्य हैं और वस्तुस्वरूपके अनुकूल है ।

नयोपनयसंपातगहनं गणिभिः स्तुतम् ।
विचित्रमपि चित्रार्थसंकीर्णं विश्वलोचनम् ॥१६११॥

यह श्रुतज्ञान द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय, सद्भूतनय, असद्भूतनय, अनेक नय-उपनयोंके समूहसे गहन है । श्रुतज्ञानका हर एक कोई पार नहीं पा सकता । जैसे घने जंगलका पार हर व्यक्ति नहीं पा सकता है ऐसे ही इस श्रुतज्ञानका पार भी हर व्यक्ति नहीं पा सकता है । विवाद किस बातका है ? जब सभी मतोंका यह जैनशासन समन्वय कर सकता है कि इनका मत इस दृष्टिसे ठीक है, इनका मत इस दृष्टिसे ठीक है, तो क्या परस्परसे होने वाले विवादोंका समन्वय नहीं कर सकता ? नयोंकी दृष्टि लगाकर सबका समन्वय कर सकता है । तो यह श्रुतज्ञान अनेक नयके समूहोंसे गहन है । इसका पार अल्पज्ञानी पुरुष नहीं कर सकता । जिसने समस्त शास्त्रोंका परिज्ञान किया है, जिसने गुरुवोंकी सेवा करके विद्या शिक्षा पायी है, जिसने अनेक युक्तियोंसे तत्त्वको कसा है, साथ ही अनुभव प्राप्त किया है ऐसा ज्ञानी पुरुष ही श्रुतज्ञानका पार पा सकता है, पर जो अल्पज्ञानी हैं वे श्रुतज्ञानका पार नहीं पा सकते । यह बडा गहन है क्योंकि इसमें सब नयोंकी बात है । गहन है इसलिए अनेक विद्वान धर्मके नामपर विवाद करते रहते हैं, अगर सद्बुद्धि हो तो सबकी बात सुलझ जाये । दृष्टिमें सब कथन सही हो जायगा और विवादका काम न रहेगा । तो श्रुतज्ञान अनेक नयोंके समूहसे गहन है । इस श्रुतज्ञानका कौन स्तवन कर सकता है ? गणधर आदिकदेव ही इसका स्तवन कर सकते हैं । गणधरदेव द्वादशांगके पाठी हैं । जो ११ अंग १४ पूर्वके जानकार होते हैं, तो वे श्रुतज्ञानकी महिमा जान सकते हैं । जो अल्पज्ञानी पुरुष हैं वे अपने ज्ञानको बहुत बडा मानते हैं, पर वे अल्पज्ञानी पुरुष जब ज्ञानकी आराधना करते हैं तो जैसे-जैसे ज्ञान बढता जाता है वैसे ही वैसे वे जानते हैं कि यह ज्ञान तो बहुत गम्भीर है, इसका कौन पार पा सकता है ? तो ऐसे श्रुतज्ञानका जिसमें समस्त विज्ञान गर्भित है उस श्रुतज्ञानका विषय किसीके कहनेमें नहीं आ सकता । गणधरदेव ही उसकी महिमाको समझ सकते हैं । यह श्रुतज्ञान विचित्र है, अपूर्व है, नाना प्रकारकी विद्यायें इसमें पडी हुई हैं, इसके शब्दोंमें नाना अर्थ बसे हुए हैं । कोई मूल बात होती है पर उसमें रहस्य बहुत बसे होते हैं । तो नानाप्रकारके अर्थोंसे भरा हुआ यह

श्रुतज्ञान है। यहाँ श्रुतज्ञानमें लोग इसी कारण विवाद करते हैं कि कोई कुछ अर्थ निकालता, कोई कुछ। लेकिन जितने भी अर्थ निकल सकते हैं उन सब नयोंकी दृष्टिसे ठीक बैठाया जा सकता है, पर नयोंका परिज्ञान नहीं है इसलिए शास्त्रमे आज अनेक विवाद खड़े होते हैं। नयोंका परिज्ञान कर सकता है यह पुरुष मगर परिज्ञान करके भी पक्षकी हठ हो जाती है। जैसे आजके विवादोंमें निश्चय और व्यवहारके पक्ष चल रहे हैं, उन पक्षोंमे भी उन पक्षोंके करने वाले विद्वानोंमे अनेक विद्वान ऐसे हैं जो निश्चयका विरोध कर रहे हैं, उनकी श्रद्धा निश्चयपर है, पर जरा उस पार्टीमे नाम निकल गया है तो उस पार्टीका पक्ष करना पडता है। हृदय गवाही नहीं देता है मगर उस पार्टीमे नाम आ जानेकी वजहसे उसका पक्ष करना पडता है। निश्चयका समर्थन करने वालोंमे भी कुछ ऐसे विद्वान हैं जिनके चित्तमे व्यवहारकी बात है लेकिन नाम निकल गया है कि यह निश्चयवादी है, निश्चयका कथन करते हैं तो पार्टीका पक्ष रखनेके लिए भी पार्टीकी जैसी बात करते हैं। तो कोई भी पुरुष अगर निष्पक्ष न्याय दृष्टिसे नयोंकी दृष्टि लगाकर उसका विवेचन करे तो सब समस्या सुलझ सकती है।

यह श्रुतज्ञान नाना नयोंसे भरा हुआ है और एक-एक शब्दके नाना अर्थ हैं, और रहस्यसे भरे पड़े हैं इसलिए यह श्रुतज्ञान विचित्र है, नाना अर्थोंसे परिपूर्ण है और यह श्रुतज्ञान विश्वका नेत्र है। सारे विश्वका स्वरूप इस श्रुतज्ञानके द्वारा जाना जाता है। अब देखिये एक एक भाषा और एक एक विषय कितना-कितना बडा है, उनका कितना-कितना विस्तार है, वह सब श्रुतज्ञानका एक अंश है। वह जरासा अंग भी देखो तो कितने बड़े विस्तारको लिए हुए है? फिर जिसको अधिक ज्ञान है, श्रुतज्ञानसे जो परिपूर्ण है वह तो विश्वका लोचन है। समस्त विश्वका ज्ञान कराने वाला यह श्रुतज्ञान है। जो ज्ञानी पुरुष हैं, जिनकी मोक्षमार्गमे लगनेकी चाह है उनके लिए सारे विश्वका ज्ञान इतनेमे ही हो जाता है कि गुणपर्ययद्रव्य। समस्त अचेतनोंमे भिन्न यह चेतन आत्मा है और एक सहजज्ञानस्वरूप अन्तःतत्त्व है, इतने परिज्ञानमें सारे विश्वका ज्ञान हो गया। जिसका जितना प्रयोजन होगा उसके दायरेमे हो तो ज्ञान करेगा। ज्ञानी पुरुषका प्रयोजन समस्त पदार्थोंसे न्यारा अपने आत्मस्वरूपमे जाननेका है तो उसने जो एक मिनटमे यह जान लिया कि शुद्ध ज्ञानानन्दमात्र तो यह मैं आत्मा हूं और इससे ये सब परे हैं और पुद्गल जातिमे धर्मद्रव्य है, अधर्मद्रव्य है, आकाशद्रव्य है, और काल जातिके द्रव्य हैं ये सब पर हैं। अब इस ज्ञानीको यह जरूरी नहीं है कि एक-एक स्कंधकी बात अलग-अलग जानें। एक एक परमाणुकी बात अलग-अलग देखें मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है, मुझे तो भेदविज्ञानसे प्रयोजन था, यह भेदविज्ञान की बात उस ज्ञानीने समझली है। तो यह श्रुतज्ञान समस्त विश्वका ज्ञान कराने वाला है। इस श्रुतज्ञानकी महिमा जितनी भी गायी जाय वह थोडी है। अगर यह श्रुतज्ञान न होता तो पदार्थका स्वरूप कहाँसे जाना जाता? और न जाना जाता पदार्थका स्वरूप तो उन समस्त पदार्थोंसे भिन्न आत्माका बोध कहाँ से हो सकता था? और आत्माका बोध जब तक नहीं हो सकता तब तक संसारके संकट दूर नहीं हो सकते कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो सकती, निर्वाण पद नहीं प्राप्त हो सकता। तो आप समझिये कि जो इतना उच्च पद है, निर्वाण मोक्ष पद, उस पदके पानेका प्रथम साधन श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञानके सहारे जीव भेदविज्ञान करते, हेयका परिहार करते, उपादेयका ग्रहण करते, ऐसे ही जीव भेदविज्ञानको करके आत्मस्वरूपमें लीन होकर मोक्षपदको प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए सब कल्याणका मूल यह श्रुतज्ञान है जिसका चिन्तन आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष कर रहा है। और वह जिनेन्द्रदेवका बडा आभार मान रहा है कि भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए वचन यथार्थ सत्य हैं। इस प्रकार भगवानके स्वरूपका जो चिन्तन है उसका नाम आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

अनेकपदविन्यासैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः।
प्रसृतं यद्विभात्युच्चैः रत्नाकर इवापरः ॥१६१२॥

ज्ञान ५ प्रकारके होते हैं—मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। यतिज्ञान नाम है इन्द्रियसे और मनसे प्रथम बार जो जानता है उसका और मतिज्ञानसे जानकर कुछ और विशेष बात समझना इसका नाम है श्रुतज्ञान और अपने आत्माके द्वारा पुरानी आगेकी बाहरकी चीजोंका, पौद्गलिक पदार्थोंका जानना अवधिज्ञान है। दूसरे मनकी बातको जान लेनेको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। जो समस्त विश्वको स्पष्ट जान जाता सो केवलज्ञान है। अब इन ५ ज्ञानोंमे से हम आपको कल्याणके लिए किस ज्ञानका आलम्बन लेना चाहिए। प्रकरण चल रहा है कि हम आपको श्रुतज्ञानका सहारा बहुत बडा सहारा है। श्रुतज्ञानमें समस्त शास्त्र, समस्त विद्याए ऐसी कोई कला नहीं बचती जो श्रुतज्ञानमें न हो। भगवानकी दिव्यध्वनिमें जो बात खिरी है उसे गणधरदेवने झेला है, द्वादशाङ्ग रूप रचना की है फिर आचार्योंने जिसमें जैसी योग्यता हुई उन्होने श्रुतज्ञानको धारण किया और जितने शास्त्र हैं वह श्रुतज्ञानका करोडवा हिस्सा है। और जब ये आजके शास्त्र जब इतने बडे विस्तार वाले ज्ञानकी चीज है वह करोडवा हिस्सा पडता है तो समझो कि जैनधर्मका शास्त्र कितना महान है। तो वह श्रुतज्ञान अनेक पदोंका विन्यास है जिसमे ऐसे अंग और पूर्वका ज्ञान ११ अग १४ पर्व, इतने सब समूहका नाम श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान अक्षरोंसे तो द्रव्यश्रुत कहलाता और भावश्रुतकी विद्या भावश्रुत कहलाती। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष जो आज्ञाविचय धर्मध्यानी है वह भगवानकी आज्ञाको प्रमाण मानकर सब श्रुतज्ञानका चिन्तन करता है। आचाराङ्गमे मुनियोके आचारका वर्णन है, सक्षेपसे सब सूत्रोंका वर्णन है। ऐसे अनेक विषयोंमे बहुत-बहुत विस्तारसे वर्णन है। वह श्रुतज्ञान भगवान की आज्ञा है। ज्ञानीपुरुष भगवानकी आज्ञाको बारबार शिरोधाय करता है। जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमे ज्ञानी पुरुषको सन्देह नहीं है और युक्तिसे भी, अनुभवसे भी सब तत्त्वोंका निर्णय तो कर लेता है, मगर उसमें यह प्रतीति बनाये रहता कि भगवान जिनेन्द्रदेवने ऐसा कहा है इसलिए यह पूर्ण प्रकरण हो।

मदमत्तोद्धतक्षुद्रशासननाशीविषान्तकम्।
दरन्तघनमिथ्यात्वध्वान्तधर्मांशुमण्डलम् ॥१६१३॥

यह श्रुतज्ञान ऐसी यथार्थ विद्यावोंका निधन है कि यह श्रुतज्ञानके बलसे जो अन्य क्षुद्र शासन है, एकान्तवादियोका जो मत है उनको यह श्रुतज्ञान नष्ट कर देने वाला है अर्थात् स्याद्वादके शासनसेएकान्त मतका शासन सब नष्ट हो जाता है। एकान्तवादके मायने यह हैं कि वस्तुको एक धर्म मानकर रह जाना। जैसे जीव नित्य भी है, अनित्य भी। जीवका कभी नाश नहीं हो सकता इस कारण तो नित्य है और जीवकी अवस्था हर समय नई-नई बन रही है इस कारण जीव अनित्य है। अब उसमेसे कोई मत तो एक नित्य ही है ऐसा मान लेगा। ऐसा द्रव्य है अविकारी है, सदा रहता है, उनका सम्बध अवस्थावोंसे नहीं अर्थात् एक मत तो नित्यका एकान्त मान लेगा और एक मत अनित्यका एकान्त मान लेगा। जो यह मानते हैं कि जीव कुछ है नहीं, नया-नया जीव हर समय बनता रहता है। बना और बिगडा, यह चीज उसमें बनी रहती है। तो ऐसा नित्य एकान्त और ऐसा एकान्त सब मतोंका खण्डन करने वाला यह जैन शासन है, श्रुतज्ञान है। चाहे यह कहो कि सब मतोका इसने खण्डन किया और चाहे यह कहो कि सब मतोका इसने समर्थन किया। जैसे चार अधे एक हाथीका स्वरूप जानने चले। हाथी था सीधा तो छू करके जानने लगे कि हाथी कैसा है? एकको पकडनेमे पैर आये तो वह सोचता है कि हाथी खम्भारूप है, एकके हाथमें सूढ परी ता वह सोचता है कि हाथी मूसल जैसा है, एकके हाथमे कान पड़े तो वह सोचता है कि हाथी सूप जैसा है, एकके हाथमे पेट पडा तो वह सोचता है कि हाथी ढोल जैसा है। वे चारोंके चारो परस्परमे झगडने लगे। जिसने जैसा हाथीका स्वरूप जाना वह वैसा हाथीका स्वरूप बताता। इतनेमें एक सूझता व्यक्ति आया। बोला भाई क्यों झगडते हो? सभीने अपनी अपनी बात कही। तो वह सूझता व्यक्ति कहता है कि तुम सब ठीक कह रहे हो, पैरोकी दृष्टिसे हाथी खम्भा जैसा है, सूढकी दृष्टिसे हाथी मूसल जैसा है, कानकी दृष्टिसे हाथी सूप

जैसा है और पेटकी दृष्टिसे हाथी ढोल जैसा है । तो ऐसे ही समझलो यह जैनशासन सभी मतोंका समर्थन करने वाला भी है और सभी मतोंका खण्डन करने वाला भी है । यह श्रुतज्ञान क्षुद्र मतोंको दूर करने वाला है तो ऐसे मिथ्यात्वको दूर करना खण्डन मण्डनके समान है । जैसे सूर्य सारे अधकारको दूर कर देता है इसी प्रकारसे यह जैन शासन मिथ्यात्व अधकार को दूर कर देता है । जैन शासनने ही तो यह बताया है कि जीवकी जाति चैतन्यकी है, पुद्गलकी जाति जडकी है । जीव पुद्गल का इस समय सम्बध बन तो रहा है, पर यह सम्बध इसका स्वभाव नहीं है, इसका असली रूप नहीं है, भेदविज्ञान कराया है श्रुतज्ञानने ही तो कराया है । भेदविज्ञानसे मिथ्यात्व दूर होता है । मतिज्ञानके प्रतापसे मिथ्यात्वका अधकार दूर होता है । तो हम आपको मतिज्ञानका एक बहुत बडा आलम्बन है । जो शास्त्रोंमे बात है उसका बडा ज्ञान हो तो उसका बहुत बडा सहारा है कि हम सकटोंमे दूर हो सकते हैं । अब देखिये भगवान हम आप सबका, हम आप सबके अन्दर है, उसे ही निरखना है, पर जब हम उसे नहीं निरख पाते, चाह है उसके निरखनेकी तो हम जगह-जगह डोलते हैं, यात्रा करते हैं, पर्वतोंमे डोलते हैं, अनेक कष्ट सहते हैं, सिर्फ आखोंसे देख लिया कि यह जगह है मगर पूरा तो पडेगा आत्मस्वरूपके दर्शनमे ही । यात्रा तो पहिली सीढी है । आखिरकार तो आत्मामे ही विराजमान जो आत्माका स्वरूप है, परमात्मतत्त्व है उसके ध्यानमे ही कल्याण होगा । अपनेमें मौजूद अपने स्वरूपपर दृष्टि हो तो जगह-जगह भटकनेकी क्या जरूरत ? यात्रा करनेके बाद भी सन्तोष मिलेगा तो अपने आपके आत्मामे सन्तोष मिलेगा, बाहरसे न मिलेगा । बाहर कहींसे धर्म नहीं आता वह तो अन्तरसे ही प्रकट होगा । मैं अपने असली स्वरूपको जानू, ये तो हमारे एक बाह्य साधन है ।

बाहुबलिकी मूर्तिके दर्शन करे तो दर्शन करके उसका आकार प्रकार स्पष्ट है कि सब बात सामने आती है देखो बाहुबलिने चक्रवर्तीको जीत डाला, छह खडकी विभूति चक्रवर्तीने पायी, इसपर विजय पायी बाहुबलिने, उसपर विजय करके सब सम्पदा हाथ आयी उस समय नाम भी बहुत ऊचा बढ गया, तिसपर भी सब सम्पदाको तृणके समान त्यागकर विरक्त हुए और आत्मामे आत्माका ध्यान किया जिसके प्रतापसे उन्होंने निर्वाण पद पाया । यह बात ख्याल करनेके लिए यहा पर आये है पर कल्याण होगा तो आत्मस्वरूपके ज्ञानसे होगा । उसको बतानेवाला है श्रुतज्ञान । तो श्रुतज्ञान की बहुत बडी महिमा है । हम आपको सहारा श्रुतज्ञानका है । चाहिए यह कि हम अधिकसे अधिक सुनकर, बाचकर, ज्ञानकी आराधना करके हर प्रकारसे अपना ज्ञान बढायें । यही सार है, इसके अलावा जितने प्रपच हैं वे सब घात करने वाले हैं । यह *श्रुतज्ञान मिथ्यात्वको दूर करनेके लिए सूर्यकी किरणोंके समान है ।*

यत्पवित्र जगत्यस्मिन् विशुद्धयति जगत्त्रयी ।
येन तद्धि सता सेव्य श्रुतज्ञान चतुर्विधम् ।।१६१४।।

फिर कैसा है यह श्रुतज्ञान कि जगतमे पवित्र है, क्योंकि श्रुतज्ञानके द्वारा तीनो जगत पवित्र होते है । भावश्रुतका आलम्बन लेकर नारकी जीव भी सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है और ससारके सकटोको दूर करनेका अपनेमे आत्मानुभव करता है । इसी श्रुतज्ञानके आलम्बनसे देवता लोग सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं, मध्यलोकमे मनुष्य और तिर्यञ्च इसी श्रुतज्ञानसे सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं । यह इस श्रुतज्ञानका प्रताप है । इस कारण यह श्रुतज्ञान सत पुरुषोके सेवने योग्य माना है । श्रुतज्ञानकी सेवा क्या है ? शास्त्रोंका अच्छी जिल्दमें बाधना, बढिया कपडोंमे कसकर रख देना, इतने मात्रसे सेवा नहीं हुई, वह भी कर्तव्य है, रक्षा करे मगर शास्त्रोंमे क्या लिखा है, आचार्योंने उसमे क्या अनुभव लिखा है उसका हम जब तक अनुभव न करें तब तक हम उसका लाभ न पायेंगे । तो यह श्रुतज्ञान जो-जो इसका आलम्बन लेता है उस उस जीव को यह पवित्र बना देता है । इस कारण सत पुरुषोंको जो कल्याणार्थी हैं उन्हें इस श्रुतज्ञानकी आराधना करनी चाहिए । यह श्रुतज्ञान चार प्रकारके अनुयोगोंमे बटा है । प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और

द्रव्यानुयोग। जिसमें बडे-बड़े पुरुषोंके चारित्रका वर्णन किया हो वह प्रथमानुयोग है। यह हम आप सबको बहुत आवश्यक है। तो हम जब बडे पुरुषोंके चारित्र सुनते हैं, बांचते हैं तो हमे भी एक प्रेरणा मिलती है तभी तो हम उनके वैराग्यकी कथा सुनते हैं, कहते हैं। वैराग्य हो तो हम आपको भी उससे प्रेरणा मिलती है। उनको सम्यक्त्व कैसे हुआ ? उन कथावोंके सुननेसे हमको भी उसी मार्गपर चलनेकी प्रेरणा मिलती है। प्रथमानुयोगसे हम आप सबको बडी प्रेरण मिलती है। जैसे और लोग उपन्यास पढते हैं तो उससे उनको भी कुछ प्रेरण मिलती है। हां उनसे खोटी प्रेरणा मिलती है, अपने परिणाम बिगडते हैं। जैसा कथन पढ़ा होता है वैसे परिणाम बनते है। तो हम महत पुरुषोंके जब चरित्र सुनते हैं, कैसे उनके ज्ञान जगा, कैसे वैराग्य जगा तो उसको पढकर हमारा भी परिणाम निर्मल होता है।

हम यात्रामे महत पुरुषोकी प्रतिमावोंके दर्शन करते हैं उनका चरित्र पढते व सुनते है तो हमको भी उससे एक हितकी प्रेरणा मिलती है। जैसे सम्मेद शिखरकी वन्दना करते हैं तो अनेक तीर्थंकरों का चरित्र याद आ जाता है, उससे हमारा भी चित्त विशुद्ध होता है। शास्त्रोंमे रामचन्द्रजी का वर्णन आया है (पद्मपुराणमे), कसी गम्भीरता उनमे थी, कैसी नीति थी, क्या नियम था उनका, पर आत्मकल्याणके लिए सब कुछ त्याग ही त्याग किए रहे। जितने वर्ष उन्हे राज्य भी मिला तो क्या राज्य किया, राज्य करना तो चित्तमे था ही नहीं, चित्तमे तो था प्रजाका सुखी होना, राज्यका काम सही बना रहे, अन्तमे आत्मकल्याण का चित्त चला। सम्पदासे तो तब भी विरक्त थे और अन्तमे भी। दूसरा वेद है करणानुयोग। इसमे परिणामोंकी जातिका वणन है कर्मोंकी जातिका वर्णन है, तीन लोक तीन कालका वर्णन है। बताया है कि यह सारा लोक ३४३ घन राजू प्रमाण है। इस लोकके प्रत्येक प्रदेशपर यह जीव जन्मा है और मरा है। कोई जगह इस विश्वमे नहीं बची जहा पर इस जीवने जन्म और मरण किया हो। तो इससे भी ज्ञान जगता है। जगतमे अनन्त जीव हैं, इन अनन्त जीवोंमे से प्रत्येक जीवका कोई न कोई सम्बध अनन्त भवोंमे रहा आया, चाहे निगोदिया बनकर ही सम्बध रहा आया हो, तो फिर इनसे यह क्या छटनी करना कि ये मेरे बन्धु हैं, ये मेरे बैरी हैं—ऐसा सोचना तो एक मूढता भरी बात है। यहा कौन किसका बन्धु और कौन किसका बैरी ? कितना बारीक कथन करणानुयोगमे है कि कर्मोंका प्रत्येक समयमे क्या-क्या परिणमन होता है ? जीवके भावोंका प्रति समय कैसा-कैसा परिणमन चलता है ? बहुत बडी बारीकीकी बात करणानुयोगमे बतायी है। उसको सुनकर इतना विश्वास दृढ होता है कि सर्वज्ञदेवका कहा हुआ वचन है नहीं तो इतना बारीक कथन और कोई केसे कर सकता है ? तो करणानुयोगसे हमे आत्महितकी शिक्षा मिलती है। चरणानुयोगमे यह बताया है कि हमारा जो परिणाम मलिन होता है वह किसी परवस्तुका आश्रय लेकर होता है। राग होगा तो कोई परपदार्थ मनमे बसा होगा। और रागका स्वरूप इसी तरह बनता कि कोई परपदार्थ उपयोगमे है तो राग बन रहा है। आप किसी भी परवस्तुका ध्यान न करे और राग बनावे तो नहीं बन सकता है। किसी मे स्नेह है तभी तो राग बनता है। चरणानुयोग कहता है कि परका आश्रय लेकर राग बनता है, इसलिए हम पर-आश्रयका त्याग करें। क्रमसे कम सम्पदा रखें, आरम्भ रखें, अष्टमी चौदसको आरम्भ परिग्रह त्यागें, एक दो बार विधिवत सामायिक करें, कुछ समयको भोगसाधन हटावें, भोगोपभोगका परिमाण करें। ये सब बात बताया है। उसका प्रयोजन है कि परवस्तुका आश्रय लेकर रागभाव हुआ करता है तो उन परवस्तुवों के आश्रयसे हमारा रागभाव है। जीवोंको जितने क्लेश हैं वे सब रागद्वेष मोह भावके हैं अन्यथा कोई क्लेश नहीं। जीवका स्वरूप ज्ञान और आनन्दमय है उसमे कोई आकुलता नहीं है। चरणानुयोग हमे यह शिक्षा देता है कि तुम परवस्तुवोंका आलम्बन छोड दो। जितना तुम अपनेको अकेला रख सकोगे परसे न्यारा रख सकोगे, अपने आपको लख सकोगे उतना ही तुम्हारा कल्याण है। द्रव्यानुयोग हमे वस्तुका स्वरूप बताता है। जीवका क्या स्वरूप है, पुद्गलका क्या स्वरूप है ऐसा हमे बताया किया करके हमे परसे हटाकर आपमे लगाना चाहता है। तो द्रव्यानुयोग भी हमारे लिए बहुत उपयोगी है। इनमें चार अनुयोगोंमें

यह श्रुतज्ञान विभक्त है। इस प्रकार चार प्रकारके शास्त्रोंका अध्ययन करें। हर एक शास्त्रमें अलग-अलग माहात्म्य पडा हुआ है।

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं तृतीयं योगिलोचनम्।
नयद्वयसमावेशात् साद्यनादि व्यवस्थितम् ॥१६१५॥

श्रुतज्ञान उत्पादव्ययध्रौव्य करके सयुक्त है और योगियोंका तीसरा नेत्र है। आगम नेत्र है साधुवोंका। दुनियाके नेत्र चर्मके हैं, मगर साधुवोंके नेत्र आगम हैं, तभी तो किसी भी बातका निर्णय करने के लिए कह बैठते हैं कि फलाने शास्त्रमें देखो उस आधारसे चले है। तो हम आपको आगमका एक बहुत बडा सहारा है। आगममे जो मार्ग दिखाया है हम उस मार्गसे चलें। यह श्रुतज्ञान शास्त्रका प्रवाह अनादि भी है और सादि भी है। ये शास्त्र जो चले आ रहे हैं, यह ज्ञानपरम्परा जो चली आ रही है वह सब अनादिसे भी है और उसकी शुरुवात भी है। महावीर स्वामीने दिव्यध्वनिमे इन शास्त्रोंका वर्णन किया, पर महावीर स्वामीसे पहिले तीर्थंकर और हुए, उन्होंने भी वर्णन किया और इस चौथे कालसे पहिले और भी तीर्थंकर हुए उन्होंने भी वर्णन किया, यों श्रुतज्ञान प्रवाह रूपसे अनादिसे है किन्तु अपने-अपने समयमे तीर्थंकरो की दिव्यध्वनिसे प्रकट हुए हैं। आदिनाथ स्वामीके समयमे जो जैनशासनका प्रचार था वह उनके मुक्त होने के बाद, समय गुजरनेके बाद विच्छिन्न हो गया, जैनशासन न रहा, धर्मके परिज्ञानका आचार विचारका लोप हो गया, तब फिर अजितनाथ तीर्थंकर हुए उनकी दिव्यध्वनिमे प्रकट हुआ। जैनशासन समय-समयपर तीर्थंकरोंसे प्रकट होता है। इसलिए जैन शासन सादि है किन्तु उसकी परम्परा अनादिकालसे बराबर चली आयी है, और अनादि है जैनशासन इसका साक्षात् प्रमाण यह है कि जैनशासनमे बताया गया है वस्तुका स्वरूप और वस्तुस्वरूप है उसमें जो जिसमें गुण और पर्यायकी बात पायी जाय। उसका वर्णन भगवानने किया है। तो जैन शासन वस्तुके स्वरूपका वर्णन करता है और वस्तुका स्वरूप सदा रहता है, चाहे उसको कोई जानने वाला हो, चाहे न हो, पर वस्तुका स्वरूप कहा चला जायेगा? वस्तुका जो स्वरूप है, स्वभाव है वही धर्म माना गया है। तो जैन धर्म, जैनशास्त्र ये अनादिकालसे बराबर चले आ रहे हैं। तो द्रव्यनयकी अपेक्षा तो यह श्रुतज्ञान, जैनशासन, इतना सब शास्त्रज्ञान, ये अनादिकालसे हैं और पर्याय दृष्टिसे तीर्थंकरों की दिव्यध्वनिसे प्रकट हुए हैं इस कारण यह सब शासन सादि है। यह सब अग पूर्वके रूपमे बटा है जिसमें सब विद्याए गर्भित है। यह समस्त श्रुतज्ञान अनादि भी है और सादि भी है।

निःशेषनयनिक्षेपनिकषग्रावसन्निभम्।
स्याद्वादपविनिर्घातभग्नान्यमतभूधरम् ॥१६१६॥

इत्यादिगुणसंदर्भनिर्भरं भव्यशुद्धितम्।
ध्यायन्तु धीमता श्रेष्ठाः श्रुतज्ञानमहार्णवम् ॥१६१७॥

यह जैनशासन स्याद्वादकी कसौटीपर कसा हुआ है। समस्त नय निक्षेपसे इस वस्तुस्वरूपकी परीक्षा होती है इसलिए यह श्रुतज्ञान कसौटीके समान है। जैसे कसौटीसे कसकर हम स्वर्णकी बात बता सकते हैं कि यह सही है, इसमे दोष है ऐसे ही इस ज्ञानसे वस्तुस्वरूपको हम कस सकते हैं कि यह वर्णन सही है या गलत है। स्याद्वादसे उन समस्त नयोंका निर्णय आ गया है और भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे वस्तुके स्वरूपको समझाया गया है। इस दृष्टिसे यह स्वरूप सत्य है इस दृष्टिसे यह। तो स्याद्वाद वस्तुके स्वरूपकी परीक्षा करनेके लिए कसौटीके समान है। जिस कथनमे स्याद्वादका पुट लगा हो वह कथन तो जैनशासनका कथन है और जहा एकान्त धारा बनायी गयी हो वह जैनशासनसे बाह्य कथन है। जैसे व्यापारी लोग अपनी वस्तुवोंपर ट्रेडमार्क लगा देते हैं। यदि वह ट्रेडमार्क लगा हो तो समझो कि वह उस व्यापारीकी चीज

है इसी प्रकार जिस कथनमे स्याद्वादका पुट हो उसे ही समझना चाहिए कि यह जैनशासनका कथन है। जैनशासनमे नयोंका वर्णन है। और जिस नयसे जो बात कही जा रही है उस समय उस नयसे कथन चलेगा। जिस नयसे जिस समय बात चलेगी उस समय उस नयकी ही पूरी शक्ति लगाकर बात कही जायगी। तो सुननेमे ऐसा लगेगा कि यह एकान्त कथन चल रहा है लेकिन एक नयसे खूब विशेष वर्णन करने वाले पुरुष अपने उपयोगमे दूसरे नयकी बातको भी अपनी धारणामे बनाया है तो एकान्तका दोष नहीं कहलाता। और दूसरे नयकी बातका भीतरसे खण्डनका भाव ही रखा हो और एक नयका वर्णन किया जाय तो वह एकान्त मत कहलाने लगता है।

जैनशासनमें जितना भी वर्णन है वह वर्णन आगे पीछे किसी न किसी प्रकरणमे स्याद्वादकी मुद्राको लेकर कथन है। स्याद्वादकी झलक जिस उपदेशमे न आये वह उपदेश जैनशासनसे बाह्यका उपदेश है, लेकिन सुनने वालोको इतनी धीरतासे सुनना चाहिए कि करता जाय और यह बाट जोहता रहे कि कहीं तो स्याद्वादकी मुद्रा लगी होगी ? जिस नयसे जब वर्णन चलता है उसी नयसे वर्णन है, पर देखें कि आगे पीछे कहीं अन्य नयकी झलक बतायी जाती है या नहीं। अगर दूसरे नयकी बात नहीं आती है तो समझो कि वह जैनशासनसे बाहरका वर्णन है। जैनशासन वस्तुस्वरूपकी परीक्षा करनेके लिए कसौटीकी तरह है और स्याद्वाद एक तरहसे कसौटी वज्र है। जैनशासन इसलिए सही है कि सब दृष्टियोसे वस्तुधर्मका वर्णन करता है और वर्णन करनेके बाद फिर लक्ष्य विशुद्ध बनाता है कि हम लक्ष्य बनाये द्रव्यस्वभावका। तो जैनशासन भेदविज्ञानका वर्णन करता है और भेदविज्ञानकी बात सिखाकर फिर हेयसे छुडाकर उपादेय तत्त्वमे लगाता है। इससे बढकर हमारे कल्याणका साधन और क्या होगा ? हम आपको सहारा एक श्रुतज्ञानका है। श्रुतज्ञान वह दीपक है जिससे हम अपनी अवस्थासे मार्गको देख सकते है और अपने मार्गपर चल सकते है। ऐसा आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाको मुख्य करके तत्त्वका चिन्तन करता है। इस प्रकार अनेक गुणोंसे भरा हुआ और भव्य जीवोंको शुद्धि प्रदान करने वाला यह श्रुतज्ञानरूपी महारत्न है। इसको श्रेष्ठजन मन लगाकर ध्यान करो।

यज्जन्मज्वरघातकं त्रिभुवनाधीशैर्यदभ्यर्चितम्,
यत्स्याद्वादमहाध्वज नयशताकीर्णं च यत्पठ्यते।
उत्पादस्थितिभङ्गलाञ्छनयुता यस्मिन् पदार्था स्थितास्-
तच्छ्रीवीरमुखारविन्दगदितं दद्याच्छ्रुत वः शिवम् ॥१६१८॥

श्रुतज्ञानका महत्त्व बता रहे है कि यह श्रुतज्ञान जन्मरूपी ज्वरका विनाश करने वाला है। तो जन्म मरण परम्पराका विनाश होनेके लिए हम आप सबका यदि कोई सच्चा सहारा है तो श्रुतज्ञानका है। हम इसी ज्ञानके द्वारा अपने मनको विशुद्ध बनाते है तथा तत्त्वका परिज्ञान होता है, भेदविज्ञान प्राप्त करते हैं और हेयतत्त्वोंको छोडकर उपादेय तत्त्वमे हमारी लगन लगे, इसकी प्रेरणा हमे श्रुतज्ञानसे मिलती है। और अन्तरङ्गसे विचारे तो श्रुतज्ञानके सिवाय हम आपका कोई सहारा नही है जो हमे दुःखोंसे छुटा सके। बाहरमे हम बहुतसे खोटे विचारोंसे बचते है और अच्छे तत्त्वमे लगनेके लिए हमे उसके साधनोंसे प्रेरणा मिलती है लेकिन फिर भी श्रुतज्ञान नहीं है तो हम अपना कल्याण नहीं कर सकते हैं। सभी परिस्थितियोंमें हमें ज्ञानसे सहारा मिलता है। ज्ञान, मति, बुद्धि यदि सही रहती है तो व्यवहारमे, व्यापारमे अन्य-अन्य सब प्रकारके व्यावहारिक कार्योंमे हम सफलता भी कर लेते है। तो समझिये कि हम सफलता पा सकें, इसके लिए कोई सहारा है तो श्रुतज्ञानका है। यदि यह ज्ञान परिपूर्ण हो जैसा कि तीर्थंकरदेवसे चलता चला आया है, जिसका प्रवाह अनादिसे है, कभी बीचमे विच्छिन्न ना हुआ तो वैसाही वैसा श्रुतज्ञान अनेक

आत्मार्थी इस श्रुतज्ञानकी ओर आकर्षित है, तत्त्वज्ञानकी ओर आकर्षित हैं।

हम आपका भला तत्त्वज्ञान कर सकता है अन्य कोई नहीं। फिर ये जो पूर्वोत्तर भेष बनते हैं प्रतीति बनती है ऊंचे ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक आदिक ये सब इस आधार पर बनते हैं कि तत्त्वज्ञानमें बाधा न आ सके, इसके लिए छानबीन करके बताया है। दिव्यध्वनिकी परम्परामें यह बताया गया है कि इस तरह परिग्रहोंसे निवृत्त हों, भेष-भेष नहीं है। परिग्रहसे निवृत्त होनेमें जो बात रह गयी उसे भेष कहने लगे। मुनि-भेष भेष नहीं किन्तु जब आरम्भका परिग्रहका त्याग कर दिया, आकुलतावोंके साधनोंका त्याग कर दिया, नानाप्रकारके विकल्पोंका साधन जानकर इन सब परिग्रहोंका जब त्याग कर दिया तो अब जो रूप रह गया सो रह गया, उसीको मुनिका भेष कहते हैं। कोई कहे कि मुझे मुनिदीक्षा दो तो उसके चित्तमें यह बात रहनी चाहिए कि मैं समस्त आरम्भ परिग्रहोंसे निवृत्त होकर ज्ञानकी उपासना कर रहा हू इसलिए मुझे आप दीक्षा दीजिए। कोई भेषका ध्यान रखकर चाहे कि मैं यह दीक्षा लूं तो उसने दीक्षाका मर्म नहीं जाना। मैं ज्ञानस्वरूपकी उपासनामें आना चाहता हू, अन्य समस्त आरम्भ परिग्रहोंका त्याग करता हू, ऐसी अन्तरङ्गमें भावना हो तो यह है उसकी दीक्षा। तो यह सब तत्त्वज्ञानके प्रसादसे प्राप्त होता है। और तत्त्वज्ञानकी रक्षाके लिए यह व्रत अंगीकार किया गया है। समस्त व्रतोंका नियम प्रयोजन यह है कि हम अपने सहज स्वरूपकी उपासनामें सफलता प्राप्त करें। यही सबका लक्ष्य है। यदि यह लक्ष्य न रहा तो केवलपर दृष्टि ही रही। भली प्रकारसे समितियोंका पालन भी किया जा रहा हो पर स्वदृष्टि बिना वहाँ मुनित्व कहाँ आया? उन संयमोंका प्रयोजन यह है कि हम सहज ज्ञानकी उपासनामें निर्बाध उत्तीर्णता प्राप्त करें। जब लक्ष्य ही भ्रष्ट हो जाता तो व्रत नियमोंमें भी चित्त नहीं लगता और परस्परमें वैर विरोध हो जाता, एक दूसरेकी निन्दा करने लगते। ये सब ऐब एक तत्त्वज्ञानकी महिमा और लक्ष्य न होनेके कारण आ जाते हैं। तो जितने आत्मार्थी हैं, बड़े बड़े पुरुष हैं वे किस ओर आकर्षित हैं? तत्त्वज्ञानकी ओर। इसलिए यह श्रुतज्ञान बड़े-बड़े इन्द्रोंके द्वारा पूजित है। जो स्याद्वाद रूपी बडी ध्वजा वाला है। मानो एक श्रुतज्ञानकी सेना निकली, श्रुतज्ञानका जुलूस निकला, अर्थात् जितना ज्ञान, जितनी विद्याएं, जितनी कलाएं हैं उन सब कलावोंका प्रागट्य जहाँ हो रहा हो तो ऐसे उस महान समारोहमें ध्वजा तो है स्याद्वाद। जैसे आजकलके लोग ध्वजा की पूजा करते हैं झंडा ऊंचा रहे हमारा, इसकी शान न जाने पावे, चाहे जान भले ही जावे आदि। तो जितना तत्त्वज्ञान है, विद्याएं हैं, कलायें हैं, वर्णन हैं वे सब इस स्याद्वादका पुट रखकर अपना विकास पाते हैं। जहाँ स्याद्वादका पुट नहीं वह ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं है।

भैया! इतनी धीरता रखना चाहिए कि कोई भी वर्णन हो, जिस नयका वर्णन चल रहा है, वहाँ की पद्धति तो यह है कि और नयोंका ख्याल भी न करें और उस नयका जो विषय बनता है खूब निचोड़के साथ उसका खूब प्रकटताके साथ वर्णन करें तब तो उस दृष्टिका वर्णन हो सकता है। औरोंके भयसे एकदम निश्चयका वर्णन न करे, बीच-बीचमें व्यवहारको भी लपेटने जावे तो निश्चयका विषय रहस्य बैठ नहीं सकता। जब हम जिस विषयको देख रहे हैं तब तो हमें उस उसकी ही महिमाका गुण गाना है। तब धीरता इतनी रखनी चाहिए कि कुछ लम्बा भी प्रकरण हो जाय किसी नयका तो यह देखे कि इसके पूर्व इसके बाद कहीं भी इससे भिन्न प्रतिपक्षी व्यवहारका भी कहीं जिकर किया है या नहीं। बड़े-बड़े ग्रन्थ समयसार सरीखे में आचार्यदेव यह नहीं कर सके कि कोई एक अधिकार लेवें तो एक नयका जिसका लक्ष्य रखा उसको ही वह निभा सके, बल्कि कहीं-कहीं तो एक ही गाथामें निश्चय और व्यवहारकी बात आ जाती है। दोनों नयों का एक साथ इस गाथामें वर्णन चल रहा है। तो स्याद्वाद इसकी महान ध्वजा है और वर्णनकी एक पद्धति है कि जहां जिस नयकी मुख्यता रखना हो उस नयकी बात बादमें बोली जाती है। पहिले तो गौण बात कह देनी चाहिए, यह बात आपको आचार्योंकी कृतिमें मिलेगी जैसे एक जगह बताया है कि जैसे समुद्रकी लहर वाली अवस्था और बिना लहरकी अवस्था इन दोनों अवस्थावोंमें निमित्त हवाका चलना है। और हवा नहीं

चलती है तो भी समुद्र अपने आपके स्वरूपमें ही अपना परिणमन करता है और अपना अनुभव करता है। बात दोनों कही गई हैं लेकिन गौण बातको पहिले रखा है, मुख्य बातको उसके बाद रखा है। यह भी एक खासी पद्धति समयसारके अन्दर जगह जगह मिलेगी तो स्याद्वादकी महान ध्वजा यह श्रुतज्ञान है और यह श्रुतज्ञान सैकड़ों नयोंसे आकीर्ण है। नय कितने हैं? जितने वचन हैं, जितने आशय हैं उतने नय हैं। ७ नय हैं, ४ नय हैं, ३ नय हैं, २ नय हैं यह तो जातिकी अपेक्षा और उसका संक्षेप करके बताया गया है। नयोंका कोई पार नहीं पा सकता है। जितने वचन हैं उतने ही नय हैं। तो सैकड़ों नयोंसे यह श्रुतज्ञान आकीर्ण है, व्याप्त है। इसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त पदार्थ रहते है ऐसा वर्द्धमान स्वामीके मुखकमलसे विनिसृत ज्ञान है।

हम सब श्रोतावोंको आचार्यदेव कह रहे हैं कि हम सब श्रोतावोंको कल्याणरूप हो। आशा करो तो तत्त्वचिन्तनकी। किसीकी ओर शरण गहनेकी दृष्टि बनानेसे कुछ लाभ न मिलेगा। इस थोड़ेसे १० २०-५० वर्षके जीवनके लिए यदि कुछ ढग बना रखा है वैभव, समागम, इज्जत पोजीशन, ठाठबाठ कुछ अगर बना रखा है तो उससे क्या पूरा पडनेका? ये सब कुछ ही क्षण बाद मिट जाने वाले हैं। और जब तक हैं भी साथमें तब तक भी ये अशान्तिके ही कारण बन रहे हैं, हमारे हितके हेतु नहीं बनते। तो इनकी हम क्या आशा करें? इनसे हम क्या पा सकेंगे? हम कुछ पा सकते हैं तो एक अपने ज्ञानसे पा सकते हैं, अन्य उपायोंसे हमें कुछ लाभ नहीं मिल सकता। और यह उपाय गुप्त है, गुप्त साधनसे बनता है, इसे गुप्त होकर ही बनाया जा सकता है। इसे किसीको बतानेकी बात नहीं है। स्वाध्यायमें भी जो धर्मोपदेश नामका भेद बताया गया है उस धर्मोपदेशके स्वाध्याय करने वाले अर्थात् धर्मोपदेष्टा यदि अपने आपको तत्त्वज्ञान सिखाने के लिए, अपने आपके उस सहज स्वभावकी दृष्टि बनानेके लिए इस मुख्यतामें उसका अगर उपदेश प्रवर्तन चलता है तो वह उसका स्वाध्याय श्रुतज्ञानका आलम्बन है और धर्मोपदेशका स्वाध्यायका भेद रखनमें सतों ने कितनी खूबी दिखाया है कि एक आधार होता है—अपने आप बैठे ही बैठे उस तत्त्वज्ञानकी बातका कब उपयोगमें रखे यह करना जब कठिन हो जाता है तो एक यह पद्धति बहुत सुगम है कि अपने आपकी दृष्टि कुछ बनानेके लिए कि हम साधर्मी बन्धुवोंको, आत्मार्थी संत पुरुषोंको उसकी बात कहने लगे जायें। तो वह एक रास्ता है जिस रास्तेसे उठकर हम एक तत्त्वचर्चा और एक तत्त्वज्ञानके वातावरणमें पहुच जाते हैं। वहाँ कर्तव्य यह है कि जो कुछ मुखसे कहते हैं, कह रहे हैं, श्रोता हैं तब कह रहे है लेकिन कहने हुए भी अपने आपमें उसे खोजने लगें। अपने आपको ही हम समझा रहे हैं इसलिए भी हम दृष्टि अपनी रखें तो वह हमारे लिए लाभदायक चीज बने।

यह श्रुतज्ञान हम सबको कल्याणरूप हो, हम सबको मगल करे। पाप दूर होंगे तो इस तत्त्व ज्ञानके आलम्बनसे होंगे। इतना श्रेय प्रकट होगा, प्रसन्नता प्रकट होगी, निर्मलता बनेगी तो इस तत्त्वज्ञान के सहारे बनेगी। मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ जिसे कोई पहिचानने वाला ही नहीं। और अगर कोई पहिचान लेवे मेरे उस शुद्ध चैतन्यस्वरूपको तो पहिचानने वालेकी निगाहमें मेरा तेरा रहता ही नहीं। इस चैतन्य स्वरूपको कौन जाने? अगर उस चैतन्यस्वरूपको जाने तो वह चित्स्वरूप है और मेरे तेरे आधारोंसे दूर है और वह अपने आपकी ही भावनारूप है। तो वह तो खुदका परिचयी बन गया, दूसरेका क्या परिचयी बना? लोग मुझे जानते नहीं, लोग मेरी पुकार सुनते नहीं क्योंकि मेरा जो स्वरूप है उसका कोई नाम ही नहीं। तो जो व्यवहारसे परे है ऐसा विशुद्ध चैतन्यमात्र मैं हूँ ऐसी दृष्टि बने तो यही है तत्त्वज्ञानका उपयोग। और यही है समस्त श्रुतज्ञानका सारभूत तत्त्व। सब कुछ श्रुतज्ञान किया ११ अग ६ पूर्व तकका ज्ञान किया और यह अनुभूति प्रकट नहीं हुई। अपने ज्ञानानन्द स्वरूपका एक अनुभव ही नहीं बना निर्विकल्प स्थिति नहीं बन सकी। सर्व कुछ परतत्त्वोंको भूलकर एक अपने आपमें कुछ साधारण न रह सके, सामान्य न रह सके तो श्रुतज्ञान क्या जाना? तो ऐसा अपने आपका अनुभव जगना यह तत्त्वज्ञान, यह श्रुतज्ञान हम सबका

कल्याण करे। आचार्यदेवके शब्दोंमें तुम सबका कल्याण करे। आचार्यदेव इस प्रकरणमें ऐसी भावना भा रहे हैं। यह तत्त्वज्ञान असली तीर्थ है जो हम सबको तार सकता है। और इसके बिना हम बाहरमे तीर्थ-तीर्थ करते है मगर तीर्थ मिलता नहीं है। अपने परमार्थ तीर्थका पता हो तो हम तीर्थोंसे अपने विशुद्ध तीर्थ में लगनेका लाभ पा सकते है, प्रेरणा मिल सकती है। हम अपने आपके तीर्थका आलम्बन लें इसके लिए प्रेरणा मिलती है। अपने तीर्थमे जो स्थिर हो सकता है वह तो तिर जाता है और जो अपने तीर्थमे स्थिर नहीं हो सकता है वह तिर नहीं सकता। और यह तीर्थ हमे श्रुतज्ञानके आलम्बनसे ही प्राप्त होता है अतएव इस श्रुतज्ञानकी महिमाके उपकारका कोई वर्णन नहीं कर सकता। आज्ञाविचय धर्मध्यानी सम्यग्दृष्टि पुरुष इन सब तत्त्वोंका ज्ञान करता हुआ वह जिनेन्द्र भगवानको नहीं भूलता, क्योंकि उनकी आज्ञासे, उनके बताये हुए श्रुतज्ञानके आलम्बनसे ही उन्होंने कल्याण प्राप्त किया।

वाग्देव्याः कुलमन्दिरं बुधजनानन्दैकचन्द्रोदयम्,
मुक्तेर्मङ्गलमग्रिमं शिवपथप्रस्थानदिव्यानकम्।
तत्त्वाभासकुरङ्गपञ्चवदन भव्यान् विनेतुं क्षमम्,
तच्छ्रोत्राञ्जलिभिः पिबन्तु गुणिनः सिद्धान्तवार्द्धेः पयः ॥१६१९॥

यह श्रुतज्ञान अर्थात् तत्त्वके स्वरूपका परिज्ञान वागदेवीका कुलमन्दिर है, अर्थात् वचनदेवता सरस्वती इस ही मे निवास करती है। सरस्वती शब्द स्त्रीलिङ्गका है। सरस्वती शब्दका अर्थ है विस्तार वाली। जिसका फैलाव हो उसको सरस्वती कहते हैं। सर्वाधिक फैलाव है विद्याका, इसलिए विद्याका नाम सरस्वती है। तो वचनदेवीका यह श्रुतज्ञान कुलमदिर है, विद्याभवन है, यह निवास करती है। वचन कहाँ हो? जहाँ ज्ञान हो। जहाँ अपार ज्ञान है वहा ही तो वचनदेवी रहती है। तो यह श्रुतज्ञान वागदेवीके निवासका मंदिर है। समस्त व्याख्यान इस श्रुतज्ञानके अनुभव अथवा ज्ञाता पुरुषोसे विनिश्चित हुआ और यह श्रुतज्ञान अथवा अलंकारमे जलकी उपमा दी गई है, यह बुद्धिमान पुरुषोके आनन्दको प्रकट करनेके लिए एक चन्द्रोदय की तरह है। जैसे चन्द्रका उदय मनुष्योंको आनन्द प्रकट करता है इसी प्रकार यह श्रुतज्ञानरूपी जल विद्वान-पुरुषोंको आनन्द प्रकट करता है। और यह मुक्तिका मुख्य मगल है। जैसे किसी लक्ष्यके स्थानपर पहुचनेके लिए प्रारम्भमें मगल वस्तुवोंसे प्रयाण कराया जाता है जिससे यह प्रयाणमे निर्बाध चले तो मोक्षमंदिरमे जानेके लिए यह सिद्धान्तजल एक मगलरूप है। यहाँसे प्रारम्भ होता है। जिनका भी उत्कर्ष होता है उनका इस विज्ञानके अभ्याससे प्रारम्भ होता है। इससे पहिले नहीं। श्रुतज्ञानको इसीलिए मनका विषय बताया गया है। मन वाले पुरुष हो इस श्रुतज्ञानका उपयोग कर सकते है। वैसे साधारणतया तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय तकके होते है। जिनके मन भी नहीं है उनके भी श्रुतज्ञान है, पर वह श्रुतज्ञान जो मुक्तिमे पहुचानेके लिए अग्रम मगल है, आत्मकल्याणका परमसाधक है ऐसा यह श्रुतज्ञान है, केवल मनका विषय है। एकेन्द्रिय आदिकके जो श्रुतज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान वासना सस्कार सज्ञा और इन्द्रियका क्षयोपशम, इन सबसे सम्बध रखता है। मन तो है ही नहीं, इस कारण विवेककी ज्ञान उन असज्ञी जीवोके नहीं हो सकती। जिनके मन है उनके ही विवेक भावना जग सकती है। मन कहते ही उसे हैं जो शिक्षा उपदेश ग्रहण कर सके। श्रुतज्ञान एक साधारण शब्द है। श्रुतज्ञानमे शास्त्र भी आ गए और वे सब ज्ञान भी आ गए जो मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थमे कुछ विशेषता उत्पन्न करते हैं। हमारे व्यावहारिक जितने भी ज्ञान है ये सब श्रुतज्ञान हैं। मतिज्ञानका तो कोई बता भी नहीं सकता। वह निर्विकल्प है। जैसे सबसे पहिले नेत्र इन्द्रियसे निरखा और निरखते ही यदि यह भाव बने कि यह सफेद है तो वह श्रुतज्ञान हो गया। देखा गया सफेदसे और निरखा गया सफेद ही और मतिज्ञानमे भी वही आया। अगर सफेद है इस प्रकारकी विशेषता

को लेकर ज्ञान बना तो श्रुतज्ञान है । उसके लिए एक ऐसा दृष्टान्त रख सकते हैं समझनेके लिए कि जैसे जल्दी का उत्पन्न हुआ बालक कमरेमे रखी हुई सारी वस्तुवोंको निरख तो लेता है पर उसके चित्तमें यह सफेद है, पीला है, कैसा है, क्या है यह कुछ नहीं जानता है। यद्यपि उसके उस निरखनेमे भी श्रुतज्ञान है, कहीं वह मतिज्ञान नहीं बन गया, पर मतिज्ञान श्रुतज्ञानका अन्तर बतानेके लिए दृष्टान्त है । तो शास्त्रज्ञान एक विशेष श्रुतज्ञान है, और तत्त्वार्थ सूत्रमे जो श्रुतज्ञानको मनका विषय बताया हैं उसका इस मनपूर्ण श्रुतज्ञानसे सम्बध है । यह मनका विषय है । और यह सिद्धान्तके लिए अथवा श्रुतज्ञान मोक्षमार्गमें गमन करनेके लिए एक दिव्यवाद्य विशेष है । जैसे बड़े उल्लासके साथ गमन किया जाता है तो आगे-आगे बाजे बजते हुए जाते हैं । लोग जानते हैं कि अब आगमन हुआ है इसी प्रकार यह श्रुतज्ञान मोक्षमार्गमे जाने वाले सत पुरुषों के लिए बाजेकी तरह है, अग्रिम चीज है, वह दिव्य अलौकिक पट है । मुक्तिनगरमे इस आत्माका प्रवेश हो रहा है तो पहले पहल यह श्रुतज्ञानका बाजा चला तब इसका प्रवेश हो सका ।

हम आपका अधिक उपकारी शरणभूत, सारभूत सर्वस्व यह श्रुतज्ञान है जिसकी ओर अज्ञानियों की दृष्टि नहीं हो सकती । ज्ञानी पुरुष ही श्रुतज्ञानका यह महत्त्व जान सकते हैं कि हमको एकमात्र आलम्बन इस श्रुतज्ञानका है । जैसे अधेका कोई हाथ पकडकर प्रेरणा देकर इष्ट साधनोंमे ले जाय ऐसा यदि कुछ है तो वह श्रुतज्ञान है । वैसे भी हम किसी भी चिन्तामे हों, रजमें हों, शोकमे हों तब भी हमारा रक्षक केवल हमारा ही ज्ञान बनता है । कोई दूसरा चाहे जितना हमारे शोकको मिटाना चाहे तो वह मिटानेमे समर्थ नहीं होता । वह शोक मिटाता है तो केवल हमारे ही ज्ञानसे । इस लिए मोक्षमार्गमे चलनेके लिए यह श्रुतज्ञान बहुत महत्त्वका है । हम आपको इसकी ओर ज्यादा दृष्टि रखना चाहिए । और इसे हम अर्जित कर सकते हैं । बाह्यपदार्थ हम कमा सकें यह हमारे आधीन बात नहीं है । वे तो उदयानुसार भवतव्यके अनुसार प्राप्त होते हैं । पर यह हमारी ही बात हमारी ही चीज यद्यपि यह भी भवतव्यकी बात है लेकिन इसपर हमारा अधिकार नहीं है । हम रुचि करें, अपने आपको अपने स्वरूपको जानना चाहें तो इसमे कुछ बाधा देने वाला अन्य पदार्थ नहीं है । हम ही खुद विषय कषायके लोलुपी बनकर स्वय बाधक बन जाते हैं । दूसरा कोई हमारे ज्ञानपथमे बाधक बन ही नहीं सकता । पर हम चाहें तब ना । एकत्व 'रमति' अधिकार मे लिखा है पद्मनन्दी स्वामीने कि जिसके मनमे धर्मकी कथा भी सुननेकी रुचि जगे वह निश्चय ही भव्य है और वह भावी कालमे निर्वाण पायगा । धर्मकी रुचि होना ही एक कठिन चीज है । उसके बाद फिर सारी बातें बन सकती हैं । इस मायामय चमत्कारोंसे भरे हुए ससारमे जहाँ प्रत्येक मनुष्य विषय सुखोंके लिए होड मचाये हुए हैं, ऐसे इस भयानक इन्द्रजालवत ससारमें धर्मकी रुचि भीतरमे कहाँसे जगे उसे और कुछ न सुहाये । जिसे देखकर प्राय लोग अचरज करते कि इसके दिमागमें क्या हो गया ? जैसे कितने ही पुरुष अथवा कितनी ही कन्यायें इस बातकी धुनमे लग जाती हैं कि हमे विवाह नहीं करना है, हमें किसीके आधीन नहीं बनना है । और वे ऐसी दृढतासे हो जातीं कि मां बाप सब परेशान हो जाते समझाते-समझाते । दूसरे लोग भी बहुत बहुत समझाते पर वे कन्याये किसीकी नहीं सुनतीं । लोग अचरजमे पड जाते कि इसके क्या हो गया है ? अरे हो क्या गया है ? उनको केवल धर्मकी धुन हुई है । धर्ममें इतनी तीव्र रुचि हुई है कि उन्हे अन्य लौकिक सुख नहीं सुहाते । तो धर्मवाणी सुननेकी जिसकी रुचि हुई है वह पुरुष भव्य है, होनहार है । वह निर्वाणका पात्र है । हम आपको ऐसी रुचि बनानी चाहिए कि जिसके सामने ये वैभव सम्पदा न कुछ प्रतीत होने लगें ।

हम आप सबका सहारा एक तत्त्वज्ञान है, आत्मज्ञान है । वह श्रुतज्ञानरूपी जल अमृतकी तरह है । उसे हमे इस कर्ण पात्रसे पी लेना चाहिए, अर्थात् हम तत्त्वकी बात सुनें, तत्त्वकी बात बोलें, तत्त्वका चिंतन करें और उस तत्त्वको अनुभवमे उतारनेके लिए जनससर्ग छोडें, एकान्तका वास करें, ध्यान करें, सामायिक करें । अपना मन ऐसा कठोर बनालें कि जिसमे परका प्रवेश न हो सके । अनेक उपाय करके भी हम

तत्त्वको अनुभव करें। यही हम आपके उत्कर्षका कारण बनेगा। यह श्रुतज्ञान कुतत्त्वरूपी हिरणोंके नष्ट करने में पंचवदनकी तरह है। पंचवदन नाम है सिंहका। सिंहको ५ वदन वाला कहा है। वह चारों पैरोंसे और मुखसे इन पाँचोंसे जानवरोंका आसानीसे शिकार करता है इसलिए सिंहका नाम पंचवदन है। तत्त्वाभ्यास खोटे तत्त्व खोटे मत, कुसिद्धान्त रूपी हिरणोंको नष्ट करनेमें यह श्रुतज्ञान सिंहकी तरह है, अर्थात् इस श्रुतज्ञानके समक्ष फिर कुतत्त्व ठहर नहीं सकते। और यह श्रुतज्ञान भव्य जीवोंको मोक्ष मार्गमें चलानेके लिए समर्थ है, ले जानेके लिए समर्थ है, मुक्तिका कारण है। अनात्मतत्त्वोंसे छुटकारा हो जाय तो यह आत्मा स्वयं अपने आप महान अपने सत्त्वके कारण जैसा कुछ है सो ही रह जाय इसके मायने हैं मुक्ति। ऐसे मुक्ति पदमें ले जानेमें समर्थ यह सम्यग्ज्ञान है। यह जान जावे कि मैं यथार्थतः सबसे निराला केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ। पहिले अपनी कैवल्यका विश्वास तो करें फिर कैवल्य प्रकट हो सकता है। कोई अपनेको सबमें मिला-जुला अनुभव करे, 'मैं इस जाति कुलका, इस पोजीशन वाला हूं, तो वह चाहे समितियोंका भी पालन करे साधु भी हो पर उसकी ये सब क्रियायें बेकार हैं। भीतरमें पर्याय बुद्धि बनी है जिसके कारण अब मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूं इस तरहकी सुधि वह नहीं ले पाता है। ऐसी पर्यायबुद्धि बन गयी हो तो उसने कैवल्यकी श्रद्धा कहाँ कर पायी? और जब कैवल्यकी श्रद्धा ही नहीं है तो कैवल्यका विकास: कैवल्यपदकी प्राप्ति हो कहाँसे? तो यह तत्त्वज्ञान यह महान अन्तस्तत्त्वका बोध यह श्रुतज्ञान जीवोंको मोक्षमें ले जानेके लिए समर्थ है। ऐसे सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलको हे गुणीजनो! तुम कर्णरूपी अंगुलियोंसे पान करो। जैसे जल मिल जाय तो अंजुलियोंमें भरकर खूब पान करना चाहिए, इसी प्रकार सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलको हे गुणीजनो! कर्णरूपी अंजुलियोंसे खूब पान करो।

> येनैते निपतन्ति वादिगिरयस्तुष्यन्ति योगीश्वराः,
>
> भव्या येन विदन्ति निर्वृतिपद मुञ्चन्ति मोहं बुधाः।
>
> यद्बन्धुर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधारभूतं नृणाम्,
>
> तल्लोकत्रयशुद्धिद जिनवचः पुष्प्या द्विवेकश्रियम् ॥१६२०॥

ये जिनवचन आप सबका विवेककी श्रीका पोषण करें। आचार्यदेव कह रहे हैं कि विवेकश्रीका पोषण करने वाले चूंकि जिनवचन हैं अतः ये जिनवचन सब प्राणियोंमें विवेकश्रीका पुष्ट करें। जिनवचनोंके द्वारा ये बड़े-बड़े पर्वत गिर जाते हैं। ये जिनेन्द्रदेव कैसे हैं कि ये जो छद्मवादी पुरुष हैं उनके शासनको जीता है। कुमति नहीं रह सकते। जिसे वस्तु तत्त्व दृष्टिमें आ गया है उसके लिए छोटा वचन भी पूरा प्रकाश ला देता है और जिसकी दृष्टिमें वह तत्त्व नहीं आया है तो बड़े-बड़े समझाने वाले उपदेश और वचन भी उसे मिले तो भी वह देखता रहता है कि यह क्या कह रहे हैं अथवा इसका उसे पता नहीं रहता। जैसे कि बड़े घने जंगलमें किसी तरह छिपा हुआ शिकार आदिक दिख जाय तो झट उसे वह देख सकता है यह ऐसे कारणोंसे जिनमें केवल पत्ते ही बना है। इस तरहके पत्ते बने हैं कि जिनके बीच गधा, शेर, खरगोश जैसे चित्र जहाँ खाली जगह है वहाँ वे चित्रित हो जाते हैं पर जिसको मालूम हो जाय कि यह है चित्र उसको कोई देखते ही तुरन्त दिखने लगता है। जिसे उसके विषयमें कुछ मालूम नहीं वह तो पेड़ पौधे आदि ही देख पाता है, इनके सिवाय और कुछ उसे विदित नहीं होता। ऐसे ही जिसे अपने स्वरूपका भान हुआ है उसके लिए तो कोई छोटासा शब्द भी बोला जाय तो उसकी दृष्टि बनानेमें साधक बन जाता है। जिस बालकको स्वरूपको कुछ तत्त्वबोध नहीं है किन्तु वह भी अपनी तोतली भाषामें जानकारी पाये तो वह भी इसकी सुध दिलानेमें कारण बन जाता है। तो जिसको अनुभव नया है उसको आत्मानामें जब यह दृष्टि पड़े तब वह तत्त्व दिख जाता है। ऐसा वस्तुस्वरूप जिनकी नजरमें आता है उनके पासआमा ये सब स्वरूप

एकान्तमत कोई कैसा ही बहकाये तो वह झट जान जाता है कि ये सब मिथ्या है। और उसमे फिर ऐसे वचनोंकी सामर्थ्य प्रकट होती है कि कोई सिखाने वाला नहीं है तो भी इस शैलीसे बात बोल देगा जिससे उस कुमतका निराकरण हो। तो ये जिनवचनवादियोंके कुमतका खण्डन करने वाले है। इन वचनोंके द्वारा योगीश्वर प्रसन्न रहते हैं। कोई पुरुष तो लाखो हजारोकी सम्पत्ति जुड जाने पर प्रसन्न होते है पर उनकी प्रसन्नता ठहरती नहीं है, पर ये योगीश्वर इन वचनोंके द्वारा ऐसी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं जो अद्वितीय है। जिस धातुसे प्रसन्नता शब्द बना है उसका अर्थ है निर्मलता। मौज मानना यह प्रसन्नताका अर्थ ही नहीं है, सांसारिक मौजोंमे भी अप्रसन्नता है। मान लो कोई वैभवमे कुछ मौज मानले तो उसके साथ दु ख रज, चिंता, घबडाहट, शका, सदेह ये सब हुआ करते हैं।

एक नीतिग्रन्थमे बताया है कि कोई राजा किसी साधुके सामने से बड़े अभिमानसे जा रहा था तो साधुने कहा या साधुकी तरफसे कवि कहता है कि हे राजन्! तुम क्यों अभिमान करते हो? तुम चाहते हो अर्थको अर्थात् धनको और हम चाहते है शब्दोंके अर्थको, मर्मको। तुम चाहते हो रेशमके वस्त्र तो हम चाहते है वल्कल। तुम धनार्थी पुरुषोंके बीच रहनेमे प्रसन्न रहते हो तो हम शब्दार्थी पुरुषोंके बीचमें रहकर प्रसन्न रहते हैं। तो साधुजन अपने इस अर्थके भावमे ज्ञानके अभ्यासमे समतामें प्रसन्न रहा करते है। तो ये जिनवचन योगीश्वरोंकी प्रसन्नताके कारण हैं और जिनके द्वारा भव्य जीव मोक्ष पदको प्राप्त होते है ऐसे इन जिनवचनोकी महिमा गायी जा रही है आज्ञाविचय धर्मध्यानमे। आज्ञाविचय धर्मध्यानमें ज्ञानीपुरुष भगवानकी आज्ञाको प्रधान करके तत्त्वका चिन्तन कर रहा है। जिनवचनोंकी प्रमुखता इसमे बतायी जा रही है। इन जिनवचनोंको सुनकर पडितजन ससारके मोहको छोड देते हैं। इन जिनवचनोंसे भेदविज्ञानकी बात मिलती है। हम अपने आपमे अपने स्वरूपको खोज निकालते है। तो ये श्रुतज्ञानके वचनमोहको छुड़ाने में समर्थ है। ये जिनवचन सयमी मुनियोंका सयम बढाने वाले है, हितरूप हैं। ये श्रुतज्ञानके वचन पुरुषोंके अविनाशी सुखके आधारभूत है। अपने आपमे अपने स्वरूपमे बसे हुए आनन्दका जो अनुभव करा दे वह ज्ञान अविनाशी आनन्दका आधारभूत ही तो होता है। यो इस भवमे और परभवमे एक बडी प्रसन्नताका प्रदान करने वाला यह जिनेन्द्र वचन है। सो ये जिनवचन भव्य जीवोंके विवेकश्रीको प्राप्त करें, ऐसा आचार्यदेव आशीर्वाद देते हैं। आत्मकल्याणमे तत्त्वज्ञानकी बडी महिमा है। जितने भी श्रावकधर्मके कार्य किए जाते हैं वे सब इस तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए किए जाते है। यह समस्त बाह्य व्यवहारधर्म इसी तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए है। ये जिनवचन हमारा हित करने हेतु हैं, इसलिए ये जिनवचन हम आप सबकी विवेक शोभाको पुष्ट करें। अब इस अधिकारमे अतिम श्लोकमे उपसहार कर रहे है।

सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत्।
यत्र तद्ध्यानमाम्नातमाज्ञाख्यं योगिपुङ्गवैः ॥१६२१॥

जिस ध्यानमे सर्वज्ञदेवकी आज्ञाको प्रधान करके पदार्थका चिन्तन किया जाता है उसे मुनिजनोंने आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहा है। जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रधान करके जो तत्त्वका चिन्तन होता है उसे आज्ञाविचय कहते है। यद्यपि इस ध्यानमे कोई श्रोतापन नहीं है, नाना वाक्य प्रमाण वाली बात नहीं है कि भगवानने कहा इसलिए माने इसलिए करें। वह ज्ञानी जीव परीक्षा वाला और परीक्षा कर करके तत्त्व को मान रहा है, मगर साथमे चूकि यह जिनवचनोसे ही प्रारम्भ हुआ करता है, इस पात्रतामे आया है, अत तत्त्वचिन्तनके समय भगवानके उपदेशको न भूलना उनका परम उपकार मानना और वाक्यप्रमाण है, इस प्रकारकी आज्ञाप्रधान मानकर इस तत्त्वचिन्तनको करके धर्मध्यान करना है।

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ॥१६२२॥

अब दूसरा धर्मध्यान है उपायविचय। विनाशका चिन्तवन करना सो अपायविचय है। कर्मोंमे रागादिक भावोंकी मुख्यता है। रागादिक भावोके विनाशका चिन्तवन कर सो अपायविचय है, हमे ऐसे, कर्मोंकी खबर तो कुछ है ही नहीं। कर्मपरमाणु दिखते नहीं। कर्मोंका तो अनुमान है और अनुमान प्रमाण सच्चा होता है। लोग तो अनुमानका अर्थ अन्दाजा कहते है, पर सिद्धान्त ग्रन्थोंमे अनुमानको प्रमाण माना गया है। नि सन्देह अनुमान प्रमाण है। कर्मोंमे हेतु और साध्य जो होते है उनके अविनाभावका तर्क द्वारा निश्चय हो सके तब तर्क जोडे। अनुमान प्रमाणसे हम कर्मोंकी सत्ता जानते हैं। कर्मोके जीवमे जो विभाव-परिणमन हो रहा है वह विभावपरिणमन किसीपर सम्बन्ध बिना नहीं हो सकता। यदि विजातीय आरम्भके सम्बध बिना हो जाय तो आत्मामे ये रागादिक सदाकाल रहना चाहिए, क्योंकि उपाधिके बिना, निमित्तके बिना हुए हैं। अपने आपके अस्तित्वके कारण हुए है, किन्तु रागादिक भाव सदाकाल रहते हों ऐसा ज्ञात नहीं होता। दूसरी बात यह है कि यदि परद्रव्यके सन्निधान बिना रागादिक विभावपरिणमन हुए तो ये रागादिक विसमपरिणमन न होना चाहिए। कभी कम हो, कभी ज्यादा हों, कभी बदला करते हों, तो यह बात न होनी चाहिए। यदि परद्रव्योके सन्निधान बिना ये रागादिक नहीं हुए तो फिर आत्माके अस्तित्त्वसे सदा ये उठे हुए हैं। जैसे केवलज्ञानमे विषमता नहीं है क्योंकि केवलज्ञान आत्माके स्वभावसे उत्पन्न होता है अतएव वह ज्ञानसम परिणमन है और केवलज्ञान इतना सम परिणमन है कि उसमे यह भाव भी नहीं टाला जा सकता कि भगवानके ज्ञानका परिणमन इस प्रकार होता है कि जिस चीजको वह अभी वर्तमान पर्याय-रूपसे जान रहा था तो अगले समयमे उसे भेदपर्यायसे जान गये। और जिसे भविष्य पर्यायरूपसे जान रहे थे उसे वर्तमान पर्याय रूपसे जान गए। इतना विकल्प ऐसा भेद ऐसा परिवर्तन केवलज्ञानमे नहीं है। इतना समपरिणमन है। वहां तो समस्त पर्याय एक साथ झलकती हैं और वे सब पर्यायें जिस क्रमसे है हुई होंगी उस क्रमकी रचनामे पडा हो तो झलके, किन्तु उनके ज्ञानमे यह विकल्प न पडेगा कि यह भूतपर्याय है यह वर्तमान है यह भविष्य है। अथवा उनके ज्ञानका परिणमन परिवर्तन केवलपर्यायके कारण न होगा कि अब इस तरहसे इसका उत्पाद है व्यय है, इतना श्रम परिणमन है केवलज्ञानका। तो जो निरुपाधि परिणमन है, स्वभावपरिणमन है वह परिणमन सदा काल रहना है और सम हुआ करता है। लेकिन ये रागादिक भाव न तो सदाकाल होते है और न समपरिणमन है अतएव यह रागादिक भावरूप जो हेतु है वह कर्मोंकी सत्ता सिद्ध करता है। कर्म है अन्यथा याने विनाशीक और विषम। रागादिक परिणमन नहीं हो सकता था। इस देहके द्वारा कर्मोंका अस्तित्त्व सिद्ध हो सकता है, लेकिन हम कर्मोको अनुमान प्रमाणके बिना अन्य प्रकार इस समय नहीं जानते।

अवधिज्ञानी पुरुष कर्मोंके सत्त्वको स्पष्ट अवधिज्ञानके बलसे जान लेता है, किन्तु उत्कृष्ट विशिष्ट अवधिज्ञानी पुरुष जानता है और उस अवधिज्ञानकी ही सीमामे वातावरणमे कर्मोंके प्रमेय और उपशमको भी जान लेता है, जैसे—अवधिज्ञानी पुरुष उदयागत कर्मोको जान सकता है। उदयागत कर्म हैं, वे अस्तित्व-रूप हैं, विधिरूप है, उन्हे जान लेता है तो उन्हे साक्षात् जान लेता है अवधिज्ञानी। लेकिन कर्मोंके उपशम और क्षयोपशमसे एक तात्कालिक हेतुरूप वृत्ति है, किन्तु उपशम और क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई जो अवस्था है वह अवस्था चूकि पौद्गलिक नहीं है और अवधिज्ञान पौद्गलिकको ही जानता है तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हुआ औपशमिक सम्यक्त्व है। जो प्रमाण हो उनको अनुमान जानता है। जो कर्म पौद्गलिक है और पौद्गलिक कर्मोंकी जो अवस्था है उस अवस्थाको ज्ञानी जान लेगा। क्षायोपशमिक अवस्था है तो चूकि कर्म सद्भावरूपमे है तो उसे जान लेगा, लेकिन कर्मोंके उपशम और क्षयोपशमका निमित्त पाकर जो आत्मामे औपशमिक और क्षायोपशमिक स्थिति हुई उसे अनुमान जानता है क्योंकि औपशमिक और क्षायोपशमिकका भाव अमूर्त है। प्रयोजन यह है कि कर्मोको जब हम जानते ही नही और परपदार्थोंमे हमारे सोचनेसे उनका विनाश नहीं, हम उनपर कुछ अधिकार नहीं रखते तो कर्मोका विनाश हो, ऐसा चिन्तन अपायविचयी

मुख्य न मानकर रागादिक भावोंका विनाश हो ऐसा चिन्तन चलता है। कर्म यद्यपि पौद्गलिक हैं और रागादिक भाव पुद्गलकी अवस्था नहीं, आत्माकी विभाव अवस्था है इस कारण रागादिकभाव कर्मोंसे भी अधिक सूक्ष्म है। लेकिन रागादिकभाव है आत्माके परिणमन, इस कारण उनका तो स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष चलता है लेकिन कर्मोंका परिज्ञान प्रत्यक्षरूपसे नहीं होता।

रागादिक भावोंका जो प्रत्यक्षज्ञान हुआ वह स्वसम्वेद्यरूप प्रत्यक्ष ज्ञान है, पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। जैसे केवलज्ञानी पुरुष धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यको प्रत्यक्ष जानता है इस तरह हम रागादिक भावोंको प्रत्यक्ष नहीं जानते, किन्तु स्वसम्वेद्यकी पद्धतिसे प्रत्यक्ष जानते हैं। जैसे किसी चीजको हाथमें धर कर 'यह' शब्दका प्रयोग कर सकते हैं ना। 'यह' घडी है तो 'यह' शब्दका प्रयोग होता है प्रत्यक्षकी चीजमें और वह उस शब्दका प्रयोग होता है परोक्षकी चीजमें। तो जब तक हम रागादिक भावोंमें बाहर हुए, इन रागादिकका विनाश हुआ, इस प्रकार जब तक हम 'यह' इस शब्दका प्रयोग न कर सकेंगे तो रागादिकभाव हमारे सुसम्वेदनमें आते हैं और हम उसे सुसम्वेद्यके प्रत्यक्ष पाते हैं, उनका चिन्तन करते कि ये नष्ट हों, दूर हों, ये मेरी बरबादीके कारण हैं। इस प्रकारके चिन्तन करनेका नाम है अपायविचय धर्मध्यान, इसका दूसरा नाम उपायविचय भी कह सकते। मोक्षमार्गमें उपायभूत जो निवृत्ति तत्त्व है उसका चिन्तन होना सो अपायविचय धर्मध्यान है। जो भी उपाय है मोक्षमें लगनेका है। यहाँ एक प्रत्यक्षका प्रसंग चलाया है, और जिसमें 'यह' प्रयोग करे, इसका विनाश करे, इससे होता है उसका घात। जैसे वे भवमें इस शब्दका प्रयोग करते हैं वह हमारे स्वसम्वेदनमें आकर प्रत्यक्षीभूत है, उसका उपाय विचारना सो अपायविचय धर्मध्यान है।

श्रीमत्सर्वज्ञ-निर्दिष्ट मार्गं रत्नत्रयात्मकम् ।
अनासाद्य भवारण्ये चिरं नष्टाः शरीरिणः ॥१६८३॥

अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि श्रीमान भगवानदेव निर्दिष्ट सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रको न पाकर इस भववनमें संसारीप्राणी चिरकालसे बरबाद होता चला आ रहा है। अनुमान करलो अपने आपमें खुदका। हम हैं और जब हैं तो सदाकाल हैं। इस भवका तो हमें पता है कि ४०-५० वर्षसे हम किस-किस तरहसे हैं और यह हम जो अस्तित्व होनेके कारण पहिले भी थे तो पहिले हम किस रूपमें थे, इसका अनुमान यह ठीक बैठता है कि जब हम आज एक साधारण रूपमें हैं तो इससे पहिले भी हम किसी शरीरमें थे। यदि न होते शरीरमें तो अब युक्तियां चलायें कि यह शरीरवान बन कैसे गया? न होता यह अशुद्ध तो कल्पना करो कि फिर यह अशुद्ध बन कैसे गया? तो मैं था पहिले, यह जीव था पहिले और किसी न किसी शरीरमें था। अब किस शरीरमें हम थे इसको जाननेके लिए हम संसारके अनेक शरीरधारियोंकी ओर दृष्टि करके निर्णय कर लेते हैं। चूंकि ये सब भी आत्मा हैं, इन सबमें भी चित्स्वरूप पाया जाता है। मेरे ही समान ये सब भी चेतनेका काम करते हैं। मेरे ही समान ये सब आत्मा हैं। तब मूलमें एक स्वरूप वाले ये सब आत्मा हैं और भिन्न भिन्न शरीरोंको लादे हुए फिर रहे हैं। अर्थात् इससे सिद्ध होता है कि यह आत्मा ऐसे-ऐसे विभिन्न शरीरोंको लादे हुए इनमें फसा हुआ रहा करता है। तो हम ऐसे ही शरीरोंमें से किन्हीं शरीरोंमें रहे होंगे तो वह बरबादी होती है। शरीर धरने रहनेकी स्थितिमें अब तक ता इस जीवकी परमें दृष्टि रही और देहके पोषणमें, विषयोंके साधनोंमें ही इसकी बुद्धि बनी रही। जहाँ बुद्धि दृष्टि परकी ओर है विषयोंके साधनोंकी ओर है तो वह आकुलित है, विह्वल है। उसमें मृगतृष्णाकी तरह एक तृष्णा उत्पन्न होती है तो विषयोंमें वह तृष्णा ऊधम मचाती रहती है, यह इसकी हिंसा है। यह इसके दुःखकी बात है। तो यह हालत अब तक रही। इसी मृगतृष्णाके कारण हम आप सब इस प्रकार नष्ट हो रहे हैं। यह अपायविचय धर्मध्यानी ज्ञानीपुरुष आत्मचिन्तन कर रहा है कि इस अज्ञानका विनाश हो तो जीव का कल्याण है। जीव तो बिल्कुल तैयार है, परिपूर्ण है, उसमें कोई अधूरापन नहीं है, ज्ञानानन्दस्वरूप है। यह

मुख्य न मानकर रागादिक भावोंका विनाश हो ऐसा चिन्तन चलता है। कर्म यद्यपि पौद्गलिक हैं और रागादिक भाव पुद्गलकी अवस्था नहीं, आत्माकी विभाव अवस्था है इस कारण रागादिकभाव कर्मोंसे भी अधिक सूक्ष्म है। लेकिन रागादिकभाव हैं आत्माके परिणमन, इस कारण उनका तो स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष चलता है लेकिन कर्मोंका परिज्ञान प्रत्यक्षरूपसे नहीं होता।

रागादिक भावोंका जो प्रत्यक्षज्ञान हुआ वह स्वसम्वेद्यरूप प्रत्यक्ष ज्ञान है, पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। जैसे केवलज्ञानी पुरुष धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यको प्रत्यक्ष जानता है इस तरह हम रागादिक भावोंको प्रत्यक्ष नहीं जानते, किन्तु स्वसम्वेद्यकी पद्धतिसे प्रत्यक्ष जानते हैं। जैसे किसी चीजको हाथमें धर कर 'यह' शब्दका प्रयोग कर सकते हैं ना। 'यह' घडी है तो 'यह' शब्दका प्रयोग होता है प्रत्यक्षकी चीजमें और वह उस शब्दका प्रयोग होता है परोक्षकी चीजमें। तो जब तक हम रागादिक भावोंमें बाहर हुए, इन रागादिकका विनाश हुआ, इस प्रकार जब तक हम 'यह' इस शब्दका प्रयोग न कर सकेंगे तो रागादिकभाव हमारे सुसम्वेदनमें आते हैं और हम उसे सुसम्वेद्यके प्रत्यक्ष पाते हैं, उनका चिन्तन करना कि ये नष्ट हों, दूर हों, ये मेरी बरबादीके कारण हैं। इस प्रकारके चिन्तन करनेका नाम है अपायविचय धर्मध्यान, इसका दूसरा नाम उपायविचय भी कह सकते। मोक्षमार्गमें उपायभूत जो निवृत्ति तत्त्व है उसका चिन्तन होना सो अपायविचय धर्मध्यान है। जो भी उपाय है मोक्षमें लगनेका है। यहाँ एक प्रत्यक्षका प्रसंग चलाया है, और जिसमें 'यह' प्रयोग करे, इसका विनाश करे, इससे होता है उसका घात। जैसे वर्तमानमें इस शब्दका प्रयोग करते हैं वह हमारे स्वसम्वेदनमें आकर प्रत्यक्षीभूत है, उसका उपाय विचारना सो अपायविचय धर्मध्यान है।

श्रीमत्सर्वज्ञ-निर्दिष्टं मार्गं रत्नत्रयात्मकम्।
अनासाद्य भवारण्ये चिरं नष्टाः शरीरिणः ॥१६२३॥

अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि श्रीमान सर्वज्ञदेव निर्दिष्ट सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रको न पाकर इस भववनमें संसारीप्राणी चिरकालसे बरबाद होता चला आ रहा है। अनुमान करलो अपने आपमें खुदका। हम हैं और जब हैं तो सदाकाल हैं। इस भवका तो हमें पता है कि ४०-५० वर्षसे हम किस-किस तरहसे हैं और यह हम जो अस्तित्व होनेके कारण पहिले भी थे तो पहिले हम किस रूपमें थे, इसका अनुमान यह ठीक बैठता है कि जब हम आज एक साधारण रूपमें हैं तो इससे पहिले भी हम किसी शरीरमें थे। यदि न होते शरीरमें तो अब युक्तियां चलायें कि यह शरीरवान बन कैसे गया? न होता यह अशुद्ध तो कल्पना करो कि फिर यह अशुद्ध बन कैसे गया? तो मैं था पहिले, यह जीव था पहिले और किसी न किसी शरीरमें था। अब किस शरीरमें हम थे इसको जाननेके लिए हम संसारके अनेक शरीरधारियोंकी ओर दृष्टि करके निर्णय कर लेते हैं। चूंकि ये सब भी आत्मा हैं, इन सबमें भी चित्स्वरूप पाया जाता है। मेरे ही समान ये सब भी चेतनेका काम करते हैं। मेरे ही समान ये सब आत्मा हैं। तब मूलमें एक स्वरूप वाले ये सब आत्मा हैं और भिन्न भिन्न शरीरोंको लादे हुए फिर रहे हैं। अर्थात् इससे सिद्ध होता है कि यह आत्मा ऐसे-ऐसे विभिन्न शरीरोंको लादे हुए इनमें फंसा हुआ रहा करता है। तो हम ऐसे ही शरीरोंमें से किन्हीं शरीरोंमें रहे होंगे तो वह बरबादी हो तो है। शरीर धरते रहनेकी स्थितिमें अब तक तो इस जीवकी परमें दृष्टि रही और देहके पोषणमें, विषयोंके साधनोंमें ही इनकी बुद्धि बनी रही। जहाँ बुद्धि दृष्टि परकी ओर है विषयोंके साधनोंकी ओर है तो वह आकुलित है, विह्वल है। उसमें मृगतृष्णाकी तरह एक तृष्णा उत्पन्न होती है तो विषयोंमें वह तृष्णा ऊधम मचाती रहती है, यह इसकी हिंसा है। यह इसके दुःखकी बात है। तो यह हालत अब तक रही। इसी मृगतृष्णाके कारण हम आप सब इस प्रकार नष्ट हो रहे हैं। यह अपायविचय धर्मध्यानी ज्ञानीपुरुष आत्मचिन्तन कर रहा है कि इस अज्ञानका विनाश हो तो जीव का कल्याण है। जीव तो बिल्कुल तैयार है, परिपूर्ण है, उसमें कोई अधूरापन नहीं है, ज्ञानानन्दस्वरूप है। यह

समझिये कि कहने सुननेको तो हमारी जरासी चूक है मूलमें, क्या कि इस उपयोगने अपना मुख बदल दिया पर परिणाम भयानक निकल रहा है कि निगोदमें रहे, स्थावरोंमे गए, ज्ञानका विकास नहीं है, दुःख संक्लेश भोगते हैं, इतना खोटा परिणाम निकला। अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष चिंतन कर रहा है कि एक इस जिनेश्वर यान पात्रको न पाकर, इस रत्नमय मार्गको न पाकर, अपने आपका प्रकाश न पाकर यह जीव अभी तक संसारमें भ्रमता चला आया है, बरबाद होता चला आ रहा है। यह उपाय। कुछ थोड़ासा मुख मोड़ले, स्व के उन्मुख हो जाय कि सारे संकट कट जाते हैं। तो यही बात सबकी हुई ऐसा चिन्तन करता है अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष, ताकि अनादिसे चले आये हुए ये रागादिक वैरी नष्ट हो जायें। यह अपायविचय धर्मध्यानी, आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष धर्मध्यानसे कुछ उत्कृष्टता रखता आ रहा है। अब इसमें वैराग्यका अंश कुछ बढ़ा हुआ है। चाहे अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष है वही एक आज्ञाविचय धर्मध्यानसे लगा है। उस समयकी जो उसकी स्थिति है, उससे विशिष्ट और वैराग्यकी ओर रहने वाली स्थिति अपायविचय धर्मध्यानके समय बनती है।

महाव्यसनसप्तार्चि प्रदीप्ते जन्मकानने।
भ्रमताऽद्य मया प्राप्तं सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम् ॥१६२५॥

महान विडम्बनाओंरूप सप्तार्चीसे प्रदीप्त इस जन्म वनमें भ्रमते हुए उसने आज सम्यग्ज्ञान रूपी सागरका तट प्राप्त किया है। रागद्वेष संकल्प-विकल्प आदिक ये महाव्यसन हैं, ये सब अग्नि हैं, ७ चीजोंकी लहरें उठें, तरंगें उठें उसे सप्तार्ची कहते हैं। जैसे अग्नि प्रदीप्त होती है तो उसमें कोई शिखर छूटती है। तो रूढ़िमें ७ शब्द बहुतका सूचक है। जैसे किसीको धूर देनी होती तो कहते कि इसके ७ पीढ़ीकी धूर दो। जो तुम्हें करना हो सो करलो। तो जब बहुतकी बात देनी होती है तो ७ शब्दका प्रयोग व्यवहारमें किया जाता है। तो अग्निके जब कोई बहुत प्रदीप्त होते हैं तो उसमें कई जगह लपटें शिखरें उठी हैं इसलिए अग्निका नाम सप्तार्ची रखा गया है। तो महान अग्निमें जलते हुए इस जन्मरूपी वनमें भ्रमण करते हुए उसने आज सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्रका तट प्राप्त किया है, विनाशका चिन्तन कर रहे हैं ना तो हम विनाश करनेमें समर्थ हैं कि नहीं—यह भी चिन्तनमें आये तब विनाशका चिन्तन चल सकता है। तो अब ऐसी सामान्यकी बातका विचार कर रहा है कि मैं घूमा तो बहुत अब तक लेकिन घूमते हुए मैंने आज यह सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्रका तट प्राप्त किया है। अब हममें यह सामर्थ्य है कि इस दृष्टिको पाकर हम इन संकटोंको दूर कर सकते हैं। जो विनाश कर सकता है उसका चिन्तन तो सही है और जो समर्थ ही नहीं है वह चिन्तन करे तो खानापूर्ति करना है और मान लेते हैं कि मैंने धर्मध्यान किया, हमने आज सम्यग्ज्ञान पाया, वस्तुस्वरूपको बोध किया, हम अपने आत्मतत्त्वका ग्रहण करके उसका आलम्बन लेकर उसकी दृष्टिके बलसे इन रागादिक विभावोंको सबको नष्ट कर सकते हैं ऐसा इसमें साहस जगा है और अपायविचय करके अपने धर्मरूप परिणमन कर रहा है।

अद्यापि यदि निर्वेदविवेकागेन्द्रमस्तकात्।
स्खलेत्तदैव जन्मान्ध—कूपपातोऽनिवारित ॥१६२६॥

ज्ञानी पुरुष अपायविचय धर्मध्यानमें ऐसा विचार करता है कि मैंने बहुत-बहुत भ्रमणकर चुकने के बाद आज एक उत्कृष्ट भव पाया है, श्रेष्ठ समागम मिला है, अहिंसामयी जैनशासन प्राप्त हुआ है, सम्यग्ज्ञान भी प्राप्त कर लिया है। यदि अब भी वैराग्य और विवेकरूपी पर्वतकी शिखरसे गिर पड़े तो संसाररूप अंधकूपमें ही पड़ना होगा। इस समय हम आपने जो स्थिति पायी है वह अपेक्षाकृत बहुत संतोषके योग्य है। जैसे अनन्तानन्त जीव तो अब भी निगोदमें पड़े हुए हैं। एक श्वासमें १८ बार जन्म-मरण किया, वहाँसे निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येकवनस्पति कायक जीव हुए, वहाँसे निकलकर दोइन्द्रिय हुए,

फिर तीन इन्द्रिय हुए, चार इन्द्रिय हुए, इस तरह उत्तरोत्तर इस जीवने विकास प्राप्त किया। दो इन्द्रियमें स्पर्शन और रसना इन्द्रिय प्राप्त हुई, तीन इन्द्रियमे घ्राणइन्द्रिय और चार इन्द्रियमे चक्षुइन्द्रिय ये और भी प्राप्त हो गए। पञ्चेन्द्रियमे कर्णइन्द्रिय भी प्राप्त हो गयी। फिर मनका क्षयोपशम मिला तो मनसे जानने लगा। मन वाले नारकी जीव है, वे बड़े सकटमे हैं। देवगतिके जीव वे अपने ऐश-आराममें मस्त हैं। पशु पक्षी भी विवेकशून्य हैं। यह मनुष्यभव सबमें से श्रेष्ठ है। हम इस मनुष्यभवमे हैं। इस भवमे अपने मनकी बातको दूसरोंको समझा सकने और दूसरोंके मनकी बातको हम समझ सकते। तत्त्वज्ञानकी बात सुनते व समझते हैं। इतना सुनकर भी यदि विवेकसे च्युत हो गए, परदृष्टिमे बने रहे तो फल यह होगा कि ससारके अधकूप मे पडना ही होगा। चीज तो इतनी अच्छी प्राप्त है और मनुष्यके चित्तमे इतनी तृष्णा लगी है सो उस तृष्णाके कारण मिले-मिलाये वैभवसे भी लाभ नहीं होता। जैसे कोई लखपति आदमी है और उसके तृष्णा लगी है तो उस तृष्णाके कारण जो पासमे धन है उसका भी सुख न पायगा। ऐसे ही हम आपको बहुत समागम मिले है, कोई प्रकारकी तकलीफ नहीं है, धर्मात्मा, त्यागी, विद्वान, ज्ञानी पुरुष भी बहुत-बहुत मिल रहे हैं तो सब आनन्दकी ही बात है लेकिन जो परिग्रहमे तृष्णा लगी है उसकी वजहसे यह समझते हैं कि मेरे को कुछ नहीं मिला अभी इतना और चाहिए। इस तृष्णामे वे अपना जीवन बरबाद कर डालते है। तो अब भी यदि न चेते तो ऐसा दुर्लभ अवसर मिलना कठिन है। जो अपनेको जीवधारी पञ्चेन्द्रिय दिखते हैं वे भी अपने मनकी बात किसीको नही समझा सकते, दूसरेके मनकी बातको समझ नहीं सकते। बोल भी अक्षरात्मक नहीं है जो कोई साहित्यकी बात बोल सकें, अपने मनका अभिप्राय समझा सकें। ये पशु-पक्षी कुछ नहीं कर सकते। मनुष्योंमे देखो तो कैसे-कैसे मनुष्य है, कोई भिखारी है, दर-दर मागते हैं तो वे क्या उन्नति करेंगे? उनका बहुत कठिन काम है। और-और पर दृष्टि दें तो अन्तमे अपनी स्थिति बहुत कुछ अच्छी मालूम पड़ेगी और अपनेसे धनिकोंपर दृष्टि देते हैं तो अपनी तुच्छ स्थिति मालूम पडती है और अपनेसे गरीबोंपर औरोंपर दृष्टि दें तो सन्तोप होगा। और खूब शक्तिसे विचार करें तो जिसे जो कुछ अब भी मिला है वह सब औरोंसे ज्यादा मिला है। इतना जरूर है कि यदि ऐसा लक्ष्य बन जाय कि हम मनुष्य हुए है तो धर्म-साधनाके लिए हुए है क्योकि विषय कषायोके लिए तो अन्य पशु-पक्षी आदिककी पर्यायें पड़ी हैं। यह मनुष्य जन्म पाया तो किसलिए? जो बात और जगह न बन सके, मनुष्यभवमे ही बन सके वह बात है बडी। इतना सन्तोप योग्य श्रेष्ठ भव पाया और इसे विषयकषायोमे कोई गवां दे तो फिर ससारमे रुलना पडता है। इससे ऐसे दुर्लभ समागमको पाकर हमे गिरते हुए विचार न बनाना चाहिए, विषयकषायोमे घुसनेका विचार न बनाना चाहिए। अपनी सावधानी रखे, और जैसे आत्माकी बराबर सुध आये वह काम करें। स्वाध्याय किया, स्वाध्याय सुना चर्चा की, ज्ञानी पुरुषोंके समीप बैठे, जैसेमे उपयोग बदले और अपने आपके आत्माकी ओर दृष्टि जाय वह काम करना चाहिए।

अनादिभ्रमसभूतं कथ निर्वार्यते मया।
मिथ्यात्वाविरतिप्राय कर्मबन्धनिबन्धनम् ॥१६२७॥

अपायविचय धर्मध्यानमे मिथ्यात्व आदिक वैराग्यके, अपायके उपायका, चिन्तवन करना चाहिए। अनादिकालसे लगी चली आयी हुई अविद्या है, उस अविद्यामे अविद्याके कारण मिथ्यात्व, अविरत, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये सब पाप बस रहे है और उनके कारण कर्मबन्ध हो रहा है तो ये सब मेरेसे किस प्रकार दूर हों-इसका चिन्तन होना चाहिए। देखिये सबका कोई न कोई लक्ष्य रहता है। हर एक जीव अपना कोई न कोई लक्ष्य बनाये हुए है। पर प्राय लोग यह लक्ष्य बनाये है कि मेरी जगतमे महत्ता बढे। इसमे सब आ गया। धनी क्यों बनना चाहते? इसी कारण कि मेरा महत्त्व बढे। जो-जो कुछ भी यह मनुष्य करना चाह रहा है सांसारिक बाते, उन सबका मूलमे उनका लक्ष्य बना है कि मेरा बडप्पन बने। यह है लौकिक

बडप्पन । इसी लक्ष्यके कारण इसको अभी तक शान्ति नहीं मिल सकी । क्यों नहीं शान्ति मिल सकी कि इसने तो जनतासे बहुत-बहुत भीख माग रखा है । मेरा लोकमे बडप्पन बने, इसके मायने यह हैं कि इन अज्ञानी कर्मकलंकित जीवोंसे यह चाह रहती है कि ये मुझे कुछ अच्छा कह दें तो यह भीख मागना ही तो है । इस भीखके मागनेसे न कोई आजीविकाका लाभ है और न धर्मका, न परलोकके सुधारका लाभ है । इसने बहुत भीख माग रखा है इस कारण इसको शान्ति प्राप्त हो कहाँसे ? अरे जिन लोगोंसे अच्छा कहलवानेकी भीख मागी जा रही है वे हैं कौन ? वे लोग तो इस मुझको जानते भी नहीं हैं। यहाँ कुछ भी तो तत्त्व नहीं रखा है । और फिर इन मायामयी इन्द्रजालवत असार जीवोंसे कुछ चाह करना, ये कोई मेरे प्रभु हैं क्या ? यह जितना जीवलोक है ये कोई मेरे प्रभु नहीं हैं, मालिक नहीं है ये, मेरा कुछ भी सुधार नहीं कर सकते । इनसे क्या आशा करें ? इनसे क्या चाह करें ? लोकमें इन लौकिक जनोंमें बडप्पनकी चाह करना यह अपने आपके परमात्मापर महान अन्याय लादना है, अपने आपको बरबाद करना है, अपने आपका घात करना है । यह बात सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे हो सकती है कि मैं कुछ लोगोंसे न चाहू । केवल आवश्यकता है तो यही कि धर्मपालन होता रहे । तो रक्षा करने वाला धर्म ही है । परभवमें धर्म ही सहायक है और कुछ नहीं । कभी छोटी-छोटी विपत्तिया भी आयें तो उसमे विषाद न मानना चाहिए । क्योंकि यह तो ससार है । यहाँ तो ऐसे अनर्थ ऐसी बाते होती ही रहती हैं, उसका सकट न मानें और कुछ सम्पदा न आये, इष्टजनोंका सयोग हो संतान आदिक ठीक हों लोग आज्ञाकारी हों तो उसमें मौज न माने, ये सब मिटेंगे, और जब तक है इनका सयोग तब तक भी कष्टके लिए है, शान्तिके लिए नहीं है । कैसे बन सके शान्ति ? कोई परपदार्थ शान्तिका निमित्त भी नहीं बन सकता क्योंकि जब अपना उपयोग परकी ओर मोडा तो परदृष्टिमे आकुलता ही बनती है । ऐसा यहाँका प्राकृतिक नियम है । जब हम अपने आपके आधारको छोड दें, अपने मालिकको छोड दें और बाहरमें कुछ करना पड़े तो उस परिस्थितिमें चैन हो ही नहीं सकती । आकुलता ही मची रहेगी, परकी ओर आकर्षण होता है, परका हम आलम्बन लेते हैं । दूसरोंको हम राजी रखना चाहें, दूसरोंसे हम अपने बारेमे कुछ चाहते हैं—ये सारे विकल्प हमारे बैरी हैं अन्यथा हमारा तो ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, कमी कुछ न रहेगी । आत्मा सो परमात्मा, इसका मतलब क्या है कि जो परमात्माका स्वरूप है, प्रकट हुआ है वैसा स्वरूप हमारे अन्दर है । हममें वैसी ही शक्ति है । सभीका स्वरूप एकसा है । बाहरके विकल्पोंसे, उपाधिसे भेद पड गए हैं पर रचना सबके स्वरूपकी एक प्रकारकी है । सभी चिदानन्दस्वरूप हैं । हम आप सबका स्वरूप एक चैतन्यमात्र है । जिन बातोंसे अन्तर पडा है हम उन बातोंको दूर करनेका प्रयत्न करें । तो यह अनादिकालकी अविद्या लगी है उसमे ये मिथ्यात्व पाप आदिक परिणाम पैदा होते हैं जो कि हमारी बरबादीके लिए हैं । ये सब परिणाम मुझसे दूर हों और मैं अपने सहजस्वरूपका अवलोकन करता रहूं ऐसा यह अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष चिन्तन करता है ।

सोऽहं सिद्ध प्रसिद्धात्मा दृग्बोधविमलेक्षण: ।
जन्मपङ्के चिर खिन्न खण्ड्यमान स्वकर्मणा ।।१६२८।।

ज्ञानी पुरुष अपने आपके बारेमे ऐसा चिन्तन करता है कि यह मैं आत्मा सिद्ध हू । सिद्धके मायने अपने स्वरूपसे परिपूर्ण हू, अपने स्वरूपको लिए हुए हू, सहज सिद्ध हू, स्वत सिद्ध हूँ, भरा पूरा हू । इसमे कोई भी वस्तु अधूरी होनी ही नहीं, स्वरूप ही नहीं है । अधूरेका अस्तित्व क्या ? जो है वह पूरा है । जैसे कि लोकव्यवहारमे कह देते कि यह मकान अधूरा है इसको अभी आधा और बनवाना है इस तरहसे आत्मा अधूरा नहीं है । यही बात सभी पदार्थोंकी है । सभी पदार्थ स्वत सिद्ध हैं, परिपूर्ण हैं । इनका स्वरूप है चिदानन्दस्वरूप, सो हम आधे बनें, आधे न बनें ऐसा नहीं है । जैसे जो अभी दृष्टान्त दिया था कि यह मकान अधूरा है सो मकान कोई एक पदार्थ नहीं है वह तो यह बतानेके लिए कि लोग इसे आधी चीज मानते

हैं, इस तरहका कहीं पदार्थमें आधापन नहीं है। मकानमें भी आधापन नहीं, मकान कोई पदार्थ नहीं है। उसमें रहने वाले जो अणु हैं वे पदार्थ हैं और वे सब परिपूर्ण हैं चाहे किसी रूप परिणमे। तो यह मैं आत्मा सिद्ध हूँ, परिपूर्ण हू, स्वत सिद्ध हू। जिसका स्वरूप सिद्ध है प्रसिद्ध स्वरूप, क्या है वह प्रसिद्ध स्वरूप? दर्शन ज्ञान ही है निर्मल नेत्र जिसके ऐसा। ये खम्भे है, यह चबूतरेकी जमीन है, और इसमें कुछ पार्क है कि नहीं, इनमे जानना देखना नही है, न ज्ञानदर्शन है, और सब कुछ समझने है। अभी कोई पुरुष किसी जीवको लाठी मार रहा हो कुत्तेको, बैलको, गायको, भैंसको, तो देखने वाले लोग दया करके कहते है कि भाई क्यों मारते हो? और कोई आदमी चबूतरे पर ही कुछ लाठी ठनका रहा हो तो कोई आकर यह नहीं कहता कि भाई तुम चबूतरे पर लाठी क्यों मारते हो? इस मारने वालेको भीतरमे इतना ज्ञान तो है ही कि चबूतरेमे ज्ञानदर्शन नहीं, और यह जीव इनको जानता देखता है, इनका दु ख होता है। दु ख-सुख कुछ नहीं है, ऐसा बोध है तब तो चबूतरेको पीटनेसे कोई नहीं रोकता। और जीवका लक्षण है वह प्रसिद्ध है, सब लोग जानते हैं। थोडा थोडा सभीको यह बोध है कि जीवका यह स्वरूप है। सो यह मैं आत्मा दर्शन ज्ञानरूपी निर्मल नेत्र वाला हूँ।

स्वरूपको देखो तो सब कुछ मामला तैयार है। कोई कमी नहीं है। अभी विकल्प छोडें और अभी आनन्द लूट ले। कुछ देर ही नहीं लगती। इतना तैयार बैठा हुआ है हम आप सबका आत्मा। आनन्दमग्न रहनेके लिए दृष्टि बदल ले अपनी, अपनी ओर उन्मुख करलें, भ्रम मिटाले, तुरन्त आनन्द मिल जायगा। और तुरन्त ज्ञानानुभव होगा। तो ऐसे तयार तो हम हैं, ऐसे उत्कृष्ट निधन तो हम हैं, पर चिरकालसे अपनी ही करतूतसे, अपने ही अपराधसे इस जन्म-मरण रूपी कीचडमे चिरकालसे खेदखिन्न हो रहा है। कैसा तो स्वरूप है और कैसी इसकी दशा बन रही है? परमात्मतत्त्वका स्वरूप है हम आपका आनन्दमग्नताका, पर इसका खण्डन हो रहा है, दु खी हो रहे हैं, घबडा रहे है, विकल्पोंसे अपने आपको परेशान किए जा रहे हैं। मैं भी इस ससार कीचडमे अपने उपार्जित कर्मोंके कारण खण्डित हो होकर घूम रहा हू। खण्डन हो रहा है अपने ज्ञान और आनन्दका। हम जिस किसी भी पदार्थको जान पाते है, थोडा जान पाते है। ज्ञानका काम है स्पष्ट एक साथ सारे विश्वको जानले। इतना तो महान केवल ज्ञानरूप मेरा स्वरूप है पर खड खडरूप हो रहा है। मैं अश अश रूपमे जान पाता हू और आनन्द भी खण्डित हो रहा है। स्वरूप तो इसका ऐसा है कि यह अनुकूल रहे, किसी प्रकारका क्लेश न रहे, कोई दु ख न आये, मगर वर्तमान पर्याय देखो क्या बन रही है—चिन्ता, शोक, दु ख, विकल्प। अपने आपको इस व्यावहारिक जालमे फसाये है, केन्द्रित किए है सो आनन्दका घात हो रहा है। किसी भी विषयमे हम दृष्टि फसाये, किसी भी विषयका हम स्वाद ले तो हमारा आनन्द खण्डित हो जाता है, एक थोड़ेसे मौजके रूपमे रह पाता है और बिगड जाता है। तो मैं अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप वाला हू पर परिस्थिति यह बन रही है कि मेरे ज्ञानका भी खण्डन है और मेरे आनन्दका भी खण्डन है। तो मैं ऐसा खण्डित हुआ इस जन्म जरा मरण रूप कीचडमे अनन्त कालसे खेदखिन्न हो रहा हू ऐसा ज्ञानी पुरुष अपने बारेमे चिन्तन कर रहा है। देखिये जब-जब लगाव रहेगा परपदार्थोंमे तब तक इसको आकुलता रहेगी ही, क्योंकि जिस किसी परमे हम अपना उपयोग फसायेंगे तो वह पर या तो हमे इष्ट जचेगा या अनिष्ट। जब हम परका ग्रहण करेंगे तो इष्ट अनिष्ट किसी भी स्थितिमे चैन न मिलेगी। अनिष्टके सयोगमे तो आकुलता ही बनी रहती है, चैन कहाँसे मिलेगी और इष्टके सयोगमे उससे अनुराग बढेगा उसके पीछे बडे-बड़े श्रम करने होंगे, बड़े-बडे कष्ट उठाने होंगे, तो वहाँ भी चैन नहीं मिलती। चैन तो तब मिलेगी जब समस्त पर-पदार्थोंको असार जानकर। विनाशीक जानकर उन्हे चित्तसे हटाया जाय और ज्ञान व आनन्दसे भरा हुआ अपना जो स्वरूप है उसकी ओर दृष्टि लगायी जाय।

आप यह कहेंगे कि ऐसा तो मुझे कोई नहीं दिखता जो परपदार्थोंका भिन्न जानकर उनकी उपेक्षा करे और अपने स्वरूपके देखते रहनेकी धुन बनाये। तो पहिला उत्तर यह है कि है पर विरले ही मनुष्य ऐसे

बडप्पन। इसी लक्ष्यके कारण इसको अभी तक शांति नहीं मिल सकी। क्यों नहीं शान्ति मिल सकी कि इसने तो जनतासे बहुत-बहुत भीख माग रखा है। मेरा लोकमे वडप्पन बने, इसके मायने यह हैं कि इन अज्ञानी कर्मकलंकित जीवोंसे यह चाह रहती है कि ये मुझे कुछ अच्छा कह दें तो यह भीख मागना ही तो है। इस भीखके मागनेसे न कोई आजीविकाका लाभ है और न धमका, न परलोकके सुधारका लाभ है। इसने बहुत भीख माग रखा है इस कारण इसको शान्ति प्राप्त हो कहाँसे ? अरे जिन लोगोंसे अच्छा कहलवानेकी भीख मागी जा रही है वे हैं कौन ? वे लोग तो इस मुझको जानते भी नहीं हैं। यहाँ कुछ भी तो तत्त्व नहीं रखा है। और फिर इन मायामयी इन्द्रजालवत असार जीवोंसे कुछ चाह करना, ये कोई मेरे प्रभु हैं क्या ? यह जितना जीवलोक है ये कोई मेरे प्रभु नहीं हैं, मालिक नहीं है ये, मेरा कुछ भी सुधार नहीं कर सकते। इनसे क्या आशा करें ? इनसे क्या चाह करें ? लोकमें इन लौकिक जनोंमे बडप्पनकी चाह करना यह अपने आपके परमात्मापर महान अन्याय लादना है, अपने आपको वरबाद करना है, अपने आपका घात करना है। यह बात सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे हो सकती है कि मैं कुछ लोगोंसे न चाहू। केवल आवश्यकता है तो यही कि धर्मपालन होता रहे। तो रक्षा करने वाला धर्म ही है। परभवमें धर्म हो सहायक है और कुछ नहीं। कभी छोटी-छोटी विपत्तिया भी आयें तो उसमें विषाद न मानना चाहिए। क्योंकि यह तो ससार है। यहाँ तो ऐसे अनर्थ ऐसी बातें होती ही रहती हैं, उसका सकट न मानें और कुछ सम्पदा न आये, इष्टजनोंका सयोग हो संतान आदिक ठीक हों लोग आज्ञाकारी हों तो उसमें मौज न माने, ये सब मिटेंगे, और जब तक है इनका सयोग तब तक भी कष्टके लिए है, शान्तिके लिए नहीं है। कैसे बन सके शान्ति ? कोई परपदार्थ शान्तिका निमित्त भी नहीं बन सकता क्योंकि जब अपना उपयोग परकी ओर मोडा तो परदृष्टिमें आकुलता ही बनती है। ऐसा यहाँका प्राकृतिक नियम है। जब हम अपने आपके आधारको छोड दें, अपने मालिकको छोड दें और बाहरमें कुछ करना पड़े तो उस परिस्थितिमें चैन हो ही नहीं सकती। आकुलता ही मची रहेगी, परकी ओर आकर्षण होता है, परका हम आलम्बन लेते हैं। दूसरोंको हम राजी रखना चाहे, दूसरोंसे हम अपने बारेमे कुछ चाहते हैं—ये सारे विकल्प हमारे बैरी हैं अन्यथा हमारा तो ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है कमी कुछ न रहेगी। आत्मा सो परमात्मा, इसका मतलब क्या है कि जो परमात्माका स्वरूप है, प्रकट हुआ है वैसा स्वरूप हमारे अन्दर है। हममें वैसी ही शक्ति है। सभीका स्वरूप एकसा है। बाहके विकल्पोंसे, उपाधिसे भेद पड गए हैं पर रचना सबके स्वरूपकी एक प्रकारकी है। सभी चिदानन्दस्वरूप हैं। हम आप सबका स्वरूप एक चैतन्यमात्र है। जिन बातोंसे अन्तर पडा है हम उन बातोंको दूर करनेका प्रयत्न करें। तो यह अनादिकालकी अविद्या लगी है उसमे ये मिथ्यात्व पाप आदिक परिणाम पैदा होते हैं जो कि हमारी बरबादीके लिए हैं। ये सब परिणाम मुझसे दूर हों और मैं अपने सहजस्वरूपका अवलोकन करता रहू ऐसा यह अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष चिन्तन करता है।

सोऽहं सिद्ध प्रसिद्धात्मा दृग्बोधविमलेक्षण: ।
जन्मपङ्के चिर खिन्न: खण्ड्यमान स्वकर्मणा ॥१६२८॥

ज्ञानी पुरुष अपने आपके बारेमे ऐसा चिन्तन करता है कि यह मैं आत्मा सिद्ध हू। सिद्धके मायने अपने स्वरूपसे परिपूर्ण हू, अपने स्वरूपको लिए हुए हू, सहज सिद्ध हू, स्वत सिद्ध हूँ, भरा पूरा हू। इसमे कोई भो वस्तु अधूरो होतो ही नहीं, स्वरूप ही नहीं है। अधूरेका अस्तित्व क्या ? जो है वह पूरा है। जैसे कि लोकव्यवहारमें कह देते कि यह मकान अधूरा है इसको अभी आधा और बनवाना है इस तरहसे आत्मा अधूरा नहीं है। यही बात सभी पदार्थोंकी है। सभी पदार्थ स्वत सिद्ध हैं, परिपूर्ण हैं। इनका स्वरूप है चिदानन्दस्वरूप, सो हम आधे बनें, आधे न बनें ऐसा नहीं है। जैसे जो अभी दृष्टान्त दिया था कि यह मकान अधूरा है सो मकान कोई एक पदार्थ नहीं है वह तो यह बतानेके लिए कि लोग इसे आधी चीज मानते

है, इस तरहका कहीं पदार्थमे आधापन नहीं है। मकानमे भी आधापन नहीं, मकान कोई पदार्थ नहीं है। उसमे रहने वाले जो अणु है वे पदार्थ है और वे सब परिपूर्ण है चाहे किसी रूप परिणमे। तो यह मैं आत्मा सिद्ध हूँ, परिपूर्ण हू, स्वत सिद्ध हू। जिसका स्वरूप सिद्ध है प्रसिद्ध स्वरूप, क्या है वह प्रसिद्ध स्वरूप ? दर्शन ज्ञान ही हैं निर्मल नेत्र जिसके ऐसा। ये खम्भे है, यह चबूतरेकी जमीन है, और इसमे कुछ पार्क है कि नहीं, इनमे जानना देखना नहीं है, न ज्ञानदर्शन है, और सब कुछ समझते हैं। अभी कोई पुरुष किसी जीवको लाठी मार रहा हो कुत्तेको, बैलको, गायको, भैंसको, तो देखने वाले लोग दया करके कहते है कि भाई क्यो मारते हो ? और कोई आदमी चबूतरे पर हो कुछ लाठी ठनका रहा हो तो कोई आकर यह नहीं कहता कि भाई तुम चबूतरेपर लाठी क्यों मारते हो ? इस मारने वालेको भीतरमे इतना ज्ञान तो है ही कि चबूतरेमे ज्ञानदर्शन नहीं, और यह जीव इनको जानता देखता है, इनका दु ख होता है। दु ख-सुख कुछ नहीं है, ऐसा बोध है तब तो चबूतरेको पीटनेसे कोई नहीं रोकता। और जीवका लक्षण है वह प्रसिद्ध है, सब लोग जानते हैं। थोडा थोडा सभीको यह बोध है कि जीवका यह स्वरूप है। सो यह मैं आत्मा दर्शन ज्ञानरूपी निर्मल नेत्र वाला हूँ।

स्वरूपको देखो तो सब कुछ मामला तैयार है। कोई कमी नहीं है। अभी विकल्प छोडें और अभी आनन्द लूट ले। कुछ देर ही नहीं लगती। इतना तैयार बैठा हुआ है हम आप सबका आत्मा। आनन्दमग्न रहनेके लिए दृष्टि बदल ले अपनी, अपनी ओर उन्मुख करलें, भ्रम मिटालें, तुरन्त आनन्द मिल जायगा। और तुरन्त ज्ञानानुभव होगा। तो ऐसे तयार तो हम हैं, ऐसे उत्कृष्ट निधन तो हम हैं, पर चिरकालसे अपनी ही करतूतसे, अपने ही अपराधसे इस जन्म-मरण रूपी कीचडमे चिरकालसे खेदखिन्न हो रहा है। कैसा तो स्वरूप है और कैसी इसकी दशा बन रही है ? परमात्मतत्त्वका स्वरूप है हम आपका आनन्दमग्नताका, पर इसका खण्डन हो रहा है, दु खी हो रहे है, घबडा रहे है, विकल्पोंसे अपने आपको परेशान किए जा रहे हैं। मैं भी इस ससार कीचडमे अपने उपार्जित कर्मोंके कारण खण्डित हो होकर घूम रहा हू। खण्डन हो रहा है अपने ज्ञान और आनन्दका। हम जिस किसी भी पदार्थको जान पाते है, थोडा जान पाते हैं। ज्ञानका काम है स्पष्ट एक साथ सारे विश्वको जानले। इतना तो महान केवल ज्ञानरूप मेरा स्वरूप है पर खड खडरूप हो रहा है। मैं अश अश रूपमे जान पाता हू और आनन्द भी खण्डित हो रहा है। स्वरूप तो इसका ऐसा है कि यह अनुकूल रहे, किसी प्रकारका क्लेश न रहे, कोई दु ख न आये, मगर वर्तमान पर्याय देखो क्या बन रही है—चिन्ता, शोक, दु ख, विकल्प। अपने आपको इस व्यावहारिक जालमे फसाये है, केन्द्रित किए है सो आनन्दका घात हो रहा है। किसी भी विषयमे हम दृष्टि फसायें, किसी भी विषयका हम स्वादलें तो हमारा आनन्द खण्डित हो जाता है, एक थोड़ेसे मौजके रूपमे रह पाता है और बिगड जाता है। तो मैं अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप वाला हू पर परिस्थिति यह बन रही है कि मेरे ज्ञानका भी खण्डन है और मेरे आनन्दका भी खण्डन है। तो मैं ऐसा खण्डित हुआ इस जन्म जरा मरण रूप कीचडमे अनन्त कालसे खेदखिन्न हो रहा हू ऐसा ज्ञानी पुरुष अपने बारेमे चिन्तन कर रहा है। देखिये जब-जब लगाव रहेगा परपदार्थोंमे तब तक इसको आकुलता रहेगी ही, क्योंकि जिस किसी परमे हम अपना उपयोग फसायेंगे तो वह पर या तो हमे इष्ट जचेगा या अनिष्ट। जब हम परका ग्रहण करेंगे तो इष्ट अनिष्ट किसी भी स्थितिमे चैन न मिलेगी। अनिष्टके सयोगमे तो आकुलता ही बनी रहती है, चैन कहाँसे मिलेगी और इष्टके सयोगमे उससे अनुराग बढेगा उसके पीछे बडे-बड़े श्रम करने होंगे, बड़े-बडे कष्ट उठाने होंगे, लो वहाँ भी चैन नहीं मिलती। चैन तो तब मिलेगी जब समस्त पर-पदार्थोंको असार जानकर। विनाशीक जानकर उन्हे चित्तसे हटाया जाय और ज्ञान व आनन्दसे भरा हुआ अपना जो स्वरूप है उसकी ओर दृष्टि लगायी जाय।

आप यह कहेंगे कि ऐसा तो मुझे कोई नहीं दिखता जो परपदार्थोंका भिन्न जानकर उनकी उपेक्षा करे और अपने स्वरूपके देखते रहनेकी धुन बनाये। तो पहिला उत्तर यह है कि है पर विरले ही मनुष्य ऐसे

मिलते है और फिर उत्तर यह है कि नहीं है तो ठीक है न रहने दो। जो स्वरूपदृष्टि न रखेंगे वे दुःखी रहेंगे और जो अपनी सुध बनायेंगे वे शान्त रहेंगे, ये बाह्यपदार्थ बाह्य समागम सबके सब जबरदस्तीके कारण बनते हैं, अच्छे लग रहे हों तो, बुरे लग रहे हों तो, परका सम्बध इस जीवके अहितके लिए ही होता है। आज्ञा-विचय धर्मध्यानी ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि ये मेरे सब विभाव ये मेरे सब खण्ड खण्ड ज्ञान कैसे दूर हों? जो अपने आपके अखण्डस्वरूपका उपयोग बनाये रहू, यह उपाय मेरा बने – इस प्रकारका चिन्तन अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष कर रहा है। देखो जहाँ इन मिले हुए समागमोंमे यह बुद्धि बन रही है कि ये सर्व समागम मेरे अहितके लिए हैं, इनमे मेरेको क्या लाभ है? इन वैभवोमे इन जुटे हुए समागमोंमे इस मेरे आत्माका क्या लाभ है? ये सब दूर हों। ऐसी वियोगबुद्धिसे यह ज्ञानी पुरुष अपने आपका वास्ता हटा रहा है और अपने स्वरूपमें अपनेको लगा रहा है। मैं सिद्ध हू, परिपूर्ण हूँ, ज्ञानानन्द रसकर भरा हूँ, मेरा प्रसिद्धस्वरूप है, सच्चिदानद है, ऐसा अपने आपके परिपूर्ण स्वरूपका चिन्तन करे तो ससारके सकट हटानेका, रत्नत्रयके पालनका इसे अवसर मिलेगा। तो वही धर्म उसकी रक्षा करने वाला है जिस धर्मके लिए इस ज्ञानीने अपना जीवन माना है, और अपन तो इस शरीरको कायम रखनेके लिए मानते हैं। आजीविका करनी तो शरीरकी स्थिति बनानेके लिए ही करनी। तो उसे इतनी ही आजीविकासे प्रयोजन है जितनेमे इस जीवनका साधारणतया निर्वाह हो। अधिक नहीं चाहता वह ज्ञानी। बाकी अपना सब कुछ अपने धर्मपालन के लिए लगाना है ऐसा है ज्ञानी पुरुषका कार्यक्रम। विषयकषायोंसे दूर होकर अपने आपमे लीन होनेका उस ज्ञानीपुरुषका प्रयत्न है।

एकतः कर्मणां सैन्यमहमेकस्ततोऽन्यतः।
स्थातव्यमप्रमत्तेन मयास्मिन्नरिसंकटे ॥१६२९॥

ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि इस ससारमें एक ओर तो कर्मोंकी सेना है अर्थात् बहुत जबरदस्त कर्म हैं और एक ओर यह मैं अकेला हू तो ऐसी स्थितिमे इस शत्रुसमूहके बीचमें हमे बडा साव-धान होकर रहना चाहिए क्योंकि अपनी सुध न रख सकेंगे तो शत्रुसमूह मेरा पतन करेगा। अपायविचय धर्मध्यानमें ऐसा चिन्तवन चल रहा है कि मुझे यहाँ बडा सावधान रहना चाहिए याने विषय कषायोंमें हमारा उपयोग न जाय। मेरे उपयोगमें मेरा स्वरूप बसे, पचपरमेष्ठीका स्वरूप बसे जिससे विशुद्धता बढे। यदि मैं सावधान न रहूँगा तो मेरे खिलाफ ये समस्त कर्म हैं, मेरे स्वभावके खुदमें निमित्तभूत यह कर्मोंका समूह पडा है मेरे साथ, यह मुझे बरबाद कर देगा, इससे मुझे अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

निर्धूय कर्मसघातं प्रबलध्यानवह्निना।
कदा स्व शोधयिष्यामि धातुस्थमिव काञ्चनम् ॥१६३०॥

फिर ऐसा विचार करें कि जैसे मिट्टीमे मिला हुआ स्वर्ण अग्निसे सोधनेसे शुद्ध कर लिया जाता है इसी प्रकार मैं प्रबल क्षमा अग्निके द्वारा कर्मोंके समूहको नष्ट करनेमें अपने आत्माको सावधान रखूगा। भेद-आत्मरुचि इतनी बढी है ज्ञानी जीवके कि वह निरन्तर अपने आत्माकी सावधानीका यत्न करता है। भेद-विज्ञानकी प्रवृत्ति होनेसे यह आत्मरुचि बनती है। जब तक जीवको अपने इन्द्रियके किसी साधनसे या मन के किसी विषयसाधनसे कुछ मौज माननेकी बुद्धि रहती है तब तक आत्माकी धुन नहीं बनती। इन ६ विषयों से कुछ भी प्रीति रहती है तो आत्महितकी रुचि नहीं रहती। जब कभी ऐसी बात आये कि मन नहीं लगता आत्महितमे, चित्त नही लगता, उपयोग आत्मस्वरूपको ग्रहण नहीं करता, कितना ही प्रयत्न करते है पर अपना परमात्मस्वरूप अपनी दृष्टिमे नहीं रह पाता तो इसका कारण यह समझना चाहिए कि इन ५ इन्द्रियाँ और छठा मन—इन ६ विषयोमें कहीं कुछ रुचि और पडी हुई है। स्पर्शन इन्द्रियके विषयोंमे रुचि क्या? मोटे रूपसे तो यों कहते है कि ठढे-गरम आदिक स्पर्शकी रुचि रहना। जो कुछ भी भला लग रहा है इन

इन्द्रियोंके कारण उसे कठोर रूपसे देखा जाय तो वही बरबादीका कारण बन रहा है। कोई इन्द्रियविषयकी रुचि पडी हुई हो तो आत्महितमे चित्त नहीं जमता। रसना इन्द्रियके विषयोंमे आषक्त होना, अच्छा-अच्छा स्वादिष्ट खाने-पीनेकी रुचि करना यदि ये बाते चलती हैं तो इससे आत्महितकी रुचि नहीं बनती। इसी प्रकार घ्राणइन्द्रियके विषयमे देखो—लोग कितनी-कितनी तरहके इत्रफुलेल लगानेकी बात चित्तमे रखते है, इस बास सुवासकी वासनामे भी आत्महितकी बात चित्तमे नहीं आती। नेत्र इन्द्रियके विषयमे देखो—सनीमा-थियेटर आदि देखनेकी बात मनमे बनी रहती, सुन्दर सुन्दर रूप देखनेकी आकाक्षा बनी रहती, ऐसी हालतमे आत्म-हितकी बात कहा से आये ? यही हाल कर्णेन्द्रियका है। राग रागनीकी बात सुननेको चित्त बना रहता है, ऐसी स्थितिमे आत्महितकी बात सुननेकी आकाक्षा चित्तमे नहीं जमती। आत्महितकी धुन नहीं बन पाती। इसी तरह मनका विषय है। इसमे प्रधान विषय यह है कि अपनी नामवरीकी चाह होती है। दुनियामे अपना ख्यापन करना, लोग मुझे समझे इस प्रकारकी भीतरमे जो आकाक्षा है वह आत्महितमे प्रबल बाधक है। यों समझिये कि पूरा इस आत्मस्वरूपको ढके हुए परिणाम है। जिसका इन विषयोंमे परिणाम बना रहता है उसको यह नहीं सूझता कि ससार क्या है और यह मैं पर्यायवाला भी हूँ क्या ? ये सब विनाशीक ठाठ हैं, ये लोग भी कर्मोके प्रेरे नाना गतियोंमे भ्रमण करते हुए आज मनुष्यजीवनमे आये हैं। ये भी नष्ट होंगे, इनका भी मरण हो और यह मैं जो मनुष्यभवमे आया हू इस भवका भी मरण होगा। और मिलेगा कुछ नहीं। यों समझ लीजिए जैसे कहावत है कि सूत न कपास जुलाहासे लट्ठमलट्ठा। यहाँ तत्त्वकी बात बाहर में है कुछ नहीं और उन ही बाह्यपदार्थोसे सुखकी आशा करके उन ही के पीछे परेशान हो रहे है। जो पर-पदार्थोसे कुछ चाह रहे हैं उनको इस आत्मस्वरूपका मर्म कैसे मालूम पडे ? वह ज्ञानी धन्य है जिसने ज्ञान बलसे अपने आपके इस प्रकाशको पा लिया है, इस आनन्दको पा लिया है। जिसके कारण अब महत्त्वकी, नामवरी की, उसके कोई आकाक्षा नहीं रही है। वह ज्ञानी चिन्तन करता है कि कब वह क्षण होगा जब मैं प्रबल ध्यानरूपी अग्निके द्वारा इन कर्मोका शोधन करूगा और अपने आत्माको शुद्ध बनाऊंगा। आत्मशुद्धि मे यह ध्यान प्रबल साधक है। जहा अपने आपकी यह प्रतीति हुई कि यह मैं सहज ज्ञानस्वभावमात्र हू अन्य कोई मेरा रूप नहीं, इस मुझका कोई पहिचाननहार नहीं, इस मुझ सत्य स्वरूपको कोई जानता नहीं। तो किसको क्या बताना है ? इन्द्रिय और मनसे रहित होकर अपने स्वभावके निकट आकर अपनी रक्षा करना चाहिए। यद्यपि पूर्वबद्ध कर्मोके उदयसे बडी विकट समस्या है, मन नहीं लगता, चित्त नहीं जमता। कितनी ही जगह चित्त पहुचता फिर-फिरकर विषयोंमे चित्त जाता है, उसका फल क्या है कि बहुत-बहुत हैरान हो जाते हैं। कर्मोके भारसे ये जीव बहुत-बहुत दबे हुए है फिर भी इन कर्मोसे छूटकर अपना उत्थान करे यह बात चित्तमे नहीं आती। अनादिकालसे इस जीवकी बरबादी ही रही। फिर भी कल्याणका उपाय किए बिना आत्माका हित नहीं है। मैं कब प्रबल धर्मध्यानरूपी अग्निके द्वारा इन कर्मोसे छूटूंगा और अपने आत्माको शुद्ध बनाऊगा, ऐसा यह अपायविचय धर्मध्यानमे ज्ञानीपुरुष चिन्तन कर रहा है।

किमुपेयो ममात्माय किवा विज्ञानदर्शने ।
चरणं वापवर्गाय त्रिभि सार्द्ध स एव वा ॥१६३१॥

ज्ञानी पुरुष अब ऐसा विचार कर रहा है। प्रश्न करता जाता है, उत्तर लेता जाता है। उपेय क्या है अर्थात् अत्यन्त ग्रहण करने योग्य मूल बात क्या है ? उत्तरमे आया कि यह आत्मा ही उपेय है। किसकी शरण जाये, किससे स्नेह बढाये, किसका हाथ पकडे, किससे आशा रखे कि यह मेरा भला कर देगा, उत्थान कर देगा ? कोई नहीं है ऐसा जिसकी आशा रखी जाय कि यह मेरा उत्थान करा सके। कहा जाये ? बाह्यमे पचपरमेष्ठी शरण है। तो वे भी इस प्रकार शरणमे निमित्त भर बन पाते हैं कि मेरे आत्माकी सुध आये, मेरा परिणाम निज परमात्मतत्त्वमे समा जाय, इस लिए परमेष्ठीका गुण स्मरण शरण है, इस कारण शरण माने

जाते हैं। साक्षात् तो वे भी कहीं मेरा हाथ पकड कर मोक्षमें न बैठायेंगे ? किसकी शरण जायें ? कौन उपेय है ? ज्ञानी पुरुषको अन्तरात्माका समाधान मिलता है कि यह मेरा आत्मा ही उपेय है अथवा ज्ञानदर्शन ही आत्मा है। अपने आपके आत्माको किस रूपमे ध्याया जाय कि आत्मानुभूति बन सके ? पदार्थका निरखन ४ प्रकारसे होता है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। पुद्गलमे देखें तो चारोंसे पुद्गलका ठीक निर्णय होता है। जैसे द्रव्यसे कोई चीज कैसी है ? पिण्डरूप। चश्मा कैसा है ? अभी दिखा दो ऐसा है पिण्डसा है द्रव्यदृष्टिसे वह देखो। क्षेत्रदृष्टिसे जितना लम्बा, चौडा, मोटा जिस प्रकारके आकारको लिए हो पदार्थ वह देखो, कालदृष्टिसे पदार्थकी जो वर्तमान परिणति है, क्षेत्र विस्तारकी परिणति, गुणकी परिणति, जो परिणति है वह परिणति दिख गई, पर्याय दिख गई। और भावदृष्टिसे उस पदार्थमे जो स्वभाव बसा है वह देखा गया। इसी प्रकार आत्मामे भी हम इन चारोंमे से कुछ निरख लेते हैं, द्रव्यदृष्टिमे तो गुणपर्यायका पिण्ड देखो। यह द्रव्य दृष्टिमे मिला। क्षेत्रदृष्टिसे निरखनेपर आत्मा जितने विस्तारमे है पैरोंसे लेकर शिर तक उतना इसको क्षेत्र रूपमे मिला। काल द्रव्यसे आत्मा जैसा प्रदेशोंकी परिणतिमें है अब और गुणोंके स्वभावमें है उस रूपसे निरखनेको मिलता है और इस दृष्टिसे आत्मा आत्मस्वभावरूप आत्मशक्ति रूप है। ज्ञानदर्शन रूप देखनेको मिलता है और इसी कारण आत्माको चार जगह बताया गया है। एक तो तत्त्वोंमें गिनाया है जीवतत्त्व, अस्तिकायको गिनाया है जीवास्तिकायतत्त्व, पदार्थमे गिनाया है जीवपदार्थ और एक जीवद्रव्य। इनमें से कालकी दृष्टिसे तो जीवद्रव्य है क्योंकि यहाँ जीवका अर्थ है जो पर्यायको ग्रहण किया था वह द्रव्य है। तो यह कालदृष्टिसे बना जीव पदार्थ शुद्ध दृष्टिसे बना, क्योंकि पदार्थमें पिण्डरूप ग्रहण है और क्षेत्रमें जीवास्तिकाय बना और भावदृष्टिसे जीवास्तिकाय बना। तो जब हम इस जीवको एक लम्बे चौड़ेके रूपमें ज्ञान करते हैं तो अनुभूति नहीं बनती। जब हम अनेक गुण पर्याय पिण्ड हैं, यह आत्मा ऐसी दृष्टिमें लगता है तब भी अनुभूति नहीं बनती। यह अनेक पर्यायोंमें बसने वाला है, इस प्रकारकी मुख्यतासे दृष्टिको लेना तब भी अनुभूति नहीं बनती, किन्तु जब हम जीवतत्त्वके रूपसे चैतन्यस्वभावके रूपसे सहज ज्ञानदर्शनके रूपमें जब हम अपनेको ग्रहण करते हैं तो अनुभूति जगती है, इसका कारण यह है कि अनुभव करने वाली चीज है ज्ञान और ज्ञानस्वभाव है जीवतत्त्व। वही ज्ञानस्वभाव ज्ञानके द्वारा ज्ञानमे आये तो ज्ञानानुभूति बनती है और ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है। हम अपने आत्माका अनुभव करनेके लिए इस तरह निरखें कि मैं ज्ञान ही हू, ज्ञानस्वरूप हू, केवल ज्ञानमात्र अपने आपको निरखें, ऐसा ही यत्न करें कि मैं अपनेको केवल ज्ञानप्रकाशरूप अनुभव कर सकू, तो यही है स्वानुभूतिका उपाय।

भैया ! अपने अन्त सोचिये—उपेय हुआ मेरा आत्मा। तो आत्मा भी किस प्रकार है ? केवल ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यस्वरूपमात्र। जिस स्वरूपकी अनुभूतिकी मुख्यता देनेके लिए सांख्योंने केवल आत्माको चैतन्य स्वरूपमात्र माना है, ज्ञानदर्शसे न्यारा माना है। ज्ञानदर्शनको जीवका स्वभाव नहीं माना है सांख्योंने। ज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन कर रहा है कि उपेय क्या चीज है ? ग्रहण करने योग्य क्या है ? मेरा शरणभूत, मेरा रक्षक कौन है ? तो वह अपने आत्माको ही अपना शरणभूत व रक्षक पाता है। वह आत्मा है ज्ञानदर्शन सामान्यस्वरूप। ज्ञान जो विशेष-विशेष रूप जानता है तद्रूप नहीं, किन्तु सहज ज्ञान हुआ आत्माका स्वरूप। मैं ज्ञानमात्र हूँ केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ—इस प्रकार अपनेको देखें तो आत्मा ग्रहणमे आ सकता है। इस ग्रहणको मुख्य बनानेके लिए सांख्योने आत्माका स्वरूप ज्ञानरूप नहीं माना किन्तु एक चैतन्यमात्र माना है। और इस ज्ञानको प्रकृतिका धर्म माना है, किसी पदार्थका धर्म नहीं माना। इतना अधिक अन्तर सांख्योंने इस लोभ से कर दिया है कि मेरेमें कोई विकल्प न जगे, ज्ञानकी तरगें भी न उठें। मैं केवल एक निस्तरग रहू, परदृष्टि बनाये रहू, लेकिन यह विचार न कर सके वे सांख्यजन कि ज्ञान जो तरगित है, विकल्परूप है वह ज्ञानकी एक विकार दशा है। ज्ञानका शुद्ध परिणमन, ज्ञानकी शुद्ध अवस्था निस्तरग है। यदि अपने आपको ज्ञानदर्शन रूपमे निरखें तो आत्माका अनुभव होगा और स्पष्ट समझमे आयगा कि यह मेरा आत्मा उपादेय है। क्या उपेय है

मोक्षके लिए ? उसके उत्तरमें समाधान चल रहा है। मोक्षके लिए चारित्र बताया है। चारित्रमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान गर्भित हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित स्थितिमे सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति होती है। तो चारित्र मायने है अपने आत्माके स्वरूपमे चर्या करना, अत्यन्त स्थिर होना। यह तत्त्व जब तक नहीं बन सकता तब तक आत्माके इस स्वरूपकी दृष्टि नहीं होती, और यह स्वरूप उपयोगमे न आये तब तक इस स्वरूपमें उपयोग स्थिर हो जाय ऐसा चारित्र नहीं बन सकता, इस लिए चारित्र बताया ऐसा कहनेमे सब आया अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनों सहित आत्मा ही उपादय है। अपाय-विचय धर्मध्यानी पुरुष इन कर्म शत्रुवोंके, रागादिक भावोंके, विनाशके लिए चिन्तन कर रहा है कि मेरे इन रागादिक विभावोंका विनाश कैसे हो जो अनादि वासनासे मेरी बरबादी करते चल आ रहे हैं।

कोऽहं ममास्रवः कस्मात्कथं बन्धः क्व निर्जरा ।
का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यते ॥१६३२॥

यह ज्ञानी पुरुष विचार कर रहा है कि मैं कौन हू ? कोई आदमी बाहर से अपने घरका दरवाजा खटखटाये, घरके लोग पूछें कौन ? तो वह उत्तर देता है—कोई नहीं। उसका अर्थ यह है कि जिसका यह घर है, जिसका जो मालिक है, जो इसका विशुद्ध अधिकारी है, उसके सिवाय दूसरा कोई नहीं। इसी प्रकार मैं कौन हू ? इसका यदि सही उत्तर सोचा जाय तो यह कहनेको मिलेगा कि जो कभी मिट न सके, जो मेरा अभीष्ट सहजस्वरूप है जिसके बिना मेरा अस्तित्त्व नहीं ऐसा वह मैं कौन हू ? इस रूप नहीं कि जो मैं प्रतिष्ठा-वाला, व्यापार आदिक करने वाला हू वह मैं कौन हू ? तो सही समाधान भी लेते जाइये। मैं सहज ज्ञान-दर्शनस्वरूप चैतन्यतत्त्व हू, इसका कुछ नाम भी नहीं। मेरा जो स्वरूप है उसका नाम क्या ? नाम भी कुछ रखलें तो उसका महत्त्व क्या ? क्योंकि जो भी स्वरूपका नाम रखूंगा वह नाम सभी जीवोंका पड़ेगा। पर-मार्थसे जैसा मेरा स्वरूप है, जो मैं आत्मा हूँ उसका यदि नाम धरें तो सबका वही नाम है। जीव नाम रखे तो जीव सभीका नाम है, आत्मा नाम रखें तो आत्मा सभीका नाम है। यदि एक ही नाम सबका हो जाय मानो सभीका नाम घसीटामल हो जाय तो फिर कौन यह चाहेगा कि इस लोकमे मैं अपना नाम बढाऊं ? इस नामके ही कारण लोग धनिक बनने, लोगोंमे अपनेको अच्छा कहलवानेकी चाह करते हैं। इस मुक्त आत्माका तो कुछ नाम ही नहीं है ऐसा नाममात्र इतना शुद्ध तत्त्व मैं हूँ। मेरेमे कर्मोंका आश्रव क्यों होता है ? अब ऐसा चिन्तन ज्ञानी पुरुष कर रहा है। कर्मोके आस्रवके जो उपाय है, जो कि ग्रन्थोंमे लिखे हैं, कुछ अपने पूर्व अनुभवसे भी सोचें—क्यों कर्मोका आस्रव होता है ? तो उसका सीधा समाधान है मोह रागद्वेष रूप जो परिणाम होते हैं उनसे कर्मोंका आस्रव होता है। ससारके किसी भी प्राणीसे, किसी भी परपदार्थसे मेरा कोई नाता नहीं। अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं सब, मेरे प्रदेशोंसे अत्यन्त न्यारे है, मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें हूँ वे सब अपने द्रव्य, क्षेत्र, कालभावमे हैं। हम अपने ही प्रदेशोंमे अवस्थित हैं और वे सब अपने ही प्रदेशोंमे अवस्थित है। जिस क्षेत्रमे मैं हूँ उस ही क्षेत्रमे अनन्त अन्य द्रव्य बस रहे हैं। यह मैं आत्मा अपने आपमे अपना अनुभव करता हू। मेरा मेरे सिवाय किसी अन्यसे कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी पदार्थ मुझसे अत्यन्त पृथक् द्रव्य हैं। लेकिन उनमेसे कुछ छटनी कर डालना कि यह वैभव मेरा है यह परिवार मेरा है, ये लोग मेरे हैं, इस प्रकारकी छटनी कर डालना यह महाव्यामोह है अज्ञान है। इसी व्यामोहके कारण कर्मोंका आस्रव होता है। यद्यपि कर्मोंका आस्रव साधारण रागद्वेषसे भी होता है। उस आस्रवकी कथनी हम कह रहे हैं और ये आस्रव भविष्यमे हमे ही बरबाद करते हैं ऐसा चिन्तन ज्ञानी पुरुष कर रहा है। कर्मोंके आस्रवका कारण बताया है स्नेहभाव, परका आकर्षण। जहां स्नेह हुआ कि वहीं कर्मोंका बन्ध हो गया। जैसे कोई पहलवान शरीरमे तैल लगाकर हाथमे तलवार लेकर धूल भरे मैदानमें कदलीके वृक्षोंको काटनेका व्या-याम करता है तो उसका सारा शरीर धूलसे भर जाता है। वहाँ पूछा जाय कि भाई उसका शरीर धूलमे क्यों

भरो तो क्या उसका उत्तर होगा ? उत्तर यह होगा कि उसने अपने शरीरमे तेल लगाया इससे उसका शरीर धूलसे भर गया। कोई कहे कि तलवार लेकर उसने कदलीके वृक्षोंका काटनेका व्यापार किया इसलिए उसका शरीर धूलसे भर गया, कोई कुछ कहेगा कोई कुछ। पर उसका अन्तिम सही उत्तर यह है कि उसके शरीरमें स्नेह अर्थात तेल लगा था इसलिए धूलसे उसका शरीर भर गया। इसी प्रकारसे इस ससारी जीवके कर्मोंका बन्धन स्नेहभावके कारण होता है। परपदार्थोंमे स्नेह बुद्धि है इसलिए कर्मोंका बध होता है। ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि कैसे आस्रव होता, कैसे बध होता जिससे उन उपायोंको किया जाय और ये रागादिक शत्रु दूर हो जायें। और भी चिन्तन करता है कि इन कर्मोंकी निर्जरा किस कारणसे होती है ? स्नेह न रहे तो ये कर्म झड जायें। जैसे स्नेह न रहे, तेल उस पहलवानके शरीरमे न लगा रहे तो उसके शरीरमें धूलका बध न हो, ऐसे ही मेरेमे यह स्नेहभाव न रहे तो कर्मोंका बध न हो। स्नेह न रहे, केवल ज्ञानमात्र रह जाय यह उपयोग तो ये कर्म झड जायेंगे। यही निर्जराका उपाय है। और भी वह ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है कि मोक्ष क्या वस्तु है ? तो मोक्ष समस्त अनात्मतत्त्वोंसे छुटकारा पानेका नाम है। केवल मैं रह जाऊं, कैवल्य प्राप्त हो जाय, अपने आपकी श्रद्धा बने कि मैं केवल यह हू और उस ही कैवल्यको उपयोगमें ले तो कैवल्य प्रकट हो सकता है। उसीके मायने मुक्ति है। और यह चिन्तन भी कर रहा है कि मुक्त होनेपर आत्माका क्या स्वरूप रह जाता है ? विशुद्ध ज्ञान विशुद्ध दर्शन, अनन्त आनन्द अनन्त शक्ति ये प्रकट हो जाते हैं और यों एक शब्दमे कहो कि कैवल्य प्रकट हो जाता है। आत्माके अस्तित्वके कारण आत्माका स्वरूप परिपूर्ण प्रकट हो जाता है। जो था वह प्रकट हो जाता है। इस ही विधिसे जानने वाला इस विशाल परमात्मतत्त्वका यह दर्शन करता है प्रतिभास करता है, अनन्त आनन्द प्रकट होता है जहाँ रचमात्र भी आकुलता नहीं रहती और इन समस्त गुणोंके विकासको धारण करनेकी शक्ति प्रकट हो जाती है जिससे फिर कभी भी इन गुणोंका विकास दूर न हो। यों अनन्त चतुष्टय सम्पन्न यह आत्मा रह जाता है मुक्त होनेपर। ऐसा अपने स्वरूपका चिन्तन कर रहा है यह आपायविचय धर्मध्यानी पुरुष। जिससे मुक्तिके उपायमे लगे और रागादिकके अपायका विचय बने ऐसा उत्कृष्ट ध्यान यह ज्ञानी पुरुष कर रहा है।

जन्मनः प्रतिपक्षस्य मोक्षस्यात्यन्तिक सुखम् ।

अव्याबाध स्वभावोत्थ केनोपायेन लभ्यते ॥१६३३॥

अपायविचय धर्मध्यान करने वाला ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार कर रहा है कि ससारका प्रतिपक्षी जो मोक्ष है उस मोक्षका जो अविनाशी आनन्द है वह किस उपायसे प्राप्त होता है। मोक्ष और ससार ये दो ही जीवकी अवस्थायें हैं, या ससारमे तो क्लेश ही क्लेश है। माननेका सा मौज है और दु ख देखो तो मौजमे भी दु ख है। इस ससारमे तो दु ख ही दु ख है और मुक्तिमे देखो तो आनन्द ही आनन्द है। आत्मा तो आत्मा ही है। आनन्दमें बाधा आ रही है कर्मोंका निमित्त पाकर। अपना परिणाम सम्हले, कर्मोंका निमित्त हटे तो आनन्द ही आनन्द है। दु ख बनावटी है और आनन्द स्वाभाविक है। मुक्त अवस्थाका जो स्वाभाविक आनन्द है वह आनन्द कैसा होता, इसका विचार कर रहा है ज्ञानी पुरुष। मुक्तिका आनन्द बाधा रहित है स्वभावसे उत्पन्न है। सम्यग्दृष्टि पुरुषको इस मोक्षके आनन्दमें श्रद्धा है नहीं तो मोक्षमार्ग क्या चले। मोक्षमे आनन्द है इस बातकी जरा भी सुध न हो तो मोक्ष कैसे प्राप्त करेंगे ? तो भव्य जीवके सम्बध में यह भी कहा है कि जिसने रुचिसे मोक्षकी कथा भी सुनी वह भव्य है, और भव्यके सम्बधमें निश्चित रूप से यह भी बताया है कि जिसे मोक्षके आनन्दकी श्रद्धा नहीं है वह भव्य नहीं, सम्यग्दृष्टि नहीं। जिसे मुक्ति के आनन्दकी श्रद्धा है वह भव्य है, सम्यग्दृष्टि है, कुछ ही कालमे मुक्त होगा। जहाँ तत्त्वके सम्बधमे उल्टी श्रद्धाका वर्णन है, जिस जीव तत्त्वके बारेमें अज्ञानी उल्टा श्रद्धान रखता है कि जीव तो है अमूर्तिक, पर ऐसा न जानकर जडरूप मान रहा है, यह तो जीवतत्त्वके विषयमें उल्टी श्रद्धा है। जीवतत्त्वके बारेमे उल्टी श्रद्धा

है, देहके नष्ट होनेको ही अपना विनाश और देहके उत्पन्न होनेको अपनी उत्पत्ति समझता है। मैं मरा, मैं जिया, इस प्रकारकी उल्टी श्रद्धा रखता है। कोई श्रद्धान है तो दुखदायी पर उसे सुखकारी मानता है। रागादिक भाव ये हैं दुखदायी, मगर इन्हे सुखका साधन मानता है। बधके बारेमे कैसी उल्टी श्रद्धा है कि शुभ बध हो तो उसके फलमे यह चैन मानता और अशुभ बध हो तो उसके फलमें यह क्लेश मानता। बधमें इसने दो विभाग बना डाले—एक सुख माननेका और एक दुख माननेका। ऐसा ही उल्टा श्रद्धान सम्वरके बारेमें है कि सम्वर है सुखदायी, विषयकषायोंके विमुख और आत्मस्वभावके सम्मुख जो परिणाम है वह है सुखदायी, पर उसे दुखदायी मानता है क्योंकि विषयकषायमे इस मिथ्यादृष्टि जीवकी वासना लगी है तो उससे विपरीत है यह सम्वर तत्त्व, इसमें कष्ट समझना है। जैसे बहुतसे लोग आनन्दमे कष्ट मानते हैं। तो वह निर्जरामे उल्टी श्रद्धा करता है। निर्जरा होती है चाह रखनेसे। ज्ञानी जीव तो इच्छाके निरोधमे आनन्द मानता है, उसे अपना परम कर्तव्य समझता है पर अज्ञानी जीव इच्छाको नहीं रोक सकता। इच्छाके विरुद्ध कुछ बात घटे तो उसमे संक्लेश करता और इच्छाकी पूर्तिके माफिक चीजके मिलनेमें अपना हित समझता। यह है उल्टी श्रद्धा। और मोक्ष तत्त्वमे क्या उल्टी श्रद्धा है इस अज्ञानीको कि वह मोक्षके आनन्द को वास्तविक आनन्द नहीं मानता, उसे तो सासारिक चीजें ही रुचिकर लगती है। तो प्रकरणमे यह कहा जा रहा है कि ज्ञानी जीव इस प्रकारका ध्यान करता है कि मुझे मुक्तिका आनन्द कैसे प्राप्त हो? कैसे प्राप्त हो यह बात आचार्य सतोंने बताया है, पर उसकी प्राप्ति होगी उस मार्गपर चलनेसे। हमे मुक्तिके आनन्दका श्रद्धान चाहिए, ज्ञान चाहिए व आचरण चाहिए। पर्यायदृष्टिसे नही, पर्यायदृष्टिसे तो जीव कर्मबन्धनमे पड़ता है। जो आनन्द मुक्त स्वभावरूप है उसकी श्रद्धा करने रूप अपनेको तकां तो वह आनन्द प्राप्त होगा जिसका पूर्ण विकास मोक्षअवस्थामे है। तो मोक्षका आनन्द बाधारहित है, स्वभावसे उत्पन्न है ऐसा यह ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है और यही चिन्तन उसका धर्मध्यान है।

मय्येव विदिते साक्षाद्विज्ञात भुवनत्रयम्।
यतोऽहमेव सर्वज्ञः सर्वदर्शी निरञ्जनः ॥१६३४॥

फिर यह ज्ञानी ऐसा चिन्तन करता है कि उस स्वरूपको जाननेसे मैंने तीनों भुवन जान लिया। परमात्मस्वरूपका परिचय हुआ तो मैंने सब कुछ जान लिया। इसके दो मर्म है – एक तो जब स्वरूपका परिचय होता है तो ऐसा सहजविकास होता है कि समस्त विश्व हमारे ज्ञानमे झलक जाता है। दूसरा मर्म यह है कि इस स्वभावका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन तो आनन्दप्राप्तिका है, सो अपने स्वरूपको जानें, उस ही में रमें तो वह सहज आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि जो प्रयोजन है, परम इष्ट है उसकी प्राप्ति हो जाती है। ज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन कर रहा है कि मैंने अपने स्वरूपका जाना तो साक्षात् समस्त चित् जान लिया यों समझिये। कारण कि यह मैं ही तो सर्वज्ञ हूँ, सर्वदर्शी हू, कर्मकलक आदिकसे रहित हू। कोई चीज प्रयत्नसे कर लें, उसका फल पानेमे थोडी देर भी हो पर उसका फल मिलना निश्चित है। तो ऐसे विशुद्ध आत्माके जाननेका फल यह है कि यह आत्मा सर्वदृष्टा बने। समस्त विभाव नोकर्म द्रव्यकर्म इन सब कलकोंसे मुक्त हो यही है आत्माके जाननेका फल। सो यही रूप मैं आत्मा हू तो अब यह निर्णय करना है कि बस मैंने सब कुछ जान लिया। अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष इस प्रकारके चिन्तनमे जान ले तो समझो कि वह सब विश्व को जाननेका उपाय बन चुका।

एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धा ॥१६३५॥

एक भाव सर्वभावोके स्वभावरूप है और समस्तभाव एक भावके स्वभावरूप है। वह एक भा कौन? निज ज्ञानतत्त्व। यह ज्ञानतत्त्व भाव ऐसा है कि जिसमे समस्त विश्वके पदार्थ प्रतिबिम्बित हो

हैं अर्थात् विश्वका यह ज्ञानभाव बन जाता है। ज्ञान ज्ञेयाकार बनता है, अर्थात् ज्ञानका ऐसा स्वभाव है, स्वभाव ही ऐसा है कि जो सत् हो दुनियामें उसे यह ग्रहण करले, तो आत्माका एक ज्ञानभाव ऐसा है कि जहाँ समस्त पदार्थ प्रतिविम्बित हो जाते हैं उन पदार्थों के आकाररूप आत्मामें आनन्द हो जाता है। और ये सब भाव इसके ज्ञानानन्द हैं, ये सभी भाव ज्ञानके कारण बनेंगे। इस कारण यह कहना यथार्थ है कि एक भाव सब भावोंके स्वभावरूप है और यह ज्ञान सारे विश्वको स्वभावरूप जानता है। जैसे दर्पणके सामने बीसों चीजें रखी है तो वे सभी की सभी चीजें उस दर्पणमें प्रतिबिम्बित हो जाती हैं, वह दर्पण नानारूप नहीं बनता है, ऐसे ही एक भाव यह चैतन्यमात्र सर्वभावोंके स्वभाव रूप है अर्थात् इसमें समस्त विश्व प्रति-विम्बित है क्योंकि ज्ञान ही आत्मा है और ज्ञान ज्ञेयाकाररूप होता ही है और गुण ज्ञेयाकार रूप होगा वह आत्माकी जितनी दुनियामें सब सत पदार्थ हुए। समस्त सत् पदार्थ रूप होनेसे इन भावोंसे आत्माको कहा है। प्रयोजन यह निकला कि हम अपने स्वभावको भली प्रकार जानते रहें। उपयोगके मायने तो यह हैं एक आन्तरिक तप। तो मैं हूँ ज्ञानरूप हू, ज्ञान ज्ञेयाकार होता। इस ज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थों को हम एक साथ जान लेते हैं। और चूकि अपने ही ज्ञानसे उस ज्ञानको जाना तो उस जाननको निरन्तर बनाये रहते हैं।

यावद्यावच्च सबन्धो मम स्याद्बाह्यवस्तुभि ।
तावत्तावत्स्वयं स्वस्मिन्स्थितिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ।।१६३६।।

ऐसा ज्ञान-ध्यान करता है यह ज्ञानी जितना जितना भी सम्बध मेरा बाह्यपदार्थोंके साथ होगा उतना-उतना यह मैं स्थित हो सकता हूँ यह बात क्यों बनेगी? स्वप्नमे भी मकट है। देखिये स्वप्नमें जैसे बाह्यपदार्थ देखनेमें आते हैं जगल देखा, तालाब देखा, रीछ आदि देखा, ये सब देखनेमे आते हैं तो क्या किया स्वप्नमे कि स्वप्नमें हमने कुछ बाहरी पदार्थोंको जाना, ऐसे ही स्वप्नमे आत्मपदार्थको भी जान सकते हैं, क्योंकि इनके जाननेका काम है। और बाह्यपदार्थ हमने जान लिया तो अपने आप स्वरूपका ज्ञान ही स्वप्नमे किया जा सकता है। हाँ इतनी बात है शुरूवात न होगी। स्वप्नमे अपने आत्माको जानें तो आत्माका अनुभव स्वप्नमें भी हो जाता है, मगर जो सम्बध बाह्यपदार्थोंसे लगा हुआ है जितना-जितना सम्बध लगा हुआ है उतना यह अपनेमे स्थित नहीं हो सकता। इसके लिए जान जानकर यह प्रयत्न करना चाहिए कि विषयकषायोंके साधनभूत परद्रव्योंसे हटें, और यह हटता भी है। ऐसी भावना करता हुआ यह ज्ञानी बाह्य-पदार्थोंसे दूर हो रहा है और जितना बाह्यपदार्थोंसे दूर हो रहा है उतना ही वह अपने आनन्दका लाभ कर रहा है।

तथैवैतेऽनुभूयन्ते पदार्थाः सूत्रसूचिता. ।
अतो मार्गेऽत्र लग्नोऽह प्राप्त एव शिवास्पदम् ।।१६३७।।

यह ज्ञानी पुरुष फिर ऐसा विचार करता है कि चारित्र सूत्रमे जो पदाथ कहे गए हैं वे वैसे ही अनुभव किए जाते हैं और जैसा कहा है वैसा ही किया है। जिनेन्द्रदेवने जसा उपकार किया है, पदार्थका जो जो स्वरूप बताया है, जिस प्रकार बताया है अनुभव करनेपर युक्तिसे नियत करनेपर वह सब वैसाका ही वैसा रहता है। जिनेन्द्रदेवने वस्तुका जो स्वरूप बताया है वह सत्य सिद्ध होता है। और जब मैं जिनेन्द्र देवके बताये हुए मार्गमे लगा हू तो मैंने मोक्ष प्राप्त कर ही लिया ऐसा मैं मानता हू। जो सच्चे दिलसे बाह्य-पदार्थोंसे अपना हित न मानकर, बाह्यवस्तुवोंसे रागद्वेषका सम्बध न बनाकर अपने आपके स्वरूपमे जो रमना चाहता है उस पुरुषने वह मार्ग प्राप्त किया और अनुभव करता है कि मोक्ष अब कितनी दूर है, मोक्ष पा ही लिया है। जैसे कोई किसी नगरको जा रहा हो और चलते-चलते जब बिल्कुल निकट पहुच जाता है तो यह अनुभव करता है कि अब तो मैंने उस नगरको पा ही लिया, ऐसे ही मोक्षमार्गका रुचिया ज्ञानी पुरुष

जिनेन्द्रदेवके बताये हुए मार्गमे लगा हुआ निरखता है तो यह भाव करता है कि अब तो मेरा मोक्ष हो ही चुका।

इत्युपायो विनिश्चेयो मार्गाच्यवनलक्षणः ।
कर्मणां च तथापाय उपायश्चात्मसिद्धये ॥१६३८॥

इस प्रकार पूर्वोक्त मार्गसे न उत्पन्न, ऐसा जो उपाय है उसीका ही निश्चय करना है, वैसा ही कर्मोंका विनाश निश्चय करना है। इस प्रकार अपायविचय और उपायविचय दोनोंका चिन्तन यह ज्ञानी पुरुष कर रहा है। जहाँ विनाशका चिन्तन है, रागादिकभाव विनष्ट होते हैं तो आत्माका शुद्ध स्वरूप विकसित होता है। अपना चैतन्यस्वरूप जाननेका उपाय बनाना और उस उपायकी सुधि बनाना यह भी धर्मध्यान है और रागादिकभावोंके विनाशकी स्थिति सोचना और उस प्रकार विनाशमे अपना प्रवर्तन करना सो भी अपाय-विचय धर्मध्यान है। अपाय और उपाय दोनों एक साथ लगे हैं। तो ये सब बाह्यसाधन समागम बनाना सो उपाय है और दोषोंकी खबरका चिन्तन करना ऐसा उपाय, ये आत्मसाधकके लिए दोनों बातें करनी पड़ती है। इन रागादिक वैरियोंका विनाश कब हो सकता है जब कि अपने आत्मामे विराजमान तत्त्वका अवलोकन किया जाय। जो ध्यान गुणोंको ग्रहण करे वह अपायविचय नामक धर्मध्यान है। किसी चीजके विचारनेपर किसी तत्त्व का अपाय भी होता है। उपाय और अपाय ये जीवमे सर्वथासे लगे हैं, उपेय और उपाय लगा है तो उसका नाम है उपेय और अपाय लगा है तो उसका नाम है अपाय। रागादिक दूर हों, ज्ञानप्रकाश बने तो उसमे आत्मा की सिद्धि हो है। और जैसे-जैसे उपाय बनता है वैसे ही वैसे अपाय बनता है और जैसे अपाय बनता वैसा उपेय भी बनता। इस उपेयमे कोई आशका करे कि पहिले उपाय बन जायगा कि अपाय, याने ज्ञानका विकास होता उसे निश्चय समझिये और रागादिक भावोका दूर होना इसे अनिश्चय समझिये। तो गुणविकास पहिले होगा? फिर रागादिक भावोंका अभाव होगा। रागादिकका अभाव होगा तो आत्माका लाभ होगा। विचार करनेपर दोनों बाते सही है और उसमे ऐसी छटनी मानकर मत रहो कि प्रथम उपेय होगा, पीछे अपाय बन सकेगा। थोड़ा-थोडा दोनों एक साथ होते है। फिर उसमे किसीकी दृष्टि मुख्य हो जाय यह बात अलग है। तो आत्मलाभके लिए ज्ञानी पुरुष उपायका विचार कर रहा है।

इति नयशतसीमालम्बि निर्धूतदोष,
च्युतसकलकलङ्कं कीर्तितं ध्यानमेतत् ।
अविरतमनुपूर्वं ध्यायतोऽस्तप्रमादं,
स्फुरति हृदि विशुद्धे ज्ञानभास्वत्प्रकाश ॥१६३९॥

आचार्यदेव कह रहे हैं कि पूर्वोक्त प्रकारका अपायविचय धर्मध्यान है, वह सैकडों कर्मोको नष्ट करने वाला है। कर्मोका कैसे विनाश हो, रागादिकका कैसे विनाश हो, ज्ञानभावमे जो अस्थिरता चलती है उसका कैसे विनाश हो? यों अलग-अलग दृष्टियोसे, अलग-अलग नयोंसे अलग-अलग अपायविचय धर्मध्यान मे ज्ञानकी बात रहती है। कर्म कैसे नष्ट हों इनकी शिखर चलती रहती है। तो सैंकड़ों नयोंकी सीमाका आलम्बन इस बातमे बसा हुआ है। जिन्हे नयोका ज्ञान नहीं है वे पदार्थोका यथार्थ निर्णय नहीं कर पाते। तो यह ध्यान कैसा है जो धर्मध्यान सैंकडों नयोंकी सीमाका आलम्बन करता है और निर्धूत दोष दोषोंसे रहित है। इस अपायविचय धर्मध्यानकी प्रशसा कर रहे हैं। यह अतिम श्लोक है, यह सैंकडो नयोंका आल-म्बन करने वाला है, किन्तु शरीरका विनाश तरगोंसे चलता है। सूक्ष्म-सूक्ष्म जो ज्ञानभाव उठते हैं। इनकी भांति यों अपायविचयमे अनेक कुतत्त्वोंका अनात्म तत्त्वोंका अपाय विचारा जाता है, उसके लि अनेक नयों का आलम्बन लेना होता है। इस अपायविचय तत्त्वज्ञानीने अपनेसे ऐबोंको हटाया है, उसे अपने सर्वकल

रहित आत्माका श्रद्धान है। वह तत्त्व श्रद्धानी चिन्तन करता है कि मेरे आत्मामे किसी भी प्रकारका कलक नहीं है। कलक होता है विषय और कषायोंमें। जिस तत्त्वज्ञानीने अपने विशुद्ध स्वरूपका ध्यान किया है उसके हृदयमे निर्मल ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश अवश्य स्फुरायमान होता है। रागादिक भावोंसे रहित ज्ञानस्वरूपका ज्ञान करना यह एक निर्मल ज्ञान है। यह आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष रागादिक भावोंके उपायका विचार कर रहा है। ये रागादिकभाव जिसके दूर होते हैं उसका ज्ञान पूर्ण प्रकाशित हो जाता है। यह ज्ञान एक तीक्ष्ण शक्तिवाला है किसी घरकी कोठरीमे तिजोरीके अन्दर कोई पोटलीमे रखा हुआ कोई कीमती हीरा या कोई भी कीमती वस्तु रखी है तो उसे भी यह ज्ञान यहाँ बैठे ही सुगमतासे जान लेता है, उसका ज्ञान करनेमें भींट, किवाड और तिजोरी इत्यादि कुछ भी बाधा नहीं डालते हैं। तो यह ज्ञान अति तीक्ष्ण है, इस निर्मल आत्माका ध्यान करनेसे यह ज्ञान प्रकाशित होता है। हमे चाहिए ध्रुव आनन्द, और आत्मस्वभावका ध्यान करनेसे यह ध्रुव आनन्द प्रकट होता है। तो यह अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष विचार करता है कि धर्मध्यानमें जो भी बाधा देने वाले तत्त्व हैं उनको दूर कर दिया जाय तो कल्याणका मार्ग प्राप्त होगा। धर्मध्यानमे बाधा देने वाले हैं रागादिक भाव। इन रागादिक भावोंका विनाश करेंगे तो वह धर्मध्यानकी अवस्था प्राप्त होगी। यों अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष अनात्मतत्त्वोंको अपनेसे दूर करनेका चिन्तन कर रहा है।

स विपाक इति ज्ञेयो य· स्वकर्मफलोदय.।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥१६४०॥

धर्मध्यानके ४ भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय। जिसमे आज्ञाविचय और अपायविचय धर्मध्यानका वर्णन हो चुका है कि भगवानकी आज्ञाको प्रधान मानकर वस्तुस्वरूपका चिन्तन करना सो आज्ञाविचय धर्मध्यान है। जो रागादिक विभाव आत्माको बरबाद कर रहे हैं उसका चिन्तन करना यह कैसे दूर हो, उन उपायोका चिन्तन करना सो अपायविचय धर्मध्यान है। अब यह तीसरा विपाकविचय धर्मध्यान चल रहा है। विपाकका अर्थ है अपने कर्मोंके फलका उदय प्राप्त न करना। इसका धर्मध्यानका सम्बन्ध इसलिए है कि इस ध्यानमे न कोई इन्द्रियके विषयका उपयोग है, न मनके, यशके प्रशसाके विषयका उपयोग है। एक धर्मप्रसगका उपयोग है। इस कारण कर्मफलका विचार करना भी विपाक विचय धर्मध्यान माना गया है। यह विपाक इस ससारी जीवके प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और यह नानारूप है। जीवके साथ कर्म अनादिकालसे लगे चले आ रहे हैं। यद्यपि इनमे ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जीवका रागादिक विभावोंका निमित्त पाकर कर्मबन्ध होता है और कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जीवमे रागादिक विभाव होते हैं। यदि पूछा जाय कि बतावो जीवमें सबसे पहिले क्या था? तो कहेंगे कि जीवमे सबसे पहिले रागादिक पिण्ड था। रागादिक पिण्ड हुए फिर उसमे कर्मबन्ध हुआ, फिर रागादिक हुए, फिर कर्मबध हुआ। तो ये रागादिक भाव सर्वप्रथम किस कारणसे हुए? क्या अपने आप हो गए या अपनी सत्ताके कारण हो गए? उससे पहिले कर्म थे जिनके उदयमे रागादिक हुए। अर्थात् कोई कहे कि सबसे पहिले कर्म ही मानलो, उसके उदयकालमे रागादिक हुए। फिर उन रागादिकोंका निमित्त पाकर ये कर्म बधे। फिर सिलसिला बन गया तो यह बतलावो कि सर्वप्रथम जो उनके साथ कर्मबन्धन था वह कैसे हो गया? रागादिक विभाव हुए बिना कर्मबन्ध नहीं होता। तब एक उत्तर क्या मिलेगा? कुछ भी नहीं। यह कहना पड़ेगा कि इनकी सतति अनादिकालसे चली आयी। जैसे आमका पेड़ व उसकी गुठलीको लेलो, पहिले आम हुआ कि गुठली? यदि पहिले गुठली हुई तो बिना आमके पेडके कैसे बन गया और यदि कहो कि पहिले आमका पेड हुआ तो वह आमका पेड बिना गुठलीके कैसे बन गया? तो यह सतति अनादिकालसे चली आयी। इसी प्रकार यदि पूछें कि कोई पिता ऐसा भी हुआ कि जिसका पिता न रहा हो? तो ऐसा कोई पिता नहीं कि जिसका पिता न रहा हो। कोई पुत्र भी ऐसा नहीं जो बिना पिताका हो। तो यह पिता पुत्रकी सतति भी

अनादिकालसे चली आयी है। ऐसे ही आत्माके साथ रागादिक विभाव और कर्मबन्ध ये सब अनादिसे चले आये हैं। अब यह प्रश्न होगा कि जो चीज अनादिसे चली आयी हो उसका विनाश कैसे होगा ? ये रागादिक अगर अनादिकालसे आ रहे हैं और ये कर्म अनादिसे आ रहे हैं तो इनका विनाश कैसे हो ? समाधान यह है कि रागकी परम्परा चली आ रही है। कोई खास राग अनादिसे नहीं है। उसकी आदि है। जैसे कोई पिता अनादिसे नहीं है, पिताकी परम्परा अनादिसे है। ऐसे ही कोई प्रकारका विकल्प कोई रागपरिणमन अनादिसे नहीं होता, उसकी आदि है, उत्पन्न है, इसी तरह कोई कर्म जो बधा है वह अनादिसे नहीं बधा है, उसकी उत्पत्ति है तबसे बध है मगर इसकी परम्परा अनादिसे है। हाँ तो यह प्रश्न था कि जो अनादिसे हो वह नष्ट किस तरह हो ? उत्तर यह है कि इसकी परम्परा अनादिसे है, ये तो अवस्थाएँ हैं। अवस्था अनादिसे नहीं होती। अब तीसरा समाधान यह है कि कल्पनामे आनन्द मान लो। जिसके साथ जो लगा है उसका आदि नहीं है अर्थात् उसको छोडकर नहीं रहा तो भी उसका नाश हो जाता है। जैसे तिलमे तेल भला बतलावो कबसे आया ? तो कोई सही नहीं बता सकेगा क्या कि हाँ अमुक दिनसे आया। अरे जबसे वह तिल आया तबसे उसमे तेल आया। कभी तिलको छोडकर तेल नहीं रहा। जब कोल्हूमे पेला जाता है तो उससे तेल अलग हो जाता है। इसी तरह परम्परामे जीवके साथ कर्म चले आ रहे हैं अनादिसे रागादिकभाव तिसपर भी इनका वियोग हो जाता है। कारण यह है कि प्राय करके सर्वसाधारण जीवोंके कषायोंकी परम्परा अनादिसे है, जब कभी औपाधिकभाव छूट जायें तो वीतरागता होनेसे अब जो राग होगा वह सादि है। अगर कर्मका सम्बध छूट जाय तो फिर कभी कर्मका सम्बध नहीं होता। रागादिक भावोंके कारणभूत जो कर्म हैं वे औपाधिक भावोंके होने पर भी जीवके साथ लगे हैं, वे दबे हैं, तो कारण होनेसे रागभाव की बीचमे उस समय रागभावकी परम्परा खण्डित हो जाती है, मगर राग बराबर पडा हुआ है इससे फिर रागकी उत्पत्ति हो जाती है। क्षायक भावमें जो क्षय हुआ सो क्षय ही हुआ, उसकी आदि नहीं है, इसलिए वहाँ कोई परिणमन ही नहीं है। तो सामान्यतया सर्वसाधारण ससारी जीवोंको दृष्टिमे लेकर कहा जा रहा है कि जीवके साथ रागादिक और कर्मबन्धकी परम्परा अनादिसे चली आयी है और यह कर्मफल देखो तो सबके विचित्र विचित्र मालूम पड रहे हैं। जीवकी ये जो नाना विचित्रताएँ देखी जा रही हैं इसका कारण क्या है ? किसी भी पदार्थकी एक पर्याय अन्य कारणके बिना हो सकती है। अगर विसम परिणाम बने तो अन्य कोई उपाधि अवश्य होती है। जीवोंमे ये सब विसमताएँ हैं। किसीको कैसी पर्याय मिली, किसीको कैसी। किसीके शुभ भाव है तो किसीके अशुभ भाव है। इन विसमतावोंसे अनुभव होता है कि जीवके साथ कोई विरुद्ध चीज लगी है, जो कोई विपरीत चीज लगी है उसका कोई नाम रख लो। जो चीज ध्रुव है, हाथसे न पकडी जा सके, आँखोसे न देखी जा सके, ऐसी वह चीज है कर्म। इस प्रकार कर्मोंका फल ससारी जीवोंमे विचित्र-विचित्र देखा जा रहा है। उस कर्मफलका विचार करना सो विपाकविचय धर्मध्यान है।

कर्मजात फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम् ।
आसाद्य नियत नाम द्रव्यादिकचतुष्टयम् ॥१६४१॥

द्रव्य क्षेत्र काल भावको पाकर अनेक प्रकारसे अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार ये कर्मफलको देते हैं। जैसे राग प्रकृतिका उदय आये तो उसका निमित्त पाकर जीवमे रागभाव हो रहा है तो वह रागभाव किसी बाह्य नोकर्मको विषय करके हो रहा है, नहीं तो राग बने कैसे ? किसी भी परपदार्थको विषयमे न ले तो वह राग करेगा क्या ? राग उत्पन्न होगा तो किसी नोकर्मका सहारा पाकर उत्पन्न होगा। तो यहाँ कर्मोंके उदयको तो निमित्त कहा और जिन पदार्थोंमे राग हुआ जिनपर दृष्टि देकर राग हुआ वह नोकर्म हुआ या आश्रयभूत हुआ और रागादिक भाव हुए वे भावकर्म हुए। तो तीन पकारके कर्मोंका वर्णन होता है—द्रव्यकर्म नोकर्म, भावकर्म। तो उसमे द्रव्यकर्म तो है ज्ञानावरण आदिक और भावकर्म रागद्वेष है जीवकर्म और ,

है नोकर्म। नोकर्ममें प्रधान है शरीर। शरीरमे नोकर्मकी प्रधानता है। वैसे तो कर्मो के फल भोगनेमें जो जो पदार्थ विषयमें हैं, आश्रममे आते वे सब नोकर्म कहलाते हैं। तो ये कर्मसमूह द्रव्य क्षेत्र काल भावको पाकर अपनी प्रकृतिके अनुसार फल देते हैं। जैसा द्रव्य होगा सामने रागप्रकृतिका उदय होनेपर वह राग करेगा, क्षेत्रमें राग करेगा। जैसे कोई मंदिरमें अकेले जाय, दर्शन करे तो वह एक क्षेत्र ऐसा है कि वहाँ फिर विषय-भोग उपभोगके परिणाम नहीं होते हैं। क्षेत्र आया प्रसगमे, द्रव्य आया प्रसगमे, इसी प्रकार काल और भाव भी प्रसगमें आया। जो जिस स्थान पर जायगा उसके उस तरहके भाव बनेंगे। सनीमा, नाटक आदिकी जगह और तरहके भाव बनेंगे, मदिरमे और तरहके भाव बनेंगे।

जिस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको जीव पाता है और जिस प्रकारका उदय होता है उस प्रकारका जीव फल भोगता है। इस कारण चरणानुयोगकी पद्धतिसे बताया है कि हम रागादिकको त्यागें, धर्मस्थानोंमे जावें, उपवास आदिक करें, एकान्तमें रहें, ऐसी जो अनेक चरणानुयोगकी पद्धतिया बतायी हैं वे इसी कारण बतायी हैं। तो उन आश्रय भावोंका निमित्त पाकर ये कर्म फल देते हैं। अब वे क्या-क्या आश्रय होते हैं और किस-किस प्रकारका कर्मफल देते हैं इसका कुछ दिग्दर्शन कराते हैं।

स्रक्शय्यासनयानवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान्,
कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनवनक्रीडाद्रिसौधध्वजान्।
मातङ्गाश्च विहङ्गचामरपुरीभक्षान्नपानानि वा,
छत्रादीनुपलभ्य वस्तुनिचयान्सौख्य श्रयन्तेऽङ्गिन ॥१६४२॥

इस छन्दमें सुखके आश्रयभूतका वर्णन है। प्राणी पुण्य मेल आफत आदिकका आश्रय पाकर सौख्यरूप परिणाम करता है। यह पुण्यकर्मका फल बताया है, पर इसमे भी यह निरखना कि पुण्य कर्मके इन फलोंमें भी जीवको शान्ति है क्या, आकुलताका अभाव है क्या? तो कहते हैं कि कोई बड़े सुखका अनुभव यदि कर रहा है तो उसके चित्तमे आकुलताए मचती रहती हैं। उसे अपने आत्माकी सुध नहीं रहती। उसे उसमें चैन कहाँ है? जब उपयोग अपने आत्मतत्त्वको नहीं जान रहा तो फिर उसको चैन कहाँ होगी? कोई धनमें सुख मानते, कोई अपने बडप्पनमे, कोई किसीमे सुखका अनुभव करते हैं। कुछ भी चीज रखें, चटाई रखें, बहुत बढिया है, कीमती हो जरासी लपेटमे आ जाय, सुन्दर हो, इसकी फिकर रखे तो बहुत बढिया आसन बनाकर ठाठसे बैठना, मौज मानना अपनी सुध भूल जाना यही है पुण्यका फल। सवारी बढिया, घोडा, हाथी, अच्छी साइकल, अच्छी मोटर, अच्छा यान, उन्हें देखकर मौज मानना, इनमे ही जीव सुखका अनुभव करते हैं। वस्त्रोंको तो नाना डिजाइन हैं। जिन डिजाइनोंकी सख्या लाखोंकी होगी। जब खरीदते हैं तो अनेक डिजाइनके वस्त्रोंको देखते हैं, और उनमेसे मनमाफिक डिजाइनका वस्त्र खरीदकर बडा सुख मानते हैं। सो जरा पुण्यका उदय है, जिसके कारण आज सब कुछ मिल रहा है और बहुत-बहुत इतरा रहे हैं। ठीक है, इतरा ले, पर धर्मकी ओर दृष्टि नहीं है ना फल उनको अच्छा नहीं मिलनेका। नाना प्रकारके बाजे हैं—इन बाजोंकी गिनती करें तो वे भी हजारों तरहके हैं। कैसे-कैसे शौक हैं लोगोंके? उन बाजोंकी डिजाइनोंकी गिनती करें तो वे भी हजारों तरहके हैं। मित्र अच्छा मिल जाय। मित्रको पाकर भी यह प्राणी सुखका अनुभव करता है। एक अपनेमे गर्व भी करता। हमारे बड़े-बडे मित्र हैं। पुत्रादिक आज्ञाकारी मिल गए तो उनका आश्रय करके बडा सुख मानते हैं। लोग अपने पुत्रोंको खूब सजाकर सभा सोसाइटीमे ले जाते और जैसे बैठना चाहिए, जैसी विनय करना है यह सब समझा देते हैं और उन लडकोंको उस ढगसे सभा सोसाइटीमे ले जाकर अपना गौरव मानते हैं। कपूर, इत्र, धूपबत्ती आदिक कितनी ही तरह सुगधित पदार्थोंका सेवन करके सुख मानते हैं। यद्यपि कहीं इन सुगधित चीजोंके सेवनसे कोई स्वास्थ्य नहीं बढ जाता, पर

दिल वहलानेके लिए नाना तरहके सुगंधित पदार्थोंका सेवन करते है। चन्द्रमा चन्दन आदि जो शीतल पदार्थ है उनका आश्रय करके सुख मानते हैं। शरदकालका चन्द्र होता है उसमे कितना उत्सव मनाये जाते हैं। चन्द्रको निरखनेसे लोग सुखका अनुभव करते है। तो ये जीव चन्द्रमा चन्दन आदिक शीतल पदार्थोंका आश्रय पाकर सुखका अनुभव करते हैं। वनोमे घूमना, नाना प्रकारकी रहस्य लीलाए करके बडा मौज मानते। ये सब पुण्यके उदयके फल हैं। लोग गर्मीके दिनोंमे ढडे पर्वतोपर रहकर सुखका अनुभव करत है। सालके १०-११ महीना तो अन्यत्र कहीं रहे और एक आध महीनेको मसूरी आदिकके पर्वत पर पहुच गए। वहाँ पर रहकर बहुतसा खर्च भी किया और उससे अपनेको सुखी अनुभव किया, इस प्रकारकी बातें होती हैं। बहुत से लोग बिजलियोंकी नसेनीसे बहुत ऊचेके मकानमे झट चढ जाते है। इसमे अपनेको सुखी अनुभव करत हैं। ये सब पुण्यके ठाठ बनाये जा रहे हैं। बहुतसे लोग अपने मकान या महलमे ध्वजा फहराकर सुखका अनुभव करते है। एक सेठजी थे तो वह करोडपति न थे। मान लो उनके पास ६६ लाखका ही धन था। और जो करोडपति हो जाय वह अपने मकान या महलमे झडा फहरा सकता था। तो उसने अपने मकानमे झडा फहरानेकी बात सोची। एक लाख रुपयेकी सिर्फ कमी थी, तो झट उसने नौकर मुनीम वगैरह कम करके और खुराकसे भी बहुत कम खाकर १ लाख रुपया और वढानेकी कोशिश करने लगा। तो पैसा हाथमे आनेके लिए भी वैसा ठाठ होना चाहिए। पर नौकरोंकी कमीके कारण उसके कार्योंमे अव्यवस्था हो गयी और काम कुछ कमजोर पडने लगा, आखिर हुआ क्या कि ज्यों ज्यो वह धन बढ़ानेकी सोचे त्यो त्यो उसका धन घटता जाय। वह न एक करोड रुपयाका धनी बन सका और न अपने मकानमे झडा फहरा सका। तो लोग अनेक प्रकारकी चीजोंका सेवन करके अपनेको सुखी मानते है। खाने-पीनेकी चीजोंमे लोग सुख भोगते है। ये सब पुण्यके ठाठ है। ये भी ससारके बढाने वाले हैं, इनमे ममता जगेगी तो ससारका परिणाम बनेगा।

क्षेत्राणि रमणीयानि सर्वर्तुसुखदानि च।
कामभोगास्पदान्युच्चैः प्राप्य सौख्यं निषेव्यते ॥१६४३॥

यह प्राणी सर्व ऋतुवोंमें सुख देने वाले ऐसे क्षेत्रोको प्राप्त करके सुखका अनुभव करता है। ऐसी जगह जन्म मिले या जानकर ऐसी जगह बस जाय जहाँ गर्मीके दिनोंमे अधिक गर्मी न पड़े और जाड़ेके दिनों में अधिक जाडा न पडे। जहाँ कोई प्रकारका कष्ट न हो, सभी ऋतुवोंमे सुख दे, ऐसे क्षेत्रको पाकर सुखी मानते है, जहाँ काम भोगोंके साधन हों ऐसी जगहोंमे ये प्राणी मौज मानते है। ये तो बताये है ससार पुण्य के फल। अब कुछ पापकर्मके भी फल सुनें। कर्म है पाप और पुण्य। धर्म दृष्टि हो तो कभी तो पापका फल भोगते हुए भी यह मार्गमे लग सकता है और प्राय करके पुण्य का फल भोगते हुए लोग धर्म दृष्टिके मार्गमे लगे हैं।

प्रसासिक्षुरयन्त्रपन्नगगरव्यालानसोग्रग्रहान्,
शीर्णाङ्गन्कृमिकीटकण्टकरज क्षारास्थिपङ्कोपलान्।
काराशृङ्खलशङ्कुकाण्डनिगडक्रूरारिवैरास्तथा,
द्रव्याण्याप्य भजन्ति दुःखमखिल जीवा भवाध्वस्थिता ॥१६४४॥

संसार मार्गमे रहते हुए यह जीव इन-इन वस्तुवोका निमित्त पाकर, आश्रय पाकर सुख भोगता है। जैसे तलवार, बन्दूक, छुरी आदि। इन इन शास्त्रोंकी सहायतासे यह जीव अपनेको सुखी अनुभव करता है। किसीसे ही बात हो रही और बात बढ गई तो गोली मार दी, छुरी भोंक दी अथवा कोई भी शस्त्र मार दिया। कुछ मिलता-जुलता नहीं, पर व्यर्थमे लोग दूसरोंका घात कर डालते है। सर्पादिक विषधर जीव डसले और मरण हो जाय तो पापका उदय आता है तब तो ऐसा निमित्त मिलता है। विषयोसे व्यग्र हो जाना,

सर्पोंके डसनेसे बडा बेचैन हो जाना, ये सब पापके फल हैं। कोई दुष्ट सिंहादिक जानवर द्वारा प्राणघात हो जाय तो यह भी पापका फल है। अग्निमे जल जाय, वनमे आग लग जानेसे अथवा घरमे किसी तरह आग लग जानेसे किसीका प्राणान्त हो जाय तो ये सब पापके फल हैं। दुर्गन्धित शरीर हो जाय, शरीरके अग गल जाये, कोढ हो जाय, चलते न बने तो ये सब पापके फल हैं। टट्टी पीप आदिकसे शरीर दुर्वासित हो जाय तो यह भी पापका फल है। ज्ञानी जीव पुण्य और पापके फलका विचार कर रहा है। यह पुण्य फल मेरा नहीं है। यह कर्मफल है तभी तो निमित्तकी मुख्यतासे वर्णन करनेमे एक लाभ पुद्गल दृष्टि मिल जाती है। जैसे रागादिक भाव पौद्गलिक हैं, पुद्गलके निमत्तसे होते हैं इसलिए पुद्गलसे इनका सम्बध है। आत्मासे सम्बध न समझे, आत्माको निर्लेप देखें, आत्माके स्वभावकी दृष्टि की तो क्या निमित्त की बात मान लेनेमे कोई विगाड है ? विगाड तो आशय खोटा है इससे है। यह औपधि है एक। ऐसे आशयसे आत्माको एक स्वभावदृष्टि मिलती है। कोई वेडी पड जाय, कीला गड जाय, ये सब पापके फल हैं। कोई क्रूर दुष्ट वैरी मिल जाय, अपनेको सताने लगे, घात करे तो ऐसा द्रव्यप्राण खोकर यह आत्मा दु ख भोगता है। शुभ कर्मोंका भी फल ससारमे भटकना है, अशुभ कर्मोंका भी फल ससारमे भटकना है। ये फल मेरे आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। मेरा आत्मा केवल चैतन्यमात्र है—इस प्रकार आत्माके विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपकी दृष्टि रखे और इस कर्मफलका फिर विचार करे। कर्मफलका विचार करते हुएमे लक्ष्य यह रखना चाहिए कि ये सब कर्मफल हैं। वह विचार करता है कि ये कर्मरूपी विषवृक्षके फल हैं, मेरे भोगे विना वे गल जायें। भोग क्या कि ये कर्मफल आ रहे हैं। रागादिक विभाव नाना परिस्थितिया, उनको उपयोग ग्रहण करे घबडाय या सुखी हो। उसमें मौज माना, अपनाया तो यह भार बन गया। वैसा उपयोग यदि इस कर्मफलका ग्रहण न करे तो ग्रहण न करनेकी स्थितिमे जैसा यह अबुद्धिपूर्वक हो जायगा, होकर बन जायगा, किन्तु बुद्धिपूर्वक इस फलको पकडा गया तो विशिष्ट कर्मबन्ध होगा। तो यह मत्र कर्मरूप विष वृक्षफल मेरे भोगे बिना जाय। तो एक जो लक्षण निज अतस्तत्त्वमे मग्न हो रहा था और इसीमे मेरा जीवन व्यतीत हो—ज्ञानी जीव यह भावना बनाता है। विपाकविचय धर्मध्यानमे विचित्र कर्मफलोंका चिन्तन करके विपाकविचय धर्मध्यानी पुरुष ऐसा चिन्तन करता है कि मुझे अपने स्वभावकी दृष्टि रहेगी, अपने आत्मस्वभावकी दृष्टि रहेगी तो हम अपने विशुद्ध मार्गमे बढते चले जायेंगे और उस विशुद्ध मार्गमे बढकर हम अपार लाभ पायेंगे।

निसर्गेणातिरौद्राणि भयक्लेशास्पदानि च।
दु:खमेवाप्नुवन्त्युच्चै: क्षेत्राण्यासाद्य जन्तवः ॥१६४५॥

विपाकविचय धर्मध्यानमे ज्ञानी पुरुष कर्मोंके नाना फलोंका चिन्तन कर रहा है। जगतमें जितनी विचित्रताए हैं वे सब कर्मोंके फल हैं। यह प्राणी स्वभावसे ही ऐसे क्षेत्रोंको पाकर दु खी होता है जो क्षेत्र रौद्र भय और क्लेशके ठिकाने हैं याने ऐसे ऐसे स्थान हैं जो बड़े भयानक हैं, जिनमे नाना तरहके क्लेश हैं, ऐसे क्षेत्रोंको पाकर दु खी होता है। जैसे वर्फीली जगह जहाँ वर्फोंमें कुछ मनुष्य रहते हैं उनका जीवन क्या ? वहाँ न खेती है, न अन्न है, न ढगसे रहनेको है, पता नहीं कैसे क्या करते हैं ? तो ऐसे-ऐसे रौद्र स्थान हैं जिन स्थानोंमे जन्म लेकर यह यह जीव नाना दु खोंको भोगता है। यह कर्मोंके फलका विचार कर रहा है। जीव तो स्वभावसे एक चैतन्यमात्र है, जहाँ आकुलता रच मात्र भी नहीं है, लेकिन इस जीवने अपना यह साधारण स्वरूप खोकर, अपने उपयोगमे न लेकर बाहरमे दृष्टि लगाये है जिससे इसने अलग-अलग कुछ समझा है, अपने ज्ञानके खण्ड-खण्ड कर डालता है और किसी पदार्थमे राग व किसी पदार्थमे द्वेष करता है। इस तरह यह जीव नाना तरहसे दु खी होता है। गलती परिणतिकी दृष्टिसे देखो तो अपनी है। भले ही यह कह लीजिए कि कर्मोंका उदय ऐसा ही था, ऐसा ही निमित्त था कि ऐसा परिणाम करना पडा, मगर परिणाम जैसा करना पडा, जिसको परिणमन बनाना पडा अपराध तो उसका है। और जितने भी जीव दु खी

होते हैं वे अपने ही अपराधसे दुःखी होते हैं, कोई दूसरा किसीको दुःखी कर ही नहीं सकता। वस्तुस्वरूप की बात कही जा रही है। किसीमें सामर्थ्य नहीं कि किसीका दुःखरूप अथवा सुखरूप परिणमन बना दे। जीव खुद परिणाम बनाता है, अपराध करता है और दुःखी होता है। तो सबसे पहिला अपराध यह है कि है तो भिन्न चीज और उसे मान लिया अपनी। इतनी बडी जो चोरी कर रहा है यह जीव उसका परिणाम यही तो मिल रहा है कि नाना प्रकारकी पर्यायोंको धारण करता है। नाना प्रकारके दुःखोंको यह जीव भोगता रहता है, यह सब पापका फल है।

अरिष्टोत्पातनिर्मुक्तो वातवर्षादिवर्जितः।
शीतोष्णरहितः कालः स्यात्सुखाय शरीरिणाम् ॥१६४६॥

जो पापी जीव है वह दुःखी होता है, और जो पुण्योदय वाला जीव है वह सुखी होता है। एक ही घरमें नाना विचार वाले जीव हैं। कोई निर्मोह ढगसे रहता है, सुखसे रहता है, कोई बहुत बडा मोह करके रहता है, दुःखी रहता है। तो जिसके जैसा उदय है पुण्यका अथवा पापका, उसके अनुसार अवस्था मिलती है। तो जो पुण्य वाले जीव हैं उनको ऐसा अवसर मिलता है, ऐसा क्षेत्र मिलता है कि जहाँ दुःख देने वाला कोई उत्पात नहीं है। हवा, वर्फ आदिक जो कोई कष्ट उत्पन्न करने वाले मौके हैं उनसे रहित समय पाता है। ऐसे समयमें ऐसे क्षेत्रमें ये पुण्यवान जीव सुख भोगते हैं। जहाँ न शीत अधिक पडती है, न गरमी अधिक पडती है। अच्छा क्षेत्र मिलना जो सुखका कारण हो, ये तो पुण्यके काम हैं, और ऐसे खोटे क्षेत्र मिलना, खोटा समय मिलना जिसमें दुःखी हों ये पापके काम हैं। तो संसारमें क्या दिख रहा है? सिवाय पुण्य पापके और कुछ नजर नहीं आता। और जिसके पाप है वह दुःखी है सांसारिक, मानसिक, वेदनावोंसे और पुण्यवान तृष्णा करके दुःखी होते हैं। जिसके जितना पुण्यका उदय है वह उतना बडा तृष्णालु बन सकता है। देहाती आदमी साधारण परिस्थितिका कोई तृष्णा बनायेगा अपने गुजारेके माफिक वह भी साधारण भावनामें। पर जिसके पुण्यका उदय है वह लाखों करोडोंकी कल्पनाएँ करता है, तृष्णा करता है और दुःखी होता है। तो यहाँ कोई सुखी नहीं है। कल्पनासे लोग छाँट लेते हैं कि यहाँ बडा सुख है, ऐसा घर है, ऐसी दुकान है, यह बडा सुखी होगा मगर सुखी कोई नहीं है। सुख कहाँ, शान्ति कहाँ, आनन्द कहाँ, निराकुलता कहाँ वह तो मोह रागद्वेषके त्यागसे है। खूब सोच लो—जब तक अपना परिणाम मोह रागद्वेषसे रहित न बन सकेगा तब तक शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। और मोह रागद्वेष है व्यर्थका। समस्त चीजें न्यारी हैं, भिन्न हैं, साथ रहने वाली नहीं हैं, मिटेंगी, पर अज्ञानी जीव उनसे अपना हित मानता है। यही वैभव, यही स्नेह, यही कुटुम्ब, पर इनका ध्यान करके ये अज्ञानी जीव दुःखी हैं, अज्ञानी जीव ईर्ष्या भी करते हैं। यह अमुक उद्योग वाला हो गया, इसी ईर्ष्या करते हैं अज्ञानी जन। ज्ञानी जीव ईर्ष्या नहीं करते क्योंकि वे तो इस तरह देखते कि ये तो और दुःखी हो गए हैं। जब दूसरोंको दुःखी हो गए इस तरह मानते तो वहाँ ईर्ष्या कहाँ? क्या आश्चर्य यह इतना धनी हो गया बडा दुःखी हो गया, अपना उपयोग कहाँ-कहाँ भटका रहा है। जब तो दूसरोंको दयाका पात्र मानेगा, ईर्ष्या क्या करेगा? अज्ञानी पुरुष ही दूसरोंके धन और इन उत्कर्षोंको देखकर [illegible] करते हैं।

दिन कष्ट आये, बहुत समय तक गरमी चले। ऐसे क्षेत्र अथवा काल इस जीवको पापके उदयसे मिलते हैं, जहाँ तुषा बर्फ पडती रहती है। कल्पना करो कि जो क्षेत्र ऐसे हैं कि जहाँ बर्फीले स्थान हैं कैसे लोग उस बर्फ पर चलते हैं, क्या उनको खानेको मिलता है? क्या उनकी जिन्दगी है, उनका तो पशुवों जैसा जीवन है। न कुछ हितकी बात सोच सके और न कोई ढगसे भोगोपभोगका साधन कर सकें, ऐसे खोटे क्षेत्रोंमे जन्म होना यह पापोदयका कारण है। जहाँ ईति-भीति, अनेक भय ज्यादा रहते हैं, दूसरा शत्रु चढाई कर दे। उत्पात जहाँ ज्यादा रहे ऐसे स्थानमें जन्म लेना यह ससारसततिका कारण है। पापोदय चल रहा है, उससे ऐसे-ऐसे पापके स्थान बन रहे हैं यह ज्ञानी जीव विचार कर रहा है। इस विचारके साथ ही साथ उसके लक्ष्य में यह बना हुआ है कि जीवका स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य है। और फिर कर्मोंके फलको विचार रहा है कि ये फल प्राप्त होते हैं जीवोंको, ये सब एक उदयसे होते हैं और यह उदयकी चीज परतत्त्व है। इसे पाकर क्रोध, मान, माया, लोभ तृषा आदिक न करना, एक अपने आपके स्वरूपकी ओर जाना चाहिए। विपाकविचय धर्मध्यानमे उन विपाकोंका चिन्तन चल रहा है जो अपने आत्मामे अपने विभाव प्राप्त है। रागद्वेषकी प्राप्ति है उन परिणामोंको ज्ञानी ऐसा सोच रहा है कि ये मेरे आत्माकी चीज नहीं हैं। जिसने यों आत्मासे भिन्न समझ लिया उसे फिर उसमे मोह नहीं होता। तो ऐसी निर्मोह दृष्टि न पाकर अज्ञानमे भ्रमण कर करके यह जीव ऐसी दु:खरूप अग्निका सताप सह रहा है। जिसे दूसरा देखे तो यह कह बैठे कि यह बर्दाश्तके काबिल नहीं है। ऐसे नाना फल मिलते हैं जीवोंको तो उन्हे जान करके यह शिक्षा लेनी है कि हमें अपने परिणाम विशुद्ध रखना चाहिए, दूसरोंका बुरा न विचारें और अपने निजी स्वभावको निरखें। जिस स्वभावको निरखने पर, जिस स्वरूपमें मग्न होनेपर फिर ससारका कोई क्लेश नहीं रहता उसे देखें। और फिर दूसरी बात यह है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह—ये ५ पाप हैं इनकी प्रवृत्ति निरखें तो यह जीव कर्मोंके विपाकसे मुकाबला कर सकता है।

प्रशमादिसमुद्भूतो भावः सौख्याय देहिनाम्।
कर्मगौरवज सोऽयं महाव्यसनमन्दिरम् ॥१६४८॥

जो कर्मोंके उपशम आदिकसे उत्पन्न होने वाले भाव हैं वे जीवोंको सुखके लिए होते हैं और जो कर्मोंके गौरवसे तीव्र उदयसे जो भाव उत्पन्न होता है वह महान कष्टका भय है। कर्म दबे हैं सबके साथ। जिन्होंने निर्मल परिणाम किया है उनके कर्म दबे। तो उस उपशमका निमित्त पाकर जो जीवमे भाव होगा वह सुखरूप भाव होगा और जो कर्मके उदयसे भाव होगा वह दु:खरूप होगा। अब कर्मोंका उपशम करनेमें अपन करें क्या? कर्म दिखते हैं नहीं उन्हें फिर दबाना क्या? कैसे उपशम हो? तो हममें इतनी सामर्थ्य नहीं, ये तो अपने आप होंगे, कम दबेंगे, कर्म क्षीण होंगे, एक भी कर्म न रहेंगे, ये सब बातें सम्भव हैं, पर इसके लिए विशुद्ध परिणाम चाहिए। हम कर्मोको जानकर क्या दबायें? हमारा काम तो यह है कि अपना परिणाम निर्मल रखें, अपने परिणामोंकी सम्हाल रहे तो कर्मोंका उपशम होगा। जैसा जो कुछ होता है भलाईके लिए वह सब सम्वेग हमारा बन सकेगा, पर अपना परिणाम विशुद्ध रखें, क्रोध, मान, माया, लोभ तृष्णामे अपने परिणाम न फसायें। तो मनुष्योंकी जो दशायें होनी चाहिए भलाईके लिए वे सब अपने आप होंगी। जिसे कहते हैं अष्टकर्मोंको ध्वस्त करना। ये कर्म कसे ध्वस्त किए जायें, वे तो ग्रहणमे ही नहीं आते। वे परपदार्थ हैं और यह आत्मा है निज पदार्थ। हम परमे क्या बना सकेंगे? कोशिश विशुद्ध परिणामोंकी करना चाहिए, फिर कर्मोमे जो कुछ होनेकी आवश्यकता है सुधारनेके लिए वह सब स्वयमेव होगा।

मूलप्रकृतयस्तत्र कर्मणामष्ट कीर्तिताः ।
ज्ञानावरणपूर्वास्ता जन्मिनां बन्धहेतवः ॥१६४६॥

कर्मोंमें मूल प्रकृतिया ८ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अतराय। हमने कैसे जाना कि जीवके साथ ८ कर्म लगे है। हम कार्य देख रहे है इसलिए उनके कारणका अनुमान करते हैं। जीवमें ज्ञानगुण प्रकट नहीं हो पा रहा। साधना न मिलनेपर ज्ञान प्रकट नहीं हो पा रहा। एक स्कूलके १० बच्चोंको सबको याद होता है पर एकको नहीं याद होता, तो इसमे कुछ कारण होना चाहिए। जीवके स्वभावकी दृष्टिसे तो यह ऐसा ज्ञान रखता है कि समस्त विश्वको स्पष्ट जान ले, लेकिन वह भी ज्ञान नहीं। यहाँके छुटपुट ज्ञान नहीं हो पाते तो इसमे कोई विरुद्ध उपाधि लगी है उसीका नाम लोगों ने जन्म रखा, मरण रखा। ज्ञानावरण कर्म रखा, जो ज्ञानगुणको प्रकट न होने दे। दर्शनावरण कर्म जो आत्माका दर्शन गुण न प्रकट होने दे। कोई जीव इन्द्रियके भोग उपभोग साधन खूब जुटा रहा है। मौज कर रहा है, कोई जीव इन इन्द्रियोंसे क्लेश पा रहे तो इससे सिद्ध है कि यह उपाधि ऐसी लगी है जिसकी वजहसे ये सुख-दुःखके नाना भेद पड गए, उस उपाधिका नाम है वेदनीय। नाम कुछ रख लो। जसे यहाँ व्यवहारमे हम चीजोंका नाम रखते है तो ऐसा नाम रखते है जो इस जीवके स्वरूपको बात बताये। जैसे चौकी जिसमे चार कोने हो उसका नाम चौकी। तो शब्द ऐसा बोलेगे कि जिससे उस पदार्थ की तारीफ भी तुरन्त मालूम हो जाय। जैसे चटाई नाम रखा तो चट आयी सो चटाई। यों उसकी तारीफ तुरन्त हो गई। तो चैतन्य कहो, जीव कहो, आत्मा कहो, ब्रह्म कहो ये सब स्वभावसे विशुद्ध आनन्दस्वरूप हैं। मगर इनमे सुख-दुःखके जो भेद पड़े हैं इनका कोई कारण होना चाहिए। वह कारण है वेदनीय कर्म। जीव अपने स्वभावको रख नहीं पाता। अपने स्वरूपके निकट नहीं आ पाता। देखो है खुद अपने स्वरूप रूप, पर अपनेको नहीं समझ पाता। इसमे कोई कारण है, वह कारण है मोहनीयका। मोहनीय कर्मका ऐसा उदय आता कि यह जीव अपना स्वरूप भूल जाता है और अपने स्वरूपको जानकर स्वरूपमे मग्न हो जाना चाहिए था। मगर नहीं हो सका यह जीव। तो इसमे कुछ कारण है। जो कारण है उसका नाम है चारित्र मोहनीय कर्म। ये जीव है तो स्वतत्र स्वरूप वाले, इनमे किसीका बन्धन नहीं है। स्वभावदृष्टिको निरखिये लेकिन यह शरीरके बन्धनमे पडा रहता है। शरीर बूढा हो गया, शीर्ण हो गया, अनेक उसमे सुख आते हैं मगर उस शरीरको छोडकर नहीं जा सकते। ऐसा बन्धन पडा है, और मान लो आत्मघात करके शरीरसे छुटकारा पा लिया तो इसी शरीरसे ही तो पाया। अगले भवमे जो नाना शरीर मिलेंगे उनसे छुटकारा ऐसे नहीं होता। तो शरीरको रोके रहना यह किसी कर्मका काम है। उस कर्मका नाम रखा आयुकर्म। किसीको कैसा शरीर मिलना किसीको कैसा, यह सब नाम प्रकृतिके उदयसे होता है। और ऊँच-नीच कुलमे जन्म लेना गोत्र कर्मका कारण है। दान देते समय परिणाम हो जाय खराब तो यह अन्तराय कर्म है। और भोगों मे उपभोगोमे विघ्न आते है, लाभ नहीं हो पाता, भोगसाधन है मगर भोग नहीं सकते, ऐसा रोगी हो जाते कि वैद्य सभी चीजें खानेको मना कर देता। तो भोग भोगनेमे बाधा आती है ये सब अन्तराय कर्म हैं। ये कर्म जीवमें लगे हैं जिससे जीव दुःखी हैं। इस प्रकार कर्मविपाकविचय धर्मध्यानमें यह ज्ञानी जीव नाना-प्रकारके कर्मफलोंका चिन्तन करता है। साथ ही अपनेको पृथक् निरख रहा है कि यह फल है, पौद्गलिक है, कर्मका बन्धन है। मेरे साथ तो मेरा स्वरूप है, इस प्रकार विचार करना यह कर्मविपाकविचय धर्मध्यान है। इस विपाकविचयका चिन्तवन करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है।

ज्ञानावृतिकरं कर्म पञ्चभेद प्रपञ्चितम् ।
निरुद्ध येन जीवाना मतिज्ञानादिपञ्चकम् ॥१६५०॥

जीवके साथ जो उपाधि लगी है उस उपाधिमे ८ प्रकारकी प्रकृतियां पडी हुई हैं। ८ प्रकृतिया कहो चाहे ८ कर्म कहो, जीवके साथ ८ प्रकारके कर्म लगे हैं। यह तो युक्ति ही बतलाती है कि कोई पदार्थ विसम परिणमता है तो उसके साथ कोई विरुद्ध चीज लगी हुई है। जैसे पानी कुछ गरम हुआ, कुछ पानी ज्यादा गरम हुआ तो उस पानीमे विषमता है किसी पदार्थका समागम होनेसे, अग्निके. समर्गसे। तो जीवमे जो स्वभावके प्रतिकूल परिणमन चल रहा है उससे यह समझना है कि कोई विरुद्ध चीज लगी हुई है, वह है कर्म, चाहे कुछ भी नाम रखलो। जीव चेतन है तो उपाधि अचेतन होगी। जीव सूक्ष्म है तो उपाधि स्थूल होगी। सिद्धान्तने उसका नाम अस्तिकाय रखा है। मूल प्रकृतिया ८ है। उनमे प्रथम है ज्ञानावरण कर्म। ज्ञानावरणकर्म उसे कहते हैं कि जिसके उदयमे आत्मामे ज्ञानका प्रकाश न हो सके। इसमें आवरण शब्द बोला है। जो ज्ञानका आवरण करे सो ज्ञानावरण है। इतना सोचना चाहिए कि आत्मामे ज्ञान मौजूद है तो आवरण नहीं कोई कर सकता और नहीं मौजूद है ज्ञान तो फिर आवरण उसके साथ यह लगना चाहिए कि शक्तिरूपसे ज्ञान है, उसका विकास नहीं हो सकता। ज्ञानावरण कर्मके उदयमे आत्मामे ज्ञानका विकास नहीं होता। यह सब जाननेकी इसलिए जरूरत है कि ससारके जीव बाहरी पदार्थोंके सग्रह विग्रहमे लगे रहते हैं और उसमें ही अपना हित मानते हैं, बाहरमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि करनेमे अपना हित समझते है, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि ये तो एक विनाशीक बातें हैं इनसे आत्माका कुछ सम्बध नहीं है। साथ जो कम लगे हुए हैं सो वे कर्म कैसे दूर हों—इसका प्रयत्न करना चाहिए। ये ससारी जीव जो बाहरी पदार्थोंकी व्यवस्था बनानेमे लगे रहा करते है उससे पूरा न पड़ेगा।

जीवके साथ कर्म लगे हैं और मरनेपर शरीर तो यहीं रह जाता है पर कर्म साथ जाते हैं। हर एक कोई कहते हैं कि जीवने जो कर्म किया है वे कर्म जीवके साथ जाते हैं। मगर कर्म क्या चीज है जो साथ जाते हैं? इसका खुला जैनशासनके अतिरिक्त कहीं न मिलेगा। ये कार्माण वर्गणा जातिके पौद्गलिक स्कध हैं और जीवके साथ एक क्षेत्रावगाह होकर बध गए हैं। जब जीव जाता है तो जीवके साथ ये कर्म भी जाते हैं। लोग यह भी मानते हैं कि जीवके मरनेपर याने शरीरके छूटने पर स्थूल शरीर तो यहीं पडा रहता है और सूक्ष्म शरीर जीवके साथ जाता है। वह सूक्ष्म शरीर भी क्या है उसे जैनशासनने स्पष्ट बताया है—एक तो कर्म दूसरा तेज। तैजसशरीर और कार्माण शरीर ये दो सूक्ष्म शरीर जीवके साथ जाते हैं। तो बरबादीके कारणभूत ये कर्म हैं। ये कर्म कैसे दूर हों इस प्रकारका विचार करना और प्रयत्न करना यह कर्तव्य है।

कर्मोंके दूर करनेका उपाय अपने आत्माकी सम्हाल है क्योंकि कर्म तब बनते हैं जब आत्मा की सम्हाल नहीं रहती है। तो ऐसी शुद्ध अवस्था पाकर ये कर्म बध जाते हैं। जब हम अपनी सम्हाल रखेंगे तो कर्म अपने आप न बधेंगे। कर्मों पर दृष्टि डालते हुए कि हमे तो इन्हें नष्ट करना है। इस तरहसे कर्म नष्ट होंगे अपने आत्माकी सम्हाल करनेसे। तो उन कर्मोंकी चर्चा चल रही है जो जीवके साथ ये अष्ट कर्म लगे हैं, जिनमे प्रथम ज्ञानावरण कर्म है, जिसके कारण ५ प्रकारका ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता। ज्ञान तो एक ही प्रकारका है। आत्मा है और उसका स्वरूप ज्ञान है। सो आत्माका जो स्वरूप ज्ञान है वह तो एक ही प्रकारका है। ज्ञानज्योति है, सामान्य तत्त्व है, पर वह ज्ञान कर्मबधनकी हालत होनेके कारण इस ज्ञानको कुछ भेदोंमे बाट दिया गया है। ज्ञान ५ प्रकारके हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। जिनके केवलज्ञान प्रकट है उनके ज्ञानावरण कर्मों के पूर्ण क्षयसे प्रकट है। अपने स्वरूपकी प्रतीति हो, अपने कैवल्य स्वरूपपर दृष्टि रहे तो इस प्रयत्नसे केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान होता है समस्त विश्वके पदार्थोंको जानने वाला। विश्वके पदार्थोंको जाननेकी कोशिश करें। केवलज्ञान होता है तब जब बाहरके जानन छोडकर अपने आपके अन्तरङ्गका जानना बना रहे और अन्त ज्योतिका ही आलम्बन रहे। सब जीवोंका इसीमे कल्याण है कि अपने स्वरूपका शुद्ध विकास हो। और बातोंमें कल्याण नहीं है। घर अच्छा बन गया, परिवार अच्छा मिल गया, वैभव जुड गया तो सब विकल्पके ही

कारण होंगे। ये बरबादीके ही हेतु होंगे, इनसे आत्माका कुछ भी कल्याण न होगा। आत्माका कल्याण केवल विचारनेमें है। जैसा सहजस्वरूप है अपने सत्त्वके कारण जैसा अपनेमे स्वरूप है उस स्वरूपमात्र प्रतीति और उपयोग रखनेसे केवलज्ञान प्रकट होता है। और यहाँ निमित्त दृष्टिसे कहा कि ज्ञानावरण कर्मका क्षय होनेसे ही केवलज्ञान होता है। अब चार ज्ञान रहे—मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय। ये चार ज्ञान कर्मोंके क्षयों से प्रकट होते हैं। प्रकृतिया भी ५ बन गयीं ज्ञानके भेदसे मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानवरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। इन सभीके पूर्ण क्षयसे केवलज्ञान होता है।

मतिज्ञान मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे प्रकट होता है। ये मतिज्ञानको ढाकने वाले जो कर्म लगे हैं उनमे कुछका तो उदयाभावी क्षय है। उदयमे आन और निष्फल खिर जाते हैं और उनका ही उपशम, उनमेसे ही कुछ कर्मप्रकृतिया देशघातीका उदय ऐसी स्थितिमे मतिज्ञान प्रकट होता है। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो पदार्थका एक विशुद्ध ज्ञान होता है, जहाँ विकल्प नहीं है उसे मतिज्ञान कहते है और उस मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थका जो विशेष ज्ञान होवे उसे श्रुतज्ञान कहते है। जैसे आँखोसे देखा और देखते ही वही चीज दिख गई। जब यह समझमे आ रहा वही तो श्रुतज्ञान हुआ और उससे पहिले दिख गया तो यह चीज वही है इस तरहका विकल्प न होना चाहिए वही चीज है, वह मतिज्ञान हुआ, और मोटे रूपमे यो समझिये कि जैसे घरमे कोई बच्चा जन्म लेता है तो कुछ दिनो तक वह बच्चा घरमे मा-बाप, भाई-बहिन, भींट आदिक सभीका देखता है पर उसके मनमे कभो ऐसा विकल्प नहीं होता कि यह मेरा अमुक है, उसे कुछ पता ही नहीं है ना यह श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानसे खाली यह ससार नहीं है। तीसरा है अवधिज्ञान। अवधि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ऐसा ज्ञान प्रकट होता है कि यह ज्ञानी जीव मन और इन्द्रियकी सहायताके बिना जानता है, आत्मीय शक्तिसे जानता है। भूत भविष्यकी बात जानता है, यहाँ वहाँके लम्बे क्षेत्र की बात जानता है, पर जानता है पुद्गलको। वह अवधिज्ञान कहलाता है। उस अवधिज्ञानको जो प्रकट न होने दे उसे अवधिज्ञानावरण कहते हैं। देखो हम आपमे अवधिज्ञानकी शक्ति पड़ी हुई है, पर ये सब धर्मपालनके प्रभावसे स्वय प्रकट होते हैं। ऋद्धि सिद्धि ज्ञान ये धर्मपालनके प्रभावसे विकसित हैं। धर्मपालन यही है कि आत्माका धर्म है चैतन्यस्वभाव, उस रूप अपनेको मानना यही धर्मका पालन है, यही ज्ञानके विकासका उपाय है। बाहरमे ज्ञान जोड-जोडकर बडा ज्ञानी कोई बन नहीं सकता। अपने ज्ञानस्वभावका आश्रय लेकर यह ज्ञानी बनता है, इस कारण योगीश्वर ऐसा ही योग करते है कि अपने आपको एक चैतन्यस्वभावमा अनुभव करते हैं। यह परमात्माका प्रकाशक एक योग है। मन पर्यय ज्ञानसे दूसरेके मनकी बात जानते है। यह भी मन पर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे प्रकट है। यह अवधिज्ञानसे बडी ऋद्धि है। और केवलज्ञान होता है ५ प्रकारके ज्ञानावरणके क्षयसे। इस तरह जो ५ ज्ञानोंका आवरण करता है उसे ज्ञानावरण कहते है। जीवके साथ जो कर्म लगे है उनमे प्रथम ज्ञानावरणका वर्णन किया।

नवभेद मतं कर्म दृगावरणसंज्ञकम् ।

रुद्धचते येन जन्तूना शश्वदिष्टार्थदर्शनम् ॥१६५१॥

दूसरा कर्म लगा है जीवके साथ दर्शनावरण। जो दर्शन गुणको प्रकट न होने दे उसे दर्शनावरण कहते हैं। आत्मामे जैसा ज्ञानगुण है, जिसके विकासमे यह अनेक पदार्थोंको जानता रहता है। यह पुस्तक है यह चटाई है, यह अमुक है, इस वस्तुका यह स्वरूप है, ये सब ज्ञान हम आपको जो होते हैं वे ज्ञानगुणके विकास हैं। पर एक मर्मकी बात और जाने कि दर्शन गुण न हो तो ज्ञानगुण भी ठहर नहीं सकता। सत्ता नहीं रख सकता। ज्ञानगुणसे सब कुछ जाना और सब कुछ जाननेरूप अपने आपका प्रतिभास चलता है तो ज्ञानकी प्रतिष्ठा होती है। दर्शनगुण न हो तो ज्ञानकी प्रतिष्ठा नहीं रह सकती। ये चैतन्यके दोनों स्वरूप है—ज्ञान और दर्शन। तो उस दर्शनगुणको जो प्रकट न होने दे उसे दर्शनावरण कहते

ऐसे दर्शनावरण ६ प्रकारके हैं—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, निद्रा-निद्रा दर्शनावरण, प्रचलादर्शनावरण, प्रचला-प्रचलादर्शनावरण, स्त्यानगृद्धिदर्शनावरण आदि। यह सब अपनी बात चल रही है कि अपनेमे जो दर्शन और ज्ञानगुण हैं वे कर्मबद्धकी हालतमे किस-किस प्रकाशमे नहीं आते, उसका वर्णन चल रहा है। चक्षुइन्द्रियसे जो हमे ज्ञान प्रकट होता है उस ज्ञानसे पहिले जो दर्शनका विकास है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। आँखोंसे दिखता नहीं है, आँखोंसे तो ज्ञान होता है। दिखना होता है दर्शन-गुणसे। जैसे कानोंसे देखते नहीं हैं कानोंसे ज्ञान होता है। ऐसे ही सभी इन्द्रियोंसे दिखता नहीं है किन्तु ज्ञान होता है। लोग रुढिवश कह देते हैं कि आँखोंमे दर्शन होते हैं। जो नेत्रोंसे देखनेमे ढाके, प्रकट न होने दे उसे चक्षुदर्शनावरण कहते हैं। और आखोंसे छोडकर शेषके ४ इन्द्रिय और मनके द्वारा जो हमे ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञानसे पहिले जो सामान्य प्रतिभास है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं। उसे जो प्रकट न होने दे उस कर्मका नाम है अचक्षुदर्शनावरण दर्शन और ज्ञानका कुछ अन्तर जाननेके लिए एक दृष्टान्त लें। जैसे लड़के लोगोंका ऊ ची कूद कूदनेका एक खेल होता है। तो लडके दौडकर फिर जिस जगहसे कूदते हैं उस जगहपर वे पहिले नीचे वजन देते हैं तब उठकर फादते हैं। यह तो सभीके अनुभवकी बात है। वे लडके जितना ही नीचेको वजन देकर कूदेंगे उतनी ही ऊ ची कूद कूद सकेंगे। तो ऐसे ही समझिये कि आत्मा जब इन पदार्थोंको जानता है तो उन जाननोंसे पहिले आत्मा यह अपने आपका आलम्बन लेता है तब यह ज्ञानगुण प्रकट करता है। पहिले यह अपना सामान्य प्रतिभास करता है तब ज्ञानगुण भी विकास करता है। तो अचक्षुदर्शनावरणके बाद अवधिदर्शनावरण. अवधिज्ञान होनेसे पहिले जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं। उस अवधिदर्शनको जो प्रकट न होने दे उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं। एक साथ केवलदर्शनावरण केवलज्ञानके साथ-साथ जो सामान्य प्रतिभास रहता है उसे केवलदर्शन कहते हैं और उसे जो प्रकट न होने दे उसे केवलदर्शनावरण कहते हैं। ये ४ हुए दर्शनावरण और ५ होती हैं ऐसी स्थितियां कि जिनके आत्माके दर्शनगुणका उपयोग नहीं रहता।

निद्रा नामकी प्रकृतिके उदयमे ये पशु पक्षी मनुष्य सभी सो जाते हैं तो सोई हुई हालतमें न ज्ञानका उपयोग है, न दर्शनका, वैसा ही मुर्दा जैसा पडा है। देखो मुर्दा जैसा नींदमे पड जाता पर लोग जान-जानकर मुर्दा जैसा पड जानेकी बात चाहते हैं। जब श्रम किया तो श्रमके निवारणके लिए निद्रा आती है, लेकिन जो लोग श्रम नहीं करते और मनके विकल्प मचाते रहते हैं, मन ही मनका व्यापार करते हैं, परिश्रम कुछ नहीं, न मूलधन लगाया, जैसे सट्टा जुवा और तरहकी बात या केवल जो धन सम्पन्न होनेपर लोग इज्जत, प्रशसा आदिकके प्रयत्न किया करते हैं उन्हे निद्रा नहीं आती। निद्रा आती है उनको जो बडा शारीरिक एव मानसिक परिश्रम करते हैं। निद्रा नामक प्रकृतिके उदयमे ये मनुष्य, पशु-पक्षी सभी सोते हैं। ये पेड-पौधे भी सोते हैं, नींद लेते हैं पर ये अपने ढगसे नींद लेते हैं। आखें बन्द करके जो सो जाय उसीका नाम निद्रा लेना नहीं है। जहाँ बाहरी बातोंकी कुछ भी खबर न रहे उसे निद्रा लेना कहते हैं। तो निद्रा प्रकृति के उदयमे नींद आती है. और जीवको ऐसी नींद आती है कि सो लेनेपर उसे कोई जगा भी दे तो वह फिर सो जाता है। जैसे बहुतसे बच्चोंको देखा होगा। कहीं शास्त्रसभा वगैरहमे बैठे हैं, बच्चेको भी साथमें ले आये, बच्चा सो गया। शास्त्र खतम होनेपर उसने उस बच्चेको उठाया और जरासा ढीला कर दिया तो वह झट जमीनमे पडकर फिर सो जाता है। तो नींद लेकर भी नींद लेवे उसे निद्रा कहते हैं. उसमें बेहोशी अधिक है। प्रचला प्रकृतिके उदयमे जीवके प्रचला बनती है। जैसे कुछ सोये हुए और कुछ जगे हुए बैठे हैं, चलते-चलते भी सोते जाते हैं, यहाँ भी जैसे कुछ शास्त्र भी सुनने जाते हैं और कुछ सोते भी जाते हैं, उनसे अगर बीचमे कुछ पूछो टोको तो एक-आध बात बता भी देते हैं। तो प्रचला प्रकृतिके उदयमे जीवको ऐसी निद्रा आती है कि कुछ निद्रा है, कुछ जगा हुआ है। प्रचला प्रकृतिके उदयमे नींदके अलावा जीवके अग चलायमान होते हैं, जैसे दाँत कटकटाना, मुखसे लार बहना आदि। उसे कहते हैं प्रचला-प्रचलादर्शनावरण।

अन्तिम दर्शनावरण है स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण। सोनेके पहिले कोई काम करे और सोकर जगनेके बाद पता न हो कि मैंने क्या किया था जैसे सोते हुएमे कमरेसे उठाकर इस तरहसे किवाड खोलकर दर्शन कर आये और फिर बिस्तरमें पड कर सो गया और जगनेपर उससे आकर कोई कहे कि तुम मन्दिर गए थे ? और वह यह कहे कि हमे कुछ ध्यान नहीं है तो उसे स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कहते है। स्त्यानगृद्धि दर्शनावरणमे निद्रा की विशेषता है। इस प्रकार ६ कर्मोंके दर्शनावरण होते है जो आत्माके दर्शनगुणको प्रगट नहीं होने देते। ये ही दो गुण जीवमें मुख्य हैं—ज्ञान और दर्शन। जीवमें प्राण ये है—ज्ञान और दर्शन। शरीरमें बस रहे हैं शरीरके अग भी तो ऐसे हैं कि दब जायें तो प्राणान्त हो जायें। आयु है, श्वास है, ये प्राण बताये गए हैं पर ये आत्माके कुछ नहीं हैं। वृद्ध हालतमे शरीरघातमे यह प्राणघात करना पडता है। पर जीवका वास्तविक प्राण तो ज्ञान और दर्शन है, जिस प्राणके नष्ट हो जानेपर चीज खतम हो जाती है। तो बात कहते हैं आत्मामें ज्ञानदर्शन न रहे तो जीवके साथ ही न रह सका फिर जावे क्या ? जहाँ ज्ञान नहीं है, दर्शन नहीं है, वह ज्ञान है क्या ? ज्ञानदर्शन प्राण बिना जीवके कभी नहीं होते। इसलिए जीवको अमर कहा है। तो यह ज्ञानतत्त्व कभी नष्ट नहीं हो सकता। शरीर छूट जायगा, अगले भवमे चला जायगा पर ज्ञानदर्शन साथ जायगा और मुक्त होने पर भी ज्ञानदर्शन साथ जायगा। कर्म ये सब यहीं रह जायेंगे और ज्ञानदर्शन प्राण कभी नष्ट नहीं होते। ऐसा जानता है ज्ञानीपुरुष, इस कारण उसे मरणका भय नहीं रहता। जो अपने स्वरूपपर दृष्टि देगा और स्वरूपमात्र अपनेको मानेगा उसको मरणका भय नहीं होता, और मरणका भय प्रायः सभी ससारी जीवोंके लगा है। कोई मरता नहीं है, मरण नहीं चाहता। और मरना है इसलिए उसका दुःख है। ज्ञानी जीव तो यह जानता है कि मेरा तो मरण नहीं है। मैं सद्भूत वस्तु हू, सदाकाल रहूँगा, मेरा स्वरूप ज्ञानदर्शन है वह सदा रहेगा, मेरा घात नहीं है, ऐसा जानकर ज्ञानी जीव मरणका भय नहीं करता। उन्हीं ज्ञानदर्शनका विकासका आवरण करके वाले ये दो प्रकारके ज्ञान बताये गए। ज्ञानावरण और दर्शनावरण इनके क्षयसे पूर्ण ज्ञान और पूर्ण दर्शन प्रकट होता है।

वेदनीयं विदु. प्राज्ञा द्विधा कर्म शरीरिणाम् ।
यन्मधूच्छिष्टतद्व्यक्त--शस्त्रधारासमप्रभम् ॥१६५२॥

इस जीवके साथ जो ८ प्रकारके कर्म लगे हैं उनमेसे तीसरा वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म न तो पूरे तौरसे घातिया कर्म है, न तो पूरे तौरसे अघातिया कर्म है। या यों कह लेना चाहिए कि वेदनीय कर्म घातियाकी तरह भी काम करता है। वेदनीय कर्मके उदयसे दो प्रकारकी बातें होती हैं – एक तो सुख-दुःखके हेतुभूत सामग्रीका मिलना यह तो हुआ अघातिया काम और एक है इन्द्रियद्वारसे सुख अथवा दुःखरूप वेदन करना यह हुआ घातिया कर्मकी तरहका काम। जो आत्माके गुणोंपर प्रहार करे वह तो है घातिया कर्म और जो आत्माके गुणोंपर प्रहार तो न करे, किन्तु घातिया कर्म जसा फल दे सकें उस प्रकारसे बाह्य साधन मिला दे वह है अघातिया कर्मका काम। वेदनीय कर्म दो तरहका है – एक साता दूसरा असाता। साता वेदनीयके उदयसे इन्द्रिय द्वारा सुखका वेदन होता है और साता वेदनीयके उदयसे इन्द्रियद्वारा असाता का उदय होता है। इसके लिए दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे शहद लिपटी तलवारकी धारको कोई चाटे तो उसमें कुछ सुख है और बादमे दुःख है। साता वेदनीयके उदयसे किंचित सुख होता है किन्तु वह सुख क्षोभ मे भरा हुआ है, क्योंकि वह बाह्यसाधनका आश्रय करके सुख माना गया है। इस साता वेदनीयका उदय हो, शरीरकी इन्द्रिया सब सही काम करने वाली हो, उन इन्द्रियोमे बल भी हो, साथमे इच्छा हो और बाह्य-साधन मिलें अनकूल। इतनी बातें बननेपर किञ्चित सुख होता है। तो जो सुख इतना पराधीन है उस पराधीन सुखमे क्षोभ ही भरा हुआ है, शान्ति नहीं बसी है। लेकिन ससारी जीव चाहते हैं, उनकी कल्पनाके अनुसार साता वेदनीयके उदयसे सुख हुआ. असाता वेदनीयके उदयसे दुःख हुआ। दुःखके साधन जुटाते है

इसमें तो आकुलताएं ही आकुलताए बसी हैं। ६ वेदनीय कर्म परमार्थसे तो जीवकी आकुलताके कारणभूत हैं और ससारी जीवोंकी घातके अनुसार साता वेदनीय तो सुख देने वाला है और असाता वेदनीय दुःख स्वरूप वाला है। यद्यपि कोई भी कर्म इस अपनी परिणतिको आत्मामें नहीं देता इसलिए ये कर्म आत्माको कुछ भी नहीं देते। वेदनीय कर्म भी केवल अपनी स्थिति अनुभागमें रहते हैं। रूपरसगंधस्पर्शरूप परिणमता है, आत्मामें कुछ नहीं करता, पर बन्धन है ऐसा। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है ऐसा कि वेदनीय कर्मके अनुदयके कालमें यह जीव स्वय सुख अथवा दुःखरूप वेदन करता है। यों निमित्त दृष्टिकी मुख्यतासे यों कहा जायगा कि साता वेदनीय उसे कहते हैं जो जीवोंके सुखस्वरूप हो और असाता वेदनीय उसे कहते हैं जो जीवोंको दुःख दे। अब आगे यह बतला रहे हैं कि ये सुख दुःख किस-किस आश्रयोंको पाकर होते हैं?

सुरोरगनराधीशसेवितं श्रयते सुखम् ।
सातोदयवशात्प्राणी सकल्पानन्तरोद्भवम् ॥१६५३॥

यह प्राणी साता वेदनीयके उदयसे तो देवेन्द्र, नागेन्द्र, धरणेन्द्र आदिक ऐसे सुखोंको प्राप्त हो जाते हैं जो एक सकल्पमात्र करनेसे तुरन्त हाजिर होता है। यह साता वेदनीयके उदयका प्रभाव बताया गया है। साता वेदनीयके उदयके अधिकारी हैं तीर्थंकर, चक्रवर्ती ये साता वेदनीयके उदयके मुख्य आश्रय हैं। यद्यपि ऐसा कभी भी सम्भव नहीं है चाहे तीर्थंकर भी क्यों न हों कि जिस कालमे जो इच्छा जगे उसी कालमें इच्छाकी बात तुरन्त हो जाय। वस्तुस्वरूप ऐसा है, सिद्धान्त ऐसा है कि इच्छाके कालमें भोग नहीं होता क्योंकि जिसकी इच्छा की जा रही है वह चीज उसी समय यदि सामने है तो उसके इच्छाका भाव ही नहीं होता है। जैसे किसीकी इच्छा है कि ५००) की आज आय बने कभी और सामने ५००) की आय तुरन्त हो रही हो तो कौन इच्छा करेगा कि ५००) की आय हो? वह परिणति नहीं बनती, और यदि बनाये यह तो दूसरे ५००) की इच्छाका भाव बनेगा जो इस समय मौजूद नहीं है। यदि चीज सामने हो भोगका साधन तो उसकी इच्छा नहीं होती है। वहा तो भोगोंका परिणाम रहता है। एक वेदन ही रहता है। और जिस कालमें जो इच्छा की जा रही है इच्छामें जो बात बसायी जा रही है उस इच्छाके भावके समयमें वह चीज हाजिर नहीं है। तो ऐसा कोई पुण्यवान पुरुष नहीं है ससारमें कि इच्छाके समयमें ही भोग प्राप्त हो। इच्छाका समय और है भोगका समय उसके बादका है। लेकिन बहुत ही जल्दी भोगके साधन जहाँ इच्छा करके मिल जायें तो वहाँ यों ही कहा जायगा कि यह ऐसा पुण्यवान जीव है कि इच्छा करते ही ये सब सुख प्राप्त हो जाते हैं। एक पुण्यका माहात्म्य दिखानेके लिए यों कहा गया है ऐसी पुण्यवान जीवोंमें प्रसिद्धि है असख्याते देव देवेन्द्र जिनकी सेवा करते हैं सब जिनके हुक्ममें रहते हैं। यहीं देख लो, कोई राजामहाराजा हो तो उसके साथ कितना ठाठ रहता है और उसकी इच्छाकी पूर्तिके कितने साधन साथ लगे रहते हैं, तो जब यहा मनुष्योंमें ही एक विशेष ठाठ देखा जाता है तो जो असख्यात देवोंके द्वारा सेवित इन्द्र हैं, जिनके अनेक वैभव हैं और जिनके खाने-पीनेका भी कोई दुःख नहीं है, न साधन जुटाने पडते हैं क्योंकि उनके कवलाहार है ही नहीं इच्छा करने ही कठसे अमृत झरता है और तृप्त हो जाते हैं, ऐसे बड़े सुखके धनी धरणेन्द्र, नागेन्द्र देवेन्द्र आदि और मनुष्योंमे चक्रवर्ती जो साधारण जनोंमें न पाये जायें ऐसे होते हैं, और तीर्थंकरको ले लीजिए। जब तक उनके बीच रहते हैं तब तक तपश्चरण नहीं किया, यों ही गृहस्थावस्थामें रहते हैं, उस कालमें तीर्थंकर जो कुछ भी इच्छा करते हैं इन्द्र उनकी सेवामे रहते हैं और तृष्णाकी पूर्ति करते हैं लेकिन इन सब महान पुण्यवान आत्मावोंके भी इच्छाके कालमे भोग प्राप्त नहीं होते लेकिन फिर भी देखो साता वेदनीय कितना प्रबल है, कितना औपाधिक कार्य है कि ससारमे ऐसे बड़े-बड़े सुख भोग इच्छा करते ही प्राप्त हो जाते हैं, ऐसा सब कथन जानकर अज्ञानी तो मनमे चाह बढ़ा लेगा कि मुझे ऐसा ही वैभव प्राप्त हो, ऐसा ही पद मिले, लेकिन ज्ञानी जानता है कि इन सब सुखोंसे शान्ति नहीं

है बल्कि अशान्ति मिलेगी। कितना शारीरिक दु ख है, कितना बाह्यसाधनोंकी कमीमे हैरानी है कि ऐसा कोई दु ख आ जाय तो उस दु खमे ज्ञानी पुरुष शान्ति धारण कर सकता है। और करने वाले ज्ञानी सुखमें भी कर सकते हैं, मगर प्राय करके इन सुखोकी प्राप्तिके समयमे जीवको शान्ति नहीं मिलती, तृष्णा लगी रहती है और तृष्णाके कारण वतमानमे मिले हुए भोग भी नहीं भोगे जा सकते। आगेकी धुन लगी हुई है इसलिए वहा अशान्ति ही मिलती है। ऐसा साता वेदनीय कर्म इस जीवके साथ लगा है इसे यों कह लीजिए कि तृष्णा बढानेके लिए साता वेदनीयका बडा सहयोग है। गरीब आदमी जगलमे रहनेवाले भिल्ल आदिक यदि तृष्णा करेंगे तो १०० ५० रुपयेकी करेंगे, उनके यह इच्छा न बनेगी कि मैं करोडपति बन जाऊं अथवा राजा बन जाऊ, पर एक पुण्यवान पुरुष जो अपने गद्दे तक्केपर बैठा ही बैठा लाखों रुपयाकी आयका हिसाब रखता है उसके तृष्णा बढेगी तो करोडों, अरबोंपर दृष्टि जायगी। तो साता वेदनीयका उदय तृष्णा बढ़ानेमें बहुत सहयोग देता है। और जीवको दु ख है केवल तृष्णाका। सन्तोष नहीं है इस लए दुखी है। प्रत्येक मनुष्यको देखो चाहे राजा हो, चाहे रक, सभी सन्तोष न होनेके कारण दु खी है। जो रोज रोज रोटी मागते हैं। रोटी मिल भी जाती है फिर भी उन्हें धैर्य नहीं है कि चलो आज रोटी खा ली, कल फिर मागकर खा-लेंगे। तो यों साता वेदनीयका उदय जीवके लिए हितकारी नहीं है। दूसरा है असाता वेदनीयका उदय। अब उसके विषयमे सुनिये।

असद्वेद्योदयात्तीव्रं शारीर मानस द्विधा।
जीवो विसह्यते दु खं शश्वच्छ्वभ्रादिभूमिषु ॥१६५४॥

असाता वेदनीयके उदयसे शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारके दु ख होते है। दु ख होते हैं दो प्रकारके—शारीरिक और मानसिक। दु खोंको जोड लीजिए, उन दोनोंका बटवारा इन दो में मिलेगा—एक शारीरिक दु ख और दूसरा मानसिक दु ख। सभी दु खोंपर दृष्टि डालिए। शरीरमे रोग हो, फोडा फुसी हो बुखार आदिक हो चोट लग जाय, कमर दुखने लगे, ऐसी जब स्थिति बनती है तो उनके शारीरिक दु ख है और जहाँ मनके विचारसे दु ख बनता है ये सब मानसिक दु ख है। जैसे अपमान हो गया, निन्दा हो गयी सम्मान न हो सका अथवा किसी रिश्तेदारसे बिगाड हो गया, या किसी इष्टकी मरणासन्न स्थिति हो गयी या कोई दु ख ऐसे हो गए कि जिन दु खोंसे अपने शरीरका तो सम्बन्ध है नहीं, अपने शरीरपर कोई प्रहार हुआ नहीं और मनमे ही विचार किया कि दु ख बढा लिया, कोई बडी तीव्र वेदना हो जाय तो उसका दु ख देखकर पिताको जो क्लेश होता है वह शारीरिक है या मानसिक है? शारीरिक दु ख नहीं है। यदि घबडाकर, बडा दु खी होकर अपने शिरमे ढेला मार ले उस पुत्रके दु खको देखकर, शिरमे दर्द हो गया वह तो है शारीरिक और उस पुत्रके प्रति जो उसने विकल्प बनाये वह है मानसिक वेदना। असाता वेदनीयके उदयमे दो प्रकारके दु ख होते हैं – एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। तो इन दु खोंको दु खरूपसे भोगने वाले है नारकी जीव। नारकियोंका शारीरिक दु ख ऐसा है कि एक नारकी दूसरे नारकीको देखकर तीव्र प्रहार करता है उनपर अनेक आक्रमण करता है। शरीरके तिल-तिल बराबर टुकड़े हो जाते हैं इतनेपर भी दु खों से छुटकारा नहीं हो पाता। शरीरके परमाणु परमाणु मिलकर फिर शरीररूप बन जाते है। ऐसा उनका वैक्रियक शरीर है। वे नारकी दूसरे नारकी को अधिकसे अधिक वेदना पहुचानेका प्रयत्न करते हैं, कोल्हूमे पेलें, आगमे जलावें हथियारोंमे शरीरके खण्ड-खण्ड करदे, सर्प बिच्छु आदि बनकर शरीरको डसलें, अनेक प्रकार के कष्ट भोगते हैं वे नारकी जीव। एक जीव दूसरे जीवपर आक्रमण करे तो क्या वह बिना मानसिक दुख के कर सकता है? मारनेवाले नारकीको मानसिक दु ख अधिक है और मरनेवालेको शारीरिक दु ख अधिक है, पर वहाँ किसी नारकीको ऐसा अधिकार नहीं दिया गया कि यह मारनेवाला नारकी है और यह मरने-

वाला नारकी है। तो नरकोंमे रहनेवाले जीवोंको शारीरिक दुःख और मानसिक दुःख ये दोनों होते हैं। अथवा असाता वेदनीयका तीव्र उदय है। फिर नारकियोंके अलावा अब यहाँ मध्यलोकमें देख लीजिए, मध्य लोकके मनुष्योंका दुःख देख लीजिए। शारीरिक दुःख भोगते हुए हैं। अभी देखिये—दोनो समय रसोई बनाते हैं, पेटभर खाते भी हैं, ऐसा किए बिना गुजारा भी नहीं होता, शारीरिक दुःख भी अनेक मार्गमे लगे हुए हैं। मानसिक दुःखोंकी बात देखो—सभी सवेरा होता हो नहाने धाने हैं, पूजन वगैरह आदिके कार्य करते हैं, बिना नहाये, बिना मन्दिर दर्शन किए खाना नहीं खाते हैं। यात्राका भाव मनमे रखते हैं, नहाते धोते हैं, दोनों बार खाना बनाते हैं, खाते हैं, ऐसा किए बिना गुजारा भी कैसे हो? यह कितना साता वेदनीयका उदय है, हालाकि भोजन मिलता है, और खाते हैं, पर वह साता वेदनीयके उदयमें मिलता है। मगर अशान्ति देखिये—कितनी उसमे भरी पडी हुई है? कितनी अशान्ति इन मनुष्योंने जान बूझकर बढाया है। जो लोग सयमी बने हुए हैं उनको कुछ शान्ति रहती है। कोई भी व्यक्ति हो यदि वह एक ही बार खानेका नियम रखता है तो उसे बडी धीरता है। एक बार भोजन होनेके बाद फिर तो कोई क्षुधाका क्लेश नहीं है। और खानेके बादके क्षुधा सम्बधी क्लेश कल्पना बनानेके होंगे। सयमके साथ-साथ सच्चा ज्ञान भी चाहिए नहीं तो कोरे असयमसे वह अपनी अशान्त और बढा लेगा। सयमके बिना बहुत अशान्ति बढ जाती है। तिर्यञ्चोंमें देखो तो शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकारके दुःख बराबर चलते हैं। घोडा, गधा बैल भैंसा आदि जानवरोंको देखो—ये कितना कितना बोझ भी लाद ले हैं, कधे सूज जाते हैं और पिटते भी रहते हैं उनको ऐसी दशामे देखकर क्या हम आपके मनमे यह नहीं आ जाता कि ये बेचारे क्या सोचते होंगे? बेचारोंकी नाक भी छिदी हुई, नकेल पडी हुई है, कही जा भी नहीं सकते, चाहे कितना ही मारे, वह तो मालिकके हाथ बात है। तो कितनी-कितनी पराधीनतावोंके सताप ये जीव सह रहे हैं? इस असाता वेदनीयके उदयसे ये शारीरिक और मानसिक दुःख होते हैं। देवोंके देखो तो शारीरिक दुःखोंकी बात तो हम कुछ नहीं कह सकते। होते होंगे कुछ न कुछ प्रकारके दुःख, मगर स्थूल रूपसे जैसा कि वर्णन सुननेमें आया है, उसके माफिक ऐसा विदित होता है कि शारीरिक दुःखकी बात उनके नहीं घटती। जब भूख लगती है तो कठसे अमृत झरता है और उससे वे तृप्त हो जाते हैं। ठड गरमीकी वेदना भी उनके नहीं होती। बिच्छू सर्प आदिक जानवरोंकी बाधायें भी उनके नहीं होतीं, उनका वैक्रियक शरीर है, पर मानसिक दुःख इतना होता है कि जितना मानसिक दुःख मनुष्योंके भी नहीं होता। उन इन्द्रादिक देवोंकी आज्ञामे अनेक देव होते हैं, वे देव उनकी आज्ञा मानकर अपनेको धन्य समझते हैं। तो ऐसे इन्द्रोंके सुखोंका क्या ठिकाना, लेकिन मानसिक दुःख उनके इतने पडे हुए हैं कि उनको उपमा देनेके लिए यहा मनुष्योंमे कोई नहीं मिलता। बड़ी चिन्तामे पड़े हुए हैं, मन काबूमें नहीं है। मनुष्योंमे तो किसी मनुष्यको अगर अधिक मानसिक दुःख हो जाय तो कहो हार्टफैल हो जाय मगर उन देवोंके इतना मानसिक दुःख बढ जाता है पर उनका हार्ट फैल नहीं होता। मानसिक दुःख मनुष्योंके मानसिक दुःखसे देवोंमे अधिक है। ये वेदनीय कम जीवके स्वरूप नहीं हैं और वेदनीय कर्मके उदयसे जो बात इस जीवके बनती है वह भी इस जीवका स्वरूप नहीं है। इससे निराला केवल ज्ञानमात्र चैतन्यमात्र यह मैं अतस्तत्त्व हू, आत्मा हू, ऐसी दृष्टि ज्ञानी पुरुष रखता है।

दृष्टिमोहप्रकोपेन दृष्टि साध्वी विलुप्यते ।
तद्विलोपान्निमज्जन्ति प्राणिन. श्वभ्रसागरे ॥१६५५॥

अब चौथा कर्म है मोहनीय कर्म। मोहनीय कर्मके मूल भेद दो हैं—एक दर्शनमोहनीय और एक चारित्रमोहनीय। इनमेसे दर्शनमोहनीय कमके उदयसे सम्यग्दर्शन लुप्त हो जाता है। और सम्यग्दर्शनके लुप्त हो जानेसे यह जीव नरकमे उत्पन्न होता है। मिथ्यात्व कर्म उसे कहते हैं जिसके उदयमे जीव मिथ्यात्व परिणाममे बसे। सम्यग्दशन हो सका कि रचमात्र भी वहा उपाधि नहीं। परपदार्थोंका अपना मानना, पर-

पदार्थोंको 'यह मैं हूँ' इस प्रकार आत्मारूपसे मानना और रागद्वेष कामक्रोध आदिक विभावोंको अपनाना, इनसे अपना हित समझना ये सब मिथ्यात्वके कुभाव हैं। दर्शनमोहनीयके तीन भावोंमे प्रवल है मिथ्यात्व कर्म, जिसके उदयसे इस जीवको अपने हितका मार्ग नहीं सूझता निरन्तर बाह्यपदार्थोंपर दृष्टि बनी रहती है। इन बाह्यपदार्थोंके प्रति मोहभाव न रहे तो आत्मामे आनन्द ही आनन्द है ही, क्योंकि आनन्द आत्माका स्वभाव है। तो आनन्दके रहनेमें कोई आश्चर्य नहीं, आनन्द तो अपने आत्माके स्वरूपकी चीज है। आनन्द तो जीवमें अपने आप है। परपदार्थोंमें दृष्टि लगी होनेसे, उन्हें ही अपना शरण माननेसे ये ससारी जीव निरन्तर परेशान रहते हैं। जिनेन्द्र भगवानकी बडी करुणा हुई कि जिनकी दिव्यध्वनिसे प्राणियोंको उपदेश मिलता है और उसे वे सुनकर अपना कल्याण कर लेते हैं। अपने स्वरूपको जानना और चैतन्यमात्र ही मैं हूँ अन्य कुछ नहीं हूँ—ऐसी श्रद्धा करते हुए और ऐसा ही जानने माननेमे लगे रहना, उस ही मे उपयोग बनाये रहना इसीको कहते है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र। जीव अनादि कालसे कर्मोदयके कारण ससारमे जन्म-मरण करते चले आ रहे हैं। इन कर्मोंको नष्ट करनेका उपाय है अपने आत्माके स्वभावको दृष्टि में लेना और इस आत्माको 'यह मैं हू' ऐसी प्रतीति बनाये रहना, इस ही उपायसे कर्म अपने आप नष्ट हो जायेंगे। और इस ही उपायसे सारे सकट टल जायेंगे।

दृष्टिमोहप्रकोपेन दृष्टिः साध्वी विलुप्यते।
तद्विलोपान्निमज्जन्ति प्राणिनः श्वभ्रसागरे ॥१६५५॥

जीवके साथ ८ प्रकारके कर्म बधे हैं। उन सब कर्मोंमे प्रवल कर्म है मोहनीय कर्म। मोहनीय कर्म है तो सब बाकीके कर्म मौज मानते है और जहा मोहनीयकर्म नष्ट हुआ तो सभी कर्म शिथिल हो जाते हैं अपनी हार मान बैठते है। इसीलिए सभी कर्मोंका राजा मोहनीयकर्मका विकास है जब तक अन्य किसी भी कर्मकी सत्ता नष्ट नहीं होती और मोहनीयकर्मकी सत्ता नष्ट हुई कि धीरे-धीरे सब कर्मोंकी सत्ता नष्ट हो गई। मोहनीयकर्म है दो प्रकारका—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय तो उसे कहते हैं जो आत्माके सम्यक्त्व गुणको मोहित करदे, नष्ट करदे। आत्मा मे सम्यग्दर्शन पैदा न हो सके, जिस कर्मके उदयसे उसका नाम है दर्शन मोहनीय और जिस कर्मके उदयसे आत्मा चारित्र तप व्रत, सयम, अपने आपमे मग्न होना ये चारित्र न पाल सके उसे कहते हैं चारित्र मोहनीय कर्म। सो दर्शन मोहनीयके ३ भेद है—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। असली तो मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व उसे कहते हैं जिसके उदयसे जीवमे मिथ्यादर्शन बने। बधना मिथ्यात्व ही है जीवमें लेकिन जब अच्छा परिणाम होता है तो मिथ्यात्व कर्म कुचल दिया जाता है। जैसे जतोसे मूगको या चनाको दल देवे तो वहाँ ३ चीजें प्रगट होती हैं—कोई चना साबुत निकल आता, कुछ दाल निकल आती और कुछ चूरा हो जाता है। इसी तरह से जब सम्यग्दर्शनका परिणाम होता है उपशम सम्यग्दर्शनके प्रारम्भ होते ही मिथ्यात्व कर्म दल दिया जाता है सो उसके तीन हिस्से हो जाते हैं तो कुछ तो बराबर मिथ्यात्व ही रह जाता है और कुछ मिथ्यात्वके दो दल हो जाते हैं। सम्यग्मिथ्यात्व याने सम्यक्त्वरूप मिथ्यात्वरूप परिणाम होनेका नाम है दो दल हो जाते है। कुछका चूरा हो जाता है। जो चूरा हो गया है मिथ्यात्वका उसे कहते है सम्यक्त्वमोहनीय। इन तीनों के अलग अलग काम है। मिथ्यात्वका काम है सम्यग्दर्शनको रचमात्र भी प्रकट न होने देना और जो-जो दल है याने सम्यक्त्व है उसका काम है जीवमे सम्यक् और मिथ्यात्व दोनों रूप परिणाम बनाये रहना, न पूरा सम्यक्त्व है, न पूरा मिथ्यात्व है। और सम्यक्त्व मोहनीयकर्मका काम है जो जीवके भेद बनाता है कि सम्यग्दर्शन तो रहे पर उसमे चल मलिन अगाढ दोष उत्पन्न करे। जैसे बूढा आदमी चलता तो खूब है पर लाठीकी वजहसे चलता है, लाठीकी वजहसे वह बूढा गिरता तो नहीं है पर चलमल होता है, ऐसे ही सम्यक्त्वमें दर्शन मोहनीयका काम हुआ आत्माके सम्यक्त्वका लाभ न होने देना। यह जीवके साथ अनादि

कालसे बधे हुए हैं जिसके कारण हम आप सब बरबाद होते चले आ रहे हैं। जिस भवमें गए उसी भवमें जो परिजन मिल गए उनमें मोह किया, पर उनसे मिला कुछ नहीं। मरनेके बाद ना फिर उनकी कुछ खबर भी नहीं रहती। तो मिथ्यात्वके उदयमे यह जीव अब तक बरबाद होता चला आया। सो वास्तविकता यहा भी है कि कर्मका जो उदय है वह निमित्त मात्र है, मगर जीव खुद अपनेमे भूल कर डालता है। परपदार्थोंकी ओर दृष्टि लगाकर अपनेको बरबाद कर रहे हैं।

चारित्रमोहपाकेन नाङ्गिभिर्लभ्यते क्षणम्।
भावशुद्ध्या स्वसात्कर्तुं चरणस्वान्तशुद्धिदम् ॥१६५६॥

अब मोहनीय कर्मका दूसरा भेद है चारित्र मोहनीय कर्म। इसके उदयसे यह प्राणी चारित्रकी शुद्धताको प्रकट नहीं कर पाता। चारित्रका जो मोहनीय कर्म विध्वस करे उसे चारित्रमोह कर्म कहते हैं। जैसे बहुतसे लोग प्रश्न करते हैं कि हम जान तो सब गए पर उसमे हम मन क्यों नहीं लगा पाते तो उत्तर उसका यह है कि ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम है। मानो प्रतीति सहित जान गए हों तो सम्यग्दर्शन हो गया मगर अभी रागद्वेष लगे हुए है जिससे कि यह पथमे लग नहीं पाता। जिस पथको हम सामान्य रूपसे समझें तो रागद्वेषमोह ये तीनों जीवकी बरबादीके कारण हैं। सो मोह तो बनता है दर्शनमोहके उदयसे और रागद्वेष बनते हैं चारित्रमोहके उदयसे। जब चारित्रमोहका उदय है तो मन शुद्ध नहीं रह सकता। भावशुद्धि नहीं रहती। आत्मामे कुछ भी वैराग्यताका अनुभव नहीं कर पाता चारित्रमोहके उदयमें।

लब्ध्वापि यत्प्रमाद्यन्ति यत्स्खलन्त्यथ सयमात्।
सोऽपि चारित्रमोहस्य विपाक परिकीर्तित ॥१६५७॥

अब जिन साधनोंसे चारित्र भी प्राप्त कर लिया, सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और फिर चारित्र मोहनीय कर्ममे अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंने उनमें चारित्र उत्पन्न किया। अब उन मनुष्यों के प्रति बतलाते हैं कि जो सयम और चारित्रसे दुलभ है। भव भवमे भटकनेके बाद मुश्किलसे तो यह मनुष्यभव मिलता है, श्रेष्ठ भव मिलता है फिर उसमे सम्यग्दर्शन मिलना और फिर साथ ही चारित्र बन जाय तो यह कितनी कठिन बात है? मनुष्यभवमे चारित्र ग्रहण कर लिया है और फिर ये कर्म चारित्रको रोके हुए हैं तो यह चारित्र मोहका तीव्र उदय है। चारित्र मोहके उदयसे यह जीव सयमको भी ग्रहण नहीं कर पाता। कदाचित सयम ग्रहण करले, और उसमें प्रमाद हो तो वह सयमी चारित्रसे भ्रष्ट हो जाता है। तो यह चारित्रमोह इन २५ कषायोंका नाम है जो कि लगी है कषायें। जब हृदयमें कषायें बैठी है तो मन स्थिर कहाँसे हो? कषायें दूर हों तो मनको शान्ति मिले, क्योंकि शान्तिका मिलना और कषायोंका दूर होना एक साथ होना है। कषायें छोडे बिना शान्ति मिल नहीं सकती। जो बड़े पुरुष हुए उन्होंने सर्वप्रथम कषायों का परित्याग किया और एक अपने आत्मतत्त्वका ही अभ्यास किया तो उनको निर्वाण प्राप्त हुआ। विषयोंमे रहकर, घरमे बसकर, मोहमे रहकर, रागद्वेषमे रहकर कोई जीव क्या निर्वाण प्राप्त कर सकता है? निर्वाण तो नाम है अकेले रह जानेका। कैवल्य होनेका नाम निर्वाण है। केवल रह गए, खाली रह गए तो यह मैं आत्मा अपने स्वरूपसे जैसा हू वैसा ही मात्र खालिस रह गया तो उसका नाम है कल्याण, मोक्ष। तो जहाँ मोक्षमार्गमे लगनेका भाव हो वहा यह समझना चाहिए कि हम अपनेको केवल समझते रहे। मैं सबसे निराला निर्लेप केवल चैतन्यभावमात्र हू—इस प्रकार अपनेको केवल मान सके तो उसे निर्वाणकी प्राप्ति होगी अन्यथा न होगी। निर्वाण कहते है अकेला रह जानेको, तो हम अपनेको अभीसे अकेला होनेकी श्रद्धा करें, ज्ञान बढायें और उसकी श्रद्धा बढायें। अज्ञान हटे तो निर्वाण होगा और अगर मोह ममतामे ही पड़े रहे तो ससारमें जन्म मरणका चक्र चलता रहेगा। लोग सोचते हैं कि यह मोह बडा बलवान है। क्या करें? यह

मोह नचाता है तो हमें नाचना पड़ता है। ऐसा सोचनेसे तो मोह बलवान रहेगा ही और इसे संसारमे भटकायेगा। पर यह बतावो कि अगर मोह बड़ा बलवान है तो क्या ज्ञान बड़ा बलवान नहीं है ? अरे ज्ञान सबसे अधिक बलवान है। ज्ञान हो तो यह मोह वैरी क्षणभरमे ही ध्वस्त हो जाता है। यह जीव अभी तक मोह बड़ा बलवान है इस तरहके गीत गाता रहा। यह गीत न गाया कि यह ज्ञान बड़ा बलवान है। यह ज्ञान समस्त दुःखोंसे छुटकारा प्राप्त कराकर शान्तिमे ले जाने वाला है। यों इस ज्ञानके गीत कोई गाने लगे तो ज्ञानकी महिमा बढ़ने लगे। इस मोहके गीत गानेसे तो कुछ भी लाभ नहीं है। अरे मोह तो इस जीवके स्वभावमें है ही नहीं। मोह तो विभाव है। जब जीव अपने स्वभावको सम्हाले तो यह मोह झट दूर हो जायगा। तो चारित्र मोहके स्वरूपकी बात चल रही है कि चारित्र मोहमे यह जीव सयमको ग्रहण नहीं कर पाता। कदाचित ग्रहण कर ले तो चारित्र मोहका तीव्र उदय आये तो वह भ्रष्ट हो जाता है।

२५ कषायें चारित्रमोह हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया और अप्रत्याख्यानावरण लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण माया, प्रत्याख्यानावरण लोभ, सज्वलन क्रोध, सज्वलन मान, सज्वलन माया व सज्वलन लोभ। यों १६ कषायें हुई और ६ नोकषायें हैं—हास्यरति अरति आदिक। जो मिथ्यात्वको पुष्ट करे ऐसा क्रोध हो तो वह अनन्तानुबंधी क्रोध है। जो बड़ा घमड बगराये वह अनन्तानुबंधी मान है। ऐसे ही कोई इस तरहका छल कपट करे जो कि पहचानमें न आ सके वह अनन्तानुबंधी माया है। जैसे बगला मछली पकड़नेके लिए कितना मायाचार करके एक पैरके बल पर निश्चलवृत्तिसे खड़ा रहता है तो क्या उस समय वह निष्कपट है ? अरे उस समय वह बड़े कपटके परिणाम बनाये है। वह चाहता है कि मुझे शान्त विश्वास करके पक्षीगण मेरे निकट आयें, और जब निकट आयें तो झट उठा लिया। अनन्तानुबंधी माया ऐसी होती है कि दूसरा आदमी पहिचान न सके, उसे सरल ही जाने। तो जो जीव धर्मोंके प्रेरे बन उथ त मिथ्यात्वका पुष्ट करे ऐसे मायाचारका नाम है अनन्तानुबंधी माया। अनन्तानुबंधी लोभ क्या ? जहां तीव्र लोभ हो, घरमे कोई बच्चा बीमार हो तो कहां हजारोंका धन उसके पीछे खर्च करदें, अगर कर्ज लेना पड़े तो कर्ज लेकर लगायेंगे पर अपने धर्मपर कोई संकट की बात आयी हो या धर्मका कोई काम सामने आया हो तो वहाँ कुछ भी खर्च नहीं करते, तो इसे समझ लीजिए कि यह अनन्तानुबंधी लोभ है। धर्मके काममे भी जो लोभ करे सो अनन्तानुबंधी लोभ है या जो मिथ्यात्वको पुष्ट करे उसे कहते है अनन्तानुबंधी लोभ। फिर है अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। जो अणुव्रतको प्रकट न होने दे ऐसा जो क्रोध है वह है अप्रत्याख्यान क्रोध, ऐसे ही जो मान, माया और लोभ वगैरह अणुव्रतको प्रकट न होने दें उन्हे अप्रत्याख्यान मान, माया और लोभ कहते है। फिर है प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ। ये कषायें पहिलेके ८ कषायोंसे कुछ हल्की है, इनका अर्थ है कि ऐसी कषायें जो मुनियोंका व्रत न होने दें, अणुव्रत तो हो सके पर अभी मिथ्यात्व चल रहा है, अर्थात संयम नहीं बन पा रहा, असंयमपर चल रहे उसे कहते है प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ। संज्वलन कषायें मुनि तकके होती हैं। संयम बराबर बन गया, पर संयममे कभी-कभी कोई दोष उत्पन्न हो जाता है संज्वलन कहते है, ऐसे ही संज्वलन क्रोध, मान माया और लोभ होते है। जो महाव्रत तो भग नहीं करता परन्तु यथाख्यात चारित्र प्रकट न होने दे उसे कहते है संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ। तो ये १६ कषाय हैं। ये चारित्र मोहनीयके भेद है।

९ नोकषायें है जैसे हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद। हास्य उसे कहते है जिसमे जीवको हसी आये। कोई लोग ऐसे होते है कि जिन्हे हसीकी प्रकृति बनी रहती है। एक ऐसा नौकर था बरुवासागरमे सेठ मूलचन्दके यहाँ। सेठ मूलचन्दकी सेठानी जब गुजर गयी तो वह नौकर कहीं बाहर जाकर छिपकर बैठ गया। सेठ मूलचन्दने उसे बहुत ढुढवाया, खुद भी ढूढा, पर

न मिला, उस समय तमाम प्रकारके काम भी थे। वह इसीलिए छुपकर बैठ गया था कि हम उस जगह जायेंगे तो हंसी आयगी। कुछ देर बादमे जब सब काम हो गया तब वह नौकर आया। सेठ मूलचन्द पूछने लगे कि तू अभी तक कहाँ था, यहाँ तमाम काम था, तुझे बहुत ढूंढा पर न मिला? तो उस नौकरने हसते हुए कहा कि हमारी हसनेकी आदत है, कहीं हसी न आये उस जगह पर, यही सोचकर मैं न आया था। उसका हसना देखकर सेठ मूलचन्द भी हसने लगे। तो किसी किसीकी हसनेकी प्रकृति होती है। और कोई-कोई लोग रति बहुत करते हैं। जैसे कहते हैं कि यह बड़े सुकुमार हैं पर राग बराबर बना हुआ है, किसीके रति की प्रकृति रहती है। दूसरोंसे द्वेष करना, ईर्ष्या करना, घृणा करना सो अरति प्रकृतिका उदय है, जिसके उदयमे आत्मामें शोक प्रकृतिका उदय हो वह शोक प्रकृति है। किसी किसीकी आदत है कि उनका चेहरा प्रसन्नतामें नहीं रह पाता। किसीको बडा भय बना रहता है। कोई कल्पना बना लिया उससे भयकी अवस्था बनी रहती है। इसी प्रकार किसी चीजको देखकर घृणा करे, जुगुप्सा बनी रहे तो वह जुगुप्सा प्रकृतिका उदय है। अपनेको पुरुषलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग रूप मानना यह पुरुषलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग प्रकृतिका उदय है। इस प्रकार चारित्रमोहकी २५ कषायें हैं जिनके कारण यह जीव चारित्र धारण नहीं कर पाता, और कदाचित इनमेसे कुछ कर्मोंका मन्द उदय हो गया तो ऐसी स्थितिमें यह कभी चारित्र भी धारण करले, पर ऐसा वेग आता है कि वह उस चारित्रसे गिर जाता है। तो यह चारित्र मोहनीय कर्मके कारण जीवकी ऐसी अवस्थाए हैं, जो अब तक चली आयी हैं। इससे शिक्षा लेनी है कि चारित्र मोहके उदय में ये नाना त्रुटिया हो रही हैं। लेकिन सत्य बात वहाँ भी यही है कि कर्म अपनी परिणतिसे उन त्रुटियोंको नहीं कर रहा किन्तु कर्मका उदय निमित्त मात्र है। जीव अपनी परिणतिसे उसके निमित्त सन्निधानसे अपने विभाव परिणाम कर रहा है।

सुरायुरारम्भककर्मपाकात्सभूय नाके प्रथितप्रभावैः।
समर्थ्यते देहिभिरायुरत्र सुखामृतस्वादनलोलचित्तैः ॥१६५८॥

कर्मोंके सम्बधमे अनेक प्रकारके चिन्तन करना और मुख्यतया कर्मोंके फलका चिन्तन करना सो विपाकविचय धर्मध्यान है। उसी प्रसगमे सब कर्मोंका स्वरूप बताते हुए इस समय आयुकमका स्वरूप बतला रहे हैं। तो आयुकमके चार भेद हैं—देव, मनुष्य तिर्यञ्च और नारक। आयु कर्मका काम है कि इस जीवको शरीरमें रोके रहे, आयुकर्म इस जीवको नारकी शरीरमे रोके रहे तो उसका नाम नरक आयु है, इसी प्रकार तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदिके शरीरमे जो आयुकर्म रोके रहे उसका नाम तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि आयु है। तो इन चारों प्रकारके आयुकर्मोंमे जीव उन-उन भवोंमे बना रहता है। सो उनमेसे एक देव आयु तो पुण्यका फल है, जिसके कारण वैभवसामग्री सुख ये सब बराबर उनके बनते रहते हैं और नरक आयु जो है वह तीव्र पापका फल है, जिसके उदयमे नारकियोंको ऐसे शरीरमें रहना पडता जो महादुर्गन्धित हैं और ऐसे क्षेत्रमें रहना पडता कि जो क्षेत्र भी महान दुर्गन्धित हैं। बताते हैं कि नरकोंकी भूमिका एक ढेला भी यहाँ आ जाय तो यहाँ सैकडों कोशके मनुष्य पशु-पक्षी मर जायें, ऐसी कठिन दुर्गन्धित भूमि है। तो जहाँ क्षेत्र भी कठिन है वहाँकी यह नरक आयु तो कठिन है ही। तो नरक आयु तीव्र पापका फल है। मनुष्योंको पुण्यका भी फल मिलना है और पापका भी। ऐसे ही तिर्यञ्चोंको भी पुण्यका भी और पापका भी फल मिलता है। राजा महाराजावोंके घरमे बधे हुए हाथी, घोड़े तथा कुत्ते वगैरह कितना आरामसे रहते हैं, काम कुछ नहीं पडता, इतना हृष्ट-पुष्ट रहते हैं कि शरीरमें कहीं हड्डी तक नहीं मालूम पडती। यह उनके पुण्य का ही तो फल है। बहुतसी गाय भैंस भी बड़े आराममें रहती हैं। किसी-किसी पशुको तो भरपेट घास भी नहीं मिलती और किसी-किसी पशुको बडी सेवा होती है। तो यह उनके पुण्यका उदय है। मनुष्योंमें तो साफ नजर आता। कोई-कोई लोग तो हजारों आदमियोंके बीच घिरे रहते हैं, बडा सम्मान होता है और

कोई-कोई लोग भीख मांगते फिरते हैं। तो ये सब पुण्य पापके फल हैं। ज्ञानी जीव इन पुण्य फलोंको भी कुछ महत्त्व नहीं देता। वह जानता है कि यह पुण्यफल नारकादिक दुर्गतियोंमें ले जानेका कारण बन जाता है। तो ज्ञानी जीवको पुण्यफलमें विश्वास नहीं है, उसे अहितरूप मानता है और पापके फलमें वह ज्ञानी घबड़ाता नहीं है। जैसे पुराने समयमें सुकुमाल मुनिको शादी होनेके दो तीन दिन तक स्यालिनीने नोच-नोच कर खाया था तो क्या इसे पापका फल न कहेंगे? सुकौशल स्वामीको उसकी ही माताने मरकर सिंहनी बनकर भक्षण किया था तो क्या इसे पापका फल न कहेंगे? गजकुमार मुनि विवाह करनेके एक दिन बाद मुनि हो गए थे तो उनके ही स्वसुरने शिरमें बाढ बनाकर कोयला जलाया था, शिर जल रहा था तो क्या इसे पापका फल न कहेंगे? था वह पापका फल, पर ज्ञानी पुरुष थे वे, वे तो अपने ज्ञानमें ही मग्न रहते थे। तो इतने बड़े उपसर्ग होने पर भी परिणामोंमें मलिनता नहीं आने दिया। आखिर समस्त कर्मकलंकोंसे मुक्त होकर उनका निर्वाण हुआ। तो ज्ञानी जीव पुण्य फलको महत्त्व नहीं देते वे तो आत्मस्वभावको महत्त्व देते हैं। आत्मस्वभावकी दृष्टि बने तो यह सर्वोत्कृष्ट सार बात है ऐसा ज्ञानी जीवका दृढ श्रद्धान है।

नरायुषः कर्मविपाकयोगान्नरत्वमासाद्य शरीरभाजः।
सुखासुखाक्रान्तधियो नितान्तं नयन्ति कालं बहुभिः प्रपञ्चैः ॥१६५६॥

जीवके साथ बंधे हुए ८ कर्मोंमें से आयुकर्मका यहाँ वर्णन चल रहा है। आयु कर्मके ४ प्रकार हैं—नारक आयु, तिर्यञ्च आयु मनुष्य आयु और देव आयु जिनमेंसे देव आयु नामके उदयसे नाना सुखों के साधनवाले शरीरमें जन्म होते हैं, वह एक पुण्यका फल है। लेकिन उस पुण्यफलमें आसक्त होने वाले जीव अपना इतना बिगाड कर लेते हैं कि स्वर्ग छोड़कर वे एकेन्द्रिय तकमें जन्म लेते हैं। अब इस छंदमें मनुष्य आयुके उदयका वर्णन चल रहा है। यह जीव मनुष्य आयु नामक कर्मके उदयसे मनुष्यभवको प्राप्त होता है, तो यह मनुष्यभव कुछ तो सुखरूप है, कुछ दुःखरूप है। जैसे कि देव शरीर सुखरूप ही है। भले ही उनको मानसिक दुःख हो जाते हैं, मगर उन देवतावोंको शारीरिक दुःख नहीं है। उनका वैक्रियक शरीर है, उनके कंठसे अमृत झरता है, क्षुधा तृषा रोग आदिक की बाधाएं नहीं हैं, पर मनुष्योंको बाधाएं भी हैं और कुछ सुखसाधन भी हैं, वैभव भी हो, आजीविकाका साधन भी हो लेकिन शरीरभूत बातको कौन मेटे? जीर्ण होगा ही। चाहे सेठ हो चाहे गरीब हो बाधा तो एकसी होती है। तो मनुष्यभवमें एक सुख भी है कुछ तो दुःख भी है। ऐसे नाना प्रकारके प्रपचोंसे यह मनुष्य काल यापन करता है।

एक किम्वदन्ती है कि एक बार ब्रह्माने ४ जीव बनाये, कोई बनाता नहीं है मगर एक शिक्षा लेने के लिए यह किम्वदन्ती कही जा रही है। तो वे चार जीव थे उल्लू, गधा, कुत्ता और आदमी। उन चारोंको ४०—४० वर्षकी आयु दे दी। पहिले उल्लूसे कहा जावो तुम्हें पैदा किया। महाराज काम क्या होगा? ...अरे काम क्या, अंधे बैठे रहना, कभी कुछ खानेको मिल गया तो खा लेना। महाराज काम तो बडा बुरा दिया। महाराज उमर? उमर ४० वर्ष। महाराज उमर तो कुछ कम कर दो। ...अच्छा जावो आधी काटकर २० वर्ष की उमर कर दी। २० वर्ष की उमर काटकर अपनी तिजोरीमें रख लिया। फिर कुत्तेसे कहा जावो तुम्हें पैदा किया। महाराज काम? अरे काम क्या, जो तुम्हें रोटीका टुकड़ा दे दे उसके आगे पूंछ हिलाना, उसके यहाँ पहरा देना। महाराज काम तो बडा बुरा दिया। महाराज उमर? उमर ४० वर्ष। ...महाराज उमर तो कम कर दो। अच्छा आधी काटकर २० वर्ष कर दिया। २० वर्षकी उमर अपनी तिजोरीमें रख ली। गधेको बुलाया और कहा जावो तुम्हें पैदा किया। महाराज काम? अरे खूब बोझा ढोना और जो सुखा-रूखा भूसा मिल जाय उसे खा लेना। महाराज काम तो बुरा दिया। उमर तो कुछ कम कर दो। उसकी भी २० वर्षकी उमर कर दी। २० वर्ष काटकर अपनी तिजोरीमें रख लिए। मनुष्यसे कहा—जावो तुम्हें पैदा किया। महाराज काम? अरे खूब बचपनमें खेलना, जवानीमें विवाह करना, खूब

राज्य भोगना, पुत्रोंको खिलाना, मौज करना। काम तो बहुत अच्छा है, पर ऐसी सुखकी जगह भेज रहे हो तो कुछ उमर और बढा दो। सो तीनों पशुवोंकी ६० वर्ष रखी हुई उमर मनुष्यका दे दी। अब मनुष्यकी उमर हो गयी १०० वर्ष। इस किम्वदन्तीसे शिक्षा क्या मिलती है सो देखो—ईमानदारीकी उमर है ४० वर्ष की। सो ४० वर्ष तक कितना आराममें रहता है यह मनुष्य। ४० वर्षके बाद्म आगो गधेकी उमर। सो ४० वर्षसे ६० वर्ष तक गधेकी तरह जुतता है। लडका लडकियोंकी शादी ब्याह पढाई लिखाईके पीछे खूब बोझा ढोता फिरता है और जो कुछ रूखा सूखा मिल गया सो खा लेता है। ६० वर्षसे ८० वर्ष तककी उमर है कुत्ते की, सो बूढा हो चला, जिस लडकेने पूछ की, रोटियां खिलायी उसको बडी हू हजूरी करता है। ८० वर्षसे १०० वर्ष तक है उल्लूकी उमर। सो यह मनुष्य अन्धासा बन जाता है, सारी इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं। किसीने कुछ खिला दिया तो खा लेता है, नहीं तो अन्धासा बना बैठा रहता है। तो यह मनुष्यभवकी बात बतला रहे हैं कि यहाँ दुःख-सुख दोनों हैं। प्रपञ्चोंसे भरा हुआ यह मनुष्यभव है। छल कपट, बेईमानी, चुगली, न जाने क्या-२ नटखट इस मनुष्यमें लगे हैं? एक ओर तो यह बात है मनुष्यभवमें, दूसरी ओर यह भी बात है कि संयम भी इसी मनुष्यभवमें पाल सकते, सम्यक्त्व भी इसी मनुष्यभवमें प्राप्त कर सकते निर्वाण भी इसी मनुष्यभवसे पा सकते। ये मनुष्य जो सुख-दुःख भोगते हैं उनमें साता वेदनीय, असाता वेदनीय मोहनीय इन सब कर्मोंका सहयोग है। यह मनुष्य आयुकर्म इस जीवको मनुष्य शरीरमें रोके रहता है। आयुकर्मका काम सुख-दुःख देना नहीं है, मगर आयुकर्मका काम है शरीरमें इस जीवको रोके रहना। और इसी शरीरके कारण नाना प्रकारके दुःख होते हैं। जैसे नारकीय आयुकर्मके उदयसे यह जीव दुःख भोगता है ऐसे ही मनुष्य आयुकर्मके उदयमें यह जीव मनुष्य बनता है, और कभी सुख व कभी दुःख भोगता है। ज्ञानी जीव इन सबको परभाव समझता है। यह शरीर ये रागादिक भाव ये सब परभाव हैं। संकल्प विकल्प चलना भी परभाव है। ये सुख और दुःख जो कल्पनासे माने जा रहे हैं वे भी परभाव हैं, पर तत्त्व हैं। इन सबसे निराला चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्व मैं हूँ—ऐसी ज्ञानीको सुधि है और इसके बलसे वह हर्षकी बातमें हर्षित नहीं होता और विषादवाली बातमें विषाद नहीं मानता।

चरस्थिरविकल्पासु तिर्यग्गतिषु जन्तुभिः।
तिर्यगायुःप्रकोपेन दुःखमेवानुभूयते ॥१६६०॥

तथा प्राणी तिर्यञ्च आयुके उदयमें त्रस और स्थावर दो प्रकारके जन्म लेता है। स्थावर ५ प्रकार के हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। ये सब एकेन्द्रिय जीव हैं। पृथ्वीमें जीव है इसलिए उसे व्यर्थमें नहीं खोदता। यद्यपि वह श्रावक अव्रती हिंसाका पूर्ण त्याग नहीं कर सकता क्योंकि घरमें है उन्हें कभी मिट्टी चाहिए, कभी जल चाहिए, कभी अग्नि चाहिए हवा चाहिए, फल-फूल चाहिए तो प्रयोजनवश तो स्थावर जीवोंका आरम्भ कर लेता है, मगर जब प्रयोजन न हो कुछ तो बिना प्रयोजन पृथ्वीको नहीं खोदता, जलको नहीं बहाता, अग्निको नहीं जलाता, हवाका नहीं बहाता पखा आदिकसे और न बिना प्रयोजन वह फल-फूल पत्तियां आदि तोडता है। बहुतसे लोग बिना प्रयोजन ही पृथ्वीको खोदते, नलसे जलको बहाते, कूडा-करकट वगैरहमें अग्नि जलाते जिसमें कि बहुतसे त्रस जीवोंकी भी हिंसा होती, बिना प्रयोजन ही बहुत बहुत बिजली के पंखे झेलते और बिना प्रयोजन ही फल-फूल पत्तियोंको तोडते, पर जो श्रावकजन हैं वे बिना प्रयोजन इन एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा नहीं करते हैं।

एकेन्द्रिय जीवके उदयमें यह जीव स्थावर बनता है। कुछ विकास हुआ तो यह त्रस बना, दोइन्द्रिय बना। अब इसके शरीरके ढांचेमें कितना फर्क हो गया? एकेन्द्रियके तो मुख ही नहीं है, वृक्ष हैं उनकी जडें नीचे फसी हैं। उन्हीं जडोंसे वे आहार ग्रहण कर लेते हैं दोइन्द्रिय जीवके मुख हो गया। एकेन्द्रिय जीव तो स्पर्शमात्र थे पर दोइन्द्रियमें रसना इन्द्रिय भी आ गयी। अब वे रस भी चख सकते। तीन

इन्द्रियमें इस जीवको नासिका भी प्राप्त हो गयी, अब वह गध भी लेने लगा, चार इन्द्रियमे इसे नेत्र भी प्राप्त हो गए, अब तो वह देखने भी लगा, और जब पञ्चेन्द्रिय हुआ तो इसे कर्णेन्द्रिय भी प्राप्त हो गयी। अब तो यह वचन भी सुनने लगा, ज्ञान होने लगा। यों उत्तरोत्तर जैसे-जैसे योग्यता बढती जाती है वसे ही वैसे यह ऊंची जातिमे जन्म लेता है। जब मन प्राप्त हो गया तब तो फिर मनके द्वारा यह जीव विवेक ग्रहण कर सकता, सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर सकता। इस ही मनसे हम मोक्षमार्ग बना सकते हैं। तो इस मनका बडा महत्त्व है पर लोग चिन्ताएं कर करके व्यर्थ ही अपना काल गवा देते हैं। कल्याणका साधन जो तत्त्वाभ्यास है उसे इस मनसे बना सकते थे। भगवानके शब्द तो एक स्मरणके लिए हैं। प्रभु ऐसे हो गए, उनमे ये-ये गुण थे। ऐसा तो को कोई नहीं कहता कि यह जयपुरकी बनी मूर्ति है, बडी अच्छी बनी है, सफेद रगकी है। अरे वह मूर्ति तो उस महापुरुषकी याद दिलाती है कि उस पुरुषने इस इस तरहसे समस्त कर्मकलकोंसे मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त किया था। तो इस मनसे हम बहुत बडा कार्य कर सकते थे जिससे कि ससारके सकट सदाके लिए छूट जाते, लेकिन इस मनका उपयोग विषयसाधनोंके लिए किया। इस जीवनको व्यर्थ बना दिया। यों त्रस और स्थावरके भेदसे तिर्यञ्च जीव ५ प्रकारके हैं। तिर्यञ्चोमे भी जिनके मन है घोडा, बैल, हाथी, सर्प, नेवला, सूकर आदि ये भी सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। कोई बैल आरामसे बैठा हुआ रोंथ रहा हो और कहो उसे सम्यक्त्व हो जाय। अपने आत्मस्वरूपका दर्शन हो जाय तो उसे भी सम्यक्त्व हो जाता है। बहुतसे पशुवोंको ऐसा हुआ भी है। पुराणोंमें बहुतसे कथानक आये हैं ऐसे - नेवला, सिंह, सर्प, सूकर आदिक बहुतसे सम्यक्त्व प्राप्त कर चुके हैं। तो मन भी ऐसी ऊंची चीज है लेकिन मोहके वश होकर यह प्राणी मनका सदुपयोग कहाँ करता है ? विषय कषायोंमे ही मन लगा देता है। तिर्यञ्च आयु कर्म के उदयसे यह जीव तिर्यञ्चगतिमें जन्म लेता है, तिर्यञ्चगतिमे भी ऐसे विरले ही तिर्यञ्च हैं जो कुछ मनके द्वारा शान्तिका अनुभव कर पाते हैं, प्राय करके सभी तिर्यञ्च दु ख ही दु खका अनुभव करते हैं। उनके दु ख को कौन बताये ? उन पशुवोंको निर्दयतासे हत्या कर दी जाती है। सभीको मालूम है। मुलायम चमडा निकालनेके लिए सुनते हैं कि गर्भवती गायको बहुत तेज गरम फव्वाराके नीचे खडा करके फव्वारा चला देते हैं, सारा शरीर उस गरम जलसे जल जाता है फिर उसे बेंतोंसे पीटते हैं, गायका बछडा भी बाहर निकल आता है, उसे भी पटकर चमडी निकाल लेते हैं। जरा सोचो तो सही कि उनकी क्या दशा होती है ? उस चमडेको मुलायम बनाते हैं, उसके सूटकेश वगैरह बनते हैं। बहुतसे लोग कोट, टोपी आदिक बनवाते हैं। बड़े चावसे लोग उनका प्रयोग करते हैं। तो ऐसे चावसे उनका प्रयोग करने वाले लोग भी उस हिंसाको प्रोत्साहन दे रहे हैं। तो उन जीवोंके दु खको कौन कहे, कौन सुनने वाला है कौन दया करने वाला है ? ऐसे नाना तरहके दु खोंको यह तिर्यञ्च गतिमे जन्म लेकर सहन करता है। यहाँ कर्मोंके विपाकका चिन्तन चल रहा है। विपाकविचय धर्मध्यानी पुरुष कर्मोंका फल सोच रहा है कि कैसे-कैसे कर्मफलोंमें यह जीव बना रहता है ? यह सब वैराग्यके हेतुभूत चिन्तन है।

नरकायुःप्रकोपेन नरकेऽचिन्त्यवेदने ।

निपतन्त्यङ्गिनस्तूर्णं कृतार्तिकरुणस्वनाः ॥१६६१॥

नरक आयु कर्मोंके उदयसे ऐसे वेदना वाले नरकोंके बिलोंमे जन्म होता है कि शरीर क्षीण करना पडता है, जिसकी वेदना कहनेमें नहीं आ सकती। यहाँ तिर्यञ्चोंकी मनुष्योंकी वेदना तो फिर भी कही जा सकती है। वहाँकी भूमि ऐसी है कि उसके छूने मात्रसे हजारों बिच्छुवोंके डसने बराबर वेदना होती है। आप अदाज लगा सकते कि वह कितनी बडी वेदना होगी। जब एक बिच्छूके डस लेनेसे दो तीन दिन तक बेहोशीसी छाई रहती है, वेदना सही नहीं जाती है तो हजार बिच्छुवोंकी वेदनाको कैसे बताया जाय ? तो जमीनके छूने मात्रसे जब हजारों बिच्छुवोंके डसने बराबर वेदना है तो फिर वहाँ बसने वाल

नारकियोंको कितनी वेदना होती होगी, इसकी कहानी कौन कहे ? वहीं पर कुछ देवता लोग अपने परिचितों से मिलने-जुलनेके लिए जाते हैं तो उनको कुछ भी नहीं होता, वे तीसरे चौथे नरक तक चले जाते हैं घूमते घामते, पर उनको किसी भी प्रकारकी वेदना नहीं होती। यहीं देखलो परिवारमें कुछ लोग बड़े चिन्तातुर रहा करते हैं और कुछ लोग बड़े मौजमें रहते हैं ऐसे ही नारकियोंको तो वहाँ पर घोर विपत्तिया है, पर उन देवों को वहां पर किसी भी प्रकारको विपत्ति नहीं होती। जैसे कभी देखा होगा कि जब कोई बिजलीकी करेन्ट खुली रह जाती है तो वह करेन्ट भींटमे अथवा भूमिमे भर जाती है तो लोग झट उसे छो-कर भागते हैं ऐसे ही उन नरकोंकी जमीन दु खरूपी करेन्टसे भरी हुई है जिसके छूने मात्रसे हजारों बिच्छुवोंके डक मारने बराबर वेदना उत्पन्न होती है। यद्यपि वैक्रियक शरीर देवोका भी है और उन नारकियोंका भी है, पर देवों के शरीरमे उन नरकोंमें भी कुछ असर नहीं होता। वे नारकी जीव दूसरे नारकी जीवको देखकर उसपर आक्रमण कर देते हैं और उनके खण्ड-खण्ड कर देत हैं, वे खण्ड-खण्ड फिर पारेकी तरह मिलकर शरीररूप बन जाते हैं। इस तरहके घोर दु ख वे नारकी जीव सहन करते हैं। वहाँ ठड गर्मीकी वेदना भी बहुत प्रबल है। वहाँ गरमी इतनी तेज बतायी है कि मेरु पर्वतके समान लोहा हो तो वह भी गल जाय। ऊपरके नरकों मे तो गर्मीकी वेदना है और नीचेके नरकोमें ठडीकी वेदना है। वैसे ख जेठमे जब तेज गरमी पडती है तब की वेदना देख लो और पूसके महीनेमे जब खूब ठड पडती है तबकी वेदना देखलो। शीतकी वेदना भी गर्मी की वेदनासे कम नहीं है। तो वहाँ नरकोंमें नारकी जीव अतिशय गर्मी व सर्दी के दु ख भोगते हैं। और अपने आप जो कुछ दु ख देते हैं एक दूसरे नारकियोंको सो तो देते ही हैं। उनके शरीर वैक्रियक हैं। वे इच्छा करते हैं कि मैं इसे तलवारसे मारू तो उन्हें कहीं बाहरसे तलवार नहीं लानी पडती। उनके हाथ ही स्वयं तलवार बन जाते हैं। तो कितनी तीव्र यातनाएं हैं उन नारकियोंके, सो आप अदाजा लगा सकते हैं। ये तो उनके खुदके दु ख हैं लेकिन वहाँ देवता लोग उन्हें भरकानेके लिए, फोडनेके लिए, परस्परमें भिडाने के लिए पहुच जाते हैं—वे कहते देखो यह तुम्हारा पूर्वभवका वैरी है, इसने तुम्हारी आँखोंमें सींक घुसेड कर आँखें फोडना चाहा था। अरे चाहे वह उसकी पूर्व भवकी मा हो, आखोंमे सींकसे अजन लगाया हो पर वे देव नारकियोंको इस तरहसे फोडते हैं कि वे उसे अपना विरोधी समझकर उसपर आक्रमण कर देते हैं। जैसे यहीं पर तीतरको तीतरसे लडाकर अथवा मुर्गेको मुर्गेसे लडाकर खुशी मानते हैं। ऐसे ही एक नार-की दूसरे नारकीपर प्रहार करके, मार करके खुशी मानते हैं। तो वहा है कहाँ सुख ? नरक आयुके उदयसे यह जीव नरकोंमें जन्म लेता है। जन्म लेते ही देख लो तुरन्त ही दु खस्वरूप है। ये नारकी जीव किसी माता-पिताके द्वारा पैदा नहीं होते। ऊपर जो पृथ्वी है सो पृथ्वीमे जो विमान हैं, घटा वगैरह हैं उनसे चीत्कार शब्द करते हुए नीचे गिरते हैं और नीचे गिरकर सैकडों बार गेंदकी तरह उछलते हैं। तो पैदा होते ही दु ख उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे सैकडों वेदनाओंसे भरपूर नरक गतिमे नरक आयुकर्मसे यह जीव जन्म लेता है।

नामकर्मोदय· साक्षाद्धत्ते चित्राण्यनेकधा।
नामानि गतिजात्यादिविकल्पानीह देहिनाम् ॥१६६२॥

अब नामकर्मकी बात कह रहे हैं। नाम कर्मके उदयसे जीवको नाना प्रकारके शरीर प्राप्त होते हैं। नामकर्मके अनेक प्रकार हैं और वे सब मिलकर ६३ हो जाते हैं। नामकर्मकी ६३ प्रकृतिया हैं। उन कर्मों मे ६३ तरहके शरीरोंमें विशेषता उत्पन्न करनेकी प्रकृति है। जैसे लोग कभी किसी पहाडपर जाकर, नदीपर जाकर कहते है —देखो कितना अच्छा प्राकृतिक दृश्य है तो उस प्रकृतिके मायने क्या ? लोग कहने लगते कुदरत। तो वह कुदरत क्या, प्रकृति क्या ? तो ये ही नामकर्मकी ६३ प्रकृति है, ये ही कुदरत है। रग-बिरंगे फूल फूल रहे है। रग बिरगी पत्तिया लगी हुई हैं। कहीं ऊचे पवतसे झरने झर रहे हैं। वह दृश्य बडा सुन्दर

लगता है और कहते हैं - देखो यह प्राकृतिक दृश्य है। तो वह प्रकृति कौनसी है ? वह प्रकृति है कर्म। उसका सीधा अर्थ लगा ले कि देखो उन कर्मोका उदय उन कर्मोका प्रभाव। और मोटे रूपसे तो कर्मोके थोड़े भेद बताये, पर इन भेदोंके भीतर और भी अनेक भेद हैं। जितनी तरहके रंग है, जितनी तरहके स्पर्श हैं उतने ही ये प्रकृतिके फल है। सो ये प्रकृतिकी ९३ प्रकृतियाँ है, इनका क्रमसे वर्णन कर रहे हैं।

संसारमें जीवके देहकी जो नाना जातिया दिख रही हैं, नाना तरहके देह देखनेमें आ रहे हैं ये देहकी विचित्रताए नामकर्मके उदयका फल है। नामकर्मके भेदमे प्रबल तो ४ गतिया हैं, सो समस्त संसारमे जीवके ४ बंटवारे हो गए। कुछ देह मनुष्यगतिके कहलाने, कुछ देह देव गतिके हैं, कोई नरक गतिके और बाकी नाना प्रकारके देह तिर्यञ्च गतिके हैं। फिर जाति प्रकृतिके विकल्प उठे तो ये समस्त जीव ५ जातियोंमें बट गए। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचइन्द्रिय। सो जिस जिस जातिकर्म का उदय है वह जीव उस जातिमे है। इनमें से तिर्यञ्चमे ५ तरहके जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय हैं, पर नरक, मनुष्य और देवमे पञ्चेन्द्रिय हैं। तो जो दिख रहे है उनमे जो इन्द्रियकी ओर से विभक्तता है, कोई कानों वाले है, कोई आँख वाले हैं, किन्हींके नाक ही है, आँख कान नहीं हैं, किसीके मुह तक ही है, किसीके मुह तक भी नहीं है। पेड, पृथ्वी, जल आदिक ये जो शरीरकी नाना विचित्रताए हैं ये जाति नामकमके उदयसे है। यह विपाकविचय धर्मध्यानका प्रकरण है जिसमे ज्ञानी जीव कर्मोके फलका विचार कर रहा है। कैसे कसे कमके फल है। साथ ही वह यह अध्यात्म दर्शन भी कर रहा है कि ये सब फल कर्मफल हैं, मेरे स्वरूप नहीं है, मेरी चीज नहीं हैं। उनको परभाव समझकर उनसे भिन्न अपने आपके दर्शनका वह यत्न रखता है। अब शरीरोकी ओरसे देखो तो किसीका औदारिक शरीर है, किसीका वैक्रियक, तैजस, और कार्माण शरीर सभी ससारी जीवोंके है। आहारक शरीर ऋद्धिधारी मुनियोंके ही हो सकता है। ऐसी जो नाना तरहकी शरीरोंकी रचनाए है वे शरीर नामकर्मके उदयसे हैं। इसी तरह उनके अगोपांग भी होते हैं। दो हाथ दो पैर, छाती, दो स्तन, नितम्भ। ये तो है ये अग और अगुली है, नासिका है, आख है, कान है ये छोटे-छोटे सब उपाङ्ग कहलाते है। तो अग और उपागोंकी रचना एकेन्द्रियमें तो होती नहीं इन अङ्गोपाङ्गोंकी रचना दो इन्द्रियसे शुरू होती है। अगोपाग भी देखो तो कीडोंमे कितनी तरहके कीड़े है, कितनी विचित्रता। उन कीडोंमे दिखती है। फिर जितने भेद पाये जाते हैं उतनी ही प्रकृतियां हैं, पर उनका सग्रह नहीं किया जा सकता। कितने नाम लिए जाय ? तो जो अङ्गोपाङ्गकी विभिन्नताएं देखी जाती हैं वे अङ्गोपाङ्गके फल हैं।

अब निर्माण भी देखो सभीका उस उस ढगमें निर्माण होता है। कैसी प्राकृतिक रचना है कि कुम्हार भी अगर बनाये तो उसमे चाहे कुछ फर्क रह जाय, मगर प्रकृतिकी रचना देखो कि जहाँ जो अग बनते हैं वे सब बनते रहते हैं। तो यह निर्माण नामकमका उदय है। सस्थान देखो तो नाना तरहके है। हुडक सस्थान तो अनगिनते हैं। कैसे पशुवोंके सस्थान कैसे पक्षियोंके सस्थान। मनुष्योंमे भी देखो नाना प्रकारके आकार बन गए हैं। तो यह आकार सस्थान नाम कर्ममे है। हड्डी किसीकी बहुत मजबूत है, किसी की बहुत कमजोर है ऐसे जो नाना प्रकारके सस्थान हैं वह सस्थान नाम कर्मका फल है। इन सबको ज्ञानी जीव निरखकर दो निष्कर्ष बनाता है—एक तो यह कि ये सब कर्मफल हैं, ये परभाव, ये परतत्त्व मेरेसे भिन्न हैं। दूसरा निष्कर्ष यह निकला कि जीव जरा भी अपनी गफलत करता है तो उसके ऐसे कर्म बधते है कि जिसके उदयमे ऐसी नाना दशायें होती हैं। विपाकविचय धर्मध्यानमे यह ज्ञानी जीव कर्मोंके फलका चिन्तन कर रहा है कि कसे-कैसे कर्मफल होते हैं। स्पर्श, रस, गंध वर्ण, ये यद्यपि पुद्गलमे होते नहीं हैं अपने आप लेकिन इन देहियोंमें ऐसा नियत हो जाते हैं कि जितने मनुष्य है उन सबका स्पर्श एकसा है। मनुष्यों के शरीर मनुष्योंके ढाके हैं, गाय भैंस, घोडा, गधा आदिके शरीर उनके ढगके है तो ऐसी जो एक रचना है ढंगकी यह सब नाम कर्मका फल है। और भी देखो—जब जीव मरता है तो मरनेके बाद जब दूसरी गतिमे

जाता है तो रास्तेमें गति तो वह मानी जायगी जिसमे जा रहा है पर जीवका आकार रहेगा वह जहाँ मरकर जा रहा है। जैसे घोडा मरा और मनुष्य बनना है तो मरनेके बाद जो चला सो मनुष्य गतिका उदय आ गया पर अभी आकार जब तक उस जगह नहीं पहुचा तब तक घोड़ेका आकार रहेगा, आत्माके प्रदेशोंको मोड़ खा कर उसे जाना पड रहा है। शरीरमे भी ऐसी जो भिन्न रचनाएं हैं कि शरीरके कोई-कोई अग अपने को ही दु ख देते हैं। जैसे शेर तथा कुत्ताके दात और पजे ये दूसरोंको दु ख देनेके कारण बनते हैं, ऐसे ही भैंसके सींग व मनुष्यका तोंद उनको खुदको दु ख देता है। किसी मनुष्यका तोंद बहुत बडा हो जाय तो वह खुद ठीक-ठीक बैठ नहीं सकता, शौच आदिक नहीं कर सकता, धोती नहीं पहिन सकता। तो उसका ही पेट उसको दु ख देता है। जब अपघात नामकर्मका उदय है तो उसके उदयमे अपने ही शरीरके अग अपनेको दु ख देते हैं और जब परघात नामकर्मका उदय होता है तो अपने ही अग दूसरोंको दु ख देते हैं।

ये जो जीवके नाना देह दिख रहे हैं सो यह देह नाम नामकर्मका फल है। यह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं उस कर्मफलसे जुदा एक ज्ञानानन्दस्वभाव मात्र हू। देखो इस स्वभावकी जो पकड करले उसका तो बेडा पार और जो स्वभावकी पकड न कर सका वह दु ख भोगता ही रहता है। यह जीव खुद आनन्द का सागर है, खुद सुखका समुद्र है, पर उस लायक यह जीव अपना उपयोग नहीं बनाता। अब यह बतलावो कि आप यहाँ बैठे हैं तो आपके घरकी कोई चीज आपके साथ चिपकी है क्या ? आपका जहाँ जो धरा है वह तो वहीं है, पर है, भिन्न हैं, मकानमे मकान है, यहाँ आप अकेले ही हैं। और यहाँ भी यह शरीर आपके साथ नहीं है, वह दूसरा द्रव्य है, आप दूसरे द्रव्य हैं। तो शरीर न्यारा है, आप न्यारे हैं, मेरा फिर स्वरूप है क्या ? जब सबसे निराला हूँ, मैं शरीर व कर्मोंसे भी न्यारा हू मैं, और जो कर्मोंके फल गुजर रहे हैं उनसे भी मैं न्यारा हू। शरीरसे, कषायोंसे, इच्छामे विभावोंसे, सभी तरगोंसे जब मैं न्यारा हू तो वह मैं और हू क्या ? वह मैं हूँ ज्ञान और आनन्द। उस पर जो रह जाये विचलित न हो, हाय ये लोग कहाँ जायेंगे, इनकी कौन रक्षा करेगा ? ये तो बड़े आज्ञाकारी हैं, ये जो तरगें उठ रही हैं उसके माहात्म्यसे यह आत्मा अपने परमात्माके निकट नहीं बैठ सकता। और भी जो शरीरमें नाना विभिन्नताएं हैं—जैसे कोई शरीर दूसरोंको आताप करनेका कारण बनता है जैसे सूर्य विमान यह पृथ्वीकायक शरीर है, यह जीवोंको गरमी उत्पन्न करनेका कारण बनता है, कोई ठड पैदा करनेका कारण बनता है, जैसे चन्द्रकी किरणें शीतलता पहुंचाती हैं। कोई जानवर घोडा आदिक भी ऐसे होते कि जिनका शरीर चमकीला होता है, किन्हींका चमकीला नहीं होता है। तो ये विभिन्नताए सब नामकर्मके फल हैं, किसीके श्वासोच्छवास कैसा ही है, कोई किसी प्रकार गमन कर रहा है, कोई किसी तरह चलता, कोई किसी प्रकार चलता, पर सबकी गति न्यारी हैं। ये सब विभिन्नताए सब नामकर्मके फल हैं। जो कुछ दिख रहे हैं इन सबमे मेरा स्वरूप नहीं है। हालाके उनमें जीवका सम्बध न हो तो शरीरकी ऐसी रचनाए कैसे बन जायें, ये सब हैं पौद्गलिक रचनाए। और भी विभिन्नताए नजर आती हैं। किसीके एक शरीरका एक ही जीव स्वामी है और किन्हींके जीवका शरीर एक है और अनन्त जीव उसके स्वामी हैं। एक श्वास लेता तो वही सब श्वास लेते, एक मरता तो वे सब मरते एक जन्मता तो वे सब जन्मते। हम आपके शरीरका एक ही जीव मालिक है। किसीका शरीर सुहावना है किसीका असुहावना है, किसीका शरीर स्थूल है, किसीका सूक्ष्म है, किसीका यश फैला है, किसीका अपयश फैला है। ये नाना तरहकी जो रचना, नजर आती हैं ये सब रचनाए नामकर्मका फल हैं। ऐसा विपाकविचय धर्मध्यानी जीव कर्मफलका चिन्तन करता है।

गोत्राख्य जन्तुजातस्य कर्म दत्ते स्वक फलम्।
शस्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य सर्वथा ॥१६६३॥

गोत्र नामका कर्म इन दो कर्मोंमे एक ७ व नम्बरका भेद है। यह गोत्र कर्म इन प्राणियोंको

अपना फल क्या देता है कि प्रशसनीय गोत्रोंमे जन्म होता है और निन्द्य गोत्रोंमे जन्म होता है । चाहे उच्च गोत्रमे जन्म हो और चाहे नीच गोत्रमे जन्म हो—वह गोत्र नामकर्मका उदय है । यहाँ इतना देखना है कि जो नीच जातिके लोग हैं वे स्वय अपनेको हल्का मानते हैं । किसीका प्रशसनीय कुलमे जन्म होता है, किसी का अप्रशंसनीय कुलमें जन्म होता है । यह सब गोत्र आयु नामकर्मका उदय है । बड़ा हुआ तो क्या, छोटा हुआ तो क्या, ये सब कर्मफल हैं । धनी हुआ तो क्या हुआ, निर्धन हुआ तो क्या हुआ, ये सब कर्मफल हैं । आत्माका स्वरूप तो सबमें एक है । जो दृष्टि दे ले, जो उसे ग्रहण करले उसका तो संसार पार है और जो ग्रहण नहीं करता वह ससारमें ही रुलता रहता है । इन गोत्रोंमें जन्म किस भावसे होता है ? इस विषयमे तत्त्वार्थ सूत्रमें दो सूत्रोंमे बताया है ।

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य,

तद्विपर्ययौ नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।

दूसरेकी निन्दा करना, अपनी प्रशसा करना, इसमे क्या हुआ कि इसमे खुदको नीच कुलमें जन्म लेना पड़ता । कितनी खराब बात है दूसरेकी निन्दा करना । परनिन्दासे मिलता क्या है, बल्कि नीच गोत्रका बन्ध होता है । सभी लोग कितना-कितना तो धर्म करते, कितनी-कितनी यात्राएं करते ? कमसे कम एक बार तो अपने जीवनमें उतार लेना चाहिए कि कैसी हो स्थिति आये—हम दूसरेकी निन्दा न करें । पड़ौसियोंमे गाँवोंमें अनेक झगड़े इसी बातमें हो जाते हैं । तो दूसरेकी निन्दा करनेसे नीच गोत्रमे जन्म होता है और दूसरोंकी प्रशसा करनेसे उच्च गोत्रमे जन्म होता है । अपनेमे गुणभी नहीं हैं तो भी अपने गुण बखानना और दूसरेमें गुण हैं तो भी उसकी निन्दा करना अथवा उसका कुछ प्रकरण पाकर दूसरेके गुणोंको ढाकना और ऐसा वातावरण बनाना, ऐसी कोई कथनी छोडना कि दूसरेके गुणोंको बखाननेका मौका ही न मिलेगा तो यह परिणाम नीच गोत्रमे जन्म लेनेका कारण है । और इससे उल्टी बात करे तो वह उच्च गोत्रमे जन्म लेनेका कारण होता है । गुण तो हर एकमे हैं । जैसे जो मनुष्य क्रोधी जच रहे हैं उनमे सारे ऐब ही ऐब हों ऐसी बात नहीं है, उनमें कुछ गुण भी होते हैं । दूसरेके गुणोंपर दृष्टि ही न जाय, केवल उसके दोषो पर ही दृष्टि जाय तो वह तो स्वय दोषी हो गया । उसकी आदत है कि दूसरेके दोष ही दोष देखे । पर ज्ञानी जीव की प्रकृति ऐसी बन जाती है कि वह अपनी तो निन्दा करता है—मैं बडा मायाचारी हूँ पापी हूँ आदि । और दूसरोंकी प्रशसा करता है—देखो ये कितने अच्छे हैं, कितना धर्म कर्ममे तत्पर रहा करते हैं आदि । तो इस भावनासे वह ज्ञानी पुरुष अगिले भवमें उच्च कुल पायगा । हां बस ज्ञानी पुरुषको अगर दूसरेके दोष छुटाना है वह उससे ही धीरेसे कहकर छुटा सकता है । दूसरोंके समक्ष उसके दोषोंको प्रकट करना योग्य नहीं है । कोई मनुष्य अपने गुण यदि ढाके रहे, प्रकट न करे तो अपनेमे एक ऐसा भीतरमे गौरव रहता है कि जिससे उसके गुणोंमे वृद्धि होती है और अपने कुछ भी गुण हो उन्हें मुखसे कोई बखाने तो उसके गुणोंकी वह स्पीड खतम हो जाती है । गुणोंमे वृद्धि नहीं होती । किसी भी चीजका फल एक बार मिलता है । इसमे अगर गुण आ गए और वहीं हम चार आदमियोंमे बखानने लगें तो फल मिल चुका । अब आगे फल नहीं मिलनेका । जैसे कोई दान दे नामवरीके लिए तो उसका फल उसको मिल चुका, अब आगे फलकी आशा न करे । तो इस प्रकार ऐसा जो परिणाम है और भी जो गिरावटके हैं वे नीच गोत्रके जन्मके कारण बनते हैं और जो उत्कृष्टता की है उनके फलमे यह उच्च गोत्रमे जन्म लेता है ।

निरुणद्धिः स्वसामर्थ्याद्दानलाभादिपञ्चकम् ।

विघ्नसंततिविन्यासैर्विघ्नकृत्कर्म देहिनाम् ॥१६६४॥

अब यह आखिरी कर्म अन्तराय है उसके फलकी बात कह रहे हैं । अन्तरायकर्म विघ्न है । जो

के बीचमें कुछ आ गया उसके मायने अन्तराय है। जैसे दान देने वाला और दान लेने वाला है और उसके बीचमें कोई अटक आ गयी तो वह भावरूप हो गयी या कुछ परिस्थितिवश हो गई उसको अन्तराय कहते हैं। अपनी सामर्थ्यसे जीवोंको प्राप्त होने वाली शक्तिमें दान आदिकमें विघ्न करे उसे अन्तराय धर्म कहते हैं। जैसे किसी सेठकी चाह है कि मैं १००) दान करूं, बीचमें मुनीम कुछ ऐसी बात रख दे कि इस समय दान देनेकी गुंजाइश नहीं है तो वह दानमें अन्तराय आ गया। इसी तरहसे कोई घर खूब समर्थ है, लाखों का धन है, सारी बातें ठीक हैं पर घरका कोई आदमी ऐसी व्याधिसे घिर जाय कि डाक्टर उसे जीवनभर केवल मूंगकी दालका पानी पीनेको कहे तो सब कुछ घरमें होते हुए भी वह खा नहीं सकता, सभी चीजों को देखकर वह खानेकी इच्छा करता है पर खा नहीं पाता है तो यह उसके अन्तरायकर्मका उदय है। ऐसे ही और भी अनेक बातें हैं। तो उदयकी बडी विचित्रताएं हैं। सोचो कुछ और होता है कुछ। यह अपने जीवनमें सबके घटित है लेकिन ज्ञानी जीव तो इस सम्बधमें यह चिन्तन कर रहा है कि यह सब कर्मफल है। हो तो हो, न हो तो न हो, भोग पाये तो क्या, न भोग पाये तो क्या, ये सब कर्मफल हैं। और उन भोगोंको भोगेंगे तो उसके जो भाव बनते हैं वे भाव भी कर्मफल हैं। मैं न विभावरूप हूं, न अन्य किसी रूप हूं। इस प्रकार कर्मफलोंसे भी निराला अपने आपका यह चिन्तन कर रहा है विपाकविचय धर्मध्यानी जीव। इस अन्तराय कर्ममें जो ५ अन्तराय बताये हैं - दानअन्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। इससे जब अन्तरायकर्मका बिल्कुल क्षय हो जाता है तो स्पष्ट रूपसे अनन्त वीर्य प्रकट होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये ५ ज्ञान बताये हैं। इन ५ ज्ञानों के आवरण हैं। जब इन ५ ज्ञानावरणोंका क्षय हो जाता है तो केवलज्ञान प्रकट होता है। ऐसे ही ५ ज्ञानावरण नष्ट हो गए तो ५ ज्ञान प्रकट हो जाएं। एक केवलज्ञान प्रकट होता है। वे चार तो एक देशरूप हैं, विशुद्ध ज्ञान नहीं हैं। इस प्रकार जब ५ प्रकारका अन्तरायका क्षय हो जाता है तो आत्मामें अनन्त वीर्य प्रकट होता है। तो जैसे ज्ञानोंमें मूल ज्ञान केवलज्ञान है ऐसे ही आत्मामें अनन्त शक्ति है सो अनन्त शक्ति प्रकट होती है।

मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतिबलान्यपि ।
अपक्वपाचनायोगात्फलानीव वनस्पतेः ।१६६४।।

जीवने अपने विभाव परिणामोंके कारण जो कर्म बांधे हैं वे कर्म अपने समयपर उदयमें आकर कर्मफल देते हैं। फिर भी ज्ञानी जीव उन कर्मोंके उदयमें आनेसे पहिले अपने निर्मल परिणामोंके कारण, विशिष्ट विशुद्ध परिणामोंके कारण उन कर्मोंको जो कि बहुत बडा बल रखते थे, ज्ञानबलसे परिणामोंकी विशुद्धताके बलसे कर्मोंकी स्थिति घट जाती है, कर्मोंका अनुभाग भी घट जाता है। कोई ऐसा ही ऐसा सुनकर रहे, जानकर रहे कि जो कर्म बांध लिए जाते हैं उन कर्मोंका अवश्य ही भोगना पडता है। और कर्मोंके भोगनेके मायने फिर यह हुआ कि नवीन कर्म उस समय और बंध गए। अब उसका उदयकाल आ गया तो नवीन कर्म बंध गए और नवीनकर्म फिर बंधेंगे। तो फिर कभी यह सिलसिला खतम ही न होगा। कैसे उद्धार होगा? उसके समाधानके लिए आचार्यदेवने बताया है कि बांधे तो वे कर्म जरूर गए, पर आत्मबलसे सम्यक्त्व और चारित्रके बलसे वे कर्म हतबल कर दिये जाते हैं, मंद बल वाले बन जाते हैं और विचित्र परिणामों की विशुद्धि बढे तो क्षयको भी प्राप्त हो जाते हैं। अब कुछ अपनी ओरसे भी इस जीवको जो कुछ भी भोगना पडता है वह अपनी ही करतूतके फलको भावके परिणामको भोगता है और करता भी जो कुछ है तो अपने परिणाम और अपनी विभावपरिणति, स्वभाव परिणति इनको ही करता है। आत्मा अपनेसे भिन्न अन्य किसी पदार्थको नहीं करता। तो जैसे अन्यका कुछ करता नहीं, अन्य कुछ भोगता नहीं। इसी प्रकार यह भी समझिये कि आत्माका अन्य किसी पदार्थसे सम्बंध ही कुछ नहीं। यथार्थतासे विचारो तो लोकमें जितने भी

आत्मा हैं। चाहे मनुष्य हों, चाहे पशु-पक्षी कीडा मकोडा आदिक हों, किसीके आत्मासे किसीका कुछ भी सम्बध नहीं है, लेकिन मोहकी बलवत्ता देखो कि यह ज्ञानी पुरुष अपने घरमे बसे हुए २-४ जीवोंको कितना अपना रहा है और उनके सिवाय शेष जीवोंको कितना न्यारा, कितना प्रतिकूल, कितना वैरी समझते हैं। यह सब अज्ञानकी बलवत्ता है। लोग धर्म करते है पर विधिपूर्वक धर्म करनेकी धुन नहीं है, एक नाम पर श्रम करते है। धर्म क्या चीज है, धर्मकी विधि क्या है ? इस ढगसे बात बने तो धर्मकी दिशामे थोड़ा भी प्रयत्न हो तो भी बहुत फल दे सकता है और विधिसे बाहर बनकर रहे तो कितना भी श्रम कर डालें उसका फल नहीं होता। हर एक कर्तव्यमे विधि होती है, विधिसे बाहर कर्तव्य सफल नहीं हो पाता। धर्मकी विधि है कि तत्त्वाभ्यास करके तत्त्वका अनूठा रस चखा जाय।

लोग कहने लगते कि हमारे पास तो इतना ज्ञान ही नहीं है हम कैसे चारित्रको ग्रहण करें, लेकिन यह उनका सिर्फ कहना मात्र है। अरे मनुष्य ही तो है। मनुष्य ही तो सयम पथको ग्रहण करते हैं। मनुष्य ही बड़े-बड़े उपर्ग सहें और अपने धर्मकी बातपर डटे रहे और धर्मका पूर्ण विकास करें। ऐसा ही तो पूर्व में महापुरुषोंने किया। थोढी देरको एक प्रसगरूपमे विचार करें। यात्राके लिए निकले हैं पर यात्रा करनेका क्या लक्ष्य है और कैसी अपनी प्रवृत्ति बनाकर यात्रा करनी चाहिए—इस बातपर कितने लोगोंने दृष्टान्त दिया है और इसका पालन किया है। हमारी अहिंसा बढे, हमारा सत्यव्यवहार बढे, हम एक दूसरेसे वात्सल्य रखें, एक दूसरेसे अप्रेम न रखें, वैर न करे, ईर्ष्याभाव न करें, अपने शरीरका आराम, अपने इन्द्रियके विषयोंकी पूर्ति ये हम नाना पद्धतियोंसे न करें। समताभाव रखे अधिकाधिक व तत्त्वरूपकी चर्चा सुनें, धर्मकी बात बोलें, धर्मका व्यवहार बनाये. यो समतामें बैठकर जयवाद करते हुए, प्रभुस्मरण करते हुए बैठे हैं तो बहुत-बहुत बाहरमे भी धर्मकी प्रभावना होती है और अपनेमे भी धर्मकी प्रभावना होती है। हम किसी भी कार्यको करें उसे कई विधियोंसे अपनाना चाहिए। धमपालनेकी विधिमे सवप्रथम यह बात तत्त्व निर्णयकी कही है, हम पूजामें तो बहुत उपयोग रख, बारह महीनेकी चर्चाकी बात कह रहे हैं। बड़े बढावासे वचन हों उसके लिए तो समय अधिक हो, परिश्रम भी हो, सब कुछ भी हो, मगर तत्त्व निर्णयकी बातको दो-चार मिनट भी न मिले तो क्या यह उनके हितकी बात है ?

हमे तत्त्वचर्चासे कुछ हितकी बात मिलती है। कोई विधि ऐसी बनती है कि ससारके सकट सदाके लिए टल जाए। ऐसी बात चित्तमे न आये तो भला बतलावो कि हम धर्मपालनकी दिशामें क्या कर रहे हैं ? कर्म जो लोकमें ठसाठस भरे हैं और हम आप प्रत्येक जीवके साथ अनन्त कर्मवर्गणाये बसी हुई हैं और अनन्त कर्मवर्गणायें ऐसी साथ लगी हुई हैं कि जो कर्म बननेके उम्मीदवार हैं वे भी मरने पर साथ जाती हैं, बधे हुए कर्म भी साथ जाते हैं और जो कर्मवर्गणाये उम्मीदवार हैं, कमरूप होनेका जिनका काम है ऐसी अनेक कर्मवर्गणायें भी मरनेपर जीवके साथ जाती हैं। देखिये उनका बन्धन कुछ नहीं। वे कर्म बधे नहीं मगर वे कर्म उम्मीदवार हैं, लेकिन कैसा प्रसग है कि मरनेपर धनवैभव छूट जाता, शरीर छूट जाता और बधे हुए कर्म भी खिरते नहीं। वे इतना बधे होते है मगर जो बधे नहीं हैं एसे भी नहीं कम बधे लेकिन वे कर्म जीवके साथ जाते हैं। कितना सकटोंसे भरे हुए है हम आप लोग इसका खबर नहीं है। यहा थोडी भी बात हुई तो कहते—हाय सकट घिर गए। अथवा कोई परीसह नहीं सह सकत, किसीके वचन नहीं सह सकते, अपनी इच्छावोंका रच दमन भी नहीं कर सकते। झट घवडा जाते है। हाय हमपर बडा सकट है पर इसकी कुछ भी खबर नहीं कि हममे कैसे कर्म बधे हैं और कसे उम्मीदवार कम साथ रहते है जो कि भव भवमे भटकानेके कारण हैं। उन सब कर्मोंसे दूर होना है तो हमे धमका आश्रय लेना होगा। धम नाम है आत्म स्वभावका। बाहरमे सभी जीवोंके प्रति एक समान दृष्टि बनानेकी आवश्यकता है। जसे बाहरके लोग हैं उसी प्रकार ये घरके लोग हैं। जिस प्रकार ये घरके लोग है, जो स्वरूप रखते है उसी प्रकार बाहर के लोग हैं। हाँ व्यवस्थाके प्रसगमे, जिम्मेदारीके प्रसगमें, गार्हस्थ्यके प्रसगमे, नीतिके प्रसगमे थोडा

केन्द्रित बुद्धि बनालें कि हमारे जिम्मे तो घरके १० आदमियोंका भार है। ठीक है, निभा रहे हैं और काम इसी प्रकार चलेगा। मगर ये ही मेरे सब कुछ हैं, अन्य सब गैर हैं, इनके लिए ही मेरा तन, मन, धन, वचन है, इस प्रकारकी बुद्धि बने यह अपने आपको धर्मसे दूर कर देता है।

यदि एक गृहस्थीके पालनकी जिम्मेदारी है तो उससे अधिक जिम्मेदारी आत्महितकी है। हम अपना कुछ हित कर सकें, इस भावमें इस सावधानीमें, इस सुविधामें और सुगमताके अवसरमें हम कुछ आत्महितका कार्य बना लें तो ठीक है और न बना सके तो अदाज कीजिए कि अनन्तकाल हमारा व्यतीत हो गया इस संसारमे भटकते-भटकते, कैसे कैसे भव धारण किये, जिसके सुनते ही रोमाञ्च हो जाय। ऐसे कठिन-कठिन दुःख भोगे। अब तक हित न हो सका और आज हितका अवसर आया, उसे भी यदि विषय-कषाय ममता अहकारमे खो दिया तो यह भी अवसर गया, तो गृहस्थी पालनेकी जिम्मेदारीसे भी अधिक जिम्मेदारी आत्मरक्षणकी है। उसकी ओर दृष्टि क्यों नहीं जाती? और फिर २४ घटेमें कमसे कम ५ मिनट तो धर्मरक्षणके लिए होने ही चाहिएं। तत्त्वचिन्तन करना, आत्मध्यान करना यही है आत्मरक्षणकी बात। मगर इस ओर कुछ धुनि ही नहीं है। अपना दिन-रातका सारा समय परिवाररक्षणके लिए लगाते हैं। कितने ही लोग मैं लोकमे बडा कहलाऊ, मेरी इज्जत हो, मैं धनिक कहलाऊं, अच्छे परिवार वाला कहलाऊं ऐसी बातके लिए जीवनभर अथक परिश्रम करते हैं, अन्तमें हाथ कुछ नहीं लगता। मरण करके चले जाते हैं। बस तीन ही काम कर पाते हैं ये जीव पैदा होना, विषयकषायोंमें रमना और मरण करना। एक का भैया गुजर गया। वह था बी० ए० पढा हुआ। गुजरनेके बाद कुछ लोग आते ही हैं। किसीने पूछा कि तुम्हारा भैया अपने जीवनमे क्या कर गया? तो क्या उत्तर मिला—क्या बताऊ यार क्या कारोनुमाया कर गए। बी० ए० किया, नौकर हुए, पेन्शन लिया और मर गए। ये ही तीन काम तो व्यापारी लोग करते हैं। पैदा हुए, व्यापारका काम सम्हाला और मर गए॥ कदाचित मानलो आजकी दुनियामें कहलानेवाला काम भी कोई कर जाय – परसेवा देश सेवा अपना बडा नाम फैल जाय, तिसपर भी क्या कर गए? करना तो वही काम है जिसके प्रसादसे शान्ति प्राप्त हो जाय। फिर कभी निराकुलता न उत्पन्न हो। दुनियाकी नामवरी व्यर्थ है। जो होना है होता है उसे रोके कौन? मगर जो नामवरी चाहे, दुनियाके लिए अपना कुछ नाम रख जाना चाहे वह व्यर्थ है किनमे नाम चाहते हैं? ये जो धनिक दीन लोग घूम रहे हैं, जो स्वय दुःखी हैं मलिन कर्मोंके प्रेरे हैं उनमें नामवरी चाहते हैं। खूब निगाह करके देख लो, जिनमें अपना नाम चाहते हैं वे कोई प्रभु हैं क्या? मगर उनमे ही यह अज्ञानी जीव अपने नामकी चाह करता है। जिसको अपना सब कुछ मान लिया उसीसे ही तो आशा कर रहे हैं। इन कर्म सहित ससारमे जन्म-मरण करने वाले जीवोंमें क्या विडम्बनाएं हो रही हैं। यह जीव इस ससारमें कर्मबन्धन करता है और उसके फलमे उसे दुःख भोगना पडता है। ऐसा कर्मबन्धन है अपनी गल्तियोंसे, अपनी इच्छासे, अपनी खोटी प्रवृत्तियोंसे। विषयकषायोंके परिणामोंसे इस-इस प्रकारके कर्म बधते हैं लेकिन ज्ञानबल हो, आत्मज्ञान हो, आत्मदृष्टि बने तो ऐसे प्रबल कर्म भी मद शक्तिवाले हो जाते हैं।

अपक्वपाकः क्रियतेऽस्ततन्द्रैस्तपोभिरुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः।
क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंवृतान्तःकरणैर्मुनीन्द्रैः ॥१६६५॥

जिन महापुरुषोंका प्रमाद नष्ट हुआ है और सम्वर रूप परिणाम हुआ है ऐसे मुनीन्द्र अपने विशुद्ध उत्कृष्ट तपश्चरणके बलसे, अन्त विशुद्धिके बलसे क्रमसे गुण श्रेणी निर्जराका आश्रय करके बिना पके हुए जिनकी स्थिति आगे बहुत लम्बी है उन कर्मोंकी भी निर्जरा कर देता है। विभाव परिणाममें ऐसा बल है कि असख्यात वर्षोंकी स्थिति वाले कर्मोंको बाध दे और स्वभाव परिणति स्वभाव आश्रयके परिणाममे इतना बल है कि असख्याते भवमे बाधे हुए कर्मोंकी निर्जरा कर सकता है। हम इस बातपर तो बडा बल देते हैं

कि मोह बडा प्रबल है, इसके आगे किसीकी नहीं चलती मोह बडा बलवान है, जो चीज अपनी नहीं, कर्मों के उदयका निमित्त पाकर होता है। विभावरूप है, हमारे स्वभावसे स्वरूपसे मेल खाना नहीं है। उस ममता परिणामको तो महत्त्व दे रहे हैं कि मोह बडा बलवान है। और जो अपनी चीज है, अपना स्वरूप है, अपने स्वत्वके कारण अपने आपमें है उसे ज्ञानगुणपर बल नहीं देते, ज्ञान बडा बलवान होता है। सम्यग्ज्ञानका विकास होवे तो असख्याते भवोंके बाधे हुए कर्म भी क्षणमात्रमे नष्ट हो जाते हैं, धुनि है मोह की। निर्मोह होनेकी धुनि नहीं है। जिसे समझ रखा है कि घर अच्छा बन जाय, धनवैभव बढ जाय, पुत्र स्त्री आदिक सब बडे ऊचे व्यवहार वाले बनें, और बडे-बडे लोगोंमे मेरा नाम हो—यह जो धुनि बना रखी है इससे अधिक धुनि यह बनानी चाहिए कि मेरा उपयोग समस्त बाह्यसे उठा हुआ हो, अपने आपके स्वरूपमे लगा हुआ हो, अपने आपके स्वरूपका यह ज्ञान करता रहे, उसीकी धुनि बनी रहे, वहाँ ही मैं रमा करू, अकेला बसूं इस ही निजतत्त्वका मैं हो जाऊ, सब कुछ भूल जाऊ, इस प्रकार अपने आपमे लगन बनानेकी धुनि नहीं जगती। है यह मोहका ही माहात्म्य। लेकिन यह धुनि बन सके उसका कारण भी तो नहीं जुटाना चाहते। उसका कारण है तत्त्वका अभ्यास और सत्संगति। ये दो खास चीजें है, सो अपने जीवनको देख लीजिए कि शास्त्रके अभ्यासमें हम कितना समय बिताते हैं और गप्पोंमे कितना समय लगाते हैं? बिना अभ्यासके कुछ भी काम बनता नहीं है। कुछ काम ऐसे होते हैं कि जो या ही सिखानसे नहीं आते, प्रेक्टिकल करके आते हैं।

एक लडका अपनी मां से कहने लगा—मा मुझे तैरना सिखादे और इस तरहसे सिखादे जैसे कि अमुक तैर लेता है। ··· 'हाँ बेटा सिखा देंगे। ' ''मगर माँ मुझे पानीमे तैरना न पडे। बिना तैरे वह तैरना आ जाय। ''भला बतलावो तो सही कि वह प्रयोगात्मक काम बिना प्रयोग करके सीखे हुए कसे आ सकता है? अभी आप लोग ही जीवन भरसे देखते आ रहे हैं कि आटा इस तरहसे साना जाता है, रोटिया इस तरहसे बनाकर पकायी जाती हैं—मगर आपके सामने यदि आटा धर दिया जाय और कहा जाय कि रोटिया बनाओ तो आप रोटिया बना न सकेंगे। उसका कारण क्या है? कारण यह है कि अपने जीवनमे कभी भी प्रयोग करके रोटिया नहीं बनाया है। रोटिया बनाना, तैरना आदि यों ही बातोंमे सीखनेसे नहीं आ जाते हैं। ये तो प्रयोगात्मक कार्य हैं, प्रयोगकी विधिसे सीखने पर आयेंगे। यह वैभव विनाशीक है, यह सदा रहने वाली चीज नहीं है, स्वप्नवत् है, मायाजाल है। अपना कुछ भी नहीं है, म ननें-माननेकी बात है और तत्त्व इसमे कुछ भी नहीं। इनको त्यागकर ही तीर्थंकरोंने शान्ति प्राप्त की है। जिस तरहसे बालक-लोग रेतमें मिट्टीका खिलौना बनाते हैं, उसको देखकर खुश होते हैं, कुछ ही देर बादमे उस खिलौनाको खुद ही मिटाकर या दूसरे बालक मिटाकर अपने घर चले जाते हैं। ऐसे ही ये सासारिक समागम हैं। जो कुछ भी दृश्यमान पदार्थ हैं उनका सग्रह विग्रह लोग करते हैं, खुशी मानते हैं और अतमे उसे छोडकर चले जाते हैं। तो इन सासारिक समागमोंको असार समझकर तीर्थंकरोंने इनको त्यागा। यदि इन सासारिक चीजोंमें ममताका परिणाम जगा तो मरणके समयमे इसका फल बुरा भोगना पडता है। मरणके समयमे वह विकल होगा। और उस विकलताके कारण उसे नीच गतिमे जन्म लेना होगा। तो अपने पूर्ण जीवनमे अपने परिणामोंकी सम्हाल रखना अत्यन्त आवश्यक है।

द्रव्याद्युत्कृष्टसामग्रीमासाद्योग्रतपोबलात् ।
कर्माणि घातयन्त्युच्चैस्तूर्यध्यानेन योगिन ॥१६६६॥

व्यतीत हुए अनन्त समयोंके बाद जिस किसी भी निकट भव्य जीवको अपने आपके स्वरूपका बोध होता है उस मुनि पुरुषके यहाँ विपाकविचय धर्मध्यानकी चर्चा चल रही है। धर्मफलका चिन्तवन करना सो विपाकविचय धर्मध्यान है। कर्म क्या है, मैं क्या हूँ, फल क्या है, भेदविज्ञान विधिपूर्वक जिसमे

स्वातन्त्र्यकी सुधि न भूलें इस पद्धतिपूर्वक कर्मविपाकका चिन्तवन होना और विपाक तो एक उपलक्षण शब्द है। कर्मके सम्बर निर्जरा अदिकका चिन्तवन होना वह सब विपाकविचय धर्मध्यान है। ये कर्म कैसे दूर होते हैं, उनके दूर करनेके लिए कर्मोंके बारेमे हम दृष्टि गडायें, उनकी जानकारी बनायें। उनके सामने रखकर उन्हें एक-एक पकडकर निषेक करके उनका उत्पीडन करना यह तो बात बन नहीं पाती। उसके उपायमे अपने सम्हालकी बात है। अपनी सम्हाल हुई कि कर्मोंका निर्जरण होगा। अपनी सम्हालके बिना अपनी रक्षा नहीं है। और अपनी सम्हाल यह है कि हम अपने स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान करें। मैं क्या हू? जिसने यह निर्णय नहीं कर पाया कि मैं क्या हू वह अपने बारेमे और करेगा क्या? शान्तिमार्ग निभेगा कहाँ से? इस कारण सर्वप्रथम अपने आपके निर्णयकी धुन होना चाहिए। मैं क्या हू? समझ तो जाऊ खुदको, यह खुद बला है अथवा कोई वैभव है। जिसने खुदको अन्य रूपसे जाना उसके लिए तो बला है और जिसने स्वय का जैसा मेरा स्वरूप है उस रूपसे पहिचाना, उसके लिए वैभव है। यों साधारण शब्दोंमें कहो कि आत्मानुभव नहीं है एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक। घोर मिथ्यादृष्टिसे लेकर सिद्ध भगवान तक किसी जीवका आत्मानुभव नहीं है। आत्मानुभव बिना सुख-दु खीकी प्रक्रिया चल सकेगी क्या? अज्ञानी है वह भी अपना अनुभव कर रहा है, फर्क सिर्फ इतना है कि अज्ञानी अपनेका अनात्मरूपसे अनुभव रहा है। जो कुछ गुजरता है, जो रागद्वेष होता है तद्रूप आत्माका अनुभव रहना है। इतनेसे ही महान अन्तर हो गया। और ज्ञानी पुरुष महात्मा अन्तरात्मा अपने आपका जैसा स्वय स्वरूप है, सहज अपने सत्वके ही कारण जैसा जो कुछ बना है स्वरूप, उस रूपमें अनुभवता है, पर उन सब अनुभवनोंका नाम आत्मानुभव नहीं क्योंकि उन अनुभवनोंकी पद्धतिका कुछ प्रयोजन नहीं, कोई हितकी बातमें आता नहीं है। वैसे अपने आपका पता सबको है। कोई अपनेको मैं ऐसा हूँ, लखपति हू धनी हू, ज्ञानी हू, समझदार हू, अमुकचन्द हूँ, इतने बेटोंका बाप हू आदिक रूपसे अपनेको जाने तो इसमें तत्त्व क्या निकला? लोकमे सबसे बडी गन्दी भीख है दूसरोंसे प्रशसाकी चाह करना। इससे गन्दी भीख और कुछ नहीं हो सकती। दो रोटिया कहींसे माग लावे तो वह उतनी गन्दी भीख नहीं है, उससे पेट तो भरा, कुछ शान्ति तो मिली, जीवन तो चला। और कर्मोंके प्रेरे, विभावोंसे मलिन स्वय जन्म-मरणके चक्रमें बसे हुए स्वय अनाथ। जिनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं, अज्ञान अधेरेमें पड़े ये लोग, इनमे यह आशा रखना, इनसे यह चाह करना कि ये लोग मुझे अच्छा समझलें। मेरे बारेमे कुछ प्रशसा करदें, इस प्रकार उनसे प्रशसा बडप्पनकी कुछ भी बात चाहना इससे बडी भीख और किसे कहा जाय? न इससे अपनी आजीविकाका काम बनता और न परलोकका सुधार होता, ऐसी आशा बनाना बहुत गन्दी बात है। ज्ञानी पुरुषके ऐसी अन्त आकाक्षाए नहीं होतीं। उसे स्पष्ट स्वरूप सामने बना हुआ है। आत्माकी सम्हालमें सब सम्हाल है। आत्माकी सुध भूलनेमें सब विडम्बनाए हैं। सो कर्म निर्जरणके सम्बधमें कहा जा रहा है कि योगीश्वर द्रव्य क्षेत्र काल भावकी उत्कृष्ट सामग्रीको प्राप्त होकर तीव्र तपके वशसे इस विपाकविचय धर्मध्यानके मुख्य सस्थानविचयका आश्रय करके कर्म निर्जरण करता है।

महिमा है सब अपने निकट पहुचनेकी। जिस विधिसे जिस ध्यानसे जिस चिन्तनसे परमे उपयोग हटे। अपने स्वरूपकी ओर उपयोग लगे, महिमा उसकी है। जितने भी धर्म कतव्य हैं उन सब कर्तव्योंकी करतूतमे महिमा उसकी है जितना कि यह मोहसे हटकर अपने आपमे विश्राम पानेकी स्थिति पाता है। कोई कहे कि धर्मपालन करने मे क्या करना है तो उसके दसों उत्तर न होंगे, और दसों उत्तर होंगे तो वे धर्मपालनके साधनरूप होंगे। उसका उत्तर एक होगा। धर्मपालन करें अर्थात् अपने स्वरूपकी समझ करके उसका ही उपयोग बनाये रहें, यही है धर्मपालन। ऐसी स्थिति बनानेके लिए जो कुछ हम करते हैं व्रत ले नियमलें, तत्त्वाभ्यास करें, स्वाध्याय करें, गुरुसेवा करें, जो कुछ भी करें वह धर्मपालन कहलाने लगे। क्योंकि, उन सब कर्तव्योंका उद्देश्य यह परमार्थ धर्मपालन है। तो अपने आपको जानना और अपने आपके उस स्वरूपका उपयोग रखना यही है धर्मपालन। इसके लिए ही यह सब चिन्तन चल रहा है। वस्तुके एकत्वका

परिचय पा लेना यही है दुर्लभ वैभवकी प्राप्ति। इस ही को कहते हैं यथार्थ ज्ञान। प्रत्येक पदार्थ परसे अलिप्त है। स्वयंके स्वरूप चतुष्टयमे तन्मय है। इस प्रकारका जो तत्त्वदर्शन होता है वह है यथार्थ प्रकाश। और इस प्रकाशको पाकर यह ज्ञानी जीव परतत्त्वोंसे विकल्प तोडकर अपने आपके आनन्दस्वभावमे उपयोगी होता है। यह बात जिस किसी भी चिन्तनसे आये वह चिन्तन भी जयवतके योग्य है। जिसे अपने आत्मस्वरूप का कुछ बोध हो गया है वह किसी बालकके मुखसे कुछ-शब्दोंको ही सुनकर अपने हितकी बात प्राप्त कर लेता है। इस जीवने भव भवमें अनेक साधन पाये पर एक आत्मतत्त्वका अनुभव नहीं प्राप्त किया। अनादि-कालसे अनन्त परिवर्तन किया, उन सब भ्रमणोंमे इस जीवने ऐसी-ऐसी चाह की कि सारे जगतपर मैं एक छत्र राज्य करूं। सबका स्वामी बनू। इसने पञ्चेन्द्रियके विषयोंमे भव भवमें बहुत-बहुत रमण किया, बहुत-बहुतसी चीजें अपने अन्दरमें किया पर आज देखो तो यह रीताका ही रीता है। इसने काम विकार भोग सम्बधी कथायें तो बहुत सुनीं, पर अपने आपकी बात जो अपने अन्त प्रकाशमान है उसका कभी नहीं सुना। यह अत प्रकाश अपने आपमें स्थित है पर कभी इसका उपयोग नहीं किया। इस जीवने अपनेको विषय-कषायोंसे मिला-जुला अनुभव किया पर जो परमात्मतत्त्व है, समयसार है वह दब गया। उसकी जानकारी अब नहीं रही। स्वयंको नहीं जानना चाहा, दूसरोंको जानकारीमे लिया पर उसकी उपासना नहीं करना चाहा। अब कैसे इसका मार्ग प्रकट हो? अपने आपके इस एकत्व स्वरूपका अपने ही सत्त्वके कारण जो कुछ उसका स्वरूप है उस स्वरूपका परिचय नहीं है, इसी लिए ससारमे इतनी भटकनाए बन गयीं। खूब तो शास्त्राभ्यास करे और अच्छी सत्सगति बनाये, ये दो बातें मुख्य हैं अपने आपके उद्धारके लिए। और ऐसी अपनी कोई चर्या बनेगी, उसे द्रव्य क्षेत्र काल भाव वे सब मिलेंगे, जिस उत्कृष्ट सामग्रीको पाकर यह जीव कर्मोंकी निर्जरा करता है।

विलीनाशेषकर्माणि स्फुरन्तमतिनिर्मलम्।
स्वं तत पुरुषाकार स्वाङ्गगर्भगत स्मरेत् ॥१६६७॥

जिस ज्ञानी पुरुषके अन्त कर्म विलीन हो गए हैं उस ज्ञानी पुरुषके उपयोगमे निर्मल स्फुरायमान स्वरूप समाया हुआ चला जा रहा है। देखो कर्म नाम किसका है और कर्म नाम कैसे कहाँसे बन गया? जो किया जाय उसे कर्म कहते है। खुदकी बात सोचो। क्या करता है यह जीव? अब चतुष्टयको दृष्टिमे रखिये। यह आत्मा जैसा पिण्ड रूप है, जैसा निजी क्षेत्रमे है, जैसा निजी स्वभाव भाव गुणरूप है उतनेको यह है आत्मा ऐसा देखकर फिर उसमें यह निर्णय बनावें कि यह कर क्या सकता है? अपना परिणमन, अपना उत्पाद। यह भावात्क तत्त्व है। भाव ही तो कर सकता है। किया इसने भाव विभाव, उसीका नाम कर्म है। विभावभावरूप कर्मका निमित्त पाकर जो विस्रसोपचयरूप अनन्त कार्माणवर्गणाये जीवके साथ लग रही हैं वे कर्मरूप बन गए, इसका नाम पड गया अब कर्म। नाम रहा अपने विभाव कर्मोंका मुख्य नाम रहा अपने विभाव। जिस जीवने अपने रागद्वेष विभावोंको विलीन कर दिया उसे ही आत्माका अनुभवन होता है, उसे ही आत्मीय आनन्दकी झलक होती है। वह आनन्दानुभव और वह ज्ञानप्रकाशका सम्वेदन वह तत्त्व हित-कारी बताया है। अति दुर्लभ है, और यह वैभव, यह कुटुम्ब, यह परिवार ये सब क्या हैं? ये भिन्न पदार्थ हैं। हमारे विभावोंके आश्रयभूत हैं, ये सब दुर्लभ नहीं, ये सब परमहितरूप नहीं। यह तो जानलो जो है सो है, पर आत्माका हित है अपने आपको ज्ञानप्रकाश मात्र सम्बोधनमे। और उसके फल स्वरूप आत्मीय आनन्दके अनुभवमे इसमे ही हित है, अन्य बातमे हित नहीं है। तब अपने स्वरूपको और लेते जायें अपने आपके निकट और निरखते जावें, अन्य पदार्थोंका, परभावोंका विकल्प न जगे, अपने आपके परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करली जाय, जिसके प्रतापसे ससारके सारे सकट दूर होते हैं, वह आत्म-स्वरूपका ग्रहण जयवत हो, यह सभीके प्रकट हो। बाहरमे धन वैभवकी बात ऐसी है कि वह

सीमित है, इह धन वैभवके पीछे लोग ईर्ष्या कर सकते हैं और यह चाह कर सकते हैं कि यह साराका सारा धन मेरे पास आ जाय। लेकिन यह आत्मदर्शन आत्मकल्याणकी बात नहीं है। यह सबकी अपने आपकी निजी बात है। इसमें ईर्ष्याका क्या अवसर? यह इन सब ससारियोंके प्रगट हो। और ऐसे इस ध्यानका चिन्तन करनेवाले ज्ञानकी यह भी छूटछाट नहीं है कि भव्यके प्रकट हो, अभव्यके न हो। ज्ञानीके विकल्पमें भव्य अभव्यकी बात नहीं आ रही है, उसको तो केवल एक परम आनन्दमय ज्ञानस्वरूपकी बात आ रही है है और कुछ जीवोंपर करुणाकी बात आ रही है, तो उसका यह भाव होता है कि सबके प्रगट हो। किसके प्रगट हो सकता है किसके नहीं प्रगट हो सकता है, यह चित्तमे नहीं ले रहा ज्ञानी जीव। उसके चित्तमें सर्व जीव कल्याण करें ऐसी बात आ रही है। सभी सुखी हों ऐसा विचार करते समय ज्ञानीके यह बात न आयगी कि जो पापी हैं वे दु खी हों और जो पुण्य करें वे सुखी हों। यह विषय न्यारा है, इसी लिए बड़े हितकी भावुकतामे आकर अमृतचन्द्र सूरिने अनेक कलशोंमे कहा है—यह अज्ञानरूप इतना बडा संसार है इसमे कौन अवगाहन करे? उस कारुण्य पुरुषके चित्तमें यह बात नहीं है कि यह ससार अवगाहन करने योग्य है। क्ता मतलब है इसमे? यह तो अपना चिन्तन है, अपना ध्यान है और उस खुशीमे कि जिस तत्त्वके अनुभव करनेपर खुदका प्रन्त्त आन द उमडा है। सब जीवोंको स्वरूपसे अपना ध्यान निहारकर सबके उम-ड़नेकी भाव परिणति बनाता है, सबकी यह बात हुई। करुणाका विस्तार जब होता है तो उसमे पात्र अपात्र भव्य अभव्य, पाप-पुण्य इसमे ये कोई बीचमें अटक नहीं होते हैं। जो परम करुणाका भाव रख रहा है। हालाकि उसके इस भावसे ऐसा हो नहीं जायगा। जीवन तो जिस पद्धतिसे जिस ढगसे जिसकी जैसी योग्यतासे जैसा होनेको है उसका उस ही से होता है। कहीं इसके सोचनेसे न हो जायगा। यह तो अपने भाव बनाता है। सब जीवोंके उस स्वरूपको देखो, सभी जीवोंपर वह एक रस चैतन्यमात्र स्वरूप दिखने लगेगा। तब समझिये कि हम अपने आपके विशुद्ध स्वभावमे रत हुए हैं। ज्ञानीको सबसे पहिले तो यह जगत पागलसा दिखता है। कैसा पागल हो रहे हैं स्वरूप क्या, तत्त्व क्या है। परमात्मा खुदमे ही तो बसा है। उसका तो कोई कुछ भी नहीं कर रहा, सब अचल हैं। जैसे किसीका बहुत बडी खुशी हो, मानो घरमें बालक पैदा हुआ है अथवा और कोई बडी खुशीकी बात होती है तो खुश होता हुआ जब बाजारमें घूमता होगा तो उसे दु खी लोग भी प्रसन्न ही दीखेंगे, वे बेचारे दु खी है शोक मग्न है यह विचार उसका न चलेगा। और जो दु खी है वह बाहरके सभी लोगोंको दु खी अनुभव करता है, वह अन्य सुखी लोगोंके सुख का अंदाज नहीं कर पाता। उसे यों लगता कि ये जो लोग हसते दीखते हैं ये भीतरमे खुश नहीं हैं। यह तो परिस्थिति है ऐसी कि ऐसा करना पड रहा है। तो यों ही ज्ञानी जीवके चू कि उसके स्वरूप भावनाकी दृढता है सो यों दिखता है कि ये सब काष्ठ पत्थरकी तरह अचल हैं। कोई कुछ भी नहीं कर रहा, अब अज्ञान नहीं रहा कुछ भी, सभी बड़े समझदार हैं, सब ठीक है। और फिर आगे जब बढता है तो यह बात भी नहीं दिखती। केवल उसे सर्वत्र वही चित्स्वरूप ही नजर आता है। यह खुदकी स्थिति बनी ना इसकी, खुदकी दृष्टि बनी ना, उसीके अनुसार सर्वत्र उसे नजर आ रहा है। अब वह कहाँ मोह करे, किसे अपना और किसे गैर माने? ये घरके ४-६ प्राणी ही मेरे सब कुछ है अन्य सब गैर हैं ऐसी हमी करनकी गु जायश ज्ञानी पुरुषके कहाँ है? यह ज्ञानी इन समस्त अन्त कर्मोंका विलय करके अपने आपके अगोंमें ही, निजके क्षेत्रोंमे ही पुरुषाकार निर्मल स्फुरायमान ज्ञान भावको प्राप्त हुए ऐसे आत्माका स्मरण करना है ऐसे अपने अत-स्तत्त्वका अनुभव न करता है।

इति विविधविकल्प कर्म चित्रस्वरूपम्, प्रतिसमयमुदीर्णं जन्मवर्त्यङ्गभाजाम्।
स्थिरचरविषयाणां भावयन्नस्ततन्द्रो दहति दुरितकक्षं संयमी शान्तमोहः ॥१६६८॥

ज्ञानीकी ऐसी लीला है कि क्षण क्षणमे बदल बदलकर सामने आये तत्त्व श्रद्धानकी निरन्तता रहता है। अभी अन्त वैभवको देख रहा था, अब जरा विचारका जालका भी देखने लगा। है तो चीज, अब देखते हैं नाना भेद पड़े हुए हैं इन कर्मोंमे, इन औपाधिक भावोंमें से समस्त बाह्य रचनाओंमे और दूसरे

विपाकमें देखो ये सब त्रस स्थावर रूप रचनाए पडी रहती हैं। ये सब दिख रहे हैं, ये सब भी निमित्तभूत उपाधि सम्बंधकी योग्यता, यह सारी बातोंका समर्थन तो कर रहा है, ऐसे ही यह कर्मोंका जैसा प्रति समय उदय चल रहा है कठिन है। अपनी चाही हुई बात भी हम न प्राप्त कर सकें तो वह भी तो कठिनसी लग रही है इससे बढकर कठिन इस जीव लोकमें है वह कठिन उदय क्षण है, उदयरूप है, उनको भी संयमी मुनि निर्णीत होकर निज अन्तःस्वरूपमें विहार करके इन समस्त पापजगलोंको अन्तर ज्ञानबलसे अथवा अन्त ध्यान अग्निसे इस समस्त अज्ञान बनको दग्ध कर देता है। कितना कर्मसमूह है, कैसा शरीरजाल है, कैसी अन्य-अन्य औपाधिकताएं है, कितने पर प्रसंग है, पर उस प्रसगसे हटकर अपने-अपने नीचे आकर, अपनेमे समाकर ज्ञानानुभव किया कि ये सारेके सारे पापबन जल जाते है और इस पर दृष्टि करके इसको नष्ट करने के लिए कोई यत्नकी बात करे तो वह मूर्खता कर रहा है। नष्ट न होगा बल्कि और बढ़ता जाता है। नदीमें तैरने वाला कछुवा जरा शिर निकालकर तैर रहा हो तो बीसों पक्षी उसे पकडनेके लिए उद्यत रहते हैं और वह कछुवा घबडाकर इधर उधर भागता रहता है। अरे कोई उस कछुवेको समझादे—रे कछुवे तू क्यों व्यर्थमे दुःखी हो रहा है? तेरेमें तो वह कला है कि एक भी सकट तेरे ऊपर न रहेंगे। वह क्या कला है? अरे पानीमे ४-६ अगुल डूब जा, फिर सारे पक्षी तेरा क्या बिगाड कर सकते? ऐसे ही ये ससारके प्राणी अपनी उपयोग चोंचको बाहर निकाल कर बाह्यके अभिमुख करके चल रहे हैं तो राजा, चोर, डाकू, परिजन, मित्रजन आदिक सभी आक्रमण कर रहे है। ये प्राणी घबडा रहे हैं, अपने उपयोग को बदल रहे हैं, कोई इन्हे समझा दे, रे प्राणी! तू क्यो अपने उपयोगको बदलनका कष्ट कर रहा है। तरेमे तो एक कला एसी है कि ये सब उपद्रव एक साथ शान्त हो सकते है। वह क्या कला तेरेमे है कि तू अपने आधारभूत उस ज्ञान-सागरमें डुबकी लगा ले, अपने स्वरूपमें अपने उपयोगको लगा दे, अन्य सबसे मुख मोड ले तो फिर तुझे कौन सताने वाला है? वह तो अपनी अलौकिक दुनियामे पहुच जाता है। ऐसे आत्मस्पर्शमे यह सामर्थ्य है कि भव-भवके बाधे हुए कर्म पूर्ण नष्ट हो जाते हैं।

इत्थं कर्मकटुप्रपाककलिताः ससारघोरार्णवे,
जीवा दुर्गतिदुःखवाडवशिखासन्तानसतापिता ।
मृत्यूत्पत्तिमहोर्मिजालनिचितामिथ्यात्ववातेरता,
क्लिश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियत धन्या. स्वसिद्ध्यार्थिन ॥१६६९॥

इस ससाररूपी घोर समुद्रमे यह प्राणी कर्मोके कटुक विपाकसे सहित है। अनादिसे जगतके प्राणी कर्मबन्ध रागभाव इनकी परम्पराकी बाते चली आ रही है। इन दोनोंमे से हम किसको आदिमे रखें? कर्मबन्ध पहिले था या रागभाव पहिले था? किसीको भी हम आदिमे नहीं रख सकते, क्योंकि जिसे आदि में रखेंगे वह अहेतुक बनेगा मानने कल्पना कीजिए कि सर्वप्रथम जीवमे रागभाव था इससे कर्मबन्ध हुआ, फिर उदयकालमे राग हुआ, यों परम्परा चल उठी तो सर्वप्रथम जो रागभाव था वह कैसे हो गया? यह आटोमेटिक है तो वह राग जीवमें आदिसे है और स्वभावरूप हुआ। जो उपाधि सन्निधान बिना हो वह सब स्वभाव है, सो रागभावको प्रथम नहीं कह सकते, कर्मबन्धको भी प्रथम नहीं कह सकते। क्योंकि, कर्मका यह सम्बन्ध रागविभावके निमित्त बिना हुआ यह युक्तिमें ही नहीं आ सकता। तो यों कर्मबन्ध रागादिक विभाव ये अनादि परम्परासे जीवके चले आ रहे हैं। उस परम्पराको छोड देनेका पुरुषार्थ निकट भव्य जीव कर लेता है। वही सबसे महान कार्य है। ससारमे सभी बातें सुगम हैं, सुलभ हैं, धनिक बनना, राजा बनना, यशस्वी बनना आदि पर ऐसा बोध होना दुर्लभ है जिसके प्रतापसे यह कर्मबन्धकी परम्परा यह राग विभाव की परम्परा खतम हो जाय। यही महान कार्य है। इस हित कार्यको उत्पन्न करनेके लिए जीवको सावधान गुप्त निष्प्रमाद होनेकी आवश्यकता है। लोकमे बडप्पन चाहना कि इस लोकमे मैं कुछ हूँ ऐसी बात बैठालने

सीमित है, इह धन वैभवके पीछे लोग ईर्ष्या कर सकते हैं और यह चाह कर सकते हैं कि यह साराका सारा धन मेरे पास आ जाय। लेकिन यह आत्मदर्शन आत्मकल्याणकी बात नहीं है। यह सबकी अपने आपकी निजी बात है। इसमें ईर्ष्याका क्या अवसर ? यह इन सब संसारियोंके प्रगट हो। और ऐसे इस ध्यानका चिन्तन करनेवाले ज्ञानकी यह भी छूटछाट नहीं है कि भव्यके प्रकट हो, अभव्यके न हो। ज्ञानीके विकल्पमें भव्य अभव्यकी बात नहीं आ रही है, उसको तो केवल एक परम आनन्दमय ज्ञानस्वरूपकी बात आ रही है है और कुछ जीवोंपर करुणाकी बात आ रही है, तो उसका यह भाव होता है कि सबके प्रगट हो। किसके प्रगट हो सकता है किसके नहीं प्रगट हो सकता है, यह चित्तमे नहीं ले रहा ज्ञानी जीव। उसके चित्तमें सर्व जीव कल्याण करें ऐसी बात आ रही है। सभी सुखी हों ऐसा विचार करते समय ज्ञानीके यह बात न आयगी कि जो पापी हैं वे दु:खी हों और जो पुण्य करें वे सुखी हों। यह विषय न्यारा है, इसी लिए बड़े हितकी भावुकतामे आकर अमृतचन्द्र सूरिने अनेक कलशोंमें कहा है—यह अज्ञानरूप इतना बडा ससार है इसमे कौन अवगाहन करे ? उस कारुण्य पुरुषके चित्तमे यह बात नहीं है कि यह ससार अवगाहन करने योग्य है। क्ता मतलब है इसमे ? यह तो अपना चिन्तन है, अपना ध्यान है और उस खुशीमे कि जिस तत्त्वके अनुभव करनेपर खुदका प्रसन्न आनन्द उमडा है। सब जीवोंको स्वरुपसे अपना ध्यान निहारकर सबके उम डनेकी भाव परिणति बनाता है, सबकी यह बात हुई। करुणाका विस्तार जब होता है तो उसमे पात्र अपात्र भव्य अभव्य, पाप-पुण्य इसमे ये कोई बीचमे अटक नहीं होते हैं। जो परम करुणाका भाव रख रहा है। हालाकि उसके इस भावसे ऐसा हो नहीं जायगा। जीवन तो जिस पद्धतिसे जिस ढगसे जिसकी जैसी योग्यतासे जैसा होनेको है उसका उस ही से होता है। कहीं इसके सोचनेसे न हो जायगा। यह तो अपने भाव बनाता है। सब जीवोंके उस स्वरूपको देखो, सभी जीवोंपर वह एक रस चैतन्यमात्र स्वरूप दिखने लगेगा। तब समझिये कि हम अपने आपके विशुद्ध स्वभावमे रत हुए हैं। ज्ञानीको सबसे पहिले तो यह जगत पागलसा दिखता है। कैसा पागल हो रहे हैं स्वरूप क्या, तत्त्व क्या है। परमात्मा खुदमे ही तो बसा है। उसका तो कोई कुछ भी नहीं कर रहा, सब अचल हैं। जैसे किसीको बहुत बडी खुशी हो, मानो घरमें बालक पैदा हुआ है अथवा और कोई बडी खुशीकी बात होती है तो खुश होता हुआ जब बाजारमे घूमता होगा तो उसे दु:खी लोग भी प्रसन्न ही दीखेंगे, वे बेचारे दु:खी है शोक मग्न है यह विचार उसका न चलेगा। और जो दु:खी है वह बाहरके सभी लोगोंको दु:खी अनुभव करता है, वह अन्य सुखी लोगोंके सुख का अंदाज नहीं कर पाता। उसे यों लगता कि ये जो लोग हमने दीखते हैं ये भीतरमे खुश नहीं हैं। यह तो परिस्थिति है ऐसी कि ऐसा करना पड रहा है। तो यों ही ज्ञानी जीवके चूंकि उसके स्वरूप भावनाकी दृढता है सो यों दिखता है कि ये सब काष्ठ पत्थरकी तरह अचल हैं। कोई कुछ भी नहीं कर रहा, अब अज्ञान नहीं रहा कुछ भी, सभी बड़े समझदार हैं, सब ठीक हैं। और फिर आगे जब बढता है तो यह बात भी नहीं दिखती। केवल उसे सर्वत्र वही चित्स्वरूप ही नजर आता है। यह खुदकी स्थिति बनी ना इसकी, खुदकी दृष्टि बनी ना, उसीके अनुसार सर्वत्र उसे नजर आ रहा है। अब वह कहाँ मोह करे, किसे अपना और किसे गैर माने ? ये घरके ४-६ प्राणी ही मेरे सब कुछ है, अन्य सब गैर हैं ऐसी हसी करनकी गुजायश ज्ञानी पुरुषके कहाँ है ? यह ज्ञानी इन समस्त अन्त कर्मोंका विलय करके अपने आपके अगोंमे ही, तिनके क्षेत्रोंमे ही पुरुषाकार निर्मल स्फुरायमान ज्ञान भावको प्राप्त हुए ऐसे आत्माका स्मरण करता है ऐसे अपने अत स्तत्त्वका अनुभव न करता है।

इति विविधविकल्पं कर्म चित्रस्वरूपम्, प्रतिसमयमुदीर्णं जन्मवर्त्यङ्गभाजाम्।
स्थिरचरविषयाणां भावयन्नस्ततन्द्रो दहति दुरितकक्षं संयमी शान्तमोहः ॥१६६८॥

ज्ञानीकी ऐसी लीला है कि क्षण क्षणमे बदल बदलकर सामने आये तत्त्व श्रद्धानको निरखता रहता है। अभी अन्त वैभवको देख रहा था, अब जरा विचारकर जालको भी देखने लगा। है तो चीज, जब देखते हैं नाना भेद पड़े हुए हैं इन कर्मोंमें, इन औपाधिक भावोंमें से समस्त बाह्य रचनाओंमें, और दूसरे

विपाकमे देखो ये सब त्रस स्थावर रूप रचनाए पडी रहती हैं। ये सब दिख रहे है, ये सब भी निमित्तभूत उपाधि सम्बंधकी योग्यता, यह सारी बातोंका समर्थन तो कर रहा है, ऐसे ही यह कर्मोका जैसा प्रति समय उदय चल रहा है कठिन है। अपनी चाही हुई बात भी हम न प्राप्त कर सकें तो वह भी तो कठिनसी लग रही है इससे बढकर कठिन इस जीव लोकमे है वह कठिन उदय क्षण है, उदयरूप है, उनको भी सयमी मुनि निर्णीत होकर निज अन्तःस्वरूपमे विहार करके इन समस्त पापजगलोंको अन्तर ज्ञानबलसे अथवा अन्त. ध्यान अग्निसे इस समस्त अज्ञान बनको दग्ध कर देता है। कितना कर्मसमूह है, कैसा शरीरजाल है, कैसी अन्य-अन्य औपाधिकनाएं हैं, कितने पर प्रसंग है, पर उस प्रसगसे हटकर अपने-अपने नीचे आकर अपनेमे समाकर ज्ञानानुभव किया कि ये सारेके सारे पापवन जल जाते हैं और इस पर दृष्टि करके इसको नष्ट करने के लिए कोई यत्नकी बात करे तो वह मूर्खता कर रहा है। नष्ट न होगा बल्कि और बढ़ता जाता है। नदीमें तैरने वाला कछुवा जरा शिर निकालकर तैर रहा हो तो बीसों पक्षी उसे पकडनेके लिए उद्यत रहते हैं और वह कछुवा घबडाकर इधर उधर भागता रहता है। अरे कोई उस कछुवेको समझादे—रे कछुवे तू क्यों व्यर्थमे दुखी हो रहा है? तेरेमें तो वह कला है कि एक भी सकट तेरे ऊपर न रहेंगे। वह क्या कला है? अरे पानीमे ४-६ अगुल डूब जा, फिर सारे पक्षी तेरा क्या बिगाड कर सका? ऐसे ही ये ससारके प्राणी अपनी उपयोग चोंचको बाहर निकाल कर बाह्यके अभिमुख करके चल रहे हैं तो राजा, चोर, डाकू, परिजन, मित्रजन आदिक सभी आक्रमण कर रहे है। ये प्राणी घबडा रहे हैं, अपने उपयोगको बदल रहे हैं, कोई इन्हे समझा दे, रे प्राणी! तू क्यों अपने उपयोगको बदलनका कष्ट कर रहा है। तरेमे तो एक कला ऐसी है कि ये सब उपद्रव एक साथ शान्त हो सकते हैं। वह क्या कला तेरेमे है कि तू अपने आधारभूत उस ज्ञान-सागरमें डुबकी लगा ले, अपने स्वरूपमे अपने उपयोगको लगा दे, अन्य सबसे मुख मोड ले तो फिर तुझे कौन सताने वाला है? वह तो अपनी अलौकिक दुनियामे पहुच जाता है। ऐसे आत्मस्पर्शमे यह सामर्थ्य है कि भव-भवके बाधे हुए कर्म पूर्ण नष्ट हो जाते हैं।

इत्थं कर्मकटुप्रपाककलिता ससारघोरार्णवे,
जीवा दुर्गतिदुःखवाडवशिखासन्तानसतापिता.।
मृत्यूत्पत्तिमहोर्मिजालनिचितामिथ्यात्ववातेरता:,
क्लिश्यन्ते तदिद स्मरन्तु नियत धन्या. स्वसिद्धयर्थिन. ॥१६६९॥

इस ससाररूपी घोर समुद्रमे यह प्राणी कर्मोके कटुक विपाकसे सहित है। अनादिसे जगतके प्राणी कर्मबन्ध रागभाव इनकी परम्पराकी बाते चली आ रही है। इन दोनोंमे से हम किसको आदिमे रखें? कर्मबन्ध पहिले था या रागभाव पहिले था? किसीको भी हम आदिमें नहीं रख सकते, क्योंकि जिसे आदि में रखेंगे वह अहेतुक बनेगा मायने कल्पना कीजिए कि सर्वप्रथम जीवमे रागभाव था इससे कर्मबन्ध हुआ, फिर उदयकालमे राग हुआ, यों परम्परा चल उठी तो सर्वप्रथम जो रागभाव था वह कैसे हो गया? यह आटोमेटिक है तो वह राग जीवमें आदिसे है और स्वभावरूप हुआ। जो उपाधि सन्निधान बिना हो वह सब स्वभाव है, सो रागभावको प्रथम नहीं कह सकते, कर्मबन्धको भी प्रथम नहीं कह सकते। क्योंकि, कर्मका यह सम्बन्ध रागविभावके निमित्त बिना हुआ यह युक्तिमें ही नहीं आ सकता। तो यों कर्मबन्ध रागादिक विभाव ये अनादि परम्परासे जीवके चले आ रहे हैं। उस परम्पराको छोड देनेका पुरुषार्थ निकट भव्य जीव कर लेता है। वही सबसे महान कार्य है। ससारमें सभी बात सुगम हैं, सुलभ हैं, धनिक बनना, राजा बनना, यशस्वी बनना आदि पर ऐसा बोध होना दुर्लभ है जिसके प्रतापसे यह कर्मबन्धकी परम्परा यह राग विभाव की परम्परा खतम हो जाय। यही महान कार्य है। इस हित कार्यको उत्पन्न करनेके लिए जीवको सावधान गुप्त निष्प्रमाद होनेकी आवश्यकता है। लोकमे बडप्पन चाहना कि इस लोकमे मैं कुछ हूँ ऐसी बात बैठालने

की चाह होना यह एक बहुत बडा कलंक लगा हुआ है व्यर्थका। किनमें चाह करते हो ? जिनकी चाह करते हो वे सब अनित्य हैं। ये लोग मेरेको समझें, अरे ये लोग खुद अनित्य हैं। और मेरेको समझें ऐसा सोचने में जो मेरेमें आया वह भी अनित्य है। और समझें जो कुछ वह समझ भी अनित्य है, यश भी अनित्य है, लेकिन यह अनित्य जीव अनित्य जीवोंमें अनित्य यशकी अनित्य चाह कर रहा है। कितनी विडम्बनाकी बात है। जो नित्य जीव है, परमार्थ स्वरूप है, उसकी तो न स्वयंको सुध है, न दूसरेको सुध है, उसकी महिमाकी बात तो मनमें आ ही नहीं रही। तो ऐसा एक विकट बन्धन बन गया है। किसीने बाँधा नहीं, यह जीव स्वयं अपनी इच्छासे स्नेहसे अपने आप बन्धनमे बना है। स्वतंत्र होकर परतंत्र हुआ है। तो ऐसी स्थिति में हम आपकी जितनी जिम्मेदारी हितके लिए आज है यदि उस जिम्मेदारीको न निभाया तो दुर्गति ही समझिये।

इस जीवका आदि स्थान निगोद था। जरा यह ध्यानमे लायें कि हम आप कितनी निम्न दुर्गतियोंसे उठकर आज कितनी अच्छी स्थितिमें हैं ? यह बात समझनेके लिए कहा जा रहा है कि इस जीवका आदि स्थान निगोद था जब कभी भी निकलना हुआ उसके बाद। जहाँ एक श्वासमें १८ बार जन्म मरणका प्रसग हुआ करता था। एक श्वासका गणित आजकलके हिसाबसे एक सेकेण्ड कह लीजिए—एक सेकेण्डमें २३ बार जन्मा मरा व्यवहारमें। निगोदसे निकलकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येकवनस्पति बना। साधारण वनस्पति तो था ही। निगोद शरीर ही वनस्पतिका नाम है, सो स्थावरोंके दु ख देख लीजिए—पृथ्वी खोदी जाती है। पहाडोंमे सुरग लगाई जाती है। ये पृथ्वीके दु ख हैं। जलके दु ख क्या हैं ? जल गरम किया जाता है हवाको रबडके ट्यूब आदिमें भर दिया जाता है, पखा आदिसे हवाको बिलोया जाता है और वनस्पतिके दु ख तो सामने देख रहे हैं, पत्तिया तोडते, साग बनाते, पकाते। तो ऐसे नाना दु ख एकेन्द्रियमे रहकर इस जीवने भोगा। कदाचित दोइन्द्रिय जीव हुआ तो अब रसना इन्द्रियके ज्ञानका और विकास बढ गया। इन एकेन्द्रिय जीवोंके तो यह ज्ञान था ही नहीं। ये केचुवा, जोक आदि जीव मिट्टीमें ही रहते मिट्टी ही खाते, क्या जीवन है ? मछली मारने वाले लोग काटेमे केचुवा फसाकर पानीमे डाल देते हैं, मछली उसे चोंटती है, वह केचुवा भी मारा गया और वह मछली भी उसमे फसकर अपने प्राण गवा देती है। तो ये दोइन्द्रिय जीव भी बुरी तरह मारे जाते हैं। तीनइन्द्रिय जीवोंमें एकइन्द्रियका और विकास हो गया। घ्राणेन्द्रियका ज्ञान भी वह करने लगा, आहार सज्ञा तो बनी रहा करती है, उन्हें भी लोग मार डालते हैं। कोई उन पर दया नहीं करते। बिच्छू आदिक जीवोंको देखते ही लोग मार डालते हैं। चारइन्द्रिय जीव हुआ तो एकइन्द्रियका और विकास हो गया। अब आँखोंसे देखने लगा। रूप रग दिखनेमे आने लगे, विकास बढ गया मगर क्या स्थिति है ? मन है नहीं, उपदेश शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते अपने कल्याणकी बात बना नहीं सकते। वे सब दु खी हैं। अब पचेन्द्रिय जीवमे एकइन्द्रियका और विकास हुआ, कर्ण भी हो गए, पर मन बिना ये जीव हैं सो उनकी भी हालत उन ही जीवों जैसी समझिये। वे भी कोई हितकी बात नहीं ग्रहण कर सकते हैं। उन मन वाले जीवोंमे बहुतसे तो पशु हैं, पक्षी हैं लेकिन वे तो इतनी निम्न दशामें हैं कि अपने मनकी बात दूसरोंसे कह भी नहीं सकते, दूसरेके मनकी बातको समझ नहीं सकते। उनमें साक्षरात्मक वाणी नहीं है। नरकोंसे, देवोंसे उन सबसे बढकर यह मनुष्यका जन्म है।

जहाँ दु ख है वहाँ दु खसे छूटनेका उपाय भी मिलता है। जहाँ दु ख नहीं आता है वहाँ दु ख से छूटनेका ससारसे छूटनेका उपाय भी नहीं मिलता। जैसे भोगभूमिया जीव, देवगतिके जीव इन्हें क्लेश नहीं आ रहे जिसे ससारीजन क्लेश कहा करते, न उन्हें आजीविका करनी पडती, न ठड गरमीका दु ख भोगना पडता, मनचाही चीज उन्हें कल्पवृक्षसे प्राप्त होती है। इतना सुखमे हैं ये भोगभूमिया जीव। तो ये मरकर ज्यादासे ज्यादा दूसरे स्वर्गमे उत्पन्न हो गए, इससे ऊची गति नहीं मिलती। देव तो मरकर फिर देव हो नहीं सकते, उन्हें तो नीचे जन्म लेना ही पडता है और ये कर्मभूमिया मनुष्य जिन्हें नाना दु ख लगे हैं, इष्ट-

वियोग, अनिष्ट संयोग और अपनी-अपनी कल्पनाएं बना-बनाकर और भी नाना प्रकारके क्लेश जहाँ लगे हुए हैं इस ही मनुष्यको तो यह अवसर है कि रत्नत्रयकी पूर्णता प्राप्त कर सकता है, सयम धारण कर सकता है, निर्वाण प्राप्त कर सकता है। मनुष्यके नाते बात कही जा रही है। यहाँ वहाँ का भेद नहीं बताया जा रहा है। इतना श्रेष्ठ यह मनुष्यजन्म है। जरा उपयोग बदलें। सबसे भिन्न हू मैं ऐसी जरा समझ लेते हैं तो कितने ही क्लेश दूर हो जाते हैं। जहाँ अपनी सुध भूले, बाह्यमें उपयोग किया, सम्बधसे निर्णय बनाया तो दुःख चतुर्गुणा हो गया। दुःख सुख तो ये हमारी ज्ञानकलापर निर्भर हैं। बाह्य वस्तुवोंका सयोग वियोग होना यह तो एक साधन मात्र है, आश्रय है। विकल्प किए जानेसे कोई परपदार्थ चित्तमें रहना चाहिए, तो यों यह आश्रय भेद है। कला तो हमारी है जिसके कारण हम सुखी अथवा दुःखी होते। तो इस संसाररूपी घोर सागरमें ये प्राणी कर्मविपाक भोगते चले आ रहे हैं, दुर्गतियोंके महान संतापसे आकुलित हैं। परकी ओर दृष्टि है ना, सो चैन नहीं है, क्योंकि यह उपयोग अपने आधारको त्यागकर केवल एक उन्मुखताकी दृष्टि से यह परकी ओर लग गया है। तो जब स्थान भ्रष्ट हो गया तब इसे चैन कहाँसे मिले? अपने आपके स्थान में फिट हो जाय तब इसे शान्ति मिले। तो सोच लीजिए कि शान्ति पानेके लिए परसे कितनी दूर अपनी बुद्धि करनी है? जितने भी क्लेश हैं वे परको अपनानेके कारण हैं, और पर अपना कभी होता नहीं। यह जीव रीताका ही रीता बना हुआ है। कुछ भी अपना नहीं बन सकता लेकिन यह मोहके उदयमें इस बात पर कमर कसकर खडा है कि मेरे धनका संचय हो। परके अपनानेकी कल्पनामें ये जुटे हुए है। और पर होते हैं नहीं इसके। कैसे हों इसके? प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे तन्मय है। अगर अपने स्वरूपमे तन्मय न हों, परस्वरूपमें भी तन्मय बन जायें तो फिर सत्ता ही नहीं रह सकती। फिर तो सर्व पदार्थोंका अभाव हो जायगा। इससे यह वस्तुका नियम वस्तुका सत्तासिद्ध अधिकार है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही हैं पर स्वरूपसे नहीं हैं।

अब सोचिये यह जीव, यह अनाथ, यह असहाय, यह अज्ञान, यह मूढ, स्त्री, पुत्र, माता, पिता, धन, वैभव आदि परपदार्थोंको कैसा अपने उपयोगमें बमाये हुए हैं कि ये ही मेरे सवस्व हैं, बातचीत करके देखलो सभीको, सभीको ये परपदार्थ ही हितरूप प्रतीत हो रहे हैं, ये ही मेरे सब कुछ हैं ऐसी परमे अपनायतकी बुद्धि लगाये है जिसके कारण यह अपने आपमे चैनसे नहीं रह सकता। मिथ्यात्व वैरी है जीवका। मोह ही बरबाद करने वाला एक बहुत कठिन वैरी है, हम आपका सबसे अधिक विरोधी है मोह। यह मोह इन जीवोंको प्रिय लग रहा है, और जो परजीव हैं जिनका परमे कर्तव्य सम्भव ही नहीं है उन्हें अपना वैरी मानता है, विरोधी प्रतिकूल समझता है, यह सब मोहका प्रताप है। जैसे कोई दूसरा मेरा वैरी नहीं है, इसी प्रकार कोई दूसरा मेरा मित्र नहीं है। मेरा परिणमन करने वाला नहीं है, हो ही नहीं सकता, वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। प्रत्येक पदार्थ अपने एकत्वमें ही ठहरा हुआ है, अपने स्वरूपमे ही बस रहा है। जो विभावपरिणमन कर रहा हो, पुद्गल और जीव विभाव परिणमन करते हुए जीव पुद्गलको लिए हुए है, वह भी इसकी परिणति बन रही है। किसी परकी परिणतिको यह जीव कर नहीं सकता और न कोई पर मेरी परिणतिको कर सकता। निमित्तनैमित्तिक भाव सब व्यवस्थित है, इतने पर भी कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थकी परिणतिसे परिणमता नहीं है। तो समझ लीजिए हम स्वरक्षित हैं, लेकिन ऐसी स्वरक्षितता हमारे उपयोगमें कहाँ है। अतएव घबडाते हैं, बेचैन होते हैं। यों संसारके प्राणी इस संसारसागरमें पड़े हुए दुःखरूपी बडवानलके संतापसे संतापित हैं। इस संसारमे जन्म-मरणकी बडी-बडी लहरें भरी हुई हैं। संसार क्या? जन्ममरण।

अपना ही जीवन देखलो। जब बच्चे थे तब मां-बाप भाई-बहिन तथा पडोसियोंका कितना प्यार मिलता था? वे भी दिन गुजर गए, कुछ बड़े होनेपर विद्या पढकर आनन्द प्राप्त किया। पढनेको जो पाठ मिला उसका याद करने व परीक्षा पास करनेमे सुख माना। वे भी दिन गुजर गए। अपनी अपनी सभी ... सोच लीजिए, सभीकी यही बात है। फिर जो समय आया उसमें नाना प्रकारके मौज माने, वह

जाता रहा। अब जो रहा-सहा समय है वह भी क्या समय है, कितना समय है। यों समय जा रहा है। यों निकल गया सब कुछ जो कुछ किया जा सकता था, बल था, बुद्धि थी, ये सब निकल गए। अब रहे-सहे थोड़ेसे समयमे भी विषयकषायोंकी ही रुचि रही तो यह समय भी शीघ्र ही व्यर्थमे गुजर जाने वाला है। क्या कर रहा है यह जीव ? जन्म-मरण और बीचका दुःख, ये ही तीन व्यवसाय है इस जीवके। बाकी तो इसके विषयभूत पदार्थ है। घर हो गया तो क्या हुआ, राग ही तो बनाया, बेचैनी ही तो बनाया। और क्या ये आगे साथ रहेंगे ? पहिले भवोंका कोई भी तो आज साथी नहीं है तो क्या ये लोग साथी हो जायेंगे ? सर्व प्रकारसे असार हैं, किनमे विश्वास लगायें, कौन पदार्थ रमणीक है, किनकी शरण गहे ? जिनकी शरण गहा वहीं से धोखेकी लात लगी। मिला कुछ नहीं। फुटबालकी तरह जहा जाय वहीं से लात लगी। कौन फुटबालसे प्यार रखता है, क्या एक जगह रखनेके लिए फुटबाल खरीदी जाती है ? नहीं। वह तो इधरसे उधर पैरोंसे ठुकराया ही जाता है। ऐसे ही यह जीव जहाँ गया, जिनके भी निकट गया अशान्ति ही मिली। शान्ति नहीं प्राप्त हुई। अरे बाहर तो सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति है। अपने स्वरूपके निकट तो आयें, उपयोगकी ही तो बात है। एक जानने भरकी ही तो समस्या है। जरा अपने इस उपयोगसे अपने आपके स्वरूप को तो जानें, अपने स्वरूपमे रमनेका साहस तो करें, परके विकल्पोंका तो तोडें, अपने आपकी मग्नतासे जो आनन्द होता है वह विशुद्ध आत्मीय आनन्द है। सारभूत बात यही है—बाहरमे कहीं भी उपयोगको रमाया तो उसमें शान्ति प्राप्त नहीं होती ये ससारके जीव इस घोर समुद्रमें जन्म मरणकी तरंगोंमें जो बहे जा रहे हैं और मिथ्यात्वरूपी पवनकी प्रेरणा जो मिली है जिससे तरग और लम्बी चौडी हो गई है। ऐसा है यह ससार दुःखका घर। जो आज अनुकूल है पापका उदय आनेपर वह ही त्योरी बदल देता है और अति-परिचित भी अपरिचित होने लगते हैं।

इस जीवका सहाय अपना-अपना परिणाम है। जो लोक व्यवहारमें भी एक करता है वह मदद तभी तक तो की जा रही है जब तक वह कुछ अच्छा है, सदाचारी लोग मददगार हुए या उसका सदाचार मददगार हुआ ? जीवोंका अपना-अपना सदाचार ... है, दूसरा कोई साथी नहीं है। ऐसे दुःखसे परिपूर्ण इस ससार घोर सागरको जो अपने ज्ञानबलसे अपने भुज-बलसे तैर लेते हैं वे पुरुष धन्य हैं। अपने आपके निर्णयमें जैसे चला आया चलता जाय। जो कहीं राग अटका कि बस वह अटक गया, उसकी उन्नति समाप्त हो गई। राग आग है, यह राग आग इन ससारी जीवों को जला रही है, इसके बुझानेमें समर्थ सम्यग्ज्ञानरूपी मेघकी जलवर्षा है, सर्व अग्नि शान्त हो जाय। जीव मे विकल्पोंसे जो सताप बध गए हैं सब दूर हो जाते हैं सम्यग्ज्ञानकी भावनासे। हमारा धन सम्यग्ज्ञान है, हमारा शरण सम्यग्ज्ञान है, हमें शान्तिमे ले जाने वाला सम्यग्ज्ञान है, मुझे दुःखोंसे बचाने वाला मेरा सम्यग्ज्ञान है दूसरा कुछ नहीं। सकट तो इतने लगे हैं कि जिनपर दृष्टि देनेसे ऐसी घबड़ाहट होती है कि फिर धीरता ही नहीं रह सकती। मैं इन संकटोंके आक्रमणसे कैसे बचू ? शरीरका सम्बध, नाना प्रकारके कर्मोंके उदय कर्मोंका नया आक्रमण और जन्म मरण ये सब लगे हैं। अभी मनुष्य है, मरकर न जाने कहाँ पैदा हो जायें। कहो कीडा मकोडा बन जायें। कैसे विचित्र दुःख हैं इस जीवपर ? लेकिन अपने आपके एकत्वस्वरूपकी सम्हालसे ये सारे सकट, ये सारी विडम्बनाए एकदम समाप्त हो जाते है। एक अपने इस उपयोगको अपनी ओर मोडनेका ही तो काम है। बहिर्मुख न हों, सोन्मुख हो जायें। कितना मोडना है, कोई बडा श्रम तो नहीं करना है। यों समझिये कि एक दो सूतका भी अन्तर नहीं है। अपना उपयोग बहिर्मुख हुआ था सो अन्तर्मुख करनेमे क्या कष्ट है, क्या अन्तर है ? एक अपने ही प्रदेशोंमे रहने हुए यह उपयोग अन्तर्मुख बन जाय, इसमें उसे कितना लोटना है ? कुछ भी नहीं। अपने निकटकी बात है। यों स्वकी ओर आनेमें जो परमविश्राम मिलता है। उस विश्राममें ही सामर्थ्य है कि भव-भवके बांधे हुए कर्म भी दूर हो जाते हैं। ऐसा कर्मोंका विपाकके सम्बधमें चिन्तन हो और नष्ट होनेके चिन्तनको विपाकविचय धर्मध्यान कहते हैं। सम्यग्ज्ञान कर, अपने आपमें रत हों तो हम अपना उद्धार कर सकते हैं।

★